॥ श्रीः ॥

जैनाचार्य-जैनधर्मदिवाकर-पूज्य-श्री-घासीलालव्रति-

विरचित-भाष्यसमलङ्कृतं-

(१) श्रीव्यवहारसूत्रम्

(1) Shree Vyavhar Sūtram

एवम्

चूर्णिभाष्यावचूरिसमलङ्कृत—

(२) श्रीबृहत्कल्पसूत्रम्

(2) Shree Bruhatkalpa Sūtram

नियोजकः

संस्कृत-प्राकृतज्ञ-जैनागमनिष्णात-प्रियव्याख्यानि-
पण्डितमुनि-श्रीकन्हैयालालजी-महाराजः

उदयपुरमेवाडनिवासि-भूतपूर्वदेवस्थानकमिश्नर-गलुंडियावंशभूषण-
श्री हिम्मतसिंहजी-महोदयप्रदत्तद्रव्यसाहाय्येन

प्रकाशकः

अ० भा० श्वे० स्था० जैनशास्त्रोद्धारसमितिप्रमुखः
श्रेष्ठि-श्रीशान्तिलाल-मङ्गलदासभाई-महोदयः

प्रथमा-आवृत्तिः	वीर संवत	विक्रम-संवत	ईस्वीसन्
प्रति ११००	२४९५	२०२५	१९६९

मूल्यम्—२४-००

મળવાનું ઠેકાણું:-
શ્રી અ. ભા. શ્વે. સ્થાનકવાસી
જૈન શાસ્ત્રોદ્ધાર સમિતિ,
ઠે. ગરેડિયા કૂવા રોડ, ગ્રીન લૉજ,
પાસે, રાજકોટ. (સૌરાષ્ટ્ર)

Published by;
Shri Akhil Bharat S. S
Jain Shastrodhara Samiti,
Garedia Kuva Road, RAJKOT,
(Saurashtra) W Rly. India

卐

ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां,
जानन्ति ते किमपि तान् प्रति नैष यत्नः ।
उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा,
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ॥ १ ॥

卐

(हरिगीतछन्दः)

करते अवज्ञा जो हमारी, यत्न ना उनके लिये ।
जो जानते हैं तत्त्व कुछ, फिर यत्न ना उनके लिये ॥
जनमेगा मुझसा व्यक्ति कोई, तत्त्व इससे पायगा ।
है काल निरवधि विपुल पृथ्वी, ध्यानमें यह लायगा ॥१॥

મૂલ્ય ; રૂ. ૨૦-૦૦

પ્રથમ આવૃત્તિ : પ્રત ૧૧૦૦
વીર સંવત્ : ૨૪૯૫
વિક્રમ સંવત્ ૨૦૨૫
ઇસ્વીસન : ૧૯૬૯

: મુદ્રક
વૈદ્ય, શ્રીત્રિભુવનદાસ શાસ્ત્રીજી
શ્રીરામાનંદ પ્રિન્ટીંગ પ્રેસ,
કાંકરિયા રોડ, અમદાવાદ-૨૨



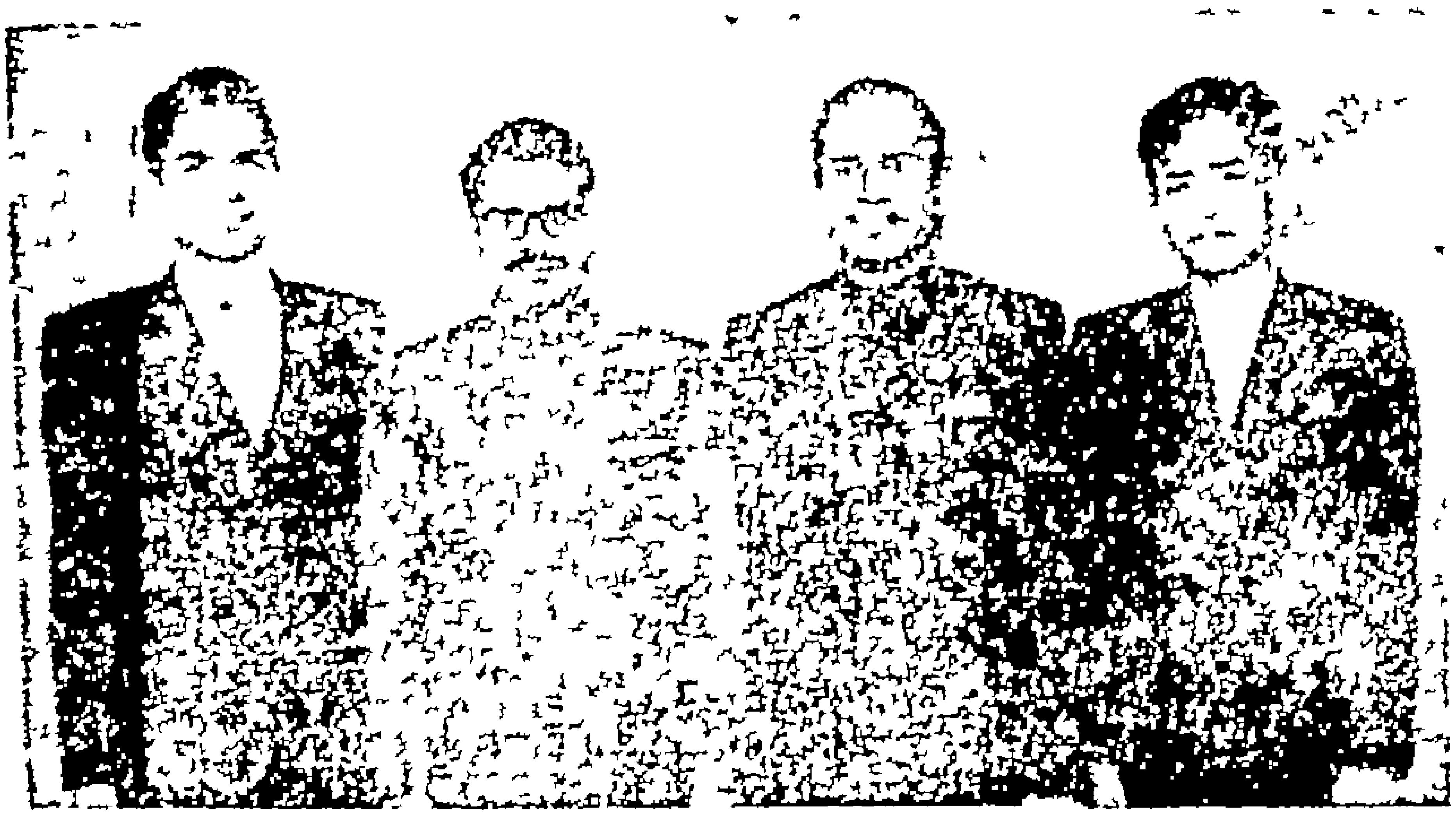
हिम्मतसिंहजी



पिताश्री शहाजी मोडीलालजी
गलुन्डिया



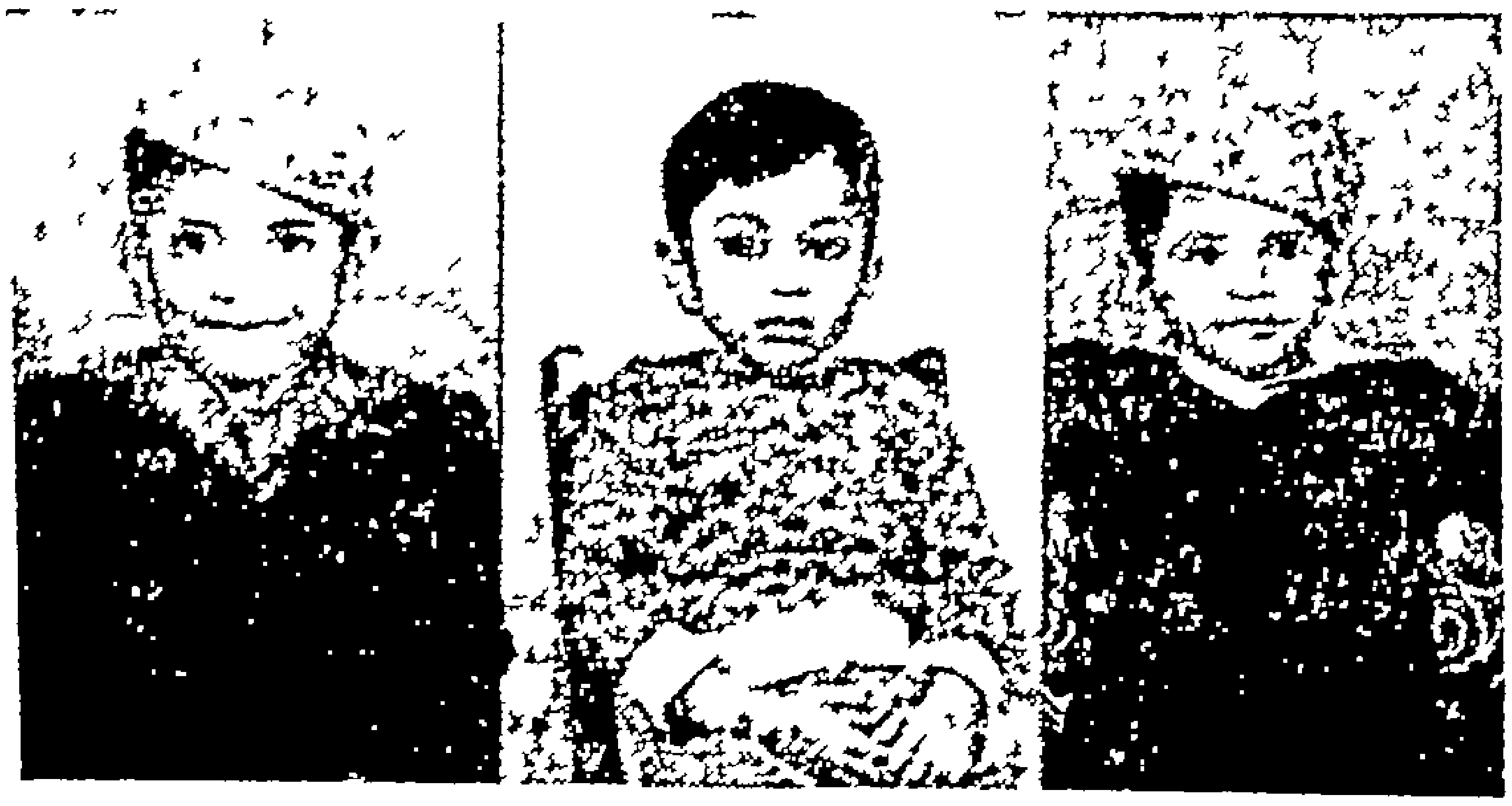
(१) हरिसिंहजी
(२) रुगनाथसिंहजी



(१) चन्द्रसेन (२) कुसलसिंह (३) शिवसिंह (४) भोपालसिंह



जगन्नाथसिंहजी



प्रतापसिंह चेतनसिंह सुमेरसिंह

॥ श्रीः ॥

गलुंडिया परिवार का संक्षिप्त जीवनचरित्र

स्वातंत्र्य और स्वाभिमान का अमर पुजारी मेवाड, भारतीय गौरवगरिमा को आरावली की गिरिमालाओ को तरह उन्नत और अडोल रखने के लिये सदैव कटिबद्ध हो रहा है। इस वीर भूमि की भव्य गौरवगाथाओ से भारतीय इतिहास का अन्धकारमय युग भी जगमगा उठता है। स्वतन्त्रता और स्वाभिमान के वलिवेदी पर सर्वस्व अर्पण कर देने में इस भूमि की समानता करने वाला संसार भर में कोई दूसरा दृष्टि गोचर नहीं होता। अतः मातृभूमि की स्वतन्त्रता और आत्मगौरव के लिये निरन्तर जूझने वाले मेवाड का भारतीय इतिहास में सर्वोपरि स्थान है।

ऐसे गौरवान्वित प्रदेश के इतिहास का जब हम अध्ययन करते हैं तो यह स्पष्ट झलक उठता है कि इन स्वतन्त्रा के पुजारियो के महान् सहयोगी और परामर्श दाता ओसवाल जाति के महापुरुष ही रहे हैं। इस जाति का केवल मेवाड ही नहीं किन्तु समस्त राजस्थान के निर्माण में महत्त्वपूर्ण स्थान रहा हैं। अपने देश और स्वामी के प्रति वफादार रहने वाले जैन वीरों में गलुंडिया परिवार का गौरवान्वित स्थान रहा है।

इस परिवार का इतिहास बहुत पुराना हैं। कहा जाता है कि राठोडवंशीय राजपूत घुड़िया शाखा में राजा चन्द्रसेन ने कन्नोज नामक नगर में भट्टारक श्री पूज्य शांति सूर्यजी के पास सं. ७३५ में जैनधर्म ग्रहण किया था। इससे उस समय घुड़िया से गुगलियाँ गोत्र की स्थापना हुई। इसके बाद राठौडवंशीय लोग मंडोवर आये। इस वंश के शाह कल्लोजी को अपनी वीरता के कारण गढसहित ग्राम गलुंड जागीर में मिला। ये वहीं रहने लगे। उनके वंशज गलुंडियाँ गढपति के नाम से प्रसिद्ध हुए। यहीं से गलुंडियाँ गोत्र की उत्पत्ति हुई।

गलुंडियाँ परिवार अपनी वीरता के लिये प्रसिद्ध है। एक समय का प्रसग है कि होल्कर सिंधियाँ की सेना जो पटेल सेना के नाम से प्रसिद्ध थी वह समय समय पर मेवाड के गावों में छापा मार कर लूट पाट किया करती थी। उसने एक बार वेगू नामक गाँव पर चढाई कर दी। अचानक गांव पर हमला हुआ जानकर ग्राम निवासी घबड़ाकर इधर उधर प्राण बचाकर भागने लगे। गाँववालों को भागते देखकर गलुंडिया परिवार का एक व्यक्ति सामने आया

और दोनो हाथो में तलवार लेकर पटेल सेना का कड़ाई के साथ सामना–करने लगा। पटेल सेना उस वीर सेनानी का सामना न कर सकी। अपनी सेना के एक एक वीर को मरता देख वह वहाँ से भाग गई गलुंडियाँ वीर विजयी हुआ। राजपूत इस ओसवाल वीर सेनानी के रणकौशल को देखकर दंग रह गये। उसकी भूरि भूरि प्रशंसा करने लगे।

शाह कल्लोजी के वंश में शा, शूरोजी बडे प्रसिद्ध व्यक्ति हो गये। आप वडे उदार चरित्र वाले तथा दानी सज्जन थे। कहते है कि मंडोर के प्रधान भण्डारी समरो जी को मांडू के बादशाह ने पकड़ कर कैद कर लिया था। उस समय उसे अठारह लाख रुपये देकर सूरोजी ने छुडवाया। सूरोजी के लिये इस परिवार में ऐसी भी एक किवेंदंती चली आती है कि 'एक बार जगन हजारी नाम का सुप्रसिद्ध मांत्रिक (चारण) दिल्ली में रहता था। उसका यह नियम था कि जो एक लाख रुपया भेंट करे वह उसी के घर भोजन करता था। भामाशाह की माता ने तीन वार जगन हजारी को जिमाया और प्रत्येक वार एक–एक लाख रुपयो की दक्षिणा दी। एक बार जगन हजारी को भामाशाह की माता ने कहा—जगन हजारी जी ! क्या मेरा जैसा एक लाख रुपये दक्षिणा देकर जीमाने वाला घर आपने अन्यत्र भी कहीं देखा है? हजारीजी ने झट उत्तर देते हुए कहा—सेठानी जी ! ससार केवल एक दानी पर नहीं चलता। संसार में एक से एक महापुरुष पड़े है।

उन्हे खोजने का हमारे पास समय नहीं। फिर भी अवसर आने पर ऐसे व्यक्ति को अवश्य वताऊँगा। सेठानी ने कहा—यदि ऐसा ही है मैं उस दानी सज्जन का अवश्य दर्शन करूँगी। और उस व्यक्ति के दान से चौगुना दान आपको दूँगी। जगनहजारी वहाँ से चल दिया।

वहाँ से जब चले तो रास्ते में सोच ही रहे थे कि किसके पास चलूं। तब तक रास्ते में हरी भरी सस्यश्यामला दिगन्त व्यापी खेती के ऊपर उनकी दृष्टि आकृष्ट हो गई। सुन्दर कूँवा देखकर बोले–यह कौन सा गाम है, और इन क्षेत्रो का कौन सौभाग्यशाली मालिक है[१] किसीने बतलाया–आपको मालूम नहीं यह 'गलुंड' ग्राम है, यहाँ के मालिक युद्धवीर के वंशज दानवीर सूराजी हैं सूराजी का नाम सुनते ही हजारी जी बोले–अरे ? सूराजी? तब क्या है, ये तो अपने ही यजमान हैं। इन घोड़ों को इस सस्य में छोड़ दो। तुम लोग नहाओ धोओ। इनके साथ ३०० सौ घुड़सवार चलते रहते थे, इनके वे ३०० सौ घोड़े छोड़ दिये और सब कोई नहाने लगे। इस तरह इनकी मन मानी कार्यवाही देख कर रक्षको ने सूराजी को सूचना दी। वे बोले–मै आता हूँ। तुम जाकर उनसे प्रार्थना करो

१ जिसके देवत्ता आराधित हो वह ऐसा दृश्य दिखा सकता है।

कि—घोड़ो को बन्धवा दीजिये और हम लोग खुद ही काट कर सस्य सहित घास इनको खिला देते है। इस तरह सस्य रौंदे नहीं जायेंगे और घोड़ो को सुन्दर चारा मिल जायगा। हजारी जी मान गए और खुश हुए। वाहरी! अक्लने कैसी युक्ति निकाल ली जिससे मेरी इज्जत की भी कदर हुई। घोडो को भी मन चाहा चारा मिल गया और वरवादी भी बची।

मैंने तो दानवीरता की परीक्षा की थी, युद्ध वीरता की सनद तो इनके पूर्वज प्राप्त कर ही चुके है। मालूम पडता है दूसरी परीक्षा में भी ये सर्व प्रथम आवेंगे। क्योंकि नीति वतलाती है—

> यः काकिणीमप्यपथप्रयुक्तां निवारयेन्निष्कसहस्रतुल्याम्।
> कार्ये तु कोटिष्वपि मुक्तहस्तः तं राजसिंहं न जहाति लक्ष्मीः॥

जो चतुर अर्थतन्त्र का पण्डित काकिणी को २० (कौडी की काकिणी होती है, चार काकिणी का एक पैसा वनता है) भी अनवसर में लापरवाही से जाते हुए देखकर उसको मूल्यवान मोती समझकर खर्च में नहीं जाने देते हैं और समयोचित कार्य के अवसर पर कोटि के कोटि द्रव्य को मुक्त हस्त से खरचते है, ऐसे राजसिंह को लक्ष्मी नहीं छोड़ती है।

इतने में सूराजी सामने आगए और आदर सत्कार के साथ वोले—आज का निमन्त्रण दलवल के साथ मेरे घर का स्वीकृत हो। मैं आप से एक वार उपकृत तो हो जाऊँ, वड़े कामों में विघ्न होता ही रहता है कृपा करे।

हजारी जी वोले हाँ हाँ स्वीकृत होगा और अवश्य होगा, लेकिन....सूराजी वोले। लेकिन क्या है तन मन धरा धाम न्योछावर करने के लिये सेवक खड़ा है सिर देकर भी निमन्त्रण स्वीकार करवाने का इरादा वाँधकर आया हैं। हजारी जी वोले—निमन्त्रण की दक्षिणा में अगर तेरी पत्नी तेरे परिवारो के सामने अपने हाथ से तेरा सर काट के दे, और किसी के नेत्रो से अश्रुपात न हो तो....सुराजी ने ऐसा ही किया। इन्हें भोजन के उपरान्त दक्षिणा में सर मिल गया। वाह वाह धन्यवाद कहकर हजारी जी सर को रुमाल में वान्धते हुए वोले—"वाई—वीर पत्नी तूं है, जरा ठहर जाना, मुझे लौटकर आने देना, और खुद की परीक्षा देने देना, फिर सती होने की व्यवस्था करवाना।

यों सुराजी के पत्नी को समझा कर जगन हजारी उसी समय लौटते पांवो से भामाशाह की माता के पास पहुँचे, भामाशाह भी भोजन के लिए इष्ट मित्रो के साथ वैठ रहे

थे। हजारी जी सब के समक्ष भामाशाह के माता के हाथ में सुराजी का सर जो कि ताजे खूनो से लथ पथ था, देते हुए बोले तूं दानवीर की माता है और तेरे सामने दुनियाँ में अपने आपको अकेला दानवीर समझने वाला तेरा लड़का भामाशाह भी अपने बन्धुवर्गों के साथ मौजूद ही है, फिर देर किस बात की। तेरे आग्रह से फिल्हाल सूराजी के पास मैं पहले पहल गया और तेरी शर्त सुनायीतो सुराजी ने कहा—भला कौन ऐसा गंवार होगा जो आपकी मांग पूरी नहीं करें जब कि एक दान के बदले चौगूना दान मिलने वाला है, सौभाग्य की बात है तो मेरा दान चौगुने शर्तका पहला सिद्ध होगा।

यो अर्जू मिन्नत करके अपना सर दान में दे दिया है इतना ही नहीं जिसकी छाया प्रबल शत्रुसैन्य व्यूह में दुश्मन नहीं पा सका उस वंशज का सर है। कुछ अधिक ही इसका बदला मिलना चाहिये। चौगुना देने की तो तूं ने सौगन्द ले ही चुकी है। ला उतना ही ला, देर मत कर। सुराजी के पत्नी को सती होने में इतनी ही देर है कि मैं लौटकर जल्दी जाऊँ और सिर लोटा दूँ।

भामाशाह उनकी माता और जनसमुदाय यह सब देखकर चकित हो गया और हाथ जोड़ कर हजारी जी के पाँव में पड़े। दानवीर का गर्व उतर गया। हजारी जी इनको दानवीर के नाटक खेलने वाला कह कर लौट गये और जाकर सुराजी के पत्नी से बोले—लेलो अपने पति का सर। इसे जोड़ दो। धड़ से सर जुड़ गया। जगन हजारीजीने सूराजीकी पत्नी की खूब खूब प्रशंसा की। सरजुड़ते ही सूराजी उठकर खड़े हो गये। जयजय कार हो गया।

सूराजी के बाद पीढ़ी दरपीढ़ी में साहजी शिवलाल जी हुए जो महाराणा स्वरूपसिंह जी सा० के दरबार का अमात्य—प्रधान थे, इनके देहान्त पर इनकी पत्नी श्रीमती अमृता-बाईजी जिन्दा ही सती हुई जिनकी छतरी उदयपुर में गंगू पर बनी हुई है। अभी भी सभी वर्ग अपने कार्य की पूर्ति के लिये वहाँ जाते हैं और सामायिक की मिन्नत लेते हैं। सा० जी शिवलाल जी के कोई सन्तान न होने से महाराणा स्वरूपसिंह जी सा० उनके नाम पर सा० जी गोपाल लालजीको गोद रख के मेवाड़ का प्रधान बनाना चाहते थे जैसा कि सती माता का फरमान था। किन्तु सा० जी गोपाल लालजी पिता श्री सा० जी चम्पा लालजी साहब का एक मात्र पुत्र थे अतः गोददेने से इनकार हो गये पितृभक्ति के बस सा० जी गोपाललाल जी रुक गये। सा० जी गोपाललालजी के एक ही पुत्र सा० श्री मोडी-लाल जी सा० थे जिन्होंने सोलह उमरावो की वकालत की और महाराणा फतेहसिंह जी के सलाहकार नियुक्त हुए बाद में महाराणा फतेहसिंह जी ने इन्हे जहाज पुर के हाकिम

बनाये। जहाजपुर कोटा बुंदी सरहद पर है, यहाँ फौजें रहती थी, यहाँ के हाकिम राणा के नीचे राणा के बराबर का समझे जाते है। जहाजपुर मेवाड राज्य की रीढ समझा जाता है।

सा० जी मोडीलालजी सा० के हरिसिंहजी रुगनाथजी, हिम्मतसिंहजी, ये तीन पुत्र हुए। इनमें हरिसिंहजी पिता के साथो साथ 'खमनोर' के हाकिम राणाजी के द्वारा नामजद हुए। रुगनाथसिंहजी सा० पिताजी को हाकिम बनने पर सोलह उमरावो की वकालत करने लगे। ये बडे भद्र पुरुष थे। इन्होंने खान दान, धर्म समाज की पूर्ण सेवा की। हरिसिंहजी सा० को एक ही पुत्री भॅवरबाई है। रुगनाथसिंहजी सा० को भी एक ही पुत्र जगन्नाथसिंहजी है। श्री हिम्मतसिंहजी सा० के चार पुत्र—शिवसिंहजी, कुशलसिंहजी, चन्द्रसिंहजी, भूपालसिंहजी तथा एक पुत्री विजयनन्दिनी है। श्री हिम्मतसिंह सा० की दो शादियाँ रीयांवाले सेठ के घराने में हुई, रीयां का घराना" मारवाड के ढाई घर में से एक घर समझा जाता है, किसी समय जरूरत से जोधपुर दरबार को द्रव्य सहायता देते समय रीयां से जोधपुर खजाने तक रुपयों से भरे हुए गाड़ा का ताँता लगा दिया था। पहली शादी सेठ भैरवबक्षजी की पुत्री मोहनकुंवरजी से हुई इनका श्री हिम्मतसिंहजी सा० के विद्याध्ययन के समय में ही देहांत हुआ। आपका नियमित अध्ययन पिता श्री के देहान्त के बाद शादी हो जाने पर १८ साल की उम्र में प्रारम्भ हुआ। दूसरी शादी सेठ प्यारेलालजी रीयांवाले अजमेर निवासी की पुत्री माणककुंवर के साथ हुई, इन्हीं से ये उपर्युक्त सन्तान हुए।

श्री हिम्मतसिंहजी सा० अपने परम पूज्य पिता श्री के अत्यन्त प्रिय पुत्र थे, इस कारण वे अपने जीवन काल में बाहर जुदा रखकर अपनी पढाई नहीं करवा सके। आप पिता श्री के साथ ही रहते थे, इस कारण स्कूल के दरेक विषय की पढाई नहीं हो सकी, सिर्फ हिन्दी और अंग्रेजी की पढाई मास्टर घर पर आकर करवाता था, पिता श्री के जीवन काल में जाकर शादी तो हो चुकी थी। बाद में पिता श्री का स्वर्गवास हो गया। तब ये स्कूल जाकर विद्याध्ययन करने लगे। मैट्रिक देहली रामजस हाईस्कूल से पास की। इण्टर अजमेर गवर्मेन्ट कॉलेज से की बी ए. इलाहाबाद विश्वविद्यालय से तथा एम. ए. राजनीति में और एल. एल. बी. की परीक्षा प्रथम श्रेणी में लखनऊ विश्वविद्यालय से सन् १९३३ ई० में उत्तीर्ण हुए।

इसके साथ साथ फौजी परीक्षा भी प्रथम श्रेणी में पास की। इनकी प्रथम नियुक्ति फौज में हुई, किन्तु इन्होंने उस वक्त के रियासती वातावरण में रहना पसन्द नहीं किया। वहाँ से

निकलकर अजमेर में आकर वकालत सन् १९३८ तक की। तत्पश्चात् मातुश्री के आग्रह से महाराणा सा० श्री भूपालसिंहजी ने हाकिम के पद पर नियुक्त किया। इसके बाद मेवाड़ राज्य में अनेक पदो पर काम किया। महाराणा स० ने इनको सेवा की सराहना में इनको और इनकी पत्नी को सोना पांव में पहनने की इज्जत बख्सी। राजस्थान बनने पर प्रतापगढ रियासत के एडमीनिस्टेस्टर बने, फिर टौंक के कलक्टर (जिलाधीश) बने। इसके पश्चात् डाइरेक्टर ओफ रिलीफएडीस्नल कमीश्नर रहे। अन्त में देवस्थान कमीश्नर पद से रिटायर हो गये। तब से जयपुर में रहने लगे, और वहाँ गलुंडिया भवन का आकाशवाणी के आमने सामने निर्माण करवाया, एक बगीचा माणक वाटिका नामका अजमेर–रोड–पर और एक बंगला गोपाल वाडी में भी बनवाया।

इनके बड़े लड़के शिवसिहजी सा० के दो पुत्र प्रताप सिंहजी सुमेरसिंहजी तथा एक पुत्री नीताबाई है। श्री शिवसिंहजी की शादी अहमदनगर निवासी उत्तमचन्द्रजी रामचन्द्रजी बोगावत जो कि लोकसभा के एक सदस्य थे, उनकी सुपुत्री के साथ हुई। श्री शिवसिंहजी जयपुर में उद्योग (इण्डस्ट्री) का कार्य कर रहे हैं, जिनकी दो शाखाएँ शिवइंजिनियरिंग और कमलइंजिनियरिंग हैं।

श्री हिम्मतसिंहजी सा० के द्वितीय पुत्र कुशलसिंहजी प्रथम श्रेणी के मजिस्ट्रेट पद पर जयपुर में हैं। इनके एक ही पुत्र चेतनसिंहजी है इनकी शादी मणासा निवासी वकील सा० श्री जमुनालालजी जैन की पुत्री से हुई है। तृतीय और चतुर्थ पुत्र श्री चन्द्रसिंह और भूपाल सिंह जयपुर में फिल हाल विद्याभ्यास कर रहे हैं।

श्री हिम्मतसिंहजी सा० के बड़े भ्राता रघुनाथसिंहजी के सुपुत्र श्री जगन्नाथ सिंहजी उदयपुर गोपाल भवन में रहते हैं और कृषिकार्य सुचारु रूप से चला रहे हैं–इनकी शादी उज्जैन निवासी बापूलालजी की पुत्री से हुई है। इनके तीन पुत्र और दो पुत्रियां है। उदय पुर का गोपालभवन बंगला हिम्मतसिंहजी सा० के पितामह के नाम से प्रसिद्ध है।

श्री हिम्मतसिंहजी को पाँच बहनें थी। श्रीमती रूप कुँवर बाईजी की एक ही पुत्री श्रीमती आनन्द कुँवर बाई है, जिसकी शादी रतलाम निवासी सेठ वर्धमानजी पीतलिया से हुई। २-द्वितीय बहन श्री सज्जन बाईजी के पुत्र भूरेलालजी बया राजस्थान के मन्त्री पद पर रहे जो कांग्रेस के सक्रिय कार्यकर्ता है।

द्वितीय पुत्र श्री गणेशलालजी जिनकी धर्म में अच्छी लगन है। ३--तृतीय बहन गुलाब कुँवरजी मुनिव्रत को अङ्गीकार किया है। इनके एक पुत्र मोहनलालजी बया तथा एक पुत्री

तेज कुँवर है । चतुर्थ बहन मोहनकुँवरजी इनकी शादी रीयांवाले सेठ घनश्यामदासजी के साथ हुई थी, इनकी स्मृति में भूपाल पुरा उदयपुर में मोहनज्ञानमन्दिर का निर्माण हुआ । जिसमें सब कुटुम्बियो के साहाय्य और सहयोग रहे है । यह भवन उपाश्रय और पुस्त-कालय के काम में आ रहा है । ५ पाँचवी बहन चन्द्रकुँवर उदयपुर गोपाल भवन में रहती है और धर्मध्यान करती है ।

श्री हिम्मतसिंहजी सा० की माता श्री श्रीमती सुन्दरबाई अपने जीवन काल में खूब धर्मध्यान करती थी ८५ पच्चासी वर्ष की अवस्था में कालधर्म को प्राप्त हुई । इन्हीं के धर्मध्यान के सुसंस्कार का यह सुपरिणाम है कि आगे के सन्तति भौतिक सुख साधनो से भरपुर होकर भी जैनधर्म दिवाकर पूज्य श्री घासीलालजी महाराज (जो कि बत्तीस के बत्तीस स्थानकवासी जैन आगम की टीका सम्पन्न करके व्याकरण, साहित्य कोष न्याय आदि समूचे उपयुक्त शब्दजाल के ऊपर अस्सी से ऊँची उमर में भी लेखनी चला रहे है) की सेवा से भक्ति के साथ आध्यात्मिक उन्नति सम्मुख हो रही है । श्री हिम्मतसिंह जी का आग्रह है कि—

इन गुरुचरणों की सेवा में, बची उमर अब जाय ।
इनके शुभ आदेश का, पालन करने आय ॥१॥

આદ્યમુરબ્બીશ્રીઓ



શ્રી શાંતિલાલ મંગળદાસભાઈ
અમદાવાદ.



(સ્વ) શેઠશ્રી શામજીભાઈ વેલજીભાઈ
વીરાણી-રાજકોટ



(સ્વ) શેઠશ્રી છગનલાલ શામળદાસ ભાવસાર – અમદાવાદ.

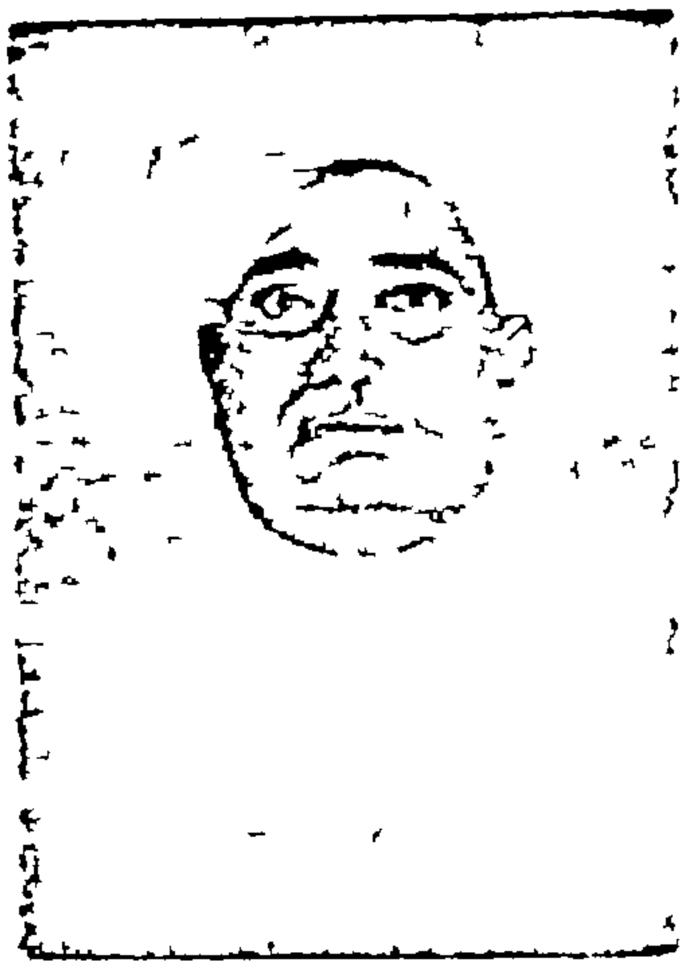


શેઠશ્રી રામજીભાઈ શામજીભાઈ
વીરાણી-રાજકોટ.



વચ્ચે બેઠેલા
લાલાજી કિશનચંદજી સા. જૌહરી
ઉભેલા સુપુત્ર ચિ મહેતાબચન્દજી સા.
નાના – અનિલકુમાર જૈન (દાયત્તા)

આદ્યમુરબ્બીશ્રીઓ



(સ્વ.) શેઠશ્રી હરખચંદ કાલીદાસ વારિઆ
ભાણવડ.



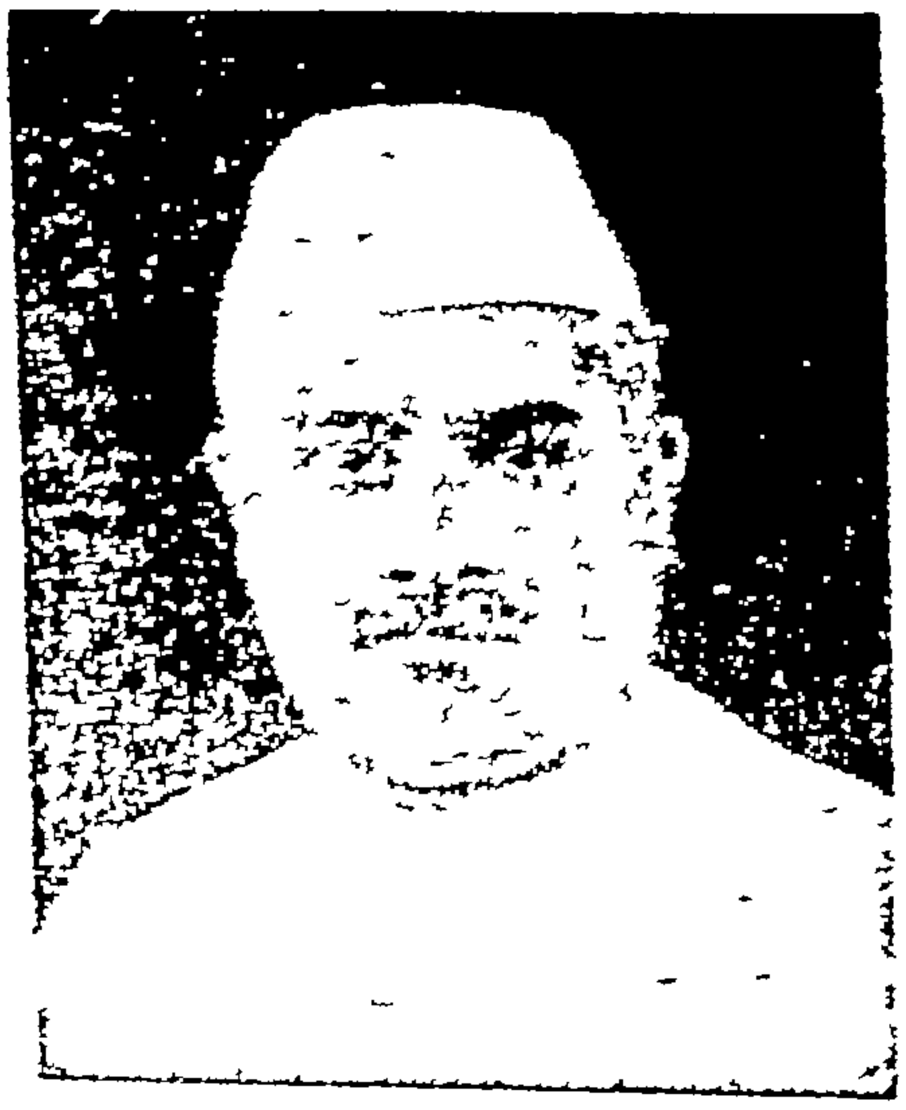
(સ્વ.) શેઠ રંગજીભાઈ મોહનલાલ શાહ
અમદાવાદ.



(સ્વ.) શેઠશ્રી દિનેશભાઇ કાંતિલાલ શાહ
અમદાવાદ.



શ્રી વિનોદભાઈ વીરાણી



શેઠશ્રી જેસિંગભાઈ પોચાલાલભાઈ
અમદાવાદ.

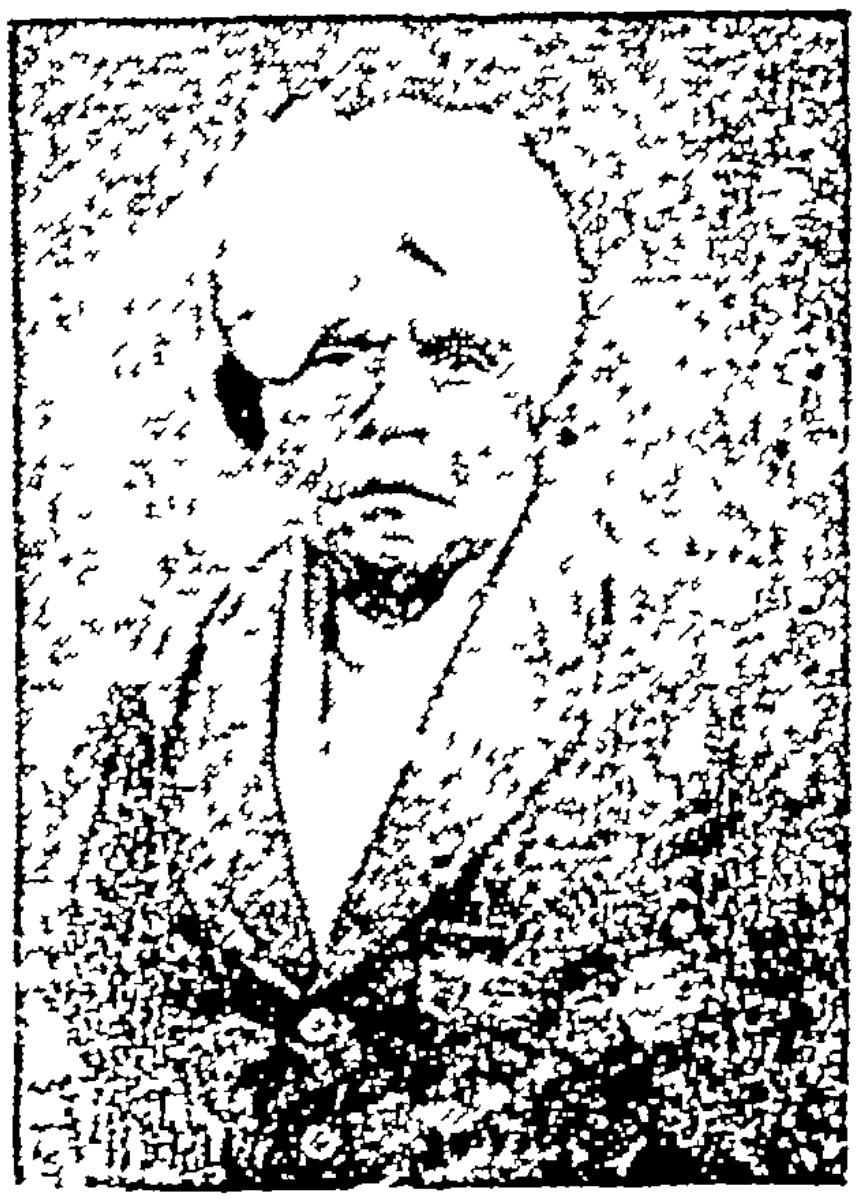


સ્વ. શેઠશ્રી આત્મારામ માણેકલાલ
અમદાવાદ

આદ્યમુરબ્બીશ્રીઓ



શ્રી વૃજલાલ દુર્લભજી પારેખ
રાજકોટ.



કોઠારી હરગોવિંદ જેચંદભાઈ
રાજકોટ.



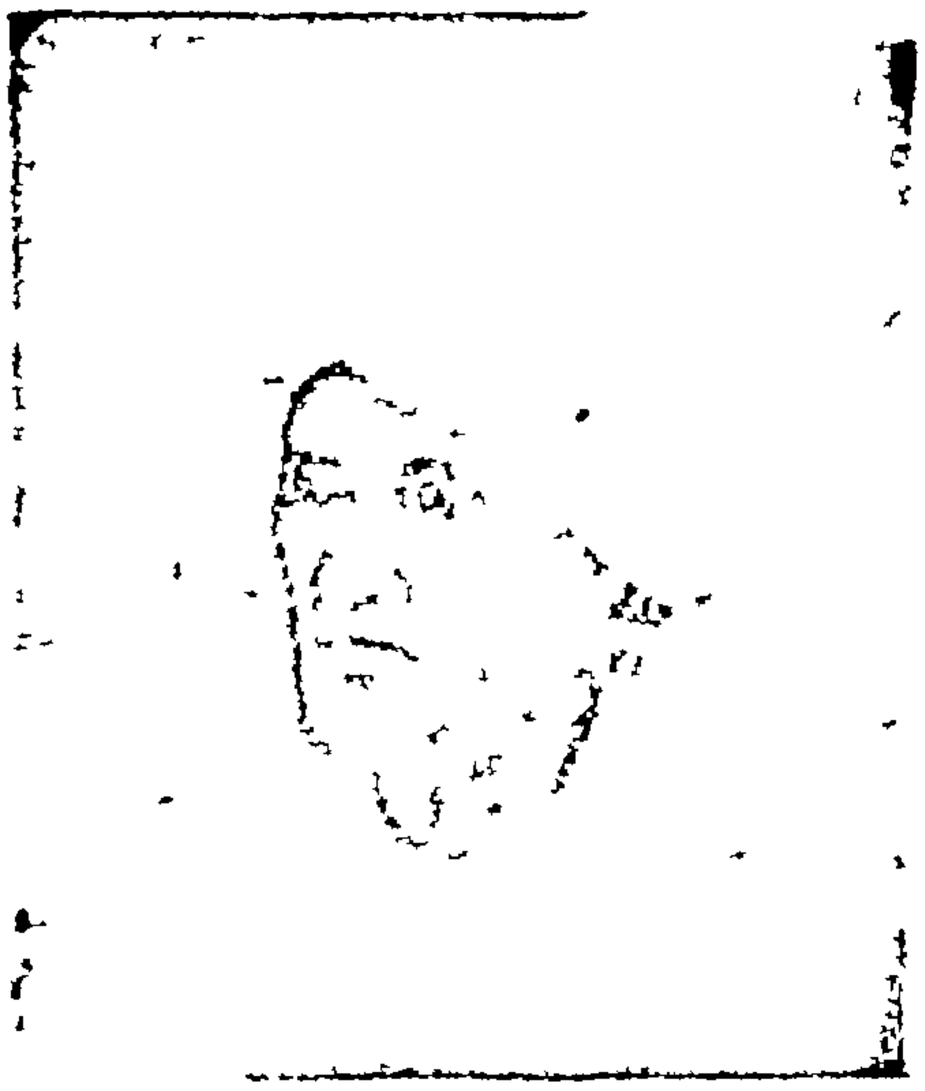
પટેલ ડોસાભાઈ ગોપાલદાસ
મુ. સાણંદ (જી. અમદાવાદ)



શેઠશ્રી મિશ્રીલાલજી લાલચંદજી સા. લુણિયા
તથા શેઠશ્રી જેવંતરાજજી લાલચંદજી સા

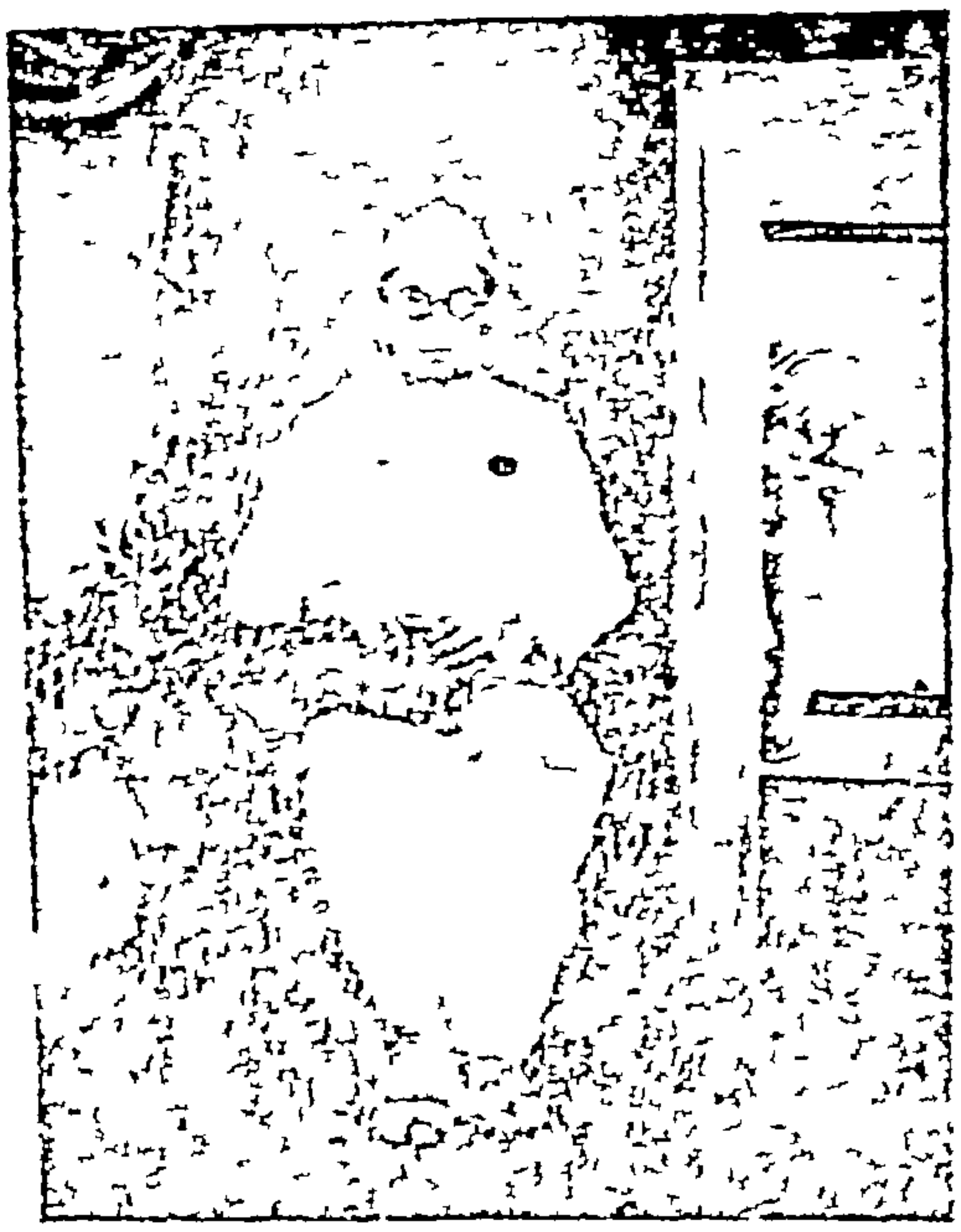


(સ્વ) શેઠશ્રી ધારશીભાઇ જીવણલાલ
બારસી.

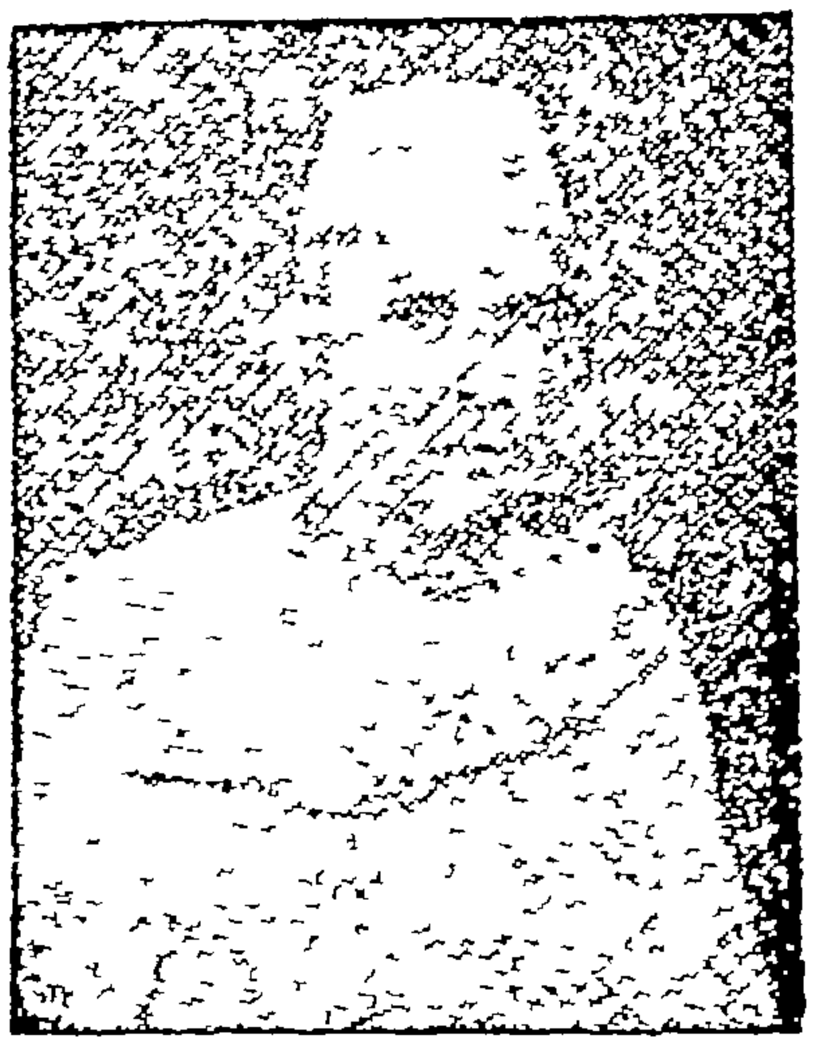


સ્વ. શ્રીમાન્ શેઠશ્રી મુકનચંદજી સા.
બાલિયા પાલી મારવાડ

આદ્યમુરબ્બીશ્રીઓ



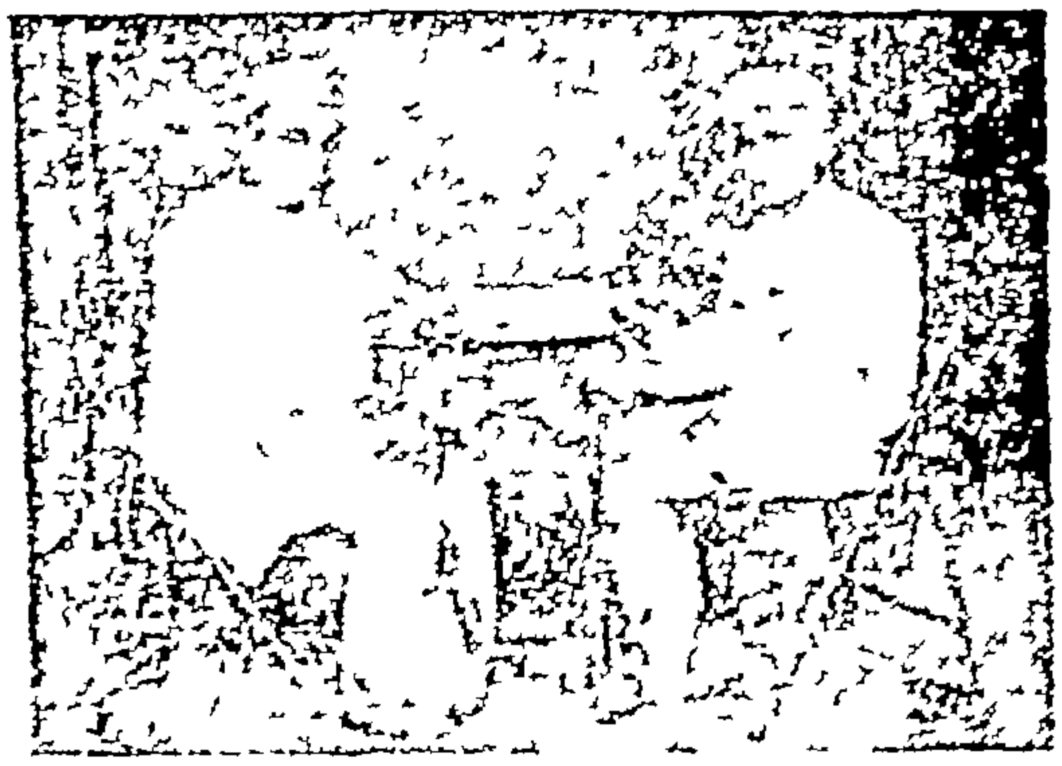
સ્વ. શેઠશ્રી હરિલાલ અનોપચંદ શાહ
ખંભાત.



स्व. शेठ ताराचंदजी साहेव गेलडा
मद्रास.



श्रीमान् शेठ सा. चीमनलालजी सा.
ऋपभचंदजी सा अजीतवाले (सपरिवार)



૧ અમીચંદભાઈ તથા
૨ ગીરધરભાઈ બાંટવિયા



[illegible] મોટાભાઈ શ્રીમાન્ મૂલચંદજી
જવાહીરલાલજી બરડિયા
૨ [illegible] ભાઈ મિશ્રીલાલજી બરડિયા
૩ [illegible] નાનાભાઈ પૂનમચંદ બરડિયા



श्रीमान् सेठश्री
खीमराजजी सा. चोरडिया

॥ व्यवहारसूत्रस्य विषयानुक्रमणिका ॥

सूत्रसं०	विषयः	पृष्ठसं०
	॥ मङ्गलाचरणं, व्याख्या कारप्रतिज्ञा च ॥	१
१	भिक्षोर्मासिकपरिहारस्थानप्रतिसेवने प्रायश्चित्तविधिः ।	२
२	एवं द्वैमासिकपरिहारस्थानप्रतिसेवने „ ।	३
३	त्रैमासिकपरिहारस्थानप्रतिसेवने „ ।	४
४	चातुर्मासिकपरिहारस्थानप्रतिसेवने „ ।	५
५	पाञ्चमासिकपरिहारस्थानप्रतिसेवने „ ।	६
६	पाञ्चमासिकपरिहारस्थानादूर्ध्वं षाण्मासिकादिपरिहारस्थानप्रतिसेवने सर्वत्र प्रतिकुञ्चितेऽप्रतिकुञ्चिते वा षण्मासा एव प्रायश्चित्तम् ।	
७–१२	एवं बहुशोऽपि मासिकादिपरिहारस्थानप्रतिसेवनविषयेऽपि षट् सूत्राणि ।	८–१०
१३	मासिकादारभ्य षाण्मासिकपरिहारस्थानप्रतिसेवनप्रायश्चित्त-विषयकं समुच्चयसूत्रम् ।	१०–११
१४	एवं बहुशो मासिकादिपरिहारस्थानप्रतिसेवने प्रायश्चित्तविधिः ।	१२
१५	चातुर्मासिकसातिरेकचातुर्मासिकपाञ्चमासिकसातिरेक-पाञ्चमासिकपरिहारस्थानप्रतिसेवने प्रायश्चित्तविधिः ।	१३
१६	बहुशोऽपि चातुर्मासिकसातिरेकचातुर्मासिकादिपरिहारस्थान-प्रतिसेवने प्रायश्चित्तविधिः ।	१४–१८
१७	चातुर्मासिक–सातिरेकचातुर्मासिक–पाञ्चमासिक–सातिरेकपाञ्चमासिक-परिहारस्थानप्रतिसेवनेऽप्रतिकुञ्च्यालोचयतः प्रायश्चित्तविधिः ।	१९–२१
१८	एवं प्रतिकुञ्च्यालोचयतः प्रायश्चित्तविधिः ।	२२–२४

सूत्रसं.	विषयः	पृष्ठसं.
१९	बहुशोऽपि सातिरेकचातुर्मासिक–पाञ्चमासिकपरिहारस्थानप्रति-सेवने अप्रतिकुञ्च्याऽऽलोचयतः प्रायश्चित्तविधिः ।	२५–२६
२०	एवं प्रतिकुञ्च्याऽऽलोचयतः प्रायश्चित्तविधिः ।	२७–२९
२१	पारिहारकाऽपारिहारिकानां स्वाध्यायार्थमेकत्र निषदनादौ स्थविराऽऽज्ञामन्तरेण निषेधः ।	३०–३१
२२	परिहारकल्पस्थितभिक्षोर्बहिः स्थविरवैयावृत्यार्थं गमने स्थविरस्मरणमाश्रित्य गमनप्रकारः ।	३२
२३	एवं स्थविराऽस्मरणे गमनप्रकारः ।	३४
२४	एवं स्थविरस्मरणाऽस्मरणे गमनप्रकारः ।	३५
२५	भिक्षोर्गणादवक्रम्य एकाकिविहारप्रतिमां प्रतिपद्य विहरणे विधिः ।	३७
२६–२७	एवं गणावच्छेदकाचार्योपाध्यायविषयकं सूत्रद्वयम् ।	३८
२८	भिक्षोर्गणादवक्रम्य पार्श्वस्थविहार प्रतिमामुपसंपद्य विहरतस्तद्विधि. ।	३९
२९–३२	एवं यथाछन्दविहारप्रतिमा–कुशीलविहारप्रतिमा–ऽवसन्नविहार-प्रतिमा–ससक्तविहारप्रतिमाविषये चत्वारि सूत्राणि ।	३९–४१
३३	भिक्षोर्गणादवक्रम्य परपाषण्डप्रतिमामुपसंपद्य विहरतस्तद्विधिः ।	४१–४२
३४	भिक्षोर्गणादवक्रम्यावधावने तद्विधि. ।	४३
३५	भिक्षोः किमप्यकृत्यस्थानप्रतिसेवनानन्तरमालोचनेच्छायाम् आलोचनाविषये प्रायश्चित्तविषये च षड् विकल्पाः ।	४४–४९

॥ इति व्यवहारसूत्रे प्रथमोद्देशकः ॥१॥

॥ अथ द्वितीयोद्देशकः ॥

सूत्रसं.	विषयः	पृष्ठसं.
१	एकतो विहरतोर्द्वयोः साधर्मिकयोर्मध्यादेकस्याकृत्यस्थान-सेवने प्रायश्चित्तसेवनविधिः ।	५०
२	एवं द्वयोर्मध्ये द्वयोरपि अकृत्यस्थानसेवने प्रायश्चित्तसेवनविधिः ।	५१
३	एकतो विहरतां बहूनां साधर्मिकाणां मध्ये एकतमस्याऽकृत्यस्थान-सेवने प्रायश्चित्तसेवनविधिः ।	५२
४	एवं बहूनां साधर्मिकाणां मध्ये सर्वेषामकृत्यस्थानसेवने प्रायश्चित्तविधिः ।	५२

॥ इति व्यवहारसूत्रे चतुर्थोद्देशकः ॥४॥

॥ अथ पञ्चमोद्देशकः ॥

॥ इति व्यवहारसूत्रे पञ्चमोद्देशकः ॥५॥

सूत्रसं.	विषयः	पृष्ठसं.

॥ अथ षष्ठोद्देशकः ॥

॥ इति व्यवहारे सप्तमोद्देशकः समाप्तः ॥७॥

॥ अथाष्टमोद्देशकः ॥

॥ इति व्यवहारे अष्टमोद्देशकः समाप्तः ॥ ८ ॥

॥ नवमोद्देशकः ॥

॥ इति व्यवहारे नवमोद्देशकः समाप्तः ॥९॥

सूत्रसं.	विषयः	पृष्ठसं.

॥ दशमोद्देशकः ॥

॥ इति व्यवहारसूत्रे दशमोद्देशकः समाप्तः ॥१०॥

॥ इति व्यवहारसूत्रस्य विषयानुक्रमणिका समाप्ता ॥

श्री वीतरागाय नमः

जैनाचार्य-जैनधर्मदिवाकर-पूज्यश्री-घासीलालव्रतिविरचित-भाष्यसमलङ्कृतम्-

श्री-व्यवहारसूत्रम्

मङ्गलाचरणम्

वर्द्धमानं जिनं नत्वा, गणीशं गौतमं तथा ।
व्यवहारागमे भाष्यं, घासीलालेन तन्यते ॥१॥

इतः पूर्वं बृहत्कल्पसूत्रं व्याख्यातम् । सम्प्रति व्यवहारसूत्रं विव्रियते-अस्य व्यवहारसूत्रस्य बृहत्कल्पसूत्रेण सहाऽयमभिसम्बन्धः-बृहत्कल्पे सामान्यत एव प्रायश्चित्तमुक्तम्, न तु तद्दान-विधिरालोचनविधिर्वा, व्यवहारे तु प्रायश्चित्तदानमालोचनाविधिश्चाऽभिधास्यते । तदनेन सम्बन्धे-नाऽऽयातस्यास्य व्यवहाराध्ययनस्य व्याख्या प्रस्तूयते—

अत्र व्यवहारग्रहणेन व्यवहारी, व्यवहरणीयं चेति द्वयमपि सूचितम् । व्यवहारि-व्यव-हरणीययोरभावे व्यवहारस्यैवाऽसंभवात्, ततो यथा व्यवहारस्य प्ररूपणा कर्त्तव्या, तथा व्यवहारि-व्यवहरणीययोरपीति, तत् त्रयाणामपि प्ररूपणां कुर्वन्नाह **भाष्यकारः**-'**ववहारो**' इत्यादि ।

भाष्यम्—ववहारो ववहारी, ववहरणिज्जा य जे जहा पुरिसा ।
एएसिं तु पयाणं, पत्तेयं खलु परूवणं वोच्छं ॥१॥

छाया—व्यवहारो व्यवहारी, व्यवहरणीयाश्च ये यथा पुरुषाः ।
एतेषां तु पदानां, प्रत्येकं खलु प्ररूपणां वक्ष्ये ॥१॥

अवचूरी—'ववहारो' इति । व्यवहार, व्यवह्रियते दीयते यद्यस्य प्रायश्चित्तमापतति तद्दानविषयीक्रियतेऽनेन स व्यवहार. । '**ववहारी**' व्यवहारी व्यवहरतीत्येवशीलः व्यवहारक्रिया-प्रवर्त्तकः प्रायश्चित्तदायक इति यावत् '**य**' च '**जे पुरिसा**' ये पुरुषाः, अत्र पुरुषग्रहणं पुरुषो-त्तमो धर्म इति ज्ञापनार्थम् । पुरुषपदेन स्त्रियोऽपि परामृष्टा भवेयुः, तासामपि प्रायश्चित्तदान-विषयतया प्रतिपादयिष्यमाणत्वात् । '**जहा**' यथा येन वक्ष्यमाणप्रकारेण '**ववहरणिज्जा**' व्यवहरणीयाः व्यवहारविषयीकर्त्तव्याः- '**एएसिं पयाणं**' एतेषां पदानाम् व्यवहार-व्यवहारि-व्यवहरणीयानां त्रयाणाम् '**तु**' तु-अपि '**पत्तेयं**' प्रत्येकम्, एकैकस्य पदस्य '**परूवणं**' प्ररूपणां व्याख्यां संक्षेपतो विस्तरतश्च '**खलु**' खलु-निश्चयेन '**वोच्छं**' वक्ष्ये कथयिष्यामि ॥१॥

अथ त्रयाणामपि पदानां संक्षेपप्ररूपणार्थमिदमाह—'ववहारी' इत्यादि ।

भाष्यम्— ववहारी खलु कत्ता, ववहारो हवइ करणभूओ उ ।
ववहरणिज्जं कज्जं, कुंभाइतिगस्स जह सिद्धी ॥२॥

छाया— व्यवहारी खलु कर्त्ता, व्यवहारो भवति करणभूतस्तु ।
व्यवहरणीयं कार्यं, कुम्भादित्रिकस्य यथा सिद्धिः ॥२॥

अवचूरी—'ववहारी' इति अस्मिन् शास्त्रे 'खलु' खलु निश्चयेन । 'ववहारी' व्यवहारी 'कत्ता' कर्त्ता कथ्यते। 'ववहारो उ' व्यवहारस्तु 'करणभूओ' करणभूतः करणरूपो भवति । स च करणभूतो व्यवहारः पञ्चविधः, तद्यथा—आगमः, श्रुतम्, आज्ञा, धारणा, जीतं चेति । 'ववहरणिज्जं' व्यवहरणीयम्, करणभूतेन पञ्चविधव्यवहारेण व्यवहरन् कर्त्ता यन्निष्पादयति तत् 'कज्जं हवइ' कार्यं भवति । ननु व्यवहारग्रहणेन व्यवहारी व्यवहरणीयं चेति द्वे कथं गृह्येते ? नहि देवदत्तग्रहणेन यज्ञदत्तादयो गृह्यन्ते ? इति चेत् अत्रोच्यते—'जह कुंभाइतिगस्स सिद्धी' यथा—कुम्भादित्रिकस्य सिद्धिर्लोके भवति, तथाऽत्राऽपि इति । अयं भावः—कुम्भ इत्युक्ते, कुम्भ इति कार्य्यम्, कुलालस्तस्य कर्त्ता, मृद्दण्डचक्रादिकं करणं च सामर्थ्याद् गृह्यते, कृतस्य कार्यस्य कर्तृकरणव्यतिरेकेण चाऽसंभवात् । एवं व्यवहार इत्युक्ते व्यवहारी व्यवहरणीयश्च गृह्येते एव, कुत्रापि सकर्मकक्रियायाः साधकतम रूपस्य करणस्याऽपि कर्मकर्तृव्यतिरेकेणाऽसंभवात् ॥२॥

तदेवं व्यवहार-व्यवहारि-व्यवहरणीयानां निरूपणं कृत्वा संप्रति सूत्रं व्याख्यातुमाह—'जे भिक्खू' इत्यादि ।

सूत्रम्—जे भिक्खू मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा । अपलिउंचिय आलोएमाणस्स मासियं, पलिउंचिय आलोएमाणस्स दोमासियं ॥ सू० १॥

छाया—यो भिक्षुर्मासिकं परिहारस्थानं प्रतिसेव्य आलोचयेत् । अपरिकुञ्च्यालोचयतो मासिकम्, प्रतिकुञ्च्यालोचयतो द्वैमासिकम् ॥ सू० १ ॥

अथास्य सूत्रस्य भाष्यरूपेण व्याख्या क्रियते, तल्लक्षणं चेदम्—

"संहिता च पदं चैव, पदार्थः पदविग्रहः ।
चालना प्रत्यवस्थानं, व्याख्या सूत्रस्य षड्विधा" ॥१॥

तत्र संहिता नाम—अस्खलितपदानां सामीप्येन उच्चारणम् १ । पदं च—पदच्छेदकरणम्, यथाऽत्रैव सूत्रे 'यः भिक्षुः मासिकं, परिहारस्थानं प्रतिसेव्य, आलोचयेत्' इत्यादि २। तथा पदार्थः—पदस्य वाच्यार्थः, यथा भिक्षुपदस्यार्थप्रतिपादनं, तथाहि—'भिक्ष याचने' इति धातोः भिक्षते यमनियमव्यवस्थितः कृतकारितानुमोदितपरिहारेण याचते इत्येवंशीलो भिक्षुः उ प्रत्यये भिक्षुरिति सिद्धम् ३ । पदविग्रहो—नाम—पदानां परस्परविश्लेषीकरणं, यथाऽत्रैव 'परिहा-

रस्य स्थानं परिहारस्थानम्' इति विग्रहवाक्यम् ४। चालना—प्रश्नः, यथाऽत्रैव यदि 'परिहारः पापं प्रायश्चित्तं वा तदेव स्थानम्' इति विग्रहः क्रियेत तदा परिहारस्य स्थानस्य चेत्युभयोः पदयोः समानार्थकत्वाद् एकस्यैवाऽन्यतरस्य प्रयोगः करणीयो न तु द्वयोः 'उक्तार्थानामप्रयोगः' इति न्यायादिति ५। प्रत्यवस्थानम्—तादृशप्रश्नस्योत्तरदानं, तथाहि—स्थानशब्दो नाम शब्दशक्तिस्वाभाव्यादनेकविशेषाधारसामान्याभिधायी, तेन एतद् ध्वनयति—अनेकप्रकाराणि नाम मासिकप्रायश्चित्तानि, अनेकप्रकारेण च मासिकेन उपन्यस्तेन प्रयोजनं, कल्पाध्ययनोक्तसकल-मासिकप्रायश्चित्तविषयकदानालोचनयोरभिधातुमुपक्रमात्, अतोऽत्र स्थानग्रहणम्, इत्यादिरूप-मुत्तरदानम् ६। इति व्याख्यालक्षणम्।

अथ सूत्रं व्याख्यायते—'जे भिक्खू' इति। यः कश्चिद् भिक्षुः पूर्वोक्तस्वरूपः, यद्वा नैरुक्ती शब्दव्युत्पत्तिर्यथा 'क्षुध बुभुक्षायाम्' क्षुध्यति बुभुक्षते भोक्तुमिच्छति चतुर्गतिकमपि संसारमस्मादिति संपदादित्वात् क्विपि क्षुत्—अष्टप्रकारकं कर्म, तां भिनत्ति ज्ञानदर्शनचारित्रतपोभिर्विदारयतीति भिक्षुः पृषोदरादित्वाद् भिक्षुरूपनिष्पत्तिः, एतादृशो भिक्षुः साधुः, धर्मस्य पुरुषप्रधानत्वाद् भिक्षु-निर्देशः, ततो भिक्षुकी साध्वी वा 'मासियं' मासिकं—मासेन निर्वृत्तं 'परिहारट्ठाणं' परिहार-स्थानं परिह्रियते परित्यज्यते गुरुसमीपे गत्वा यः स परिहारः पापम्, तिष्ठन्ति जन्तवः कर्म-कलुषिता अस्मिन्निति स्थानम्, परिहारस्य स्थानं परिहारस्थानं पापस्थानम् 'पडिसेवित्ता प्रति-सेव्य आचर्य 'आलोएज्जा' आलोचयेत् 'लोचृ दर्शने' धातुः, 'आङ् मर्यादायाम्' तेन आ—मर्यादया 'जह बालो जंपंतो' इत्यादिरूपया आलोचयेत्, यथा आत्मनस्तथा गुरोः प्रकटी-कुर्यात् शिष्यः, अत्र 'यः भिक्षुः' इत्यत्र यच्छब्दः 'यत्तदोर्नित्यसम्बन्धः' इति न्यायात् तच्छब्दा-पेक्षस्तेन यो भिक्षुः मासिकं परिहारस्थानं प्रतिसेव्य आलोचयेत् तस्य 'अपलिउंचिय' अप्रति-कुञ्च्य 'कुच कुञ्च कौटिल्याल्पीभावयोः' इति धातोः प्रतिकुञ्च्येति रूपम्, प्रतिकुञ्च्य कौटिल्यमाचर्य, न प्रतिकुञ्च्य अप्रतिकुञ्च्य सर्वथा कपटमकृत्वा 'आलोएमाणस्स' आलोचयतः भिक्षोः 'मासियं' मासिकं मासेन निर्वर्त्तनयोग्यं लघुकं गुरुकं वा प्रतिसेवनानुसारतो गुरुः प्राय-श्चित्तं दद्यात्। यदि यो भिक्षुः शुद्धभावेन नालोचयेत् 'पलिउंचिय' प्रतिकुञ्च्य कौटिल्यमाचर्य 'आलोएमाणस्स' आलोचयतः 'दोमासियं' द्वैमासिकं मासद्वयनिर्वर्त्तनयोग्यं लघुकं गुरुकं वा प्रतिसेवानुसारतः प्रायश्चित्तं गुरुर्दद्यात्, मायाकरणतोऽधिकस्य गुरुमासस्य सद्भावात्, प्रति-कुञ्च्य आलोचयतो यत् प्राप्तं तत्तु दीयत एव, अन्यश्च मायाप्रत्ययो गुरुको मास इति द्वैमा-सिकं प्रायश्चित्तं तस्याऽऽपद्यते इति ॥ सू० १॥

सूत्रम्—जे भिक्खू दोमासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलि-उंचिय आलोएमाणस्स दोमासियं पलिउंचिय आलोएमाणस्स तिमासियं ॥ सू० २॥

छाया—यो भिक्षुर्द्वैमासिकं परिहारस्थानं प्रतिसेव्य आलोचयेत्। अपरिकुञ्च्य आलोचयतः द्वैमासिकम् , परिकुंच्य आलोचयतः त्रैमासिकम् ॥ सू० २ ॥

भाष्यम्—'जे भिक्खू' इति। यः कश्चिद् भिक्षुः 'दोमासियं' द्वैमासिकम् 'परिहारट्ठाणं' परिहारस्थानम् 'पडिसेवित्ता' प्रतिसेव्य 'आलोएज्जा' आलोचयेत् आलोचनां कुर्यात् 'अपलिउंचिय आलोएमाणस्स' अप्रतिकुञ्च्य आलोचयतः 'दोमासियं' द्वैमासिकं 'पलिउंचिय आलोएमाणस्स' प्रतिकुञ्च्य सकपटमालोचयतः 'तिमासियं' त्रैमासिकं त्रिमासेन निर्वर्त्तनयोग्यं प्रायश्चित्तं दद्यात् प्रतिकुञ्चनानिष्पन्नस्य गुरुमासस्य प्रक्षेपात्।

अयं भावः—यदि कश्चित् साधुः द्वैमासिकं प्रायश्चित्तस्थानं प्रतिसेव्य शुद्धभावेन गुरुसमीपे प्रायश्चित्तमभिलषति तदा गुरुस्तस्मै द्वैमासिकं लघुकं गुरुकं वा प्रायश्चित्तं दद्यात्।

यदि कदाचित् स एव सकपटमालोचयेत् तदा मायाप्रयोगापराधाद् गुरुस्तस्मै त्रैमासिकं प्रायश्चित्तं दद्यादिति। इह द्वैमासिकं परिहारस्थानमात्रमापन्नस्य प्रतिकुञ्चकस्य दृष्टान्तः, तथाहि—

अस्ति कश्चित् कुञ्चिको नाम तापसः, स फलान्यानेतुं वनं गतः। अरण्यं परिभ्रमता तेन नद्यां मृतो मत्स्यो दृष्टः, त समादाय भक्षितश्च, तेन तस्य रोगः समुत्पन्नः। ततस्तेन रोगपरिहाराय पृष्टो वैद्यः प्रोवाच—किं त्वया भक्षितम्? तापसोऽवदत्—फलमेव नान्यत्किञ्चित्। वैद्येन कथितम्—घृतं पिब। तापसेन तथा कृतम्, किन्तु रोगो न नष्टः। तदा पुनस्तापसो वैद्यं कथितवान्—रोगो न गतः। वैद्यः प्रोवाच—तापस! सत्यं वद, ततस्तापसो यथावृत्तं मत्स्यभक्षणमाख्यातवान्। ततो निदानज्ञवैद्येन वमन-विरेचनादिना रोगो निष्कासितः। एवमेव शुद्धभावेनोपस्थिताय शिष्याय गुरुर्द्वैमासिकं प्रायश्चित्तं दद्यात् येन तस्य विशुद्धिर्भवेदिति ॥ सू०२॥

सूत्रम्—जे भिक्खू तेमासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा। अपलिउंचिय आलोएमाणस्स तेमासियं, पलिउंचिय आलोएमाणस्स चाउम्मासियं ॥सू०३॥

छाया—यो भिक्षुस्त्रैमासिकं परिहारस्थानं प्रतिसेव्य आलोचयेत्। अप्रतिकुञ्च्य आलोचयतः त्रैमासिकं, प्रतिकुञ्च्य आलोचयतश्चातुर्मासिकम् ॥ सू० ३ ॥

भाष्यम्—'जे भिक्खू' इति। यो भिक्षुः 'तेमासियं' त्रैमासिकं परिहारट्ठाणं परिहारस्थानं 'पडिसेवित्ता' प्रतिसेव्य 'आलोएज्जा' आलोचयेत्, 'अपलिचिउंय' अप्रतिकुञ्च्य 'आलोएमाणस्स' आलोचयत. 'तेमासियं' त्रैमासिकं त्रिमासेन निर्वर्त्तनयोग्यं प्रायश्चित्तं लघुकं गुरुकं वा प्रतिसेवनाऽनुसारि गुरुर्दद्यात्, 'पलिउंचिय' प्रतिकुञ्च्य मायामाचर्य 'आलोएमाणस्स' आलोचयतः 'चाउमासियं' चातुर्मासिकं मासचतुष्टयेन निर्वर्त्तनयोग्यं प्रायश्चित्तं लघुकं गुरुकं वा प्रतिसेवनानुसारि दद्यात्।

अयं भावः-त्रैमासिकं पापस्थानं प्रतिसेव्य यदि कश्चित्साधुः स्वकीयपापनिवारणाय गुरुसमीपे शुद्धभावेन प्रायश्चित्तमिच्छेत् तदा गुरुस्तस्मै त्रैमासिकं गुरुकं लघुकं वा प्रायश्चित्तं प्रतिसेवनानुसारेण दद्यात्। अथ कदाचित् मायापूर्वकमालोचयितुमिच्छेत्, तदा गुरुः प्रतिसेवनाऽनुसारि चातुर्मासिकं गुरुकं लघुकं वा प्रायश्चित्तं दद्यात् मायादण्डरूपेण मासाधिक्यं वदेत्।

अत्र प्रतिकुञ्चके दृष्टान्तो योधः, तथाहि-वसन्तपुरनामके नगरे वसन्तसेनो राजा, तस्य शूरसेननामक एको योधः शूरत्वेनातीव वल्लभः। स चैकदा तस्य राज्ञः एकेन प्रतिपक्षभूतेन राज्ञा सह युद्धे प्रवृत्ते तत्र सेनापतित्वमङ्गीकृत्य स्वसैन्यं परसैन्येन सह योधयन् स्वयमपि परचक्रचूरणाय योद्धुं प्रवृत्तः। ततः परसैन्यं पराजित्य विजयलक्ष्मीमासादितवान् किन्तु तस्य शरीरे परसैन्यक्षिप्तानि अनेकानि शल्यानि प्रविष्टानि। राजा चातिप्रियत्वेन तच्छरीरगतशल्योद्धरणार्थं वैद्य आदिष्टः। वैद्यश्च शल्यानि निष्कासयितुं प्रवृत्तस्तेन तस्यातिवेदना जायते ततो वेदनाभयात् कानिचित् शल्यानि मायाभावेन वैद्याय न प्रकटितानि तेन स शल्यबाधया दुर्बलीभूय मृतः। एवमिहापि यः परिहारस्थानप्रतिसेवकः कौटिल्यभावेन स्वकृतं सर्वं पाप गुरवे न प्रकटीकरोति केवलमेकं द्विकं वा प्रदर्शयति असौ योधवत् तत्पापप्रभावेण संयमजीवितात् परिभ्रश्यतीति ॥ सू० ३ ॥

सूत्रम्—जे भिक्खू चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा। अपलिउंचिय आलोएमाणस्स चाउम्मासियं, पलिउंचिय आलोएमाणस्स पंचमासियं ॥ सू० ४ ॥

छाया—यो भिक्षुश्चातुर्मासिकं परिहारस्थानं प्रतिसेव्य आलोचयेत्। अप्रतिकुञ्च्य आलोचयतश्चातुर्मासिकं, प्रतिकुञ्च्यालोचयतः पाञ्चमासिकम् ॥ सू० ४ ॥

भाष्यम्—'जे भिक्खू' इति। **'जे भिक्खू'** यो भिक्षुः **'चाउम्मासियं'** चातुर्मासिकम् **'परिहारट्ठाणं'** परिहारस्थानम् **'पडिसेवित्ता'** प्रतिसेव्य **'आलोएज्जा'** आलोचयेत् **'अपलिउंचिय'** अप्रतिकुञ्च्य **'आलोएमाणस्स'** आलोचयतः **'चाउम्मासियं'** चातुर्मासिकं **'पलिउंचिय'** प्रतिकुञ्च्य **'आलोएमाणस्स'** आलोचयतः **'पंचमासियं'** पाञ्चमासिकं मासपञ्चकेन निर्वर्त्तयितुं योग्यं लघुकं गुरुकं वा प्रतिसेवनानुसारि प्रायश्चित्तं वदेत् गुरुरिति।

अयं भावः—यत्रैव कर्मणि मायारहितस्य शिष्यस्याऽन्यस्य वा चातुर्मासिकं गुरुकं लघुकं वा प्रतिसेवनानुसारि प्रायश्चित्तं, तत्रैव मायासहितस्य पाञ्चमासिकं लघुकं गुरुकं वा प्रतिसेवनानुसारि प्रायश्चित्तं दद्यात्, मासाधिक्यस्य मायाप्रयोज्यत्वात्।

अत्र दृष्टान्तमाह—एकस्मिन् उद्याने द्वौ मालाकारौ वसतः। तत्रैकदा 'कौमुदीमहोत्सव आसन्नीभूतः' इति कृत्वा द्वावपि तौ बहूनि पुष्पाणि उद्यानतः संगृह्य माला विनिर्मितवन्तौ

तत्रैकेन महोत्सवसमये कस्मैचिद् राज्ञे सा माला विधिना प्रदर्शिता, स राज्ञा बहुद्रव्येण पुरस्कृतः। द्वितीयेन सा माला न प्रकटीकृता संगोप्य रक्षिता तेन पुरस्कारो न लब्धः, एवं यो मूलगुणापराधमुत्तरगुणापराधं च न प्रकटीकरोति स निर्वाणलाभं न लभते, अपरः स्वापराधप्रकाशकस्तु परम्परया निर्वाणलाभं लभते इति ॥ सू० ४ ।

सूत्रम्—जे भिक्खू पंचमासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा। अपलिउंचिय आलोएमाणस्स पंचमासियं, पलिउंचिय आलोएमाणस्स छम्मासियं ॥ सू० ५ ॥

छाया—यो भिक्षुः पाञ्चमासिकं परिहारस्थानं प्रतिसेव्य आलोचयेत्। अप्रतिकुञ्च्य आलोचयतः पाञ्चमासिकं, प्रतिकुञ्च्यालोचयतः षाण्मासिकम् ॥ सू० ५ ॥

भाष्यम्—'जे भिक्खू' इति। **'जे भिक्खू'** य कश्चिद्भिक्षुः **'पंचमासियं'** पांचमासिकं **'परिहारट्ठाणं'** परिहारस्थानं **'पडिसेवित्ता'** प्रतिसेव्य **'आलोएज्जा'** आलोचयेत् **'अपलिउंचिय'** अप्रतिकुञ्च्य **'आलोएमाणस्स'** आलोचयतः **'पंचमासियं'** पांचमासिकं मासपञ्चकसाध्यं प्रायश्चित्तं लघुकं गुरुकं वा प्रतिसेवनानुसारि गुरुर्दद्यात्, **'पलिउंचिय आलोएमाणस्स'** प्रतिकुञ्च्य मायां कृत्वा, मायापूर्वकमालोचयतस्तु **'छम्मासियं'** षाण्मासिकं षड्भिर्मासैः साधनीयं लघुकं गुरुकं वा प्रतिसेवनानुसारि प्रायश्चित्तं दद्यात्।

अत्र प्रतिकुञ्चके मेघदृष्टान्तो यथा-एको मेघो नो गर्जति नो वर्षति; कश्चित् मेघो नो गर्जनं कृत्वा नो वर्षति, एवं हे शिष्य! त्वमपि आलोचयामीति कथयित्वा आलोचयितुमारभ्य मायां करोषि। यदि माया करिष्यसि तदा नियमभ्रष्टो भविष्यसि अतः सम्यगालोचय, मायां मा कुरु। तत्र द्वैमासिकादिपरिहारस्थानेषु कुञ्चिते यथाक्रममिमे पूर्वोक्ताश्चत्वारो दृष्टान्ताः घटन्ते, तथाहि—द्वैमासिकं परिहारस्थानं प्राप्तस्य प्रतिकुञ्चकस्य दृष्टान्तः कुञ्चिकः तापसः १। त्रैमासिकं परिहारस्थानं प्राप्तस्य योधो दृष्टान्तः २। चातुर्मासिकं परिहारस्थानं प्राप्तस्य मालाकारो दृष्टान्तः ३। पाञ्चमासिकं परिहारस्थानं प्राप्तस्य मेघो दृष्टान्तः ४। तत्र प्रतिकुञ्चनायां कृतायामाचार्येण—'सम्यगालोचय मा प्रतिकुञ्चनां कुरु' एवमुपालब्धो यदि सम्यक् प्रत्यावृत्य वदेत्—भगवन्! "मिच्छामि दुक्कडं" मिथ्या मे दुष्कृतम्, सत्यं भवतां कथनम्, सम्प्रति सम्यगालोचयामि। ततः स श्रुतव्यवहारी प्रतिकुञ्चिते तं तथा प्रत्यावृत्तं सन्तं पुनरपि वारत्रयमालोचनां कारयति। तत्र त्रिभिर्वारैः सदृशमालोचयति तदा ज्ञातव्यो यदयं सम्यक् प्रत्यावृत्त इति। तदनन्तरं तस्मै यद्देयं प्रायश्चित्तं तदातव्यमिति। ननु वारत्रयमालोचनादेवाऽस्य श्रुतव्यवहारिणोऽन्तर्गतां मायां कथं लक्षीकुर्वन्ति? तत्राह—

"आकारैश्च स्वरैश्च, पूर्वाऽपरव्याहताभिश्चगीर्भिः ।
ज्ञात्वा कुञ्चितभावं परोक्षज्ञानिनो व्यवहरन्ति ॥१॥"

परोक्षज्ञानिनः श्रुतव्यवहारिण आचार्याः परान्तःकरणे विद्यमानां मायामाकारादिभिर्जानन्ति। तत्राऽऽकारा'–शरीरगता भावविशेषाः । तत्र यः शुद्धस्तस्य सर्वेऽप्याकाराः सविग्नभावोपदर्शका भवन्ति, इतरस्य तु न तथा । तथा स्वराः विविक्ताः विस्पष्टाः अक्षुभिताश्च निस्सरन्ति । अशुद्ध-पुरुषस्य तु अव्यक्ताः अविस्पष्टा क्षुभिता गद्गदाश्च । तथा शुद्धस्य वाणी पूर्वापराऽव्याहता, अशुद्धस्य वाणी पूर्वापरविसंवादिनी । एवं परोक्षज्ञानिनः श्रुतव्यवहारिणः–आकारैः स्वरैः पूर्वापर-व्याहताभिश्च वाणीभिः तस्याऽऽलोचकस्य अन्तःकरणगतं कुञ्चितभाव ज्ञात्वा तथा व्यवहरन्ति । पूर्वं मायाप्रत्ययेन प्रायश्चित्तदण्डेन दण्ड्यते, पश्चात् अपराधप्रत्ययेन प्रायश्चित्तदण्डेनेति ।

अथ यदि विसदृशमालोचयति तदा गुरुणा वक्तव्यं यद्–भो भोः ! अन्यमुनिसमीपे गत्वा स्वकीयपरिहारस्थानस्य शुद्धिं कुरु । नाहं तवैतादृश्या असदृश्या आलोचनायाः सद्भावमजानानः शुद्धिं कर्तुं शक्नोमि, इति । शिष्यः पुनः प्रश्नयति–गुरो ! संसारपारावारसमुत्तरणकरण ! एतानि मासादीनि षण्मासपर्यन्तानि परिहारस्थानानि कुतः प्राप्तानि ? तत्राह–उद्गमादिरूपत्रिकस्थानात् एतानि परिहारस्थानानि प्राप्तानि भवन्ति। अयं भावः–उद्गमोत्पादनैषणासु यद् अकल्प्यप्रतिसे-वनाया आचरणं तस्मादेवैतानि परिहारस्थानानि प्राप्तानि भवन्तीति ॥ सू० ५ ॥

सम्प्रति षाण्मासिकप्रायश्छित्तादूर्ध्वं प्रायश्चित्तं न भवतीति प्रदर्शयति–**'तेण परं'** इत्यादि।

सूत्रम्—तेण परं पलिउंचिए वा अपलिउंचिए वा ते चेव छम्मासा ॥ सू० ६ ॥

छाया—ततः परं प्रतिकुञ्चिते वा अप्रतिकुञ्चिते वा त एव षण्मासाः ॥ सू० ६॥

भाष्यम्—'तेण परं' इति । **'तेण परं'** ततः परं, तेनेति पञ्चम्यर्थे तृतीया, अथवा 'तेन' इति अव्ययं 'ततः' इत्यर्थे, तथा च तेन ततः पाञ्चमासिकप्रायश्चित्तस्थानात् परमूर्ध्वं षाण्मासिकादिपरिहारस्थाने प्रतिसेविते सति, आलोचनाकाले प्रायश्चित्तसमये **'पलिउंचिए वा'** प्रतिकुञ्चिते वा, प्रतिकुञ्चन–माया तत्सहिते वा **'अपलिउंचिए वा'** अप्रतिकुञ्चिते वा मायारहिते वा, मायापूर्वकम्, अमायापूर्वकं वा आलोचिते इत्यर्थः । **'ते चेव छम्मासा'** त एव षण्मासाः त एव प्रतिसेवनानिष्पन्नाः स्थिता मासाः षण्मासा एव, नाधिकं प्रतिकुञ्चनानिमित्तमारोपण कर्तव्यम् ।

कुतो नाधिकं प्रायश्चित्तं दातव्यम् यथा मासिकप्रतिसेवनानिमित्तप्रायश्चित्तावसरे समायस्य द्वैमासिकं प्रायश्चित्तविधानं कृतं तथा—षण्मासप्रायश्चित्तावसरे समायिकाय सप्तमासिकं प्रायश्चित्तं वक्तव्यं स्यात् किन्तु तथा न कृत्वा षण्मासावधिकमेव प्रायश्चित्तं प्रतिकुञ्चनाया अप्रतिकुञ्चनायाः कुतः कारणाद्विधीयते ? इति चेत् अत्रोच्यते—सत्यं भवता तर्कितम् षण्मासादप्यधिकं प्रायश्चित्तं दातव्यं प्रतिकुञ्चिते, किन्तु इह जीतकल्पोऽयम्—

अयं भाव—यस्य तीर्थकरस्य यावत्प्रमाणकमुत्कृष्टं तपःकरणं तस्य तीर्थकरस्य तीर्थे (शासने) अन्यसाधूनामुत्कृष्टं प्रायश्चित्तदानं तावत्प्रमाणकमेव, न ततोऽधिकं कदाचिदपि दातव्यम्। अन्तिमतीर्थकरस्य भगवतो महावीरस्वामिनः, उत्कृष्टं तपः षाण्मासिकं ततो भगवतो वर्द्धमानस्वामिनः शासने सर्वोत्कृष्टमपि प्रायश्चित्तदानं षाण्मासिकमेवेति। षाण्मासिकं परिहारस्थान प्रतिसेवनयापि आलोचनां कुर्वतोऽपि नाधिकमारोपणम्, अतस्त एव षण्मासा इति कथितम् ॥ सू० ६॥

सूत्रम्—जे भिक्खू बहुसोवि मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा। अपलिउंचिय आलोएमाणस्स मासियं, पलिउंचिय आलोएमाणस्स दोमासियं ॥ सू० ७॥

छाया—यो भिक्षुर्बहुशोऽपि मासिकं परिहारस्थानं प्रतिसेव्य आलोचयेत्। अप्रतिकुञ्च्य आलोचयतः मासिकं, प्रतिकुञ्च्य आलोचयतो द्वैमासिकम् ॥ सू० ७॥

भाष्यम्—'**जे भिक्खू**' इति। '**जे भिक्खू**' यः कश्चिद् भिक्षुः '**बहुसो**' बहुशः त्रिप्रभृतिबहुवारानपि आस्तामेकं द्वौ वारौ, इत्यपिशब्देन संगृह्यते '**मासियं**' मासिकम् '**परिहारट्ठाणं**' परिहारस्थानम् '**पडिसेवित्ता**' प्रतिसेव्य '**आलोएज्जा**' आलोचयेत् आलोचनां कुर्यात् तस्य '**अपलिउंचिय आलोएमाणस्स**' अप्रतिकुञ्च्यालोचयतः प्रतिकुञ्चनं माया, तामकृत्वा मायामन्तरेण शुद्धान्तःकरणेन आलोचयतः आलोचनां प्रायश्चित्तविधानं कुर्वतः '**मासियं**' मासिकमेकम् एकमासमात्रस्य प्रायश्चित्तं गुरुर्वदेत्। तत्रैव यदि—'**पलिउंचिय**' प्रतिकुञ्च्य मायापूर्वकम् आलोचयतः '**दोमासियं**' द्वैमासिकम्, द्विमासेन निर्वर्त्तनयोग्यं गुरुकं लघुकं वा प्रतिसेवनानुसारि प्रायश्चित्तम्। अप्रतिकुञ्च्यालोचयतो मासिकमेकं प्रायश्चित्तम् प्रतिकुञ्च्यालोचयतो द्वितीयो मायानिष्पन्नो गुरुमासो दीयते इति द्वैमासिकम्।

इयमत्र भावना—केनाऽपि गीतार्थेन कारणेन अयत्नतया त्रीन् वारान्, बहुवारान् वा, मासिकं परिहारस्थान प्रतिसेवितम्, आलोचनाकाले च येनाऽप्रतिकुञ्च्यालोचितं तस्मै एकमेव मासिकं प्रायश्चित्तं दीयते, न तु यावतो वारान् प्रतिसेवनां मासिकस्य कृतवान्, तावन्ति मासिकानीति। अथ प्रतिकुञ्चनया आलोचयति, ततो द्वितीयो मासो मायानिष्पन्नो दीयते इति द्वैमासिकमिति संक्षेपः ॥ सू० ७॥

सूत्रम्—जे भिक्खू बहुसोवि दोमासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा। अपलिउंचिय आलोएमाणस्स दोमासियं, पलिउंचिय आलोएमाणस्स तेमासियं॥ सू० ८॥

छाया— यो भिक्षुर्बहुशोऽपि द्वैमासिकं परिहारस्थानं प्रतिसेव्य आलोचयेत्। अप्रतिकुञ्च्य आलोचयतः द्वैमासिकं, प्रतिकुञ्च्य आलोचयतः त्रैमासिकम्॥ सू० ८॥

भाष्यम्—'जे भिक्खू' इति। 'जे भिक्खू' यः कश्चिद् भिक्षुः 'बहुसोवि' बहुशोपि त्रि–चतुः–पञ्च–वारानपि 'दोमासियं' द्वैमासिकं मासद्वयेन संपादनयोग्यम्। 'परिहारट्ठाणं' परिहारस्थानं पापं पापप्रयोजकसावद्यकर्मानुष्ठानम् 'पडिसेवित्ता' प्रतिसेव्य, तस्य प्रतिसेवनां कृत्वा 'आलोएज्जा' आलोचयेत् आलोचनां प्रायश्चित्तविधिं संपादयेत्। तस्य 'अपलिउंचिय आलोएमाणस्स' अप्रतिकुञ्च्य मायामकृत्वा विशुद्धान्तःकरणेनालोचयतः 'दोमासियं' द्वैमासिकं मासद्वयेन निर्वर्त्तनीयं 'पलिउंचिय आलोएमाणस्स' प्रतिकुञ्च्य मायापूर्वकमालोचयतः 'तेमासियं' त्रैमासिकं प्रतिकुञ्च्यालोचयतो मायानिष्पन्नस्तृतीयो गुरुमासो दीयते॥ सू० ८॥

सूत्रम्—जे भिक्खू बहुशोवि तेमासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा। अपलिउंचिय आलोएमाणस्स तेमासियं, पलिउंचिय आलोएमाणस्स चाउम्मासियं॥ सू० ९॥

छाया—यो भिक्षुर्बहुशोऽपि त्रैमासिकं परिहारस्थानं प्रतिसेव्य आलोचयेत्। अप्रतिकुञ्च्य आलोचयतः त्रैमासिकं, प्रतिकुञ्च्य आलोचयतः चातुर्मासिकम्॥ सू० ९॥

भाष्यम्—'जे भिक्खू' इति। 'जे भिक्खू' यो भिक्षुः 'बहुसोवि' बहुशोऽपि द्वित्रि-चतुर्वारान् ततोऽधिकान् पञ्चषट्सप्तादिवारान् वा 'तेमासियं' त्रैमासिकं मासत्रयकालेन संपादन-योग्यम् 'परिहारट्ठाणं' परिहारस्थानम् 'पडिसेवित्ता' प्रतिसेव्य 'आलोएज्जा' आलोचयेत् आलोचनां कुर्यात्, 'अपलिउंचिय' अप्रतिकुञ्च्य मायामकृत्वा 'आलोएमाणस्स' आलोचयतः आलोचनां कुर्वतः 'तेमासियं' त्रैमासिकम्, मासत्रयेण संपादनयोग्यं प्रायश्चित्तम् 'पलिउंचिय आलोएमाणस्स' प्रतिकुञ्च्य मायापूर्वकमालोचयतः 'चाउम्मासियं' चातुर्मासिकम्, प्रतिकुञ्च्या-लोचयतः चतुर्थो मायानिष्पन्नो मासः॥ सू० ९॥

सूत्रम्—जे भिक्खू बहुसोवि चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा। अपलिउंचिय आलोएमाणस्स चाउम्मासियं पलिउंचिय आलोएमाणस्स पंचमासियं॥ १०॥

छाया—यो भिक्षुर्बहुशोऽपि चातुर्मासिकं परिहारस्थानं प्रतिसेव्य आलोचयेत्। अप्रतिकुञ्च्य आलोचयतश्चातुर्मासिकं प्रतिकुञ्च्य आलोचयतः पाञ्चमासिकम्॥ सू० १०॥

भाष्यम्—'जे भिक्खू' इति। 'जे भिक्खू' यो भिक्षु 'बहुसोवि' बहुशोऽपि त्रिचतुः पञ्चप्रभृतिवारानपि 'चाउम्मासियं' चातुर्मासिकं मासचतुष्टयेन संपादनयोग्यं 'परिहारट्ठाणं'

परिहारस्थानं पापप्रयोजकसावद्यकर्मानुष्ठानम् 'पडिसेवित्ता' प्रतिसेव्य 'आलोएज्जा' आलोचयेत् आलोचनां कुर्यात्, 'अपलिउंचिय' अप्रतिकुञ्च्य, प्रतिकुञ्चना माया तामकृत्वा 'आलोएमाणस्स' आलोचयतः 'चाउम्मासियं' चातुर्मासिकं प्रायश्चित्तं मासचतुष्टयेन संपादनयोग्यं प्रायश्चित्तं दीयते, 'पलिउंचिय' प्रतिकुञ्च्य मायां कृत्वा 'आलोएमाणस्स' आलोचयतः 'पंचमासियं' पाञ्चमासिकम्, मासपञ्चकेन संपादनयोग्यं प्रायश्चित्तम्, अप्रतिकुञ्च्यालोचयतश्चातुर्मासिकं प्रायश्चित्तम् । प्रतिकुञ्च्यालोचयतः पञ्चमो मायानिष्पन्नो गुरुमासो दीयते ॥ सू० १० ॥

सूत्रम्—जे भिक्खू बहुसोवि पंचमासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा। अपलिउंचिय आलोएमाणस्स पंचमासियं पलिउंचिय आलोएमाणस्स छम्मासियं ॥ सू० ११॥

छाया—यो भिक्षुर्बहुशोऽपि पाञ्चमासिकं परिहारस्थानं प्रतिसेव्य आलोचयेत्। अप्रतिकुञ्च्य आलोचयतः पाञ्चमासिकं, प्रतिकुञ्च्य आलोचयतः षाण्मासिकम् ॥ सू० ११ ॥

भाष्यम्—'जे भिक्खू' इति । 'जे भिक्खू' यो भिक्षुः 'बहुसोवि' बहुशोऽपि पञ्चषड्वारान् बहून् वा 'परिहारट्ठाणं' परिहारस्थानं पापस्थानं 'पडिसेवित्ता' प्रतिसेव्य 'आलोएज्जा' आलोचयेत् तस्यालोचनासमये 'अपलिउंचिय आलोएमाणस्स' अप्रतिकुञ्च्य प्रतिकुञ्चनामकृत्वा, आलोचयतः 'पंचमासियं' पांचमासिकं मासपंचकेन संपादनयोग्यं प्रायश्चित्तं दद्यात् 'पलिउंचिय' प्रतिकुञ्च्य प्रतिकुञ्चना माया, तां पुरस्कृत्य आलोचयतस्तु 'छम्मासियं' षाण्मासिकं मासषट्केन संपादनयोग्यं प्रायश्चित्तम् । अप्रतिकुञ्च्यालोचयतः पांचमासिकम्, प्रतिकुञ्च्यालोचयतः षष्ठो मायानिष्पन्नो गुरुमासो दीयते ॥ सू० ११ ॥

सूत्रम्—तेण परं पलिउंचिए वा अपलिउंचिए वा, ते चेव छम्मासा ॥सू० १२॥

छाया—ततः परं प्रतिकुञ्चिते वा अप्रतिकुञ्चिते वा त एव षण्मासाः ॥ सू०१२॥

भाष्यम्—'तेण परं' इति । 'तेण परं' ततः परं षाण्मासिकादिपरिहारस्थाने प्रतिसेवितेऽपि आलोचनाकाले 'पलिउंचिए अपलिउंचिए वा' प्रतिकुञ्चिते अप्रतिकुञ्चते वा, प्रतिकुञ्चतया वा, अप्रतिकुञ्चतया वा आलोचिते 'ते चेव' ते एव प्रतिसेवनानिष्पन्नाः स्थिताः 'छम्मासा' षण्मासाः, नाधिकं प्रतिकुञ्चनानिमित्तम्—आरोपणम् एतादृशजीतकल्पत्वात्, महावीरशासने षाण्मासिकस्यैव प्रायश्चित्तस्य विधानात् ॥ सू० १२ ॥

सूत्रम्—जे भिक्खू मासियं वा, दोमासियं वा, तेमासियं वा, चाउम्मासियं वा, पंचमासियं वा, एएसिं परिहारट्ठाणाणं अन्नयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा अपलिउंचिय आलोएमाणस्स मासियं वा दोमासियं वा तेमासियं वा चाउम्मासियं वा पंचमासियं वा, पलिउंचिय आलोएमाणस्स दोमासियं वा तेमासियं वा

चाउम्मासियं वा पंचमासियं वा छम्मासियं वा, तेण परं पलिउंचिए वा अपलिउंचिए वा ते चेव छम्मासा ॥ सू० १३ ॥

छाया—यो भिक्षुर्मासिकं वा, द्वैमासिकं वा, त्रैमासिकं वा, चातुर्मासिकं वा, पाञ्चमासिकं वा, एतेषां परिहारस्थानानामन्यतरत् परिहारस्थानं प्रतिसेव्य आलोचयेत्, अप्रतिकुञ्च्य आलोचयतः मासिकं वा, द्वैमासिकं वा, त्रैमासिकं वा, चातुर्मासिकं वा, पाञ्चमासिकं वा षाण्मासिकं वा, ततः परं प्रतिकुञ्चिते वा अप्रतिकुञ्चिते वा, त एव षण्मासाः ॥ सू० १३ ॥

भाष्यम्—'जे भिक्खू मासियं' इति । 'जे भिक्खू' यो भिक्षुः साधुः साध्वी वा 'मासियं वा' मासिकं मासेन निर्वर्त्तनयोग्यं वा 'दोमासियं वा' द्वैमासिकं मासद्वयेन निर्वर्त्तनयोग्यं वा 'तेमासियं वा' त्रैमासिकं मासत्रयेण संपादनयोग्यं वा 'चाउम्मासियं वा' चातुर्मासिकं मासचतुष्टयेन सपादनयोग्यं वा 'पंचमासियं वा' पाञ्चमासिकं मासपञ्चकेन संपादनयोग्यं वा 'एएसिं' एतेषाम् मासिकादारभ्य पाञ्चमासिकपर्यन्तानाम् 'परिहारट्ठाणाणं' परिहारस्थानानाम् 'अन्नयरं' अन्यतरत् किञ्चिदेकम् एकमासिकं वा द्वैमासिकं वा, त्रैमासिकं वा, चातुर्मासिकं वा, पाञ्चमासिकं वा 'परिहारट्ठाणं' परिहारस्थानं प्रायश्चित्तस्थानम् 'पडिसेवित्ता' प्रतिसेव्य कस्यचिद् एकतरस्य पापस्थानस्य प्रतिसेवनां कृत्वा 'आलोएज्जा' आलोचयेत्, स्वकीयं परिहारस्थानं आचार्यसमीपे प्रकाशयेत्। तत्र-'अपलिउंचिय आलोएमाणस्स' अप्रतिकुञ्च्यालोचयतः कपटमकृत्वा आलोचनाविधिं संपादयतः साधोः क्रमशः 'मासियं वा' मासिकं वा एकमासनिष्पाद्यम् 'दोमासियं वा' द्वैमासिकं वा मासद्वयसंपादनयोग्यम् 'तेमासियं वा' त्रैमासिकं वा मासत्रयवहनयोग्यं 'चाउम्मासियं वा' चातुर्मासिकं वा मासचतुष्टयनिष्पादनयोग्य 'पंचमासियं वा' पाञ्चमासिकं वा मासपञ्चकनिष्पादनीयं लघुकं गुरुकं वा प्रायश्चित्तं प्रतिसेवनानुसारि गुरुराचार्यो वा दद्यात्, शुद्धनिष्कपटभावेनोपस्थितत्वात्, 'पलिउंचिय आलोएमाणस्स' प्रतिकुञ्च्य आलोचयतः मायापूर्वकमाचार्यसमीपे पापस्थानं प्रकाशयतः मायापराधनिमित्तं मासिकस्थाने द्वैमासिक मासद्वयवहनयोग्यं लघुकं गुरुकं वा प्रायश्चित्तं प्रतिसेवनानुसारि दद्यात्। 'तेमासियं' त्रैमासिकं प्रायश्चित्तं द्वैमासिकपापस्थाने लघुकं गुरुकं वा प्रतिसेवनानुसारिदद्यात्। 'चाउम्मासियं वा' चातुर्मासिकं वा त्रैमासिकपापस्थाने लघुकं गुरुकं वा प्रतिसेवनानुसारि दद्यात्। 'पंचमासियं वा' पाञ्चमासिकं वा प्रायश्चित्तं चातुर्मासिकप्रायश्चित्तस्थाने लघुकं गुरुकं वा प्रतिसेवनानुसारि दद्यात् 'छम्मासियं वा'

षाण्मासिकं वा पाञ्चमासिकप्रायश्चित्तस्थाने मायापराधजनितं षाण्मासिकं प्रायश्चित्तमेकमासाधिकं दद्यात् । मायापराधनिमित्तत्वेन हेतुना सर्वत्र मासाधिक्यं दद्यात् ।

यथा–यदि मासिकं पापस्थानं सेवितं सकपट चालोचयितुमाचार्यसमीपे स्थितस्तस्मै द्वैमासिकं लघुकं गुरुकं वा प्रतिसेवनानुसारि प्रायश्चित्तं गुरुर्दद्यात् । यदि वा द्वैमासिकं परिहारस्थानं प्रतिसेव्य सकपटमालोचयितुमुपस्थितो भवति, तदा तस्मै त्रैमासिकं दद्यात् । यदि वा त्रैमासिकं परिहारस्थानमासेवितं सकपटं चालोचयितुमुपस्थितः तदा तस्मै चातुर्मासिकं दद्यात् । चातुर्मासिकं प्रतिसेवितं तस्मै पाञ्चमासिकं प्रायश्चित्तं दद्यात्। पाञ्चमासिकं पापस्थानं सेवितं मायापूर्वकमालोचयितुमुपस्थितस्तस्मै षाण्मासिकं प्रायश्चित्तं दद्यात् । एवं क्रमश एकैकमासस्याधिकं प्रतिकुञ्चनानिमित्तकं प्रायश्चित्तं दद्यात्, इति । 'तेण परं' ततः परम्, ततः पाञ्चमासिकात् परिहारस्थानादूर्ध्वं षाण्मासिकादिपापस्थानप्रतिसेवक आलोचनाकाले 'पलिउंचिए अपलिउंचिए वा' प्रतिकुञ्चिते वा अप्रतिकुञ्चिते वा मायापूर्वकं मायारहितं वा आलोचिते 'ते चेव छम्मासा' त एव प्रतिसेवनानिष्पन्नाः स्थिताः षण्मासाः, नाधिकं प्रतिकुञ्चनानिमित्तं प्रायश्चित्तम्, वर्द्धमानस्वामिशासने एतादृशस्यैव जीतकल्पस्य विधानात्, अन्यान्यतीर्थकरशासने न्यूनाधिकमपि प्रायश्चित्तं भवति, यथा ऋषभतीर्थकरस्य द्वादश मासाः, वर्द्धमानस्वामिनः षण्मासाः । शेषाणां द्वाविंशतितीर्थकराणां तीर्थे अष्टौ मासा इति । इदानीं तु वर्द्धमानस्वामिनः शासनम्, तस्य तूत्कृष्टं तपः षाण्मासिकमेव, ततोऽस्य तीर्थे सर्वोत्कृष्टमपि प्रायश्चित्तदानं षण्मासा एवेति षाण्मासिकपरिहारस्थानं प्रतिसेव्य प्रतिकुञ्चनयाऽऽलोचयतोऽपि नाधिकमारोपणम्, अतस्त एव षण्मासाः प्रोक्ता इति ॥ सू० १३ ॥

सूत्रम्—जे भिक्खू बहुसोवि मासियं वा बहुसोवि दोमासियं वा, बहुसोवि तेमासियं वा, बहुसोवि चाउम्मासियं वा, बहुसोवि पंचमासियं वा, एएसिं परिहारट्ठाणाणं अन्नयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचिय आलोएमाणस्स मासियं वा, दोमासियं वा, तेमासियं वा, चाउम्मासियं वा, पंचमासियं वा, पलिउंचिय आलोएमाणस्स दोमासियं वा, तेमासियं वा, चाउम्मासियं वा, पंचमासियं वा, छम्मासियं वा, तेण परं पलिउंचिए वा, अपलिउंचिए वा, ते चेव छम्मासा ॥ सू० १४ ॥

छाया—यो भिक्षुर्बहुशोऽपि मासिकं वा, बहुशोऽपि द्वैमासिकं वा, बहुशोऽपि त्रैमासिकं वा, बहुशोऽपि चातुर्मासिकं वा, बहुशोऽपि पाञ्चमासिकं वा, एतेषां परिहारस्थानानामन्यतरत् परिहारस्थानं प्रतिसेव्य आलोचयेत्, अप्रतिकुञ्च्य आलोचयतः मासिकं वा, द्वैमासिकं वा, त्रैमासिकं वा, चातुर्मासिकं वा, पाञ्चमासिकं वा, षाण्मासिकं वा, तेन परं प्रतिकुञ्चिते वा, अप्रतिकुञ्चिते वा, त एव षण्मासाः ॥ सू० १४ ॥

भाष्यम्—'जे भिक्खू' इति। 'जे भिक्खू' यः कश्चिद् भिक्षुः साधुः साध्वी वा 'बहुसोवि' बहुशोऽपि 'मासियं वा' मासिकं वा 'बहुसोवि' बहुशोऽपि 'दोमासियं वा' द्वैमासिकं वा 'बहुसोवि' बहुशोऽपि 'ते मासियं वा' त्रैमासिकं वा 'बहुसोवि' बहुशोऽपि 'चाउम्मासियं वा' चातुर्मासिकं वा 'बहुसोवि' बहुशोऽपि 'पंचमासियं वा' पाञ्चमासिकं वा, 'एएसिं परिहारट्ठाणाणं' एतेषां मासिकादीनां परिहारस्थानानाम् 'अन्नयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता' अन्यतरत् क्रमशः एकं, द्विकं, त्रिकं, चतुष्कं, पञ्चकं वा परिहारस्थानं प्रतिसेव्य 'आलोएज्जा' आलोचयेत् 'अपलिउंचिय आलोएमाणस्स' अप्रतिकुञ्च्य आलोचयतः मायामकृत्वाऽऽलोचनां कुर्वतः 'मासियं वा' क्रमशः मासिकं वा, अत्र वा शब्दः सर्वत्र विकल्पार्थः। 'दोमासियं वा' द्वैमासिकं वा 'तेमासियं वा' त्रैमासिकं वा 'चाउम्मासियं वा' चातुर्मासिकं वा 'पंचमासियं वा' पाञ्चमासिकं वा प्रायश्चित्तम्। 'पलिउंचिय आलोएमाणस्स' प्रतिकुञ्च्यालोचयतः मायां कृत्वाऽऽलोचनां कुर्वतः सर्वत्राऽऽपन्नप्रायश्चित्तापेक्षयाऽधिको मायानिष्पन्नो लघुमासो गुरुमासो वा दीयते इति। कथमित्याह—मासिकपापस्थानसेवकस्य 'दोमासियं वा' द्वैमासिकं वा, द्विमासप्रायश्चित्तयोग्यपापस्थानसेवकस्य 'तेमासियं वा' त्रैमासिकं वा, एवं क्रमेण 'चाउम्मासियं वा' चातुर्मासिकं वा 'पंचमासियं वा' पाञ्चमासिकं वा 'छम्मासियं वा' षाण्मासिकं वा प्रायश्चित्तं दद्यात् 'तेण परं' ततः परं पाञ्चमासिकात् परिहारस्थानात् परं षाण्मासिकादिपरिहारस्थानप्रतिसेवकस्य 'पलिउंचिए वा अपलिउंचिए वा' प्रतिकुञ्चिते वा अप्रतिकुञ्चिते वा सति मायापूर्वकं वा मायारहितं वा कृतायामालोचनायाम् 'ते चेव छम्मासा' त एव षण्मासाः। तत ऊर्ध्वम्—अस्मिन् भगवतो वर्द्धमानस्वामिनस्तीर्थे आरोपणाया असद्भावात्, इति पूर्वमुक्तमेवेति ॥ सू० १४ ॥

सूत्रम्—जे भिक्खू चाउम्मासियं वा साइरेगचाउम्मासियं वा, पंचमासियं वा साइरेगपंचमासियं वा, एएसिं परिहारट्ठाणाणं अन्नयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचिय आलोएमाणस्स चाउम्मासियं वा साइरेगचाउम्मासियं वा पंचमासियं वा साइरेगपंचमासियं वा, पलिउंचिय आलोएमाणस्स पंचमासियं वा साइरेगपंचमासियं वा छम्मासियं वा, तेण परं पलिउंचिए वा अपलिउंचिए वा ते चेव छम्मासा ॥ सू० १५ ॥

छाया - यो भिक्षुश्चातुर्मासिकं वा सातिरेकचातुर्मासिकं वा, पाञ्चमासिकं वा सातिरेकपाञ्चमासिकं वा, एतेषां परिहारस्थानानां अन्यतरत् परिहारस्थानं प्रतिसेव्य आलोचयेत्, अप्रतिकुञ्च्य आलोचयतः चातुर्मासिकं वा सातिरेकचातुर्मासिकं वा, पाञ्चमासिकं वा सातिरेकपाञ्चमासिकं वा, प्रतिकुञ्च्य आलोचयतः पाञ्चमासिकं वा सातिरेकपाञ्चमासिकं वा, षाण्मासिकं वा, तेन परं प्रतिकुञ्चिते वा अप्रतिकुञ्चिते वा त एव षण्मासाः ॥ सू० १५ ॥

भाष्यम्—'जे भिक्खू' इति। 'जे भिक्खू' यः कश्चिद् भिक्षुः 'चाउम्मासियं वा' चातुर्मासिकं वा 'साइरेगचाउम्मासियं वा' सातिरेकचातुर्मासिकं वा, मासे अतिरेकता आधिक्यं दिवसादिभिः क्वचित् पञ्चरात्रिन्दिवैः, क्वचित् दशरात्रिन्दिवैः, क्वचित् पक्षेण, विंशतिदिनैः, पंचविंशतिदिवसात्मकभिन्नमासैर्वा भवति। 'पंचमासिय वा' पाञ्चमासिकं वा 'साइरेगपंचमासियं वा' सातिरेकपाञ्चमासिकं वा, अत्राऽपि सातिरेकता पञ्चदिनादारभ्य भिन्नमासात्मिकैव ज्ञातव्या। 'एएसिं' एतेषां चातुर्मासिक–सातिरेक चातुर्मासिक–पाञ्चमासिक–सातिरेकपाञ्चमासिकानाम् 'परिहारट्ठाणाणं' परिहारस्थानानां पापस्थानानां मध्ये 'अन्नयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता' अन्यतरत् एतेषु यत् किमप्येकं परिहारस्थानं प्रतिसेव्य यदि 'आलोएज्जा' आलोचयेत् पापापनोदनाय आचार्यसमीपे प्रकाशयेत्, तत्र–'अपलिउंचिय आलोएमाणस्स' अप्रतिकुञ्च्य मायामकृत्वा निष्कपटो भूत्वेत्यर्थः आलोचयेत् आलोचनां कुर्यात् तदा तस्य तथाविधस्य प्रतिसेवकस्य 'चाउम्मासियं वा' चातुर्मासिकं वा यत्प्रतिसेवितं तदेव 'साइरेगचाउम्मासियं वा' सातिरेकचातुर्मासिकं वा पञ्चदिवसाद्यधिकं चातुर्मासिकं प्रायश्चित्तं दद्यात्। 'पंचमासियं वा' पाञ्चमासिकं प्रायश्चित्तं यावन्मात्रं प्रतिसेवितं तावन्मात्रमेव, 'साइरेगपंचमासियं वा' सातिरेकपाञ्चमासिकं वा पञ्चदिवसाद्यधिकं पाञ्चमासिकं प्रायश्चित्तं दद्यात्। 'पलिउंचिय आलोएमाणस्स' प्रतिकुञ्च्य कपटं कृत्वा आलोचयतः प्रतिसेवकस्य 'पंचमासियं वा' चातुर्मासिकपरिहारस्थानसेवने पाञ्चमासिकं प्रायश्चित्तं दातव्यम्, तत्र च चातुर्मासिकस्य प्रतिसेवनानिमित्तत्वात्, मासाधिक्यस्य च मायापराधजनितत्वात्। 'साइरेगपंचमासियं वा' सातिरेकपाञ्चमासिकं वा, सातिरेकचातुर्मासिकपापस्थाने सेविते सति सातिरेकपाञ्चमासिकं प्रायश्चित्तं दातव्यमित्यर्थः। 'छम्मासियं वा' षाण्मासिकं वा पाञ्चमासिकसातिरेकपाञ्चमासिकपापस्थानप्रतिसेवकस्य सकपटमालोचयतस्तस्य षाण्मासिकं प्रायश्चित्तं दातव्यमित्यर्थः। 'तेण परं' तेन ततः तस्मात् षाण्मासिकात् परिहारस्थानात् परं परस्मिन् सप्तमाष्टादिके परिहारस्थाने प्रतिसेविते प्रतिसेवकस्य 'पलिउंचिए वा अपलिउंचिए वा' प्रतिकुञ्चिते सकपटे, अप्रतिकुञ्चिते निष्कपटे वा प्रतिसेवके 'ते चेव छम्मासा' ते एव षण्मासा एतदधिकप्रायश्चित्तस्य विधानाभावात्॥ सू० १५॥

सूत्रम्—जे भिक्खू बहुसोवि चाउम्मासियं वा, बहुसोवि साइरेगचाउम्मासियं वा बहुसोवि पंचमासियं वा बहुसोवि साइरेगपंचमासियं वा, एएसिं परिहारट्ठाणाणं अन्नयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा अपलिउंचिय आलोएमाणस्स चाउम्मासियं वा साइरेगचाउम्मासियं वा पंचमासियं वा साइरेगपंचमासियं वा, पलिउंचिय आलोएमाणस्स पंचमासियं वा साइरेगपंचमासियं वा छम्मासियं वा तेण परं पलिउंचिए वा अपलिउंचिए वा ते चेव छम्मासा॥ सू० १६॥

छाया—यो भिक्षुर्बहुशोऽपि चातुर्मासिकं वा, बहुशोऽपि सातिरेकचातुर्मासिकं वा बहुशोऽपि पाञ्चमासिकं वा बहुशोऽपि सातिरेकपाञ्चमासिकं वा, एतेषां परिहारस्थानानां (मध्याद्) अन्यतरत् परिहारस्थानं प्रतिसेव्य आलोचयेत्, अप्रतिकुञ्च्य आलोचयतः चातुर्मासिकं वा सातिरेकचातुर्मासिकं वा, पाञ्चमासिकं, वा सातिरेकपाञ्चमासिकं वा, अप्रतिकुञ्च्य आलोचयतः पाञ्चमासिकं वा सातिरेकपाञ्चमासिकं वा, प्रतिकुञ्च्य आलोचयतः पाञ्चमासिकं वा सातिरेकपाञ्चमासिकं वा, षाण्मासिकं वा, ततः परं प्रतिकुञ्चिते वा अप्रतिकुञ्चिते वा ते चैव षण्मासाः ॥ सू० १६॥

भाष्यम्–**'जे भिक्खू'** इति। **'जे भिक्खू'** यः कश्चिद् भिक्षुः **'बहुसोवि'** बहुशोऽनेकशोऽनेकवारानित्यर्थः **'चाउम्मासियं वा'** चातुर्मासिकं मासचतुष्टयेन सपादनयोग्यम्। **'बहुसोवि साइरेगचाउम्मासियं वा'** बहुशोऽनेकवारान् सातिरेकचातुर्मासिकं चातुर्मासिकपरिहारस्थाने सातिरेकत्व रात्रिन्दिवपञ्चकादिभिर्भवति। रात्रिन्दिवपञ्चकादारभ्य भिन्नमासेनाऽधिकत्वमित्यर्थः। **बहुसोवि पंचमासियं वा'** बहुशोऽपि अनेकवारमपि पाञ्चमासिकं वा मासपञ्चकेन संपादनयोग्यं परिहारस्थानम्, **'साइरेगपंचमासियं वा'** सातिरेकपाञ्चमासिकं वा **'एएसिं परिहारट्ठाणाणं'** एतेषां चातुर्मासिकादिपरिहारस्थानानां मध्यात् **'अन्नयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता'** अन्यतरत् यत्किमप्येकं परिहारस्थानं प्रतिसेव्य **'आलोएज्जा'** आलोचयेत् आचार्यसमीपे दोषं प्रकाशयेत्। तत्र–**'अपलिउंचिय आलोएमाणस्स'** अप्रतिकुञ्च्य मायामकृत्वा निष्कपटभावेन आलोचयतः **'चाउम्मासियं वा'** चातुर्मासिकं वा **'साइरेगचाउमासियं वा'** सातिरेकचातुर्मासिकं वा प्रायश्चित्तम्। **'पंचमासियं वा'** पाञ्चमासिकं वा **'साइरेगपंचमासियं वा'** सातिरेकपाञ्चमासिकं वा प्रायश्चित्तं प्रतिसेवनानुसारि दद्यादाचार्यः। **'पलिउंचिय आलोएमाणस्स'** प्रतिकुञ्च्य मायापूर्वकम् आलोचयतः चातुर्मासिकपरिहारस्थाने **'पंचमासियं वा'** पाञ्चमासिकं प्रायश्चित्तं दद्यात्, तत्र–मासचतुष्टयपापस्थानस्य प्रतिसेवनाजनितत्वात्, मासाधिक्यस्य च मायापराधजनितत्वात्। सातिरेकचातुर्मासिकपरिहारस्थाने तु **'साइरेगपंचमासियं वा'** सातिरेकपाञ्चमासिकं प्रायश्चित्तं दातव्यम्। सातिरेकपाञ्चमासिकपरिहारस्थाने सकपटमलोचयतस्तु **'छम्मासियं वा'** षाण्मासिकं प्रायश्चित्तं दातव्यम्। **'तेण परं'** तेन ततः पञ्चमासाधिकपरिहारस्थानप्रतिसेवनात् परं परस्मिन् परिहारस्थाने षट्सप्ताष्टादिमासिके प्रतिसेविते तु **'पलिउंचिए अपलिउंचिए वा'** प्रतिकुञ्चिते सकपटे, अप्रतिकुञ्चिते निष्कपटे वा **'ते चेव छम्मासा'** ते एव षण्मासाः प्रायश्चित्तरूपेण दातव्याः, कारणं पूर्वमुक्तमेवेति।

ननु यदि शिष्यः प्रतिकुञ्च्य आलोचनां कुर्यात् तदा गुरुणा कथं ज्ञायते यदयं मूलगुणविषयं पापं सेवितवान् उत्तरगुणविषयं वा? एवं सति न तस्य सम्यक् पापशुद्धिर्जायते। यदि तेन उत्तरगुणविषयं पापं सेवितं भवेत् तदा तस्मिन्ननालोचिते परम्परया मूलगुणेषु दोष-

प्रसङ्गः, तेन चारित्रं कलुषितं भवति, उत्तरगुणातिचारा हि मूलगुणानपि विराधयन्ति, मूलोत्तरगुणानां परस्परं संबद्धत्वात् । यदि मूलगुणविषयं पापं सेवितं भवेत्तदा चारित्रमेव समूलं विनश्यति । विशेषस्त्वेतावानेव यत् मूलगुणनाशे तत्कालमेव साधोश्चारित्रपर्वतादवपातो भवेत्, उत्तरगुणनाशे तु कालक्रमेण चरित्रनाशः संजायते, उक्तञ्च—

"अग्गघाओ हणे मूलं, मूलघाओ य अग्गयं ।
मूलोत्तरगुणे नेव, विराहिज्जा कयाइ वि" ॥ १ ॥

छाया—अग्रघातो मूलं हन्यात्, मूलघातश्च अग्रकम् ।
(तस्मात्) मूलोत्तरगुणान् नैव विराधयेत् कदाचिदपि ॥१॥

अत्र तालो दृष्टान्तः—तालवृक्षस्याऽग्रे सूच्या घातो मूलं हन्ति । मूलघातस्तु सर्वं वृक्षमेव हन्ति अग्रभागस्य का कथा इति । अत्र विषभक्षिकुपथ्यसेविनोर्द्वयोर्दृष्टान्ते **गाथामाह**—

"एगो य विसं भक्खइ, बीओ सेवइ कुपत्थमाहारं ।
सज्जो मरइ य पढमो, अवरो कालक्कमेणेव" ॥ १ ॥

छाया—एकश्च विषं भक्षति, द्वितीयः सेवते कुपथ्यमाहारम् ।
सद्यो म्रियते प्रथमः, अपरः कालक्रमेणैव ॥ १ ॥

तथाहि—एकेन केनचित् पुरुषेण प्रच्छन्नं विषं भक्षितम्, वैद्येन पृष्टम्—किं त्वया भक्षितं सद्यः सत्यं वद येन तदुपशामकमौषधं दत्त्वा त्वां प्रगुणीकरोमीति । तेन **'न किमपि भक्षितम्'** इत्युक्त्वा विषभक्षणं संगोपितं वैद्याय न प्रकाशितम् । ततः स तद्दोषेण तत्कालमेव जीविताद् ध्वस्तोऽभवत् । द्वितीयः पुनः प्रच्छन्नं कुपथ्यं सेवते तेन प्रतिदिनं तस्य शरीरे रोगो वर्धितुमारब्धः, वैद्येन पृष्टम्—किं त्वं कुपथ्यं सेवसे येन तव शरीरे रोगः प्रतिदिनं वृद्धिमेति, सत्यं यथावस्थितं प्रकाशय येन त्वां प्रगुणीकरोमि । तेन मायां कृत्वा वैद्याय न किमपि प्रकाशितम्, क्रमेण तस्य स रोगः असाध्यतां प्राप्तः, ततः कालक्रमेण स मृतवानिति । एवं मूलोत्तरगुणदोषसेविनाऽपि गुरुसमीपे आलोचनाकाले गुरुणा पृष्टे सति मायाचरणं न कर्त्तव्यं, यथावस्थितं सर्वं वदेदिति ।

शिष्यः पृच्छति भदन्त ! कीदृशो भिक्षुरालोचनार्हो भवितुमर्हति ? **गुरुराह**—

"जाइकुलाईदसगुण, जुत्तो आलोयणारिहो सीसो ।
आलोयइ सो सम्मं, भीरुत्तणओ य पावस्स" ॥ १ ॥ इति ।

छाया—जातिकुलादिदशगुणयुक्त आलोचनार्हः शिष्यः ।
आलोचयति सम्यक् भीरुत्वाच्च पापस्य ॥ १ ॥

आलोचनार्हस्य दश गुणा यथा—जाति१—कुल२—विनय३—ज्ञान४—दर्शन५—चारित्र६—क्षान्ति७—दमा८—ऽमायित्व९—पश्चात्तापित्वाख्याः १०। ननु केन कारणेन एतावन्तो गुणा आलोचनार्हस्य इष्यन्ते? तत्राह—जातिसम्पन्नः—जातिः—मातृपक्षरूपा तया संपन्नः—विशुद्धमातृपक्ष इत्यर्थः एतादृशः प्रायोऽकृत्यं न सेवते, अथ कथमपि दोष आपतेत् तदा आलोचनाकाले सम्यगालोचयति १। कुलसम्पन्नः—कुलेन—पितृपक्षरूपेण संपन्नः, विशुद्धपितृपक्षो हि प्रतिपन्नप्रायश्चित्तस्य सम्यग् निर्वाहको भवति २। विनयसम्पन्नः—गुरोरभ्युत्थाननिषद्यादानादिविनय सम्यक् करोति ३। ज्ञानसम्पन्नः—श्रुतानुसारेण सम्यगालोचयति यत् 'अमुकश्रुतानुसारेण मे दत्तं प्रायश्चित्तमतः शुद्धोऽह'—मिति जानीते ४। दर्शनसम्पन्नः—प्रायश्चित्तात् स्वस्य शुद्धिं सम्यक् श्रद्धत्ते ५। चारित्रसम्पन्नः—पुनरतिचारं न सेवते, अनालोचिते चारित्रं न शुध्यतीति सम्यगालोचयति ६। क्षान्तिसम्पन्नः—कस्मिंश्चित्कारणविशेषे गुरुणा कठोरमपि भाषितं सम्यक् प्रतिपद्यते न तु रोषं कुरुते, यदपि प्रायश्चित्तमारोपितं तत् सम्यग् वहतीति ७। दान्तः—इन्द्रियदमनसम्पन्नः—नोइन्द्रियदमनसम्पन्नः प्राप्तप्रायश्चित्ततपो मनोवलसम्पन्नत्वेन सम्यगाराधयति ८। अमायित्वसम्पन्नः—माया अस्यास्तीति मायी, न मायी अमायी, तस्य भावोऽमायित्वम्, तेन संपन्नः, मायारहितोऽप्रतिकुञ्चितमालोचयति ९। अपश्चात्तापित्वसम्पन्नः—पश्चात्तापः प्रायश्चित्तप्राप्तौ मनोमालिन्यम्, सोऽस्यास्तीति पश्चात्तापी, गुरुदत्तप्रायश्चित्तप्राप्तौ पश्चात्तापकारकः यथा—'हा दुष्टु मया कृतं यद् आलोचितम्, इदानीं कथमहं प्रायश्चित्ततपः करिष्यामि, इत्यादिचिन्तकः, यो न तथा सः अपश्चात्तापी, स एवं मनुते—कृतपुण्योऽहं यत् कृतपापस्य प्रायश्चित्तं प्रतिपन्नवानिति १०। एतादृशदशगुणसम्पन्नेन आलोचकेन भाव्यमिति। एवमेवोक्तं भगवता स्थानाङ्गस्य दशमे स्थाने इति।

आलोचनानर्हस्य दोषा अपि दश भवन्ति तानाह—

गाथा—"आवज्जणाणुमाणा-इदोसजुत्तो हविज्ज जो सीसो।
सो आलोयणनरिहो, नालोयइ सुद्धभावेणं" ॥१॥

छाया—आवर्जनानुमानादिदोषयुक्तो भवेत् यः शिष्यः।
स आलोचनानर्हः नालोचयति शुद्धभावेन ।१।

आवर्जनानुमानादिदोषयुक्तः इति। आलोचनाऽनर्हस्य आवर्जना१—ऽनुमान२—दृष्ट३—बादर४—सूक्ष्म५—छन्न६—शब्दाकुल७—बहुजना८—ऽव्यक्त९—तत्सेवि१०भेदाद् दश दोषाः भवन्ति। तथाहि—'आवर्जितः वशीकृतः सन् आचार्यो मेऽल्पं प्रायश्चित्तं दास्यति' इति बुद्ध्या

विनयवैयावृत्त्यादिभिरालोचनाचार्यमाराध्य आलोचनाकरणं आवर्जनाख्यः प्रथम आलोचनादोषः १। आलोचकोऽनुमान करोति–यदयं ममाचार्यः अमुकप्रकारकवार्त्तालापादिचेष्टया मृदुदण्ड–प्रदायी भविष्यतीति विचार्य तथाविधां वार्त्तां कृत्वा आलोचनाकरणं स अनुमानाख्यो द्वितीय आलोचनादोषः २। आचार्यादिना मया क्रियमाणं यदपराधजातं दृष्टं तस्यैवालोचनां करिष्यामीति मनसि निधाय आलोचनाकरणम् दृष्टाख्यस्तृतीय आलोचनादोषः ३। बादरस्यैव बृहत एव दोषजातस्यालोचनाकरणं न सूक्ष्मस्येति चतुर्थो बादराख्य आलोचनादोषः ४। आचार्यो ज्ञास्यति यः सूक्ष्ममालोचयति स बादरं कथं नालोचयिष्यतीति आचार्यस्य विश्वासोत्पादनार्थं सूक्ष्मस्यैव दोषजातस्यालोचनाकरणं सूक्ष्माख्यः पञ्चम आलोचनादोषः ५। लज्जालुतामुपदर्श्य मन्दशब्देन पापं तथाऽऽलोचयति यथा केवलं स्वयमेव शृणोति न तु आलोचनादायक आचार्यादिः, इत्येवमालोचनाकरणं षष्ठः छन्नाभिध आलोचनादोषः ६। महता शब्देन आलोचनाकरणं, तथा आलोचयति यथा अन्येऽपि अगीतार्थादयः शृण्वन्तीत्येष शब्दाकुलाख्यः सप्तम आलोचनादोषः ७। एकान्तेऽनालोच्य बहुजनमध्ये आलोचनाकरणम्, अथवा एकस्याचार्यस्य समीपे आलोच्य तस्यैवापराधजातस्य अन्यान्याचार्याणां सविधेऽपि पुनः पुनरालोचनाकरणं बहुजनाख्योऽष्टम आलोचनादोषः ८। अव्यक्तस्य अगीतार्थस्य समीपे आलोचनाकरणं नवमोऽव्यक्ताख्य आलोचनादोषः ९। यमपराधमालोचयति तस्यैव पुनः सेवनं तत्सेविनामको दशम आलोचनादोषः १०। एतादृशदशदोषधारकः शिष्यः, आलोचनाऽनर्हो भवति, नासौ आलोचनायोग्य इति स्थानाङ्गस्य दशमे स्थाने प्रोक्तमिति। दशभ्यः कारणेभ्यो दोषाः समापद्यन्ते इति दश दोषान् गाथाद्वयेन दर्शयति—

"कंदप्पो १ य पमाओ २, अन्नाणं ३ तह अकम्हभावो ४ य।
आवत्ती ५ तह संकड ६, छुहा ७ तहा रागदोसा ८ य ॥१॥
णवमं च भयं णेयं ९, दसमं पुण परनिमित्तसंजयं १०।
एयं कारणजायं, दोसुप्पाए मुणेयव्वं" ॥२॥ इति।

छाया—कन्दर्पश्च १ प्रमादः २, अज्ञानं ३ तथा अकस्माद्भावश्च ४।
आपत्तिः५ तथा संकटः ६ क्षुधा ७ तथा रागद्वेषौ ८ च ॥१॥
नवमं च भयं ९ ज्ञेयम्, दशमं पुनः परनिमित्तसंजातम् १०।
एतत् कारणजातं, दोषोत्पादे ज्ञातव्यम् ॥२॥

तत्र—कन्दर्पः कामविकारः तद्वशवर्त्ती पापं सेवते १। प्रमादः—निद्राविकथादिरूपः २। अज्ञानं दोषानभिज्ञत्वम् ३। अकस्माद्भावः अचिन्त्यत्वेन समापतितम् ४। आपत्तिः—दुष्टराजादिजन्या ५। संकटः—मरणादिरूपः ६। क्षुधा—क्षुधापरीषहस्याऽसहनशीलत्वम्, यथा "बुभुक्षितः किं

न करोति पापम्" इति न्यायात् क्षुधाऽपि दोषोत्पत्तौ कारणं जायते ७ । रागद्वेषौ ८ । भयं—मनुष्य-देवतिर्यग्जन्यम् ९ । परनिमित्तसंजातम्—परोऽन्यो निमित्तं यत्र तत् परनिमित्तं, तेन संजातं समुत्पन्नं, यं निमित्तीकृत्य पापं सेवते तत् १० । एतत् पूर्वोक्तं कारणजात कारणसमूहः कारणदश-कमित्यर्थः दोषोत्पादे—दोषोत्पत्तौ ज्ञातव्यम् ॥१–२॥ एतानि दश कारणानि दोषोत्पत्तौ संभव-न्तीति भावः ॥ सू० १६ ॥

सूत्रम्—जे भिक्खू चाउम्मासियं वा, साइरेगचाउम्मासियं वा, पंचमासियं वा, साइरेगपंचमासियं वा, एएसिं परिहारट्ठाणाणं अन्नयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलो-एज्जा, अपलिउंचिय आलोएमाणस्स ठवणिज्जं ठावइत्ता करणिज्जं वेयावडियं, ठावि-एवि पडिसेवित्ता सेवि कसिणे तत्थेव आरुहियव्वे सिया, पुव्वं पडिसेवियं पुव्वं आलोइयं १, पुव्वं पडिसेवियं पच्छा आलोइयं २, पच्छा पडिसेवियं पुव्वं आलोइयं ३, पच्छा पडिसेवियं पच्छा आलोइयं ४ । अपलिउंचिए अपलिउंचियं १, अपलि-उंचिए पलिउंचियं २, पलिउंचिए अपलिउंचियं ३, पलिउंचिए पलिउंचियं ४ । अपलि-उंचिए अपलिउंचियं आलोएमाणस्स सव्वमेयं सकयं साहणिय जे एयाए पट्ठवणाए पट्ठविए निव्विसमाणे पडिसेवइ सेवि कसिणे तत्थेव आरुहियव्वे सिया ॥ सू० १७ ॥

छाया—यो भिक्षुश्चातुर्मासिकं वा, सातिरेकचातुर्मासिकं वा, पाञ्चमासिकं वा, सातिरेकपाञ्चमासिकं वा, एतेषां परिहारस्थानानाम् अन्यतरत् परिहारस्थानं प्रतिसेव्य आलोचयेत्, अप्रतिकुञ्च्य आलोचयतः स्थापनीयं स्थापयित्वा करणीयं वैयावृत्त्यम्, स्था-पितेऽपि प्रतिसेव्य सोऽपि कृत्स्नं तत्रैवारोहयितव्यं स्यात्, पूर्वं प्रतिसेवितं पूर्वमालो-चितम् १, पूर्वं प्रतिसेवितं पश्चादालोचितम् २, पश्चात् प्रतिसेवितं पूर्वमालोचितम् ३, पश्चात् प्रतिसेवितं पश्चादालोचितम् ४ । अप्रतिकुञ्चिते अप्रतिकुञ्चितम् १, अप्रति-कुञ्चिते प्रतिकुञ्चितम् २, प्रतिकुञ्चिते अप्रतिकुञ्चितम् ३, प्रतिकुंचिते प्रतिकुञ्चितम् ४ । अप्रतिकुञ्चिते अप्रतिकुञ्चितम् आलोचयतः सर्वमेतत् स्वकृतं संहृत्य यः एतया प्रस्था-पनया प्रस्थापितः निर्विशमानः प्रतिसेवते तदपि कृत्स्नं तत्रैवारोहयितव्यं स्यात् ॥ सू० १७ ॥

भाष्यम्—'जे भिक्खू इति । जे भिक्खू' यः कश्चिद् भिक्षुः 'चाउम्मासियं वा' चातुर्मासिकं वा परिहारस्थानम् । 'साइरेगचाउम्मासियं वा' सातिरेकचातुर्मासिकं वा, पञ्चदिनाद्यधिकं चातुर्मासिकं परिहारस्थानम्, 'पंचमासियं वा' पाञ्चमासिकं वा 'साइरेगपंचमासियं वा' सातिरेकपाञ्च-मासिकं वा, 'एएसिं' एतेषां पाञ्चमासिकान्तानाम् 'परिहारट्ठाणाणं' परिहारस्थानानाम् 'अन्न-यरं' अन्यतरत्, एतेषु यत्किमपि एकम् 'परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता' परिहारस्थानं प्रायश्चि-त्तस्थानं प्रतिसेव्य 'आलोएज्जा' आलोचयेत् आलोचनां कुर्यात्, तत्र 'अपलिउंचिय आलो-एमाणस्स' अप्रतिकुञ्च्य मायामकृत्वा निष्कपटभावेन आलोचयतः 'ठवणिज्जं ठावइत्ता'

स्थापनीयं स्थापयित्वा परिहारतपसो दानसमये आचार्यः पारिहारिकाय एतादृशं नियमं श्रावयति–यः खलु प्रतिसेवकः परिहारतपःप्रायश्चित्तस्थानं प्राप्तः तस्य परिहारनामकतपोदानाय सर्वेषां साधु–साध्वीजनानां परिज्ञानाय सकलगच्छसमक्षं निरुपसर्गप्रत्ययं निरुपसर्गनिमित्तं कायोत्सर्गः पूर्वं क्रियते। कायोत्सर्गकरणानंतरं आचार्यः प्रतिसेवकं प्रति वक्ति–अहं ते कल्पस्थितः, अयं साधुरनुपारिहारिकः ततः स्थापनीयं स्थापयित्वेति यत्नेन सहाचरणीयम् तत्, स्थाप्यते इति स्थापनीयम् अग्रे वक्ष्यमाणमालापनपरिवर्तनादि, तत् सकलगच्छसमक्षं स्थापयित्वा कल्पस्थितेनाऽनुपारिहारिकेण च यथायोगमनुशिष्टयुपालम्भोपग्रहरूपं वक्ष्यमाणं वैयावृत्यं करणीयम्, **'ठांविएवि पडिसेवित्ता'** स्थापितेऽपि प्रतिसेव्य ताभ्यां क्रियमाणेऽपि वैयावृत्ये स्थापितेऽपि आलापनादौ कदाचित् किमपि प्रतिसेव्य गुरोः समीपमुपागच्छेत्–यथा भगवन्! अहममुकं प्रायश्चित्तस्थानमापन्नः। अतः **'सेवि'** तदपि **'कसिणं'** कृत्स्नं परिहारतपसि क्रियमाणे **'तत्थेव'** तत्रैव परिहारतपसि एव **'आरुहेयव्वे सिया'** आरोहयितव्यं–आरोपणीयं स्यात्, स्यादित्यव्ययमत्रावधारणे, तेनारोहयितव्यमेव, केवलं तत्कृत्स्नमारोपयितव्यमिति। अनुग्रहकृत्स्नेन निरनुग्रहकृत्स्नेन वा। तस्य प्रतिसेवितस्य गुरुसमक्षमालोचनायां चतुर्भङ्गी भवति, तामेव दर्शयितुमाह—

'पुव्वं पडिसेवियं पुव्वं आलोइयं' पूर्वं प्रतिसेवितं पूर्वमालोचितम्। अत्र पूर्वमित्यत्र पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् पूर्वाऽऽनुपूर्व्येति ज्ञातव्यम्। ततश्चाऽयमर्थः–गुरुलघुपर्यालोचनया पूर्वानुपूर्व्या लघुपञ्चकादिक्रमेण यत् प्रतिसेवितं तत् पूर्वं पूर्वानुपूर्व्येति प्रतिसेवनानुक्रमेणाऽऽलोचितमिति **प्रथमो भङ्गः १।**

द्वितीयभङ्गमाह—'पुव्वं पडिसेवियं पच्छा आलोइयं' पूर्वं प्रतिसेवितं पश्चादालोचितम्, पूर्वं गुरुलघुपर्यालोचनया पूर्वाऽऽनुपूर्व्या मासलघुकादि प्रतिसेवितम्, तदनन्तरं च अल्पप्रयोजनोत्पत्तौ गुरुलघुपर्यालोचनयैव लघुपञ्चकादि प्रतिसेवितम्। आलोचनासमये तु पश्चात्–पश्चानुपूर्व्या आलोचितं, पूर्वं लघुपञ्चकाद्यालोचितं, पश्चात् लघुमासादिकमालोचितमिति **द्वितीयो भङ्गः २।**

तृतीयभङ्गमाह—'पच्छा पडिसेवियं पुव्वं आलोइयं' पश्चात्प्रतिसेवितं पूर्वमालोचितम्। पश्चात् पश्चानुपूर्व्या प्रतिसेवितं गुरुलघुपर्यालोचनामन्तरेण पूर्वं गुरुमासादिकं प्रतिसेवितं पश्चाल्लघुपञ्चकादीति आलोचनासमये आनुपूर्व्या आलोचितम्, पूर्वं लघुपञ्चकाद्यालोचितं पश्चात् गुरुमासादीत्यर्थः इति **तृतीयो भङ्गः ३।**

अथ चतुर्थभङ्गमाह—'पच्छा पडिसेवियं पच्छा आलोइयं' पश्चात्प्रतिसेवितं पश्चादालोचितं, पश्चानुपूर्व्या प्रतिसेवितं गुरुलघुपर्यालोचनादिविरहितं यथाकथञ्चन प्रतिसेवित-

मित्यर्थः पश्चात् पश्चानुपूर्व्या आलोचितं प्रतिसेवनानुक्रमेणैवालोचितम्। अथवा स्मृत्वा स्मृत्वा यथाकथञ्चनाऽप्यालोचितमिति **चतुर्थो भङ्गः ४।**

अत्र प्रथमचतुर्थभङ्गौ अप्रतिकुञ्चनायाम्, द्वितीय–तृतीयभङ्गौ प्रतिकुञ्चनायाम्, इति प्रतिकुञ्चनाऽप्रतिकुञ्चनाभ्यामियं चतुर्भङ्गी भवति तामेवाह—**'अपलिउंचिए अपलि चियं'** इत्यादि।

'अपलिउंचिए अपलिउंचियं' अप्रतिकुञ्चितेऽप्रतिकुञ्चितम्, यदा खलु अपराधान् प्राप्तः आलोचनाभिमुखस्तदा कश्चिदेव संकल्पितवान् यथा–ये केचन मयि अपराधास्ते सर्वेऽपि मया आलोचनीयाः, एवं पूर्वसकल्पकाले अप्रतिकुञ्चिते आलोचनासमये अप्रतिकुञ्चितमेव आलोचयतीति **प्रथमो भङ्गः १।**

द्वितीयभङ्गमाह—'अपलिउंचिए पलिउंचियं' अप्रतिकुञ्चिते प्रतिकुञ्चितम्, यथा—पूर्वं संकल्पकाले अप्रतिकुञ्चितं निष्कपटभावेनोपस्थितः, आलोचनाकाले तु प्रतिकुञ्चितं सकपट-मालोचयति, इति **द्वितीयो भङ्गः २।**

तृतीयभङ्गमाह—'पलिउंचिए अपलिउंचियं' प्रतिकुंचिते अप्रतिकुञ्चितं, पूर्वं संकल्प-काले केनापि प्रतिकुञ्चितम् यथा—न मया सर्वे अपराधा आलोचनीयाः, एवं पूर्वं संकल्पकाले प्रतिकुञ्चिते आलोचनावेलायां भावपरावृत्तेः सर्वमपि अप्रतिकुञ्चितं कपटरहितमालोचयतीति-**तृतीयो भङ्गः ३।**

अथ चतुर्थभङ्गमाह—'पलिउंचिए पलिउंचियं' प्रतिकुञ्चिते प्रतिकुंचितम्। पूर्वं संकल्प-काले केनापि प्रतिसेवकेन प्रतिकुञ्चितम् यथा—मया न सर्वेऽपराधाः आलोचनीया ततः एवं संकल्प-काले प्रतिकुञ्चिते आलोचनावेलायामपि प्रतिकुञ्चितं सकपटमेवालोचयतीति **चतुर्थो भङ्गः ४।**

तत्र—'अपलिउंचिए अपलिउंचियं आलोएमाणस्स' अप्रतिकुञ्चिते अप्रति-कुञ्चितम् आलोचयतः। तत्राऽप्रतिकुञ्चितमालोचयतो वीप्सा साकल्येन व्याप्ता भवति, ततश्चाऽयमर्थः—निरवशेषमालोचयतः **'सव्वमेयं'** सर्वमेतद् यदापन्नमपराधजातम्, अथवा कथमपि प्रतिकुंचना कृता स्यात् ततः प्रतिकुंचनानिष्पन्नं, यच्च गुरुणा सह आलोचनाकाले समासनोच्चासननिष्पन्नं, या चाऽऽलोचनाकाले असमाचारी, तन्निष्पन्नं च सकलमेतत् **'सकयं'** स्वकृतं स्वयमात्मना अपराधकारिणा कृतम् **'साहणिय'** संहृत्य एकत्र मेलयित्वा यदि संचयितं प्रायश्चित्तस्थानमापन्नस्ततः षाण्मासिकं प्रायश्चित्तं दद्यात्। यत् पुनः षाण्मासिका-तिरिक्तं तत्सर्वं झोषयेत् परित्यजेत्। अथ मासादिकं द्वैमासिकं त्रैमासिकं चातुर्मासिकं पाञ्च-

मासिकं प्रायश्चित्तमापन्नस्ततस्तदेव मासादिकं प्रायश्चित्तं दातव्यमिति शेषः । 'जे' यः साधुः साध्वी वा यदि 'एयाए' एतया अनन्तरपूर्वकथितया षाण्मासिक्या मासिक्यादिकया वा 'पट्ठवणाए' प्रस्थापनया प्राक् पूर्वकाले कृतस्य स्वयं संपादितस्याऽपराधस्य विषये या स्थापना प्रायश्चित्तदानप्रस्थापना, तया प्रस्थापनया 'पट्ठविए' प्रस्थापितः प्रायश्चित्तकरणे प्रवर्त्तितः सः 'निव्विसमाणे' निर्विशमानः ततः प्रायश्चित्तवहनं कृत्वा निस्सरन् अन्तिमं प्रायश्चित्ततपः कुर्वन्नित्यर्थः, यत्पुनः प्रमादतो विषयकषायादिभिर्वा 'पडिसेवेइ' प्रतिसेवते पुनः पापमाचरति ततस्तस्यां प्रतिसेवनायां यत्प्रायश्चित्तं सेवते 'सेवि' तदपि 'कसिणं' कृत्स्नं सकलम् अनुग्रहकृत्स्नेन निरनुग्रहकृत्स्नेन वा सर्वमपि 'तत्थेव' तत्रैव पूर्वप्रस्थापिते एव प्रायश्चित्ते 'आरुहियव्वे सिया' आरोहयितव्यमारोपणीयम्, तदपि सर्वं संमेल्य पूर्वप्रस्थापितप्रायश्चित्तं वर्द्धनीयं स्यादित्यर्थः ॥ सू० १७ ॥

सूत्रम्—जे भिक्खू चाउम्मासियं वा, साइरेगचाउम्मासियं वा, पंचमासियं वा साइरेगपंचमासियं वा, एएसिं परिहारट्ठाणाणं अन्नयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, पलिउंचिय आलोएमाणस्स ठवणिज्जं ठावइत्ता करणिज्जं वेयावडियं, ठाविएवि पडिसेवित्ता सेवि कसिणे तत्थेव आरुहियव्वे सिया पुव्विं पडिसेवियं पुव्विं आलोइयं १, पुव्विं पडिसेवियं पच्छा आलोइयं २, पच्छा पडिसेवियं पुव्विं आलोइयं ३, पच्छा पडिसेवियं पच्छा आलोइयं ४। अपलिउंचिए अपलिउंचियं १, अपलिउंचिए पलिउचियं २, पलिउंचिए अपलिउंचियं ३, पलिउंचिए पलिउंचियं ४। पलिउंचिए पलिउंचियं आलोएमाणस्स सव्वमेयं सकयं साहणिय जे एयाए पट्ठवणाए पट्ठविए निव्विसमाणे पडसेवइ सेवि कसिणे तत्थेव आरुहियव्वे सिया ॥ सू० १८ ॥

छाया—यो भिक्षुश्चातुर्मासिकं वा सातिरेकचातुर्मासिकं वा, पाञ्चमासिकं वा, सातिरेकपाञ्चमासिकं वा, एतेषां परिहारस्थानानाम् अन्यतरत् परिहारस्थानं प्रतिसेव्यालोचयेत्, प्रतिकुञ्च्यालोचयतः स्थापनीयं स्थापयित्वा करणीयं वैयावृत्यम्, स्थापितेऽपि प्रतिसेव्य तदपि कृत्स्नं तत्रैवारोपयितव्यं स्यात्। पूर्वं प्रतिसेवितं पूर्वमालोचितम् १, पूर्वं प्रतिसेवितं पश्चादालोचितम् २, पश्चात् प्रतिसेवितं पूर्वमालोचितम् ३, पश्चात् प्रतिसेवितं पश्चादालोचितम् ४ । अप्रतिकुंचिते अप्रतिकुञ्चितम् १, अप्रतिकुञ्चिते प्रतिकुञ्चितम् २, प्रतिकुञ्चितेऽप्रतिकुञ्चितम् ३, प्रतिकुञ्चिते प्रतिकुञ्चितम् ४ । प्रतिकुञ्चिते प्रतिकुंचितम् आलोचयतः सर्वमेतत् स्वकृतं संहृत्य य एतया प्रस्थापनया प्रस्थापितो निर्विशमानः प्रतिसेवते तदपि कृत्स्नं तत्रैव आरोहयितव्यं स्यात् ॥ सू० १८॥

भाष्यम्—'जे भिक्खू' इति 'जे भिक्खू' यः कश्चिद् भिक्षुः 'चाउम्मासियं वा' चातुर्मासिकं वा 'साइरेगचाउम्मासियं वा' सातिरेकचातुर्मासिकं वा 'पंचमासियं वा' पाञ्चमासिकं वा 'साइरेग-

पंचमासियं वा' सातिरेकपाञ्चमासिकं वा **'एएसिं परिहारट्ठाणाणं'** एतेषां चातुर्मासिकादिपरिहार-स्थानानाम् **'अन्नयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता'** अन्यतरत् एतेषु मध्ये यत् किमप्येकं परिहार-स्थानं प्रतिसेव्य **'आलोएज्जा'** आलोचयेत् स्वकीयमपराधजातमाचार्यसमीपे प्रकाशयेत् । तत्र **'पलिउंचिय आलोएमाणस्स'** प्रतिकुञ्च्य सकपटमालोचयतः **'ठवणिज्जं ठावइत्ता'** स्थापनीयं स्थापयित्वा यः साधु साध्वी वा परिहारतपःप्रायश्चित्तस्थानं प्राप्तः तस्य परिहारतपोदानार्थं सकलसाधुसाध्वीजनपरिज्ञानाय सकलगच्छसमक्षं निरुपसर्गप्रत्ययं पूर्वं कायोत्सर्गः क्रियते, कायो-त्सर्गकरणानन्तरं गुरुर्ब्रूते—अहं ते कल्पस्थितः, अयं च साधुरनुपारिहारिकः । ततः स्थापनीयं स्थापयित्वेति यत्नेन सहाचरणीयम् । स्थाप्यते इति स्थापनीयं वक्ष्यमाणमालापनपरिवर्त्तनादि, तत् सकलगच्छसमक्षं स्थापयित्वोपवेश्य कल्पस्थितेनाऽनुपारिहारिकेण च यथायोगं अनुशिष्टयु-पालम्भरूपम् **'करणिज्जं वेयावडियं'** करणीयं वैयावृत्यं तस्याऽऽहारादिना वैयावृत्यं करणीयम् । **'ठाविएवि पडिसेवित्ता'** स्थापितेऽपि प्रतिसेव्य ताभ्यामाचार्य—वैयावृत्यकर्तृभ्यां क्रियमाणेऽपि वैयावृत्ये स्थापितेऽप्यालापनादौ कदाचित् किमपि दोषं प्रतिसेव्य गुरोः समक्ष-मुपस्थितो भवेत्, यथा—भगवन् ! अहम् अमुकं प्रायश्चित्तस्थानमापन्नः, ततः **'सेवि कसिणे तत्थेव आरोहियव्वे सिया'** तदपि कृत्स्नं तत्रैवाऽऽरोपयितव्यं स्यात्, तदपि कृत्स्नं परिहारतपसि आरोप्यमाणे आरोपणीयं स्यात् । तत्र तस्य प्रतिसेवितस्याऽऽचार्यसमक्षमालोचनायां चतुर्भङ्गी भवति, तामेवाह—**'पुव्वं'** इत्यादि । **'पुव्वं पडिसेवियं पुव्वं आलोइयं'** पूर्वं प्रतिसेवितं पूर्वमालोचितम्, तत्र पूर्वमित्यस्य पूर्वाऽऽनुपूर्व्या इत्यर्थः । ततोऽयमर्थः,—गुरुलघुपर्यालोचनया पूर्वाऽऽनुपूर्व्या लघुपञ्चकादिक्रमेण प्रतिसेवितं, तत् पूर्वं पूर्वाऽऽनुपूर्व्या प्रतिसेवनाऽनुक्रमेणाऽऽलोचित-मिति **प्रथमो भङ्गः १ ।**

द्वितीयभङ्गमाह—'पुव्वं पडिसेवियं पच्छा आलोइयं' पूर्वं प्रतिसेवितं पश्चादा-लोचितं, पूर्वं गुरुलघुपर्यालोचनया पूर्वाऽऽनुपूर्व्या मासलघुकादि प्रतिसेवितं, तदनन्तरं च तथा-विधाऽल्पप्रयोजनोत्पत्तौ गुरुलघुपर्यालोचनयैव लघुपञ्चकादि प्रतिसेवितम् । आलोचनाकाले तु पश्चात् पश्चाऽऽनुपूर्व्या आलोचितं, पूर्वं लघुपञ्चकाद्यालोचितं पश्चात् लघुमासादिकमालोचितमिति **द्वितीयो भङ्गः २ ।**

तृतीयभङ्गमाह—'पच्छा पडिसेवियं पुव्वं आलोइयं' पश्चात् प्रतिसेवितं पूर्वमालो-चितं पश्चादानुपूर्व्या प्रतिसेवितं, गुरुलघुपर्यालोचनामन्तरेण पूर्वं गुरुमासादिकं प्रतिसेवितम् पश्चात् लघुपञ्चकादि प्रतिसेवितम् । आलोचनावेलायां आनुपूर्व्या आलोचितं पूर्वं लघुपञ्चका-द्यालोचितं पश्चात् गुरुमासादीति **तृतीयो भङ्गः ३ ।**

चतुर्थभङ्गमाह—'पच्छा पडिसेवियं पच्छा आलोइयं' पश्चात् प्रतिसेवितं पश्चादालोचितम्। तत्र–पश्चानुपूर्व्या प्रतिसेवितं गुरुलघुपर्यालोचनादिविरहितो भूत्वा तेन यथाकथञ्चन प्रतिसेवितम्, पश्चात् पश्चाऽनुपूर्व्या आलोचितं प्रतिसेवनाऽनुक्रमेणैवालोचितम्, अथवा–स्मृत्वा स्मृत्वा यथाकथञ्चनाऽऽप्यालोचितमिति **चतुर्थो भङ्गः ४।**

इह प्रथमचरमभङ्गौ अप्रतिकुञ्चने, द्वितीयतृतीयौ प्रतिकुञ्चनायामिति। यदिह प्रतिञ्चनाऽप्रतिकुञ्चनाभ्यां चतुर्भङ्गी कृता, तामेवाह–'अपलिउंचिए' इत्यादि। 'अपलिउंचिए अपलिउंचियं' अप्रतिकुञ्चितेऽप्रतिकुञ्चितम्। यदा खलु अपराधान् प्राप्तः आलोचनाभिमुखः तदैवं संकल्पं कृतवान् कश्चित्–यथा सर्वेऽपि अपराधाः मया आलोचयितव्याः, एवं पूर्वसंकल्पकालेऽप्रतिकुञ्चिते आलोचनावेलायामप्रतिकुञ्चितमेवालोचयतीति **प्रथमो भङ्गः १।**

द्वितीयभङ्गमाह—'अपलिउंचिए पलिउंचियं' अप्रतिकुञ्चिते प्रतिकुञ्चितं, पूर्वं संकल्पकालेऽप्रतिकुञ्चितम् आलोचनासमये तु प्रतिकुञ्चितं सकपटमालोचनं कृतमिति **द्वितीयो भङ्गः।**

तृतीयभङ्गमाह—'पलिउंचिए अपलिउंचियं'। प्रतिकुञ्चितेऽप्रतिकुञ्चितम्–पूर्वं संकल्पकाले प्रतिकुञ्चिते आलोचनाकाले भावपरावर्त्तनात् सर्वमपि अप्रतिकुञ्चितम् आलोचयतीति **तृतीयो भङ्गः ३।**

चतुर्थभङ्गमाह—'पलिउंचिए पलिउंचियं' प्रतिकुञ्चिते प्रतिकुञ्चितं यथा पूर्वं सकल्पकाले केनापि प्रतिकुञ्चितं सकपटं मया सर्वेऽपराधा नालोचनीयाः, तत एवं संकल्पकाले प्रतिकुञ्चिते, आलोचनाकालेऽपि प्रतिकुञ्चितमेवालोचयतीति **चतुर्थो भङ्गः ४।**

तथा च–निरवशेषं परिहारस्थानमालोचयतः सर्वमेतत् यदापन्नमपराधजातं यदि वा कथमपि प्रतिकुञ्चना कृता स्यात् ततः प्रतिकुञ्चनानिष्पन्नं यच्चाचार्येण सहालोचनासमये तुल्यासनोच्चासननिष्पन्न या चालोचनाकाले असमाचारी तन्निष्पन्नं च। **'पलिउंचिए पलिउंचियं आलोएमाणस्स'** प्रतिकुञ्चिते प्रतिकुञ्चितमालोचयतः–**'सव्वमेयं'** सर्वमेतत् उपरोक्तमपराधजातम् **'सकयं'** स्वकृतं स्वयमात्मनाऽपराधकारिणा कृतमुत्पादितमिति स्वकृतमपराधजातम् **'साहणिय'** संहृत्य सर्वमेकत्र मेलयित्वा यदि सञ्चयितं प्रायश्चित्तस्थानमापन्नः, ततः षाण्मासिकं प्रायश्चित्तं दद्यात्। यत्पुनः षाण्मासिकातिरिक्तमपराधजात तत्सर्वमपि परित्यजेत्। अथ पुनर्यदि मासादिकं प्रायश्चित्तस्थानमापन्नः ततस्तावन्मात्रं मासादिकमेव प्रायश्चित्तं दातव्यं नाधिकमिति। **'जे एयाए पट्ठवणाए पट्ठविए'** यः साधुः साध्वी वा एतया अनन्तरपूर्वकथितया षाण्मासिक्या मासिक्यादिकया वा प्रस्थापनया प्राक्कृतस्याऽपराधजातस्य विषये या स्थापना प्रायश्चित्तदान-

प्रस्थापना, तया प्रस्थापनया प्रस्थापितः प्रायश्चित्तकरणार्थं प्रस्थापितः सम्यक् प्रवर्त्तितः । 'निव्विसमाणे' निर्विशमानः प्रायश्चित्तवहनानन्तरं ततो निस्सरन् प्रतिसेवको यदि पुनरपि प्रमादतो विषयकषायादिभिर्वा पडिसेवइ प्रतिसेवते ततस्तस्यां प्रतिसेवनायां यत् प्रायश्चित्तं सेवते 'सेवि कसिणे तत्थेव आरुहियव्वे सिया' तदपि कृत्स्नमनुग्रहकृत्स्नेन निरनुग्रहकृत्स्नेन वा तत्रैव पूर्वप्रस्थापित प्रायश्चित्ते एवारोहयितव्यं स्यात् न तु प्रायश्चित्तान्तरे आरोपणीयमिति ॥ सू० १८॥

सूत्रम्—जे भिक्खू बहुसोवि चाउम्मासियं वा बहुसोवि साइरेगचाउम्मासियं वा, बहुसोवि पंचमासियं वा बहुसोवि साइरेगपंचमासियं वा, एएसिं परिहारट्ठाणाणं अन्नयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचिय आलोएमाणस्स ठवणिज्जं ठावइत्ता करणिज्जं वेयावडियं, ठाविएवि पडिसेवित्ता सेवि कसिणे तत्थेव आरुहियव्वे सिया, पुव्वं पडिसेवियं पुव्वं आलोइयं १, पुव्वं पडिसेवियं पच्छा आलोइयं २, पच्छा पडिसेवियं पुव्वं आलोइयं ३, पच्छा पडिसेवियं पच्छा आलोइयं ४ । अपलिउंचिए अपलिउंचियं १, अपलिउंचिए पलिउंचियं २, पलिउंचिए अपलिउंचियं ३, पलिउंचिए पलिउंचियं ४ । अपलिउंचिए अपलिउंचियं आलोएमाणस्स सव्वमेयं सकयं साहणिय जे एयाए पट्ठवणाए पट्ठविए निव्विसमाणे पडिसेवइ सेवि कसिणे तत्थेव आरुहियव्वे सिया ॥ सू० १९ ॥

छाया—यो भिक्षुर्बहुशोऽपि चातुर्मासिकं वा बहुशोऽपि सातिरेकचातुर्मासिकं वा बहुशोऽपि पाञ्चमासिकं वा, बहुशोऽपि सातिरेकपाञ्चमासिकं वा एतेषां परिहारस्थानानाम् अन्यतरत् परिहारस्थानं प्रतिसेव्याऽऽलोचयेत् अप्रतिकुञ्च्य आलोचयमानस्य स्थापनीयं स्थापयित्वा करणीयं वैयावृत्यं, स्थापितेऽपि प्रतिसेव्य तदपि कृत्स्नं तत्रैवारोहयितव्य स्यात् । पूर्वं प्रतिसेवित पूर्वमालोचितं १, पूर्वं प्रतिसेवितं पश्चादालोचितम् २, पश्चात्प्रतिसेवितं पूर्वमालोचितं ३, पश्चात्प्रतिसेवितं पश्चादालोचितं ४ । अप्रतिकुञ्चितेऽप्रतिकुञ्चितं १, अप्रतिकुञ्चिते प्रतिकुञ्चितं २, प्रतिकुञ्चितेऽप्रतिकुञ्चितं ३, प्रतिकुञ्चिते प्रतिकुञ्चितं ४ । अप्रतिकुञ्चिते अप्रतिकुञ्चितम् आलोचयतः सर्वमेतत् स्वकृतं संहृत्य य एतया प्रस्थापनया प्रस्थापितो निर्विशमानः प्रतिसेवते तदपि कृत्स्नं तत्रैवारोहयितव्यं स्यात् ॥ सू० १९ ॥

भाष्यम्---'जे भिक्खु' इति । 'जेभिक्खू' यः कश्चित् भिक्षु 'बहुसोवि' बहुशोऽपि बहुशोऽनेकवारमिति यावत् 'चाउम्मासियं वा' चातुर्मासिकं वा 'बहुसोवि' बहुशोऽपि 'साइरेगचाउम्मासियं वा' सातिरेकचातुर्मासिकं वा 'बहुसोवि पंचमासियं वा' बहुशोऽनेकवारं पाञ्चमासिकं वा, 'बहुसोवि साइरेगपंचमासियं वा' बहुशोऽनेकवारं सातिरेकपाञ्चमासिकं वा परिहार-

स्थानम् । 'एएसिं परिहारट्टाणाणं' एतेषां बहुश.पदघटितचातुर्मासिकादीनां परिहारस्थानानां मध्यात् 'अन्नयरं परिहारट्टाणं पडिसेवित्ता' अन्यतरत् यत् किमप्येकं परिहारस्थानं चातुर्मासिकाद्यन्यतमरूपं प्रतिसेव्य 'आलोएज्जा' आलोचयेत् स्वकीयासेवितपापनिवारणाय आचार्यसमीपे प्रकाशयेत् । तत्र–'अपलिउंचिय आलोएमाणस्स' अप्रतिकुञ्च्य मायामन्तरेणालोचयतः 'ठवणिज्जं ठावइत्ता' स्थापनीयं स्थापयित्वा 'करणिज्जं वेयावडियं' वैयावृत्यं करणीयम् । 'ठाविएवि पडिसेवित्ता' स्थापितेऽपि यदि पुनरपि प्रतिसेव्य तादृशप्रतिसेवनां कृत्वा गुरुसमक्षमुपस्थितो भवेत् तदा 'सेवि कसिणे' तदपि प्रतिसेवितं कृत्स्नमेव संपूर्णमपि अपराधजातम् 'तत्थेव आरुहियव्वे सिया तत्रैव' पूर्वसंपादितापराधे षाण्मासिकादावेवारोपयितव्यम् आरोपणीयं स्यात् । तादृशारोपणे चत्वारो भङ्गा भवन्ति, तानेव दर्शयति–'पुव्वं पडिसेवियं पुव्वं आलोइयं' पूर्वं प्रतिसेवितं पूर्वमालोचितम् १, 'पुव्वं पडिसेवियं पच्छा आलोइयं' पूर्वं प्रतिसेवितं पश्चादालोचितम् २ । 'पच्छा पडिसेवियं पुव्वं आलोइयं' पश्चात्प्रतिसेवितं पूर्वमालोचितम् ३ । 'पच्छा पडिसेवियं पच्छा आलोइयं' पश्चात्प्रतिसेवितं पश्चादालोचितम् ४ ।

तत्राऽपि–'अपलिउंचिए अपलिउंचियं' अप्रतिकुञ्चिते अप्रतिकुञ्चितम्, यदाऽपराधानापन्नः आलोचनाऽभिमुखः तदैव कश्चित् सङ्कल्पितवान्, यथा 'सर्वेऽपि अपराधाः मया आलोचनीयाः' एवं पूर्वसंकल्पकालेऽप्रतिकुञ्चिते आलोचनावेलायामपि अप्रतिकुञ्चितमेवालोचयति १ । 'अपलिउंचिए पलिउंचियं' अप्रतिकुचिते प्रतिकुचितम्, पूर्वसंकल्पकाले अप्रतिकुञ्चितमालोचितम्, आलोचनाकाले तु प्रतिकुञ्चितमालोचयतीति २ । 'पलिउंचिए अपलिउंचियं' प्रतिकुञ्चितेऽप्रतिकुञ्चितं पूर्वसङ्कल्पकाले केनाऽपि प्रतिकुञ्चितं यथा–मया सर्वेऽपराधा नाऽऽलोचनीयाः, पूर्वसङ्कल्पकाले प्रतिकुञ्चिते, आलोचनायां भावपरावृत्ते. सर्वमप्यप्रतिकुञ्चितमालोचयतीति ३ । 'पलिउंचिए पलिउंचियं' प्रतिकुञ्चिते प्रतिकुञ्चितम्, पूर्वसंकल्पकाले प्रतिकुञ्चिते, आलोचनाकालेऽपि प्रतिकुञ्चितमेवालोचयतीति ४ । अपलिउंचिए अपलिउंचियं आलोएमाणस्स अप्रतिकुञ्चितेऽप्रतिकुञ्चितमालोचयत· 'सव्वमेयं सकयं साहणिय' सर्वमेतत् स्वकृतं संहृत्य, सर्वमेतत् यद्यदापन्नमपराधजातं, यदि वा कथमपि प्रतिकुञ्चना कृता स्यात्, ततः प्रतिकुञ्चनानिष्पन्नमपराधजात सकलमेतत् स्वकृतमपराधकारिणा कृतं सम्पादितं सर्वमपराधजातं संहृत्यैकत्र मेलयित्वा यदि सचयितं प्रायश्चित्तस्थानम आपन्न. तत षाण्मासिकं प्रायश्चित्तं दद्यात् । यत्पुनः षण्मासातिरिक्तं तत्सर्वं परित्यजेत् । अथ मासादिक प्रायश्चित्तमापन्न. ततः तदेव मासादिकं दातव्यमिति । जे 'एयाए पट्ठवणाए पट्ठविए' यः कश्चित्साधुः साध्वी वा एतया अनंतरपूर्वकथितया प्रस्थापनया प्रस्थापित· प्रायश्चित्तकरणे प्रवर्त्तितः 'निव्विसमाणे' निर्विशमानः प्रायश्चित्तमुपक्रम्य निस्तरन् 'पडिसेवइ' प्रमादतो विषयकषायादिभिर्वा पुनः पापं

प्रतिसेवते ततः प्रतिसेवनायां यत् प्रायश्चित्तं सेवते 'सेवि कसिणे' तदपि कृत्स्नम् अनुग्रहकृत्स्नेन निरनुग्रहकृत्स्नेन वा 'तत्थेव' तत्रैव पूर्वप्रस्थापितप्रायश्चित्ते एव 'आरुहियव्वे सिया' आरोहयितव्यमारोपणीयं स्यात् पुरतो यत्प्रायश्चित्तं षाण्मासिकादि तावन्मात्रमेव देयं न ततोऽधिकमिति ॥ सू० १९ ॥

सूत्रम्—जे भिक्खू बहुसोवि चाउम्मासियं वा बहुसोवि साइरेगचाउम्मासियं वा बहुसोवि पंचमासियं वा बहुसोवि साइरेगपंचमासियं वा, एएसिं परिहारट्ठाणाणं अन्नयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, पलिउंचिय आलोएमाणस्स ठवणिज्जं ठावइत्ता, करणिज्जं वेयावडियं, ठाविएवि पडिसेवित्ता सेवि कसिणे तत्थेव आरुहियव्वे सिया, पुव्वं पडिसेवियं पुव्वं आलोइयं १, पुव्वं पडिसेवियं पच्छा आलोइयं २, पच्छा पडिसेवियं पुव्वं आलोइयं ३, पच्छा पडिसेवियं पच्छा आलोइयं ४। अपलिउंचिए अपलिउंचियं १, अपलिउंचिए पलिउंचियं २, पलिउंचिए अपलिउंचियं ३, पलिउंचिए पलिउंचियं ४। पलिउंचिए पलिउंचियं आलोएमाणस्स सव्वमेयं सकयं साहणिय जे एयाए पट्ठवणाए पट्ठविए निव्विसमाणे पडिसेवइ सेवि कसिणे तत्थेव आरुहियव्वेसिया ॥ सू० २० ॥

छाया—यो भिक्षुर्बहुशोऽपि चातुर्मासिकं वा, बहुशोऽपि सातिरेकचातुर्मासिकं वा, बहुशोऽपि पाञ्चमासिकं वा, बहुशोऽपि सातिरेकपाञ्चमासिकं वा, एतेषां परिहारस्थानानामन्यतरत् परिहारस्थानं प्रतिसेव्यालोचयेत्, प्रतिकुञ्च्यालोचयमानस्य स्थापनीयं स्थापयित्वा करणीयं वैयावृत्यम् । स्थापितेऽपि प्रतिसेव्य तदपि कृत्स्नं तत्रैवारोहयितव्यं स्यात्, पूर्वं प्रतिसेवितं पूर्वमालोचितं १, पूर्वं प्रतिसेवितं पश्चादालोचितं २, पश्चात् प्रतिसेवितं पूर्वमालोचितं ३, पश्चात्प्रतिसेवितं पश्चादालोचितम् ४। अप्रतिकुञ्चिते अप्रतिकुञ्चितं १, अप्रतिकुञ्चिते प्रतिकुञ्चितम् २, प्रतिकुञ्चिते अप्रतिकुञ्चितम् ३, प्रतिकुञ्चिते प्रतिकुञ्चितम् ४। प्रतिकुञ्चिते प्रतिकुञ्चितमालोचयमानस्य सर्वमेतत् स्वकृतं संहृत्य, य एतया प्रस्थापनया प्रस्थापितो निर्विशमानः प्रतिसेवते तदपि कृत्स्नं तत्रैवारोहयितव्यं स्यात् ॥ सू० २० ॥

भाष्यम्—'जे भिक्खू' इति । 'जे भिक्खू' यः कश्चित् भिक्षुः साधुः साध्वी वा । 'बहुसोवि' बहुशोऽपि 'चाउम्मासियं वा' चातुर्मासिकं वा वा 'बहुसोवि' बहुशोऽपि 'साइरेग चाउम्मासियं वा' सातिरेकचातुर्मासिकं पञ्चदिवसाद्यधिकं चातुर्मासिकप्रायश्चित्तस्थानं वा 'बहुसोवि पंचमासियं वा' बहुशोऽपि पाञ्चमासिकं वा 'बहुसोवि साइरेगपंचमासियं वा' बहुशोऽपि सातिरेकं पञ्चदिनाद्यधिकं पाञ्चमासिकं परिहारस्थानं वा । 'एएसिं परिहारट्ठाणाणं' एतेषांबहुश.पदघटितचातुर्मासिकादीनां परिहारस्थानानां प्रायश्चित्तस्थानानाम् । 'अन्नयरं

परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा' अन्यतरत् अनेकेषु यत् किमप्यन्यतमं परिहारस्थानं प्रतिसेव्य आलोचयेत् आचार्यसमक्षं प्रकाशयेत्। तत्र–'पलिउंचिय आलोएमाणस्स' प्रतिकुञ्च्य सकपटमालोचयमानस्य 'ठवणिज्जं ठावइत्ता' स्थापनीयं स्थापयित्वा यः परिहारतपः–प्रायश्चित्तस्थानमापन्नः तस्य परिहारतपोदानार्थं सकलसाधुसाध्वीजनपरिज्ञानाय सकलगच्छसमक्षं निरुपसर्गप्रत्ययं कायोत्सर्गः पूर्वं क्रियते। कायोत्सर्गकरणानन्तरं गुरुः कथयति–अहं ते कल्पस्थितः, अयं च साधुः अनुपारिहारिकः। ततः स्थापनीयं स्थापयित्वेति यत्नेन सहाचरणीयम्, तत्, स्थाप्यते इति स्थापनीयं वक्ष्यमाणमालापनपरिवर्त्तनादि, तत्सकलगच्छसमक्षं स्थापयित्वा कल्पस्थितेनाऽनुपारिहारिकेण च 'करणिज्जं वेयावडियं' यथायोगमनुशासनानुग्रहरूपं वैयावृत्यं करणीयम्। ठविए वि पडिसेवित्ता स्थापितेऽपि प्रतिसेव्य ताभ्याम् आचार्यवैयावृत्यकारिभ्यां क्रियमाणेऽपि वैयावृत्ये स्थापितेऽप्यालापनादौ कदाचित् किमपि प्रतिसेव्य गुरोः समीपमुपस्थितो भवेत्। यथा–अहम् अमुकं प्रायश्चित्तस्थानमापन्नः। ततः 'सेवि कसिणे तत्थेव आरुहियव्वे सिया' तदपि कृत्स्नं सेव्यमानं परिहारतपसि आरोहयितव्यम् आरोपणीयं स्यात्। कृत्स्नं कतिविधं भवति? अत्र गाथामाह—

"कसिणं छव्विहमुत्तं, पडिसेवण संचयं च आरोवण।
तत्तो अणुग्गहं चाऽणुग्घायं निरवसेसं च" ॥ १ ॥

छाया—कृत्स्नं षड्विधमुक्तं प्रतिसेवनं संचयं च आरोपणम्।
ततः अनुग्रहं च अनुद्घातं निरवशेषं च॥ १ ॥

तत्र–कृत्स्न षट्प्रकारकं भवति, तथाहि–प्रतिसेवनाकृत्स्नम् १ संचयकृत्स्नम् २, आरोपणाकृत्स्नम् ३, अनुग्रहकृत्स्नम् ४, अनुद्घातकृत्स्नम् ५, निरवशेषकृत्स्नम् ६ चेति। तत्र–प्रतिसेवनाकृत्स्नम्–ततः परमन्यस्य प्रतिसेवनास्थानस्यासंभवात् सर्वमपि पञ्चमहाव्रतभङ्गरूपमिति प्रथमो भेदः १। संचयकृत्स्नम्–अशीत्यधिकं मासशतं ततः परस्य संचयस्याभावादिति द्वितीयो भेदः २। आरोपणाकृत्स्नं–षाण्मासिकं ततः परं भगवतः श्रीवर्द्धमानस्वामिनस्तीर्थे आरोपणाया अभावादिति तृतीयो भेदः ३। अनुग्रहकृत्स्नं–यत् षण्णां मासानां प्रायश्चित्तमारोपितं तत्र षड् दिवसा गताः, तदनन्तरम् अन्यान् षण्मासान् आपन्नः, ततो यद् अवहमानं तत्सर्वमपि त्यक्तम्, पश्चाद् यदन्यत् षाण्मासिकप्रायश्चित्तमापन्न तद्वहति, पूर्वं षण्माससेवितेषु षड्दिनेषु यदन्यत् षाण्मासिकं सेवितं तद् वहति, यस्मात् पञ्च मासाश्चतुर्विंशतिर्दिवसाश्चारोपिताः, तद् एतद् अनुग्रहकृत्स्नम्, अन्यथा पूर्वषाण्मासिकस्य तथा अपरषाण्मासिकस्य चेत्युभयोर्वहने

द्वादशमासस्य प्रायश्चित्तप्रसङ्ग आपतेत, अत्र तु केवलमेकस्यैव षाण्मासिकस्य दानेनानुग्रहो जात इति अनुग्रहकृत्स्नमिति। एतावता अनुग्रहकृत्स्नविपक्षीभूतं निरनुग्रहकृत्स्नमपि सूचितमिति ज्ञातव्यम् , तथाहि–षण्मासे प्रस्थापिते षण् मासा. पञ्चविंशतिदिवसाश्च व्यूढाः, तदनन्तर-मन्यत् षाण्मासिकमापन्नस्तद्वहति, पूर्वषाण्मासिकस्य येऽवशिष्टाः षड् दिवसास्तेऽत्र षड् दिवसा एव त्यक्ताः, अवशिष्टाः षण्मासास्तु कारिता एव, अत एव तत् निरनुग्रहकृत्स्नं भवतीति चतुर्थो भेदः ४ । अनुद्घातकृत्स्नम्–यत् कालगुरुर्यथा मासगुर्वादिः, अथवा निरन्तरं प्राय-श्चित्तदानमनुद्घातकृत्स्नम्, अत्र मासलघुकाद्यपि निरन्तरं दीयमानमनुद्घातकृत्स्नमेव ज्ञातव्यम्। अथवा अनुद्घातं त्रिविधम्–कालगुरु १ तपोगुरु २, उभयगुरु ३ चेति । तत्र–कालगुरुनाम यद् ग्रीष्मादौ अतिकर्कशे दीयते १, तपोगुरु यदष्टमादि दीयते, निरन्तरं वा यदष्टमादि दीयते २, उभयगुरु–यद् ग्रीष्मादौ काले निरन्तरं च दीयते तदिति ३, पञ्चमो भेदः ५ । निरवशेषकृत्स्नं–नाम यदापन्नं प्रायश्चित्तं तत् सर्वमन्यूनमनतिरिक्तं च दीयते इति षष्ठो भेदः ६ । अत्र–तस्य प्रतिसेवकस्य आचार्यसमक्षमालोचनायां चतुर्भङ्गी भवति, तामेवाह–'पुव्वं' इत्यादि ।

'पुव्वं पडिसेवियं पुव्वं आलोइयं' पूर्वं प्रतिसेवितं पूर्वमालोचित, तत्र पूर्वमित्यस्य पूर्वाऽऽ-नुपूर्व्या इत्यर्थः । ततश्च पूर्वाऽऽनुपूर्व्या गुरुलघुपर्यालोचनया लघुपञ्चकादिक्रमेण प्रतिसेवितं, पूर्वं पूर्वाऽऽनुपूर्व्या प्रतिसेवनाऽनुक्रमेणाऽऽलोचितम् १ । **'पुव्वं पडिसेवियं पच्छा आलोइयं'** पूर्वं प्रतिसेवितं पश्चादालोचितम्, पूर्वं गुरुलघुपर्यालोचनया पूर्वाऽऽनुपूर्व्या मासलघुकादि प्रतिसेवितं, तदनन्तरं च तथाविधाल्पप्रयोजनोत्पत्तौ च गुरुलघुपर्यालोचनयैव लघुपञ्चकादि प्रतिसेवितम्, आलोचनाकाले च पश्चात् पश्चानुपूर्व्या आलोचितं, पूर्वं लघुपंचकाद्यालोचितं पश्चात् मासादीति २ । **'पच्छा पडिसेवियं पुव्वं आलोइयं'** पश्चात् पश्चानुपूर्व्या प्रतिसेवितं पूर्वम् आलोचनाकाले पूर्वं लघुपंचकाद्यालोचितं पश्चात् गुरुमासादीति ३ । **'पच्छा पडिसेवियं पच्छा आलोइयं'** पश्चात् प्रतिसेवितं पश्चादालोचितं, पश्चात् पश्चानुपूर्व्या प्रतिसेवितं, गुरुलघुपर्यालोचनादिविर-हितो यथाकथञ्चन प्रतिसेवितं, पश्चात् पश्चानुपूर्व्या आलोचितं प्रतिसेवनाऽनुक्रमेणाऽऽलोचितम्, अथवा स्मृत्वा स्मृत्वा यथाकथञ्चनाऽप्यालोचितमिति ४ । इयं चतुर्भङ्गी प्रतिकुञ्चनाऽप्रतिकुञ्च-नाभ्यां भवति, अतस्तामाह–'अपलिउंचिए' इत्यादि । **'अपलिउंचिए अपलिउंचियं'** अप्रति-कुञ्चितेऽप्रतिकुञ्चितं पूर्वं संकल्पकालेऽप्रतिकुञ्चितम् आलोचनाकालेऽपि अप्रतिकुञ्चितमेवालोचय-तीति १ । **'अपलिउंचिए पलिउंचियं'** अप्रतिकुञ्चिते प्रतिकुञ्चितं पूर्वं संकल्पकालेऽप्रतिकुञ्चितम्, आलोचनाकाले प्रतिकुञ्चितं सकपटमालोचयतीति २। **'पलिउंचिए अपलिउंचियं'** प्रतिकुञ्चितेऽप्रति-कुञ्चितं पूर्वसंकल्पकाले प्रतिकुञ्चिते आलोचनाकाले कुतश्चित् कारणवशात् भावपरावर्त्तनात् अप्रति-कुञ्चितमालोचयतीति ३ । **'पलिउंचिए पलिउंचियं'** प्रतिकुञ्चिते प्रतिकुञ्चितं पूर्वसंकल्पकाले प्रति-

कुञ्चिते पश्चात् आलोचनाकालेऽपि प्रतिकुञ्चितं सकपटमेवालोचयतीति ४। 'पलिउंचिए पलिउंचियं आलोएमाणस्स' प्रतिकुञ्चिते प्रतिकुञ्चितमालोचयतः 'सव्वमेयं सकयं साहणिय' सर्वं निरवशेष-मालो चयत. सर्वमेतद्यदापन्नमपराधजात प्रतिकुञ्चनानिष्पन्नं च तत्सर्वं स्वकृतं स्वयमपराधकारिणा संपादितं संहृत्य एकत्र मेलयित्वा यदि सञ्चित प्रायश्चित्तस्थानमापन्नः, ततस्तदेव षाण्मासिकं प्रायश्चित्तं दद्यात्। यत्पुनः षाण्मासिकातिरिक्तं तत्सर्वं परित्यजेत्। अथ यदि मासादिकं प्रायश्चित्तमापन्नः ततस्तदेव मासादिकं प्रायश्चित्तं दातव्यम्। 'जे एयाए पट्ठवणाए पट्ठविए' यः साधुः साध्वी वा एतया अनन्तरपूर्वकथितया प्रस्थापनया पूर्वकृतापराधस्य विषये स्थापना. प्रायश्चित्तदानप्रस्था-पना तया प्रस्थापितः प्रायश्चित्तकरणे प्रवर्तितः सः 'निव्विसमाणे' निर्विशमान' प्रायश्चित्तं कुर्वाणः यत्प्रमादतः विषयकषायादिभिर्वा पुनः 'पडिसेवइ' प्रतिसेवते ततः तस्यां प्रतिसेवनायां यत्प्रा-यश्चित्तं प्रतिसेवते 'सेवि कसिणे' तदपि कृत्स्नम् अनुग्रहकृत्स्नेन निरनुग्रहकृत्स्नेन वा 'तत्थेव' तत्रैव पूर्वप्रस्थापितप्रायश्चित्ते एव 'आरुहियव्वे सिया' आरोहयितव्यमारोपणीयं स्यात् नत्वन्यस्मिन् प्रायश्चित्ते आरोपणीयमिति ॥ सू० २०॥

इह पूर्वसूत्रे परिहारतपः कथितं, परिहारश्च परिहर्तव्यापेक्षः प्रतिषेध्यानान्तरीयकत्वात् परिहारस्य। तथा परिहारक्रियाग्रहणेन पारिहारिकोऽपि आक्षिप्यते, कर्त्तारं विना क्रियाया अनुपपत्तेः। तत्र ये परिहारेण परिहारनामकेन तपसा चरन्ति, ते पारिहारिका.। एतद्विपरीता ये ते अपारिहारिका'। न पारिहारिकाः अपारिहारिकैर्विना भवितुमर्हन्ति पारिहारिकस्यापारिहारिका-नान्तरीयकत्वात्, एवमपारिहारिका अपि पारिहारिकैर्विना न भवन्ति अपारिहारिकाणामपि पारिहारिकानान्तरीयकत्वात्, अतोऽत्र पारिहारिकाऽपारिहारिकविषयं सूत्रमाह—'बहवे' इत्यादि।

सूत्रम्—बहवे परिहारिया बहवे अपरिहारिया इच्छेज्जा एगयओ अभिनिसेज्जं वा अभिनिसीहियं वा चेइत्तए नो ण्हं से कप्पइ थेरे अणापुच्छित्ता एगयओ अभिनिसेज्जं वा अभिनिसीहियं वा चेइत्तए, कप्पइ ण्हं से थेरे आपुच्छित्ता एगयओ अभिनिसेज्जं वा अभिनिसीहियं वा चेइत्तए, थेरा य ण्हं से वियरेज्जा एवं ण्हं कप्पइ एगयओ अभिनिसेज्जं वा अभिनिसीहियं वा चेइत्तए, थेरा य ण्हं से नो वियरेज्जा एवं ण्हं नो कप्पइ एगयओ अभिनिसेज्जं वा अभिनिसीहियं वा चेइत्तए। जो ण्हं थेरेहिं अविइण्णे अभिनिसेज्जं वा अभिनिसीहियं वा चेएइ से संतरा छेए वा परिहारे वा ॥ सू० २१ ॥

छाया—बहव. पारिहारिकाः बहवोऽपरिहारिका इच्छेयुः एकतः अभिनिषद्यां वा अभिनैषेधिकीं वा चेतयितुम्, नो खलु तेषां कल्पते स्थविरान् अनापृच्छ्य एकतो अभिनिषद्यां वा अभिनैषेधिकीं वा चेतयितुम्, कल्पते खलु तेषां स्थविरान् आपृच्छ्य

एकत अभिनिषद्यां वा अभिनैषेधिकीं वा चेतयितुम्, स्थविराश्च खलु तान् वितरेयुः एवं खलु तेषां कल्पते एकतः अभिनिषद्यां वा अभिनैषेधिकीं वा चेतयितुम्, स्थविराः खलु तेषां नो वितरेयुः एवं खलु तेषां नो कल्पते एकतः अभिनिषद्यां वा अभिनैषेधिकीं वा चेतयितुम्, यः खलु स्थविरैरवितीर्णोऽभिनिषद्यां अभिनैषेधिकीं वा चेतयते तस्य स्वान्तरात् छेदो वा परिहारो वा ॥ सू० २१ ॥

भाष्यम्–'**बहवो**' इति '**बहवो परिहारिया**' बहवोऽनेके पारिहारिका वा, परिहारः तपोविशेषः, तेन तपोविशेषेण चरन्ति ये ते पारिहारिकाः, '**बहवे अपरिहारिया वा**' बहवोऽनेके अपरिहारिका पारिहारिकव्यतिरिक्तास्ते '**इच्छेज्जा**' परस्परमिच्छेयुः इच्छां कुर्युः । किमिच्छेयुस्तत्राह–'**एगयओ**' एकतः एकस्थाने तत्रैव वसतौ वसत्यन्तरे वा '**अभिनिसेज्जं वा**' अभिनिषद्याम् अभि–रात्रिमभिव्याप्य स्वाध्यायनिमित्तमागताः सन्तो निषीदन्ति तिष्ठन्ति यस्यां सा तामभिनिषद्यां वसतिमित्यर्थः, '**अभिनिसीहियं वा**' अभिनैषेधिकीं वा, निषेधः स्वाध्यायव्यतिरेकेण सकलव्यापारप्रतिषेधः, तेन निषेधेन निर्वृत्ता नैषेधिकी केवलस्वाध्यायस्थानम् "**सुत्तत्थं निसीहिया**" इति वचनात् अत्र नैषेधिकी सूत्रार्थप्रायोग्या ज्ञातव्या, न तु कालकारणप्रायोग्या, अभि-आभिमुख्येन सूत्रार्थप्रायोग्यतया नैषेधिकी अभिनैषेधिकी तामभिनैषेधिकीं वा ।

अयमर्थः— तत्र दिवसे स्वाध्याय प्रवचनं कृत्वा रात्रौ वसतिमेव साधवः प्राप्नुवंति सा अभिनैषेधिकी, अभिनैषेधिक्यामेव स्वाध्यायं कृत्वा रजनीमुषित्वा प्रातः काले वसतिमुपागच्छन्ति सा अभिनिषद्या, तामभिनिषद्याम्, अभिनैषेधिकीं स्वाध्यायस्थानविशेषं वा '**चेइत्तए**' चेतयितुं कर्त्तुम्, यदि अनेके पारिहारिका अपरिहारिकाश्च एकस्मिन् स्थाने अभिनिषद्याम् अभिनैषेधिकीं वा कर्त्तुं वस्तुमिच्छेयुः तदा '**णो णं कप्पइ थेरे अणापुच्छित्ता एगयओ अभिनिसेज्जं वा अभिनिसीहियं वा चेइत्तए**' नो खलु कल्पते स्थविराननापृच्छ्य एकतः एकस्थाने अभिनिषद्यां वा अभिनैषेधिकीं वा चेतयितुं कर्त्तुम् । तत्र नो नैव कथमपि एतेषां पारिहारिकाणामपरिहारिकाणां च कल्पते स्थविरान् आचार्यप्रभृतीन् अनापृच्छ्य तेषामाचार्यादीनामाज्ञामन्तरेण एकस्थाने स्ववसतौ अभिनिषद्याम् अभिनैषेधिकीं वा कर्त्तुं नो कल्पते इति भावः । साधूनामुच्छ्वासनिःश्वासनिमेषादिव्यतिरेकेण शेषाणां समस्तानामपि व्यापाराणां गुरुपृच्छाधीनत्वात् । तदेवं प्रतिषेधावयवं निरूप्य विधिं निरूपयितुमाह—'**कप्पइ ण्हं थेरे आपुच्छित्ता ते एगयओ अभिनिसेज्जं वा अभिनिसीहियं वा चेइत्तए,**' कल्पते खलु स्थविरानापृच्छ्य तेषाम् एकतः अभिनिषद्यां वा अभिनैषेधिकीं वा चेतयितुम् आचार्याज्ञया तेषामेकस्थानेऽभिनिषद्यादि कर्त्तुं कल्पते इति । अथ यदि स्थविरा आपृष्टाः सन्त आज्ञां वितरेयुः तदा किं कुर्युः ? इत्याशङ्कायामाह—'**थेरा य ण्हं से वियरिज्जा एवं ण्हं कप्पइ अभिनिसेज्जं वा अभिनिसीहियं वा चेइ-**

त्तए' स्थविराश्च खलु तेषां वितरेयुः आज्ञां दद्युः, एवं तदा खलु कल्पते तेषां अभिनिषद्यां वा अभिनैषेधिकीं वा चेतयितुं कर्तुम्, स्थविराणामाज्ञया तैः सह वस्तुं कल्पते इति भावः। यदि **'थेरा य णं'** स्थविराः खलु **'नो वियरेज्जा'** नो वितरेयुः नैवाऽनुज्ञां कुर्युः **'एवं णं णो कप्पइ'** एवमुक्तेन प्रकारेण अनुज्ञामन्तरेण खलु नो नैव कल्पते तेषाम् **'एगयओ'** एकतः एकस्थाने **'अभिनिसेज्जं वा'** अभिनिषद्यां वा **'अभिनिसीहियं वा'** अभिनैषेधिकीं वा **'चेइत्तए'** चेतयितुं कर्तुमित्यर्थ. **'जो णं थेरेहिं अविइण्णे'** यः कश्चित् खलु अपारिहारिकः स्थविरैराचार्यादिभिः अवितीर्ण· अननुज्ञात· सन् पारिहारिकै· सह एकस्थाने **'अभिनिसेज्जं वा'** अभिनिषद्यां वा **'अभिनिसीहियं वा'** अभिनैषेधिकीं वा **'चेतइ'** चेतयति करोति **'से'** तस्य अपारिहारिकस्य **'संतरा छेए वा परिहारे वा'** स्वान्तरात् स्वकृतमन्तरं स्वान्तरं तस्मात् यावदागत्य स न मिलति, यावद्वा स्वाध्यायभूमेर्नोत्तिष्ठति तावत् यद् व्यवधानं तद् अन्तरं, तस्मात् स्वकृतादन्तरात् छेदो वा पञ्चदिवसात्मक·, परिहारो वा परिहारतपो वा मासलघुकादि प्रायश्चित्तमापद्यते इति सूत्रार्थः॥ सू० २१॥

नन्वस्य प्रकृतसूत्रस्याऽनन्तरपूर्वसूत्रेण सह कः सम्बन्धः ? इति चेत् अत्रोच्यते—अत्र पूर्वपूर्वसूत्रेषु परिहारः कथितः, न च कुत्रापि मध्ये परिहारप्रकरणं परित्यक्तम्, ततः प्रकृतः परिहारः, परिहारनामकं तपोविशेषः, स च क्रियाविशेषरूप एव, क्रिया च कर्त्तारमन्तरेणाऽनुपपन्नेति परिहारक्रियाप्रकरणाऽनुरोधात् अत्र परिहारी परिहारक्रियायाः कर्त्ताऽभिधीयते, अयमेव पूर्वपूर्वसूत्रै· सह प्रकृतसूत्रस्य संबन्ध इति। अथवा अनन्तरपूर्वसूत्रे इदमुक्तं यत् स्थविरैरनुज्ञातानामभिनिषद्यामभिनैषेधिकीं वा यदि गच्छति ततः प्राप्नोति परिहारमिति। अत्र प्रकृतसूत्रे तु स एव परिहारतामुपगत इति प्रतिपाद्यते। अथवा अनन्तरसूत्रेऽभिनिषद्यादिगमनं कथितं, स प्रत्यासन्नक्षेत्रनिर्गम, इदं तु प्रकृतसूत्रं दूरे निर्गमनं कथयति, इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्य प्रकृतसूत्रस्य व्याख्यानं प्रस्तूयते—**'परिहारकप्पट्ठिए'** इत्यादि।

सूत्रम्—परिहारकप्पट्ठिए भिक्खू बहिया थेराणं वेयावडियाए गच्छेज्जा, थेरा य से सरेज्जा कप्पइ से एगराइयाए पडिमाए जं णं जं णं दिसं अण्णे साहम्मिया विहरंति तं णं तं णं दिसं उवलित्तए, नो से कप्पइ तत्थ विहारवत्तियं वत्थए, कप्पइ से तत्थ कारणवत्तियं वत्थए, तंसि च णं कारणंसि निट्ठियंसि परो वएज्जा वसाहि अज्जो एगरायं वा दुरायं वा, एवं स कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए, नो से कप्पइ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वत्थए, जे तत्थ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वसइ से संतरा छेए वा परिहारे वा॥ सू० २२॥

छाया—परिहारकल्पस्थितो भिक्षुः बहिः स्थविराणां वैयावृत्याय गच्छेत् स्थविराश्च स्मरेयुः कल्पते तस्य एकरात्रिक्या प्रतिमया यां खलु यां खलु दिशम् अन्ये साधर्मिका

विहरन्ति तां तां खलु दिशमुपलातुम्, न तस्य कल्पते तत्र विहारप्रत्ययिकंवस्तुम्, कल्पते तस्य कारणप्रत्ययिकं वस्तुम्, तस्मिंश्च खलु कारणे निष्ठिते परो वदेत् वस खलु आर्य एकरात्रं वा द्विरात्रं वा, एवं तस्य कल्पते एकरात्रं वा द्विरात्रं वा वस्तुम्, नो तस्य कल्पते परमेकरात्राद्वा द्विरात्राद्वा वस्तुम्, यदि तत्र परमेकरात्राद्वा द्विरात्राद्वा वसति तस्य सान्तरात् छेदो वा परिहारो वा ॥ सू० २२ ।

भाष्यम्—'**परिहारकप्पट्ठिए**' परिहारकल्पस्थितः । तत्र–परिहारस्य कल्पः सामाचारी इति परिहारकल्प', तस्मिन् परिहारकल्पे स्थित इति परिहारकल्पस्थितः परिहारतपसि वर्त्तमान इत्यर्थः '**भिक्खू**' भिक्षुः '**बहिया**' बहिरन्यत्र नगरादौ '**थेराणं**' स्थविराणाम् अन्यग्रामादौ स्थितानामाचार्यादीनाम् '**वेयावडियाए**' वैयावृत्याय ग्लानत्वादिकारणे वैयावृत्यकरणाय '**गच्छेज्जा**' गच्छेत् '**थेरा य से सरेज्जा**' स्थविराश्च तस्य स्मरेयुः परिहारतपः स्मृतिपथमानयेयुः यथा–एष परिहारकल्पस्थितो वर्त्तते, स्मरद्भिस्तैः स परिहारी वक्तव्यो यावत् प्रत्यागच्छसि तावन्निक्षिप्यतां परिहारतप इति । तत्र यदि परिहारिके सामर्थ्यमस्ति ततः परिहारतपः प्रपन्नो गच्छति । अथवा नास्ति चेत् सामर्थ्यं ततः परिहारतपो निक्षिपति । परिहारतपो निक्षिप्य च '**कप्पइ से**' तस्य कल्पते '**एगराइयाए पडिमाए**' एकरात्रिक्या प्रतिमया, अत्र प्रतिमाशब्दोऽभिग्रहवाची, ततश्च एकरात्रिकेणाऽभिग्रहेणेत्यर्थ', अर्थात्–यत्रापान्तराले वसामि तत्र गोकुलादौ प्रचुरगोरसादिभोज्यवस्तुलाभेऽपि प्रतिबन्धमकुर्वता कारणं विना मया एकरात्रमेव वस्तव्यं नाधिकं वस्तव्यमित्याकारेणाऽभिग्रहेण एकरात्रिकवासरूपमभिग्रहं कृत्वेत्यर्थः '**जं णं जं णं दिसं**' यां यां खलु दिशं '**जं णं**' इत्यत्र द्वितीया विभक्तिः सप्तम्यर्थे ज्ञातव्या तेन यस्यां यस्यां खलु दिशि दिशायामित्यर्थः, अथवा यां यां खलु दिशमाश्रित्य '**अन्ने साहम्मिया**' अन्ये साधर्मिकाः लिङ्गसाधर्मिकाः प्रवचनसाधर्मिका वा संविग्नसंभोगिकादयो वक्ष्यमाणाः '**विहरंति**' विहरन्ति तिष्ठन्ति '**तं णं तं णं दिसं उवलित्तए**' तां तां खलु दिशम् उपलातुं ग्रहीतुम् आश्रयितुमित्यर्थः । '**नो से कप्पइ**' नो नैव '**से**' तस्य परिहारकल्पस्थितस्य निक्षिप्तपरिहारतपसो वा आहारादिलोभेन कल्पते '**तत्थ**' तत्र ग्रामादौ '**विहारवत्तियं वत्थए**' विहारप्रत्ययिकम् अवस्थाननिमित्तं तत्र वस्तुं न कल्पते इति, किन्तु '**कप्पइ से तत्थ**' कल्पते तस्यानन्तरोदितस्य भिक्षो. यत्र भिक्षां कृतवान् उषितवान् वा तत्र-'**कारणवत्तियं वत्थए**' कारणप्रत्ययिकं वक्ष्यमाणसूत्रार्थप्रतिपृच्छादानवैयावृत्त्यादिकारणनिमित्तं वस्तुं वास कर्त्तुं कल्पते इति । अथ च '**तंसि च णं कारणंसि निट्ठियंसि**' तस्मिंश्च खलु कारणे निष्ठिते-यत् कारणविशेषमासाद्य ग्रामान्तर स्थानान्तर वा उषितः तस्मिन् कारणविशेषे निष्ठिते परिसमाप्ते सति यदि '**परो वएज्जा**' परः–तत्स्थानाधिष्ठित आचार्यादिर्वदेत् आग्रहं कुर्यात् यथा '**वसाहि यज्जो**' हे आर्य ! वसाऽत्र मदीयस्थाने '**एगरायं वा दुरायं वा**' एकरात्र वा द्विरात्रं वा, हे आर्य ! दूरादागतोऽसि महत्कार्यं संपादितवान्, अतोऽत्र एकरात्रं वा द्विरात्रं वा वस, दूरादागतो-

ऽसि विहारजनितखेदमपनीय सुखेन तिष्ठ। 'एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए' एवं तस्य कल्पते एकरात्रं वा द्विरात्रं वा वस्तुम्, एवमुक्तप्रकारके ग्रामान्तराधिष्ठितस्थविराग्रहे सति 'से' तस्य परिहारकल्पस्थितस्य तत्र स्थानान्तरादौ परिसमाप्तकार्यस्यापि एकरात्रं वा द्विरात्रं वा वस्तुं वासं कर्त्तुं कल्पते, किन्तु 'नो से कप्पइ एगरायाओ वा दुरायाओ वा परं वत्थए' नो तस्य कल्पते एकरात्राद्वा द्विरात्राद्वा परं वस्तुम्, ततः परं पुनः स्थविराग्रहे स्वेच्छया वा निष्कारणम् एकरात्रात् द्विरात्राद्वा परमधिकं वासं कर्त्तुं परिहारकल्पस्थितस्य न कल्पते इत्यर्थः। यो निष्कारणमधिकं वसति तत्राह—'जे तत्थ एगरायाओ वा दुरायाओ वा परं वसइ' यस्तत्र एकरात्राद्वा द्विरात्राद्वा परमधिकं कालं त्रिरात्रं चतुरात्रादिकं वा निष्कारणं वसति 'से' तस्य 'संतरा छेए वा परिहारे वा' सान्तरात् छेदो वा परिहारो वा, यः परिहारकल्पस्थितः पुनस्तत्रैकरात्रात् द्विरात्राद्वा परमधिकं वसति तस्य भिक्षोः सान्तरात् स्वकृतादन्तरादपान्तराले निष्कारणवासरूपकारणात् यावत्कालं निष्कारणमेकद्विरात्रादधिकमुषितः तावत्कालिकः छेदो वा परिहारो वा छेदनामकं वा परिहारनामकं वा प्रायश्चित्तं यथायोगं गुरुर्दद्यादिति ॥ सू० २२ ॥

सूत्रम्—परिहारकप्पट्ठिए भिक्खू बहिया थेराणं वेयावडियाए गच्छेज्जा, थेरा य से नो सरेज्जा कप्पइ से निव्विसमाणस्स एगराइयाए पडिमाए जं णं जं णं दिसं अन्ने साहम्मिया विहरंति तं णं तं णं दिसं उवलित्तए, नो से कप्पइ तत्थ विहारवत्तियं वत्थए, कप्पइ से तत्थ कारणवत्तियं वत्थए, तंसि च णं कारणंसि निट्ठियंसि परो वएज्जा वसाहि अज्जो! एगरायं वा दुरायं वा, एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए, नो से कप्पइ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वत्थए, जं तत्थ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वसइ से संतरा छेए वा परिहारे वा ॥ सू० २३ ॥

छाया—परिहारकल्पस्थितो भिक्षुर्बहिः स्थविराणां वैयावृत्याय गच्छेत्, स्थविराश्च नो स्मरेयुः कल्पते तस्य निर्विशमानस्य एकरात्रिक्या प्रतिमया यां खलु यां खलु दिशमन्ये साधर्मिका विहरन्ति तां खलु तां खलु दिशमुपलातुं, नो तस्य कल्पते तत्र विहरप्रत्ययिकं, वस्तुम्, कल्पते तस्य तत्र कारणप्रत्यत्र वस्तुं, तस्मिश्च कारणे निष्ठिते परो वदेत् वस आर्य! एकरात्रं वा द्विरात्रं वा, एवं तस्य कल्पते एकरात्रं वा द्विरात्रं वा वस्तुं, नो तस्य कल्पते परमेकरात्राद्वा द्विरात्राद्वा वस्तुं, यत् तत्र परमेकरात्राद्वा द्विरात्राद्वा वसति तस्य सान्तरात् छेदो वा परिहारो वा ॥ सू० २३ ॥

भाष्यम्—'परिहारकप्पट्ठिए' इति। 'परिहारकप्पट्ठिए' परिहारकल्पस्थितः परिहारतपसि वर्त्तमानः 'भिक्खू' भिक्षुः 'बहिया' बहिरन्यत्र नगरादौ ग्रामान्तरे वा। 'थेराणं' स्थविराणामाचार्यादीनाम्, 'वेयावडियाए' वैयावृत्याय, तत्र वैयावृत्यं गुरोरन्यस्य वा स्थविरस्य सेवा, तत्करणाय 'गच्छेज्जा' गच्छेत् 'थेरा य' स्थविराश्च 'से' तस्य परिहारकल्पस्थितस्य तपः 'नो सरेज्जा' नो स्मरेयुः कार्यबाहुल्येन अयं परिहारतपोधारक इति न स्मरणं कुर्युः, असौ अपि गमनसंभ्रमेण निवेदनं विस्मरेत् यथा परिहारतपो

निक्षेपणीयमिति, तत्र यदि आचार्याः स्मरेयुः भिक्षुर्वा स्मारयति तदा तत्तपो निक्षिप्य गच्छति, यदि द्वयोरपि विस्मृतं भवेत् तदा 'कप्पइ से निव्विसमाणस्स' कल्पते तस्य निर्विशमानस्य तपो वहमानस्यैव 'एगराइयाए पडिमाए' एकरात्रिक्या प्रतिमया एकरात्रिकाभिग्रहेण शेषं सर्वं पूर्वसूत्रवदेव व्याख्येम् ॥ सू० २३ ॥

सूत्रम्—परिहारकप्पट्ठिए भिक्खू बहिया थेराणं वेयावडियाए गच्छेज्जा, थेरा य से सरेज्जा वा नो सरेज्जा वा कप्पइ से निव्विसमाणस्स एगराइयाए पडिमाए जं णं जं णं दिसं अन्ने साहम्मिया विहरंति, तं णं तं णं दिसं उवलित्तए, नो से कप्पइ तत्थ विहारवत्तियं वत्थए, कप्पइ से तत्थ कारणवत्तियं वत्थए, तंसि च णं कारणंसि निट्ठियंसि परो वएज्जा वसाहि अज्जो एगरायं वा दुरायं वा, एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए, नो से कप्पइ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वत्थए, जं तत्थ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वसइ से संतरा छेए वा परिहारे वा ॥ सू० २४ ॥

छाया—परिहारकल्पस्थितो भिक्षुर्बहिः स्थविराणां वैयावृत्याय गच्छेत् स्थविराश्च स्मरेयुर्वा नो स्मरेयुर्वा कल्पते तस्य निर्विशमानस्य एकरात्रिक्या प्रतिमया यां खलु यां खलु दिशमन्ये साधर्मिका विहरन्ति तां खलु तां खलु दिशमुपलातुम्, नो तस्य कल्पते तत्र विहारप्रत्ययिकं वस्तुम्, कल्पते तस्य तत्र कारणप्रत्ययिकं वस्तुम्, तस्मिंश्च खलु कारणे निष्ठिते परो वदेत् वस आर्य ! एकरात्रं वा द्विरात्रं वा, एवं तस्य कल्पते एकरात्रं वा द्विरात्रं वा वस्तुम्, नो तस्य कल्पते परमेकरात्राद्वा द्विरात्राद्वा वस्तुम्, यत् तत्र परमेकरात्राद्वा द्विरात्राद्वा वसति तस्य स्वान्तरात् छेदो वा परिहारो वा ॥ सू० २४ ॥

भाष्यम्—'परिहारकप्पट्ठिए भिक्खू' इति । 'परिहारकप्पट्ठिए भिक्खू' परिहारकल्पस्थितो भिक्षुः 'बहिया' बहिर्बाह्ये नगरादौ 'थेराण' स्थविराणामाचार्यादीनां 'वेयावडियाए' वैयावृत्याय 'गच्छेज्जा' गच्छेत् 'थेरा य' स्थविराश्च 'से सरेज्जा वा नो सरेज्जा वा' तस्य पारिहारिकस्य तपः स्मरेयुर्वा कार्यव्याक्षेपान्नो स्मरेयुर्वा यथा एषः परिहारतपोवाहक इति स्मरणं कुर्युः नो वा कुर्युः तदा कल्पते तस्य निर्विशमानस्य तपो वहतः सतः, इत्यादि सर्वं पूर्ववदेव व्याख्येयम् । अत्रायं भावः-प्रथमसूत्रे वहनं कथितं तत्तप आचार्यो देशतो वाहयेदपि सर्वतो वा वाहयेदपि १ । द्वितीयसूत्रे स्थापनं भविष्यत्कालार्थं तदपि देशतः सर्वतो वा स्थापयेदपि २ । तृतीयसूत्रे—त्यागः, तदपि देशतः सर्वतो वा त्याजयेदप्याचार्य इति ३ । तत्र देशतो वहनादि कथं स्यात्तत्राह—परिहारतपः प्रायः सर्वं व्यूढं स्तोकमेवावशिष्टम्, अत्रान्तरे बहिर्गमनप्रयोजनमुपस्थितं भवेत्तदाऽऽचार्यो वदेत्—मुञ्चाधिकृतं परिहारतपः यतः साम्प्रतमिदं गमनकार्यमुपस्थितम् । तत्र यदि स समर्थो भवेत्तदा प्राह—न क्षिपामि

भदन्त ! यदेतद्देशतोऽवशिष्टं तपो मार्ग एव सम्पूर्णं करिष्यामीति सोऽवशिष्टं देशतः तपो वहमान एव गच्छति । अथासमर्थश्चेत्तदाऽऽह—गमिष्यामि त्ववश्यमेवेति विचिन्तयन् तं तपोदेशं निक्षिप्य गच्छति । अथवा तस्य यदवशिष्टं स्तोकमव्यूढं तिष्ठति तत्तस्य महत्कार्यार्थं प्रस्थितस्याचार्याः कार्यस्य महत्त्वमाश्रित्य प्रसादबुद्धयाऽवशिष्टं तत्तपो समस्तमपि मोचयन्ति यथा महति वैयावृत्त्यादि-प्रयोजने त्वं प्रस्थानं करोषीति मोचितं प्रसादतस्तव शेषमेतत्तप इति । एवं देशतो वहन-निक्षेपण-त्यागाः प्रदर्शिता इति । अथ सर्वतस्ते प्रदर्श्यन्ते—कस्यापि साधोः परिहारतपो दत्तं वोढुमपि स प्रवृत्तः, अत्रान्तरे च वैयावृत्त्याद्यर्थं गमनप्रयोजनमुपस्थितं तदाऽऽचार्या ब्रुवते—हे देवानुप्रिय ! समुत्पन्नमिदमावश्यकं गमनप्रयोजनमतो निक्षिप परिहारतप इति । यदि स साधुः समर्थस्तदा प्राह—भदन्त ! गच्छन्नपि समर्थोऽहं तत्तपो वोढुम्, मार्गस्य दूरत्वाच्च मार्ग एव तत्तपः समस्तं पूर्णं करिष्यामि, तथाहि—सर्वजघन्यं परिहारतपो मासिकं भवति तदाप-न्नोऽसौ, गन्तव्यं चानन्दपुरात् मथुरायां ततस्तत्तपो मार्ग एव समाप्तिमुपयातीति स तपो वहमान एव गच्छति । यदि सोऽसमर्थः तदा तत्तपो निक्षिपति । अथवा महत्प्रयोजनमुपस्थितं गरीयांश्चाध्वा, एतस्य प्रयोजनस्यायमेव कर्त्ता गुणगरीयस्त्वात् ततः सम्यक् प्रवचनभक्तोऽयं दुष्करदुष्करकारी किन्तु सामर्थ्यविहीन इति विचिन्त्याचार्याः सर्वमपि तस्य तत्तपः प्रसा-दतो मोचयन्त्यपि । एवं सर्वतो वहननिक्षेपणत्यागा वेदितव्या इति । एवमेव ततः प्रतिनिवर्त्ति-तस्य देशतः सर्वतो वा वहनत्यागौ वेदितव्यौ, तथाहि—यदि गच्छता देशो निक्षिप्तस्ततः स तपसो देशः प्रतिनिवर्त्तितेन क्रियते । अथ समस्तं निक्षिप्तं तदा तत्सर्वमपि प्रतिनिवर्त्तितेन क्रियते । अथवा अहो दुष्करमिदं चतुर्विधसंघजिनप्रवचनप्रभावनासम्बन्धिकार्यमनेन संपादित-मिति परितुष्टा आचार्या निक्षिप्तं तत्तपसो देशं वा सर्वं वा मोचयन्ति । एवं प्रतिनिवर्त्तितस्य देशतः सर्वतो वहनत्यागौ भवत इति । अत्राऽऽशङ्का जायते यत् आचार्यादिप्रसादतो देशस्य सर्वस्य वा त्यागः कृतः किन्तु न खलु प्रसादतः पापनिवृत्तिः समुपजायते ? इत्यत्राह—यथा अनुद्घातिके परिहारतपःप्राप्तौ वैयावृत्त्यकराणां तस्य त्यागो भवति 'अणुग्घाइयं उग्घाइयं किज्जइ' इति वचनात् संघादिवैयावृत्त्ये प्रवृत्तानामुद्घातिकमेव परिहारतपो भवति न तु अनुद्घातिकं वैयावृत्त्यस्य परमनिर्जराहेतुकत्वादिति ॥ सू० २४ ॥

अथास्य सूत्रस्य पूर्वसूत्रेण सह कः सम्बन्ध इति चेदत्रोच्यते—पूर्वसूत्रे पारिहारिकस्य वैयावृ-त्त्यादिनिमित्तनिर्गमनाधिकारः प्रोक्तः, इहापि निर्गमनमेव कथयिष्यते । अथवा पूर्वसूत्रे तपसो-ऽधिकारोऽनुवर्त्तते, अत्रापि सूत्रे स एव तपसोऽधिकारो वर्णयिष्यते । अनेन सम्बन्धेनाऽऽयात-मिदं सूत्रमाह 'जे भिक्खू' इत्यादि ।

सूत्रम्—जे भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म एगल्लविहारपडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरेज्जा, से य इच्छेज्जा दोच्चंपि तमेव गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए अत्थियाइत्थ सेसे पुणो आलोएज्जा पुणो पडिक्कमेज्जा पुणो छेयपरिहारस्स उवट्ठाएज्जा ॥ सू० २५॥

छाया—यो भिक्षुश्च गणादवक्रम्य एकाकिविहारप्रतिमामुपसंपद्य खलु विहरेत् स चेच्छेत् द्वितीयमपि तमेवगणमुपसंपद्य खलु विहर्त्तुम् अस्ति चात्र शेषं पुनरालोचयेत् पुनः प्रतिक्रामयेत् पुनश्छेद परिहारस्य उपस्थापयेत् ॥ सू० २५ ॥

भाष्यम्—"जे भिक्खू" इति 'जे भिक्खू' यः कश्चिद् भिक्षुः जघन्यतो दशपूर्वधरः उत्कृष्टतश्चतुर्दशपूर्वधारी,तथा श्रद्धा १, सत्यं २, मेधा ३, बहुश्रुतत्त्वम् ४, शक्तिमत्त्वम् ५, अल्पाधिकरणत्वम् ६, धृतिमत्त्वम् ७, वीर्यसम्पन्नत्वं ८ चेति, इत्येतावदष्टगुणधारको मुनिर्वा **'गणाओ अवक्कम्म'** गणात् स्वकीयगच्छात् अवक्रम्य विनिर्गत्य पृथग्भूत्वा **'एगल्ल-विहारपडिमं'** एकाकिविहारप्रतिमाम् एकाकिविहारयोग्यां एकाकि भूत्वा विहरणरूप मभिग्रह-विशेषम् **'उवसंपज्जित्ता णं'** उपसपद्य स्वीकृत्य **'विहरेज्जा'** विहरेत् **'से य'** स चैकाकिविहारी **'इछेज्जा'** स्वकीयं गणं स्मरन् इच्छेत्, किमिच्छेदित्याह—**'दोच्चंपि तमेव गणं उवसंपज्जित्ता णं विरहित्तए'** द्वितीयमपि वारम् एकवारं पूर्वं प्रव्रज्याप्रत्तिपत्तिकाले आश्रितवान् इदानीं तु द्वितीयं वारम् अत एव कथितं द्वितीयमपि वार तमेव आत्मीयं पूर्वत्यक्तं गणमेव उपसंपद्य स्वीकृत्य पुनर्विह-र्त्तुम् तदा किं कुर्यात् पूर्वगच्छस्थित आचार्यादिः ? तत्राह—**'अत्थि या इत्थ सेसे'** अस्ति चात्र तस्मिन् मुनौ शेषम् अवशिष्टं चारित्रं भवेत् तदा **'पुणो आलोएज्जा'** पुनरालोचयेत् आचा-र्यादिः पुनस्तमेकाकिविहारप्रतिमाजातमतीचारमालोचयेत् पापस्यालोचनां कारयेत्, तस्य स्वकीयं पापं प्रकटं कारयेदित्यर्थः । आलोचनानन्तरं **'पुणो पडिकमेज्जा'** पुनः प्रतिक्रामयेत् पुनः पुनरकरणतया तस्मात् स्थानात् प्रत्यावर्तयेत् पुनरपि किमित्याह—**'पुणो छेयपरिहारस्स उवट्ठा-एज्जा'** पुनश्छेदपरिहारस्योपस्थापयेत्, छेदश्च परिहारश्चेति समाहारद्वन्द्वे छेदपरिहारं तस्य, तत्र छेदस्य दीक्षाछेदं कृत्वा तस्य परिहारस्य परिहारतपसो वा यथायोग्यं करणाय पुनरुपस्थापयेत् दीक्षाछेदं परिहारतपो वा आरोपयेदितिभावः । पूर्वं यदुक्तम्—'अत्थि या इत्थ सेसे' इति किञ्चिदवशिष्टे चारित्रभागेऽयं विधिरुक्तः, यदि सर्वमपि चारित्र नष्टं जात नावशिष्ट किञ्चित्तदा सर्वं पूर्वपर्यायं छित्वा पुनर्नूतने चारित्रे तमुपस्थापयेदिति निष्कर्ष इति । अत्र कोऽपि शङ्कते—यद्यपि प्रतिमाप्रतिपन्नस्य चारित्रविराधनायाः संभवः, न तु चारित्रं सर्वमपगतं किन्तु शेषमवतिष्ठते, व्यवहारनयमतेन देशभङ्गेन सर्वभङ्गाभावात्, ततश्चारित्रस्य शेषे सति 'पुन-रालोचयेत् पुनः प्रतिक्राम्येत्' इत्यत्र पुनः शब्दो न द्वितीयवारापेक्षः आलोचनाप्रतिक्रमणयोः पूर्वमकरणात्, एकवारं कृतं कार्यं द्वितीयवारं क्रियते तत्र पुनःशब्दः सापेक्षः, यथा च लोके वक्ति—'कृतमिदमेकवारमिदानीं पुनः क्रियते' इति, अत्र तु प्रथममेवाऽऽलोचनां प्रथममेव च

प्रतिक्रमणं ततः कथमत्र पुनः शब्दोपपत्तिः ? अत्रोच्यते–भिक्षुस्वभावस्य ऋजुत्वेन स यत्रैव स्थानेऽतिचारप्रसङ्गः समापतितस्तत्रैव स इत्थम् अचिन्तयत् यत् समापतितमतिचारजातं तदत्रैव आलोचयामि प्रतिक्रमामि पश्चाद् गुरुसमक्षमालोचनां प्रतिक्रमणं च करिष्यामीति । एवं चिन्तयित्वा पूर्वगच्छे आगच्छति ततो घटते एवात्र पुनः शब्दोपादानमिति । अथवा गच्छाद् गतस्य पुनस्तत्रागमनापेक्षया पुनः शब्दोपादानम् तथाहि–'**पुणो आलोएज्जा**' पुनरिति गत्वा पुनः प्रत्यावर्तितस्य आलोचनां कारयेत् युक्तमेव पुनःशब्दोपादानम् नहि तीर्थंकरा एकमक्षरमपि व्यर्थं भाषन्ते इति । एवं पुनरपि स्वगच्छे प्रतिनिवृत्तं साधुं गच्छस्था मुनयो न निन्देयुः न गर्हेरन् यथा–'समाप्तिं नीताऽनेन प्रतिमा, सांप्रतं पुनरागतो वर्त्तते' इत्यादिवाक्यैः प्रतिनिवृत्तस्य निन्दां गर्हां न कुर्युः, तस्य शुभपरिणामवत्त्वेन शोभनाध्यवसायवत्त्वेन च प्रतिनिवृत्तत्वादिति ॥ सू० २५ ॥

पूर्वं भिक्षुसूत्रमुक्त्वा सम्प्रति गणावच्छेदकाऽऽचार्योपाध्याययोः सूत्रद्वयमाह–'**गणावच्छेयए य**' इत्यादि '**आयरिय उवज्झाए**' इत्यादि ।

सूत्रम्—गणावच्छेयएय गणाओ अवक्कम्म एगल्लविहारपडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरेज्जा, से इच्छेज्जा दोच्चंपि तमेव गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए पुणो आलोएज्जा पुणो पडिक्कमेज्जा पुणो छेयपरिहारस्स उवट्ठावेज्जा ॥ सू० २६ ॥

आयरियउवज्झाए य गणाओ अवक्कम्म एगल्लविहारपडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरेज्जा से इच्छेज्जा दोच्चंपि तमेव गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए पुणो आलोएज्जा पुणो पडिक्कमेज्जा पुणो छेयपरिहारस्स उवट्ठाएज्जा ॥ सू० २७ ॥

छाया—गणावच्छेदकश्च गणादवक्रम्य एकाकिविहारप्रतिमामुपसंपद्य खलु विहरेत्, स इच्छेत् द्वितीयमपि तमेव गणमुपसंपद्य खलु विहर्त्तुम् पुनरालोचयेत् पुनः प्रतिक्रामेत् पुनः छेदपरिहारस्य उपस्थापयेत् ॥ सू० २६ ॥

आचार्योपाध्यायश्च गणादवक्रम्य एकाकिविहारप्रतिमामुपसंपद्य खलु विहरेत् स इच्छेत् द्वितीयमपि तमेव गणमुपसंपद्य खलु विहर्त्तुं पुनरालोचयेत् पुनः प्रतिक्रामेत् पुनः छेदपरिहारस्य उपस्थापयेत् ॥ सू० २७ ॥

भाष्यम्—'गणावच्छेयए य' इति । 'आयरियउवज्झाए य' इति च । एतत् सूत्रद्वयमपि भिक्षुसूत्रवदेव व्याख्येयं, विशेषः केवलमेतावानेव यत् गणावच्छेदक एकाकिविहारप्रतिमाप्रतिपत्तिकाले गणावच्छेदकत्वं स्वपदं मुक्त्वा प्रतिमां प्रतिपद्यते, आचार्योऽन्यं गणधरं स्वपदे स्थापयित्वा प्रतिमां प्रतिपद्यते इति । शेषं सर्वं सूत्रद्वयं भिक्षुसूत्रवदेव ज्ञातव्यम् । अथवा भिक्षुसूत्रादिदं नानात्वं यत् गणावच्छेदक आचार्यश्च प्रतिमाप्रतिपत्तिकाले पूर्वगृहीतमुपधिं निक्षिप्यान्यमुपधिं प्रायोग्यमुत्पाद्य प्रतिमां प्रतिपद्यते इति, शेषं पूर्ववदेव । सू० २६, २७ ॥

सूत्रम्—भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म पासत्थविहारपडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरेज्जा से य इच्छेज्जा दोच्चंपि तमेव गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, अत्थि या इत्थ सेसे पुणो आलोएज्जा पुणो पडिक्कमेज्जा पुणो छेयस्स वा परिहारस्स वा उवट्ठावेज्जा ॥सू० २८॥

छाया—भिक्षुश्च गणादवक्रम्य पार्श्वस्थविहारप्रतिमामुपसंपद्य खलु विहरेत्, स च इच्छेत् द्वितीयमपि तमेव गणमुपसंपद्य खलु विहर्त्तुम्, अस्ति चात्र शेषं पुनरालोचयेत् पुनः प्रतिक्रामेत् पुनश्छेदस्य वा परिहारस्य वा उपस्थापयेत् ॥ सू० २८ ॥

भाष्यम्—'भिक्खू य' इति। भिक्खू 'य' यः कश्चिद् भिक्षुश्च **'गणाओ अवक्कम्म'** गणात् स्वगच्छात् अपक्रम्य बहिर्निर्गत्य, **'पासत्थविहारपडिमं'** पार्श्वस्थविहारप्रतिमाम्, पार्श्वस्थस्य, पार्श्वे ज्ञानादीनां समीपे नतु ज्ञानादिषु तिष्ठतीति पार्श्वस्थः, अथवा अस्य पाशस्थ इतिच्छाया, तत्र पाशाः बन्धहेतुभूता मिथ्यात्वादयः, तेषु तिष्ठतीति पाशस्थः चारित्राचारशिथिलस्तस्यप्रतिमा-तद्विषयाऽवस्था, ताम् **'उवसंपज्जित्ता णं'** उपसंपद्य प्रतिपद्य खलु **'विहरेज्जा'** विहरेत्। **'से य इच्छेज्जा दोच्चंपि तमेव गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए'** स च पार्श्वस्थचर्यारतो भूत्वा भूयोऽपि भावपरावृत्त्या इच्छेत् द्वितीयमपि वारं गणं स्वगणं यस्मिन् गणे पूर्वमासीत् तमेव गणं गच्छमुपसंपद्य सम्प्राप्य विहर्त्तुं स्थातुम् इच्छेत् तदा **'अत्थि या इत्थ सेसे'** अस्ति चेदत्र शेषं चारित्रांशो विद्यमानस्तदा गच्छागतं तं **'पुणो'** पुनरागतत्वात् **'आलोएज्जा'** तस्याऽपराधजातस्याऽऽलोचनामाचार्यादिः कारयेत् **'पुणो पडिक्कमेज्जा'** पुनः प्रतिक्रामेत् पुनरकरणतया पापात् प्रत्यावर्त्तयेत् **'पुणो छेयस्स परिहारस्स वा उवट्ठावएज्जा'** ततः पुनः छेदस्य वा परिहारस्य वा उपस्थापयेत् छेदस्य दीक्षाछेदस्य स्वीकाराय परिहारतपसो वा करणाय प्रवर्त्तयेदिति भावः। यदि तस्य चारित्रं सर्वथा नष्टं भवेत्तदा पुनः पञ्चमहाव्रतेषु उपस्थापयेदिति विवेकः ॥सू० २८॥

इदं सूत्रं पार्श्वस्थविषयकम्। एवं यथाछन्दे, कुशीले, अवसन्ने, संसक्ते चाऽपि चत्वारि सूत्राणि वक्तव्यानि **'जे भिक्खू० अहाछंद०** इत्यादि **'जेभिखू० संसत्त०'** पर्यन्तम् ॥सू०२९-३२

सूत्रम्—भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म जहाछंदविहारपडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरेज्जा से य इच्छेज्जा दोच्चंपि तमेव गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, अत्थि या इत्थ सेसे पुणो आलोएज्जा पुणो पडिक्कमेज्जा पुणो छेयस्स वा परिहारस्स वा उवट्ठावेज्जा ॥ सू० २९ ॥

भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म कुसीलविहारपडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरेज्जा से य इच्छेज्जा दोच्चंपि तमेव गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए अत्थि या इत्थ सेसे पुणो आलोएज्जा, पुणो पडिक्कमेज्जा पुणो छेयस्स वा परिहारस्स वा उवट्ठावेज्जा ॥ सू० ३० ॥

भिक्खू य गणाओ अवकम्म ओसन्नविहारपडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरेज्जा से य इच्छेज्जा दोच्चंपि तमेव गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए अत्थि या इत्थ सेसे पुणो आलोएज्जा पुणो पडिक्कमेज्जा पुणो छेयस्स वा परिहारस्स वा उवट्ठावेज्जा ॥ सू० ३१ ॥

भिक्खू य गणाओ अवकम्म संसत्तविहारपडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरेज्जा से य इच्छेज्जा दोच्चंपि तमेव गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए अत्थि या इत्थ सेसे पुणो आलोएज्जा पुणो पडिक्कमेज्जा पुणो छेयस्स परिहारस्स वा उवट्ठावेज्जा ॥ सू० ३२ ॥

छाया—भिक्षुश्च गणादवक्रम्य यथाछन्दविहारप्रतिमामुपसंपद्य खलु विहरेत् स च इच्छेत् द्वितीयमपि तमेव गणमुपसंपद्य खलु विहर्त्तुम्, अस्ति चात्र शेषं पुनरालोचयेत पुनः प्रतिक्रामेत् पुनश्छेदस्य वा परिहारस्य वा उपस्थापयेत् ॥ सू० २९ ॥

भिक्षुश्च गणादवक्रम्य कुशीलविहारप्रतिमामुपसंपद्य खलु विहरेत् स चेच्छेद् द्वितीयमपि तमेव गणमुपसंपश्च खलु विहर्त्तुम्, अस्ति चात्र शेषं पुनरालोचयेत् पुनः प्रतिक्रामेत् पुनश्छेदस्य वा परिहारस्य वा उपस्थापयेत् ॥ सू० ३० ॥

भिक्षुश्च गणादवक्रम्य अवसन्नविहारप्रतिमामुपसंपद्य खलु विहरेत् स चेच्छेत् द्वितीयमपि तमेव गणमुपसंपद्य खलु विहर्त्तुम् अस्ति चात्र शेषं पुनरालोचयेत् पुनः प्रतिक्रामेत् पुनश्छेदस्य वा परिहारस्य वा उपास्थापयेत् ॥ सू० ३१ ॥

भिक्षुश्च गणादवक्रम्य संसक्तविहारप्रतिमामुपसंपद्य खलु विहरेत् स चेच्छेत् द्वितीयमपि तमेव गणमुपसंपद्य विहर्त्तुम् अस्ति चात्र शेषं पुनरालोचयेत् पुनः प्रतिक्रामेत् पुनश्छेदस्य वा परिहारस्य वा उपस्थापयेत् ॥ सू० ३२ ॥

भाष्यम्—'भिक्खू य गणाओ' इति । एतानि चत्वारि सूत्राणि पार्श्वस्थविहारप्रतिमासूत्रवदेव व्याख्येयानि नवरं विशेषः केवलमेतावानेव यदत्र यथाछन्दादयश्चत्वारो वाच्याः । 'अहाछंदो' त्ति यथाछन्दः छन्दोऽभिप्राय इच्छा वा, यथा- स्वाभिप्रायानुसारं स्वेच्छानुसारं वा यथैव स्वस्याभिप्रायः यथैव वा स्वस्येच्छा तथैव यो विचरति स यथाछन्दः आगमनिरपेक्षवर्त्तनशील इत्यर्थः ॥ सू० २९॥

'कुसीले'—त्ति कुशीलः कुत्सितम् आगमतिपिद्धं शीलम् आचारः समितिगुप्त्यादिरूपो विद्यते यस्य स कुशीलः ॥ सू० ३० ॥

'ओसण्णे'—त्ति अवसन्नः, 'काले विणए' इत्यादिरूपज्ञानादिसामा चार्यासेवने अवसीदति दुःखमनुभवति, अथवा सामाचारी वितथाम् असत्यां कुर्वन् वर्त्तते सः साध्वाचारपालने औदासीन्यवान् साध्वाचारपालननिरपेक्ष इत्यर्थः ॥ सू० ३१ ॥

'संसत्ते' त्ति संसक्तः ससक्त इव संसक्तः पार्श्वस्थादीनां संविग्नानां वा सांनिध्यमासाद्य तत्तद्रूपेण संनिहितदोषगुणः तत्रैव संसक्तो भवति यथा पार्श्वस्थादिषु मिलितः पार्श्वस्थसदृशो

भवति, संविग्नेषु मिलितश्च संविग्नसदृशो भवति बहुरूपनट इव यथावसरवर्त्तनशील इति भावः स च संक्लिष्टासंक्लिष्टभेदेन द्विविधः, तत्र–संक्लिष्टसंसक्तस्वरूपमाह—

गाथा–पंचासवप्पवत्तो जो, गारवत्तिगसंजुओ ।
इत्थीगिहिसु संवद्धो, संसत्तो संकिलिट्ठगो ॥१॥

छाया—पञ्चाश्रवप्रवृत्तो यो गौरवत्रिकसंयुतः ।
स्त्रीगृहिषु संवद्धः संसक्तः संक्लिष्टकः ॥१॥

यः पञ्चसु आश्रवेषु हिंसादिषु प्रवृत्तः स पञ्चाश्रवप्रवृत्तः–हिंसाद्याश्रवेषु प्रवर्त्तनशीलः, गौरवत्रिकेन ऋद्धिरससातरूपेण संयुतः सहितः, तथा स्त्रीषु स्त्रीरूपेषु गृहिषु पूर्वपश्चात्संस्तुतेषु गृहस्थेषु सम्बद्धः स्त्रीगृहिभिः सह सम्बन्धकारको भवति स संक्लिष्टः संसक्तो ज्ञातव्य इति ॥ १ ॥

अथाऽसंक्लिष्टसंसक्तस्य स्वरूप गाथाद्वयेनाह—

गाथा–पासत्थे पासत्थो, अहछंदे होइ सोवि अहछंदो ।
एवं कुसीलमज्झे, ओसन्ने यावि एमेव ॥१॥
संसत्ते संसत्तो, पियधम्मे होइ सोवि पियधम्मो ।
एवं असंकिलिट्ठो, संसत्तो सो मुणेयव्वो ॥२॥

छाया—पार्श्वस्थे पार्श्वस्थो, (भवति), यथाछन्दे भवति सोऽपि यथाछन्दः ।
एवं कुसीलमध्ये, अवसन्ने चापि एवमेव ॥ १ ॥
संसक्ते संसक्तः प्रियधर्मणि भवति सोऽपि प्रियधर्मा ।
एवमसंक्लिष्टः संसक्तः स ज्ञातव्यः॥ २ ॥
अनयोरर्थश्छायागम्य इति न विव्रियते इति ।

अत्रेदं विज्ञेयम्—पार्श्वस्थस्य यत्र स्थाने यत् प्रायश्चित्तं कथितं तस्मिन्नेव स्थाने यथाछन्दस्य प्रायश्चित्तं विवर्धयेत् 'अहाछदे विवड्ढेज्जा' इति वचनात्, कथमेवं क्रियते ? आगम–निरपेक्षवर्त्तित्वेन कुप्ररूपणाप्ररूपको भवति, कुप्ररूपणाया बहुदोषत्वात्तस्य प्रायश्चित्ताधिक्यं प्रोक्तम् । अत्राऽयं विवेकः–पार्श्वस्थत्वं भिक्षुगणावच्छेदकाचार्योपाध्यायानां सर्वेषामपि संभवति, यथाछन्दत्वं तु केवलं भिक्षोरेव भवति ततः पार्श्वस्थविषयकं सूत्रं त्रिसूत्रात्मकं भवति, यथाछन्दसूत्रं तु एकरूपमेवेति ॥ सू० २९–३२ ॥

सूत्रम्—भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म परपासंडपडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरेज्जा से य इच्छेज्जा दोच्चंपि तमेव गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, नत्थि णं तस्स तप्पत्तिए केइ छेए वा परिहारे वा नन्नत्थ एगाए आलोयणाए ॥ सू० ३३ ॥

छाया—भिक्षुश्च गणादवक्रम्य परपाषण्डप्रतिमामुपसंपद्य खलु विहरेत्, स चेच्छेत् द्वितीयमपि तमेव गणमुपसंपद्य खलु विहर्त्तुम्, नास्ति खलु तस्य तत्प्रत्ययिकः कश्चित् छेदो वा परिहारो वा नाऽन्यत्र एकया आलोचनया ॥ सू० २२ ॥

भाष्यम्—'भिक्खू य' इति । 'भिक्खू य' यः कश्चिद् भिक्षुः राजाद्युपप्लवाऽशिवादिकारणात् 'गणाओ अवक्कम्म' गणात् स्वकीयगच्छात् अपक्रम्य पृथग्भूतो निस्सृत्येत्यर्थः 'परपासंडपडिमं उवसंपज्जित्ता णं' परपाषण्डप्रतिमां स्वकीयलिङ्गं परित्यज्य अन्यदीयं परदार्शनिकलिङ्गम् उपसंपद्य स्वीकृत्य खलु 'विहरेज्जा' विहरेत् यथावसरमुपद्रवकाले परकीयं लिङ्गं स्वीकृत्याऽपि अन्तःकरणेन पञ्चमहाव्रत पालयन् विहरन् 'से य इच्छेज्जा' स च परित्यक्तस्वकीयवेषो गृहीतपरकीयवेषः, अन्तर्भावितचारित्रः, स यदि 'दोच्चंपि' द्वितीयमपि वारं 'तमेव गणं उवसंपज्जित्ता णं' लिङ्गपरिवर्त्तनकारणे परिसमाप्ते सति तमेव गणं यस्मिन् गणे पूर्वमासीत् तमेव गच्छं पुनरपि उपसंपद्य प्राप्य खलु विहर्त्तुम् इच्छेत्-वाञ्छेत् तदा 'नत्थि णं तस्स तप्पत्तिए' नास्ति खलु तस्य कारणवशात् स्वलिङ्गं परित्यज्य परपाषण्डलिङ्गं स्वीकृत्य पुनरपि स्वगच्छे समागच्छतः तत्प्रत्ययिकः परपाषण्डप्रतिमाग्रहणनिमित्तकः 'केइ छेए वा परिहारे वा' कश्चिच्छेदो वा परिहारो वा, तस्य तन्मूलकं छेदनामकं परिहारनामकं वा प्रायश्चित्तं न भवतीत्यर्थः । तत् किमत्र सर्वथैव प्रायश्चित्ताऽभावः ? तत्राह—'नन्नत्थ एगाए आलोयणाए' नान्यत्रैकया आलोचनया, आलोचना गुरुसमीपे स्वदोषाणां प्रकटनरूपा, तां विहाय नान्यत् प्रायश्चित्तं भवति, इति आलोचनामात्रमेव तस्य प्रायश्चित्तं भवति । राजाऽशिवाद्युपद्रवकारणमाश्रित्य परकीयलिङ्गधारणेनापि तस्य भावचारित्रसद्भावात् । यदि भिक्षुः रागद्वेषादिकारणेन स्वकीयगणादवक्रम्य परपाषण्डलिङ्गम् उपसंपद्य विहरेत्, कषायकारणे परिसमाप्ते सति द्वितीयमपि वारं तमेव गणमुपसंपद्य विहर्त्तुमिच्छेत्, अथैवं कुर्वतस्तस्य छेदो वा परिहारो वा प्रायश्चित्तमापद्येत अन्यदपि प्रायश्चित्तं भवति रागद्वेषादि—कारणतः परकीयलिङ्गस्य धारणात्, तादृशस्य परकीयलिङ्गप्रतिपत्तौ संयमयतनाया असंभवाच्चेति विवेकः ।

अत्रेदं बोध्यम्—भिक्षुः तादृशस्य परपाषण्डस्य वेषं गृह्णाति यस्मिन् क्षेत्रे साधवो विचरन्ति तत्रत्यो राजा यस्य परपाषण्डस्य मतावलम्बी भवेत् एवं करणे राजा भिक्षुं नोपद्रवति । कियत्कालपर्यन्तं तं लिङ्गं धारयेदित्याह—यावत्कालपर्यन्तं तत्र राजाद्युपद्रवो नोपशाम्यति तावत्कालपर्यन्तं तल्लिङ्गधारणमावश्यकम् । तथा—उपशान्तेऽपि राजाद्युपद्रवे यावत्कालं साधर्मिकाणां सार्थो न मिलति तावत्कालं तेनैव लिङ्गेन कालक्षेपं कुर्यात्, तत्क्षेत्रस्य सहसा त्यक्तुमशक्यत्वात् । कथितं च भगवतीसूत्रस्य पञ्चविंशतितमे शतके संजयाधिकारे—'गृहस्थलिङ्गेऽन्यलिङ्गे वा छेदोपस्थापनीयं चारित्रं लभ्यते' इति । कारणमाश्रित्य लिङ्गं मुक्तवान् किन्तु यस्य चारित्रं निर्दोषं वर्त्तते

स तत्र यदि कस्यापि नवदीक्षितस्य छेदोपस्थापनीयसम्बधी कालः समाप्तो भवेत्तदा तल्लिङ्ग-स्थितस्यैव निर्ग्रन्था(नियंठा)पेक्षया, तथा स्थानाङ्गकथितचतुर्भङ्गयपेक्षया च त नवदीक्षितं चारित्रे स्थापयितुं कल्पते इति । अत्रेद तात्पर्यम्—पार्श्वस्थादिससक्तपर्यन्तानि पञ्च सूत्राणि भाव-लिङ्गपरित्यागविषयकाणि ततस्तत्र प्रायश्चित्तदानमभिहितम्, इद परपाषण्डप्रतिमासूत्रं तु द्रव्यलिङ्गपरित्यागविषयकमतोऽत्रालोचनां मुक्त्वा नान्यत् प्रायश्चितं प्रतिपादितम् ॥ सू० ३३ ॥

पूर्वं भावलिङ्गद्रव्यलिङ्गपरित्यागे विधि. प्रोक्तः, साम्प्रतं द्रव्यभावोभयलिङ्गं परित्यज्य गतस्य तत्रैव गणे पुनरागन्तुमिच्छतो विधिमाह—'भिक्खू य' इत्यादि ।

सूत्रम्—भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म ओहावेज्जा, से य इच्छेज्जा दोच्चंपि तमेव गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, नत्थि णं तस्स तप्पत्तिए केइ छेए वा परिहारे वा नन्नत्थ एगाए सेहोवट्ठावणियाए ॥ सू० ३४ ॥

छाया—भिक्षुश्च गणादवक्रम्याऽवधावेत् स चेच्छेत् द्वितीयमपि तमेव गणमुपसंपद्य खलु विहर्तुं नास्ति खलु तस्य तत्प्रत्ययिकः कश्चित् छेदो वा परिहारो वा नान्यत्र एकया शैक्षोपस्थापनिकया ॥ सू० ३४ ॥

भाष्यम्—'भिक्खू य' इति । **'भिक्खू य'** यः कश्चिद् भिक्षुः **'गणाओ अवकम्म'** गणादप-क्रम्य गणात् स्वकीयगच्छात् अपक्रम्य निर्गत्य **'ओहावेज्जा'** अवधावेत् पञ्चमहाव्रतपर्यायात् पराङ्-मुखो भूत्वा गृहस्थपर्यायं प्रति गच्छेदित्यर्थः **'से य इच्छेज्जा'** स चेच्छेत् यः गृहस्थपर्यायमाश्रितः स पुनरपि साधूना सदुपदेशात् भाग्यवशाच्च भावपरावर्त्तनेन इच्छेत् **'दोच्चंपि तमेव गणं'** द्वितीयमपि वारं तमेव गणम् **'उपसपज्जित्ता णं विहरित्तए'** उपसंपद्य स्वीकृत्य विहर्तुं पुनः तत्रैव गणेदीक्षां गृहीत्वा संयमयात्रां निर्वाहयितुमिच्छेत्, पुनरागमनप्रश्ने कीदृश प्रायश्चित्तं दातव्यम् ? न वा दातव्यम् ? इत्याह—**'णत्थि णं तस्स'** नास्ति खलु तस्य **'तप्पत्तइए'** तत्प्रत्ययिकः संयमत्यागनिमित्तकः **'केइ छेए वा परिहारे वा'** कश्चित् छेदो वा परिहारो वा, न भवति खलु तस्य कश्चित् छेदनामकं परिहारनामकं वा प्रायश्चित्तं, तस्मिन् छेदपरिहारप्रायश्चित्तस्य कारणाभावात् । तर्हि किं कर्त्तव्यम् ? इत्याह—**'णण्णत्थ एगाए सेहोवट्ठावणियाए'** नान्यत्र एकया शैक्षोपस्थाप-निकया तस्य शैक्षोपस्थापनिका विहाय नान्यत् किमपि प्रायश्चित्त दात्तव्य स्यात्, मूलत एव तस्मै पुनर्नूतनामेव दीक्षां दद्यात, तस्य सर्वथा गृहस्थपर्यायस्वीकृतत्वादिति ॥ सू० ३४ ॥

पूर्वं पार्श्वस्थादिप्रतिमाविषये आलोचनाविधिः प्रोक्त., साम्प्रत भिक्षुणा अकृत्यस्थाने सेविते तस्यालोचनादिकं कस्य पार्श्वे कर्तव्यम् ? इति तद्विधिमाह—'भिक्खू य' इत्यादि ।

सूत्रम्—भिक्खू य अन्नयरं अकिच्चट्ठाणं सेवित्ता इच्छेज्जा आलोइत्तए जत्थेव अप्पणो आयरियउवज्झाए पासेज्जा तेसंतियं आलोएज्जा पडिक्कमेज्जा निंदेज्जा गरहेज्जा विउट्टेज्जा विसोहेज्जा अकरणयाए अब्भुट्ठेज्जा अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जेज्जा (१)।

नो चेव अप्पणो आयरियउवज्झाए जत्थेव संभोइयं साहम्मियं पासेज्जा बहुस्सुयं बब्भागमं तस्संतियं आलोएज्जा पडिक्कमेज्जा निंदेज्जा गरहेज्जा विउट्टेज्जा विसोहेज्जा अकरणयाए अब्भुट्ठेज्जा अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जेज्जा (२)।

नो चेव संभोइयं साहम्मियं, जत्थेव अन्नसंभोइयं साहम्मियं पासेज्जा बहुस्सुयं बब्भागमं तस्संतियं आलोएज्जा पडिक्कमेज्जा निंदेज्जा गरहेज्जा विउट्टेज्जा विसोहेज्जा अकरणयाए अब्भुट्ठेज्जा अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जेज्जा (३)।

नो चेव अन्नसंभोइयं जत्थेव सारूवियं पासेज्जा बहुस्सुयं बब्भागमं तस्संतियं आलोएज्जा पडिक्कमेज्जा निंदेज्जा गरहेज्जा विउट्टेज्जा विसोहेज्जा अकरणयाए अब्भुट्ठेज्जा अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जेज्जा (४)।

नो चेव सारूवियं पासेज्जा बहुस्सुयं बब्भागमं जत्थेव समणोवासगं पच्छाकडं पासेज्जा बहुस्सुयं बब्भागमंतस्संतिए आलोएज्जा पडिक्कमेज्जा निंदेज्जा गरहेज्जा विउट्टेज्जा विसोहेज्जा अकरणयाए अब्भुट्ठेज्जा अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जेज्जा(५)।

नो चेव समणोवासगं पच्छाकडं पासेज्जा बहुस्सुयं बभाग्गमं जत्थेव सम्मंभावियाइं चेइयाइं पासेज्जा तेसंतिए आलोएज्जा पडिक्कमेज्जा निंदेज्जा गरहेज्जा विउट्टेज्जा विसोहेज्जा अकरणयाए अब्भुट्ठेज्जा अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जेज्जा (६)।

नो चेव सम्मंभावियाइं चेइयाइं पासेज्जा, बहिया गामस्स वा नगरस्स वा निगमस्स वा रायहाणीए वा खेडस्स वा कव्वडस्स वा मडंवस्स वा पट्टणस्स वा दोण मुहस्स वा आसमस्स वा संवाहस्स वा संनिवेसस्स वा पाईणाभिमुहे वाउदीणाभिमुहे वा करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वएज्जा—एवइया मे अवराहा एवइक्खुत्तो अहं अवरद्धो अरहंताणं सिद्धाणं अंतिए आलोएज्जा पडिक्कमेज्जा निंदेज्जा गरहेज्जा विउट्टेज्जा विसोहेज्जा अकरणयाए अब्भुट्ठेज्जा अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जेज्जासि (७) त्ति बेमि ॥ सू० ३५ ॥

छाया—भिक्षुश्चाऽन्यतरमकृत्यस्थानं सेवित्वा इच्छेदालोचयितुं यत्रैवात्मन आचार्योपाध्यायान् पश्येत् तेषाम् अन्तिके प्रतिक्रामेत् निंदेत् गर्हेत व्यावर्त्तेत विशोधयेत् अकरणतयाऽभ्युत्तिष्ठेत् यथार्हं तपःकर्म प्रायश्चित्तं प्रतिपद्येत १। नो चैवात्मन आचार्योपाध्यायान् यत्रैव सांभोगिक साधर्मिकं पश्येत् बहुश्रुतं बह्वागमं तस्य अन्तिके आलोचयेत् प्रतिक्रामेत् निंदेत् गर्हेत व्यावर्त्तेत विशोधयेत् अकरणतया अभ्युत्तिष्ठेत् यथार्हं तपःकर्म प्रायश्चितं प्रतिपद्येत २। नो चैव सांभोगिकं साधर्मिकं यत्रैवाऽन्यसांभोगिकं साधर्मिकं पश्येत् बहुश्रुतं बह्वागमं तस्य अन्तिके आलोचयेत् प्रतिक्रामेत् निंदेत् गर्हेत व्यावर्त्तेत विशोधयेत् अकरणतया अभ्युत्तिष्ठेत् यथार्हं तपःकर्म प्रायश्चित्तं प्रतिपद्येत ३। नो चैवान्यसांभोगिकं यत्रैव सारूपिकं पश्येत् बहुश्रुतं बह्वागम तस्य अन्तिके आलोचयेत् प्रतिक्रामेत् निन्देत् गर्हेत व्यावर्त्तेत विशोधयेत् अकरणतया अभ्युत्तिष्ठेत् यथार्हं तपःकर्म प्रायश्चित्तं प्रतिपद्येत ४। नो चैव सारूपिकं यत्रैव श्रमणोपासकं पश्चात्कृतं पश्येत् बहुश्रुतं बह्वागमं कल्पते तस्यान्तिके आलोचयेत् प्रतिक्रामेत् निंदेत् गर्हेत व्यावर्त्तेत विशोधयेत् अकरणतया अभ्युत्तिष्ठेत् यथार्हं तपःकर्म प्रायश्चित्तं प्रतिपद्येत ५। नो चैव श्रमणोपासकं पश्चात्कृत यत्रैव सम्यग्भावितानि चैत्यानि पश्येत् तेषाम् अन्तिके आलोचयेत् प्रतिक्रामेत् निंदेत् गर्हेत व्यावर्त्तेत विशोधयेत् अकरणतया अभ्युत्तिष्ठेत् यथार्हं तपःकर्म प्रायश्चित्तं प्रतिपद्येत ६। नो चैव सम्यग्भावितानि चैत्यानि पश्येत् बहिर्ग्रामस्य वा नगरस्य वा निगमस्य वा राजधान्या वा खेटस्य वा कर्वटस्य वा मडम्बस्य वा पत्तनस्य वा द्रोणमुखस्य वा आश्रमस्य वा संवाधस्य वा संनिवेशस्य वा प्राचीनाभिमुखो वा उदीचीनाभिमुखो वा करतलपरिगृहीतं शिरआवर्त्तं मस्तके अंजलिं कृत्वा एवं वदेत्-एतावंतो मेऽपराधाः एतावत्कृत्वः अहमपराद्धः, अर्हतां सिद्धानाम् अन्तिके आलोचयेत् प्रतिक्रामेत् निंदेत् गर्हेत व्यावर्त्तेत विशोधयेत् अकरणतयाऽभ्युत्तिष्ठेत् यथार्हं तपःकर्म प्रायश्चित्तं प्रतिपद्येत ७ इति ब्रवीमि ॥ ० ३५॥

॥ इति प्रथमोद्देशः समाप्तः ॥१॥

भाष्यम्—'भिक्खू य अन्नयरं' इति। 'भिक्खू य अन्नयरं' भिक्षुश्च अन्यतरत् अनेकेषु प्राणातिपातादिष्वकृत्येषु मध्ये यत्किमप्येकम् 'अकिच्चट्ठाणं' अकृत्यस्थानं कर्तुमयोग्यमकृत्यम्, अकृत्यं च तत्स्थानमकृत्यस्थानं प्राणातिपातादिलक्षणम् 'सेवित्ता' सेवित्वा 'इच्छेज्जा' इच्छेत् अभिलषेत् 'आलोइत्तए' आलोचयितुं पापस्यालोचना कर्तुमिच्छेत् तथाहि—मोहनीयकर्मोदयाद्वा प्राणातिपातादिलक्षणस्याऽकृत्यस्य प्रतिसेवनं कृत्वा विगलितप्रमादो दुष्कृतकर्मणः कटुविपाकमालोच्य तादृशकर्ममलमपनेतुं तस्य कर्मणः प्रायश्चित्तं ग्रहीतुमिच्छेदिति।

सत्यामप्यालोचनेच्छायां कुत्र कस्याग्रे आलोचनां कुर्यादिति जिज्ञासायामाह—'जत्थेव' यत्रैव स्थानविशेषे ग्रामादौ उपाश्रयविशेषे वा 'अप्पणो आयरियउवज्झाए पासेज्जा' आत्मन आचार्योपाध्यायान् पश्येत् स च आलोचनां कर्तुमिच्छुः आत्मनः स्वकीयगणसम्बन्धिनो नतु परगणाऽवस्थितान् आचार्योपाध्यायान् पश्येत् अकृत्यस्य दूरीकरणे सत्कृत्यस्य च करणे काल-

क्षेपस्य अयोग्यत्वात् 'तेसंतियं आलोएज्जा' तेषाम् अन्तिके आलोचयेत् तेषामाचार्योपाध्यायानामन्तिके समीपे आलोचयेत् आलोचनां कुर्यात् आचार्योपाध्यायानां समीपे स्वकृताऽतिचारजातं म्लायता वदनेन वचनद्वारा नतु भावभङ्गया जनान्तरमुखेन वा प्रकटीकुर्यात् । 'पडिक्कमेज्जा' प्रतिक्रामेत् पापात् प्रत्यावर्त्तितुं मिथ्यादुष्कृत दद्यात् 'निंदेज्जा' निंद्यात् स्वोपार्जितपापकर्मणः स्वात्मानमेव साक्षीकृत्य निन्दां कुर्यात् 'गरहेज्जा' गर्हेत गुरुं साक्षिकं विनिर्माय स्वकृतपापकर्मणो जुगुप्सां कुर्यात्, सर्वत्रापि निन्दनं गर्हणं च एतदुभयमपि परमार्थतस्तदैव भवति यदा पुनः तादृशकर्मकरणत सर्वथैव प्रतिनिवर्त्तेते तत आह—'विउट्टेज्जा' व्यावर्त्तेत तस्मादकृत्यप्रतिसेवनात् सर्वथैव प्रतिनिवृत्तो भवेत् । प्रतिनिवर्त्तनेऽपि पापकर्मकरणतस्तादृशात्पापात् तदा मुच्यते यदा स्वकीयात्मनो विशोधिर्भवति, आत्मनो विशुद्धयभावे प्रतिनिवर्त्तनमपि निरर्थकमेवेत्याह—'विसोहेज्जा' विशोधयेदात्मान, पापमलप्रक्षालनेनाऽत्मान निर्मलीकुर्यात् । यथा भूमिलुठिताश्व उत्थाय शरीरसंलग्नरजोऽङ्गानि विधूय पूर्वापररजोनिर्गमेन निर्मलीभवति तथैव भिक्षुः पापरजो विधूय निर्मलीभवेत्, सेयमात्मनो विशुद्धिः कृतस्य पापस्याऽपुनःकरणतायामेव सभवति, अन्यथा कृतकर्मणः पुनःकरणतायामात्मविशुद्धेरसंभवात् तत्राह—'अकरणयाए अब्भुट्ठेज्जा' अकरणतया पुनरभ्युत्तिष्ठेत्-अकरणतया 'पुनरेवं न करिष्यामी'ति निश्चित्याऽभ्युत्तिष्ठेत् सावधानो भवेदित्यर्थः । पुनरकरणतया—अभ्युत्थानेऽपि पापाद्विशोधिः प्रायश्चित्तप्रतिपत्त्यैव भवति, नतु प्रायश्चित्तमन्तरेण पापापनोदनम्, अत आह—'अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जेज्जा' यथार्हं तपःकर्म प्रायश्चित्तं प्रतिपद्येत, यथार्हं यथायोग्यम् पापानुसारि येन पापनिवृत्तिर्भवेत्तादृशं तपःकर्म, तत्र तपोग्रहणमुपलक्षणं तेन छेदादिकं प्रायश्चित्तं पापनाशकं कर्म प्रतिपद्येत स्वीकुर्यात् १ । यदि आत्मीया आर्योपाध्याया न लभ्यन्ते तदा किं कुर्यात् ? तत्राह—

'नो चेव' इत्यादि 'नो चेव अप्पणो' नो चैव नैव यदि पुनः आत्मनः स्वगच्छस्य स्वगच्छसंवन्धिनः 'आयरियउवज्झाए' आचार्योपाध्याया आसन्नप्रदेशे न विद्यन्ते दूरादिदेशव्यवधानतो वा तान् न पश्येत् तदा—'जत्थेव संभोइयं साहम्मियं पासेज्जा' यत्रैव सांभोगिकं साधर्मिकं पश्येत्, आचार्योपाध्यायानामलाभे यत्रैव खलु स्थानविशेषे उपाश्रये वा सांभोगिकं सामानसामाचारीकं साधर्मिकं पश्येत्, कीदृशगुणसंपन्नं साधर्मिकम् ? तत्राह—'बहुस्सुयं' इत्यादि । 'बहुस्सुयं-बब्भागमं' बहुश्रुतं बह्वागमं, तत्र बहुश्रुतं नामाऽनेकविधछेदादिसूत्रमर्मकुशलम् उद्यतविहारिणं क्रियापात्रं, बह्वागमं सूत्रतोऽर्थतश्च प्रभूतागमज्ञातारं पश्येत्, 'तस्संतियं आलोएज्जा' तस्याऽन्तिके आलोचयेत इत्यादि यथार्हं तपःकर्म प्रायश्चित्तं प्रतिपद्येत, इतिपर्यन्तं पूर्ववद् व्याख्येयम् २ ।

'नो चेव संभोइयं साहम्मियं' नो चैव खलु नैव यदि खलु सांभोगिकं साधर्मिकं, यदि पुन. स्वकीयं सांभोगिकं साधर्मिकं बहुश्रुतं बह्वागमं न पश्येत्, तदा कस्य. समीपे आलोच-

नादिकं कर्त्तव्यम् ? तत्राह—'जत्थेव' इत्यादि । यदि पुनः सांभोगिकं साधर्मिकं न पश्येदालोचनार्थं तदा 'जत्थेव अन्नसंभोइयं साहम्मियं पासेज्जा' यत्रैवान्यसांभोगिकं साधर्मिकं पश्येत् तत्रैव स्थानविशेषे अन्यसांभोगिकम् अन्यगच्छीयं स्वसंभोगमर्यादाभिन्न किन्तु साधर्मिकं समानधर्मिकं जिनोक्तपञ्चमहाव्रताराधकं पश्येत्, तमपि कथम्भूतं साधर्मिक तत्राह—'बहुस्सुयं' इत्यादि 'बहुस्सुयं बब्भागमं' बहुश्रुत छेदादिप्रायश्चित्तसूत्रपठनपाठनकुशलं बह्वागम सूत्रार्थतः आगमज्ञानिनं पश्येत् 'तस्संतिए 'आलोएज्जा०' तस्यान्यसांभोगिकसाधर्मिकस्य सविधे आलोचयेत् इत्यादि सर्वं पूर्ववद् व्याख्येयम् ३ ।

'नो चेव अन्नसंभोइयं' नो चैव अन्यसांभोगिकं यदि पुनरन्यसांभोगिकं साधर्मिकं बहुश्रुतं बह्वागमं नो पश्येत् नो लभेत तदा 'जत्थेव सारूवियं पासेज्जा' यत्रैव स्थाने उपाश्रये वा सारूपिकं समानं रूप सरूप तत्र भवः सारूपिकः तं सारूपिकं स्वसमानवेषम्, स्वसमानालोचनाकरणेच्छुकं वा कश्चिन्मुनि पश्येत् कथम्भूतं सारूपिकम् ? तत्राह—'बहुस्सुयं' इत्यादि 'बहुस्सुयं बब्भागमं बहुश्रुतं बह्वागमं पूर्वोक्तप्रकारकं पश्येत् 'तस्संतियं आलोएज्जा०' तस्यामन्तिके आलोचयेत्, परस्परमालोचनां कुर्यात् इत्यादि पूर्ववदिति ४ ।

'नो चेव सारूवियं' नो चैव खलु सारूपिकं यदि पुनः सारूपिकं बहुश्रुतं बह्वागमं नैवं खलु पश्येत् नो लभेत तदा 'जत्थेव' यत्रैव स्थाने 'समणोवासगं पच्छाकडं पासेज्जा' श्रमणोपासक श्रावकं कीदृशम् ? 'पच्छाडं'—पश्चात्कृतं यः पूर्व साधुपर्याये स्थितः बहुश्रुतो बह्वागम आसीत् ततस्तं साधुपर्याय मुक्त्वा गृहस्थो भवति स पश्चात्कृतः कथ्यते, त पश्येत् कीदृशम् ? 'बहुस्सुयं बब्भागमं' बहुश्रुत बह्वागमं 'तस्संतिए' तस्यान्तिके 'आलोएज्जा०' आलोचयेत् आलोचनादि सर्वविधिं पूर्वोक्तप्रकारेणैव कुर्यात् ५ ।

'नो चेव समणोवासगं पच्छाकडं पासेज्जा' यदि पूर्वोक्तं श्रमणोपासकं पश्चात्कृतमपि न पश्येत् तदा—'जत्थेव सम्मंभावियाइं' यत्रैव खलु स्थानविशेषे सम्यग्भावितानि जिनवचनवासितान्तःकरणानि 'चेइयाइं' चैत्यानि 'चितिसं ज्ञाने' इति धातोर्निष्पन्नं चैत्य, तानि सम्यग्भावयुक्ताः गृहस्था इत्यर्थः, येषामन्तःकरणे न रागो न चेर्ष्या स्वपरगुणावगुणविवेकज्ञाः केऽपि गृहस्था भवेयुस्तान् पश्येत, तन्मध्यात् कश्चिदेकं विवेकबुद्ध्या आलोचनादानकुशलं निरीक्षेत, बहुवचनं चात्र तादृशगृहस्थानां बहुत्वात् 'तेसंतियं आलोएज्जा०' तेषामन्तिके समीपे आलोचयेत्, इत्यादिपदानि पूर्ववदेव व्याख्येयानीति ६ ।

अथ यदि 'नो चेव सम्मंभावियाइं' नैव सम्यग्भावितानि चैत्यानि तादृशान् गृहस्थान् नो पश्येत् तदा—'बहिया गामस्स वा' बहिर्ग्रामस्य वा ग्रामः वृतिवेष्टितो जननियासः, तस्य ग्रामस्य

बहिर्बाह्यदेशे ग्रामस्य बहिःप्रदेशे, अथवा **'नगरस्स वा'** नकरस्य नगरस्य वा, न करो गोमहिष्यादीनां विद्यते यत्र तत् नगरं अष्टादशकरवर्जितं, तस्य, **'निगमस्स वा'** निगमस्य वा, तत्र निगमः प्रभूततरवणिग्जननिवासः, तस्य वा, **'रायहाणीए वा'** राजधान्या वा, तत्र राज्ञाधिष्ठितं नगरं राजधानी, तस्या वा, **'खेडस्स वा'** खेटस्य वा, तत्र पांशुप्राकारनिबद्ध खेटं, तस्य वा, **'कब्बडस्स वा'** कर्वटस्य वा, तत्र कर्वट क्षुल्लकनगरम्, तस्य वा, **'मडंबस्स वा'** मडम्बस्य, वा तत्र मडम्बः सार्धगव्यूत्यन्तर्गतग्रामान्तररहितः, तस्य वा, **'पट्टणस्स वा'** अस्य- पत्तनस्य वा पट्टनस्य वेतिच्छाया, तत्र पत्तनं समस्तवस्तुप्राप्तिस्थानं जलस्थलनिर्गमप्रवेशं नगरम्, पट्टनं यत् नौभिरेव गम्यम्, उक्तञ्च—

पत्तनं शकटैर्गम्यं, घोटकै र्नौभिरेव वा।
नौभिरेव च यद्गम्यं, पट्टनं तत्प्रचक्षते ॥१॥ इति

तादृशस्य पत्तनस्य वा पट्टनस्य वा, **'दोणमुहस्स वा'** द्रोणमुखस्य वा, तत्र द्रोणमुखं जलस्थलपथोपेतो जननिवासः, तस्य वा, **'आसमस्स वा'** आश्रमस्य वा, तत्राश्रमो नाम आश्रयविशेषः तापसादीनां, तस्य वा, **'संवाहस्य वा'** संवाधस्य वा, संवाधो जनसंमर्दः यथा यात्रादौ दिग्भ्य आगत्य स्थानविशेषे जनानां समावेश, तस्य वा, **'संनिवेसस्स वा'** संनिवेशः सेना—निवेशः समागतसार्थवाहादिनिवासस्थानं वा, तस्य बहिः पूर्वोक्तानां ग्रामादीनां बहिःप्रदेशे गत्वा तत्र **'पाईणाभिमुहे वा'** प्राचीनाऽभिमुखो वा पूर्वाऽभिमुखो वा अथवा **'उदीणाभिमुहे वा'** उदीचीनाऽभिमुखो वा उत्तराभिमुखो वा सन् पूर्वदिगभिमुखः अथवा उत्तरदिगाभिमुखो वा भूत्वेत्यर्थः। अत्र पूर्वोत्तरयोर्दिशोर्ग्रहणं तयोरेवालोचनायां प्रशस्तत्वज्ञापनार्थं, पश्चिमदक्षिणयो—र्दिशोरालोचनायामनर्हत्वादिति। तत्र गत्वा किं कुर्यात्? तत्राह—**'करयल०'** इत्यादि। **'करयलपरिग्गहियं' सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु'** तत्र करतलाभ्यां संहताभ्यां हस्ततलाभ्यां प्रकर्षेण गृहीत स्थापित इति करतलपरिगृहीतस्तम्, तथा शिरसि आवर्त्तते दूरमिव सीमितदेशं गत्वा पुनस्तत्रैव निवर्त्तते स आवर्त्तः चक्राकृतिः, तद्वत् यस्य, स एव शिरसावर्त्तः, तादृशं मस्तके अंजलि कृत्वा स्थापयित्वा **'एवं वएज्जा'** एवं वक्ष्यमाणप्रकारेण वदेत्, तदेव दर्शयति—**'एवइया मे'** इत्यादि, **'एवइया मे अवराहा'** एतावन्तो ममापराधाः अकृत्यस्थानसेवनरूपाः एतावन्तः सन्ति **'एवइक्खुत्तो अहं अवरद्धो'** एतावत्कृत्व एतावतो वारान् यावदहमपराद्धः अकृत्यस्थानसेवनरूपाऽपराधयुक्तो जातोऽस्मि, एवं सविनयमुक्त्वा **'अरहंताणं सिद्धाणं अंतिए'** अर्हतां सिद्धानां समीपे तान् साक्षीकृत्येत्यर्थ **'आलोएज्जा'** आलोचयेत्, सर्वं स्वापराधजातं स्ववचसा प्रकटीकुर्यात्, प्रतिक्रामेत, निंदेत, गर्हेत,

व्यावर्तेत विशोधयेत् अकरणतयाऽभ्युत्तिष्ठेत्, यथार्हं तपःकर्म प्रायश्चित्तं प्रतिपद्येत, इति। तथा च अर्हतां सिद्धानां पुरत तत्साक्षिपूर्वकम् आलोचयेदात्मनो दोषजातं प्रकटयेत्, प्रतिक्रामेत् मिथ्यादुष्कृतं दद्यात्, आत्मानं निंदेत्, गर्हेत, अकृत्यकरणादात्मानं व्यावर्त्तेत विनिवर्त्तेत, कृतातीचारविधूननेन आत्मानं विशोधयेत्, अकृत्यस्य पुनरकरणातयाऽभ्युत्तिष्ठेत् यथायोग्यम् अकृत्यस्थानानुसारि तपःकर्म तपःकरणरूपं छेदादिप्रायश्चित्तं प्रतिपद्येत स्वीकुर्यादिति। **"त्ति वेमि"** इति ब्रवीमि, एवं प्रकारेण सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिनं प्रोवाच—यदहं प्रायश्चित्तविषयेऽश्रौषं तीर्थकरमुखात् तत्ते कथयामि, इति सूत्रार्थः ॥ सू० ३५ ॥

इति श्री–विश्वविख्यात–जगद्वल्लभ-प्रसिद्धवाचक–पञ्चदशभाषाकलितललितकलापालापक–प्रविशुद्धगद्यपद्यनैकग्रन्थनिर्मापक–वादिमानमर्दक–श्रीशाहूछत्रपतिकोल्हापुरराजप्रदत्त-**"जैनाचार्य"**–पदभूषित–कोल्हापुरराजगुरु–बालब्रह्मचारि–जैनाचार्य–जैन-धर्म-दिवाकर–पूज्यश्री–**घासीलालव्रतिविरचितायां "व्यवहारसूत्रस्य"** भाष्यरूपायां व्याख्यायां

प्रथम उद्देशकः समाप्तः ॥१॥

अथ द्वितीयोद्देशकः प्रारभ्यते—

अथ प्रथमोद्देशकस्यान्तिमसूत्रेण सहास्य द्वितीयोद्देशकप्रथमसूत्रस्य कः सम्बन्ध ? इत्यत्राह भाष्यकारः 'पुव्वं' इत्यादि ।

गाथा—पुव्वं एगो सेवइ, पावट्ठाणं च किंपि तस्स विही ।
वुत्तोऽणेगाणं इह, सो वुच्चइ एस संबंधो ॥१॥

छाया—पूर्वम् एकः सेवते पापस्थानं च किमपि तस्य विधिः ।
प्रोक्तः अनेकेषां इह स प्रोच्यते एष सम्बन्धः ॥ १ ॥

व्याख्या—पूर्वं प्रथमोद्देशकस्य चरमे सूत्रे एकः कश्चित् भिक्षुः किमपि प्राणातिपातादिकं पापस्थानं सेवते तस्य विधिः प्रोक्तः । इह अत्र द्वितीयोद्देशकप्रथमसूत्रे द्व्यादीनां पापस्थानसेवने स विधिः प्रोच्यते, एषः पूर्वापरोद्देशकयोः सम्बन्धो वर्त्तते ॥१॥

अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य द्वितीयोद्देशकस्येदमादिसूत्रम्—'**दो साहम्मिया**' इत्यादि ।

सूत्रम्—दो साहम्मिया एगयओ विहरंति एगे तत्थ अन्नयरं अकिच्चट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा ठवणिज्जं ठावइत्ता करणिज्जं वेयावडियं ॥ सू० १ ॥

छाया—द्वौ साधर्मिकौ एकतो विहरतः एकस्तत्राऽन्यतरत् अकृत्यस्थानं प्रतिसेव्य आलोचयेत् स्थापनीयं स्थापयित्वा कर्त्तव्यं वैयावृत्त्यम् ॥ सू० १ ॥

भाष्यम्—'**दो साहम्मिया**' इति । '**दो साहम्मिया**' द्वौ साधर्मिकौ, तत्र द्वौ द्वित्वसंख्याविशिष्टौ समानः सदृशो धर्मः श्रुतचारित्रलक्षणो विद्यते ययोस्तौ द्वौ साधर्मिकौ समानधर्मिणौ एकसामाचारीकावित्यर्थः '**एगयओ**' एकतः एकत्र समुदितौ सन्तौ । '**विहरंति**' विहरतः तिष्ठतः, '**एगे तत्थ**' एकः कश्चित् तत्र द्वयोर्मध्ये '**अन्नयरं**' अन्यतरत् यत् किमप्येकम् '**अकिच्चट्ठाणं**' अकृत्यस्थानं प्राणातिपातादिलक्षणम् '**पडिसेवित्ता**' प्रतिसेव्य '**आलोएज्जा**' आलोचयेत् स्वकृतातिचारादिकं स्ववचसा स्वकीयाचार्यादिसमीपे प्रकाशयेत्, तत्र यदि अगीतार्थकः प्रतिसेवनां प्राणातिपातादिलक्षणं पापं प्रतिसेवितवान् तदा तादृशाय आचार्यादिः ? शुद्धमेव उपवासाऽऽचामाम्लादिकमेव तपो दद्यात् न तु परिहारतपः, तस्य जडमतित्वेन परिहारतपोऽयोग्यत्वात् ।

अथ यदि स प्रतिसेवको गीतार्थो भवेत् तर्हि तस्मै गीतार्थाय परिहारनामकं तपो दद्यात् । '**ठवणिज्जं ठावइत्ता**' स्थापनीयं तद् यथायोग्यं दातव्यप्रायश्चित्तं स्थापयित्वा दत्त्वा तत्र योऽन्यस्तदितरः साधुः स तस्य '**करणिज्जं वेयावडियं**' वैयावृत्त्यं भक्तपानादिना शुश्रूषणं करणीयं भवेदिति ॥ सू० १ ॥

सूत्रम्—दो साहम्मिया एगयओ विहरंति दोवि ते अण्णयरं अकिच्चट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा एगं तत्थ कप्पागं ठावइत्ता एगे णिव्विसेज्जा अह पच्छा सेवि णिव्विसेज्जा ॥ सू० २ ॥

छाया—द्वौ साधर्मिकौ एकतो विहरतः द्वावपि तौ अन्यतरत् अकृत्यस्थानं प्रतिसेव्याऽऽलोचयेताम्, एकं तत्र कल्पस्थितं स्थापयित्वा एको निर्विशेत् अथ पश्चात् सोऽपि निर्विशेत् ॥ सू० २ ॥

भाष्यम्—'दो साहम्मिया' इति। 'दोसाहम्मिया' द्वौ साधर्मिकौ, तत्र द्वौ समानधर्मिणौ एकगच्छीयौ द्वौ श्रमणौ इत्यर्थः 'एगयओ विहरंति' एकतः एकत्र द्वौ मिलित्वा विहरतः तिष्ठतः, तयोर्द्वयोर्मध्ये 'दोवि ते' द्वावपि तौ उभावपि 'अण्णयरं' अन्यतरत् अष्टादशपापस्थानेषु किमप्येकं, मोहनीयोदयात् 'अकिच्चट्ठाणं' अकृत्यस्थानं प्राणातिपातादिकं 'पडिसेवित्ता' प्रतिसेव्य तादृशान्यतराकृत्यस्थानस्य प्रतिसेवनं कृत्वा 'आलोएज्जा' आलोचयेताम्, स्वकीयं स्वकीयमपराधमाचार्यादेः पुरतः क्रमशः प्रकटीकुर्याताम्। तत्र यदि द्वावपि श्रमणौ गीतार्थौ भवेताम्, ततः 'एगं तत्थ कप्पागं ठावइत्ता' तत्र तयोर्द्वयोर्मध्यात् एकं यं कमप्येकं कल्पकं कल्पस्थितमानुपारिहारिकं स्थापयित्वा 'एगे णिव्विसेज्जा' एकः तदन्यः कल्पस्थितादितरः श्रमणो निर्विशेत् गृहीतपरिहारतपः समापयेत् तयोर्मध्ये एकं कल्पस्थितं कल्पयित्वा तदन्यः परिहारनामकं तपः कुर्यात्। यश्च कल्पस्थितः स एव चाऽनुपरिहारिको भवति, तत्र तृतीयादेः साधोरभावात्, स च कल्पस्थित आनुपारिहारिकस्तस्य परिहारतपःप्राप्तस्य तावत्कालं वैयावृत्त्यं कुर्यात् यावत्तस्य परिहारतपो न समाप्यते इति। 'अह पच्छा सेवि णिविसेज्जा' अथ पश्चात् सोऽपि निर्विशेत्, अथ तस्य पूर्वप्रतिपन्नस्य परिहारतपःसमाप्त्यनन्तरं सोऽपि कल्पस्थितोऽपि निर्विशेत् परिहारतपो गृहीत्वा तत्समापयेत्। यः परिहारतपःकरणाय प्रवृत्तः तस्य परिहारतपःसमाप्त्यनन्तरं स्वयमपि स्वस्य पापापनोदाय परिहारतपः कुर्यादित्यर्थः। यश्च पूर्वं परिहारतपः कृतवान् स कृतपरिहारतपःकर्मा कल्पस्थितो भूत्वा आनुपारिहारिको भवति तेन तस्य वैयावृत्त्यं करणीयं, यावत्पर्यन्तं तस्य परिहारतपसः समाप्तिर्भवेत् तावत्तस्य वैयावृत्त्यमाचरेत्। तृतीयस्य कस्यचिदपि श्रमणस्याऽभावे द्वावेव परस्परं क्रमशः तपोवाहको वैयावृत्त्यकारकश्च भवेदिति भावः।

अत्रायं विवेकः—यदि पुनर्द्वयोर्मध्ये एकतरः अगीतार्थो भवेत् तदा शुद्धतपोरूपमेव तस्य प्रायश्चित्तं भवेत् न तु परिहारतपः, अगीतार्थत्वेन परिहारतपोयोग्यताया अभावात्। अथ यदि द्वावपि अगीतार्थावेव भवेताम् तदा द्वाभ्यामपि शुद्धमेव तपः प्रतिपद्यते न तु परिहारतपः, द्वयोरपि परिहारतपोरूपप्रायश्चित्तस्यायोग्यत्वादिति ॥ सू० २ ॥

सूत्रम्—बहवे साहम्मिया एगयओ विहरंति एगे तत्थ अण्णयरं अकिच्चट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा; तत्थ ठवणिज्जं ठावइत्ता करणिज्जं वेयावडियं ॥ सू० ३ ॥

छाया—बहवः साधर्मिकाः एकतो विहरन्ति एकस्तत्राऽन्यतरद् अकृत्यस्थानं प्रतिसेव्याऽऽलोचयेत् तत्र स्थापनीयं स्थापयित्वा करणीयं वैयावृत्त्यम् ॥ सू० ३॥

भाष्यम्—'बहवे साहम्मिया' इति। 'बहवे साहम्मिया' बहवोऽनेके त्रयश्चत्वारः पञ्चादिका वा साधर्मिका श्रमणाः 'एगयओ विहरंति' एकतः सहैव विहरन्ति–तिष्ठन्ति 'एगे तत्थ' एकस्तत्र तेषु बहुषु साधुषु मध्ये एकः कश्चित् श्रमणः 'अण्णयरं अकिच्चट्ठाणं' अन्यतरत् अकृत्यस्थानम् अनेकेषु प्राणातिपातादिलक्षणाऽकृत्यस्थानेषु मध्याद् अन्यतरद् यत् किमप्येकमकृत्यस्थानं प्रतिसेवितवान्। 'पडिसेवित्ता' प्रतिसेव्य तादृशाऽन्यतरदकृत्यस्थानं सेवित्वा 'आलोएज्जा' आलोचयेत्, आचार्यादीनां पुरतः प्रकटीकुर्यात्, आलोचनानन्तरं 'तत्थ' तत्र तस्मिन्नालोचके साधौ 'ठवणिज्जं ठावइत्ता' स्थापनीयं स्थापयित्वा, स्थापनीयं दातुं योग्यं परिहारतपोरूपं प्रायश्चित्तं स्थापयित्वा आरोप्य तं परिहारतपसि प्रवेशयेत्यर्थः तदितरः कोऽपि साधुः कल्पस्थित आनुपारिहारिको भूत्वा तेन आनुपारिहारिकेण कल्पस्थितेन तस्य 'करणिज्जं वेयावडियं' वैयावृत्त्यम् आहारादिना शुश्रूषणं करणीयमिति।

अयं भावः—ते बहवः साधर्मिका गीतार्था अगीतार्था मिश्रा वा भवेयुः तत्र यदि एको द्वौ त्रयश्चतुरादिका वा अकृत्यस्थानप्रतिसेविनो भवन्ति तदा तेषाम् आनुपारिहारिकत्वं कल्पस्थितत्वं तपोवाहकत्वं वैयावृत्त्यकारकत्वं च सर्वं यथायोग्यं यथोचितं विधिना करणीयमिति ॥ सू० ३ ॥

सूत्रम्—बहवे साहम्मिया एगयओ विहरंति सव्वेवि ते अण्णयरं अकिच्चट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, एगं तत्थ कप्पागं ठावइत्ता अवसेसा णिव्विसिज्जा अह पच्छा सेवि णिव्विसेज्जा ॥ सू० ४ ॥

छाया—बहवः साधर्मिका एकतो विहरन्ति सर्वेऽपि ते अन्यतरत् अकृत्यस्थानं प्रतिसेव्याऽऽलोचयेयुः, एकं तत्र कल्पकं स्थापयित्वा अवशेषाः, निर्विशेयुः, अथ पश्चात् सोऽपि निर्विशेत् ॥ सू० ४॥

भाष्यम्—'बहवे साहम्मिया' इति 'बहवे साहम्मिया' बहवोऽनेके साधर्मिकाः 'एगयओ विहरंति' एकतः सहैव विहरन्ति–तिष्ठन्ति, कदाचित् 'सव्वेवि ते' सर्वेऽपि ते श्रमणाः 'अण्णयरं अकिच्चट्ठाणं' अन्यतरद् अकृत्यस्थानं प्रतिसेवितवन्तः 'पडिसेवित्ता' तादृशाऽन्यतरद् अकृत्यस्थानं प्रतिसेव्य 'आलोएज्जा' आलोचयेयुः पापस्थानस्याऽऽलोचनां कुर्युः, आलोचनां कर्त्तुमिच्छेयुः, तदा 'एगं तत्थ कप्पागं ठावइत्ता' एकं कमप्येकं श्रमणं तत्र प्रायश्चित्तकाले कल्पकं कल्पस्थितं स्थापयित्वा

तत्रैकं कल्पस्थितं कृत्वा 'अवसेसा निव्विसिज्जा' अवशेषाः कल्पस्थिताऽतिरिक्ताः सर्वेऽपि श्रमणा निर्विशेयुः परिहारतपो गृहीत्वा तत् समापयेयुः । 'अह' अथ ततः परिहारतपसि प्रविष्टानां सर्वेषां परिहारतपसः समाप्त्यनन्तरकाले 'पच्छा' पश्चात् 'सेवि णिव्विसेज्जा' सोऽपि कल्पस्थितोऽपि निर्विशेत् परिहारतपो गृहीत्वा तत्समापयेत् । सर्वेषां प्रायश्चित्तकरण-मावश्यकमिति एकः कल्पस्थितो भूत्वा स सर्वानपि परिहारतपः कारयति । तदनन्तरं तेषां परिहारतपःसमाप्त्यनन्तरं स स्वयमपि परिहारतपः कुर्यादिति भावः ॥ सू० ४ ॥

सूत्रम्—परिहारकप्पट्ठिए भिक्खू गिलायमाणे अण्णयरं अकिच्चट्ठाणं पडिसे-विचा आलोएज्जा से य संथरेज्जा ठवणिज्जं ठावइत्ता करणिज्जं वेयावडियं,

से य णो संथरेज्जा अणुपारिहारिएणं करणिज्जं वेयावडियं, से य संते वले अणुपारिहारिएणं कीरमाणं वेयावडियं साइज्जेज्जा से य कसिणे तत्थेव आरुहियव्वे सिया ॥ सू० ५ ॥

छाया—परिहारकल्पस्थितो भिक्षुर्ग्लायन् अन्यतरत् अकृत्यस्थानं प्रतिसेव्य आलोचयेत् स च संस्तरेत् स्थापनीयं स्थापयित्वा करणीयं वैयावृत्त्यम् ।

स च नो संस्तरेत् अनुपारिहारिकेण करणीयं वैयावृत्त्यम् स च सति वले अनुपारि-हारिकेण क्रियमाणं वैयावृत्त्यं स्वादयेत् तच्च कृत्स्नं तत्रैवारोहयितव्यं स्यात् ॥ सू० ५॥

भाष्यम्—'परिहारकप्पट्ठिए' इति । 'परिहारकप्पट्ठिए भिक्खू' परिहारकल्प-स्थितो भिक्षुः परिहारनामके तपसि स्थितो वर्त्तमानः परिहारतपो वहन् 'गिलायमाणे' ग्लायन् रोगादिकारणेन ग्लानः सन् 'अण्णयरं अकिच्चट्ठाणं' अन्यतरत् यत् किमप्येकम् अकृत्यस्थानं प्रतिसेवितवान् , 'पडिसेविचा' प्रतिसेव्य 'आलोएज्जा' आलोचयेत् स्वकृतापराधजातं स्ववचसा आचार्यादिसमीपे प्रकाशयेत् 'से य संथरेज्जा' स च संस्तरेत् , स च ग्लानः रोगादिना पीडितोऽपि यदि तादृशाकृत्यस्थानप्रतिसेवनसंजातपापविशुद्धयर्थं संस्तरेत् परिहारतपसो वहने समर्थो भवेत् ग्लायन्नपि अकृत्यस्थानप्रतिसेवनविशुद्धिवुद्धया परिहारनामकतपोवहनाय समुद्यतो भवेत् इत्यर्थः तदा तस्य 'ठवणिज्जं ठावइत्ता' स्थापनीयं स्थापयित्वा तदुचितप्रायश्चित्तं दत्त्वा एकेन केन-चित् स्थापितेन कल्पस्थितेनाऽनुपारिहारिकेण परिहारतपो वहतः श्रमणस्य 'करणिज्जं वेयावडियं' वैयावृत्त्यं भक्तपानादिना करणीयं तस्य पारिहारिकस्याऽनुपारिहारिकेण तथाविधा परिचर्या कर्त्तव्या येन निर्विघ्नं यथा भवेत् तथा परिहारतपसः संपूर्णता भवेदिति ।

'से य णो संथरेज्जा' स च परिहारतपोवाहको रोगादिपीडितत्वेन धृतिसहननबला-भावात् न सस्तरेत् परिहारतपोवहने कष्टमनुभवन् समर्थो न भवेत् तदा 'अनुपारिहारिएणं करणिज्जं वेयावडियं' अनुपारिहारिकेण तस्य वैयावृत्त्यं यथायोग्यं परिचर्यारूपं शुश्रूषणं

करणीयम् । 'से य संते बले' स चाऽधिकृत. पारिहारिकः सति बले धृतिसंहननादिसामर्थ्ये विद्यमानेऽपि निगूहितबलवीर्यः सन् 'अणुपारिहारिएणं कीरमाणं वेयावडियं' अनुपारिहारिकेण क्रियमाणं वैयावृत्यं स्वकीयपरिचर्यारूपम् 'साइज्जेज्जा' स्वादयेत् अनुमोदयेत् 'सम्यक् कृतं भवता यत् ग्लानस्य मे एतादृशं वैयावृत्यं कृतम्' इत्येवंरूपेणाऽनुमोदनं कुर्यात् । बलसद्भावे वैयावृत्यस्याऽनुमोदनेन प्रायश्चित्तमापद्यतेऽतः 'से य कसिणे तत्थेव आरुहियव्वे सिया' तदपि अनुमोदनादिजनितं प्रायश्चितं कृत्स्नं सर्वं तत्रैव वहमाने परिहारतपस्येवाऽनुग्रहकृत्स्नेनाऽऽरोपयितव्यं स्यात् अन्यतराऽकृत्यप्रतिसेवनजनितपापस्यापि निवृत्त्यर्थं यदपरं प्रायश्चित्तं प्राप्तं तस्यापि समावेशस्तस्मिन्नेव परिहारतपसि कर्त्तव्य', नतु प्रायश्चित्तान्तरं दातव्यमिति भावः ।

पारिहारकस्य वैयावृत्यप्रकारो यथा—यदि पारिहारको भाण्डं प्रत्युपेक्षितुं न शक्नोति तदाऽनुपारिहारिको भाण्डं प्रत्युपेक्षते, भिक्षार्थं हिण्डितुं न शक्नोति तदा भिक्षामानीय ददाति । एवमुत्थितुं न शक्नोति तदा तमुत्थापयति , एवमुपवेष्टुमशक्तमुपवेशयति, लेपादिखण्डितं पात्रबन्धादि प्रक्षालयितुं न शक्नोति तदा तत् प्रक्षालयति । एवं पारिहारको यद् यत् कार्यं कर्तुं न शक्नोति तत्तत्सर्वं तस्यानुपारिहारिकः करोति । एवंविधं यथायोग्यं परिचर्याकरणरूपं वैयावृत्यमनुपारिहारिकेण करणीयं भवेत् । तच्च तावत् करणीयं यावत् परिहारिको बलिष्ठो जायते । यत्पुनः कर्तुं सामर्थ्यं भवेत् तदा तेन स्वयमेवानिगूहितबलवीर्येण करणीयं न तु स्वस्य बलवीर्यं गोपनीयमिति भावः ॥ सू० ५ ॥

सूत्रम्—परिहारकप्पट्ठियं भिक्खुं गिलायमाणं णो कप्पइ तस्स गणावच्छेयगस्स णिज्जूहित्तए अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं जाव तओ रोगायंकायो विप्पमुक्को, तओ पच्छा तस्स अहालहुस्सए नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया ॥ सू० ६ ॥

छाया—परिहारकल्पस्थितं भिक्षुं ग्लायन्तं न कल्पते तस्य गणावच्छेदकस्य निर्यूहितुम्, अग्लान्या तस्य करणीयं वैयावृत्यं तावद् यावत् ततो रोगातङ्काद्विप्रमुक्तः, ततः पश्चात् तस्य यथा लघुस्वको नाम व्यवहारः प्रस्थापयितव्यः स्यात् ॥ सू० ६ ॥

भाष्यम्—'परिहारकप्पट्ठियं' इति । 'परिहारकप्पट्ठियं' रिहारकल्पस्थितं परिहारनामके तपसि स्थितं परिहारतपो वहंतमित्यर्थः । 'भिक्खुं' भिक्षुं 'गिलायमाणं' ग्लायन्तं ग्लानिं शरीरमान्द्यमुपागतं परिहारतपसा वातपित्ताद्युपचयापचयवशात् शरीराऽस्वास्थ्यमुपगतमित्यर्थः 'णो कप्पइ' नो कल्पते नोपयुज्यते 'तस्स गणावच्छेयगस्स' तस्य गणावच्छेदकस्य यस्य गणावच्छेदकस्य समीपे आगतो ग्लायन् साधुस्तं तस्य गणावच्छेदकस्य न कल्पते 'णिज्जूहित्तए' निर्यूहितुं निवारयितुं वैयावृत्याऽकरणादिना निष्कासयितुं न कल्पते । किन्तु 'अगिलाए' अग्लान्या ग्लानिरहितो यथा भवेत् तथा राजा वेष्टिमिव 'वेठ,' 'वेगार' इति प्रसिद्धं, तद्वत् राजनिर्देशमिवानुमन्यमानेन 'सर्वज्ञादेशः' इति बुद्ध्या कर्म-

निर्जरणनिमित्तं 'तस्स करणिज्ज वेयावडियं' तस्य रोगादिना ग्लानिमुपगतस्य साधोर्वैयावृत्त्यं करणीयं गणावच्छेदकेन । कियत्कालपर्यन्त वैयावृत्त्य करणीयम् ? तत्राह–'जाव' इत्यादि, 'जाव तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को' यावता कालेन तस्मात् शरीरसंस्थितात् रोगातङ्कात् विप्रमुक्तो विनिर्मुक्तो भवेत् यावत्तस्य रोगातङ्को नोपशाम्यति तावदित्यर्थः 'तओ पच्छा' ततः पश्चात् रोगविमुक्त्यनन्तरम् 'तस्स' तस्य पारिहारिकस्य वैयावृत्त्यकारकस्य च 'अहालहुस्सए नामं ववहारे' यथालघुस्वकः स्तोको नाम व्यवहारः प्रायश्चित्तं, यथालघुस्वक इति स्तोकोऽल्पः, व्यवहारः प्रायश्चित्तम् । उक्तञ्च–

"ववहारो आलोयण, सोही पायच्छित्त होंति एगट्ठा ।
थोवो अहालहुस्सो, पट्ठवणा होइ तद्दाणं" ॥१॥

व्यवहारः अलोचना शोधिः प्रायश्चित्तं भवन्ति एकार्थाः ।
स्तोको यथालघुस्वकः प्रस्थापना भवति तद्दानं (प्रायश्चित्तदानम्) ॥

'पट्ठवियव्वे सिया' प्रस्थापयितव्यो दातव्यः स्यात्, रोगविमुक्त्यनंतरं तस्मै पारिहारिकाय यथालघुस्वकं स्तोकं प्रायश्चित्त दातव्यं भवेदिति भावः । अत्र यथा लघुस्वकनामकं यत् प्रायश्चितं दातव्यत्वेन कथितं तत् पारिहारिकस्य रोगातङ्कावस्थायां यदतिचारजातमापन्नं भवेत्तद्विषयकम्, वैयावृत्त्यकारकस्य तु तन्निमित्तमाहारानयनादिविषये यदापन्नं तद् वेदितव्यम् एवमग्रेऽपि सर्वत्र वाच्यम् । अयं यथालघुस्वको व्यवहारः पञ्चदिवसात्मको भवति, तं च सद्योरोगमुक्तत्वेन निर्विकृतिकं कुर्वन् पूरयतीति । उक्तञ्च "निव्विगियं दायव्वं, अहालहुस्संमि सुद्धो वा" इति निर्विकृतिक दातव्यं यथालघुस्वके शुद्धो वा (क्रियते) इति च्छाया । अथवा यस्मिन् श्रमणे यथालघुस्वको व्यवहारः प्रस्थापयितव्यो भवेत् तदा यदि यः प्रवचनप्रभावनादिमहति कारणे समुपस्थिते मनसि पापभयं निधाय प्रतिसेवनमकरोत् तदा स आलोचनाप्रदानमात्रत एव शुद्धः क्रियते तच्चाचार्याद्यधीनमिति विवेकः ॥ सू० ६ ॥

सूत्रम्––अणवट्ठप्पं भिक्खुं गिलायमाणं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेयगस्स निज्जूहित्तए, अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं जाव तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को तओ पच्छा तस्स अहालहुस्सए नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया ॥ सू० ७ ॥

छाया––अनवस्थाप्यं भिक्षुं ग्लायन्तं नो कल्पते तस्य गणावच्छेदकस्य निर्यूहितुम् अग्लान्या तस्य करणीयं वैयावृत्त्यं यावत् ततो रोगातङ्काद् विप्रमुक्तः ततः पश्चात् यथा लघुस्वको नाम व्यवहारः प्रस्थापयितव्यः स्यात् ॥ सू० ७ ॥

भाष्यम्––'अणवट्ठप्पं' इति । 'अणवट्ठप्पं' अनवस्थाप्यम्–अवस्थापयितुमयोग्यं चौर्यादिरूपं नवमं प्रायश्चित्तम् तद्विषयकतपोऽनाचरणेन तद् योगात् साधुरपि अनवस्थाप्यः पुनरुत्थाप

नायामयोग्यः अनाचीर्णतपोविशेषत्वेन पुनर्महाव्रतेषु स्थापितुमनर्ह-इत्यर्थः, स च त्रिविधो भवति, उक्तञ्च वृहत्कल्पसूत्रे–

"तओ अणवट्टप्पा पण्णत्ता तं जहा––साहम्मियाणं तेण्णं करेमाणे १, अण्णधम्मियाणं तेण्णं करेमाणे २, हत्थादाणं दलमाणे" ३ इति।

त्रयः अनवस्थाप्याः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा–साधर्मिकाणां स्तैन्यं कुर्वाणः १, अन्यधार्मिकाणां स्तैन्यं कुर्वाणः २, हस्तातालं ददानः। इतिच्छाया। अस्य व्याख्या तत्रैव (बृहत्कल्पसूत्रे) तत्र द्रष्टव्या।

तं तादृशं नवम–प्रायश्चित्तस्थानं प्रतिपन्नं **'भिक्खुं'** भिक्षुं **'गिलायमाणं'** ग्लायन्तं रोगातङ्कादिना कदर्थितशरीरम् **'नो कप्पइ'** नो कल्पते **'तस्स गणावच्छेयगस्स'** तस्य गणावच्छेदकस्य **'निज्जूहित्तए'** निर्यूहितुं निराकर्तुम्। शेषं सर्वं परिहारकल्पस्थितसूत्रवदेव व्याख्येयम् ॥ सू० ७ ॥

सूत्रम्––पारंचियं भिक्खुं गिलायमाणं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेयगस्स निज्जूहित्तए, अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं जाव तओ रोगातंकाओ विप्पमुक्के तओ पच्छा तस्स अहा लहुस्सगे नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया ॥ सू० ८ ॥

छाया––पाराञ्चितं भिक्षुं ग्लायन्तं नो कल्पते तस्य गणावच्छेदकस्य निर्यूहितुम् अग्लान्या तस्य करणीयं वैयावृत्त्यं यावत् ततो रोगातङ्काद् विप्रमुक्तः, ततः पश्चात् तस्य यथालघुस्वको नाम व्यवहारः प्रस्थापयितव्यः स्यात् ॥ सू० ८॥

भाष्यम्––'पारंचियं' इति। **'पारंचियं'** पाराञ्चितं, पाराञ्चितं नाम दशमप्रायश्चित्तं तद्योगात् साधुरपि पाराञ्चितः पाराञ्चिको वा, तत्र पारं तीरं तपःप्रतिसेवनेनापराधस्य अञ्चति गच्छति ततो दीक्षते यः स पाराञ्चिः स एव पाराञ्चितः पाराञ्चिको वा, यद्वा पारम्, अन्तं प्रायश्चित्तानां तत उत्कृष्टतरप्रायश्चित्ताभावादपराधानां पारमञ्चति गच्छतीत्येवंशीलं पाराञ्चितं, तद्योगात् साधुरपि पाराञ्चितः। उक्तञ्च व्यवहारसूत्रे––

'तओ पारंचिया पण्णत्ता तंजहा–दुट्ठे–पारंचिए १, पमत्ते पारंचिए २, अन्नमन्नं करेमाणे पारंचिए ३' इति।

त्रयः पाराञ्चिताः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा–दुष्टः पाराञ्चितः १, प्रमत्तः पाराञ्चितः २, अन्योन्यं कुर्वाणः पाराञ्चितः ३। इतिच्छाया।

व्याख्या तत्रैव द्रष्टव्येति। तं तादृशं पाराञ्चितं दशमप्रायश्चित्तस्थानमापन्नम् **'भिक्खु'** भिक्षुं **'गिलायमाणं'** ग्लायन्तं रोगातङ्कादिना ग्लानिमुपगच्छन्तम् **'नो कप्पइ'** नो कल्पते **'तस्स गणावच्छेयगस्स निज्जूहित्तए'** तस्य गणावच्छेदकस्य निर्यूहितम्। इत्यादि सर्वं पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥ सू० ८ ॥

सूत्रम्—खित्तचित्तं भिक्खुं गिलायमाणं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेयगस्स निज्जूहित्तए; अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं जाव तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को, तओ पच्छा तस्स अहालहुस्सए नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया ॥ सू० ९ ॥

छाया—क्षिप्तचित्तं भिक्षुं ग्लायन्तं नो कल्पते तस्य गणावच्छेदकस्य निर्यूहितुम् अग्लान्या तस्य करणीयं वैयावृत्त्यं यावत्ततो रोगातङ्काद् विप्रमुक्तः, ततः पश्चात् तस्य यथालघुस्वको नाम व्यवहारः प्रस्थापयितव्यः स्यात् । सू० ९ ॥

भाष्यम्—'खित्तचित्तं' क्षिप्तचित्तं क्षिप्तं भयोद्वेगादिना विक्षिप्तमवशं चित्तं यस्य स क्षिप्तचित्तः भ्रान्तचित्त इत्यर्थ । यो रागतो भयतो राजाद्यपमानतो वा, इत्यादिकारणवशाद् भ्रान्तचित्तो भवेत्, तम् भिक्खुं' भिक्षुं 'गिलायमाणं' ग्लायन्त रोगातङ्कादिना ग्लानिमुपगच्छन्तं 'नो कप्पइ' नो कल्पते तस्स गणावच्छेयगस्स' तस्य गणावच्छेदकस्य निज्जूहित्तए' निर्यूहितुं निराकर्त्तुम् इत्यादि सर्वं पूर्ववदेव व्याख्येयम् ॥ सू० ९ ॥

सूत्रम्--दित्तचित्तं भिक्खुं गिलायमाणं नोकप्पइ तस्स गणावच्छेयगस्स निज्जूहित्तए, अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं जाव तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को, तओ पच्छा तस्स अहालघुस्सगे नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया ॥ सू० १० ॥

छाया--दीप्तचित्तं भिक्षुं ग्लायंतं नो कल्पते तस्य गणावच्छेदकस्य निर्यूहितुम्, अग्लान्या तस्य करणीयं वैयावृत्त्यम् यावत् ततो रोगातङ्काद् विप्रमुक्तः । ततः पश्चात् तस्य यथालघुस्वको नाम व्यवहारः प्रस्थापयितव्यः स्यात् ॥ सू० १० ॥

भाष्यम्--'दित्तचित्तं' दीप्तचित्तम्, तत्र दीप्तं प्रदीप्तम् इन्धनेनाऽग्निरिव अकस्माल्लाभदुर्जेयशत्रुजय–मदादिना मानसिकरोगेण वा दीप्तमिव दीप्तं चित्तं यस्य स अकस्माल्लाभादिना विक्षिप्तचित्त इत्यर्थः, तं तादृशं दीप्तचित्तम् 'भिक्खुं' भिक्षुं 'गिलायमाणं' ग्लायन्तं ज्वरादिरोगाभिभूत 'नो कप्पइ तस्स गणावच्छेयगस्स निज्जूहित्तए' न कल्पते तस्य गणावच्छेदकस्य निर्यूहितुं निराकर्त्तुम्, इत्यादि सर्वं पूर्ववदेव ज्ञातव्यम् ॥ सू० १० ॥

सूत्रम्—जक्खाइट्ठं भिक्खुं गिलायमाणं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेयगस्स निज्जूहित्तए; अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं जाव तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को, तओ पच्छा तस्स अहालहुस्सगे नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया ॥ सू० ११ ॥

छाया— यक्षाविष्टं भिक्षुं ग्लायन्तं नो कल्पते तस्य गणावच्छेदकस्य निर्यूहितुम्, अग्लान्या तस्य करणीयम् वैयावृत्त्यं यावत् ततो रोगातङ्काद् विप्रमुक्तः, ततः पश्चात् तस्य यथालघुस्वको नाम व्यवहारः प्रस्थापयितव्यः स्यात् । सू० ११ ॥

भाष्यम्—'जक्खाइट्टं' यक्षाविष्टम्, यक्षो नाम व्यन्तरदेवविशेषः, तेन पूर्वभवादि-वैरमाश्रितेन रागरञ्जितेन वा आविष्टः यक्षाविष्टस्तं तादृशं भिक्खुं' भिक्षुं 'गिलायमाणं' ग्लायन्तं ग्लानिमुपगच्छन्तम्, यक्षावेशेनैव ग्लानभावमुपगतं सन्तम् 'नो कप्पइ' नो कल्पते 'तस्स गणावच्छेयगस्स' तस्य गणावच्छेदकस्य निज्जूहित्तए' निर्यूहितुं निराकर्तुम्, इत्यादि सर्वं पूर्ववदेव व्याख्यातव्यम् ॥ सू० ११ ॥

सूत्रम्—उम्मायपत्तं भिक्खुं गिलायमाणं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेयगस्स निज्जूहित्तए, अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं जाव तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को, तओ पच्छा अहालहुस्सगे नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया ॥ सू० १२ ॥

छाया—उन्मादप्राप्तं भिक्षुं ग्लायन्तं नो कल्पते तस्य गणावच्छेदकस्य निर्यूहितुम् अग्लान्या तस्य करणीयं वैयावृत्त्यं यावत् ततो रोगातङ्काद् विप्रमुक्तः, ततः पश्चात् यथा-लघुस्वको नाम व्यवहारः प्रस्थापयितव्यः स्यात् ॥ सू० १२ ॥

भाष्यम्—'उम्मायपत्तं' उन्मादप्राप्तम्, मोहनीयकर्मोदयेन वातपित्ताद्युद्रेकेण वा उन्मादं प्राप्त. य· कश्चिद् तं तादृशमुन्मादप्राप्तं 'भिक्खुं' भिक्षुं 'गिलायमाणं' ग्लायन्तं तद्वशाज्ज्वरादि-रोगाक्रान्तं 'नो कप्पइ' नो कल्पते 'तस्स गणावच्छेयगस्स' तस्य गणावच्छेदकस्य 'निज्जूहित्तए' निर्यूहितुं निराकर्तुम्, इत्यादि सर्व पूर्ववदेव व्याख्यातव्यम् ॥ सू० १२ ॥

सूत्रम्—उवसग्गपत्तं भिक्खुं गिलायमाणं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेयगस्स निज्जूहित्तए, अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं जाव तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को, तओ पच्छा तस्स अहालहुस्सगे नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया ॥ सू० १३ ॥

छाया—उपसर्गप्राप्तं भिक्षुं ग्लायन्तं नो कल्पते गणावच्छेदकस्य निर्यूहितुम् अग्लान्या तस्य करणीयं वैयावृत्त्यम् यावत् ततो रोगातङ्काद् विप्रमुक्तः, ततः पश्चात् तस्य यथा-लघुस्वको नाम व्यवहारः प्रस्थापयितव्य स्यात् ॥ सू० १३ ॥

भाष्यम्—'उवसग्गपत्तं' उपसर्गप्राप्तम्, तत्रोपसर्गो देवमनुष्यतिर्यक्समुद्भूतः, यथा देवः पूर्वभववैरमासाद्य बीभत्सरूपदर्शनादिना उपसर्गं करोति, मनुष्यो वा द्वेषेण ईर्ष्यया वा उपसर्गं करोति, तिर्यङ्–सिंहव्याघ्रादिर्वा उपसर्गं करोति, तादृशं त्रिविधोपसर्गप्राप्तम् 'भिक्खुं' भिक्षुं श्रमण 'गिलायमाणं' ग्लायन्तं ज्वरादिरोगेण दैन्यमुपगच्छन्तम् 'नो कप्पइ' नो कल्पते 'तस्स गणावच्छेयगस्स' तस्य गणावच्छेदकस्य 'निज्जूहित्तए' निर्यूहितुं निराकर्तुम्। शेषं पूर्ववदेव ॥ सू० १३ ॥

सूत्रम्—साहिगरणं भिक्खुं गिलायमाणं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेयगस्स, निज्जूहित्तए, अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं जाव तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्के तओ पच्छा अहालहुस्सगे नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया ॥ सू० १४ ॥

छाया—साधिकरणं भिक्षुं ग्लायन्तं नो कल्पते तस्य गणावच्छेदकस्य निर्यूहितुम्, अग्लान्या तस्य करणीयं वैयावृत्त्यं यावत् स तस्मात् रोगातङ्काद् विप्रमुक्तो भवेत्, ततः पश्चात् तस्य यथालघुस्वको नाम व्यवहारः प्रस्थापयितव्यः स्यात् ॥ सू० १४ ॥

भाष्यम्—'साहिगरणं' साधिकरणम्, अधिकरणं-कलहः, क्रोधमानमायालोभद्वेषादिजनितः, तेन सह विद्यते इति साधिकरणः कलहजन्यक्रोधयुक्तस्तं साधिकरणं 'भिक्खुं' भिक्षुं 'गिलायमाणं' ग्लायन्तं कलहजनितज्वरादिभिर्ग्लानिमुपगतम् 'नो कप्पइ' नो कल्पते 'तस्स गणावच्छेयगस्स' तस्य गणावच्छेदकस्य 'निज्जूहित्तए' निर्यूहितुं निराकर्त्तुम्। शेषं पूर्ववत् ॥ सू० १४ ॥

सूत्रम्—सपायच्छित्तं भिक्खुं गिलायमाणं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेयगस्स निज्जूहित्तए, अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं जाव तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्के, तओ पच्छा तस्स अहालहुस्सगे नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया ॥ सू० १५ ॥

छाया—सप्रायश्चित्तं भिक्षुं ग्लायन्तं नो कल्पते तस्य गणावच्छेदकस्य निर्यूहितुम्, अग्लान्या तस्य करणीयं वैयावृत्त्यं यावत् रोगातङ्काद् विप्रमुक्तः, ततः पश्चात् तस्य यथालघुस्वको नाम व्यवहारः प्रस्थापयितव्यः स्यात् ॥ सू० १५ ॥

भाष्यम्—'सपायच्छित्तं' सप्रायश्चित्तं, तत्र प्रायश्चित्तं परिहारकादितपोविशेषः, तेन प्रायश्चित्तेन सहितो युक्त इति सप्रायश्चित्तः, तं सप्रायश्चित्तम् 'भिक्खुं' भिक्षुं 'गिलायमाणं' ग्लायन्तं प्रायश्चित्तबाहुल्याद्भयभीतत्वेन संजातज्वरादिकम् 'नो कप्पइ' नो कल्पते 'तस्स गणावच्छेयगस्स' तस्य गणावच्छेदकस्य 'निज्जूहित्तए' निर्यूहितुं निराकर्त्तुम्, शेषं व्याख्यातपूर्वम् ॥ सू० १५ ॥

सूत्रम्—भत्तपाणपडियाइक्खियं भिक्खुं गिलायमाणं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेयगस्स निज्जूहित्तए, अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं जाव तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्के, तओ पच्छा अहालहुस्सगे नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया ॥ सू० १६ ॥

छाया—भक्तपानप्रत्याख्यातं भिक्षुं ग्लायन्तं नो कल्पते तस्य गणावच्छेदकस्य निर्यूहितुम्, अग्लान्या तस्य करणीयं वैयावृत्त्यम् यावत् ततो रोगातङ्काद् विप्रमुक्तः, ततः पश्चात् यथालघुस्वको नाम व्यवहारः प्रस्थापयितव्यः स्यात् ॥ सू० १६ ॥

भाष्यम्—'भत्तपाणपडियाइक्खियं' भक्तपानप्रत्याख्यातम्, भक्तमोदनादिकं, पानं च जलादिकम् इति भक्तपाने, ते उभे भक्तपाने प्रत्याख्याते परित्यक्ते येन स भक्तपानप्रत्याख्यातः प्रत्याख्यातभक्तपानः तं 'भिक्खुं' भिक्षुं 'गिलायमाणं' ग्लायन्तं वातपित्तादिव्याधिना ग्रस्यमानं 'नो कप्पइ' नो कल्पते 'तस्स गणावच्छेयगस्स' तस्य गणावच्छेदकस्य 'निज्जूहित्तए' निर्यूहितुं निराकर्तुं न कल्पते किन्तु यदि तस्य रोगादिकारणाद् चिरजीवनेन भयमुत्पद्यते यथा— 'नाद्याप्यहं म्रिये, न जानेऽग्रे रोगादिना का का व्यथा भोग्या भविष्यती'-ति व्यग्रचित्तं तं, धैर्यगर्भितवाक्यैराश्वासयेत् यथा—'भविष्यति रोगान्मुक्तिः सर्वं समीचीनं भविष्यती'-ति नोद्विग्नतां भजतु भवान्' इत्येवमाश्वास्य तं तत्र दृढीकुर्यात् किन्तु न निर्यूहेत, न निस्सारयेत्, अपि तु 'अगिलाए' अग्लान्या 'कदायं नीरोगो भविष्यति, कियत्कालं यावदस्य वैयावृत्त्यं करणीयम्' इत्याद्यात्मसंकोचराहित्येन निर्जराभावं मनसि निधाय दृढमनोभावेनेत्यर्थः 'करणिज्जं वेयावडियं' तस्य वैयावृत्त्यं करणीयं येन तस्य तद् भक्तपानप्रत्याख्यानाख्यमनशनव्रतं चित्तसमाधिपूर्वकं समाप्यते। तद् वैयावृत्त्य तावत् करणीयं यावत् स रोगान्मुक्तो भवेत्। रोगमुक्त्यनन्तरं तस्य यथालघुस्वकं प्रायश्चित्तं दातव्यमिति सूत्रसंक्षेपार्थः। अस्य यत् लघुस्वकं प्रायश्चित्तं कथितं तत् तस्य भक्तपानप्रत्याख्यानावस्थायां रोगकाले यत् किमपि प्रायश्चित्तमापन्नं स्यात् तदपनोदनविषयकं विज्ञेयमिति भावः॥ सू० १६॥

सूत्रम्—अट्ठजायं भिक्खुं गिलायमाणं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेयगस्स निज्जूहित्तए, अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं जाव तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्के, तओ पच्छा अहालहुस्सगे नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया ॥सू०१७॥

छाया—अर्थजातं भिक्षुं ग्लायन्तं नो कल्पते तस्य गणावच्छेदकस्य निर्यूहितुम्, अग्लान्या तस्य करणीयं वैयावृत्त्यं यावत् ततो रोगातङ्काद् विप्रमुक्तः, ततः पश्चात् यथालघुस्वको नाम व्यवहारः प्रस्थापयितव्यः स्यात्॥ सू० १७॥

भाष्यम्—'अट्ठजायं' अर्थजातम्, अर्थेन धनेन जातं—कार्यं यस्य सः अर्थजातः यद्वा अर्थः किमपि प्रयोजनं धनार्जनादिरूपः, स जातो यस्य स अर्थजातः, तं धनार्जनवाञ्छाभिभूतं भिक्षुं 'गिलायमाणं' ग्लायन्तं लोभोद्रेकाद् रोगाक्रान्तं 'नो कप्पइ' नो कल्पते 'तस्स गणावच्छेयगस्स' तस्य गणावच्छेदकस्य 'निज्जूहित्तए' निर्यूहितुं निराकर्तुम्, किन्तु अर्थलुब्धं तम् अर्थस्य निस्सारताप्रदर्शनपूर्वकं प्रतिबोध्य 'अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं' तस्य रोगाक्रान्तस्य अग्लान्या आत्मसंकोचराहित्येन वैयावृत्त्यं करणीयम्। शेषं पूर्ववत्॥ सू० १७॥

पूर्वसूत्रेऽर्थजातभिक्षोर्वैयावृत्त्यकरणं प्रोक्तम्, साम्प्रतमनवस्थाप्यस्योपस्थापनविधिमाह, तत्राऽनवस्थाप्यसूत्रस्यार्थजातसूत्रेण सह कः सम्बन्धः ? इति सम्बन्धप्रतिपादिकां गाथामाह— 'अट्ठजाओ' इत्यादि ।

गाथा—अट्ठजाओ पुव्वमुत्तो, अट्ठस्स तेणियं भवे ।
तत्तेण्णे अणवट्ठप्पो संबंधोऽत्थ इमो सिया ॥१॥

छाया—अर्थजातः पूर्वमुक्तः अर्थस्य स्तैन्यं भवेत् ।
तत्स्तैन्येऽनवस्थाप्यः सम्बन्धोऽत्रायं स्यात् ॥१॥

व्याख्या—'अट्ठजाओ' पूर्वमर्थजातो भिक्षुरुक्तः अर्थजातभिक्षुविषये विधिः प्रोक्तः, अर्थस्य धनस्य कदाचित् स्तैन्यं चौर्यं भवेत्, तत. तत्स्तैन्ये धनस्य चौर्ये भिक्षुरनवस्थाप्यो नवम-प्रायश्चित्तभाक् स्यात्, अतोऽस्मिन् वक्ष्यमाणे सूत्रे अनवस्थाप्यभिक्षुविषये विधिः प्रतिपादयिष्यते । अयमेवात्र संबन्ध. स्यादिति गाथार्थः ॥१॥

अनेन सम्बन्धेनायातमिदमनवस्थाप्यसूत्रमाह—'अणवट्ठप्पं' इत्यादि ।

सूत्रम्—अणवट्ठप्पं भिक्खुं अगिहिभूयं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेयगस्स उवट्ठावेत्तए । अणवट्ठप्पं भिक्खुं गिहिभूयं कप्पइ तस्स गणावच्छेयगस्स उवट्ठावित्तए ॥सू० १८॥

छाया—अनवस्थाप्यं भिक्षुम् अगृहीभूतं नो कल्पते तस्य गणावच्छेदकस्योपस्थापयितुम् । अनवस्थाप्यं भिक्षुं गृहीभूतं कल्पते तस्य गणावच्छेदकस्योपस्थापयितुम् ॥ सू०१८॥

भाष्यम्—'अणवट्ठप्पं' अनवस्थाप्यम्—गृहिणः साधर्मिकस्य वा चौर्येण अनवस्थाप्य-नामकनवमप्रायश्चित्तस्थानापन्नं 'भिक्खुं' भिक्षुं 'अगिहिभूयं' अगृहीभूतम् अप्राप्तगृहस्थवेषं साधुपर्याये एव स्थितम् साधुवेषत्यागयोग्ये नवमप्रायश्चित्ते प्राप्तेऽपि यः साधुवेषं न त्यक्तवान् सः, तं तादृशं भिक्षुं 'नो कप्पइ' नो कल्पते 'तस्स गणावच्छेयगस्स' तस्य गणावच्छेद-कस्य 'उवट्ठावेत्तए' उपस्थापयितुम्—महाव्रतेषु समारोपयितुम् पुनर्दीक्षां दातुमित्यर्थ. । अयं भावः—यदि कदाचिद् अनवस्थाप्यो भिक्षुश्चौर्यदोषशुद्ध्यर्थं पुनश्चारित्रप्रतिपत्तये गणावच्छेदकस्य समीप-मागच्छेत् तदा तस्य गणावच्छेदकस्य न कल्पते अगृहीतभूम्—अस्वीकृतगृहस्थवेषं तम् अनव-स्थाप्यं भिक्षुमुपस्थापयितुं पुनः दीक्षां दातुं न कल्पते । स यदि गृहीभूतो भवेत् तदा किं कर्त्तव्यम् ? तत्राह—'अणवट्ठप्पं' इत्यादि, 'अणवट्ठप्पं भिक्खुं' अनवस्थाप्यम् अनवस्थाप्यना-मकप्रायश्चित्तस्थापन्नं भिक्षुं 'गिहिभूयं' गृहीभूतं प्रतिपन्नगृहस्थवेषं 'कप्पइ' कल्पते 'गणावच्छे-यगस्स' गणावच्छेदकस्य 'उवट्ठावित्तए' उपस्थापयितुम् पुनः दीक्षां दातुमिति । प्रकृतसूत्रस्य

पूर्वार्द्धभागेनेदं प्रतिपादितं यत् अनवस्थाप्यो भिक्षु. संयममार्गात् भ्रष्टत्वेन नवमप्रायश्चित्तभागी भवति स यदि साधुवेषेण समागत्य पुनः संयमप्रतिपत्त्यर्थं गणनायकस्य समीपमागच्छेत् तदा नास्ति अधिकारो गणनायकस्य यत्पुनरपि तथाविधं तं संयमे उपस्थापयेत् ॥

इदानीं प्रकृतसूत्रस्यैवोत्तरभागेन चेदं प्रतिपादितम्—यत्—यद्यनवस्थाप्यो भिक्षुर्गृहस्थवेषमादाय गणनायकस्य समीपं पुन. संयमप्रतिपत्त्यर्थमुपस्थितो भवेत् तदा गणनायकेन तथाभूताय तस्मै पुनरपि संयमो दातव्यः। तत्र केन प्रकारेण पुनः स चारित्रे उपस्थापनीयः ! तदेवोत्तरभागेन प्रतिपाद्यते—नवमप्रायश्चित्तस्थानं प्राप्तं श्रमणं गृहस्थवेषसदृशं वेषं कारयित्वा गणावच्छेदकस्तं संयमे उपस्थापयेत्। गृहस्थवेषं कारयित्वा पुनः तस्मै दीक्षादाने कारणमिदम् यत्—अनवस्थाप्यश्रमणस्य ये दोषास्ते नागरिकाणां समक्षं प्रकटीभूता आसन् ततो गृहस्थलिङ्गधारणेन तेषां नगरलोकानां विश्वासो जायेत यदनेन नवमप्रायश्चित्तभागित्वेन वान्तसंयम इति, ततः संघसमक्षं गणनायकेन तस्मै प्रायश्चित्तं दातव्यम्, दत्त्वा च प्रायश्चित्तं पुनस्तं संयमे उपस्थापयेत्। एवं करणे नान्येऽपि गच्छगता साधव एतादृशपापाचरणाद् भीता भवेयुः, **'पुत्रीभ्यो दण्डदानेन स्नुषा बिभ्यति नित्यशः'** इति न्यायात् ॥ सू० १८ ॥

अनवस्थाप्यसूत्रमुक्त्वा सम्प्रति पाराञ्चितसूत्रमाह - **पारंचियं'** इत्यादि ।

सूत्रम्—पारंचियं भिक्खुं अगिहिभूयं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेयगस्स उवट्ठावित्तए पारंचियं भिक्खुं गिहिभूयं कप्पइ तस्स गणावच्छेयगस्स उवट्ठावित्तए ॥ सू० १९ ॥

छाया—पाराञ्चितं भिक्षुमगृहीभूतं नो कल्पते तस्य गणावच्छेदकस्योपस्थापयितुम्। पाराञ्चितं भिक्षुं गृहीभूतं कल्पते तस्य गणावच्छेदकस्योपस्थापयितुम्॥ सू० १९ ॥

भाष्यम्—'पारंचियं' पाराञ्चितं पाराञ्चितनामकदशमप्रायश्चित्तस्थानप्राप्तम् **'भिक्खुं'** भिक्षुं श्रमणम् **'अगिहिभूय'** अगृहीभूतम् अपरिगृहीतगृहस्थवेषम् **'नो कप्पइ'** नो कल्पते **'तस्स गणावच्छेयगस्स'** तस्य गणावच्छेदकस्य **'उवट्ठावित्तए'** उपस्थापयितुं पुनः संयमे प्रवेशयितुम्। यदि कदाचिद् यः कश्चित्साधुर्दशमपाराञ्चितप्रायश्चित्तस्थानं प्राप्तवान्, प्राप्य चाऽगृहीत गृहस्थवेष एव प्रायश्चित्तं ग्रहीतुं पुनः संयमं प्रतिपत्तुं च गणनायकसमीपे समुपस्थितो भवेत् स यावत्पर्यन्तं गृहस्थवेषं न परिधारयेत्, साधुवेषे एव व्यवस्थितो भवेत् तावत्पर्यन्तं गणनायको न तमुपस्थापयेत्, न कथमपि संयमं तस्मै दद्यादितिभाव.। कथम्भूतं पाराञ्चितमुपस्थापयेदिति सूत्रोत्तरार्द्धेनाह—**'पारंचियं'** इत्यादि ।

'पारंचियं भिक्खुं' पाराञ्चितं भिक्षुं दशमप्रायश्चित्तस्थानप्राप्तं श्रमणम् 'गिहिभूयं' गृहीभूतं गृहस्थलिङ्गे वर्तमानं पुनः संयमप्रतिपत्तये गणनायकस्य समीपमागतम् 'कप्पइ' कल्पते 'तस्स गणावच्छेयगस्स' तस्य गणावच्छेदकस्य 'उवट्ठावित्तए' उपस्थापयितुं पुनः संयमे स्थापयितुं कल्पते इति पूर्वेण सम्बन्धः ॥ सू० १९ ॥

सम्प्रति सूत्रकारः स्वयमेव अनवस्थाप्य—पाराञ्चितविषयेऽपवादमाह—'अणवट्ठप्पं' इत्यादि।

सूत्रम्—अणवट्ठप्पं भिक्खुं पारंचियं वा भिक्खुं गिहिभूयं वा अगिहिभूयं वा कप्पइ तस्स गणावच्छेयगस्स उवट्ठावित्तए जहा तस्स गणस्स पत्तियं सिया ॥ सू० २० ॥

छाया—अनवस्थाप्यं भिक्षुं पाराञ्चितं वा भिक्षुं गृहीभूतमगृहीभूतं वा कल्पते तस्य गणावच्छेदकस्योपस्थापयितुम्, यथा तस्य गणस्य प्रत्ययं स्यात् ॥ सू० २० ॥

भाष्यम्—'अणवट्ठप्पं' अनवस्थाप्यम्—अनवस्थाप्यनामकनवमप्रायश्चित्तस्थानप्राप्तं भिक्षुम्, एवं पाराञ्चितं वा दशमप्रायश्चित्तस्थानप्राप्तं वा भिक्षुं 'गिहिभूयं वा' गृहीभूतं वा गृहस्थलिङ्गधारिणं वा 'अगिहिभूयं वा' अगृहीभूतं वा गृहस्थलिङ्गरहितं साधुवेषे एव स्थितं वा 'कप्पइ तस्स गणावच्छेयगस्स' कल्पते तस्य गणावच्छेदकस्य 'उवट्ठावित्तए' उपस्थापयितुं पुनरपि संयमे प्रवेशयितुम्। कथं पुनस्तौ उपस्थापनायोग्यौ भवेताम्? तत्राह—'जहा' इत्यादि। 'जहा तस्स गणस्स पत्तियं सिया' यथा येन प्रकारेण तस्य गणस्य यस्य स उपस्थापनीयो विद्यते तस्य गणस्य प्रत्ययं प्रतीतिः तद्विषयको विश्वासः स्यात्, तथा कृत्वा कल्पते नान्यथा। अत्र यद् अगृहीभूतस्योपस्थापनं कथितं तद् अपवादविषयकं स्यात् तस्योत्सर्गतः प्रतिषिद्धत्वात्।

अयं भावः—नवमप्रायश्चित्तस्थानप्राप्तं दशमप्रायश्चित्तस्थानप्राप्तं वा भिक्षुं गृहस्थलिङ्गवन्तं कृत्वा, यद्वा—गृहस्थलिङ्गवन्तमकृत्वैव गणनायकस्य कल्पते पुनस्तं संयमे उपस्थापयितुम्, तदत्र कारणमाह—यदि स नवमदशमप्रायश्चित्तापन्नः श्रमणः राज्ञ उपकारी भवेत् तदा राजानुवृत्त्या तमगृहीभूतमेवोपस्थापयितुं कल्पते। यद्वा स अन्यतैर्थिकैः सह वादे वादलब्धिमान् भवेत्, तैः सह वादकरणं साधुवेषेणैवोचितं भवेत्तदा तस्य प्रवचनप्रभावकत्वादगृहीभूतस्यैवोपस्थापनं कल्पते, इत्यादिप्रवचनप्रभावनारूपकारणैरेवं करणे गणस्य विश्वासो भवेदिति। यद्वाऽन्यदपि कारणं भवेद् यथा—यदि कश्चिदाचार्यो नवमप्रायश्चित्तस्थानं दशमप्रायश्चित्तस्थानं वा समापद्य गणावच्छेदकसमीपे तत्प्रायश्चित्तार्थं समुपस्थितो भवेत्तस्य गृहस्थलिङ्गदाने तस्य शिष्या विवदेयुः—यदि ममाचार्यं गृहस्थलिंगं करिष्यथ तदा समुद्यता वयमधिकरणमुत्पादयिष्यामः, एवं करणेऽस्माकमाचार्यस्य प्रायश्चित्तं लोके प्रकाशितं भविष्यति तेन लोके शङ्का

समुत्पद्येत-यदनेनाचार्येण नवमं दशमं वा प्रायश्चित्तस्थानं सेवितमिति वयं न सहिष्यामः। इत्यादि कारणैरपि प्रवचनोड्डाहभयादगृहीभूतस्याप्युपस्थापनं कर्त्तव्यं स्यादित्यपवादसूत्रस्य भावः ॥ सू० २० ॥

पूर्वमनवस्थाप्य-पाराञ्चितयोः पुनरुपस्थापनविधिः प्रोक्त, साम्प्रतमेकत्रविहरतोर्द्वयोः साधर्मिकश्रमणयोर्मैथुनप्रतिसेवनविषयकविवादे निर्णयप्रकारमाह-'दो साहम्मिया' इत्यादि।

सूत्रम्—दो साहम्मिया एगयओ विहरंति, एगे तत्थ अण्णयरं अकिच्चट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अहण्णं भंते! अमुएणं साहुणा सद्धिं इमंमि य कारणंमि मेहुणपडिसेवी, पच्चयहेउं च सयं पडिसेवियं भणइ तत्थ पुच्छियव्वे किं पडिसेवी? अपडिसेवी?, से य वएज्जा पडिसेवी परिहारपत्ते। से य वएज्जा णो पडिसेवी णो परिहारपत्ते। जं से पमाणं वयइ से य पमाणाओ घेतव्वे सिया से किमाहु भंते, सच्चपइण्णा ववहारा ॥ सू० २१ ॥

छाया - द्वौ साधर्मिकौ एकतो विहरतः, एकः तत्राऽन्यतरमकृत्यस्थानं प्रतिसेव्य आलोचयेत्-अहं खलु भदन्त! अमुकेन साधुना सार्द्धमस्मिन् कारणे मैथुनप्रतिसेवी प्रत्ययहेतोश्च स्वयं प्रतिसेवितं भणति, तत्र प्रष्टव्यः किं प्रतिसेवी? अप्रतिसेवी?, स च वदेत् प्रतिसेवी परिहारप्राप्तः, स च वदेत् नो प्रतिसेवी नो परिहारप्राप्तः। यत् स प्रमाणं वदति स च तस्मात् प्रमाणात् गृहीतव्यः स्यात्। अथ किमाहुर्भदन्त, सत्यप्रतिज्ञा व्यवहाराः ॥ सू० २१ ॥

भाष्यम्—'दो साहम्मिया' द्वौ साधर्मिकौ समानधर्मिणौ 'एगयओ विहरंति' एकत एकेन संघाटेन विहरतः तिष्ठत. 'एगे तत्थ' तत्र तयोर्द्वयोर्मध्ये एक कश्चित् इतरस्याऽभ्याख्याननिमित्तम् 'अण्णयरं अकिच्चट्ठाणं' अन्यतरत् प्राणातिपातादिषु यत् किमप्येकमकृत्यस्थानं प्रतिसेवितवान् 'पडिसेवित्ता' प्रतिसेव्य प्रतिसेवनं कृत्वा 'आलाएज्जा' आलोचयेत् स्ववचसा स्वकृतातिचारजातं गुरुसमीपे कृतपापस्थानस्यालोचनां कुर्यात्। आलोचनाप्रकारमेव दर्शयति-'अहण्णं भंते' अहं खलु भदन्त! हे गुरो! 'अमुएणं साहुणा' सद्धिं अमुकेन येन केनचित् अनिर्दिष्टनामकेन साधुना सार्द्धम् अमुकेन साधुना सहितो भूत्वेत्यर्थः 'इमंमि य कारणंमि' अस्मिन् प्रतिसेवनार्थमाग्रहादिकरणे 'मेहुणपडिसेवी' मैथुनप्रतिसेवी मैथुनप्रतिसेवनं कृतवानित्यर्थः. अमुकेन साधुना सह विचरन् तस्याग्रहेण मैथुनसेवी जातोऽस्मीति भावः।

स कस्मात् कारणात् आत्मानमप्रतिसेविनमपि प्रतिसेविनमभ्युपगच्छति न पुनः केवलं परस्याऽभ्याख्यानमेव कथं न ददाति? तत आह-'पच्चयहेउं च' इत्यादि, 'पच्चयहेउं च सयं पडिसेवियं भणइ' प्रत्ययहेतु च स्वयमात्मानमपि प्रतिसेविनं भणति परेषामाचार्याणां तथाऽन्येषां च साधूनाम् 'एषः सत्यमेव वदति अन्यथा को नाम स्वकीयमात्मानमप्रतिसेविनं प्रति-

सेविनमभिभन्येत । इत्याकारको यः प्रत्ययो विश्वासः स सर्वेषां भवतु, अस्मादेव कारणात् स्वस्याप्यकृत्यं भणति । एवमुक्ते तस्मिन् आचार्यः किं कुर्यादित्याह–'तत्थ' इत्यादि, 'तत्थ पुच्छियव्वे' तत्र, तादृशपरिस्थितिप्रसङ्गे यस्योपरि अभ्याख्यानं तेन दत्तं स समाहूयाचार्येण प्रष्टव्यः, कथं प्रष्टव्यः ? इत्याह–'किं पडिसेवी अपडिसेवी' किं भवान् प्रतिसेवी वा अथवा अप्रतिसेवी ? इति, भवान् मैथुनं सेवितवान् वा–अथवा न सेवितवान् ? एवं पृष्टे सति यदि–'से य वएज्जा पडिसेवी परिहारपत्ते' स च वदेत् प्रतिसेवी सत्यमयं वदति । इत्येवं कथने स साधुः परिहारप्राप्तः परिहारतपोयोग्यो भवति ततः तस्मै तदकृत्यप्रतिसेवनजनितपापान्निवृत्त्यर्थं परिहारनामकं तपः प्रायश्चित्तरूपेण दातव्यम्, उपलक्षणमेतत् तस्मात् छेदमूलाऽनवस्थाप्यपाराञ्चितनामकमपि प्रायश्चित्तं यथोचितमकृत्यप्रतिसेवकाय आचार्येण दातव्यमिति भावः । अथ च 'से य वएज्जा णो पडिसेवी णो परिहारपत्ते' स च वदेत् नो प्रतिसेवी, नाहं प्रतिसेवी, अभ्याख्यानमात्रमेतत्, इति वदेत् तदा स न परिहारप्राप्तः परिहारनामकतपोभाग् न भवति । अथैवं स्थिते कथं निश्चेतव्यं यदयमकृत्यस्थानं प्रतिसेवितवान् न वा ? तत्राह–'जं से पमाणं' इत्यादि, जं से पमाणं वयइ से य पमाणाओ घेतव्वे सिया' सः प्रतिसेवी यत् प्रमाणं वदति तस्मात् प्रमाणात् स ग्रहीतव्यः, स च अभ्याख्यानदाता प्रतिसेवनायाः प्रमाणं वदति कथयति, तस्मात् प्रमाणात्गृहीतव्यो निश्चेतव्यः स्यात्, तथा प्रतिसेवकस्य कथनानुसारेणैव निश्चयः कर्त्तव्यः यदयं मैथुनं प्रतिसेवितवान्, यद्वा न प्रतिसेवितवानिति, तत्र यदि प्रमाणाद् एवं निश्चयो जायते यदयं मैथुनं प्रतिसेवितवान् तदा तस्मै परिहाराद्यन्यतमप्रायश्चित्तं यथायोग्यं दातव्यम्, यद्यत्र प्रमाणात् अयमकृत्यस्थानं न प्रतिसेवितवान् इत्याकारको निषेधविषयको निश्चय आचार्यस्य भवेत् तदा तस्मै परिहारादि प्रायश्चित्तं न दातव्यमिति भावः । तद्वचनादेव सर्वव्यवस्था कर्त्तव्या भवेदिति । शिष्यः पृच्छति–'से किमाहु भंते' अथ किमाहुर्भदन्त ? अथ कस्मात् कारणात् भवान् एवं कथयति यत् तत्कथनानुसारमेव प्रायश्चित्तं दातव्यं न वा दातव्यमिति अत्र किं कारणम् ? आह–'सच्चपइण्णा ववहारा' सत्यप्रतिज्ञाः व्यवहाराः, हे शिष्य ! व्यवहाराः जिनशासनव्यवहाराः सत्यप्रतिज्ञाः सत्यप्रतिज्ञावन्तस्तीर्थकरैर्दर्शिता इति सत्यमेव प्रतिज्ञा प्रमाणं ये ते सत्यप्रतिज्ञाः व्यवहाराः सत्यमूलका एवैते जिनशासने प्ररूपिता इति । अत्र कश्चित् शङ्कते–किमर्थमेकः साधुरन्यस्मिन्नभ्याख्यानमारोपयति ? तत्रेदं कारणं संभवेत्–यः कश्चित् रत्नाधिकः अन्यं रत्नाधिकमीर्ष्यया अवमरत्नाधिकं कर्तुमिच्छेत्–यदहं रत्नाधिकोऽस्मि नायं रत्नाधिक इति गर्वेण कषायोदयेन वा एव कुर्यात् । अत्रायं भावः सद्भूतार्थे ज्ञाते सति यदि तत्प्रतिसेवनं द्वयोः सत्यं भवेत्तदा द्वयोरपि मूलं दीयते । अथालीकमभ्याख्यानं तदा योऽभ्याख्यातः स शुद्ध इतरोऽशुद्धः ।

तस्याभ्याख्यानदातुर्मूलं प्रायश्चित्तं न दीयते किन्तु तस्मै अलीकनिमित्तकं मृषावादप्रत्ययं चतुर्गुरुकं प्रायश्चित्तं दातव्यमिति ॥ सू० २१ ॥

पूर्वं मैथुनाभ्याख्यानविषये सनिर्णयं प्रायश्चित्तविधिरुक्तः, संप्रति-अवधावकविषयं तद्विधिमाह-'भिक्खूयय' इत्यादि ।

सूत्रम्—भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म ओहाणुपेही वएज्जा, से आहच्च अणोहाइओ से य इच्छेज्जा दोच्चंपि तमेव गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए। तत्थ णं थेराणं इमेयारूवे विवाए समुप्पज्जिज्जा-इमं अज्जो ! जाणह किं पडिसेवी किं अपडिसेवी ? से य पुच्छियव्वे-किं पडिसेवी किं अपडिसेवी ? से य वएज्जा पडिसेवी परिहारपत्ते, से य वएज्जा नो पडिसेवी नो परिहारपत्ते, जं से पमाणं वयइ से य पमाणाओ घेतव्वे, से किमाहु भंते ! सच्चपइण्णा ववहारा ॥ सू० २२॥

छाया—भिक्षुश्च गणादवक्रम्याऽवधावनानुप्रेक्षी व्रजेत् सः आहत्य अनवधावितः स इच्छेत् द्वितीयमपि तमेव गणमुपसंपद्य खलु विहर्तुम्, तत्र खलु स्थविराणामयमेतद्रूपो विवादः समुत्पद्येत-इदम् आर्य ! जानासि किं प्रतिसेवी अप्रतिसेवी ? स च प्रष्टव्यः किं प्रतिसेवी अप्रतिसेवी ?, स च वदेत् प्रतिसेवी परिहारप्राप्तः, स च वदेत्—नो प्रतिसेवी नो परिहारप्राप्तः, यं स प्रमाणं वदति तस्मात् प्रमाणात् ग्रहीतव्यः । अथ किमाहुर्भदन्त ! सत्यप्रतिज्ञा व्यवहाराः ॥ सू० २२ ॥

भाष्यम्—'भिक्खू य' भिक्षुश्च 'गणाओ अवक्कम्म' गणात् स्वकीयगच्छात् अपक्रम्य निःसृत्य 'ओहाणुपेही वएज्जा' अवधावनाऽनुप्रेक्षी व्रजेत् तत्राऽवधावनम् संयमादसंयमे गमनं तदनुप्रेक्षी सन् व्रजेत् गच्छेत्, मोहोदयाद् भोगावलिकर्मोदयाद्वा संयमत्यागेच्छया गच्छेदित्यर्थः, 'से आहच्च अणोहाइओ' स आहत्य—कदाचित् अनवधावितः स प्रबलशुभकर्मोदयाद् विषयवाञ्छोपशमनेन असंयममप्राप्तः, एतादृशः 'से य इच्छेज्जा' स च पुनरपि इच्छेत्, किं पुनरिच्छेत् ? तत्राह—'दोच्चंपि' इत्यादि, 'दोच्चंपि तमेव गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए' द्वितीयमपि वारं पुनरपि तमेव गणमुपसंपद्य खलु विहर्तुं स्थातुम् शुभकर्मोदयात् संघाटकोपदेशाद्वा अपरित्यक्तसाधुलिङ्गः पापाप्रतिसेवी एव पुनरपि तमेव गणमागत्य संयमं पालयितुमिच्छेत् इत्यर्थः, तस्यागमने 'तत्थ णं' तत्र खलु गच्छे विद्यमानानाम् 'थेराणं' स्थविराणां 'इमेयारूवे' अयमेतद्रूपः वक्ष्यमाणस्वरूपः 'विवाए' विवादः अनेकप्रकारक ऊहापोहलक्षणः 'समुपज्जिज्जा' समुत्पद्येत, कीदृशो विवादः समुत्पद्येत ? तत्राह—'इमं अज्जो' इत्यादि, 'इमं अज्जो, जाणह' इदं भो आर्याः ! यूयं जानीत 'किं पडिसेवी अपडिसेवी' किमयं प्रतिसेवी अत्रतो गत्वा अकृत्यप्रतिसेवन कृतवान् ? अथवा 'अपडिसेवी' अप्रतिसेवी अकृत्यप्रतिसेवनं न कृतवान् वा ? इत्याकारको विवादः ऊहापोहरूपः परस्परं समुत्पद्येत तदा एवमुपर्युक्तप्रकारेण विवादे जाते सति 'से य-

पुच्छियव्वे' तन्निर्णयाय स एव यः अवधावितः स एव, अथवा अस्य सार्धं साक्षिरूपेण प्रेषितो भवेत् स वा साधुः प्रष्टव्यः। किं प्रष्टव्यः ? तत्राह–'**किं पडिसेवी ? अपडिसेवी**' ? प्रथमं तमेवाऽऽहूय गणनायकेन स प्रष्टव्यः–किं भोः! त्वमत्रतो गत्वा अकृत्यं प्रतिसेवितवानसि ? अथवा न प्रतिसेवितवानसि ? । यस्तेन सार्धं गतः सोऽप्येवमेव प्रष्टव्यः–यदयम् अकृत्यं प्रतिसेवितवान् ? न वे ? ति । उपर्युक्तप्रकारेण सत्यस्वरूपं ज्ञातुं गणनायकेन पृष्टः सन् '**से य वएज्जा**' स च वदेत्, स पृष्टः साधुर्यदि वदेत्–'**पडिसेवी**' प्रतिसेवी अहमकृत्यप्रतिसेवनां कृतवानस्मि तदा '**परिहारपत्ते**' परिहारप्राप्तः परिहारतपोयोग्यो जातः, आचार्येण पृष्टः प्रतिसेवको यदि स्वीकरोति प्रतिसेवनां तदा तदीयमेव वचन प्रमाणीकृत्याऽऽचार्यः तस्मै परिहारनामकं तपः प्रायश्चित्तरूपेण दद्यादिति भावः । '**से य वएज्जा नो पडिसेवी नो परिहारपत्ते**' स च यदि वदेत् नो प्रतिसेवी तदा नो परिहारप्राप्तो भवति, न परिहारतपःप्रायश्चित्तभाग् भवति । आचार्येण पृष्टः सः यदि कथयेत्–यत् नाहमकृत्यं प्रतिसेवितवानस्मि तदा तद्वचनमेव प्रमाणीकृत्याऽऽचार्यो नो परिहारतपो दद्यात्, तस्मै अप्रतिसेवकाय परिहारनामकं तपो न दद्यादिति भावः । कथमेवम् ? तत्राह—'जं से' इत्यादि, '**जं से पमाणं वयइ से पमाणाओ घेत्तव्वे**' यत्स प्रमाणं वदति तस्मादेव प्रमाणात् स सत्योऽसत्योवेति निश्चेतव्यः, तद्वचनप्रमाणेनैव सत्यार्थाऽसत्यार्थयोर्निर्णयः कर्त्तव्य इति भावः । '**से किं माहु भंते !**' अथ किमर्थं कस्माद्धेतोरेवमाहुर्भदन्त ! हे भदन्त! कथमेवमुच्यते यत् तस्य वचनप्रमाणेनैव सत्यासत्यनिर्णयः कर्त्तव्यः ? यावता एवं सति कुत्रापि सत्यार्थनिश्चयो न स्यात् नहि कोऽपि स्वकृतमकृत्यस्थानप्रतिसेवनं प्रकाशयिष्यति लज्जया लोकनिन्दाभयाद्वा तत्कथमेवं तद्वचनमेव प्रमाणीक्रियते भवता ? इति शिष्यस्य जिज्ञासायामाचार्यः प्राह–'**सच्चपइण्णा ववहारा**' सत्यप्रतिज्ञा व्यवहाराः प्रायश्चित्तरूपा व्यवहाराः सत्यप्रतिज्ञाः प्रतिज्ञयैव सत्या जिनैर्निर्दिष्टाः ॥ सू० २२॥

दिवंगते आचार्योपाध्याये तत्पदेऽन्याचार्योपाध्यायस्थापनविधिमाह–'**एगपक्खियस्स**'इत्यादि ।

सूत्रम्—एगपक्खियस्स भिक्खुयस्स कप्पइ आयरियउवज्झायाण इत्तरियं दिसं वा अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा जहा वा तस्स गणस्स पत्तियं सिया ॥ सू०२३॥

छाया—एकपाक्षिकस्य भिक्षुकस्य कल्पते आचार्योपाध्यायानाम् इत्वरिकां दिशं अनुदिशं वा उद्देष्टुं वा धारयितुं वा यथा वा तस्य गणस्य प्रत्ययं स्यात् ॥ सू० २३॥

भाष्यम्—'**एगपक्खियस्स**' एकपाक्षिकस्य एकः समानः पक्ष इत्येकपक्षः सोऽस्यास्येत्येकपाक्षिकः प्रव्रज्यया श्रुतेन च, तस्य इत्थंभूतस्य '**भिक्खुयस्स**' भिक्षुकस्य आचार्ये

उपाध्याये वा मृते सति 'कप्पइ' कल्पते 'आयरियउवज्झायाणं' आचार्योपाध्याययोः 'इत्तरियं' इत्वरिकां कियत्कालभाविनीम् अल्पकालिकीम् यावदन्यो विशिष्टतर आचार्योपाध्यायपदयोग्यः प्रव्रज्याश्रुताभ्यामेकपाक्षिको न लभ्यते तावत्कालिकीम् इत्वरग्रहणमुपलक्षणं यावत्कथिकां च यावज्जीवभाविनीम् 'दिसं वा अणुदिसं वा' तत्र दिशम् आचार्यत्वमुपाध्यायत्वं वा, अनुदिशं वा आचार्योपाध्यायपदद्वितीयस्थानवर्त्तित्वं वा 'उद्दिसित्तए' उद्देष्टुं कर्त्तुम्, यद्वा 'धारित्तए वा' स्वयमेव धारयितुम् 'जहा तस्स गणस्स पत्तियं सिया' यथा येन प्रकारेण तस्य गणस्य प्रत्ययं विश्वासः स्यात्, तथा दिशमनुदिशं वा उद्दिशेत्, मृते आचार्योपाध्याये तत्पदेऽन्य कमपि स्थापयेत् स्वमात्मानं वा स्थापयेत् येन गणस्य विश्वासः स्यात् तथैव कर्त्तव्यम् योग्यस्यैकपाक्षिकस्याभावे भिन्नपाक्षिकमपि अपवादपदेन स्थापयेत्, किन्तु गणमाचार्योपाध्यायशून्यं न कुर्यादिति । अयं भावः—यद्याचार्योपाध्याययोराकस्मिकमरणादिना गच्छे तदभावे जाते सनाथयितुं यावत्पर्यन्तं पदवीयोग्यः श्रमणो न मिलेत् तावत्कालं साधारणमपि यस्योपरि गणस्य विश्वासः स्यात् तादृश साधुमाचार्योपाध्यायपदे स्थापयितुं कल्पते अनेन प्रकारेण स्थापितः आचार्यः उपाध्यायो वा इत्वरोऽल्पकालिक. इति कथ्यते । अथ यदि कश्चिद्योग्यः सारणावारणादिगच्छकार्यदक्षो बहुश्रुत एकपाक्षिकः प्राप्यते यदुपरि गच्छस्य विश्वासश्च स्यात् स यावज्जीवमाचार्यपदे उपाध्यायपदे वा स्थापयितुं कल्पते, स च यावज्जीवकः यावत्कथिक इति कथ्यते इति ।

अत्र प्रव्रज्यया श्रुतेन चेति पदद्वयस्य चतुर्भङ्गी जायते, यथा एकः प्रव्रज्यया श्रुतेन च एकपाक्षिकः १, द्वितीयो न प्रव्रज्यया किन्तु श्रुतेन २, तृतीयः प्रव्रज्यया किन्तु न श्रुतेन ३, चतुर्थो न प्रव्रज्यया न श्रुतेन ४ इति । अत्र प्रथमो भङ्गः शुद्धः, चतुर्थो भङ्गोऽशुद्धः, ततः आद्येषु त्रिषु भङ्गेषु एकैकस्याभावे उत्तरोत्तरो ग्राह्य इति । एकपाक्षिको द्विविधः एकवाचनाक', एकप्रव्रज्याकश्च, तत्र एकवाचनाकः एका समाना परस्परं वाचना यस्य स एकवाचनाकः एकगुरुकुलाधीनः, एकप्रव्रज्याकः एकस्मिन् कुले प्रव्रज्या यस्य स एककुलवर्त्ती, उपलक्षणात् एकगच्छवर्त्ती, सहाध्यायी वा गृह्यते इति । गच्छाधिपतिराचार्यो द्विविधो भवति—अभ्युद्यतपरिकर्मा अभ्युद्यतमरणो वा, अभ्युद्यतः उद्युक्तः परिकर्मणि विहारादिपरिकर्मणि यः स अभ्युद्यतपरिकर्माः, द्वितीय. अभ्युद्यतमरणः—अभ्युद्यतः उद्युक्तः मरणे भक्तप्रत्याख्यानादिना असाध्यरोगविशेषेण वा यः स अभ्युद्यतमरणः । एष एकैको द्विविधः—गच्छसापेक्षो गच्छनिरपेक्षो वा. तत्रैको गच्छव्यवस्थायामपेक्षावान्, अन्यो गच्छव्यवस्थां प्रति निरपेक्षः स्यात् । यो गच्छसापेक्ष' स्यात् सः अभ्युद्यतविहारपरिकर्मा वा अभ्युद्यतमरणो वा जीवन्नेव यः कश्चिदेकपाक्षिकः प्रव्रज्याश्रुताभ्यां भवेत्तं स्वपदे पूर्वमेव स्थापयति येन तदनुरक्तो गच्छः कालगतेऽपि तस्मिन्नाचार्ये परस्परप्रेमानुभावतो न विनाशमुपैति । यः पुनर्गच्छनिरपेक्षो भवेत्

स गच्छस्य शुभाशुभव्यवस्थामुपेक्ष्य स्वयं जीवन् नान्यं गच्छयोग्यं साधुं स्वपदे युवराजत्वेन स्थापयति तेन तस्मिन् कालगते परस्परकलहभावतो गच्छो विनाशमुपैति तस्माज्जीविते एव स्वस्मिन् आचार्ये उपाध्यायो वा स्थापनीय इति। प्रस्तुतं सूत्रं तु गच्छनिरपेक्षाचार्यविषयकम्। एवं सति गच्छवासिनो यस्मिन् विश्वासः स्यात्तमेकपाक्षिकम् अपवादे भिन्नपाक्षिकं वा साधुमाचार्योपाध्यायत्वेन स्थापयेयुः, येनास्वामिको गच्छो न भवेदिति ॥ सू० २३ ॥

सूत्रम्—वहवे परिहारिया वहवे अपरिहारिया इच्छेज्जा एगयओ एगमासं वा दुमासं वा तिमासं वा चाउम्मासं वा पंचमासं वा छम्मासं वा वत्थए ते अन्नमन्नं संभुंजंति अन्नमन्नं नो संभुंजंति मासंते तओ पच्छा सव्वेवि एगयओ संभुंजंति ॥ सू० २४ ॥

छाया—वहवः पारिहारिकाः वहवोऽपारिहारिकाः इच्छेयुः एकत्र एकमासं वा द्विमासं वा त्रिमासं वा चतुर्मासं वा पंचमासं वा षण्मासं वा वस्तुम् ते अन्योऽन्यं संभुञ्जते अन्योन्यं नो संभुञ्जते मासान्ते ततः पश्चात् सर्वेऽपि एकत्र संभुञ्जते ॥ सू० २४ ॥

भाष्यम्—'**वहवे परिहारिया**' वहवोऽनेके द्वित्रादयः पारिहारिकाः संप्राप्तपरिहारतपःप्रायश्चित्तवन्तः '**वहवे अपरिहारिया**' बहवः प्रभूता द्वित्रादयोऽपारिहारिकाः पारिहारिकभिन्नाः दोषाभावात् परिहारतपोवर्जिताः शुद्धा इत्यर्थः सर्वे ते अशिवादिकारणवशात् तपोवहननिमित्तं वा '**इच्छेज्जा**' इच्छेयुः, किमिच्छेयुस्ते सर्वे ? तत्राह—'**एगयओ**' इत्यादि, '**एगयओ**' एकतः एकत्रस्थाने '**एगमासं वा**' एकमासं वा मासैकमात्रं वा '**दुमासं वा**' द्विमासं वा मासद्वयं वेत्यर्थः '**तिमासं वा**' त्रिमासं वा मासत्रयमित्यर्थः, '**चाउम्मासं वा**' चतुर्मासं वा मासचतुष्टयं यावदित्यर्थः '**पंचमासं वा**' पञ्चमासं वा मासपञ्चकमित्यर्थः, '**छम्मासं वा**' षण्मासं वा मासषट्कं वा '**वत्थए**' वस्तुं यावद् अशिवादि निवर्तेत तावत् एकत्र वासं कर्तुमिति, तत्र '**ते अन्नमन्नं संभुंजंति**' इति ते पारिहारिकाः अन्योऽन्यं परस्परं पारिहारिकाः पारिहारिकैः सार्धं '**संभुंजंते**' सर्वप्रकारैः संभोगं कुर्वन्ति तेषां सादृश्यात्, '**अन्नमन्नं नो संभुंजंति**' इति पारिहारिकाः यावत्कालपर्यन्तं परिहारतपो वहंति तावत्पर्यन्तं ते परस्परं पारिहारिकाः पारिहारिका मिलित्वा संभुञ्जते इत्यर्थः वा अथवा अपारिहारिकैः साकं न संभुञ्जते। अयं भावः—ये प्रतिपन्नपरिहारतपोवन्तस्ते, तथा ये परिहारतपोऽधुना न वोढुमारब्धवन्तस्ते, एते परस्परं न संभुञ्जते, एवं पारिहारिका अपारिहारिकाश्च एतेऽपि परस्परं न संभुञ्जते इति। प्रतिपन्नपरिहारतपसः पारिहारिकास्तु परस्परं संभुञ्जते इति पूर्वमुक्तमेवेति। '**मासंते**' यैः षण्मासा. सेविताः तेषां यः षण्मासोपरिवर्ती मासस्तं यावत्, षण्मासोपरि एकमासपर्यन्तमित्यर्थः ते पारिहारिकाः परस्परं पारिहारकैः सममपारिहारिकैर्वा सममेकत्र न संभुञ्जते, आलापादीनि तु परस्परं कुर्वन्ति। '**तओ पच्छा**' ततः पश्चात् षण्मासोपरि मासपरिपूर्णानन्तरम् '**सव्वेवि एगयओ संभुंजंति**' सर्वेऽपि प्रतिसेवितपरिहारतपसः अपरिहारिकाश्चैकतः एकत्र स्थाने संभुञ्जते सर्वप्रकारैः संभोगं कुर्वन्ति, अत्र ये पारिहारिकाऽ-

पारिहारिका दुर्भिक्षादिकारणवशादेकत्र वसन्ति तेषां मध्ये प्रतिसेवितषाण्मासिकतपसः षण्मासोपरि एको मासः कथं भवेत् ? इति दर्शयितुं गाथामाह---'पणगं पणगं' इत्यादि ।

"पणगं पणगं मासे, दिवसाणं वड्ढणं च तं वज्जे ।
एवं छम्मासेसु य, एगो मासो य वड्ढेइ" ॥१॥

छाया---पञ्चकं पञ्चकं मासे, दिवसानां वर्धनं च तद् वर्जयेत्
एवं षण्मासेषु च, एको मासश्च वर्धते ॥१॥

व्याख्या---'पणगं पणगं मासे' दिवसाणं' मासे मासे यत् दिवसानां पञ्चकं पञ्चकं रात्रिन्दिवपञ्चकम्, 'वड्ढणं' वर्धनं परिवर्धन भवति 'तं वज्जे' तद् दिवसपञ्चकं प्रत्येकस्मिन् मासे परिपूर्णे तदुपरि पञ्च पञ्च दिवसान् वर्जयेत् संभोगे । 'एवं छम्मासेसु य' एवम् अनेन क्रमेण षण्णां मासानामुपरि एको मासो वर्धते तं वर्जयेत् परित्यजेत् , षण्मासानन्तरं तदुपरितनमासेऽपि तैः सह संभोगं वर्जयेत् आलापादिकं तु क्रियते । अयं भावः-यो हि कश्चित् श्रमणो मासिकमेव परिहारतपः प्राप्तवान्, तस्य मासं वहतः आलापनादिकं सर्वं वर्जितं भवति । मासे व्यूढे सति यत् तदुपरि पञ्चरात्रिन्दिवे व्यतीते आलापनादीनि सर्वाणि क्रियन्ते, केवलं पञ्चरात्रिन्दिवं यावत् भोजनमात्रमेव वर्ज्यते । एवं यो द्वौ मासौ आपन्नं परिहारतपस्तस्य मासद्वयोपरि दशरात्रिन्दिवं यावत् आलापनादीनि क्रियन्ते केवलं सहभोजनं वर्ज्यते । एवं यस्त्रीन्मासान् आपन्नस्तस्य मासत्रयोपरि पञ्चदशरात्रिन्दिवं यावत, यश्च चतुरो मासानापन्नस्तस्य मासचतुष्टयोपरि विंशतिरात्रिंदिवं यावत् , यः पञ्चमासानापन्नस्तस्य पञ्चमासोपरि पञ्चविंशतिदिवसान् यावत् , यस्तु षण्मासानापन्नः तस्य षण्मासेषु व्यूढेषु तदुपरि एकं मासं यावदेकत्र स्थाने तैः सह केवलं भोजनमेव वर्ज्यते, आलापनादिकं तु सर्वं सर्वत्र क्रियते एवेति । अत्रेदमुक्तं भवति--तपोवहनकाले तपोवाहकेन सार्धं संलापादिकमपि कोऽपि न कुर्यात् किन्तु गृहीतमासतपोवहनानन्तरं तदुपरि प्रतिमासं पञ्चपञ्चदिवसक्रमेण तेषु दिवसेषु आलापनादीनि कर्त्तव्यानि भवेयुः, किन्तु सहभोजनं तु यथागृहीतमासोपरि यस्मिन् एकमासिकादितपसि यानि रात्रिन्दिवानि लभ्यन्ते तेषु व्यतीतेषु कर्त्तुं कल्पते इति ।

ननु ऋतुबद्धेषु मासेषु कृतापराधस्य वर्षामासेष्वेव प्रायश्चित्तं दीयते इति श्रूयते तत्र किं कारणम्, उचितं तु येन यदैव यदाचरितं प्रतिसेवनादिकं तस्य तदैव प्रायश्चित्तं दातव्यं भवेत् ? तत्राह-वर्षाकाले परिहारतपःप्रायश्चित्तदाने नास्ति दोषाणां संभावना प्रत्युत बहवो गुणा एव भवन्ति ।

अयं भावः—यदि ऋतुबद्धे काले परिहारतपो दीयेत, ततः तस्मिन् दत्ते सति यदि मासकल्पः परिपूर्णो भवति तदा तस्य तत्स्थानात् विहार आवश्यक इति कृत्वा विहरन्ति तदा सन्तापादयो दोषाः संभवन्ति ।

अथ यदि विहारं न कुर्वन्ति तत्रैव तिष्ठन्ति तदा भद्रकप्रान्तकृतदोषा भवेयुः। तत्र भद्रकृता दोषा अतिपरिचयादुद्गमादिसंभवः, प्रान्तकृतदोषाः बहुचिरादेकत्रावस्थानेन क्षुद्र-जनकृताक्षेपरूपाः 'यदेतेऽत्रैव तिष्ठन्ति न च कुत्रापि विहरन्ती'ति। वर्षाकाले तु एते दोषाः प्रायो न भवन्ति। वर्षाकाले प्रायो बहवः प्राणा उत्पद्यन्ते ततो भिक्षाचर्या दीर्घा न भवति ? वर्षाकालस्य स्निग्धतया स कालो बलिष्ठस्तेन तपः कुर्वतां बलोपष्टम्भं करोति। तथा वर्षा-कालस्य तपोऽनुष्ठानाश्रयतया सर्वेषां समतत्वेन कस्याऽपि विशेषतो रागस्य द्वेषस्य चाऽसंभ-वादिति। तथा कल्पाध्ययनप्रतिपादिता गुणा अपि वर्षाकाले संभवन्ति। एतस्मादेव कारणात् वर्षाकाले एव विशेषतः परिहारतपो दीयते इति ॥ सू० २४ ॥

पूर्वसूत्रे पारिहारिकाऽपारिहारिकाणामाहारादिसंभोगे विधिः प्रतिपादितः, साम्प्रतं पारिहारि-कस्तपश्चरणेन क्षीणशरीरो भवेत् तेन तस्य विकृतिकाहारग्रहणमावश्यकमिति तस्मै अशनादिदाने विधिमाह—'परिहारकप्पट्ठियस्स' इत्यादि।

सूत्रम्—परिहारकप्पट्ठियस्स भिक्खुस्स णो कप्पइ असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा दाउं वा अणुप्पदाउं वा, थेरा णं वएज्जा इमं ता अज्जो ! तुमं एएसिं देहि वा अणुप्पदेहि वा एवं से कप्पइ दाउं वा अणुप्पदाउं वा कप्पइ से लेवं अणुजाणावित्तए अणुजाणह भंते ! लेवाए एवं से कप्पइ लेवं समासेवित्तए ॥सू०२५॥

छाया—परिहारकल्पस्थितस्य भिक्षोर्नो कल्पते अशनं वा पानं वा खाद्यं वा स्वाद्यं वा दातुं वा अनुप्रदातुं वा, स्थविराः खलु वदेयुः इमं तावत् हे आर्य ! त्वमेतेभ्यो देहि वा अनु-प्रदेहि वा, एवं तस्य कल्पते दातुं वा अनुप्रदातुं वा, कल्पते तस्य लेपमनुज्ञापयितुम्, अनुजानीत भदन्त ! लेपाय एवं तस्य कल्पते लेपं समासेवितुम् ॥ सू० २५ ॥

भाष्यम्—'परिहारकप्पट्ठियस्स' परिहारकल्पस्थितस्य परिहारकल्पे परिहारनामतपो-विशेषे स्थित इति परिहारकल्पस्थितः, तस्य परिहारतपसो वहनं कुर्वतः परिहारकल्पस्थितस्य समापन्नपरिहारतपस इत्यर्थः **'भिक्खुस्स'** भिक्षोः **'नो कप्पइ'** नो कल्पते **'असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा'** अशनादिचतुर्विधाहारवस्तुजातं **'दाउं वा अणुप्पदाउं वा'** दातुं वा अनुप्रदातु वा परिहारकल्पस्थितस्य भिक्षोः अशनादिकं वस्तुं दातुं स्वहस्तेन न कल्पते न वा अनुप्रदातुं परम्परयाऽन्यसकाशाद् वा दापयितुम्। अनुप्रदातुमित्यत्राऽनुशब्दः परंपरार्थबोधकः, तेन साक्षादपि दातुं न कल्पते न वा परम्परया दातुं कल्पते इत्यर्थः। एवं किं सर्वथा न कल्पते ? इत्यत्राह—**'थेरा णं'** इत्यादि, **'थेरा णं वएज्जा'** स्थविराः खलु वदेयुः-यदि पुनः स्थविराः गणनायकाः कश्चित् साधुं वदेयुराज्ञापयेयुः। किं वदेयु ? तत्राह—**'इमं**

ता' इमं तावत् परिहारकल्पस्थितं भिक्षुम् 'अज्जो' हे आर्य ! 'तुमं' त्वम् 'एएसिं देहि वा अणुप्पदेहि वा' एतेभ्यः पारिहारकेभ्यः देहि अशनादिचतुर्विधमाहारम्, अनुप्रदेहि वा परम्परया अन्यसकाशाद्दापय, एवं पूर्वोक्तप्रकारेण स्थविरैः अनुज्ञाते सति 'से कप्पइ दाउं वा अणुप्पदाउं वा' तस्याज्ञापितस्य साधोः कल्पते दातुं वा अनुप्रदातुं वा। यदि तद् अशनादिकं लेपमयं विकृतिकादिरूपं भवेत् तदा पारिहारकस्य तद् विकृतिकादिकं स्थविराज्ञामन्तरेण भोक्तुं न कल्पते, ततः किं कुर्यादित्याह–'कप्पइ से लेवं अणुजाणावित्तए' कल्पते तस्य लेपमनुज्ञापयितुं, तस्य पारिहारिकस्य कल्पते लेपरूपविकृतिकादिनिमित्तमनुज्ञापयितुं तद्भोजने आज्ञां ग्रहीतुं कल्पते, तदेवाह–'अणुजाणह भंते ! लेवाए' हे भदन्त ! यूयमनुजानीथ लेपाय विकृतिकाहारकरणाय, 'एवं' एवंप्रकारेणानुज्ञापने कृते सति 'से कप्पइ लेवं समासेवित्तए' तस्य पारिहारिकस्य कल्पते लेपं विकृतिकाहारं समासेवितुं भोक्तुं पारिहारिकतपो वहतो दुग्धादिगुरुकमाहारं गरिष्ठत्वान्नोचित्तं भवेत् तस्मात् स्थविराज्ञामादायैव तत्सेवनमुचित्तं, स्थविराणां द्रव्यक्षेत्रादिबलाबलादिज्ञायकत्वादिति भाव ॥ सू० २५ ॥

पूर्वं पारिहारिकस्याऽशनादिदानविधिरुक्तः, साम्प्रतं पारिहारिकपात्रगृहीताऽशनादिभोजने अपारिहारिकस्य विधिमाह–'परिहारकप्पट्ठिए' इत्यादि ।

सूत्रम्—परिहारकप्पट्ठिए भिक्खू सएणं पडिग्गहेणं बहिया अप्पणो वेयावडियाए गच्छेज्जा, थेरा य तं वएज्जा–पडिग्गाहेहि अज्जो ! अहंपि भोक्खामि वा पाहामि वा, एवं णं से कप्पइ पडिग्गाहित्तए, तत्थ णो कप्पइ अपरिहारिएणं परिहारियस्स पडिग्गहंसि असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा भोत्तए वा पायए वा, कप्पइ से सयंसि पडिग्गहंसि सयंसि पलासगंसि कमढगंसि वा सयंसि खुव्वगंसि पाणिंसि वा उद्धट्टु उद्धट्टु वा भोत्तए वा पायए वा, एस कप्पे अपरिहारियस्स परिहारियओ ॥ सू० २६ ॥

छाया—परिहारकल्पस्थितो भिक्षुः स्वकीयेन प्रतिग्रहेण बहिरात्मनो वैयावृत्त्याय गच्छेत्, स्थविराश्च तं वदेयुः प्रतिगृह्णीयाः–आर्य ! अहमपि भोक्ष्ये वा पास्यामि वा, एवं खलु तस्य कल्पते परिग्रहीतुम्, तत्र नो कल्पते अपारिहारिकेण पारिहारिकस्य प्रतिग्रहे अशनं वा पानं वा खाद्यं वा स्वाद्यं वा भोक्तुं वा पातुं वा, कल्पते तस्य स्वकीये प्रतिग्रहे वा स्वकीये पलाशके कमढके वा स्वकीये खुव्वके वा पाणौ वा उद्धृत्य उद्धृत्य भोक्तुं वा पातुं वा एष कल्पोऽपारिहारिकस्य पारिहारिकतः ॥ सू० २६ ॥

भाष्यम्—'परिहारकप्पट्ठिए' परिहारकल्पस्थितः 'भिक्खू' भिक्षुः 'सएणं पडिग्गहेणं' स्वकीयेन स्वात्मसंबन्धिना प्रतिग्रहेण पात्रेण 'बहिया' बहिः उपाश्रयाद् बहिः 'अप्पणो वेयावडियाए' आत्मनः स्वस्य वैयावृत्त्याय संयमयात्रां निर्वाहयितुमशनाद्याहाराऽऽनयनाय 'गच्छेज्जा'

गच्छेत् स्वकीयसंयमयात्रानिर्वाहाय पारिहारिको भिक्षुः स्वकीयपात्रमादाय भिक्षामानेतुमाचार्याज्ञया उपाश्रयाद् बहिर्गच्छेदित्यर्थः, तत्समये 'थेरा य तं वएज्जा' तं परिहारिकं भिक्षामानेतुं बहिः प्रस्थितं ममार्थमाहाराद्यनेतुं द्वितीयवारं पुनर्गमने कष्टसंभव., इति विचार्य स्थविराः वदेयुः मधुर-वचसा संबोध्य कथयेयुः। किं कथयेयुः ? तत्राह—'पडिग्गाहेहि'इत्यादि, 'पडिग्गाहेहि अज्जो ! अहंपि भोक्खामि वा पाहामि वा' प्रतिगृहीयाः खलु आर्य ! मदर्थमप्यशनादि अहमपि भोक्ष्ये पास्यामि वा, हे आर्य ! त्वं गच्छसि भिक्षामानेतुमतोऽस्मद्योग्यमपि अशनादिकं स्वकीय-पात्रके एव गृहीत्वा आनय, अहमपि त्वदानीतं भोक्ष्ये त्वदानीतं दुग्धादिकमपि पास्यामि, 'एवं णं से कप्पइ पडिग्गाहित्तए' एवं खलु पूर्वोक्तप्रकारेण स्थविरैः कथिते सति 'से' तस्य पारिहारिकस्य कल्पते स्थविरयोग्यमन्नपानादिकमपि स्वकीये पात्रे प्रतिग्रहीतुम्। अथ भोजन-विधिमाह—'तत्थ णो कप्पइ' तत्र तस्मिन् समानीतेऽशनादौ नो नैव कल्पते 'अपारिहारिएणं पारिहारियस्स पडिग्गहंसि' अपारिहारिकेण सता पारिहारिकस्य प्रतिग्रहे पात्रे 'असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा भोत्तए वा पायए वा' अशनं वा पानं वा खाद्यं वा स्वाद्यं वा भोक्तुं वा पातुं वा परिहारकस्य पात्रे अशनादिकं भोक्तुमपारिहारिकस्य स्थविरस्य न कल्पते इत्यर्थः किन्तु—'कप्पइ से सयंसि पडिग्गहंसि' कल्पते, तस्याऽपारिहारादिकस्य स्थविरादेः स्वकीये पात्रे काष्ठमये पात्रे 'सयंसि पलासगंसि कमढगंसि' स्वकीये पलाशके कम-ढके शुष्कपलाशपत्रनिर्मिते कमढके द्रोणकाभिधपात्रविशेषे 'सयंसि खुव्वगंसि वा' स्वकीये खुव्वके संपुटितोर्द्धमुखकरतलद्वयरूपे खोबा इति प्रसिद्धे 'सयंसि पाणिंसि वा' स्वकीये हस्ते वा 'उद्धट्टु उद्धट्टु भोत्तए वा पायए वा' उद्धृत्य उद्धृत्य अवकृष्याऽवकृष्य भोक्तुं वा पातुं वा कल्पते इति 'एस कप्पे अपारिहारियस्स पारिहारियओ' एषः पूर्वोक्तः कल्प आचारः अपारिहारिकस्य परिहारतपोवर्जितस्य शुद्धस्य साधोः पारिहारिकत पारिहारिकमधिकृत्य कथितस्तीर्थकरैरिति ॥ सू० २६ ॥

साम्प्रतमपारिहारिकाऽऽनीताशनादिभोजने पारिहारिकस्य विधिमाह—'परिहारकप्पट्ठिए' इत्यादि।

सूत्रम्—परिहारकप्पट्ठिए भिक्खू थेराणं पडिग्गहेणं बहिया थेराणं वेयावडियाए गच्छेज्जा थेरा य वएज्जा पडिग्गाहेहि अज्जो ! तुमंपि एत्थ भोक्खसि वा पाहसि वा एवं से कप्पइ पडिग्गाहित्तए, तत्थ णो कप्पइ पारिहारिएणं अपारिहारियस्स पडिग्ग-हंसि असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा [illegible] वा पायए वा, कप्पइ से सयंसि

पडिग्गहंसि वा सयंसि पलासगंसि कमढगंसि वा सयंसि खुव्वगंसि वा सयंसि पाणिंसि वा उद्धट्टु उद्धट्टु भोत्तए वा पायए वा एस कप्पे पारिहारियस्स अपारिहारियओ त्ति बेमि ॥ सू० २७ ॥

ववहारस्स बीओ उद्देसो समत्तो ॥२॥

छाया—परिहारकल्पस्थितो भिक्षुः स्थविराणां प्रतिग्रहेण बहिः स्थविराणां वैयावृत्याय गच्छेत् स्थविराश्च वदेयुः परिगृहाण आर्य ! त्वमपि अत्र भोक्ष्यसे वा पास्यसि वा, एवं तस्य कल्पते प्रतिग्रहीतुम्, तत्र नो कल्पते पारिहारिकेणाऽपारिहारिकस्य प्रतिग्रहे अशनं वा पानं वा खाद्यं वा स्वाद्यं वा भोक्तुं वा पातुं वा, कल्पते तस्य स्वकीये प्रतिग्रहे स्वकीये पलाशके कमढके वा स्वकीये खुव्वके वा स्वकीये पाणौ वा उद्धृत्योद्धृत्य भोक्तुं वा पातुं वा एष कल्पः पारिहारिकस्याऽपारिहारिकतः, इति ब्रवीमि ॥ सू० २७ ॥

व्यवहारस्य द्वितीय उद्देशः समाप्तः ॥ २ ॥

भाष्यम्—'परिहारकप्पट्ठिए भिक्खू' परिहारकल्पस्थितो भिक्षुः 'थेराणं' स्थविराणां 'पडिग्गहेणं' प्रतिग्रहेण पात्रेण 'बहिया' बहिर्वसतेर्वहिर्भागे 'थेराणं वेयावडियाए' स्थविराणां वैयावृत्याय स्थविरार्थं भिक्षानयनाय 'गच्छेज्जा' गच्छेत् यदा गन्तुं प्रस्थितो भवेत् तदा 'थेरा य वएज्जा' "नूनं सर्वगृहेषु भिक्षायाः सममेककालमेव वर्तते ततोऽयं पारिहारिकोऽस्मद्योग्यां भिक्षां प्रथममादाय पश्चादयमात्मयोग्यां भिक्षामानेतुं नगरे प्रविष्टो न किमपि भोज्यजातं लप्स्यते" इति विचिन्त्य स्थविराः पारिहारिकं वदेयुः कथयेयुः 'अज्जो' हे आर्य ! 'अत्थ' अत्र अस्मिन्नेव मदीये प्रतिग्रहे 'पडिग्गाहेहि' प्रतिगृहाण त्वदर्थमपि भिक्षां, ततः 'तुमंपि एत्थ भोक्खसि वा पाहसि वा' त्वमप्यत्र मदीयपात्रे समानीतमशनादि भोक्ष्यसि वा पास्यसि वा 'एव से कप्पइ पडिग्गाहित्तए' एवं स्थविरैरुक्ते सति 'से' तस्य भिक्षार्थं गतस्य पारिहारिकस्य कल्पते प्रतिग्रहीतुम् स्थविरपात्रे स्वनिमित्तमपि भिक्षां ग्रहीतुम् । भिक्षाऽऽनयनानन्तर भोजनविधिमाह—'तत्थ णो कप्पइ' इत्यादि, 'तत्थ णो कप्पइ' तत्र समानीताशनादौ नो कल्पते 'पारिहारिएण अपारिहारियस्स' पारिहारिकेणाऽपारिहारिकस्य 'पडिग्गहंसि' प्रतिग्रहे पात्रे 'असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा भोत्तए वा पायए वा' अशनं वा पानं वा खाद्यं वा स्वाद्य वा भोक्तुं वा पातुं वा । तर्हि कथं कल्पते ? तत्राह—'कप्पइ' इत्यादि, 'कप्पइ से सयंसि पडिग्गहंसि' किन्तु—कल्पते 'से' तस्य पारिहारिकस्य स्वकीये प्रतिग्रहे पात्रे 'सयंसि पलासगंसि कमढगंसि वा' स्वकीये पलाशके शुष्कपलाशपत्रनिर्मिते कमढके द्रोणकाभिधपात्रविशेषे वा 'सयंसि खुव्वगंसि वा' स्वकीये खुव्वगे संपुटितकरतलरूपे खोबा इति प्रसिद्धे वा 'सयंसि पाणिंसि वा' स्वकीये पाणौ वा 'उद्धट्टु उद्धट्टु' उद्धृत्योद्धृत्य स्वपाणिना

अवकृष्यावकृष्य 'भोएत्तए वा पायत्तए वा' भोक्तुं वा पातुं वा कल्पते ॥ सम्प्रति उपसंहारमाह—'एस कप्पे' इत्यादि, 'एस कप्पे पारिहारियस्स अपारिहारियओ' एषः पूर्वोक्तः कल्पः पारिहारिकस्य परिहारकल्पस्थितस्याऽपारिहारिकतः अपारिहारिकमधिकृत्य कथित इति। एतत् सूत्रद्वयं स्थविराणां पार्श्वे अन्यवैयावृत्त्यकारकाऽपारिहारिकश्रमणाभावे ज्ञातव्यमिति। 'त्तिबेमि' इति ब्रवीमि। सुधर्मस्वामी जम्बुस्वामिनं कथयति—यन्मया भगवतो वर्द्धमानस्वामिनो मुखात् श्रुतं तत् तव ब्रवीमि कथयामि न तु स्वमनीषिकया किञ्चिदपि कथयामि। एतावता श्रुतस्याऽप्रामाणिकता निराकृता ॥ सू० २७ ॥

इति श्री—विश्वविख्यात—जगद्वल्लभ—प्रसिद्धवाचक—पञ्चदशभाषाकलितललितकलापालापक—प्रविशुद्धगद्यपद्यनैकग्रन्थनिर्मापक—वादिमानमर्दक—श्रीशाहूछत्रपतिकोल्हापुरराजप्रदत्त-"जैनाचार्य"—पदभूषित—कोल्हापुरराजगुरु—बालब्रह्मचारि-जैनाचार्य—जैन-धर्म-दिवाकर—पूज्यश्री—घासीलालव्रतिविरचितायां "व्यवहारसूत्रस्य" भाष्यरूपायां व्याख्यायां द्वितीय उद्देशकः समाप्तः ॥२॥

॥ अथ तृतीयोद्देशकः प्रारभ्यते–

व्याख्यातो द्वितीयोद्देशकः, सम्प्रति तृतीयः प्रारभ्यते, तत्र द्वितीयोद्देशकस्य चरमसूत्रेण सहास्यतृतीयोद्देशकादिसूत्रस्य कः सम्बन्धः ? इति प्रथमं सम्बन्धप्रतिपादिकां गाथामाह भाष्यकारः—'परिहारिय०' इत्यादि ।

भाष्यम्—परिहारियथेराणं, असणाणयणे य तस्स परिभोगे ।
वुत्तो विही य पुव्वं, गणस्स धारणविही एत्थ ॥१॥

छाया—पारिहारिकस्थविरयोरशनानयने च तस्य परिभोगे ।
उक्तो विधिश्च पूर्वं गणस्य धारणविधिरत्र ॥ १ ॥

व्याख्या —'परिहारिय०' इति । 'पुव्वं' पूर्वं द्वितीयोद्देशकस्य चरमसूत्रे पारिहारिकस्थविरयोः पारिहारिकतपोवहमानस्य स्थविरस्य च निमित्तमशनादीनामानयने, तस्याशनादेः परिभोगे परिभोगविषये च विधिरुक्तः–प्रतिपादितः । पारिहारिकः स्थविरश्च भिक्षुरेव भवतीति 'एत्थ' अत्र तृतीयोद्देशकस्यादिसूत्रे तस्य भिक्षोः गणस्य धारणे विधिः कथयिष्यते, इत्येष एव सम्बन्धः पूर्वापरोद्देशकयोर्विज्ञेयः ॥१॥

अनेन सम्बन्धेनाऽऽयातस्यास्य तृतीयोद्देशकस्येदमादिसूत्रम्—'भिक्खू य' इत्यादि ।

सूत्रम्—भिक्खू य इच्छेज्जा गणं धारित्तए. भगवं च से अपलिच्छण्णे एवं से नो कप्पइ गणं धारित्तए । भगवं च से पलिच्छन्ने एवं से कप्पइ गणं धारित्तए ॥ सू० १ ॥

छाया—भिक्षुश्च इच्छेत् गणं धारयितुं भगवाँश्च स अपरिच्छिन्नः एवं तस्य नो कल्पते गणं धारयितुम्, भगवाँश्च स परिच्छन्नः एवं तस्य कल्पते गणं धारयितुम् ॥ सू० १ ॥

भाष्यम्—'भिक्खू य' इति । भिक्षुश्च कश्चित् साधुः '**इच्छेज्जा**' इच्छेत् '**गणं धारित्तए**' गणं साधुसमुदायं धारयितुं गणस्य गणधरत्वं कर्त्तुमिच्छेत्, अयं भावः–कोऽपि भिक्षुः कियतां साधूना गणं कृत्वा 'इमं साधुसमुदाय ममाधीनं कृत्वाऽन्यत्र विहरिष्यामी'-ति बुद्ध्या साधुसमुदायस्य गणधरत्वं कर्त्तुमिच्छेदिति । '**भगवं च से**' गणधारणेच्छुः स अनगारो भगवान् यदि '**अपलिच्छण्णे**' अपरिच्छन्नः परिच्छेदरहितो भवेत् परिवारवर्जितो भवेत् तत्र परिच्छदो द्रव्यभावभेदतो द्विविधः, द्रव्यतः परिच्छदः शिष्यपरिवारः, भावतः परिच्छदः आचाराङ्गादिच्छेदपर्यन्तं सूत्रजातम्, द्विधापि परिच्छेदरहितः, तत्र द्रव्यतः स्वप्रव्राजितसाधुसमुदायरहितः, भावत आचाराङ्गादिसूत्रज्ञानरहित. स्यात् '**एवं से**' एवम् एतादृशस्थितौ तस्यापरिच्छन्नस्य भिक्षोः '**नो कप्पइ**' न कल्पते '**गणं धारित्तए**' गणम् अन्यदीयसाधुसमुदायरूपं गच्छं धारयितुम् तस्य द्रव्यभावतो द्विधापि गणधरणयोग्यताया अभावादिति । यदि '**भगवं**

च से' भगवांश्च सः अनगारः 'पलिच्छन्ने' परिच्छन्नः द्रव्यभावपरिच्छेदयुक्तो भवेत् 'एवं से' एवं सति एतादृशस्थितौ द्रव्यभावपरिच्छेदयुक्तत्वे सति 'से' तस्य 'कप्पइ' कल्पते 'गणं धारित्तए' गणं धारयितुम्, तस्य द्विधाऽपि गणधरणयोग्यतायाः सद्भावादिति।

अत्र द्रव्यभावमधिकृत्य परिच्छन्नापरिच्छन्नविषया चतुर्भङ्गी प्रदर्श्यते, तथाहि—

एकः—द्रव्यतोऽपरिच्छन्नः, भावतोऽपि अपरिच्छन्नः १।

द्वितीयः—द्रव्यतोऽपरिच्छन्नः, भावतः परिच्छन्नः २।

तृतीयः—द्रव्यतः परिच्छन्नः भावतोऽपरिच्छन्नः ३।

चतुर्थः—द्रव्यतः परिच्छन्नः, भावतोऽपि परिच्छन्नः ४।

अस्यां चतुर्भङ्ग्यां चतुर्थभङ्गवर्ती शुद्धः, शेषा भङ्गत्रयवर्त्तिनः अशुद्धा इति। अत्र प्रस्तुतसूत्रे चतुर्थभङ्गवर्ती एव गणधरपदे स्थापयितुं योग्य इति सूत्रार्थः॥ सू० १॥

पूर्वं द्रव्यभावपरिच्छन्नो भिक्षुर्गणधरणयोग्यो भवतीति प्रोक्तम्, साम्प्रतं स द्रव्यभावपरिच्छन्नो भिक्षुर्यदि मनस्येवं चिन्तयेत्-यत् सूत्रे प्रोक्तम्-यो भिक्षुर्द्रव्यभावपरिच्छन्नो भवेत्स गणं धारयितुं शक्नोति ततोऽहमुभाभ्यामपि परिच्छन्नोऽस्मि ततः किमहं तन्न कुर्याम्? अतोऽहं गणं धारयामि किमत्र स्थविराणां परिपृच्छायाः प्रयोजनम्? इति विचार्य भिक्षुर्गणं धारयेत्, तत्र स्थविरान् अनापृच्छ्य गणं धारयितुं भिक्षोर्न कल्पते इति प्रदर्शयति सूत्रकारः—'भिक्खू य' इत्यादि।

सूत्रम्—भिक्खू य इच्छेज्जा गणं धारित्तए नो से कप्पइ थेरे अणापुच्छित्ता गणं धारित्तए। कप्पइ से थेरे आपुच्छित्ता गणं धारित्तए। थेरा य से वियरेज्जा एवं से कप्पइ गणं धारित्तए, थेरा य से नो वियरेज्जा एवं से नो कप्पइ गणं धारित्तए। जण्णं थेरेहिं अविइण्णं गणं धारेज्जा से संतरा छेए वा परिहारे वा॥ सू० २॥

छाया—भिक्षुश्च इच्छेत् गणं धारयितुं नो तस्य कल्पते स्थविरान् अनापृच्छ्य गणं धारयितुम्। कल्पते तस्य स्थविरान् आपृच्छ्य गणं धारयितुम्। स्थविराश्च तस्य वितरेयुः एवं तस्य कल्पते गणं धारयितुम्। स्थविराश्च नो वितरेयुः एवं तस्य नो कल्पते गणं धारयितुम्। यत् खलु स्थविरैः अवितीर्णं गणं धारयेत् तस्य सान्तरात् छेदो वा परिहारो वा॥ सू० २॥

भाष्यम्—'भिक्खू य' इति। भिक्षुश्च 'इच्छेज्जा' इच्छेत् 'गणं धारित्तए' गणं धारयितुं साधुसमुदायरूपं गणं कृत्वा तदुपरि गणाधिपत्यं कर्तुमिच्छेत् तदा तत्र 'से' तस्य भिक्षोः 'नो कप्पइ' नो कल्पते 'थेरे अणापुच्छित्ता' स्थविरान् अनापृच्छ्य स्थविराज्ञामनादाय 'गणं धारित्तए' गणं धारयितुम्। तर्हि कथं कल्पते? इत्याह—'से' तस्य

गणधारणेच्छुकस्य भिक्षोः 'कप्पइ' कल्पते 'थेरे आपुच्छित्ता' स्थविरान् आपृच्छ्य स्थविराज्ञामादाय 'गणं धारित्तए' गणं धारयितुम्। पृष्टेषु तेषु यदि 'थेरा य' स्थविराश्च 'वियरेज्जा' वितरेयुः गणधारणार्थमाज्ञां दद्युः 'धारय इमं गणं त्वम्' इति तदा 'से' तस्य 'कप्पइ' कल्पते 'गणं धारित्तए' गणं धारयितुं स्वसत्तायां कर्त्तुम्। 'थेरा य' यदि पृष्टाश्च ते स्थविराः 'नो वियरेज्जा' प्रतिकूलद्रव्यभावादिकारणवशात् नो वितरेयुः गणधारणस्याज्ञां नो दद्यु. तदा 'नो से कप्पइ' नो तस्य कल्पते 'गणं धारित्तए' गणं धारयितुम्—'आज्ञाप्रधाना जिनव्यवहाराः' इत्यतः स्थविराज्ञामन्तरेण गणं धारयितुं भिक्षोर्नो कल्पते इति भावः।

यदाचार्यः पूर्वोक्तस्वरूपं द्रव्यभावपरिच्छन्नं भिक्षुं स्मारणावारणादिलब्धिसम्पन्नं गणनायकपदं धारयितुं योग्यं मत्वा गणधारणाज्ञां दद्यात् तदा स गणनायकपदे व्यवस्थितो भवितुमर्हति नान्यथेति तात्पर्यम्। यद्येवमकृत्वा 'जण्णं' यत् खलु 'थेरेहिं अविइण्णं' स्थविरैरवितीर्णम् अदत्तं 'गणं धारेज्जा' गणं धारयेत् स्थविराज्ञामन्तरेण तैरनाज्ञप्तं गणधारणं कुर्यात् तदा 'से' तस्य 'संतरा' सान्तरात् स्वकृतादन्तराद्, यद्वा यावत्कालं तेन गणो धारितः तावत्कालिकमन्तरमधिकृत्य प्रायश्चित्तं 'छेए वा परिहारे वा' छेदो वा परिहारो वा वाशब्दादन्यद्वा देशकालोचितं प्रायश्चित्तमापन्नं भवतीति सूत्रार्थः ॥ सू० २ ॥

पूर्वं भिक्षोर्गणधारणविधिमुपदर्श्य साम्प्रतम् उपाध्यायः कीदृग्गुणसम्पन्नो भवितुमर्हतीति उपाध्यायसूत्रमाह—'तिवासपरियाए' इत्यादि।

सूत्रम्—तिवासपरियाए समणे निग्गंथे आयारकुसले संजमकुसले पवयणकुसले पन्नत्तिकुसले संगहकुसले उवग्गहकुसले अक्खयायारे अभिन्नायारे असबलायारे असंकिलिट्ठायारे बहुस्सुए बब्भागमे जहन्नेणं आयारकप्पधरे कप्पइ उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए ॥ सू० ३ ॥

छाया—त्रिवर्षपर्यायः श्रमणो निर्ग्रन्थ आचारकुशलः संयमकुशलः प्रवचनकुशलः प्रज्ञप्तिकुशलः संग्रहकुशलः उपग्रहकुशलः अक्षताचारः अभिन्नाचारः अशबलाचारः असंक्लिष्टाचारः बहुश्रुतः बह्वागमः जघन्येन आचारकल्पधरः कल्पते उपाध्यायतया उद्देष्टुम् ॥ सू० ३ ॥

भाष्यम्—'तिवासपरियाए' इति। त्रिवर्षपर्यायः त्रीणि वर्षाणि पर्यायः दीक्षापर्यायो जातो यस्य स त्रिवर्षपर्यायः प्रव्रज्याग्रहणानन्तरं त्रिवर्षात्मकः कालः संयमाराधने यस्य व्यतीतो भवेत् स त्रिवर्षपर्यायः कथ्यते। इत्थम्भूतः कः? इत्याह—'समणे' इत्यादि, 'समणे' श्रमणः, तत्र श्राम्यति तपस्यति संयमाराधनाय तपस्यां करोति यः स श्रमणो भिक्षुकः। श्रमणस्तु कदाचित् शाक्यादिभिक्षुरपि भवतीत्यतः तेषां व्यवच्छेदायाह—'णिग्गंथे' निर्ग्रन्थः, तत्र निर्गतः दूरं गतो ग्रन्थात् द्रव्यतो धनधान्यहिरण्यादिरूपात्, भावतः कषायमिथ्यात्वाऽविरत्यादिलक्षणात्

यः स निर्ग्रन्थः, नहि भवति शाक्यादिभिक्षुर्द्रव्यभावोभयग्रन्थरहितः अतः स निर्ग्रन्थो न भवतीति निर्ग्रन्थ इति कथितम् । स पुनः कथम्भूतः ? इति तद्विशेषणान्याह–'**आयार०**' इत्यादि, '**आयारकुसले**' आचारकुशलः ज्ञानादिपञ्चाऽऽचारदक्षः । कुशलो द्विधा भवति–द्रव्यतो भावतश्च । तत्र कुशल इति कुशं दर्भं लुनातीति कुशलः, यः कुशं दात्रेण यथा लुनाति न क्वचिदपि कुशो दात्रेण विच्छिन्नो भवति स द्रव्यकुशलः, यः पुनः ज्ञानादिपञ्चविधाचाररुपेण दात्रेण कर्मरूपं कुशं लुनाति स भावकुशलः ज्ञानाद्याचारेण कर्मकुशलः कर्मच्छेदको यः स आचारकुशलः, आचारविषयकसम्यक्परिज्ञानवान् इत्यर्थः, अन्यथा कर्मकुशच्छेदकाऽनुपपत्तेः । अथवा–कुशलशब्दो दक्षवाची तेनाऽऽचारे ज्ञातव्ये प्रयोक्तव्ये वा कुशलो दक्षः स आचारकुशल इति ।

अयं भावः—आचारकुशलः, तत्र आचारः ज्ञानाद्याचारविनयाचारभेदेन द्विविधः । तत्र ज्ञानाद्याचारो यथा–यः स्वस्वोचिते काले स्वाध्यायं प्रतिलेखनादिकं स्वोचितं तपश्च करोति, आत्मनो ज्ञानादिकमधिकं निर्मलतर च वाञ्छन् सदैव गुरुषु वहुमानपरो भवति । एष ज्ञानाद्याचारः प्रतिपादितः । यो रत्नाधिकानामागच्छतामभ्युत्थानं करोति, आसनं ददाति, समागतानां पीठफलकाद्युपनयति, गच्छतां प्रति आसनादिकं नयति, तथा प्रतिलेखनानन्तरम् आगत्य आचार्यान् प्रार्थयति-आदिशतु भदन्त ! किं करोमीति, अभ्युपेतानामात्मसमीपवर्त्तित्वं करोति, यथानुरूपं रत्नाधिकानां कृतिकर्म करोति, मधुरं वदति, चापल्यकौकुच्यवञ्चनारहितो वर्त्तते, इत्यादिः सर्वोऽपि वीर्याचारोऽवसेयः । एवं ज्ञानाद्याचारे विनयाचारे च कुशलः स आचारकुशलः कथ्यते । '**संजमकुसले**' संयमकुशलः, तत्र–संयमः पृथिवीकायसंयमादिभेदेन सप्तदशविधः, तस्मिन् संयमे ज्ञातव्ये परिपालने वा कुशलो दक्ष इति संयमकुशलः । **अयं भावः**–संयमकुशलो नामः यः उपकरणानामादानं निक्षेपणं च प्रतिलेख्य प्रमार्ज्य च करोति । अनेन प्रेक्षासंयमः प्रमार्जनासंयमश्चोक्तः । एतद्ग्रहणेन तज्जातीयाः शेषा अभ्युपेक्षादिसंयमानां ग्रहणं भवति । तथा यः शय्यामुपधिमाहारं च उद्गमोत्पादनैषणाशुद्धं गृह्णाति, संयोजनादिमण्डलदोषरहितं च भुङ्क्ते, स्थानशयनाद्यपि कुर्वाणः प्रत्युपेक्ष्य प्रमार्ज्य च करोति । य एतेषु सर्वेष्वपि संयमेषु स्मृतिमान् भवति स संयमकुशलः कथ्यते '**स्मृतिमूलमनुष्ठानमवितथम्**' इति वचनात् । पुनश्च–अप्रशस्तानां मनोवाक्काययोगानामपवर्जनम्, शुभानां चैषामभियोजनं करोति । तथा श्रोत्रादीन्द्रियाणां क्रोधादिकषायाणां च निग्रहं करोति । तथा श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि तत्तद्विषये नो व्यापारयति, प्राप्तेषु च शुभाशुभेषु तद्विषयेषु शब्दाद्यर्थेषु रागं द्वेषं च न करोति । उदयितुं प्रवृत्तान् क्रोधादीन् निरुणद्धि, उदयप्राप्तांस्तान् विफलीकरोति । तथा प्राणातिपाताद्याश्रवान् पिदधाति । आर्त्तरौद्रध्यानपरिहारेण धर्म्ये शुक्ले च ध्यानेऽनिगूहितवलवीर्यतया प्रवृत्तो भवति । ततस्त्रिकरणविशुद्धो यो इहलोकाद्याशंसादिविप्रमुक्तत्वात् मनसाऽप्यसंयमान् अभिलाषान् नाभि-

लयति स संयमकुशलः कथ्यते। 'पवयणकुसले' प्रवचनकुशलः, तत्र प्रवचनं जिनवचनं, तत्परिपालने कुशलः, तस्मिन् ज्ञातव्ये तदुपदेशे वा कुशलो दक्षो यः स प्रवचनकुशलः। **अयं भावः**—प्रवचनकुशलो नाम यः सूत्रस्य तदर्थस्य हेतुकारणप्रतिपादनपूर्वकं धारको न तु अक्षराराधनमात्रधारकः, अर्थनिर्णयप्रदानादिना श्रुतरत्नानां निधानमिव पूर्णः पूर्वापराऽव्याहतत्वेन प्रवचनस्य निश्चायकः, बहुश्रुताचार्यसकाशाद् वाचनाग्राहित्वाद् विपुलवाचनादायकः, प्रवचनमधीत्यात्मनो हितमाचरति अन्येषां च हितमुपदिशति, प्रवचनाऽवर्णभाषिणां निग्रहे समर्थः, अनिगूहितस्वशक्तित्वेन प्रवचनप्रभावकः, स्वपरसंसारनिस्तारणे समर्थो भवति स प्रवचनकुशलः कथ्यते इति। 'पन्नत्तिकुसले' प्रज्ञप्तिकुशलः, तत्र प्रज्ञप्तिर्नाम स्वसमयपरसमयप्ररूपणारूपा, तथा च स्वकीयशास्त्रप्रतिपादितानि, तथा परदर्शनप्रतिपादितानि यानि पदार्थजातानि तेषां ज्ञाने कुशलो निपुणो यः स प्रज्ञप्तिकुशलः। यः स्वसमयप्ररूपणानियममधिकृत्य कुसमयान् मथ्नाति स प्रज्ञप्तिकुशलः कथ्यते इति भावः। 'संगहकुसले' संग्रहकुशलः—संग्रहे दक्षः तत्र संग्रहणं सम्यग्रूपेणोपादानम् इति। स च संग्रहो द्विप्रकारकः, तद्यथा—द्रव्यतो भावतश्च, तत्र द्रव्यतः संग्रह आहारोपधिपात्रादीनाम्, भावतः संग्रहः सूत्रार्थयोः। तयोर्द्विप्रकारकयोरपि संग्रहयोः करणे कुशलो दक्षो यः स संग्रहकुशलः। **अयं भावः**-संग्रहकुशलो नाम—द्रव्यभावतः सूत्रार्थादिवस्तुजातस्य स्वात्मनि संग्राहकः, तथाहि—गृहीतमौनव्रतस्याभाषणे केनापि कृतप्रश्नस्योत्तरभाषणम्, वाचनादानेन क्लान्ते गुरौ साधूनां वाचनादानम्, देशकालानुसारेण आचार्यादीनां ग्लानाद्यनुकम्पनस्य स्मारणम्, यथादेशकालं बालवृद्धाऽसहानामनुकम्पनम्, सामाचार्यां सीदतां कथञ्चिद् रुष्टानां वा शास्त्रोपदेशतोऽनुशासनम्, ज्ञानाचारादिषु अभ्युद्यतानामुपबृंहणम्, यद् यस्योपकारकं भक्तमुपधिर्वा तत्तस्य स्वयमानीय प्रदानम्, सीवनलेपनादिकुर्वतो दृष्ट्वा—इच्छाकारेण भवत इदमहं करोमीति भणनं तत्करणं कारापणं वाऽन्यसकाशात् इत्यादिगुणानां संग्रहो यस्मिन् विद्यते स संग्रहकुशल इति। 'उवग्गहकुसले' उपग्रहकुशलः, तत्रोप - सामीप्येन ग्रहणमुपग्रहः, स चोपग्रहो द्विप्रकारकः, तद्यथा—द्रव्यतो भावतश्च। तत्र येषां साधूनामाचार्य उपाध्यायो वा गणप्रवर्त्तको न विद्यते तान् आत्मसमीपे समानीय तेषामित्वरां दिशं इत्वरकालभाविनीं दिशम् आचार्यत्वमुपाध्यायत्वं च प्रकल्प्य तान् तावत्पर्यन्तं धारयति यावदाचार्य उपाध्यायो वा निष्पाद्यते, अयं च द्रव्यत उपग्रहः। यः खलु विशेषेण सर्वेषामेव सूक्ष्मबादरजीवानामुपकारे वर्त्तते स भावत उपग्रहः, तत्र कुशल उपग्रहकुशलः, तत्र उपग्रहो नाम—बालासमर्थवृद्धमार्गगमनादिश्रान्ततपःक्लान्तवेदनार्त्तजातरोगातङ्कानां शय्यानिषद्योपधिभक्तपानौषधभैषज्यौपग्रहिकोपकरणादिभिरुपग्रहोपष्टम्भकरणम्। कथमित्याह—पूर्वोक्तबालादिभ्यः पूर्वोक्तं शय्यादिवस्तुजातं स्वयं ददाति, अन्यैर्वा दापयति, तथा स्वयं वैयावृत्त्यादि करोति अन्यैर्वा कारयति,

कुर्वन्तमन्यमनुमोदयति, उपहितविधिं वा करोति तथाहि—यद् यस्य गुरुणा दत्तं तत्तस्योपनयति। तथा अनुपहितविधिं वा करोति; तथाहि—यत्पुनर्यस्य दत्तं सोऽन्यस्मै गुरून् अनुज्ञाप्य उपनयति ददाति, यथा—इदं वस्तुजातं स्थविरैः त्वदर्थं दत्तमिति, एवमुपहितविधिरनुपहितविधिः। पूर्वोक्तगुणयुक्तश्च यो भवेत् स उपग्रहकुशलः कथ्यते। 'अक्खयायारे' अक्षताचारः, तत्र न क्षतः खण्डित आचारो यस्य सोऽक्षताचारः परिपूर्णाचारः, परिपूर्णाचारता च चारित्रे सति भवति, चारित्रवता नियमतः शेषाश्चत्वारोऽपि ज्ञानानाद्याचाराः सेव्याः 'चारित्रवतश्चारित्रं स्यात्' इति वचनात्, ततश्चाऽक्षताचार इत्यस्य चारित्रवानित्यर्थो बोध्य', यः आधाकर्मादिद्विचत्वारिंशद्दोषरहितस्याऽऽहारस्य ग्रहीता भोक्ता च भवति सोऽक्षताचारः, साध्वाचारस्य परिशुद्धाहारग्रहणमूलकत्वादिति। 'अभिन्नायारे' अभिन्नाचारः, न भिन्नो न खण्डितः केनचिदपि अतिचारविशेषेण वर्जितत्वाद् आचारो ज्ञानाचारादिको यस्य सोऽभिन्नाचारः अखण्डितज्ञानाचारवानित्यर्थः 'असबलायारे' अशबलाचारः शबलदोषवर्जितः। 'असंकिलिट्ठायारे' असंक्लिष्टाचारः, तत्राऽसंक्लिष्ट इहलोकपरलोकाऽऽशंसालक्षणक्लेशरहित आचारो यस्य सोऽसंक्लिष्टाचारः क्रोधादिवर्जनेन संक्लिष्टपरिणामरहित इत्यर्थः। 'बहुस्सुए' बहुश्रुतः बहु—अधिकं श्रुतं शास्त्रं यस्य स बहुश्रुतः आचारादिछेदपर्यन्तसूत्रधारकः। 'बब्भागमे' बह्वागमः—बहुरधिक आगमोऽर्थरूपो यस्य स बह्वागमः। बह्वागम इति किम्? तत्राह—'जहन्नेणं आयारपकप्पधरे' जघन्येनाचारप्रकल्पधरः आचाराङ्गनिशीथाऽध्ययनसूत्रार्थधर इत्यर्थः। जघन्यत आचारप्रकल्पग्रहणाद् उत्कर्षतो द्वादशाङ्गधर इति ज्ञातव्यम्। अत्र आचारप्रकल्पधरस्त्रिविध'—सूत्रतोऽर्थत' तदुभयतश्च, अत्र सूत्रार्थधरत्वमधिकृत्य चतुर्भङ्गी भवति, तथाहि—सूत्रधरो नो अर्थधरः १, नो सूत्रधरः अर्थधरः २, सूत्रधरोऽपि अर्थधरोऽपि ३, नो सूत्रधरो नाप्यर्थधरः ४। एषु चतुर्थो भङ्ग' शून्यः, उभयविकलतया आचारप्रकल्पधारित्वविशेषणासंभवात्। आद्यानां तु त्रयाणां भङ्गानां मध्ये यस्तृतीयभङ्गवर्ती स उपाध्यायत्वेन उद्देष्टुं योग्यः, अस्य सूत्रार्थोभयधारितया गच्छस्य सम्यक्परिवर्धकगुणसंपन्नत्वात्। तदभावे द्वितीयभङ्गवर्त्यपि उपाध्यायत्वेन उद्देष्टुमर्हति तस्यार्थधारित्वेन गच्छपरिवर्द्धकत्वगुणसंभवात्, किन्तु प्रथमभङ्गवर्त्ती नोपाध्यायपदयोग्य', तस्य सूत्रमात्रधारित्वेन शास्त्रमर्मानभिज्ञत्वात्। एवं दशाकल्पव्यवहारधरादिपदेष्वपि व्याख्यानं कर्त्तव्यमिति। पूर्वोक्तविशेषणविशिष्ट' श्रमणो निर्ग्रन्थः 'कप्पइ उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए' कल्पते उपाध्यायतया उद्देष्टुम्। त्रिवर्षपर्यायादिगुणगणविशिष्टो भिक्षुरुपाध्यायपदे स्थापयितुं युज्यते इत्यर्थः॥ सू० ३॥

अथोपाध्यायपदायोग्यं श्रमणनिर्ग्रन्थं विवृणोति—'सच्चेव णं' इत्यादि।

सूत्रम्—सच्चेव णं से तिवासपरियाए समणे णिग्गंथे नो आयारकुसले नो संजमकुसले नो पवयणकुसले नो पन्नत्तिकुसले नो संगहकुसले नो उवग्गहकुसले खया-

यारे भिन्नायारे सबलायारे संकिलिट्ठायारे अप्पसुए अप्पागमे नो कप्पइ उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए ॥ सू० ४ ॥

छाया—स एव खलु अथ त्रिवर्षपर्यायः श्रमणो निर्ग्रन्थो नो आचारकुशलो नो संयमकुशलो नो प्रवचनकुशलो नो प्रज्ञप्तिकुशलो नो संग्रहकुशलो नो उपग्रहकुशलः क्षताचारो भिन्नाचारः शबलाचार. संक्लिष्टाचारोऽल्पश्रुतोऽल्पाऽऽगमो नो कल्पते उपाध्यायतया उद्देष्टुम् ॥ सू० ४ ॥

भाष्यम्—'सच्चेव णं से' इति । 'से' अथ 'सच्चेव णं' इति स एव खलु त्रिवर्षपर्यायः यः श्रमणो निर्ग्रन्थ तृतीयसूत्रे कथित. स एव त्रिवर्षपर्यायो यदि पूर्वोक्ताचारकुशलत्वादिगुणरहितो भवेत् स उपाध्यायतया उद्देष्टुं न कल्पते इति सूत्रभावार्थः । अत्र आचारकुशलादिपदानि निषेधपरत्वेन सर्वाणि व्याख्येयानि, तेषां पदानामर्थोऽत्रैव तृतीयसूत्रे विस्तारेण प्रतिपादितः । नवरम् 'अप्पसुए अप्पागमे' इति, अत्राल्पशब्दः अभाववाचकः श्रुतागमज्ञानविकलः, इति व्याख्येयम् ॥ सू० ४ ॥

पूर्वं त्रिवर्षपर्यायविषयकमुपाध्यायसूत्रं व्याख्याय सम्प्रति पाञ्चवार्षिकपर्यायमाश्रित्य आचार्योपाध्यायसूत्रमाह—पंचवासपरियाए' इत्यादि ।

सूत्रम्—पंचवासपरियाए समणे णिग्गंथे आयारकुसले संजमकुसले पवयणकुसले पन्नत्तिकुसले संगहकुसले उवग्गहकुसले अक्खयायारे असबलायारे असंकिलिट्ठायारे बहुस्सुए बब्भागमे जहन्नेणं दसाकप्पववहारधरे कप्पइ आयरियउवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए ॥ सू० ५ ॥

छाया—पञ्चवर्षपर्यायः श्रमणो निर्ग्रथ आचारकुशलः संयमकुशलः प्रवचनकुशलः प्रज्ञप्तिकुशलः संग्रहकुशलः उपग्रहकुशलोऽक्षताचारोऽभिन्नाचारोऽशबलाचारोऽसंक्लिष्टाचारः बहुश्रुतो बह्वागमो जघन्येन दशाकल्पव्यवहारधरः कल्पते आचार्योपाध्यायतया उद्देष्टुम् ॥ सू० ५ ॥

भाष्यम्—'पंचवासपरियाए' पञ्चवर्षपर्यायः पञ्च वर्षाणि पर्याय· प्रव्रज्यापर्यायो जातो यस्य स पञ्चवर्षपर्यायः, दीक्षाग्रहणकालादारभ्येदानीन्तनकालं यावत् यदि संगृह्यते, तदा स कालः पञ्चवर्षमितो यस्य भिक्षोर्व्यतीतो षष्ठश्च वर्ष· प्रारब्धो भवति स पञ्चवर्षपर्यायः 'समणे-णिग्गंथे' श्रमणो निर्ग्रन्थः 'आयारकुसले' आचारकुशलः, इत्यादिपदानां व्याख्या तृतीयसूत्रकृतव्याख्यावदेव ज्ञातव्या, नवरम् 'बहुस्सुए' बहुश्रुतः बहु—प्रभूतं श्रुतं सूत्ररूपं यस्य स बहुश्रुतः 'बब्भागमे' बह्वागमः बहुरागमोऽर्थरूपो यस्य स बह्वागमः 'जहन्नेणं दसाकप्पववहारधरे'

जघन्येन दशाकल्पव्यवहारधरः दशाश्रुतस्कन्धव्यवहारसूत्रधारकः एतादृशगुणगणविशिष्टः श्रमणो निर्ग्रन्थः 'कप्पइ' कल्पते 'आयरियउवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए' आचार्योपाध्यायतया उद्देष्टुम् आचार्योपाध्यायपदे स्थापयितुम् । यः श्रमणो निर्ग्रन्थः पूर्वोक्ताऽऽचारकुशलादिगुणगणविशिष्टः पञ्चवर्षात्मकदीक्षापर्याययुक्तश्च भवेत् स आचार्यपदमुपाध्यायपदं वा स्वीकर्तुं योग्यो भवेदिति भावः ॥ सू० ५ ॥

अथ पूर्वसूत्राद् वैपरीत्येनाचार्योपाध्यायपदायोग्यपरकं सूत्रमाह—'सच्चेव णं' इत्यादि ।

सूत्रम्—सच्चेव णं से पंचवासपरियाए समणे णिग्गंथे नो आयारकुसले नो संजमकुसले नो पवयणकुसले नो पन्नत्तिकुसले नो संगहकुसले नो उवग्गहकुसले खयायारे भिन्नायारे सबलायारे संकिलिट्ठायारे अप्पसुए अप्पागमे नो कप्पइ आयरियउवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए ॥ सू० ६ ॥

छाया—स एव खलु अथ पञ्चवर्षपर्यायः श्रमणो निर्ग्रन्थो नो आचारकुशलो नो संयमकुशलो नो प्रवचनकुशलो नो प्रज्ञप्तिकुशलो नो संग्रहकुशलो नो उपग्रहकुशलः क्षताचारो भिन्नाचारः शवलाचारः संक्लिष्टाचारोऽल्पश्रुतोऽल्पागमो नो कल्पते आचार्योपाध्यायतयोद्देष्टुम् ॥ सू० ६ ॥

भाष्यम्—'सच्चेव णं से' अत्र 'से' शब्दः अथार्थवाचकस्तेन 'से' अथ स एव खलु **'पंचवासपरियाए'** पञ्चवर्षपर्यायः पूर्ववत् पञ्चवर्षात्मककालदीक्षितः **'समणे णिग्गंथे'** श्रमणो निर्ग्रन्थ. आचारकुशलादिविशेषणविशिष्टो न भवेत्तदा तस्याचार्योपाध्यायपदं न कल्पते इति सूत्राशयः । अत्र आचारकुशलादिपदानि 'नो'—शब्दमधिकृत्य निषेधपरकत्वेन पूर्ववद् व्याख्येयानि । नवरम्, पूर्वोक्ताचारकुशलादिविकलः श्रमणो निर्ग्रन्थः **'नो कप्पइ आयरियउवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए'** नो कल्पते आचार्योपाध्यायतया उद्देष्टुम् आचार्योपाध्यायपदे स्थापयितुम् । आचारकुशलत्वादिगुणरहितः श्रमणो निर्ग्रन्थः आचार्यपदे उपाध्यायपदे वा स्थापयितुं युक्तो न भवतीति भावः ॥ सू०६ ॥

अथाष्टवर्षपर्यायमधिकृत्याचार्यादिपददानविधिमाह—'अट्ठवासपरियाए' इत्यादि ।

सूत्रम्—अट्ठवासपरियाए समणे णिग्गंथे आयारकुसले संजमकुसले पवयणकुसले पन्नत्तिकुसले संगहकुसले उवग्गहकुसले अक्खयायारे अभिन्नायारे असबलायारे बहुस्सुए बब्भागमे जहन्नेणं ठाणसमवायधरे कप्पइ आयरियत्ताए उवज्झायत्ताए गणवच्छेयगत्ताए उद्दिसित्तए ॥सू०७॥

छाया—अष्टवर्षपर्याय. श्रमणो निर्ग्रन्थः आचारकुशलः संयमकुशलः प्रवचनकुशलः प्रज्ञप्तिकुशलः संग्रहकुशलः उपग्रहकुशलोऽक्षताचारोऽभिन्नाचारः अशवलाचारः असंक्लिष्टाचारो बहुश्रुतः बह्वागमः जघन्येन स्थानसमवायधरः कल्पते आचार्यतया उपाध्यायतया गणावच्छेदकतया उद्देष्टुम् ॥ सू० ७ ॥

भाष्यम्—'अट्ठवासपरियाए, अष्टवर्षपर्यायः तत्राऽष्टौ वर्षाणि पर्यायः प्रव्रज्यापर्यायो यस्य सोऽष्टवर्षपर्यायः 'समणे णिग्गंथे' श्रमणो निर्ग्रन्थः 'आयारकुसले' आचारकुशलः, इत्यादिपदानां तृतीयसूत्रे व्याख्या कृता तत्रतोऽवसेया। नवरम् 'जहन्नेणं ठाणसमवायधरे' जघन्येन स्थानाङ्गसमवायाङ्गधरः स्थानाङ्गसूत्रस्य समवायाङ्गसूत्रस्य च सूत्रार्थधारको भवेत् सः 'कप्पइ' कल्पते 'आयरियत्ताए' आचार्यतया 'उवज्झायत्ताए' उपाध्यायतया 'गणावच्छेय-गत्ताए' गणावच्छेदकतया 'उद्दिसित्तए' उद्देष्टुं, संस्थापयितुम् आचारकुशलादिगुणगणोपे-तोऽष्टवर्षपर्यायः श्रमणो निर्ग्रन्थः आचार्यपदे उपाध्यायपदे गणावच्छेदकपदे च संस्थापयितुं योग्यो भवति। अत्र गणावच्छेदकेति चरमपदग्रहणेन प्रवर्त्तकादीनि मध्यस्थानि पदान्यपि ग्रहीत-व्यानि तेनायाति पूर्वोक्तगुणयुक्तः श्रमण आचार्यादीनि सर्वाणि पदानि गृहीतुं योग्यो भवती-ति भावः ॥ सू०७ ॥

पूर्वोक्तगुणरहितस्तु आचार्यादिपदे समुपस्थापयितुं न योग्य इति प्रदर्शयति—'सच्चे-व णं' इत्यादि।

सूत्रम्—सच्चेव णं अट्ठवासपरियाए समणे णिग्गंथे नो आयारकुसले नो संजमकुसले नो पवयणकुसले नो पन्नत्तिकुसले नो संगहकुसले नो उवग्गहकुसले खयायारे भिन्नायारे सबलायारे संकिलिट्ठायारे अप्पसुए अप्पागमे नो कप्पइ आयरियत्ताए उवज्झायत्ताए गणावच्छेयगत्ताए उद्दिसित्तए ॥ सू०८ ॥

छाया—स एव अथ खलु अष्टवर्षपर्यायः श्रमणो निर्ग्रन्थो नो आचारकुशलो नो संयमकुशलो नो प्रवचनकुशलो नो प्रज्ञप्तिकुशलो नो संग्रहकुशलो नो उपग्रहकुशलो क्षताचारो भिन्नाचारः शबलाचारः संक्लिष्टाचारचितोऽल्पश्रुतोऽल्पागमः न कल्पते आचार्यतया उपाध्यायतया गणावच्छेदकतयोद्देष्टुम् ॥ सू० ८ ॥

भाष्यम्—'सच्चेव णं' अथ स एव खलु 'अट्ठवासपरियाए' अष्टवर्षपर्यायः अष्ट वर्षाणि पर्यायः प्रव्रज्यापर्यायो यस्य सोऽष्टवर्षपर्यायः 'समणे णिग्गंथे' श्रमणो निर्ग्रन्थः, शेषपदानि निषेधपरकत्वेन पूर्ववद् व्याख्येयानि त्रिवर्षपर्याय–पञ्चवर्षपर्याया–ऽष्टवर्षपर्याययुक्तस्य श्रमणनिर्ग्रन्थस्य आचारप्रकल्पादिधरस्य उपाध्यायादिपदस्थापनेऽयं निषेधपरको निष्कर्षो बोध्यः—

अत्रोपाध्यायाचार्यादयो युगानुरूपा आचारप्रकल्पदशाकल्पव्यवहारधरादयः, तपोनियमस्वा-ध्यायादिषु उद्युक्ता द्रव्यक्षेत्रकालभावोचितयतनापरायणाः तत्तत्पदयोग्या ज्ञातव्याः, तथाहि-त्रिवर्षपर्या यस्यएकमेवोपाध्यायलक्षणं स्थानमनुज्ञातं न तु द्वितीयमाचार्यत्वलक्षणं स्थानम्, यतोऽसौ अल्पपर्याय-तया प्रभूतखेदसहिष्णुत्वाभावादाचार्यपदयोग्यताया अभावेन नाचार्यपदयोग्यो भवितुमर्हतीति। पञ्चवर्षपर्यायस्य द्वे स्थाने अनुज्ञाते, तथाहि उपाध्यायत्वमाचार्यत्वं चेति, तस्य बहुतरवर्षपर्याय-

तया खेदसहिष्णुत्वशक्तिसंपन्नत्वादिति । अष्टवर्षपर्यायो विप्रकृष्टः पुनः सर्वाण्यपि स्थानानि वोढुं शक्नोति ततस्तस्य आचार्यत्वमुपाध्यायत्वं प्रवर्त्तकत्वं गणित्वं गणधरत्वं गणावच्छेदकत्वं चानुज्ञातम्, तादृशस्य तस्य बहुतमवर्षपर्यायत्वेन सकलगच्छसमापतितखेदसहिष्णुत्वादिशक्ति-संपन्नत्वादिति । यतश्च तस्याष्टवर्षपर्यायस्य दीर्घकालिकेनाष्टवर्षप्रमाणेन इन्द्रियनोइन्द्रि-याणि निगृहीतानि भवन्ति, बहुभिः कर्त्तव्यैश्च तस्यात्मा खलु भावितो भवति ततस्तस्य योग्यत्वेन सर्वाणि स्थानान्यनुज्ञातानि भगवतेति भावः ॥ सू० ८ ॥

पूर्वसूत्रे दीक्षापर्यायमधिकृत्याचारकुशलत्वादिगुणयुक्तस्य आचार्यादिपददानविधिरुक्तः, सम्प्रति निरुद्धपर्यायस्याचार्यादिपददानविधिमाह–'निरुद्धपरियाए' इत्यादि ।

सूत्रम्—निरुद्धपरियाए समणे णिग्गंथे कप्पइ तद्दिवसं आयरियउवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए, से किमाहु भंते !, अत्थिणं थेराणं तहारूवाणि कुलाणि कडाणि पत्ति-याणि थेज्जाणि वेसासियाणि संमयाणि सम्मुइयकराणि अणुमयाणि बहुमयाणि भवंति, तेहिं कडेहिं तेहिं पत्तिएहिं तेहिं थेज्जेहिं तेहिं वेसासिएहिं तेहिं संमएहिं तेहिं संमु-इकरेहिं तेहिं अणुमएहिं तेहिं बहुमएहिं जं से निरुद्धपरियाए समणे णिग्गंथे कप्पइ आयरियउवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए तद्दिवसं ॥ सू० ९ ॥

छाया—निरुद्धपर्यायः श्रमणो निर्ग्रन्थः कल्पते तद्दिवसे आचार्योपाध्यायतया उद्दे-ष्टुम् । अथ किमाहुः भदन्त ! सन्ति खलु स्थविराणां तथारूपाणि कुलानि कृतानि प्रत्ययिकाणि स्थैर्याणि वैश्वासिकानि संमतानि संमुदितकराणि अनुमतानि बहुमतानि भवन्ति । तैः कृतैः, तैः प्रत्ययिकैः तै: स्थैर्यैः, तैर्वैश्वासिकैः तैः संमतैः तै संमुदितकरैः, तैरनुमतैः, तैर्बहुमतैः यत् स निरुद्धपर्यायः श्रमणो निर्ग्रन्थः कल्पते आचार्योपाध्यायतयो-द्देष्टुं तद्दिवसे ॥ सू० ९ ॥

भाष्यम्—'निरुद्धपरियाए' निरुद्धपर्यायः, तत्र निरुद्धो विनष्टोऽतिचारादिसेवनेन पर्यायः प्रव्रज्यापर्यायो यस्य येन वा स निरुद्धपर्यायः विनष्टदीक्षापर्यायः स पुनरागत्य दीक्षितो भवेत् तादृशः 'समणे णिग्गंथे' श्रमणो निर्ग्रन्थः एतादृशः निरुद्धपर्यायः श्रमणः 'कप्पइ' कल्पते 'तद्दि-वसं आयरियउवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए' तद्दिवसे आचार्योपाध्यायतया उद्देष्टुम् , तत्र तस्मिन् दिवसे यस्मिन् दिवसे पुनः प्रव्रज्यां गृहीतवान् तस्मिन् दिवसे, पूर्वपर्यायस्तस्य प्रभूततर आसीत् ततस्तस्मिन् दिवसे एव स कल्पते आचार्योपाध्यायतया उद्देष्टुम्, आचार्यपदे उपाध्यायपदे वा व्यवस्थापयितुं कल्पते इत्यर्थः ।

अत्र शिष्यः–प्रश्नयति–'से किमाहु भंते' अत्र 'से' शब्दोऽथशब्दार्थकः, तथा च–अथ किमाहुर्भदन्त ! हेभदन्त ! किं कथं कस्मात् कारणात् भगवन्त एवमाहुर्यथा–तद्दिवसे एव कल्पते तस्य निरुद्धपर्यायस्याऽऽचार्योपाध्यायतया व्यवस्थापयितुम् , न खलु प्रव्रजितमात्रस्य तद्दिने एवा-

ऽऽचार्यत्वादीनि आरोप्यमाणानि घटन्ते, अगीतार्थत्वात्, इति शिष्यप्रश्नः। आचार्यः प्राह— 'अत्थि णं' इत्यादि, 'अत्थि णं' इति सन्ति खलु 'थेराणं' स्थविराणामाचार्याणां गच्छनायकानाम् 'तहारूवाणि' तथारूपाणि आचार्यादिप्रायोग्यानि 'कुलाणि' कुलानि साधुसाध्वीश्रावकश्राविकारूपाणि 'कडाणि' तेन कृतानि गच्छप्रायोग्यतया निर्वर्त्तितानि संपादितानि येन यत् यथाकालं तेभ्यः तत्प्रायोग्यं भक्तादिकमुपधिश्चोपजायते, उपलक्षणमेतत्—तेन न केवलं तथारूपाणि कुलानि कृतानि अपि तु आचार्यबालवृद्धग्लानादयोऽप्यनेकधा संग्रहोपग्रहविषयीकृताः, इत्यपि द्रष्टव्यमिति। न केवलं तथारूपाणि कुलान्येव तानि कृतानि किन्तु—'पत्तियाणि' प्रत्ययिकानि गच्छस्य प्रीतिकराणि विनययुक्तानि कृतानि। 'थेज्जाणि' स्थैर्याणि नैकवारं द्विवारं वा गच्छस्य प्रीतिकराणि कृतानि अपितु स्थैर्याणि अनेकवारं गच्छस्य प्रीतिकराणि विनयवैयावृत्त्यादिना स्थायित्वेन कृतानीति। अथवा स्थैर्याणि प्रीतिकरतया गच्छचिन्तायां प्रमाणभूततया स्थिरीकृतानि, यदा खलु गच्छे एव विचारणा भवेत् यत् गच्छस्य कः स्थायी प्रीतिकरः ? तदा एतान्येव कुलानि प्रमाणतया समुपस्थितानि भवन्ति। एवं गच्छचिन्तायां प्रमाणभूततया स्थिरीकृतानीति। न केवलमेतावदेव अपि तु 'वेसासियाणि' वैश्वासिकानि आत्मनः अन्येषां च गच्छवासिनां मायारहितीकृततया विश्वासयुक्तानि कृतानि। यत एव विश्वासयुक्तानि अत एव 'संमयाणि' संमतानि तेषु तेषु प्रयोजनेषु इष्टानि 'संमुइयकराणि' संमुदितकराणि जिनवचनेऽनुरागमुत्पाद्य जिनधर्मे प्रमोदकराणि कृतानि। 'अणुमयाणि' अनुमतानि यतो गच्छे बहुशः क्लेशादिषु समुत्पन्नेषु गच्छस्यानुकूलानि कृतानि, अत एव 'बहुमयाणि' बहुमतानि बहूनामनेकेषां बालवृद्धग्लानादीनाम् अतिशयत इष्टानीति बहुमतानि भवन्ति ततः 'जं से' यत् यस्मात्कारणात् स श्रमणो निर्ग्रन्थः **'तेहिं कडेहिं तेहिं पत्तिएहिं तेहिं थेज्जेहिं तेहिं वेसासिएहिं तेहिं संमएहिं तेहिं संमुइयकरेहिं तेहिं अणुमएहिं तेहिं बहुमएहिं'** तैः कृतैः, तैः प्रत्ययिकैः, तैः स्थैर्यैः, तैर्वैश्वासिकैः, तैः संमतैः, तैः संमुदितकरैः, तैरनुमतैः, तैर्बहुमतैः पूर्वोक्तस्वरूपैः कुलैः गच्छप्रायोग्यकरणादिकारणात् कदाचित् तत्करणे मोहकर्मोदयात्, तत्तत्प्रसङ्गप्राप्तकारणविशेषाद्वा 'निरुद्धपरियाए' निरुद्धपर्यायः त्यक्तसंयमपर्यायो भवेत्, पुनश्च शुभकर्मोदयात् सावधानीभूय दीक्षा गृह्णीयात् एतादृशः स श्रमणो निर्ग्रन्थः 'कप्पइ' कल्पते 'आयरियउवज्झायत्ताए' आचार्योपाध्यायतया आचार्यतया उपाध्यायतया च 'उद्दिसित्तए तद्दिवसं' उद्देष्टुं तद्दिवसे यस्मिन् दिवसे दीक्षा गृहीता तस्मिन्नेव दिवसे स गच्छोपकारकगुणवत्त्वात् आचार्योपाध्यायपदे स्थापयितुं योग्यो भवतीति भावः।

अयं भावः—येन मुनिना पूर्वदीक्षाकाले साधुकुलानि साध्वीकुलानि श्रावककुलानि श्राविकाकुलानि चेति, चतुर्विधसङ्घकुलानि बहुश आचार्यगच्छादिप्रायोग्यानि कृतानि प्रीतिकरादिपदवाच्यानि कृतानि बहुशो बालवृद्धग्लानादयः संग्रहोपग्रहादिविषयीकृताः, तैः तादृशैः

कारणकलापैः यदि कदाचित् सोऽशुभकर्मोदयात् तत्तत्सम्बन्धिकारणविशेषाद्वा निरुद्धपर्यायो भूत्वा पुनः शुभकर्मोदयाद्दीक्षां गृह्णाति, एवं तस्य पूर्वपर्यायकाले समाचरितान् संघोपकारकगुणान् स्मृत्वा तस्य तद्दिवसे एव आचार्योपाध्यायपदवीं दातुं कल्पते इत्यनुज्ञातं भगवतेति न कोऽपि दोष इति शिष्यप्रश्नसमाधानमिति ॥ सू० ९ ॥

पूर्वं निरुद्धपर्यायस्य पुनर्दीक्षिते सति तद्दिवस एवाचार्यादिपददानविधिरुक्तः, साम्प्रतं तादृशस्यैवासमाप्तश्रुतस्य तद्विधिमाह–'निरुद्धवासपरियाए' इत्यादि ।

सूत्रम्—निरुद्धवासपरियाए समणे णिग्गंथे कप्पइ आयरियउवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए समुच्छेयकप्पंसि तस्स णं आयारपकप्पस्स देसे अवट्ठिए सेय 'अहिज्जिस्सामि'–त्ति अहिज्जेज्जा एवं से कप्पइ आयरियउवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए, से य 'अहिज्जिस्सामि'–त्ति नो अहिज्जेज्जा एवं से नो कप्पइ आयरियउवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए तद्दिवसं ॥ सू० १० ॥

छाया—निरुद्धवर्षपर्यायः श्रमणो निर्ग्रन्थः कल्पते आचार्योपाध्यायतया उद्देष्टुम्, समुच्छेदकल्पे तस्य खलु आचारप्रकल्पस्य देशोऽवस्थितः स च 'अध्येष्यामी'–ति अधीयीत, एवं तस्य कल्पते आचार्योपाध्यायतयोद्देष्टुम् । स च 'अध्येष्यामी'–ति नो अधीयीत एवं तस्य नो कल्पते आचार्योपाध्यायतया उद्देष्टुं तद्दिवसम् ॥ सू० १० ॥

भाष्यम्—'**निरुद्धवासपरियाए**' निरुद्धवर्षपर्यायः, निरुद्धो विनष्टो वर्षपर्यायो यस्य स निरुद्धवर्षपर्यायः । अयं भावः—त्रिषु वर्षेषु परिपूर्णेषु यस्य असमाप्तश्रुतस्य पूर्वपर्यायो निरुद्धो विनष्टो भवेत् । अथवा अपूर्णेषु त्रिषु वर्षेषु समाप्तश्रुतस्य वर्षपर्यायो निरुद्धः स्यादिति, एतादृशः '**समणे णिग्गंथे**' श्रमणो निर्ग्रन्थः '**कप्पइ**' कल्पते '**आयरियउवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए**' आचार्योपाध्यायतया आचार्यतया उपाध्यायतया वा उद्देष्टुं स्थापयितुम्, त्रिवर्षपर्यायः श्रमणो निर्ग्रन्थः आचार्यतया-उपाध्यायतया वा उद्देष्टुं कल्पते इति भावः । कदा कल्पते ? इत्याह–'**समुच्छेयकप्पंसि**' इत्यादि, '**समुच्छेयकप्पंसि**' समुच्छेदकल्पे कल्पस्य समुच्छेदकाले आचार्ये गणनायके कालं गते सतीत्यर्थः अन्यस्य बहुश्रुतस्य लक्षणपूर्णस्य चाऽसत्त्वे तस्य आचार्यतया उपाध्यायतया वा उद्देष्टुं कल्पते । कथं कल्पते ? इत्यत्र विधिमाह–'**तस्स णं**' तस्य खलु प्रस्तुतश्रमणनिर्ग्रन्थस्य यद्यपि सः अबहुश्रुतोऽस्ति किन्तु अध्ययनसमर्थो भवेत् तादृशस्य तस्य यदि '**आयारपकप्पस्स**' आचारप्रकल्पस्य आचाराङ्गनिशीथाध्ययनस्य '**देसे**' देशः किञ्चित्प्रमाणोंऽशः '**अवट्ठिए**' अवस्थितः–अपठितरूपेण स्थितो वर्त्तते, किञ्चित्प्रमाणोंऽशो नाधीतः, सूत्रमधीतम् अर्थस्तु नाद्याप्यधीत इति, '**से य**' तं च

योऽर्थरूपोंऽशोऽवशिष्टो वर्त्तते तम् अवशिष्टमर्थरूपमंशं यदि सः 'अहिज्जिस्सामि' अध्येष्ये इति कथयित्वा यदि 'अहिज्जेज्जा' अधीयेत आचाराङ्गादेः शेषभागं पठेत् यदवशिष्टं तत् सर्वं पश्चात् अध्येष्ये इत्युक्त्वा यदि तत्कालमेवाऽधीते अध्येतुं प्रारभेत तदा—'**एवं से कप्पइ आयरिय-उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए**' एवं सति तस्य कल्पते तद्दिवसे आचार्योपाध्यायतया उद्देष्टुं स्थापयितुम्। यदि पुनः '**से य अहिज्जिस्सामि त्ति नो अहिज्जेजा**' तच्चावशिष्टमशम् अध्येष्ये इति कथयित्वाऽपि नो अधीयेत पठनवचनानन्तरं 'न मम तदध्ययनसामर्थ्यं वर्त्तते' इति वदेत् तदा '**एवं से नो कप्पइ आयरियउवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए तद्दिवसं**' एवं सति तदा तस्य नो कल्पते आचार्यतया वा उपाध्यायतया वा उद्देष्टुं स्थापयितुं तद्दिने तस्मिन्नेव दिवसे इति ॥ सू० १० ॥

पूर्वं तद्दिवस एवाचार्यादिपददानविधिरुक्तः, सम्प्रति कालगते आचार्योपाध्याये नवदीक्षितादिभिराचार्योपाध्यायराहित्येन न भाव्यमिति तद्विधिमाह—'**निग्गंथस्स णं**' इत्यादि।

सूत्रम्—**णिग्गंथस्स णं नव-डहर-तरुणस्स आयरियउवज्झाए विसंभेज्जा नो से कप्पइ अणायरियउवज्झायत्ताए होत्तए, कप्पइ से पुव्वं आयरियं उद्दिसावेत्ता तओ पच्छा उवज्झायं, से किमाहु भंते! दुसंगहिए समणे णिग्गंथे तं जहा आयरिएण उवज्झाएण य॥ सू० ११ ॥**

छाया—निर्ग्रन्थस्य खलु नव-डहर-तरुणस्य आचार्योपाध्यायो निष्कम्भेत्। नो तस्य कल्पते अनाचार्योपाध्यायतया भवितुम्, कल्पते तस्य पूर्वमाचार्यमुद्देशाप्य ततः पश्चात् उपाध्यायम्, अथ किमाहुर्भदन्त! द्विसंगृहीतः श्रमणो निर्ग्रन्थः तद्यथा आचार्येणोपाध्यायेन च ॥ सू०११ ॥

भाष्यम्—'**णिग्गंथस्स णं**' निर्ग्रन्थस्य खलु '**नव-डहर-तरुणस्स**' नव-डहर-तरुणस्य, तत्र नवो नवदीक्षितः, यस्य त्रीणि वर्षाणि दीक्षापर्यायस्य व्यतीतानि भवेयुः स नव उच्यते। डहरः—जन्मपर्यायेण वर्षचतुष्टयादारभ्य यावत् परिपूर्णानि पञ्चदशवर्षाणि षोडशाद् वर्षादर्वाक् स डहरकः प्रोच्यते, ततो वर्षचतुष्टयादारभ्य परिपूर्णपञ्चदशवर्षपर्यन्तजन्मदीक्षापर्यायवानित्यर्थः। तरुणः—जन्मना पर्यायेण वा षोडशवर्षादारभ्य यावत् चत्वारिंशद्वर्षाणि तावत् स तरुणः प्रोच्यते, इति नवडहरतरुणेति-पदत्रयस्य व्याख्या। ततः परं यावद् एकोनषष्टिवर्षाणि तावन्मध्यमः, ततः षष्टिवर्षादारभ्य तदुपरि यावज्जीवेत्तावत् स्थविरपदवाच्यो भवतीति। तादृशस्य नवस्य डहरस्य तरुणस्य च '**आयरियउवज्झाए**' आचार्योपाध्यायः आचार्यः उपाध्यायश्चेत्यर्थः। '**वीसंभेज्जा**' विष्कम्भेत् म्रियेत नवादिश्रमणानां मध्ये प्रत्येकस्य यथाचार्यो म्रियते तदा '**नो से कप्पइ अणायरियउवज्झायत्ताए होत्तए**'

नो तस्य कल्पते अनाचार्योपाध्यायतया भवितुम् **'से'** तस्य निर्ग्रन्थस्य नवस्य डहरस्य तरुणस्य चाऽनाचार्योपाध्यायतया आचार्योपाध्यायविरहिततया भवितुं गणे वर्त्तितुं स्थातुं न कल्पते । आचार्योपाध्यायरहितः सन् स गणे न वसेत् अनायकस्थितौ अनेकदोषसंभवात् तस्मात्कारणात् **'से पुव्वं आयरियं उद्दिसावेत्ता'** स नवादिः श्रमणः पूर्वं प्रथमतः आचार्यं गणनायकम् उद्देश्य गणे गणनायकं स्थापयित्वा **'तओ पच्छा उवज्झायं'** ततः पश्चादाचार्यस्य स्थापनाऽनन्तरम् उपाध्यायमुद्देश्य स्थापयित्वा पुनः कल्पते स्थातुमिति भावः । एवमाचार्योपाध्यायस्य विद्यमानतया भवितुं कल्पते । एवमाचार्यस्य वचनं श्रुत्वा शिष्यः पृच्छति—**'से किमाहु भंते'** इति. **'से किमाहु भंते'** । अथ हे भदन्त ! किं कस्मात् कारणात् भगवन्त एवमाहुः कथयन्ति यत् निर्ग्रन्थस्य नवडहरतरुणस्य आचार्यमरणे प्रथममाचार्यं स्थापयित्वा तत्पश्चात् उपाध्यायं स्थापयित्वा तयोर्निश्रया स्थातुं कल्पते इति कथमेवम् ? तत्राऽऽचार्यः प्राह—**'दुसंगहिए'** इत्यादि । **'दुसंगहिए समणे णिग्गंथे'** द्विसंगृहीतः श्रमणो निर्ग्रन्थः, द्वाभ्यां संगृहीतः संरक्षित एव श्रमणो निर्ग्रन्थः सदा भवति । श्रमणेन निर्ग्रन्थेन सदैवाचार्योपाध्याययुक्तेनैव भवितव्यम्, न तु ताभ्यां विरहितेन कदाचिदपि भाव्यमिति । काभ्यां द्वाभ्याम् ? तत्राह—**'तंजहा'** इति । **'तंजहा'** तद्यथा—**'आयरिएणं उवज्झाएण य'** आचार्येण उपाध्यायेन च संगृहीत एव श्रमणो निर्ग्रन्थः सदा भवतीति । ननु किमर्थमेवमुक्तम् यत् आचार्योपाध्यायरहिता नवदीक्षिता डहराः तरुणाश्च स्थातुं नार्हन्ति ? तत्राह—आचार्योपाध्यायसंरक्षणरहितानामस्वामिकानां तेषां स्वपरसमुद्भवा बहवो दोषाः समापतन्ति, तथाहि—संरक्षणरहिता बालसाधवः 'अनाथा वयं'—मिति कृत्वाऽन्यगणे गच्छन्ति, न शास्त्रमधीयते, प्रत्युपेक्षणादिकमपि यथासमयं न कुर्वन्ति, संयमे शिथिला भवन्ति, यथेच्छं भ्रमन्ति, गृहस्थपर्याये वा गच्छेयुः, इत्यादिस्वसमुद्भवा दोषा इति । परसमुद्भवा दोषा यथा—पार्श्वस्थादयो गृहस्थाः परतीर्थिका वा क्षुल्लकान् **'अस्वामिका एते'** इति कृत्वा तद्गच्छाद् निष्कामयेयुः, ततः पार्श्वस्थास्तान् पार्श्वस्थत्वे परिणमयन्ति, गृहस्थास्तान् गृहस्थपर्याये परिणमयन्ति, अन्यतीर्थिकाः अन्यतीर्थिकान् कुर्वन्ति, इत्यादिका बहवो दोषा नवानां विषये समुत्पद्यन्ते । तथा डहराणामिमे दोषाः—'अनाथा वयं जाताः' इति मनस्याघातेन क्षिप्तचित्ता भवन्ति, स्तेना वा स्वपक्षे परपक्षे चोत्तिष्ठन्ति, ते तान् विपरिणमय्य हरन्ति, अन्यत्र नयन्ति, अपरिपक्वबुद्धित्वेन परीषहैः खिन्नाः संयमे कम्पमाना भवेयुरन्यत्र वा स्वयं गच्छन्तीत्यादयः डहरदोषाः । तरुणानां तु दोषकलापसंभवः, तारुण्यस्य तथास्वभावात्, तथाहि—न वर्त्ततेऽस्माकमाचार्य उपाध्यायो वा, स्वतन्त्रा वयमिति बुद्धया न संयमं सुचारुतया परिपालयन्ति, गृहस्थैः सह राजकथादिकां चतुर्विधां विकथां यथेच्छं कुर्वन्ति, न यथासमयं प्रतिलेखनादिक्रियां कुर्वन्ति, आचार्यादिपदपिपासया वाऽन्यत्र गमनं

कुर्वन्ति, संयमयोगे सीदतां संयमाध्वनि अप्रवर्त्तमानानामपमाभ्‌ भवति तेनाऽधर्मश्रद्धाका भूत्वा गणादपक्रम्य स्वच्छन्दाः परिभ्रमन्ति । केचित्तरुणाः आचार्यपिपासया नास्माकमाचार्यमन्तरेणानुत्तरो ज्ञानदर्शनचारित्रलाभो भवति तस्मादवश्यमस्माभिरन्याचार्यसमीपे वर्त्तितव्यमित्याचार्यलाभवाञ्छया तेऽप्यन्यत्र गच्छेयुः । केचिद्धर्मश्रद्धालवोऽपि स्मारणावारणादिकर्त्तुरभावे गच्छान्तरं गच्छेयुरित्यादयस्तरुणदोषाः । तथा मध्यमाः स्थविराश्च केचिदेवं चिन्तयेयुः—यथा सर्वकालमद्यप्रभृति वयं गुरुभिः श्रावकैर्वा मानिता आसन्, सम्प्रति गुरूणामभावे नास्त्यन्यः कोऽपि अस्माकमादरसत्कारकारकः, श्रावकेष्वपि न मानं लप्स्यामः, इति चिन्तयित्वा स्वापमानभयादन्यत्र गच्छेयुः । यस्मादेते दोषास्तस्मात् नवडहरतरुणैः मध्यमैः स्थविरैश्च साधुभिराचार्योपाध्यायरहितैर्न स्थातव्यम्, अत एव सूत्रे प्रोक्तम्—**'नो से कप्पइ अणायरियउवज्झायत्ताए होत्तए'** इति ॥ सू० ११ ॥

पूर्वं निर्ग्रन्थमधिकृत्य नवडहरतरुणसूत्रं कथितम्, सम्प्रति निर्ग्रन्थीमधिकृत्य तदेवाह—**'णिग्गंथीए णं'** इत्यादि ।

सूत्रम्—णिग्गंथीए णं नवडहरतरुणीए आयरियउवज्झाए वीसंभेज्जा नो से कप्पइ अणायरियउवज्झायत्ताए होत्तए, कप्पइ से पुव्वं आयरियं उद्दिसावेत्ता तओ उवज्झायं, तओ पच्छा पवित्तिणिं, से किमाहु भंते ! तिसंगहिया समणी निग्गंथी तं जहा आयरिएणं उवज्झाएणं पवित्तिणीए य ॥ सू० १२ ॥

छाया—निर्ग्रन्थ्याः खलु नवडहरतरुण्याः आचार्योपाध्यायो विष्कम्भेत् नो तस्याः कल्पते अनाचार्योपाध्यायतया भवितुम्, कल्पते तस्याः पूर्वमाचार्यमुद्दिशाप्य तत उपाध्यायम्, ततः पश्चात् प्रवर्त्तिनीम् । अथ किमाहु भदन्त ! त्रिसंगृहीता श्रमणी निर्ग्रंथी तद्यथा-आचार्येण उपाध्यायेन प्रवर्त्तिन्या च ॥ सू० १२ ॥

भाष्यम्—'णिग्गंथीए णं' निर्ग्रन्थ्याः खलु **'नवडहरतरुणीए'** नवडहरतरुण्याः तत्र—निर्ग्रन्थसूत्रोक्तस्वरूपाया नवाया डहरायास्तरुण्याश्च-**'आयरियउवज्झाए'** आचार्योपाध्यायः आचार्यसहित उपाध्यायः—आचार्य उपाध्यायश्च **'वीसंभेज्जा'** विष्कम्भेत्, विष्वग्भवेद्वा कदाचिद् म्रियेत कालगतो भवेत् तदा **'नो से कप्पइ'** नो तस्याः नवडहरतरुण्याः कल्पते **'अणायरियउवज्झायत्ताए होत्तए'** अनाचार्योपाध्यायतया, आचार्योपाध्यायरहिततया उपलक्षणमेतत् तेन प्रवर्त्तिनीरहिततया चापि न कल्पते गणे स्थातुमिति । किन्तु-**'कप्पइ से पुव्वं आयरियं उद्दिसावेत्ता'** कल्पते तस्याः पूर्वं प्रथमम् आचार्यं गणनायकमुद्दिशाप्य स्थापयित्वा **'तओ उवज्झायं'** तत आचार्यस्थापनानन्तरम् उपापाध्यायमुद्देशाप्य स्थापयित्वा **'तओ पच्छा पवित्तिणिं'** ततः पश्चात् आचार्योपाध्यायस्थापनात् परं प्रवर्त्तिनीं स्थापयित्वा । ततः एतेषां स्थापनानन्तरं नवडहरतरुण्या निर्ग्रन्थ्याः गणे स्थातुं कल्पते, नाऽन्यथा । शिष्यःप्राह—**'से किमाहु भंते'** अथ कस्मात् कारणाद् भदन्त ! एवं कथ्यते

यदाचार्यादीनां संस्थापनानन्तरमेव निर्ग्रन्थ्या गणेऽवस्थानं कल्पते ? इति शिष्यस्य प्रश्नः । आचार्यः प्राह–'**तिसंगहिया समणी निग्गंथी**' त्रिसंगृहीता श्रमणी निर्ग्रन्थी, त्रिभिः संगृहीता संरक्षिता श्रमणी निर्ग्रन्थी भवति । कैस्त्रिभिः संगृहीता भवति ? तत्राह–'**तं जहा**' इत्यादि, '**तं जहा-आयरिएणं उवज्झाएणं पवित्तिणीए य**' तद्यथा–आचार्येण उपाध्यायेन प्रवर्त्तिन्या च आचार्यादीनां त्रयाणां संरक्षणे एव श्रमणीनिर्ग्रन्थीभिरवस्थातव्यमिति । ननु किं कारणमत्र यन्निर्ग्रन्थी त्रिभिः संगृहीता भवति ? अत्राह–आचार्योपाध्यायप्रवर्त्तिनीरहितायाः स्वपरसमुद्भवा बहवो दोषाः समापतन्ति, तत्र स्वसमुद्भवा दोषा यथा–सरक्षकरहितास्ताः स्वच्छन्दत्वेन स्त्रीस्वभावाद् राजकथादि-विकथां कर्त्तुं प्रवर्त्तन्ते तेन तासां संयमघातसंभवः । क्रीडाकन्दर्पोद्रेकोत्पादिनीं वाक्कायचेष्टां वा कुर्वन्ति, बकुशत्वं शरीरोपकरणविभूषाकरणरूप प्राप्नुवन्ति, इत्याद्यनेके दोषाः समापतन्ति । पर-समुद्भवा दोषा यथा–अनायकां निर्ग्रन्थीं विज्ञाय कोऽपि असंयतः पुरुषः स्त्रियो हृदयसौकुमार्यात् तन्मनो विपरिणमय्य तस्या हरणं करोति, तां नीत्वा मातापित्रोर्वा समर्पयति, मातापित्रादयस्तां गृहस्थवेषां कुर्वन्ति । नारीशरीरस्य पुरुषलुब्धकत्वान्न नारी स्ववशा भवितुमर्हति । उक्तञ्च––

> "जाया पितिवसा नारी, दत्ता नारी पतिव्वसा ।
> थेरा पुत्तवसा नारी, नत्थि नारी सयंवसा" इति ॥

छाया—जाता पितृवशा नारी, दत्ता नारी पतिवशा ।
स्थविरा पुत्रवशा नारी, नास्ति नारी स्वयंवशा ॥ इति ।

उक्तञ्चान्यदर्शनेऽपि—

> "पिता रक्षति कौमारे, भर्त्ता रक्षति यौवने ।
> पुत्रश्च स्थाविरे भावे, न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति" ॥ इति ।

अतो निर्ग्रन्थ्या अनाचार्योपाध्यायप्रवर्त्तिन्या न कदाचिदपि भाव्यम् । अत्राऽऽचार्योपा-ध्यायसंग्रहे इमे गुणाः, तथाहि–यद्यपि आचार्य उपाध्यायो वा संयतीनां दूरेऽपि वर्त्तते तथापि दूरस्थस्यापि पुरुषस्य गौरवेण भयेन वा न कोऽपि संयतीनाम् उपसर्गं करोति यदिमा अमुक-स्याऽऽचार्यस्योपाध्यायस्य वा संयत्यो वर्त्तन्ते इति बुद्धया, प्रत्युत स्वपक्षे परपक्षे वा सुबहुमानं तासां जायते–यदिमा अमुकाचार्योपाध्यायस्याऽऽज्ञावर्त्तिन्यः संयत्यः शुद्धसयमं पालयन्ति अतो बहुमानयोग्या एता इति । अथवा आचार्योपाध्यायभयतस्तासु न काचिदपि संयती आचारक्षतिं कर्त्तुं शक्नोति । यदि आचारक्षतिं कर्त्तुं प्रवृत्ता भवेत्तदा तृतीया संग्राहिका प्रवर्त्तिनी तां साव-ष्टम्भं शिक्षयति–'यद्येवं करिष्यसि तदाऽहमाचार्यस्य उपाध्यायस्य वा समीपे कथयिष्यामी'ति लोकभयेन धर्मभयेन च सा न तथा करोति प्रवर्त्तिन्या आज्ञायां तिष्ठति, इत्यादयस्त्रिसंग्रहेऽवस्थाने

निर्ग्रन्थ्या वहवो गुणाः भवन्तीत्यतो निर्ग्रन्थ्या आचार्योपाध्यायप्रवर्त्तिनीसहितयैव स्थातव्यं न तद्र-हितयेति भावः ॥ सू० १२ ॥

पूर्वं निर्ग्रन्थनिर्ग्रन्थीभिराचार्यादिनिश्रां विना न स्थातव्यमिति प्रोक्तम्, साम्प्रतं गणान्निर्गत्य प्रतिसेवितमैथुनस्याचार्यादिपददाने विधिमाह–'भिक्खू य' इत्यादि ।

सूत्रम्—भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म मेहुणं पडिसेवेज्जा तिण्णि संवच्छराणि तस्य तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा, तिहिं संवच्छरेहिं वीइक्कंतेहिं चउत्थगंसि संवच्छरंसि पट्ठियंसि ठियस्स उवसंतस्स उवरयस्स पडिविरयस्स णिव्विगारस्स, एवं से कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ॥ सू० १३ ॥

छाया—भिक्षुश्च गणादवक्रम्य मैथुनं प्रतिसेवेत त्रीणि संवत्सराणि तस्य तत्प्रत्ययं नो कल्पते आचार्यत्वं वा यावद्गणावच्छेदकत्वं वा उद्देष्टुं वा धारयितुं वा, त्रिषु संवत्सरेषु व्यतिक्रान्तेषु चतुर्थे संवत्सरे प्रस्थिते स्थितस्य उपशान्तस्य उपरतस्य प्रतिविरतस्य निर्विकारस्य, एवं तस्य कल्पते आचार्यत्वं वा यावत् गणावच्छेदकत्वं वा उद्देष्टुं वा धारयितुं वा ॥ सू० १३ ॥

भाष्यम्—'भिक्खू य' भिक्षुश्च 'गणाओ' गणात् स्वकीयगच्छात् 'अवक्कम्म' अवक्रम्य गणाद्बहिर्निःसृत्य साधुवेषं त्यक्त्वेत्यर्थः 'मेहुणं' मैथुनं 'पडिसेविज्जा' प्रतिसेवेत मोहनीयकर्मोदयतो मैथुनप्रतिसेवनं कृतवानित्यर्थः, ततः पश्चात् शुभकर्मोदयाद्भावविपरिणामेन पुनर्दीक्षां गृह्णाति तदनन्तरम् 'तिण्णि संवच्छराणि' त्रीन् संवत्सरान् दीक्षादिवसादारभ्य त्रिसंख्यकानि वर्षाणि यावत् 'तस्स तप्पत्तियं' तस्य पुनर्गृहीतसंयमस्य श्रमणस्य तत्प्रत्ययिकं मैथुनसेवनकारणकं मैथुनसेवनापराधजनितं कारणमाश्रित्येत्यर्थः 'नो कप्पइ' नो कल्पते 'आयरियत्तं वा' आचार्यत्वं वा आचार्यस्य गणनायकस्य यत्पदं स्थानं तद्वा 'जाव गणावच्छेयगत्तं वा' यावत् गणावच्छेदकत्वं वा गणावच्छेदकस्य पदमित्यर्थः, अत्र यावत्पदेन उपाध्यायत्वस्य प्रवर्त्तकत्वस्य स्थविरस्य गणिनो गणधरस्य च संग्रहो भवतीति तेनाचार्यादारभ्यगणावच्छेदपदपर्यन्तं किमपि पदं तस्य दातुं वा धर्तुं वा न कल्पते इत्यग्रेण सम्बन्धः। तत्राचार्यः-यो जघन्यतोऽष्टवर्षप्रव्रज्यापर्यायः श्रमणो निर्ग्रन्थः आचारकुशलः संयमकुशलः प्रवचनकुशलः प्रज्ञप्तिकुशल. संग्रहकुशलः उपग्रहकुशलोऽक्षताचारोऽभिन्नाचारोऽशबलाचारोऽसंक्लिष्टाचारो बहुश्रुतो बह्वागमो जघन्येन स्थानसमवायधरः उत्कर्षेण द्वादशाङ्गधरः स आचार्यः १। उपाध्यायस्तु यः सूत्रपाठकः स. २। प्रवर्त्तकस्तु य आचार्यकथनानुसारेण वैयावृत्त्यविषयेसाधून् प्रवर्त्तयति स प्रवर्त्तकः कथ्यते ३ । यः संयमे सीदतः श्रमणान् स्थिरीकरोति उपदेशादिप्रदानेन स स्थैर्यसंपादनात् स्थविर इति कथ्यते ४ । गणी तु स भवति यः सूत्रमर्थं

च भाषते सूत्रार्थयोरुपदेष्टा गणी भवति ५। गणधरः गणस्य स्मारणावारणाकारकः ६। गणावच्छेदकस्तु यः परमादिशति, श्रमणसमुदायस्य गणवासिनः संरक्षणं करोति, तथा साधुसमुदायं गृहीत्वा तदाधाराय नवीनक्षेत्रस्योपध्युपकरणादीनां च गवेषणार्थमन्यान्यजनपदे सम्यक् विहृत्य गच्छार्थमवग्रहोपग्रहादिकं करोति स गणावच्छेदकः कथ्यते ७। एतत् पूर्वोक्तं सर्वमाचार्यादिपदसमूहम् **'उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा'** उद्देष्टुं वा अनुज्ञातुमित्यर्थः धारयितुं वा तस्य स्वयं धारयितुं वा नो कल्पते इति किन्तु—**'तिहिं संवच्छरेहिं'** अत्र तृतीया सप्तम्यर्थस्य द्योतिका ततश्च पुनर्गृहीतदीक्षापर्यायस्य त्रिषु वर्षेषु **'वीइक्कंतेहिं'** व्यतिक्रान्तेषु गतेषु वर्षत्रयेष्वित्यर्थः यस्मिन् दिने पुनर्दीक्षां गृहीतवान् तद्दिवसादारम्य यावत्पर्यन्तं वर्षत्रयं परिसमाप्तं भवेत् इति भावः **'चउत्थगंसि संवच्छरंसि'** चतुर्थे संवत्सरे **'पट्ठियंसि'** प्रस्थिते संप्राप्ते चतुर्थे वर्षे प्रवर्त्तितुमारब्धे सति **'ठियस्स'** स्थितस्य स्थितपरिणामस्य, पुनः किंविशिष्टस्य ? तत्राह—**'उवसंतस्स'** उपशान्तस्य उपशान्तवेदोदयस्य, तच्चोपशान्तत्व मैथुनविषयकप्रवृत्तिप्रतिषेधमात्रेणापि संभवति तत्राह—**'उवरयस्स'** उपरतस्य मैथुनाभिलाषात् प्रतिनिवृत्तस्य, मैथुनाभिलाषप्रतिनिवृत्तत्वं तु दाक्षिण्यवशमात्रतोऽपि भवितुमर्हति तत आह—**'पडिविरयस्स'** प्रतिविरतस्य प्रति—मैथुनाभिलाषप्रातिकूल्येन विरतः तद्विषयकविरतिमान् इति प्रतिविरतः तस्य, प्रतिविरतस्य, एतादृशप्रतिविरतत्वं विकाराऽदर्शनमात्रेणापि सभवेत् तत्राह—**'णिव्विगारस्स'** निर्विकारस्य लेशतोऽपि मैथुनाभिलाषविकाररहितस्य श्रमणस्य **'एवं से कप्पइ आयरियत्तं वा'** एवं पूर्वोक्तप्रकारके श्रमणे ज्ञाते सति चतुर्थवर्षारम्भे 'वस्तुतोऽयं पूर्वोक्तगुणविशिष्टो जातः' इति निर्णये सतीत्यर्थः तस्य तादृशस्य उपशान्तत्वादिगुणयुक्तस्य श्रमणस्याऽऽचार्यत्वं वा **'जाव गणावच्छेयगत्तं वा'** यावत् उपाध्यायत्वं वा प्रवर्त्तकत्वं वा स्थविरत्वं वा गणित्वं वा गणधरत्व वा गणावच्छेदकत्वं वा **'उद्दिसित्तए वा'** उद्देष्टुं वा समनुज्ञातुं वा **'धारित्तए वा'** स्वयं वा धारयितुं तस्य कल्पते ॥ सू० १३ ॥

साम्प्रतमपरित्यक्तगणावच्छेदकपदस्य मैथुनसेवने आचार्यादिपदस्य निषेधसूत्रमाह—**'गणावच्छेयए'** इत्यादि ।

सूत्रम्—गणावच्छेयए गणावच्छेयगत्तं अनिक्खिवित्ता मेहुणधम्मं पडिसेवेज्जा जावज्जीवाए तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेयगत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ॥ सू० १४ ॥

छाया—गणावच्छेदको गणावच्छेदकत्वमनिक्षिप्य मैथुनधर्मं प्रतिसेवेत यावज्जीवं तस्य तत्प्रत्ययिकं नो कल्पते आचार्यत्वं वा यावद्गणावच्छेदकत्व वा उद्देष्टुं वा धारयितुं वा ॥ सू० १४ ॥

भाष्यम्—'गणावच्छेयए' गणावच्छेदकः गणस्य साधुसमुदायस्य धारकः **'गणावच्छेयगत्तं'** गणावच्छेदकत्वं स्वस्य गणावच्छेदकपदवीम् **'अनिक्खिवित्ता'** अनिक्षिप्याऽपरित्यज्य गणावच्छे-

दकपदयुक्त एव साधुवेषेणैवेत्यर्थः 'मेहुणधम्मं पडिसेवेज्जा' मैथुनधर्मं प्रतिसेवेत तदा 'जावज्जीवाए' यावज्जीवं जीवनपर्यन्तं 'तस्स' तस्य शुभकर्मोदयात् पुनर्गृहीतदीक्षस्य 'तप्पत्तियं' तत्प्रत्ययिकं तत्कारणम् तत्कारणमाश्रित्येत्यर्थः 'नो कप्पइ' नो कल्पते 'आयरियत्तं वा' आचार्यत्वं वा 'जाव गणावच्छेयगत्तं वा' यावत् उपाध्यायत्वं प्रवर्तकत्वं स्थविरत्वं गणित्वं गणधरत्वं गणावच्छेदकत्वं वा 'उद्दिसित्तए वा' उद्देष्टुमनुज्ञातुं वा 'धारित्तए वा' स्वयं धारितुं वा नो कल्पते। मैथुनसेवनाऽनन्तरं पुनर्दीक्षितस्याऽयं विधिर्विज्ञेय इति भावः ॥ सू० १४ ॥

त्यक्तगणावच्छेदकपदस्य मैथुनसेवने अचार्यादिपददानविधिमाह–'गणावच्छेयए' इत्यादि।

सूत्रम्—गणावच्छेयए गणावच्छेयत्तं निक्खिवित्ता मेहुणधम्मं पडिसेवेज्जा तिण्णि संवच्छराणि तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेयगत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा, तिहिं संवच्छरेहिं वीइक्कंतेहिं चउत्थगंसि संवच्छरंसि पट्ठियंसि ठियस्स उवसंतस्स उवरयस्स पडिविरयस्स निव्विगारस्स एवं से कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेयगत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ॥ सू० १५ ॥

छाया—गणावच्छेदको गणावच्छेदकत्वं निक्षिप्य मैथुनधर्मं प्रतिसेवेत त्रीणि संवत्सराणि तस्य तत्प्रत्ययिकं नो कल्पते आचार्यत्वं वा यावद्गणावच्छेदकत्वं वा उद्देष्टुं वा धारयितुं वा त्रिषु संवत्सरेषु व्यतिक्रान्तेषु चतुर्थके संवत्सरे प्रस्थिते स्थितस्योपशान्तस्योपरतस्य प्रतिविरतस्य निर्विकारस्य एवं तस्य कल्पते आचार्यत्वं वा यावद्गणावच्छेदकत्वं वा उद्देष्टुं वा धारयितुं वा ॥ सू० १५ ॥

भाष्यम्—'गणावच्छेयए' गणावच्छेदकः 'गणावच्छेयगत्तं' गणावच्छेदकत्वं स्वकीयं गणावच्छेदकपदं 'निक्खिवित्ता' निक्षिप्य मुक्त्वा अन्यस्मै दत्त्वा गृहस्थवेषेणेत्यर्थः 'मेहुणधम्मं पडिसेवेज्जा' मैथुनधर्मं प्रतिसेवेत, कश्चित् गणावच्छेदको गणावच्छेदकत्वं स्वकीयं पदं परित्यज्य ततो मैथुनधर्मं प्रतिसेवेत तदा तस्य पुनर्दीक्षितस्य 'तिण्णि संवच्छराणि' त्रीणि संवत्सराणि पुनर्दीक्षाग्रहणानन्तरं तद्दिवसादारभ्य वर्षत्रयं यावत्। शेषं सर्वं त्रयोदशभिक्षुसूत्रवद् व्याख्येयम् ॥ सू० १५॥

गणावच्छेदकस्य स्वपदसहितासहितभेदेन मैथुनसेवने आचार्यादिपदाऽदानदानविषयकं सूत्रद्वयं कथितम्, संप्रति अचार्योपाध्याययोरपि विषये तदेव सूत्रद्वयं व्याख्यातुं प्रथममनिक्षिप्तपदविषयकं सूत्रमाह —'आयरियउवज्झाए' इत्यादि।

सूत्रम्—आयरियउवज्झाए आयरियउवज्झायत्तं अनिक्खिवित्ता मेहुणधम्मं पडिसेवेज्जा जावज्जीवाए तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेयगत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ॥ सू० १६ ॥

छाया—आचार्योपाध्याय आचार्योपाध्यायत्वम् अनिक्षिप्य मैथुनधर्मं प्रतिसेवेत यावज्जीवं तस्य तत्प्रत्ययिकं नो कल्पते आचार्यत्वं वा यावत् गणावच्छेदकत्वं वा उद्देष्टुं वा धारयितुं वा ॥ सू० १६ ॥

भाष्यम्—'आयरियउवज्झाए' आचार्योपाध्यायः, आचार्यश्च उपाध्यायश्चेत्यर्थः 'आयरियउवज्झायत्तं' आचार्योपाध्यायत्वम्, आचार्यपदमुपाध्यायपदं च 'अनिक्खिवित्ता' अनिक्षिप्य अपरित्यज्यैव। इत्यादि सर्वं गणावच्छेदकस्य चतुर्दशसूत्रवदेव व्याख्येयम् ॥ सू० १६ ॥

आचार्योपाध्यायपदसहितस्याचार्यादिपददानविषयकं सूत्रं व्याख्याय साम्प्रतं त्यक्ततत्पदस्य तद्विधिमाह—'आयरियउवज्झाए' इत्यादि।

सूत्रम्—आयरियउवज्झाए आयरियउवज्झायत्तं निक्खिवित्ता मेहुणधम्मं पडिसेवेज्जा तिण्णि संवच्छराणि तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेयगत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा, तिहिं संवच्छरेहिं वीइक्कंतेहिं चउत्थगंसि संवच्छरंसि पट्ठियंसि ठियस्स उवसंतस्स उवरयस्स पडिविरयस्स णिव्विगारस्स एवं से कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेयगत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ॥ सू० १७ ॥

छाया—आचार्योपाध्याय अचार्योपाध्यायत्वं निक्षिप्य मैथुनधर्मं प्रतिसेवेत त्रीणि संवत्सराणि तस्य तत्प्रत्ययिकं नो कल्पते आचार्यत्वं वा यावद्गणावच्छेदकत्वं वा उद्देष्टुं धारयितुं वा, त्रिषु संवत्सरेषु व्यतिक्रान्तेषु चतुर्थके संवत्सरे प्रस्थिते स्थितस्य उपशान्तस्य उपरतस्य प्रतिविरतस्य निर्विकारस्य एवं तस्य कल्पते आचार्यत्वं वा यावद्गणावच्छेदकत्वं वा उद्देष्टुं वा धारयितुं वा ॥ सू० १७ ॥

भाष्यम्—'आयरियउवज्झाए' आचार्योपाध्यायः, आचार्यश्चोपाध्यायश्चेत्यर्थः। 'आयरियउवज्झायत्तं निक्खिवित्ता' आचार्यत्वमाचार्यपदवीम् उपाध्यायत्वमुपाध्यायपदवीं च निक्षिप्य परित्यज्य गृहस्थो भूत्वेत्यर्थः 'मेहुणधम्मं' मैथुनधर्मं 'पडिसेवेज्जा प्रतिसेवेत। इत्यादि शेषं सर्वं त्रयोदशभिक्षुसूत्रवदेव व्याख्येयम् ॥ सू० १७ ॥

पूर्वं मैथुनधर्मसेवनविषयाणि पञ्च सूत्राणि, तत्र भिक्षुविषयकमेकं, गणावच्छेदकस्य स्वपदाऽत्यागत्यागविषयकं सूत्रद्वयम्, एवमाचार्योपाध्यायस्य तादृशमेव सूत्रद्वयम्, एवं पञ्च सूत्राणि व्याख्याय साम्प्रतमनेनैव प्रकारेणाऽवधावनविषयाणि भिक्षुकादीनां पञ्च सूत्राणि प्रोच्यन्ते, तत्र प्रथमं भिक्षुसूत्रमाह—'भिक्खू य' इत्यादि।

सूत्रम्—भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म ओहायइ, तिण्णि संवच्छराणि तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्त वा जाव गणावच्छेयगत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा, तिहिं संवच्छरेहिं वीइक्कंतेहिं चउत्थगंसि संवच्छरंसि पट्ठियंसि ठियस्स उवसंतस्स उवरयस्स पडिविरयस्स निव्विगारस्स एवं से कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेयगत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ॥ सू० १८॥

छाया — भिक्षुश्च गणादवक्रम्याऽवधावति, त्रीणि संवत्सराणि तस्य तत्प्रत्ययिकं नो कल्पते आचार्यत्वं वा यावद्गणावच्छेदकत्वं वा उद्देष्टुं वा धारयितुं वा, त्रिषु संवत्सरेषु व्यतिक्रान्तेषु चतुर्थके संवत्सरे प्रस्थिते स्थितस्योपशान्तस्य उपरतस्य प्रतिविरतस्य निर्विकारस्य एवं तस्य कल्पते आचार्यत्वं वा यावद्गणावच्छेदकत्वं वा उद्देष्टुं वा धारयितुं वा ॥ सू० १८॥

भाष्यम्—'भिक्खू य' भिक्षुश्च 'गणाओ अवक्कम्म' गणाद् अवक्रम्य 'ओहायइ' अवधावति-"अहं वेदोदयं धारयितुं न शक्नोमि गणस्थितेन मया मैथुनसेवनं न कर्त्तव्यं प्रवचनोड्डाहादिसद्भावात्, मा भवतु प्रवचनोड्डाहः, अत्राहं साधुवेषेण विहरन् धर्मकथाप्रबन्धादिरनेकशः कृत इति अत्र निवासिनो जना मां जानन्ति देशान्तरे च सुखेन मैथुनं सेविष्ये" इति बुद्ध्या सदोरकमुखवस्त्रिकारजोहरणादिरूपं द्रव्यलिङ्गं परित्यज्य मैथुनसेवनभावनया देशान्तरं गच्छति, तत्र मैथुनधर्मं प्रतिसेवते ततः कदाचिद्वेदोपशमनानन्तरं शुभकर्मोदयात् पुनरागत्य दीक्षां गृहीत्वा संयतो भवेत्तदा 'तस्स' तस्य उपशान्तवेदस्य पुनर्दीक्षितस्य 'तिण्णि संवच्छराणि' त्रीणि संवत्सराणि यद्दिवसे संयमो गृहीतः तद्दिवसादारभ्य वर्षत्रयं यावत् 'तप्पत्तियं' तत्प्रत्ययिकम् अवधावनकारणकम् अवधावनकारणमाश्रित्येत्यर्थः 'नो कप्पइ' नो कल्पते 'आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेयगत्तं वा' आचार्यत्वं वा यावत् उपाध्यायत्वं वा प्रवर्त्तकत्वं वा स्थविरत्वं वा गणित्वं वा गणधरत्वं वा गणावच्छेदकत्वं वा 'उद्दिसित्तए वा' उद्देष्टुम् अनुज्ञातुं वा 'धारित्तए वा' धारयितुं वा। इत्यादि शेषं सर्वं मैथुनप्रतिसेवनविषयकत्रयोदशभिक्षुसूत्रवदेव व्याख्येयम् ॥ सू० १८ ॥

अवधावनविषयकं भिक्षुसूत्रमुक्त्वा सम्प्रति पदवीसहितावधावनविषयकं गणावच्छेदकसूत्रमाह—'गणावच्छेयए' इत्यादि ।

सूत्रम्—गणावच्छेयए गणावच्छेयगत्तं अनिक्खिवित्ता ओहाएज्जा जावज्जीवाए तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेयगत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ॥ सू० १९ ॥

छाया — गणावच्छेदको गणावच्छेदकत्वं अनिक्षिप्यावधावेत् यावज्जीवं तस्य तत्प्रत्ययिकं नो कल्पते आचार्यत्वं वा यावद् गणावच्छेदकत्वं वा उद्देष्टुं वा धारयितुं वा ॥ सू० १९ ॥

भाष्यम्—'**गणावच्छेइए**' गणावच्छेदकः '**गणावच्छेयगत्तं**' गणावच्छेदकत्वम् गणावच्छेदकपदवीम् '**अनिक्खिवित्ता**' अनिक्षिप्य अपरित्यज्य साधुवेषेणैवेत्यर्थः '**ओहावेज्जा**' अवधावेत् मैथुनार्थं देशान्तरं गच्छेत्, गत्वा च तद्वेषेणैव मैथुनं प्रतिसेवते, प्रतिसेव्य पुनरागत्य दीक्षां गृह्णाति तदा '**जावज्जीवाए तस्स**' यावज्जीवं जीवनपर्यन्तं तस्य तादृशस्यावधावितस्य पुनर्गृहीतदीक्षस्य '**तप्पत्तियं**' तत्प्रत्ययिक मैथुनार्थमवधावनकारणकम् '**नो कप्पइ**' नो कल्पते '**आयरियत्तं वा उवज्झायत्तं वा**।' इत्यादि सर्वं पूर्वोक्तपदवीसहितमैथुनधर्मसेविगणावच्छेदकसूत्रचतुर्दशवदेव व्याख्येयम् ॥ सू० १९ ॥

सम्प्रति त्यक्तपदवीकगणावच्छेदकस्यावधावनसूत्रमाह—'**गणावगच्छेयए**' इत्यादि ।

सूत्रम्—**गणावच्छेयए गणावच्छेयगत्तं निक्खिवित्ता ओहाएज्जा तिण्णि संवच्छराणि तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेयगत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा, तिहिं संवच्छरेहिं वीइक्कंतेहिं चउत्थगंसि संवच्छरंसि पट्ठियंसि ठियस्स उवसंतस्स उवरयस्स परिविरयस्स निव्विगारस्स एवं से कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेयगत्तं वा दिसित्तए वा धारित्तए वा ॥ सू० २० ॥**

छाया—गणावच्छेदको गणावच्छेदकत्वं निक्षिप्याऽवधावेत् त्रीणि संवत्सराणि तस्य तत्प्रत्ययिकं नो कल्पते आचार्यत्वं वा यावद्गणावच्छेदकत्वं वा उद्देष्टुं वा धारयितुं वा, त्रिषु संवत्सरेषु व्यतिक्रान्तेषु चतुर्थके संवत्सरे प्रस्थिते स्थितस्य उपशान्तस्य उपरतस्य प्रतिविरतस्य निर्विकारस्य एवं तस्य कल्पते आचार्यत्वं वा यावद्गणावच्छेदकत्वं वा उद्देष्टुं वा धारयितुं वा ॥ सू० २० ॥

भाष्यम्—'**गणावच्छेइए**' **गणावच्छेदकः गणावच्छेयगत्तं** गणावच्छेदकत्वं गणावच्छेदकपदवीम् '**निक्खिवित्ता**' निक्षिप्य परित्यज्य '**ओहावेज्जा**' अवधावेत् मैथुनसेवनार्थं देशान्तरं प्रत्यवधावनं कुर्यात्, तत्र मैथुनं प्रतिसेवते इति भावः। प्रतिसेव्य च शुभकर्मोदयात् पुनः प्रत्यावृत्य दीक्षितो भवेत्, तदा तस्य '**तिण्णि सवच्छराणि**' त्रीणि संवत्सराणि, इत्यादि सर्वं पदवीपरित्यागपूर्वकमैथुनसेविगणावच्छेदकपञ्चदशसूत्रवद् व्याख्येयम् ॥ सू० २० ॥

पूर्वं पदवीसहितपदवीपरित्यागपूर्वकावधावकगणावच्छेदकविषयकं सूत्रद्वयमुक्त्वा सम्प्रति तद्विषयकमेवाऽऽचार्योपाध्याय-सूत्रद्वयमुच्यते, तत्र प्रथम पदवीसहितावधावनविषयकमाचार्योपाध्यायसूत्रमाह—'**आयरियउवज्झाए**' इत्यादि ।

सूत्रम्—आयरियउवज्झाए आयरियउवज्झायत्त अनिक्खिवित्ता ओहाएज्जा जावज्जीवाए तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेयगत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ॥ सू० २१ ॥

छाया—आचार्योपाध्यायः आचार्योपाध्यायत्वमनिक्षिप्य अवधावेत् यावज्जीवं तस्य तत्प्रत्ययिकं नो कल्पते आचार्यत्वं वा उपाध्यायत्वं वा यावद् गणावच्छेदकत्वं वा उद्देष्टुं वा धारयितुं वा ॥ सू० २१ ॥

भाष्यम्—'आयरिय उवज्झाए' आचार्योपाध्यायः, आचार्यश्च उपाध्यायश्च 'आयरिय उवज्झायत्तं अनिक्खिवित्ता' आचार्यत्वमाचार्यपदवीम्, तथा उपाध्यायत्वमुपाध्यायपदवीम् अनिक्षिप्याऽपरित्यज्य 'ओहाएज्जा' अवधावेत् तदा यावज्जीवं तस्य नो कल्पते आचार्योपाध्यायत्वमुद्देष्टुं वा धारयितुं वेति अनिक्षिप्तपदवीकमैथुनसेव्याचार्योपाध्यायषोडश-सूत्रवद् व्याख्या कर्त्तव्येति ॥ सू०२१ ॥

सूत्रम्—आयरियउवज्झाए आयरियउवज्झायत्तं निक्खिवित्ता ओहाएज्जा तिण्णि संवच्छराणि तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेयगत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा, तिहिं संवच्छरेहिं वीइक्कंतेहिं चउत्थगंसि संवच्छरंसि पट्ठियंसि ठियस्स उवसंतस्स उवरयस्स पडिविरयस्स निव्विगारस्स एवं से कप्पइ आयरित्तं वा जाव गणावच्छेयगत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ॥ सू०२२॥

छाया—आचार्योपाध्यायः आचार्योपाध्यायत्वं निक्षिप्य अवधावेत् त्रीणि संवत्सराणि तस्य तत्प्रत्ययिकं नो कल्पते आचार्यत्वं वा यावद्गणावच्छेदकत्वं वा उद्देष्टुं वा धारयितुं वा, त्रिषु संवत्सरेषु व्यतिक्रान्तेषु चतुर्थके संवत्सरे प्रस्थिते स्थितस्य उपशान्तस्य उपरतस्य प्रतिविरतस्य निर्विकारस्य एवं तस्य कल्पते आचार्यत्वं वा यावत् गणावच्छेदकत्वं वा उद्देष्टुं वा धारयितुं वा ॥ सू० २२ ॥

भाष्यम्—'आयरियउवज्झाए' आचार्योपाध्यायः, आचार्यः उपाध्यायश्च 'आयरियउवज्झायत्तं' आचार्योपाध्यायत्वम् आचार्यत्वमुपाध्यायत्वं च, स्वकीयं पदमाचार्यादिपदम् तत् 'निक्खिवित्ता, निक्षिप्य परित्यज्य 'ओहाएज्जा' अवधावेत् । शेषं सर्वं निक्षिप्तपदमैथुनसेव्याचार्योपाध्यायसप्तदशसूत्रवद् व्याख्येयम् ।

स्वपदस्यानिक्षेपणे निक्षेपणे च गणावच्छेदकाचार्योपाध्यायविषये अजापालकदृष्टान्तद्वयं यथा—एकोऽजापालकः स्वकीयमजावर्गं कस्मै असमर्प्य गतः तस्याजावर्गश्चोरेण चोरितः । स पुनरावृत्तो यावज्जीवं सोऽजावर्गं न लब्धवान् । अन्योऽजापालकः स्वकीयम् अजावर्गं कस्मै समर्प्य गतः । ततः प्रतिनिवृत्तेन तेन यथावस्थितोऽजावर्गो लब्धः । एवं गणावच्छेदकाचार्योपाध्यायविषयेऽपि भावनीयम् । अत्र मैथुनधर्मप्रतिसेवनमधिकृत्य पञ्च सूत्राणि सन्ति, तत्रैकं सूत्र सामान्येन भिक्षुविषयकम् १ । गणावच्छेदकपदापरित्यागमधिकृत्यैकं गणावच्छेदकसूत्रम् २ । स्वपदपरित्यागमधिकृत्य द्वितीयं गणावच्छेदकसूत्रम् ३ एवमेव आचार्योपाध्यायसूत्रद्वयं पदाऽपरि-

त्यागपरित्यागपरकमिति पञ्च सूत्राणि मैथुनसेवनविषयाणि सन्तीति ५। एवमेवाऽवधावनमधिकृत्यैकं भिक्षुसूत्रम् १, पदाऽपरित्यागपरित्यागमाश्रित्य गणावच्छेदकसूत्रद्वयम् ३, आचार्योपाध्यायसूत्रद्वयं चेत्यवधावनपरकाणि पञ्चसूत्राणि ५। एवं दश सूत्राणि त्रयोदशसूत्रादारम्य द्वाविंशतिसूत्रपर्यन्तानि प्रायः समानव्याख्यानानि सन्तीत्यवधेयम्। अयं भावः—स्वपदाऽनिक्षेपणसूत्रद्विके गणावच्छेदकाचार्योपाध्यायाः प्रत्यागता अनर्पिताजावर्गाजापालकवत् यावज्जीवमाचार्यादिपदानामनर्हा एव। स्वपदनिक्षेपणसूत्रद्वये तु अर्पिताजावर्गाजापालकदृष्टान्तेन पूर्वोक्तप्रकारेण त्रिसंवत्सरातिक्रमे आचार्यादिपदानां योग्याः भवन्तीति ॥ सू०२२ ॥

पूर्वमवधावनमधिकृत्य भिक्षुप्रभृतीनि पञ्च सूत्राणि व्याख्यातानि, साम्प्रतं मायादियुक्तबहुश्रुतबह्वागमभिक्षुगणावच्छेदकाचार्योपाध्यायविषयाणि सप्त सूत्राणि वक्ष्यन्ते, तत्रैषामेवैकवचनमाश्रित्य त्रीणि सूत्राणि ३। एवं बहुवचनमाश्रित्य त्रीणि सूत्राणि ६। तथा एषामेव समुच्चयेन बहुवचनमाश्रित्यैकं सूत्रम् ७। एवं सप्त सूत्राणि कथयिष्यन्ते, तत्र सप्तसु सूत्रेषु प्रथममेकवचनेन भिक्षुसूत्रमाह—'**भिक्खू य बहुस्सुए**' इत्यादि।

सूत्रम्—भिक्खू य बहुस्सुए बब्भागमे बहुसो बहुसु आगाढागाढेसु कारणेसु माई मुसावाई असुई पापजीवी, जावज्जीवाए तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेयगत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ॥ सू० २३॥

छाया—भिक्षुश्च बहुश्रुतो बह्वागमः बहुशो बहुषु आगाढागाढेषु कारणेषु मायी मृषावादी अशुचिः पापजीवी यावज्जीवं तस्य तत्प्रत्ययिकं नो कल्पते आचार्यत्वं वा यावद्गणावच्छेदकत्वं वा उद्देष्टुं वा धारयितुं वा ॥ सू० २३॥

भाष्यम्—'**भिक्खू य**' भिक्षुश्च '**बहुस्सुए**' बहुश्रुतः बहु—अधिकं श्रुतं सूत्रमभ्यासे यस्य स बहुश्रुतः अनेकप्रकारकसूत्रज्ञातेत्यर्थः। तथा '**बब्भागमे**' बह्वागमः बहुरधिक आगमः आगमार्थपरिज्ञानं यस्य स बह्वागमः अनेकाऽनेकविधसूत्रार्थतदुभयज्ञातेत्यर्थः '**बहुसु**' बहुषु बहुप्रकारकेषु '**आगाढागाढेसु कारणेसु**' आगाढागाढकारणं यत् सचित्ताचित्तविषये विवादास्पदीभूतमपि कुलगणसंघस्याहारोपधिशय्याद्युपग्रहे वर्त्तते, तादृशेषु आगाढागाढेषु कारणेषु '**बहुसो**' बहुशोऽनेकवारम् '**माई**' मायी मायावी परच्छिद्रान्वेषित्वात्, तेन मायित्वेन '**मुसावाई**' मृषावादी असत्यभाषणकारी अत एव '**असुई**' अशुचिः अशुद्धाऽऽहारादिसेवनादशुद्धान्तःकरणः, अत एव '**पावजीवी**' पापजीवी पापकर्मणा जीवनशीलः मायादिकपटमाश्रित्य बहुशोऽकृत्यकरणात् पापिष्ठ इत्यर्थः। एतादृशो यो भिक्षुः '**तस्स**' तस्य भिक्षोः '**जावज्जीवाए**' यावज्जीवं जीवनपर्यन्तम् '**तप्पत्तियं**' तत्प्रत्ययिकं मायामृषादिकारणकम् '**नो कप्पइ**' नो कल्पते **आयरियत्तं वा जाव गणा-**

वच्छेयगत्तं वा आचार्यत्वमाचार्यपदवीं वा यावत् उपाध्यायत्वं वा प्रवर्त्तकत्वं वा स्थविरत्वं वा गणित्वं वा गणधरत्वं वा गणावच्छेदकत्वं वा 'उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा' उद्देष्टुमनुज्ञातुं वा स्वस्य वा आचार्यपदवीं धारयितुं तस्य भिक्षोर्न कल्पते ॥ सू०२३॥

अथ सप्तसु सूत्रेषु द्वितीयं गणावच्छेदकविषयं सूत्रमाह—'गणावच्छेइए' इत्यादि ।

सूत्रम्—गणावच्छेइए बहुस्सुए बब्भागमे बहुसो बहुसु आगाढागाढेसु कारणेसु माई मुसावाई असुई पावजीवी जावज्जीवाए तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं व जाव गणावच्छेयगत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ॥ सू० २४ ॥

छाया—गणावच्छेदकः बहुश्रुतः बह्वागमः बहुशः .बहुसु आगाढागाढेषु कारणेषु मायी मृषावादी अशुचिः पापजीवी यावज्जीवं तस्य तत्प्रत्ययिकं नो कल्पते आचार्यत्वं वा यावत् गणावच्छेदकत्वं वा उद्देष्टुं वा धारयितुं वा ॥ सू० २४॥

भाष्यम्—'गणावच्छेइए' गणावच्छेदकः गणव्यवस्थाकारकः 'बहुस्सुए बब्भागमे' बहुश्रुतः बह्वागमः पूर्वोक्तस्वरूपः 'बहुसो' बहुशोऽनेकवारम् 'बहुसु आगाढागाढेसु कारणेसु' इत्यादि शेषं सर्वं भिक्षुसूत्रवदेव व्याख्येयम् । अयं भावः—यदि गणावच्छेदको बहुश्रुतो बह्वागमोऽपि किमपि कारणमासाद्यापि बहुशो मायिमृषावादिप्रभृतिविशेषणविशिष्टो भवेत् तदा तस्य तत्कारणमाश्रित्य यावज्जीवमाचार्यादिपदवीदानं पुनः कथमपि न कल्पते ॥ सू० २४ ॥

साम्प्रतं तृतीयमाचार्योपाध्यायविषयं सूत्रमाह—'आयरियउवज्झाए' इत्यादि ।

सूत्रम्—आयरियउवज्झाए बहुस्सुए बब्भागमे बहुसो बहुसु आगाढागाढेसु कारणेसु माई मुसावाई असुई पावजीवी जावज्जीवाए तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेयगत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ॥ सू० २५ ॥

छाया—आचार्योपाध्यायो बहुश्रुतो बह्वागमो मायी मृषावादी अशुचिः पापजीवी यावज्जीवं तस्य तत्प्रत्ययिकं नो कल्पते आचार्यत्वं वा यावद्गणावच्छेदकत्वं वा उद्देष्टुं वा धारयितुं वा ॥ सू० २५ ॥

भाष्यम्—'आयरियउवज्झाए' इति । इदमपि सूत्रं भिक्षुसूत्रवदेव व्याख्येयम् । अयं भावः-आचार्यः उपाध्यायो वा बहुश्रुतो बह्वागमोऽपि यं कमपि कारणविशेषमासाद्यापि किं पुनरकारणकं बहुशो मृषाभाषणादिकं करोति तस्य मृषावादादिविशिष्टस्याचार्यस्य उपाध्यायस्य वा मृषावादित्वप्रत्ययिकं यावज्जीवं पुनराचार्यादिपदवीदानं धारणं वा कथमपि न कल्पते इति ॥ सू० २५॥

अथ चतुर्थं भिक्षुमधिकृत्य बहुवचनेन सूत्रमाह—'बहवे भिक्खुणो' इत्यादि ।

सूत्रम्—बहवे भिक्खुणो बहुस्सुया बब्भागमा बहुसो बहुसु आगाढागाढेसु कारणेसु माई मुसावाई असुई पावजीवी जावज्जीवाए तेसिं तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेयगत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ॥ सू० २६ ॥

छाया—बहवो भिक्षवः बहुश्रुताः बह्वागमाः बहुशो बहुसु आगाढागाढेषु कारणेषु मायिनो मृषावादिनोऽशुचयः पापजीविनो यावज्जीवं तेषां तत्प्रत्ययिकं नो कल्पते आचार्यत्वं वा यावद्गणावच्छेदकत्वं वा उद्देष्टुं वा धारयितुं वा ॥ सू० २६ ॥

भाष्यम्—'बहवे भिक्खुणो' बहवोऽनेके भिक्षवः । इदमपि सूत्रं भिक्षुसूत्रवदेव व्याख्येयम् । विशेष एतावानेव यत् तत्रैकवचनमाश्रित्य व्याख्या कृता, अत्र बहुवचनमाश्रित्य व्याख्या कर्त्तव्येति ॥ सू० २६ ॥

अथ बहुवचनेन गणावच्छेदकविषयं पञ्चमसूत्रमाह—'बहवे गणावच्छेयया' इत्यादि ।

सूत्रम्—बहवे गणावच्छेयया बहुस्सुया बब्भागमा बहुसो बहुसु आगाढागाढेसु कारणेसु माई मुसावाई असुई पावजीवी जावज्जीवाए तेसिं तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेयगत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ॥ सू० २७॥

छाया—बहवो गणावच्छेदकाः बहुश्रुताः बह्वागमाः बहुशो बहुसु आगाढागाढेषु कारणेषु मायिनो मृषावादिनः अशुचयः पापजीविनः यावज्जीवं तेषां तत्प्रत्ययिकं नो कल्पते आचार्यत्वं वा यावद्गणावच्छेदकत्वं वा उद्देष्टुं वा धारयितुं वा ॥ सू० २७॥

भाष्यम्—'बहवे गणावच्छेयया' बहवोऽनेके त्रिचतुःप्रभृतयः गणावच्छेदकाः । शेषं सर्वं बहुवचनेन भिक्षुसूत्रवदेव व्याख्येयम् ॥ सू० २७ ॥

अथाचार्योपाध्यायविषयं षष्ठं सूत्रमाह—'बहवे आयरियउवज्झाया' इत्यादि ।

सूत्रम्—बहवे आयरियउवज्झाया बहुस्सुया बब्भागमा बहुसो बहुसु आगाढागाढेसु कारणेसु माई मुसावाई असुई पावजीवी जावज्जीवाए तेसिं तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेयगत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ॥ सू० २८ ॥

छाया—बहवः आचार्योपाध्यायाः बहुश्रुताः बह्वागमाः बहुशो बहुषु आगाढागाढेषु कारणेषु मायिनो मृषावादिनोऽशुचयः पापजीविनो यावज्जीवं तेषां तत्प्रत्ययिकं नो कल्पते आचार्यत्वं वा यावत् गणावच्छेदकत्वं वा उद्देष्टुं वा धारयितुं वा ॥ सू० २८॥

भाष्यम्—'बहवे आयरियउवज्झाया' बहवोऽनेके त्रिचतुःप्रभृतयः आचार्योपाध्यायाः आचार्याः उपाध्यायाश्च । शेषं सर्वं बहुवचनेन भिक्षुसूत्रवदेव व्याख्येयम् ॥ सू० २८ ॥

अथ भिक्षुकादीन् सर्वान् संगृह्य वहुवचनेन सप्तमं समुच्चयसूत्रमाह—'वहवे भिक्खुणो' इत्यादि।

सूत्रम्—वहवे भिक्खुणो वहवे गणावच्छेयया वहवे आयरियउवज्झाया वहुस्सुया वब्भागमा वहुसो वहुसु अगाढागाढेसु कारणेसु माई मुसावाई असुई पावजीवी जावज्जीवाए तेसिं तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेयगत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ॥ सू० २९ ॥

॥ ववहारकप्पे तइओ उद्देसो समत्तो ॥ ३ ॥

छाया—वहवो भिक्षुका वहवो गणावच्छेदकाः वहव आचार्योपाध्याया वहुश्रुताः वह्वागमाः वहुशो वहुषु आगाढागाढेषु कारणेषु मायिनो मृषावादिनः अशुचयः पापजीविनो यावज्जीवं तेषां तत्प्रत्ययिकं नो कल्पते आचार्यत्वं वा यावद् गणावच्छेदकत्वं वा उद्देष्टुं वा धारयितुं वा ॥ सू० २९ ॥

॥ व्यवहारकल्पे तृतीय उद्देशः समाप्त ॥ ३ ॥

भाष्यम्—'वहवे भिक्खुणो' वहवो भिक्षुकाः तथा 'वहवे गणावच्छेयया' वहवोऽनेके गणावच्छेदकाः 'वहवे आयरियउवज्झाया' वहवोऽनेके आचार्योपाध्यायाः। शेषं सर्वं भिक्षुकादीनां वहुत्वमधिकृत्य वहुवचनेन भिक्षुसूत्रव्याख्यावद् व्याख्या करणीया। अयं भावः—अनेके भिक्षुका गणावच्छेदका आचार्योपाध्याया वहुश्रुताद्या अपि अभीक्ष्णं माया—मृषा—वादादिकं यदि कुर्युः तदा भिक्षुकादीनां सर्वेषामपि मृषावादादिजनितापराधेन जीवनपर्यन्तमेषामाचार्यादिगणावच्छेदकान्तपदव्या दानं धारणं च न कल्पते इति ॥ सू० २९ ॥

इति श्री—विश्वविख्यात—जगद्वल्लभ—प्रसिद्धवाचक—पञ्चदशभाषाकलितललितकलापालापक—
प्रविशुद्धगद्यपद्यनैकग्रन्थनिर्मापक—वादिमानमर्दक—श्रीशाहूछत्रपतिकोल्हापुरराजप्रदत्त-
"जैनाचार्य"—पदभूषित—कोल्हापुरराजगुरु—बालब्रह्मचारि- जैनाचार्य—जैन-
धर्म-दिवाकर—पूज्यश्री—घासीलालव्रतिविरचितायां "व्यवहारसूत्रस्य"
भाष्यरूपायां व्याख्यायां तृतीय
उद्देशकः समाप्तः ॥३॥

॥ अथ चतुर्थोद्देशकः प्रारभ्यते—

व्याख्यातस्तृतीयोद्देशकः, सम्प्रति चतुर्थ उद्देशः प्रारभ्यते, तत्रास्यादिसूत्रस्य तृतीयोद्देशकान्तिमसूत्रेण सह कः सम्बन्धस्तत्राह भाष्यकारः—'आयरिय०' इत्यादि ।

भाष्यम्—आयरियमाइयाणं, माइप्पभिईण नो पयं देज्जा ।
उउवद्धाइयकाले, विहरेज्जा तेसि विहिमेत्थ ॥ १ ॥

छाया—आचार्यादीनां मायिप्रभृतीनां नो पदं दद्यात् ।
ऋतुबद्धादिककाले विहरेयुस्तेषां विधिमत्र ॥ १ ॥

व्याख्या—'आयरियमाइयाणं' इति । पूर्वं तृतीयोद्देशकस्यान्तिमसूत्रे मायिप्रभृतीनां मायिमृषावाद्यशुचिपापजीविनाम् आचार्यादीनाम् आचार्यस्योपाध्यायस्य प्रवर्त्तकस्य स्थविरस्य गणिनो गणधरस्य गणावच्छेदकस्य चेत्यर्थः पदम् आचार्योपाध्यायादिपदं यावज्जीवं नो दद्यात् इति प्रोक्तम्, ते च 'उउवद्धाइयकाले' ऋतुबद्धादिकाले हेमन्तग्रीष्मकाले वर्षावासकाले च 'विहरेज्जा' विहरेयुः विचरेयुः तदा कथं विचरेयुः ? इति तेषां विचरणस्य विधिम् अत्र चतुर्थोद्देशकस्यादौ कथयिष्यते, इत्येष पूर्वापरोद्देशकयोः सम्बन्धः । अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य चतुर्थोद्देशकस्येदमादौ आचार्योपाध्यायादिविषयकं सूत्राष्टकमाह—'नो कप्पइ' इत्यादि ।

सूत्रम्—नो कप्पइआयरिय उवज्झायस्स एगाणियस्स हेमंतगिम्हासु चरित्तए ॥१॥
कप्पइ आयरियउवज्झायस्स अप्पबिइयस्स हेमंतगिम्हासु चरित्तए ॥ सू० २ ॥
नो कप्पइ गणावच्छेययस्स अप्पविइयस्स हेमंतगिम्हासु चरित्तए ॥ सू० ३ ॥
कप्पइ गणावच्छेययस्स अप्पतइयस्स हेमंतगिम्हासु चरित्तए ॥ सू० ४॥
नो कप्पइ आयरियउवज्झायस्स अप्पविइयस्स वासावासं वत्थए ॥ सू० ५ ॥
कप्पइ आयरियउवज्झायस्स अप्पतइयस्स वासावासं वत्थए ॥ सू० ६ ॥
नो कप्पइ गणावच्छेययस्स अप्पतइयस्स वासावासं वत्थए ॥ सू० ७ ॥
कप्पइ गणावच्छेययस्स अप्पचउत्थस्स वासावासं वत्थए ॥ सू० ८ ॥

छाया—नो कल्पते आचार्योपाध्यायस्य एकाकिनो हेमन्तग्रीष्मेषु चरितुम्॥ सू०१॥
कल्पते आचार्योपाध्यायस्य आत्मद्वितीयस्य हेमन्तग्रीष्मेषु चरितुम् ॥ सू० २ ॥
नो कल्पते गणावच्छेदकस्य आत्मद्वितीयस्य हेमन्तग्रीष्मेषु चरितुम् ॥ सू० ३ ॥
कल्पते गणावच्छेदकस्य आत्मतृतीयस्य हेमन्तग्रीष्मेषु चरितुम् ॥ सू० ४ ॥
नो कल्पते आचार्योपाध्यायस्य आत्मद्वितीयस्य वर्षावासं वस्तुम् ॥ सू० ५ ॥

कल्पते आचार्योपाध्यायस्य आत्मतृतीयस्य वर्षावासं वस्तुम् ॥ सू० ६ ॥
नो कल्पते गणावच्छेदकस्य आत्मतृतीयस्य वर्षावासं वस्तुम् ॥ सू० ७ ॥
कल्पते गणावच्छेदकस्य आत्मचतुर्थस्य वर्षावासं वस्तुम् ॥ सू० ८ ॥

भाष्यम्—'**नो कप्पइ**' इति । '**नो कप्पइ**' नो कल्पते '**आयरियउवज्झायस्स**' आचार्यस्य उपाध्यायस्य च '**एगाणियस्स**' एकाकिनः अद्वितीयस्य '**हेमंतगिम्हासु**' हेमन्त-ग्रीष्मेषु, अत्र वर्षस्य त्रय एव भागा विवक्षिताः, हेमन्तकालः ग्रीष्मकालः वर्षाकालश्चेति, तत्र हेमन्तग्रीष्मकालः शेषकालनाम्ना ऋतुवद्धकालनाम्ना वा प्रसिद्धः, सोऽष्टमासात्मको नव-मासात्मको वा भवति तेन शेषकालेऽष्टमासात्मके नवमासात्मके वा हेमन्तग्रीष्मरूपे, सूत्रे बहु-वचनं हेमन्तग्रीष्मयोरष्टनवमासात्मकत्वात्, तेषु अष्टसु नवसु वा मासेषु इत्यर्थः आचार्योपाध्या-यस्य एकाकिनः '**चरित्तए**' चरितुं विहर्तुं न कल्पते, आचार्योपाध्यायस्य हेमन्तग्रीष्मकाले मासकल्पेन विहरणं भवति गच्छश्च सवालवृद्धाकुलः ततस्तत्र तिष्ठतः तस्य वैयावृत्यादिकं बहु कर्त्तव्यं भवेत् सूत्रार्थतदुभयानां स्मरणे मा विघ्नो भूयादिति गच्छाद् वहिः पृथग् एकाकी स्थातु-मिच्छेत् तदा नैकाकित्वेन स्थातुं कल्पते, यतो गच्छः अनाचार्योपाध्यायो न कर्त्तव्य इति ॥ सू० १॥

तर्हि कथं कल्पते इति द्वितीयं सूत्रमाह—'**कप्पइ**' इत्यादि । **कप्पइ** कल्पते '**आयरियउव-ज्झायस्स**' आचार्योपाध्यायस्य '**अप्पविइयस्स**' आत्मद्वितीयस्य '**हेमन्तगिम्हासु**' हेमन्तग्रीष्मेषु अष्टसु मासेषु '**चरित्तए**' चरितुं विहर्तुम् ॥ सू० २ ॥

अथ गणावच्छेदकविषयं निषेधरूपं तृतीयसूत्रमाह—'**नो कप्पइ गणा०**' इत्यादि । '**नो कप्पइ**' नो कल्पते '**गणावच्छेययस्स**' गणावच्छेदकस्य '**अप्पविइयस्स**' आत्मद्वितीयस्य आत्मा स्वयं द्वितीयो यत्र स आत्मद्वितीयः द्वितीयेन आत्मभिन्नेन साधुना सहितः, तस्य '**हेमंतगिम्हासु**' हेमन्तग्रीष्मेषु '**चरित्तए**' चरितुम् ॥ सू० ३ ॥

चतुर्थं गणावच्छेदकविषयमाज्ञासूत्रमाह—'**कप्पइ गणा०**' इत्यादि ।

'**कप्पइ**' कल्पते '**गणावच्छेययस्स**' गणावच्छेदकस्य '**अप्पतइयस्स**' आत्मतृतीयस्य, तत्र आत्मा स्वयं तृतीयो यत्र स आत्मतृतीयः द्वाभ्यामात्मभिन्नाभ्यां साधुभ्यां सहितः, तस्य '**हेमंत-गिम्हासु**' हेमन्तग्रीष्मेषु चरितुम् ॥ सू० ४ ॥

अथ वर्षावासमधिकृत्य निषेधविषयं पञ्चममाचार्योपाध्यायसूत्रमाह—'**नो कप्पइ०**' इत्यादि ।

'**नो कप्पइ**' न कल्पते '**आयरियउवज्झायस्स**' आचार्योपाध्यायस्य '**अप्पविइयस्स**' आत्मद्वितीयस्य द्वितीयसाधुसहितस्य '**वासावासं**' वर्षावासं '**वत्थए**' वस्तुं स्थातुम् ॥ सू० ५ ॥

षष्ठमनुज्ञासूत्रमाह–' **कप्पइ आयरिय०**' इत्यादि ।

'**कप्पइ**' कल्पते '**आयरियउवज्झायस्स**' आचार्योपाध्यायस्य '**अप्पतइयस्स**' आत्मतृतीयस्य आत्मा स्वयं तृतीयो यत्र स आत्मतृतीयः द्वाभ्यामात्मभिन्नाभ्यां साधुभ्यां सहितस्तस्य '**वासावासं वत्थए**' वर्षावासं वस्तुम् ॥ सू० ६ ॥

अथसप्तमं वर्षावासमधिकृत्य निषेधविषयं गणावच्छेदकसूत्रमाह–'**नो कप्पइ**' इत्यादि ।

नो कप्पइ न कल्पते '**गणावच्छेययस्स**' गणावच्छेदकस्य '**अप्पतइयस्स** आत्मतृतीयस्य आत्मभिन्नसाधुद्वयसहितस्य '**वासावासं वत्थए**' वर्षावासं वस्तुम् ॥ सू० ७ ॥

अथाष्टममनुज्ञासूत्रमाह–'**कप्पइ गणा०**' इत्यादि ।

'**कप्पइ**' कल्पते '**गणावच्छेययस्स**' गणावच्छेदकस्य '**अप्पचउत्थस्स**' आत्मचतुर्थस्य–आत्मा स्वयं चतुर्थो यत्र स आत्मचतुर्थः आत्मभिन्नैस्त्रिभिः साधुभिः सहितस्य '**वासावासं वत्थए**' वर्षावासं वस्तुम् कल्पते इति सूत्राष्टकसंक्षेपार्थः ।

अयं भावः–हेमन्तग्रीष्मकालमधिकृत्याचार्योपाध्यायविषयं निषेधानुज्ञागर्भितं सूत्रद्वयम्, तत्राद्यसूत्रे हेमन्तग्रीष्मयोरेकाकिन आचार्योपाध्यायस्य विहरणनिषेधः, द्वितीयसूत्रे आत्मद्वितीयस्य तस्य विहरणानुज्ञेति सूत्रद्वयमाचार्योपाध्यायविषयकम् २ । एवं सूत्रद्वयं गणावच्छेदकस्य हेमन्तग्रीष्मकालविषये भावनीयम्, तत्राद्यसूत्रे आत्मद्वितीयस्य प्रतिषेधः, द्वितीयसूत्रे त्वात्मतृतीयस्यानुज्ञा ४ । एवमेषामेव चत्वारि सूत्राणि वर्षावासविषयाणि वेदितव्यानि, तत्राद्ये द्वे सूत्रे आचार्योपाध्यायस्य यथा–प्रथमसूत्रे आचार्योपाध्यायस्यात्मद्वितीयस्य प्रतिषेधः, द्वितीये त्वात्मतृतीयस्यानुज्ञा ६ । तृतीयसूत्रे गणावच्छेदकस्यात्मतृतीयस्य प्रतिषेधः, चतुर्थे त्वात्मचतुर्थस्यानुज्ञेति सूत्राष्टकभावार्थः ८ । अत्र ऋतुबद्धकाले वर्षाकाले चेति कालद्वये जघन्यतो यथाक्रमं गच्छः पञ्चकः सप्तकश्च भवितुमर्हति, पञ्चपरिमाणमस्येति पञ्चकः, सप्तपरिमाणमस्येति सप्तकः, किमुक्तं भवति–ऋतुबद्धकाले पञ्चको गच्छः पञ्चसाधुसमुदायरूपः, वर्षाकाले च सप्तकः सप्तसाधुसमुदायरूपो गच्छो भवति । कथमित्याह–ऋतुबद्धे काले जघन्यत आचार्य उपाध्यायो वा आत्मद्वितीयः गणावच्छेदकस्त्वात्मतृतीय इत्येवं पञ्चको गच्छो भवति । वर्षाकाले जघन्यत आचार्य उपाध्यायो वा आत्मतृतीयः, गणावच्छेदकश्चात्मचतुर्थ इत्येवं सप्तको गच्छो भवति । उत्कर्षतः कालद्वयेऽपि द्वात्रिंशत्सहस्रसाधुसमुदायरूपो गच्छो भवति, यथाहि–भगवत ऋषभदेवस्वामिनो ज्येष्ठस्य गणधरस्य ऋषभसेनस्य पुण्डरीकाऽपरनाम्नो द्वात्रिंशत्सहस्रो गच्छ आसीत् । शेषपरिमाणो जघन्योत्कृष्टमध्यगतो गच्छो मध्यमो भवति । अत्र सूत्राष्टके जघन्यपरिमाणो गच्छः प्रतिपादित इति ॥ सू० १–८ ॥

पूर्वम् ऋतुबद्धकालवर्षाकालमधिकृत्य एकैकाचार्योपाध्यायगणावच्छेदकविषयं कल्पाकल्पसूत्राष्टकं प्रतिपादितम्, साम्प्रतं तदेव कालद्वयमधिकृत्याऽनेकाचार्योपाध्यायगणावच्छेदकविषयं सूत्रद्वयमभिधातुकामः पूर्वं हेमन्तग्रीष्मकालमधिकृत्य सूत्रमाह—'से गामंसि वा' इत्यादि ।

सूत्रम्—से गामंसि वा नगरंसि वा निगमंसि वा रायहाणीए वा खेडंसि वा कब्बडंसि वा मडंबंसि वा पट्टणंसि वा दोणमुहंसि वा आसमंसि वा संवाहंसि वा संनिवेसंसि वा बहूणं आयरियउवज्झायाणं अप्पबिइयाणं, बहूणं गच्छावच्छेययाणं अप्पतइयाणं कप्पइ हेमंतगिम्हासु चरित्तए अन्नमन्ननिस्साए ॥ सू० ९ ॥

छाया—अथ ग्रामे वा नगरे वा राजधान्यां वा खेटके वा कर्बटे वा मडम्बे वा पत्तने वा द्रोणमुखे वा आश्रमे वा संवाहे वा संनिवेशे वा बहूनामाचार्योपाध्यायानामात्मद्वितीयानाम् बहूनां गणावच्छेदकानामात्मतृतीयानाम् कल्पते हेमन्तग्रीष्मेषु चरितुम् अन्योऽन्यनिश्रया ॥ सू० ९ ॥

भाष्यम्—'से गामंसि वा' इति । 'से' अत्र 'से' शब्दोऽथशब्दार्थक, तथाच—अथानन्तरं प्रत्येकाचार्यादिविषयकविधिप्रतिषेधप्रदर्शनानन्तरम् **'गामंसि वाः'** ग्रामे वा ग्रामविषये, तत्र ग्रामो वृतिवेष्टितः, तस्मिन् **'नगरंसि वा'** नगरे वा, तत्र नगरं गोमहिष्यादीनामष्टादशकरवर्जितम्, तस्मिन् **'निगमंसि वा'** निगमे वा, निगमः वणिजां व्यापारस्थानम्, तस्मिन् वा, **'रायहाणीए वा'** राजधान्यां वा, तत्र राजधानी राज्ञो निवासस्थानम्, तत्र वा, **'खेडंसि वा'** खेटे वा, तत्र खेटो धूलिनिर्मितप्राकारपरिवेष्टितं जननिवासस्थानं, तस्मिन्, **'कब्बडंसि वा'** कर्बटे वा कुत्सितनगरे **'मडंबंसि वा'** मडम्बे वा, मडम्बः—सार्धक्रोशद्वयान्तर्गतग्रामरहितः प्रदेशः, तत्र, **'पट्टणंसि वा'** पत्तने वा, पत्तनं जलपत्तनं स्थलपत्तनमिति द्विविधम्, नौभिः शकटैर्वा प्राप्यं नगरं पत्तनं भवति, तत्र वा, **'दोणमुहंसि वा'** द्रोणमुखे वा, तत्र द्रोणमुखो नाम जलस्थलमार्गयोः संमेलनस्थानम्, तत्र वा, **'आसमंसि वा'** आश्रमे वा तापसादीनां निवासस्थाने वा **'संबाहंसि वा'** सबाहे वा, तत्र संबाहः कृषिवलैर्धान्यरक्षार्थं निर्मितं दुर्गभूमिस्थानम्, तत्र वा, **'संनिवेसंसि वा'** सन्निवेशे वा, तत्र संनिवेशः-समागतसार्थवाहादिनिवासस्थानम्, तत्र वा, **'बहूणं'** बहूनामनेकेषां द्वित्रिप्रभृतीनाम् **'आयरियउवज्झायाणं'** आचार्योपाध्यायानाम् आचार्याणामुपाध्यायाना चेत्यर्थ. । कथम्भूतानाम् ? तत्राह **'अप्पबिइयाणं'** आत्मद्वितीयानाम्, आत्मना द्वितीयानाम् आत्मभिन्नैकसाधुयुक्तानाम् **'बहूणं गणावच्छेययाणं'** बहूनामनेकेषां गणावच्छेदकानाम् **'अप्पतइयाणं'** आत्मतृतीयानाम् आत्मना सह तृतीयानाम् द्वौ सहायकौ तृतीयश्च स्वयं तेषाम् **'कप्पइ'** कल्पते **'हेमंतगिम्हासु'** हेमन्तग्रीष्मेषु ऋतुबद्धकाले इत्यर्थः **'चरित्तए'** चरितुं विहर्तुम् । कथं कल्पते ? इत्याह—**'अन्नमन्ननिस्साए'** अन्योऽन्यनिश्रया परस्परोपसंपदमाश्रित्येति यथा—एकस्याचार्यस्यैकः शिष्यः, द्वितीयः स्वयम्, एवं प्रत्येकं द्वितीयादीनां द्वौ द्वौ मिलित्वा चतुःसंख्यकादय आचार्याः, एवमेकस्य गणावच्छेदस्य

द्वौ शिष्यौ एकश्च स्वयमिति प्रत्येकं द्वित्रादीनां त्रयस्त्रयो मिलित्वा षट्संख्यकादयो गणावच्छेदकास्तेषां हेमन्तग्रीष्मेषु विहर्त्तुं कल्पते इति भावः ॥ सू० ९ ॥

सूत्रम्—से गामंसि वा नगरंसि वा निगमंसि वा रायहाणीए वा खेडंसि वा कब्बडंसि वा मडंबंसि वा पट्टणंसि वा दोणमुहंसि वा आसमंसि वा संबाहंसि वा संनिवेसंसि वा बहूणं आयरियउवज्झायाणं अप्पतइयाणं, बहूणं गणावच्छेययाणं अप्पचउत्थाणं कप्पइ वासावासं वत्थए अन्नमन्ननिस्साए ॥ सू० १०॥

छाया—अथ ग्रामे वा नगरे वा राजधान्यां वा खेटे वा कब्बडे वा मडम्बे वा पत्तने वा द्रोणमुखे वा आश्रमे वा संवाहे वा बहूनामाचार्योपाध्यायानामात्मतृतीयानाम् बहूनां गणावच्छेदकानामात्मचतुर्थानां कल्पते वर्षावासं वस्तुमन्योऽन्यनिश्रया ॥ सू० १० ॥

भाष्यम्—'**से गामंसि वा**' इत्यादि। 'से' अथानन्तरम् '**गामंसि वा**' ग्रामे वा पूर्वनिर्दिष्टस्वरूपेषु ग्रामादिषु '**बहूणं**' बहूनामनेकेषां '**आयरियउवज्झायाणं**' आचार्योपाध्यायाना प्रत्येकमनेकेषामाचार्याणाम् तथा प्रत्येकमनेकेषामुपाध्यायानाम् '**अप्पतइयाणं**' आत्मतृतीयानाम् आत्मना सह त्रित्वसंख्याविशिष्टानाम्, तथा '**बहूणं गणावच्छेययाणं**' बहूनामनेकेषां गणावच्छेदकानाम् '**अप्पचउत्थाणं**' आत्मचतुर्थानाम् आत्मना सह चतुष्कसंख्याविशिष्टानाम् '**कप्पइ**' कल्पते '**वासावासं**' वर्षावासं चातुर्मास्यम् '**वत्थए**' वस्तुं वासं कर्तुम्। कल्पते आत्मतृतीयानामाचार्याणां बहूनाम्, तथा—आत्मचतुर्थानां बहूनां गणावच्छेदकानां वर्षावासं वस्तुम्। कथमित्याह—'**अन्नमन्ननिस्साए**' अन्योऽन्यनिश्रया परस्परोपसंपदा चातुर्मास्ये एकत्र वासं कर्तुं कल्पते। अत्रायं भावः यथा—एकस्याचार्यस्य द्वौ शिष्यौ एकश्च स्वयमिति त्रयः, एवं प्रत्येकं द्वित्रादीनां संख्यामेलनं भवतीति परस्परं मिलित्वा, एवमेकस्य गणावच्छेदस्य त्रयः शिष्याश्चतुर्थः स्वयमिति चत्वारः, एवं प्रत्येकं द्वित्रादीनां संख्यामेलनं भवतीति परस्परं मिलित्वा तेषा वर्षावास स्थातुं कल्पते इति। यत् क्षेत्रं यस्यानुकूलं भवति तन्निश्रया वर्षावासे स्थातव्यमिति ॥ सू० १० ॥

सूत्रम्—गामाणुगामं दूइज्जमाणे भिक्खू जं पुरओ कट्टु विहरइ से आहच्च वीसंभेज्जा अत्थि या इत्थ अन्ने केइ उवसंपज्जणारिहे से उवसंपज्जियव्वे, णत्थि या इत्थ अन्ने केइ उवसंपज्जणारिहे तस्स अप्पणो कप्पाए असमत्ते कप्पइ से एगराइयाए पडिमाए जण्णं जण्णं दिसं अन्ने साहम्मिया विहरंति तण्णं तण्णं दिसं उवलित्तए, नो से कप्पइ तत्थ विहारवत्तियं वत्थए, कप्पइ से तत्थ कारणवत्तियं वत्थए, तंसि च णं कारणंसि निट्ठियंसि परो वएज्जा वसाहि अज्जो एगरायं वा दुरायं वा एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए, नो से कप्पइ परं एग-

रायाओ वा दुरायाओ वा वत्थए जं तत्थ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वसइ से संतरा छेए वा परिहारे वा ॥ सू०११॥

छाया—ग्रामाऽनुग्रामं द्रवन् भिक्षुर्यं पुरतः कृत्वा विहरति स आहत्य विष्वग्-भवेत्, अस्ति चात्राऽन्यः कश्चित् उपसंपदार्हः उपसंपत्तव्यः, नास्ति कश्चित् उपसंपदार्हः तस्य आत्मनः कल्पोऽसमाप्तः कल्पते तस्यैकरात्रिक्या प्रतिमया यां या खलु दिशमन्ये साधर्मिका विहरन्ति तां तां खलु दिशमुपलातुम्, नो तस्य कल्पते तत्र विहारप्रत्ययं वस्तुम्, कल्पते तस्य तत्र कारणप्रत्ययं वस्तुम्, तस्मिंश्च कारणे निष्ठिते परो वदेत् वस आर्य ! एकरात्रं वा द्विरात्रं वा एवं तस्य कल्पते एकरात्रं वा द्विरात्रं वा वस्तुम्, नो तस्य कल्पते परमेकरात्राद्वा द्विरात्राद्वा वस्तुम्, यत्तत्र परमेकरात्राद्वा द्विरात्राद्वा वसति तस्य सान्तरात् छेदो वा परिहारो वा॥ सू०११ ॥

भाष्यम्—**'गामाणुगामं'** इत्यादि । **'गामाणुगामं'** ग्रामानुग्रामम् एकस्माद् ग्रामाद् ग्रामान्तरम् **'दूइज्जमाणे'** द्रवन् गच्छन् एतावता ऋतुबद्धः कालः प्रदर्शितः । **'भिक्खू'** भिक्षुः श्रमणः **'जं पुरओ कट्टु विहरइ'** यं पुरतः कृत्वा पुरस्कृत्य यमाचार्यमुपाध्यायं वा पुरतः कृत्वा यन्निश्रयेत्यर्थः विहरति **'से आहच्च विसंभेज्जा'** स आचार्य उपाध्यायो वा गच्छनायकः आहत्य कदाचिद् आयुर्दलिकपरिक्षयात् विश्वग्भवेत् शरीरात्पृथग् भवेत् कालगतो मृतो भवेदित्यर्थः तदा **'अत्थि या इत्थ अन्ने केइ उवसंपज्जणारिहे'** अस्ति चाऽत्र समुदायेऽन्यः कश्चित् आचार्य उपाध्यायो गणी गणधरः प्रवर्त्तकः स्थविरो वा उपसंपदाऽर्हः उपसंपद्योग्यः पदवीयोग्य इत्यर्थः तदा **'से उवसंपज्जियव्वे'** स एवोपसंपत्तव्यः आचार्यादित्वेन स्थापयित्वा तन्निश्रायां स्थातव्यमित्यर्थः। **'नत्थि या इत्थ अन्ने केइ उवसंपणारिहे'** यदि नास्ति चात्र कश्चिदन्य आचार्यादिः, गणी प्रवर्त्तकादिर्वा समुदाये उपसंपदार्हः आचाराङ्गनिशीथादेर्ज्ञाता तदा **'अप्पणो कप्पाए असमत्ते'** आत्मनः स्वकीयस्य कल्पः आचारकल्पः असमाप्तः आचारकल्पः पूर्णो न पठितो भवेत्तदा तदग्रे पठनस्यावश्यकता वर्त्तते एवं सति **'कप्पइ से एगराइयाए पडिमाए'** कल्पते तस्य एकरात्रिक्या प्रतिमया एकरात्राभिग्रहेण 'अत्रतः प्रस्थितोऽहं गन्तव्यस्थानादर्वाग् अपान्तराले एकरात्रादधिकं न स्थास्यामि' इत्यभिग्रहमादायेत्यर्थः **'जं णं जं णं दिसं'** यां यां खलु दिशं—यस्या यस्यां दिशि यत्र यत्र प्रदेशे **'अन्ने साहम्मिया विहरंति'** अन्ये केचित् साधर्मिकाः समानधर्माणो विहरंति **'तं णं तं णं दिसं उवलित्तए'** ता तां खलु दिशं—तस्या तस्या दिशि उपलातुम् गन्तुमित्यर्थः किन्तु **'नो से कप्पइ तत्थ विहारवत्तियं वत्थए'** नो तस्य भिक्षुकस्य कल्पते अपान्तराले विहारप्रत्ययं निवासनिमित्तकं आहारोपकरणादिलोभात्तत्रावस्थानकारणकं वस्तुं वासं कर्त्तुम् । **'कप्पइ से तत्थ कारणवत्तियं वत्थए'** कल्पते तस्यान्तराले कारणप्रत्ययं कारणमासाद्य ग्लानादेर्वैयावृत्यादिकारणमालम्ब्य एकद्विरात्रादधिकमपि

वस्तुं वास कर्तुम् । 'तंसि च णं कारणंसि निट्ठियंसि' तस्मिंश्च खलु कारणे निष्ठिते समाप्ते सति यदि 'परो वएज्जा' परोऽन्यः तत्रत्यः श्रमणः सघो वा वदेत्—कथयेत्, किं वदेत्तत्राह— 'वसाही'—त्यादि, 'वसाहि अज्जो' वस निवासं कुरु हे आर्य ! 'एगरायं वा दुरायं वा' एकरात्रं वा द्विरात्रं वा यावद् अत्राधिकं वस, इति यदि परो वदेत् तदा 'एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए' एवमन्येन प्रार्थनायां कृतायां तस्य श्रमणस्य कल्पते एकरात्रं वा द्विरात्रं वा वस्तुम्, किन्तु 'नो से कप्पइ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वत्थए' नो कल्पते तस्य एकरात्राद्वा द्विरात्राद्वा परमधिकं तत्र वस्तुम्, 'जं तत्थ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वसइ' यद्—यदि तत्र परमधिकमेकरात्राद्वा द्विरात्राद्वा कारणं विना वसति तदा 'से' तस्य 'संतरा छेए वा परिहारे वा' सान्तरात् स्वकृतादन्तरात् अन्तररूपापराधात् गन्तव्यस्थानप्रापणे यावद्दैवसिकमन्तरं भवेत् यावन्ति दिनानि गन्तव्यस्थानप्रापणे तत्र व्यवधानीकृतानि तावद्दिवसपरिमितः छेदो वा परिहारो वा छेदनामकं वा परिहारनामकं वा प्रायश्चित्तं भवेत्तस्येति ।

अत्रायं सूत्राशयः—यन्निश्रया भिक्षुर्ग्रामानुग्रामं विहरति तस्मिन् कालगते सति गच्छे यदि उपसम्पदार्हः पदवीयोग्यः कोऽप्यन्यो भवेत्तदा तं तत्र उपसंपदायां स्थापयित्वा तन्निश्रायां स्थातव्यम्, तदनन्तरं स्वस्य पठितुमारब्धकल्पस्याग्रे पठनं कर्त्तव्यम् । यदि उपसंपदार्ह—पदवीयोग्योऽन्यः कोऽपि गच्छे न भवेत्, स्वकीयः कल्पश्चाऽसमाप्तो वर्त्तेतेऽतस्तत्पूरणार्थमग्रे पठनमावश्यकं वर्त्तते स्वनिश्रायां कतिचित् साधवो भवेयुः, एवं सति स्वनिश्रागतान् सर्वान् साधून् गृहीत्वा गमनं कर्त्तव्यम् । तत्र एकरात्रिकाभिग्रहेण गच्छेत्, यथा अत्रतो निर्गमनानन्तरं गन्तव्यस्थानादर्वाग् अपान्तराले एकरात्रादधिकं कुत्रापि न स्थास्यामीति । एवंविधाभिग्रहेण यस्यां दिशि कल्पपाठकाः साधर्मिकास्तिष्ठन्ति ता दिशं प्रति प्रस्थातव्यम्, तत्रापान्तराले गोकुलादौ दुग्धदध्यादिलाभरूपं प्रतिबन्धमकुर्वन् गच्छेत् किन्तु मार्गे आहारादिलाभमपेक्ष्य स्थातुं न कल्पते । यदि मार्गे स्थितताना साधुना ग्लानाद्यवस्थायां वैयावृत्त्यादिकारणमुपस्थितं भवेत्तदा तस्य तत्कारणप्रत्ययमेकरात्रादधिकमपि तत्र वस्तुं कल्पते । समाप्ते च कारणे तत्रतो निर्गन्तव्यम् । यदि तत्रत्याः श्रमणाः पुनरधिकं वस्तुमाग्रहं कुर्युः तदा एकरात्र वा द्विरात्रं वा तत्र स्थातुं कल्पते । तत्राहारोपध्यादिलोभादेकद्विरात्रादधिकं वसेत् तदा तस्य भिक्षोरपान्तराले गन्तव्यस्थानप्राप्तौ यावद्दिनावधिकमन्तरं भवेत् तावत्परिमितश्छेदः परिहारतपो वा कल्पपठनान्तरायकारणकं समापद्येतेति सूत्राशयः ॥ सू० ११ ॥

तदेवं ऋतुबद्धकालसूत्रं व्याख्याय सम्प्रति वर्षावाससूत्रं व्याख्यातुमाह—'वासावासं' इत्यादि ।

सूत्रम्—वासावासं पज्जोसविओ भिक्खू य जं पुरओ कट्टु विहरइ से आहच्च वीसंभेज्जा अत्थि या इत्थ अन्ने केइ उवसंपज्जणारिहे से उवसंपज्जियव्वे, नत्थि या

इत्थ अन्ने उवसंपज्जणारिहे तस्स अप्पणो कप्पाए असमत्ते कप्पइ से एगराइयाए पडिमाए जण्णं जण्णं दिसं अन्ने साहम्मिया विहरंति तण्णं तण्णं दिसं उवलित्तए, नो से कप्पइ तत्थ विहारवत्तियं वत्थए, कप्पइ से तत्थ कारणवत्तियं वत्थए। तंसि च णं कारणंसि निट्ठियंसि परो वएज्जा वसाहि अज्जो एगरायं वा दुरायं वा एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए, नो से कप्पइ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वत्थए, जं तत्थ एगरायाओ वा दुरायाओ वा परं वसइ से संतरा छेए वा परिहारे वा॥ सू० १२॥

छाया—वर्षावासं पर्युषितो भिक्षुश्च यं पुरतः कृत्वा विहरति आहत्य स विष्वग्भवेत् अस्ति चाऽत्राऽन्यः कश्चिदुपसंपदार्हः स उपसंपत्तव्यः, नास्ति चात्र कश्चिदुपसंपदार्हः तस्य चाऽऽत्मनः कल्पोऽसमाप्तः कल्पते तस्यैकरात्रिक्या प्रतिमया यां यां खलु दिशमन्ये साधर्मिका विहरन्ति तां तां खलु दिशमुपलातुम्, नो तस्य कल्पते विहारप्रत्ययं वस्तुम्, कल्पते तस्य कारणप्रत्ययं वस्तुम्, तस्मिंश्च खलु कारणे निष्ठिते परो वदेत् वस आर्य! एकरात्रं वा द्विरात्रं वा, एवं तस्य कल्पते एकरात्रं वा द्विरात्रं वा वस्तुम् नो तस्य कल्पते परमेकरात्राद्वा द्विरात्राद्वा वस्तुम्, यस्तत्र परमेकरात्राद्वा द्विरात्राद्वा वसति तस्य सान्तरात् छेदो वा परिहारो वा ॥ सू० १२॥

भाष्यम्—'वासावासं' इत्यादि। 'वासावासं' वर्षावासं वर्षाकालं 'पज्जोसविओ' पर्युषितः वर्षाकाले वासं कुर्वन् स्थितः 'भिक्खू य' भिक्षुश्च 'जं पुरओ कट्टु विहरइ' यमाचार्यादिकं पुरतः कृत्वा यन्निश्रयेत्यर्थः विहरति वर्षावासे तिष्ठति 'आहच्च से वीसंभेज्जा' आहत्य स विष्वग्भवेत् कदाचित् स आचार्यः शरीरात् पृथग्भवेत् म्रियेत इत्यर्थः तत. 'अत्थि या इत्थ अन्ने केइ उवसंपज्जणारिहे' अस्ति विद्यते अत्र समुदाये कश्चिदन्यो नायकः उपसंपदार्हः उपसंपत्तियोग्यः आचार्यादिपदयोग्यः तदा 'से उवसंपज्जियव्वे' स उपसंपत्तव्यः। शेषं सर्वमेकादशसूत्रोक्तऋतुबद्धकालसूत्रवद् व्याख्येयम्॥ सू० १२॥

पूर्वमाचार्ये कालगते भिक्षुमधिकृत्य ऋतुबद्धकालवर्षाकालविहारविषयकं सूत्रद्वयं प्रतिपादितम्, साम्प्रतमाचार्योपाध्यायस्य मरणावस्थायां पदवीदानविधिमाह—'आयरियउवज्झाए' इत्यादि।

सूत्रम्—आयरियउवज्झाए गिलायमाणे अन्नयरं वएज्जा अज्जो! ममंसि णं कालगयंसि समाणंसि अयं समुक्कसियव्वे, से य समुक्कसणारिहे समुक्कसियव्वे, से य नो समुक्कसणारिहे नो समुक्कसियव्वे, अत्थि या इत्थ अन्ने केइ समुक्कसणारिहे से समुक्कसियव्वे। नत्थि या इत्थ अन्ने समुक्कसणारिहे से चेव समुक्कसियव्वे। तंसि च णं समुक्किट्ठंसि परो वएज्जा दुस्समुक्किट्ठं ते अज्जो! निक्खिवाहि, तस्स णं निक्खि-

वमाणस्स नत्थि केइ छेए वा परिहारे वा, जे साहम्मिया आहाकप्पेणं नो अब्भुट्ठाए विहरंति सव्वेसिं तेसिं तप्पत्तियं छेए वा परिहारे वा ॥ सू० १३ ॥

छाया—अचार्योपाध्यायो ग्लायन् अन्यतरं वदेत्-आर्य! मयि खलु कालगते सति अयं समुत्कर्षयितव्यः, स च समुत्कर्षणार्हः समुत्कर्षयितव्यः। स च नो समुत्कर्षणार्हः नो समुत्कर्षयितव्यः, अस्ति चाऽत्राऽन्यः कश्चित् समुत्कर्षणार्हः समुत्कर्षयितव्यः। नास्ति चात्रान्यः कश्चित् समुत्कर्षणार्हः स एव च समुत्कर्षयितव्यः। तस्मिंश्च खलु समुत्कृष्टे परो वदेत् दुस्समुत्कृष्टं ते आर्यः! निक्षिप, तस्य खलु निक्षिपतो नाऽस्ति कश्चित् छेदो वा परिहारो वा, ये सार्धर्मिका यथाकल्पेन नो अभ्युत्थाय विहरन्ति सर्वेषां तेषां तत्प्रत्ययिकं छेदो वा परिहारो वा ॥ सू० १३ ॥

भाष्यम्—'आयरियउवज्झाए' इत्यादि। 'आयरियउवज्झाए' आचार्यः उपाध्यायो वा 'गिलायमाणे' ग्लायन् धातुक्षोभादिना ग्लानिमुपगच्छन् आसन्नमरणः सन्नित्यर्थः 'अन्नयरं' अन्यतरम् उपाध्याय-प्रवर्त्तक-स्थविर-गणि-गणधर-गणावच्छेदक-गीतार्थभिक्षूणां मध्यात् यं कमप्येकं गच्छसापेक्षः सन् 'वएज्जा' वदेत्-कथयेत्, कश्चिद्गणनायक आचार्यादिः धातुक्षोभादिनाऽनिष्टादिनिमित्तदर्शनेन वा स्वकीयं कालगमनं संभाव्य गच्छसचालनार्थं गच्छवासिनमेकं कमपि श्रमणं समाहूय कथयतीत्यर्थः। 'अज्जो!' हे आर्य! 'ममंसि णं कालगयंसि समाणंसि' मयि खलु कालगते मयि मृते सति 'अयं समुक्कसियव्वे' अयं समुत्कर्षयितव्यः अयं परिदृश्यमानः श्रमणः मत्समीहितः समुत्कर्षयितव्यः आचार्यपदे स्थापनीयो भवद्भिः। ततः कालगते आचार्ये 'से य समुक्कसणारिहे' स च यदि समुत्कर्षणार्हः समुत्कर्षणयोग्यः आचार्यादिपदवीयोग्यः अभ्युद्यतमरणमभ्युद्यतविहारं वा न स्वीकृतो भवेत् तदा स एव 'समुक्कसियव्वे' समुत्कर्षयितव्यः गणनायकपदे स्थापनीयो नान्यः, यदि स वदेत्-अहमभ्युद्यतविहारं जिनकल्पादिकमभ्युद्यतमरणं पादपोपगमनेङ्गितभक्तप्रत्याख्यानरूपं वा प्रतिपत्स्ये इति तदा किं कुर्यात्? तत्राह-'अत्थि या इत्थ' इत्यादि, 'अत्थि या इत्थ अन्ने केइ समुक्कसणारिहे' अस्ति चाऽत्र गच्छेऽन्यः कोऽपि श्रमणः समुत्कर्षणार्हः गणनायकपदवीयोग्य' श्रमणसमुदायाभीष्टस्तदा 'से समुक्कसियव्वे' स समुत्कर्षयितव्य. गणनायकपदे स्थापनीयः। अथ यदि 'नत्थि या इत्थ केइ समुक्कणारिहे' नास्ति चाऽत्र गच्छेऽन्यः कोऽपि श्रमणः समुत्कर्षणार्ह' गणनायकपदवीयोग्यः तदा किं कुर्यादित्याह-तदा 'से चेव' स एव योऽभ्युद्यतविहारादिकं स्वीकर्तुकामः स एव सप्रार्थ्य 'समुक्कसियव्वे' समुत्कर्षयितव्यः गणनायकपदे स्थापनीयः, संप्रार्थना यथा-गीतार्थाः संप्रार्थनापुरस्सरं तं ब्रुवते-यूयं गणनायकपदं किञ्चित् कालं यावत् स्वीकुरुत, परिपालयन्तश्च भवन्त एकमस्माकं कञ्चन श्रमणं गीतार्थं निर्मा-

पयत, तदनन्तरं तत्पदं निक्षिप्य भवद्भिरभ्युद्यतविहारादिकं यदिष्टं तत् प्रतिपत्तव्यम् । गीतार्थैरे-वमुक्ते तेन गणनायकपदं प्रतिपद्य कश्चनाप्येकः श्रमणो गीतार्थत्वेन निर्मापितः । तत्पश्चात्तस्य मनसि एवं विचारः समुत्पद्येत—यथा अभ्युद्यतविहाराद्यपेक्षया गच्छपरिपालनं विपुलतरं निर्जराहेतुकमित्य-हमेव परिपालयामि गच्छमिति । एवमन्यगीतार्थे निष्पन्ने सति गच्छगता गीतार्थास्तं ब्रुवते—निक्षिप गणनायकपदमिति गीतार्थैरेवमुक्ते स ब्रूते—न निक्षिपामि पदवीं किन्तु इच्छामि गच्छं परिपालयि-तुम् । एवमुक्ते ते गीतार्थाः क्षुभ्यन्ति, ततः **'तंसि च णं समुक्किट्ठंसि'** तस्मिंश्च खलु समुत्कृष्टे पूर्वं गणनायकत्वेन स्थापिते **'परो वएज्जा'** परः गीतार्थः गच्छो वा वदेत् **'अज्जो'** हे आर्य ! **'ते'** तव **'दुस्समुक्किट्ठं'** दुःसमुत्कृष्टम् अनुचितमिदं गणनायकपदं तस्मात् **'निक्खिवाहि'** निक्षिप त्यजेदं पदम्, यत् पूर्वं त्वया नेच्छितं गणनायकपदं पश्चादिदानीं यद्यपि तव रोचते तथापि नास्माकं रोचते अतो दुःसमुत्कृष्टं खलु तवेदं गणनायकपदं वर्त्तते । एवं तैः कथिते यदि स स्वपदं निक्षिपति तदा **'तस्स णं'** तस्य समुत्कृष्टस्य खलु **'निक्खिवमाणस्स'** निक्षिपतः स्वप-दवीं विमुञ्चतः **'नत्थि केइ छेए वा परिहारे वा'** नाऽस्ति कोऽपि छेदो वा दीक्षाछेदरूपः, परिहारो वा सप्तरात्रं वा तपः, न तस्य किमपि प्रायश्चित्तं समापतेदिति भावः । अथ **'जे साह-म्मिया'** ये साधर्मिकाः ये पुनः साधर्मिका गच्छसाधवः **'अहाकप्पेणं'** यथाकल्पेन आवश्यका-दिषु यथोक्तविनयकरणलक्षणेन, तथाहि—आवश्यके क्रियमाणे यो विनयः तस्याऽऽचार्यस्य कर्त्तव्यो भवेत्तं च न कुर्वन्ति, सूत्रमर्थं वा तत्समीपे न गृह्णन्ति, आचार्यप्रायोग्यं भक्तं तस्य न प्रय-च्छन्ति, तस्य पुरतो नालोचयन्ति आचार्यस्य वस्त्रपात्रकम्बलादिप्रत्युपेक्षणार्थं नोपस्थिता भवन्ति, नापि तस्य कृतिकर्म वन्दनकमन्यद्वा कुर्वन्ति, न च तस्य यास्तिस्रः संस्तारकभूमयस्ता अपि ददति एवं यथाकल्पेन यदि **'नो अब्भुट्ठाए'** नो अभ्युत्थाय तस्य पदवीत्यागं नो कारयित्वा **'विहरंति'** विहरन्ति तिष्ठन्ति तदा **'सव्वेसिं तेसिं'** सर्वेषां तेषां यथाकल्पमनभ्युत्तिष्ठतां पूर्वोक्तां क्रियां कुर्वतामित्यर्थः प्रत्येकं सर्वेषां पदवीधारकस्य च **'तप्पत्तियं'** तत्प्रत्ययिकं यथाकल्पानभ्युत्थान कारणकं **'छेए वा परिहारे वा'** छेदो वा दीक्षाच्छेदः, परिहारः सप्तरात्रं वा तपः प्रायश्चित्तं समापतति ॥ सू० १३ ॥

पूर्वं सापेक्षे आचार्योपाध्याये कालधर्मप्राप्ते तत्कथितानुसारेण तत्पदेऽन्याचार्यस्थापने विधिरुक्तः, साम्प्रतमाचार्योपाध्यायस्य अवधावने तद्विधिमाह,—अथवा पूर्वं भवजीवितान्मरणविषयकं सूत्रमुक्तम्, साम्प्रतं संयमजीवितान्मरणविषयकं सूत्रं प्रतिपाद्यते—**'आयरियउवज्झाए ओहायमाणे'** इत्यादि ।

सूत्रम्—आयरियउवज्झाए ओहायमाणे अन्नयरं वएज्जा अज्जो ! ममंसि णं ओहावियंसि समाणंसि अयं समुक्कसियव्वे, से य समुक्कसणारिहे समुक्कसियव्वे, से य नो समुक्कसिणारिहे नो समुक्कसियव्वे, अत्थि या इत्थ अण्णे केइ समुक्कसरणारिहे से समुक्कसियव्वे, नत्थि या इत्थ अन्ने केइ समुक्कसणारिहे से चेव समुक्कसियव्वे

तेसिं च णं समुक्किट्ठंसि परो वएज्जा दुस्समुक्किट्ठं ते अज्जो निक्खिवाहि, तस्स णं निक्खिवमाणस्स नत्थि केइ छेए वा परिहारे वा, जे साहम्मिया अहाकप्पेणं नो अब्भुट्ठाए विहरंति सव्वेसिं तेसिं तप्पत्तियं छेए वा परिहारे वा ॥ सू० १४ ॥

छाया—आचार्योपाध्यायोऽवधावन् अन्यतरं वदेत् आर्य! मयि खलु अवधाविते सति अयं समुत्कर्षयितव्यः, स च समुत्कर्षणार्हः समुत्कर्षयितव्यः स च नो समुत्कर्षणार्हो नो समुत्कर्षयितव्यः, अस्ति चात्राऽन्यः कश्चित् समुत्कर्षणार्हः समुत्कर्षयितव्यः, नास्ति चात्राऽन्यः कश्चित् समुत्कर्षणार्हः स एव समुत्कर्षयितव्यः, तस्मिंश्च खलु समुत्कृष्टे परो वदेत् दुःसमुत्कृष्टं ते आर्य! निक्षिप, तस्य खलु निक्षिपतो नास्ति कश्चित् छेदो वा परिहारो वा, ये साधर्मिकाः यथाकल्पेन न अभ्युत्थाय विहरन्ति सर्वेषां तेषां तत्प्रत्ययिकं छेदो वा परिहारो वा ॥ सू० १४ ॥

भाष्यम्—'आयरियउवज्झाए' आचार्योपाध्याय आचार्य उपाध्यायश्च 'ओहायमाणे' अववावन् मोहेन रोगेण वा लिङ्गं सदोरकमुखवस्त्रिकारजोहरणलक्षणं परित्यज्य गच्छान्निस्सरन् अयं गच्छसापेक्षोऽतो गमनात्प्रागेव 'अन्नयरं' अन्यतरम् उपाध्यायं प्रवर्त्तकं स्थविरं गणिनं गणधरं गणावच्छेदकं वा 'वएज्जा' वदेत्, किं वदेत्? तत्राह 'अज्जो! ममंसि णं ओहावियंसि' हे आर्य! मयि खलु अवधाविते चारित्रलिङ्गं मुक्त्वा गते सति 'अयं समुक्कसियव्वो' अयममुकः श्रमणः मत्स्थाने समुत्कर्षयितव्यः—मम स्थाने स्थापनीयः। शेषं सर्वं त्रयोदशसूत्रवदेव व्याख्येयम् ॥ सू० १४ ॥

पूर्वमवधाविताचार्योपाध्यायविषयकं सूत्रमुक्तम्, अवधावितश्च स यदि भग्नव्रतो जायेत, भग्नव्रतो भूत्वा ततो यदि स शुभकर्मोदयात्पश्चात्तापपूर्वकं पुनरुपतिष्ठति, पुनरुपस्थिते सति तस्मिन् उपस्थापना कर्त्तव्या भवति, तत्प्रसङ्गाद् उपस्थापनाप्रतिपादनार्थं सूत्रमाह—'आयरियउवज्झाए सरेमाणे' इत्यादि।

सूत्रम्—आयरियउवज्झाए सरेमाणे परं चउरायपंचरायाओ कप्पागं भिक्खुं नो उवट्ठावेइ कप्पाए, अत्थि याइं से केइ माणणिज्जे कप्पागे णत्थि याइं से केइ छेए वा परिहारे वा, णत्थि याइं से केइ माणणिज्जे कप्पाए से संतरा छेए वा परिहारे वा ॥ सू० १५ ॥

छाया—आचार्योपाध्यायः स्मरन् परं चतुरात्रपञ्चरात्रात् कल्पाकं भिक्षुं नो उपस्थापयति कल्पाके, अस्ति तस्य माननीयः कल्पाकः नास्ति चापि तस्य कोऽपि छेदो वा परिहारो वा, नास्ति चापि तस्य कश्चित् माननीयः कल्पाकः तस्य सान्तरात् छेदो वा परिहारो वा ॥ सू० १५ ॥

भाष्यम्—'आयरियउवज्झाए' आचार्यः उपाध्यायश्च 'सरेमाणे' स्मरन् अयमुपस्थापनार्ह इति जानानः नवदीक्षितोऽयं छेदोपस्थापनीयचारित्रं प्राप्तुं योग्योऽस्ति, इत्येवं जानानः 'परं चउरायपंचरायाओ' परं चतूरात्रात् पञ्चरात्राद्वा 'कप्पागं' कल्पाकं यः षड्जीवनिकादिसूत्रार्थं प्राप्तस्त 'भिक्खुं' भिक्षुं नवदीक्षितं मुनिम् 'णो उवट्ठावेइ' नो उपस्थापयति—छेदोपस्थापनीयचारित्रं न समर्पयति तदा आचार्यस्योपाध्यायस्य वा छेदपरिहारादि प्रायश्चित्तमापद्यते। तत्र यदि कदाचित् 'कप्पागे' कल्पाके छेदोपस्थापनीयचारित्रप्राप्तियोग्ये तस्मिन् सति 'अत्थि याइं से केइ माणणिज्जे कप्पागे' अस्ति चाऽपि 'से' तस्य महाव्रतरोपणयोग्यनवदीक्षितश्रमणस्य कश्चित् माननीयः संसारपर्यायिकः पिता ज्येष्ठो भ्राता, अन्यो वा कश्चित् स्वामी कल्पाकः भावी पञ्चमहाव्रतारोपणयोग्यः सः नवदीक्षितः प्रतिक्रमणं न जानाति पञ्चरात्रेण दशरात्रेण पञ्चदशरात्रेण वा सहैव महाव्रतारोपणमावश्यकं भवेत् तदा 'से' तस्य आचार्यस्य उपाध्यायस्य वा 'णत्थि याइं से केइ छेए वा परिहारे वा' नास्ति न भवति कश्चित्तस्याचार्यस्योपाध्यायस्य वा छेदो वा परिहारो वा उपलक्षणादन्यदपि दशरात्रतपःप्रभृतिकं वा प्रायश्चित्तम्। यदि नवदीक्षितस्य महाव्रतारोपणयोग्यतायुक्तस्याऽपि यदि माननीयः पितादिर्भवति स च दशरात्रात्पर प्रतिक्रमणाभ्यासाऽनन्तरं महाव्रतस्याधिकारी भविष्यतीति ज्ञात्वा आचार्यः 'उभयोः सहैव पञ्चमहाव्रतारोपणं करिष्यामि' इति कृत्वा पूर्वदीक्षितस्योपस्थापने विलम्बं करोति तदा आचार्यस्य उपाध्यायस्य वा छेदादिकं प्रायश्चित्तं न भवति, माननीयेऽनुत्थापिते तस्योपस्थापनायाः अयोग्यत्वादिति। 'नत्थि याइं से केइ माणणिज्जे कप्पागे' अथ नास्ति चाऽपि कश्चित् नवदीक्षितस्य माननीयः भावी कल्पाकः उपस्थापनायोग्यः पितादिः तदा चतूरात्रात् पञ्चरात्राद्वा परमपि नोपस्थापयति तदा 'से' तस्याचार्यस्योपाध्यायस्य वा 'संतरा छेए वा परिहारे वा' सान्तरात् स्वकृतात्—अन्तरात् अपराधात् यावन्ति दिनानि तस्योपस्थापनेऽन्तरितानि तावन्ति दिनानीत्यर्थः छेदो वा परिहारो वा छेदनामकं परिहारनामकं पञ्चरात्रादिकं तपःप्रभृतिकं वा प्रायश्चित्तं भवति।

अयं भावः—यदि चतूरात्रात्परमन्यानि चत्वारि दिनानि यावत् नोपस्थापयति तदा आचार्यस्य उपाध्यायस्य वा प्रत्येकं प्रत्येकं दिनचतुष्टये—प्रथमचतुष्टये द्वितीयचतुष्टये च प्रायश्चित्तं चतुर्गुरुकं भवति। अथ यदि प्रथमद्वितीयचतुष्कादनन्तरमन्यानि चत्वारि दिनानि लङ्घयति तत्र नोपस्थापयति तदा षड्लघुकं प्रायश्चित्तं भवति, ततोऽप्यन्यानि चत्वारि दिनानि अतिवाहयति चेत् तदा षड्गुरुकं प्रायश्चित्तं भवति। ततोऽपि यद्यन्यानि चत्वारि दिनानि लङ्घयति तदा चतुर्गुरुकश्छेदः प्रायश्चित्तं भवति। ततः परं यद्यन्यानि चत्वारि दिनानि लङ्घयति, तदा षड्गुरुकश्छेदः प्रायश्चित्तं भवति। तदनन्तरमेकैकदिवसातिक्रमे मूलाऽनवस्थाप्यपाराञ्चितानि प्रायश्चित्तरूपेण भवन्तीति।

अयमाशयः—विवक्षिते भिक्षौ कल्पाके पञ्चमहाव्रतारोपणयोग्ये जाते सति यदि कदाचित् तस्य कल्पाकस्य माननीयो जनकादिरुपस्थापयितव्यो विद्यते परन्तु अद्यावधि कल्पाको न जातः आवश्यकसूत्रार्थयोर्ज्ञाता न सम्पन्नस्तर्हि स जघन्यतः पञ्चरात्रं यावत् प्रतीक्ष्यः, मध्यमतो दशरात्रं यावत्, उत्कर्षतः पञ्चदशरात्रं यावत् प्रतीक्ष्यः, तदनन्तरमपि यदि माननीयो जनकादिवर्गो न कल्पाक उपजायते तदा तत्प्रतीक्षां दूरतोऽपहाय स कल्पाको भिक्षुरुपस्थापनीय एव। तत्र यदि आचार्यः उपाध्यायो वा नोपस्थापयति तदा आचार्यस्य उपाध्यायस्य वा अनुत्थापननिमित्तकं छेदः छेदनामकं, परिहारः परिहारनामकं वा प्रायश्चित्तं भवति। अथ यदि तस्य कल्पाकस्य माननीयो जनकादिः भावी कल्पाको न विद्यते, तदा तेषां पित्रादीनामभावे यदि तं कल्पाकं चतूरात्रमध्ये पञ्चरात्रमध्ये वा नोपस्थापयति तदा तस्याचार्यस्य उपाध्यायस्य वा छेदः परिहारो वा प्रायश्चित्तं भवति ॥ सू० १५ ॥

सूत्रम्—आयरियउवज्झाए असरमाणे परं चउरायपंचरायाओ कप्पागं भिक्खुं नो उवट्ठावेइ कप्पाए, अत्थि य इत्थ से केइ माणणिज्जे कप्पाए नत्थि से केइ छेए वा परिहारे वा, नत्थि य इत्थ से केइ माणणिज्जे कप्पाए से संतरा छेए वा परिहारे वा ॥ सू० १६ ॥

छाया—आचार्योपाध्यायः अस्मरन् परं चतूरात्रपञ्चरात्रात् कल्पाकं भिक्षुं नो उपस्थापयति कल्पाके, अस्ति चाऽत्र कश्चित् माननीयः कल्पाकः नाऽस्ति तस्य कश्चित् छेदो वा परिहारो वा, नास्ति चाऽत्र तस्य कश्चित् माननीयः कल्पाकः तस्य सान्तरात् छेदो वा परिहारो वा ॥ सू० १६ ॥

भाष्यम्—'आयरियउवज्झाए' आचार्योपाध्याय आचार्यो वा उपाध्यायो वा **'असरमाणे'** अस्मरन् प्रमादवशात् कार्यव्यग्रत्वेन वा नवदीक्षितोपस्थापनस्य स्मरणमकुर्वन् **'परं चउरायपंचरायाओ'** चतूरात्रात् पञ्चरात्राद्वा परम् **'कप्पागं भिक्खुं नो उवट्ठावेइ'** कल्पाकं सूत्रार्थप्राप्तम् सम्यक् षड्जीवनिकादिज्ञातारं भिक्षुं नवदीक्षितं श्रमणम् नो उपस्थापयति छेदोपस्थापनीयचारित्रारोपणं न करोति, अथ **'कप्पाए'** कल्पाके अभ्यस्तषड्जीवनिकादिके तस्मिन् विद्यमाने **'अत्थि य इत्थ से केइ माणणिज्जे कप्पाए'** अस्ति विद्यते चाऽत्राऽस्मिन् गच्छे **'से'** तस्य नवदीक्षितस्य कश्चित् कोऽपि माननीयः पितृभ्रातृप्रभृतिकः भावी कल्पाकः तदा अस्मरतः आचार्यस्य उपाध्यायस्य वा **'नत्थि से केइ छेए वा परिहारे वा'** नास्ति न भवति तदा **'से'** तस्याचार्यस्य उपाध्यायस्य वा छेदो वा परिहारो वा। यदि नवदीक्षितस्य कश्चित् पितृभ्रातृप्रभृतिको माननीयः तस्मिन् गच्छे भावी कल्पाक उपस्थापनायोग्यो भवेत् तदा पञ्चरात्रात् परमपि नवदीक्षितस्याऽनुपस्थापने अस्मरतोऽपि आचार्यस्य उपाध्यायस्य वा छेदनामकं परिहारनामकम् अन्यद्वा सप्तरात्रादिकतपःप्रभृतिकं प्रायश्चित्तं न भवतीति भावः।

'नत्थि य इत्थ से माणणिज्जे कप्पाए' अथ यदि नाऽस्ति न विद्यते अत्राऽस्मिन् गच्छे 'से' तस्य माननीयः पिता ज्येष्ठभ्रातादिर्वा कल्पाकः सूत्रार्थप्राप्तः कश्चित् तदा चतूरात्रात् पञ्चरात्राद्वा परमस्मरतः 'से' तस्य आचार्यस्य उपाध्यायस्य वा 'संतरा छेए वा परिहारे वा' सान्तरात् यावन्ति दिनानि तस्योपस्थापने व्यवधानीकृतानि तावद्दिनपरमितः छेदो वा परिहारो वा छेदनामकं परिहारनामकं सप्तरात्रं वा तपः प्रायश्चित्तं भवतीति ॥ सू० १६ ॥

सूत्रम्—आयरियउवज्झाए सरमाणे वा असरमाणे वा परं दसरायकप्पाओ कप्पागं भिक्खुं नो उवट्ठावेइ कप्पाए, अत्थि य इत्थ से केइ माणणिज्जे कप्पाए नत्थि य इत्थ से केइ छेए वा परिहारे वा, नत्थि य इत्थ से केइ माणणिज्जे कप्पाए संवच्छरं तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा उवज्झायत्तं वा पवत्तयत्तं वा थेरत्तं वा गणित्तं वा गणहरत्तं वा गणावच्छेययत्तं वा उद्दिसित्तए वा ॥ सू० १७ ॥

छाया—आचार्योपाध्यायः स्मरन् वा अस्मरन् वा परं दशरात्रकल्पात् कल्पाकं भिक्षुं नो उपस्थापयति कल्पाके, अस्ति चाऽत्र कश्चित् माननीयः कल्पाकः नाऽस्ति तस्य कश्चित् छेदो वा परिहारो वा, नास्ति चाऽत्र तस्य कश्चित् माननीयः कल्पाकः संवत्सरं तस्य तत्प्रत्ययिकं नो कल्पते आचार्यत्वं वा उपाध्यायत्वं वा प्रवर्त्तकत्वं वा स्थविरत्वं वा गणित्वं वा गणधरत्वं वा गणावच्छेदकत्वं वा उद्देष्टुम् ॥ सू० १७ ॥

भाष्यम्—'आयरियउवज्झाए' आचार्यः उपाध्यायो वा 'सरमाणे वा असरमाणे वा' स्मरन् 'अयं नवदीक्षितः श्रमण उपस्थापनायोग्यः' इत्येवं स्मरन्, विस्मरन् वा यस्मिन् काले स्मरणं करोति 'अयमुपस्थापनयोग्यः' इति तत्समये उपस्थापनासाधकं प्रशस्तलग्ननक्षत्रमुहूर्त्तादिकं न मिलति, यदा तु साधकं लग्ननक्षत्रादिकमनुकूलमुपस्थितं भवति, तदा संघकार्यादिव्याक्षेपात् न स्मरति तत एवं कथ्यते यत् स्मरन् वा अस्मरन् वा 'परं दसरायकप्पाओ' परं दशरात्रकल्पात् कालः समयः अद्धा, कल्पः, इति समानार्थका कालवाचकाः शब्दाः, ततोऽत्र कल्पशब्दः कालार्थकः तथाच—स्मरणेऽपि पञ्च, अस्मरणेऽपि पञ्चेति स्मरणास्मरणमिश्रसूत्रत्वेन दशरात्रात्कल्पादिति दशरात्रात्मककालात् परमधिकं कालं यावत् 'कप्पागं' कल्पाकं प्राप्तसूत्रार्थम् 'भिक्खुं' भिक्षुं 'नो उवट्ठावेइ' नो उपस्थापयति महाव्रते नाऽऽरोपयति 'कप्पाए' कल्पाकेऽधिगतसूत्रार्थे तस्मिन् विद्यमाने सति तत्र यदि 'अत्थि य इत्थ से केइ माणणिज्जे कप्पाए' अस्ति चाऽत्र तस्य कश्चित् माननीयः कल्पाकः, यद्यत्र गच्छे तस्य अभिनवदीक्षितस्य माननीयः पितृभ्रातृप्रभृतिकः समीपतरकाले भाविकल्पाको विद्यते तदा नोपस्थापयति अभिनव दीक्षितं तर्हि तु 'नत्थि इत्थ से केइ छेए वा परिहारे वा' नास्ति न भवति तस्याऽनुपस्थापयितुराचार्यस्योपाध्यायस्य वा कश्चित् छेदो वा परिहारो वा छेदनामकं परिहारनामकं

दशरात्रप्रभृतिकं वा प्रायश्चितम् । अत्र तस्य भाविकल्पाकस्य माननीयपित्रादिकस्य सद्भावे यदि नवदीक्षितं तत्कारणमाश्रित्य नोपस्थापयति तदाऽऽचार्यादेर्न किमपि छेदपरिहारादिकं प्रायश्चित्तमापतति, माननीयकल्पाकोपस्थापनानन्तरमेव लघुवयस्कनवदीक्षितस्याधिकारप्राप्तत्वादिति भावः । अथ 'नत्थि य इत्थ से केइ माणणिज्जे कप्पाए' नास्ति न विद्यते चाऽत्र गच्छे तस्याऽभिनवदीक्षितस्य कश्चिन्माननीयः पित्रादिर्भाविकल्पाकः तर्हि तस्याऽभिनवदीक्षितस्य तत्काल-मेवोपस्थापनमकर्त्तुराचार्यस्य उपाध्यायस्य वा छेदनामकं परिहारनामकं दशरात्रं वा यद्यत्तपः तत्त-त्प्रभृतिकं प्रायश्चित्तं भवत्येव । अथ यदि स छेदं परिहारं तदुभयं वा तपो धृतिकायबलाद्यभावेन वोढुं न शक्नुयात् तदा 'संवच्छरं तस्स तप्पत्तियं' संवत्सरं वर्षपर्यन्तं यावत् तस्याऽनु-पस्थापयितुराचार्यस्य उपाध्यायस्य वा तत्प्रत्ययिकम्—अनुपस्थापननिमित्तकम् 'नो कप्पइ' नो कल्पते 'आयरियत्तं वा' आचार्यत्वं वा गणनायकपदं वा 'पवत्तयत्तं वा' प्रवर्त्तकत्वं वा 'थेरत्तं वा' स्थविरत्वं वा 'गणित्तं वा' गणित्वं वा 'गणहरत्तं वा' गणधरत्वं वा 'गणावच्छेययत्तं वा' गणावच्छेदकत्वं वा 'उद्दिसित्तए वा' उद्देष्टुमनुज्ञातुं वा संवत्सरपर्यन्तम् आचार्यादिपदं त्याजयित्वा तत्सकाशाद् गणो ह्रियते, अमुस्मिन् अपराधे तपोवहनाशक्तस्य आचार्यादेः पदा-पहरणमात्रदण्डस्यैव विधानादिति ॥ सू० १७ ॥

पूर्वसूत्रे आचार्यस्य गणापहरणमुक्तम्, ततो गुरोर्गणहरणं दृष्ट्वा गणस्थो भिक्षुः 'मे गुरोर्गणः किमिति हृतः' इति विचिन्त्यास्मादेवापमानकरणाद् भिक्षुरन्यत्र गणान्तरे गच्छेत्, यद्वा यस्य गणो हृतः स एव वा गणहरणापमानेन कलुषितः सन् अन्यं गणं व्रजेदित्यन्यगणोपसम्पत्प्रतिपाद-नार्थमाह—'भिक्खू य' इत्यादि ।

सूत्रम्—भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म अन्नं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरेज्जा तं च केइ साहम्मिए पासित्ता वएज्जा—कं अज्जो ! उवसंपज्जित्ता णं विहरसि ? जे तत्थ सव्वराइणिए तं वएज्जा, अह भंते कस्स कप्पाए ? जे तत्थ बहुस्सुए तं वएज्जा जं वा से भगवं वक्खइ तस्स आणाउववायवयणनिदेसे चिट्ठिस्सामि ॥ सू०१८ ॥

छाया—भिक्षुश्च गणादवक्रम्य अन्यं गणमुपसंपद्य खलु विहरेत् तं च कश्चित् साधर्मिको दृष्ट्वा वदेत्-कम् आर्य ! उपसंपद्य विहरसि । यः तत्र सर्वरत्नाधिकः तं वदेत्, अथ भदन्त ! कस्य कल्पेन यस्तत्र बहुश्रुतस्तं वदेत् यं वा स भगवान् वक्ष्यति तस्याज्ञो-पपातवचननिर्देशे स्थास्यामि ॥ सू० १८ ॥

भाष्यम्—'भिक्खू य' भिक्षुश्च 'गणाओ अवक्कम्म' गणात् स्वकीयगच्छात् अवक्रम्य निष्क्रम्य 'अन्नं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरेज्जा' गणहरणकारणं, यद्वा विशिष्टसू-त्रार्थनिमित्तमन्यकारणनिमित्तं वा अन्यम् अन्यदीयं गणं गच्छमुपसंपद्य परकीयगच्छं प्राप्य विहरेत् तिष्ठेत् 'तं च केइ साहम्मिए पासित्ता वएज्जा' तं श्रमणं च कश्चित् अनेकभिक्षाचरादि-

समाकुले ग्रामे भिक्षाद्यर्थं भ्रमन्तं दृष्ट्वा सम्यगवलोक्य कश्चित्साधर्मिको वदेत् पृच्छेदित्यर्थः, किं पृच्छेदित्याह—'कं' इत्यादि, '**कं अज्जो ! उवसंपज्जित्ता णं विहरसि**' हे आर्य ! कमाचार्यविशेषमुपसंपद्य कस्याचार्यस्य निश्रायां तिष्ठन् खलु त्वं विहरसि एवं साधर्मिकेण पृष्टः सन् '**जे तत्थ सव्वराइणिए**' यस्तत्र यत्र गच्छे गतस्तस्मिन् स्थाने सर्वरत्नाधिको गीतार्थ आचार्यो भवेत्तं वदेत् अमुकस्य रत्नाधिकस्य निश्रायां तिष्ठामीति वदेत्। तस्मिन्नेवमुक्ते स परिकल्पयति—यमयं व्यपदिशति स तु अगीतार्थः, न चाऽयमगीतार्थनिश्रया विहरति ततः स साधर्मिकः पुनरपि पृच्छति—'**अह भंते**' इत्यादि '**अह भंते कस्स कप्पाए**' अथ भदन्त ! कस्याचार्यस्य कल्पेन कस्य निश्रया विहरसीति। सूत्रे '**कप्पाए**' इत्यत्र स्त्रीत्वं प्राकृतत्वात्। एवमुक्ते '**जे तत्थ बहुस्सुए तं वएज्जा**' यः कोऽपि तत्र स्थाने बहुश्रुतस्तं वदेत् तस्य सर्वरत्नाधिकस्याचार्यस्याऽगीतार्थस्य यो गीतार्थः शिष्यः सूत्रार्थनिष्णातः समस्तस्यापि गणस्य तृप्तिकारकस्तस्य नाम गृह्णीयात्, यद् अमुकस्य निश्रयाऽहं विहरामीति वदेत्—'**जं वा से भगवं वक्खइ**' यं वा स भगवान् ज्ञानादिसंपदासम्पन्नः वक्ष्यति कथयिष्यति यथाऽमुकस्याऽऽज्ञा त्वया परिपालनीये-ति, '**तस्स आणाउववायवयणनिदेसे चिट्ठिस्सामि**' तस्यैव आज्ञोपपातवचननिर्देशे आज्ञा च उपपातश्च वचननिर्देशश्चेति समाहारद्वन्द्वः, तेन आज्ञायाम् उपपाते-समीपे, वचननिर्देशे आदेशप्रतीक्षायां च स्थास्यामीति ॥ सू०१८ ॥

पूर्वसूत्रे आज्ञायां स्थास्यामीत्युक्तम्, इत्यनेन गुरूणामाज्ञा बलवती भवति—'आज्ञासारश्च गच्छवासः' इति ध्वनितम् ततः शरीरस्य प्रतिरोद्धुमशक्तं श्वासोच्छ्वासनिमेषादिक्रियाव्यापारं मुक्त्वा सर्वेषु व्यापारेषु गुर्वाज्ञा पालनीयेति तदर्थप्रतिपादनार्थमिदं सूत्रमाह—'**बहवे साहम्मिया**' इत्यादि ।

सूत्रम्—बहवे साहम्मिया इच्छेज्जा एगयओ अभिनिचरियं चारए णो ण्हं कप्पइ थेरे अणापुच्छित्ता एगयओ अभिनिचरियं चारए, कप्पइ ण्हं थेरे आपुच्छित्ता एगयओ अभिनिचरियं चारए, थेरा य से वियरेज्जा एवं ण्हं कप्पइ एगयओ अभिनिचरियं चारए, थेरा य से नो वियरेज्जा एवं ण्हं नो कप्पइ एगयओ अभिनिचरियं चारए, जं तत्थ थेरेहिं अविइण्णे एगयओ अभिनिचरियं चरंति से अंतरा छेए वा परिहारे वा ॥ सू० १९ ॥

छाया—बहवः साधर्मिका इच्छेयुरेकतोऽभिनिचरिकां चरितुम् नो खलु कल्पते स्थविराननापृच्छ्य एकतोऽभिनिचरिकां चरितुम्, कल्पते खलु स्थविरानापृच्छ्य एकतोऽभिनिचरिकां चरितुम्, स्थविराश्च ते वितरेयुः एवं खलु कल्पते एकतोऽभिनिचरिकां चरितुम् स्थविराश्च ते नो वितरेयुः एवं खलु नो कल्पतेऽभिनिचरिकां चरितुम्, यत्तत्र स्थविरैरवितीर्णे एकतोऽभिचरिकां चरन्ति तेषां सान्तरात् छेदो वा परिहारो वा ॥ सू०१९॥

भाष्यम्—'**बहवे**' बहवोऽनेके त्रिप्रभृतिकाः '**साहम्मिया**' साधर्मिकाः समानधर्मवन्त साम्भोगिकाः '**इच्छेज्जा**' इच्छेयु', किमिच्छेयुः ? तत्राह—'**एगयओ**' इत्यादि । **एगयओ** एकतः एकत्र सहिता इत्यर्थः '**अभिनिचरियं चारए**' अभिनिचरिकां चरितुम्, तत्र एकत्र मिलित्वा विचरणम्, एकत्र मिलित्वा वासकरणम्, एकत्र मिलित्वा चलनं अभिनिचरिका, तां कर्त्तु बहवः श्रमणा इच्छेयुः, एवं प्रकारेण तेषामिच्छताम् '**नो ण्हं कप्पइ थेरे अणापुच्छित्ता**' नो खलु सूत्रे 'ण्हं' इति सर्वत्र खल्वर्थे' तेषामभिनिचरिकां चरितुं कल्पते स्थविरान् गच्छनायकान् अनापृच्छ्य अनामन्त्र्य, स्थविराणामाज्ञां विना तेषामिच्छतामपि अभिनिचरिकां चरितुं कथमपि न कल्पते स्वच्छन्दचारित्व-दोषसंभवात् । तर्हि कथं कल्पते ? इत्याह—'**कप्पइ ण्हं**' इत्यादि, '**कप्पइ ण्हं थेरे आपुच्छित्ता एगयओ अभिनिचरियं चारए**' यस्मात् कारणात् स्वच्छन्दचारित्वदोषापातस्तस्मात् कारणात् कल्पते खलु तेषां स्थविरान् गणनायकान् आपृच्छ्य आमन्त्र्य तदाज्ञां लब्ध्वेत्यर्थः एकतोऽभिनिचरिकां चरितुमिति । '**थेरा य से वियरेज्जा एवं ण्हं कप्पइ एगयओ अभिनिचरियं चारए**' आपृच्छायां कृतायां सत्यां यदि स्थविराश्च तेषां वितरेयुरनुजानीयुरनुज्ञां दद्युरित्यर्थः तदा एवं खलु कल्पते तेषा-मिच्छतां बहूनामेकत्र मिलित्वा एकतोऽभिचरिकां गमननिवासादिरूपां चरितुम् । अथ यदि आपृ-च्छायां कृतायामपि '**थेरा य से नो वियरेज्जा**' स्थविराश्च तेषां नो वितरेयुः अनुज्ञां यदि नो दद्युस्तदा '**एवं ण्हं नो कप्पइ एगयओ अभिनिचरियं चारए**' एवं खलु तेषां न कल्पते न कथमपि युज्यते एकतः एकत्र मिलित्वा अभिनिचरिकां चरितुम् । '**जं तत्थ थेरेहिं अविइण्णे**' यत् पुनः तत्र स्थविरैः गणनायकैरवितीर्णेऽननुज्ञाते सति '**एगयओ अभिनिचरियं चरंति**' एकत एकत्र-मिलित्वा अभिनिचरिकां चरन्ति कुर्वन्ति '**से संतरा छेए वा परिहारेवा**' से तेषां प्रत्येकं सान्तरात् तत्स्थानादप्रत्यावर्त्तनरूपात् यावन्ति दिनानि तेऽभिनिचरिकां चरन्ति तावद्दिनपरिमितकालमाश्रि-त्येत्यर्थः छेदो वा परिहारो वा छेदनामकं परिहारनामकं दशरात्रिकं तपःप्रभृतिकं वा प्रायश्चित्तं भवतीति ॥ सू० १९ ॥

पूर्वसूत्रे स्थविराज्ञयाऽभिनिचरिका प्रोक्ता, साम्प्रतमनाज्ञाविचरतो भिक्षोः प्रायश्चित्तमाह—'**चरियापविट्ठे**' इत्यादि ।

सूत्रम्—**चरियापविट्ठे भिक्खू जाव चउरायपंचरायाओ थेरे पासेज्जा सच्चेव आलोयणा सच्चेव पडिक्कमणा सच्चेव ओग्गहस्स पुव्वाणुन्नवणा चिट्ठइ अहालंदमवि उग्गहे ॥ सू० २० ॥**

छाया—चरिकाप्रविष्टो भिक्षुर्यावत् चतूरात्रपञ्चरात्राद्वा स्थविरान् पश्येत् सैव आलोचना तदेव प्रतिक्रमणम् सैवोपग्रहस्य पूर्वानुज्ञापना तिष्ठति यथालन्दमप्यव-ग्रहे ॥ सू० २० ॥

भाष्यम्—'चरियापविट्ठे भिक्खू' चरिकानिमित्तं ये श्रमणा ग्रामानुग्रामगताः तेषां मध्यात् एकतरं श्रमणमधिकृत्य कथ्यते चरिकाप्रविष्टो भिक्षुः श्रमणः स्वगच्छीयस्थविराणामाज्ञामन्तरेण विहर्त्तुं प्रवृत्तः साधुः 'जाव चउरायपंचरायाओ' यावत् चतूरात्रात्पञ्चरात्राद्वा, अत्र यावत्पदेन—'एक-द्वित्रि' इति पदं गृह्यते ततश्चायमर्थः—एकद्वित्रिचतुःपञ्चरात्रात्, यथा एकरात्रात् द्विरात्रात् त्रिरा-त्रात् चतूरात्रात् पञ्चरात्राद्वा परं 'थेरे पासेज्जा' स्थविरान् स्वकीयगणनायकान् पश्येत् एकादिपञ्च-रात्रानन्तरं यदा पूर्वस्थविरैः सह मिलेदित्यर्थः तदा तस्य स्थविरैः सह मिलितस्य 'सच्चेव आलो-यणा' सैवालोचना तिष्ठति या खलु आलोचना अन्यस्माद्गणादागते उपसंपद्यमाने वितीर्णा 'सच्चेव पडिक्कमणं' तदेव परिक्रमणम् अन्यगणादागत्य तस्मिन् गणे उपसंपद्यमाने यत् तस्मात् पाप-स्थानात् प्रत्यावर्त्तनरूपं तदेव, 'सच्चेव ओग्गहस्स पुव्वाणुन्नवणा चिट्ठइ' सैव चावग्रहस्य पूर्वा-नुज्ञापना तिष्ठति या अनुज्ञापना अन्यदीयगणादागते उपसंपद्यमाने च साधर्मिकावग्रहस्याऽनुज्ञापना-कृता आसीत् सैवेति 'अहालंदमवि उग्गहे' यथालन्दमप्यवग्रहे यथाकालमपि, अत्रापिशब्दः संभा-वनायाम् तेन न केवलं यथाकालमेव किन्तु चिरमपि यथाकालं यावत्ततो गच्छात् तस्य भावो न विपरिणमति तावदवग्रहे अवग्रहस्य सैव पूर्वाऽनुज्ञापना तिष्ठति, आज्ञामन्तरेण विहारप्रवृत्तः साधु-र्यावत् एकद्वित्रिचतूरात्रपञ्चरात्रपर्यन्तं विहृत्य स्थविरान् दृष्ट्वा भवदाज्ञामन्तरेणाहं विहारं कृतवान् इत्येवंरूपेणाऽऽलोचना कर्त्तव्या, प्रतिक्रमणं कर्त्तव्यम्। तथा यत्रैतावत्कालं स्थितः तत्रत्यस्थवि-राज्ञामादाय पुनः यस्य स्थविरस्य पार्श्वे पूर्वमासीत् तदाज्ञायामेव भूयोऽवस्थितो भवेत्। तथा यावत्पर्यन्तं हस्तरेखा शुष्येत् तावत्कालमपि स्थविराज्ञामन्तरेण न तिष्ठेदिति भाव॰ ॥ सू० २०॥

सूत्रम्—चरियापविट्ठे भिक्खू परं चउरायपंचरायाओ थेरे पासेज्जा पुणो आलो-एज्जा पुणो पडिक्कमेज्जा पुणो छेयस्स परिहारस्स उवट्ठाएज्जा भिक्खुभावस्स अट्ठाए दोच्चंपि ओग्गहे अणुन्नवेयव्वे सिया, कप्पइ से एवं वदित्तए—अणुजाणह भंते ! मिओ-ग्गहं अहालंदं धुवं निययं निच्छइयं वेउट्टियं तओ पच्छा कायसंफासं ॥ सू० २१ ॥

छाया—चरिकाप्रविष्टो भिक्षुः परं चतूरात्रपञ्चरात्राद्वा स्थविरान् पश्येत् पुन-रालोचयेत् पुनः प्रतिक्रमेत् पुनश्छेदस्य परिहारस्योपतिष्ठेत् भिक्षुभावस्यार्थाय द्वितीय-मप्यवग्रहोऽनुज्ञातव्यः स्यात् कल्पते तस्य एवं वक्तुम्—अनुजानीत भदन्त ! मितमवग्रहम् यथालन्दं ध्रुवं नियतं नैश्चयिकं व्यावृत्तम् ततः पश्चात् कायसंस्पर्शम् ॥ सू० २१ ॥

भाष्यम्—'चरियापविट्ठे भिक्खू' चरिकाप्रविष्टः स्थविराज्ञामन्तरेण एकतो विहारादि-निमित्तं गतो भिक्षुः 'परं चउरायपंचरायाओ' परं चतूरात्रात् पञ्चरात्राद्वा इत्यत्र व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिरस्तत. परमित्यस्यायमर्थः—परम् परिणते भावे चतुःपञ्चरात्रात् पूर्वं परतो वा यदि चरिकाप्रविष्टस्य श्रमणस्य भावो विपरिणतो भवेत् यथा कोऽत्र स्थास्यति, अत्रतो मया निष्क्रमितव्य-

मिति परिभूतः सन् ततश्चतूरात्रात् पञ्चरात्राद्वा परतः 'थेरे पासेज्जा' स्थविरान् स्वकीयं-गणनायकान् पश्येत् पुनरपि च तस्य भावः प्रत्यावृत्तो भवेत् तदा स भूयोऽपि प्रथमोपसंपदीव यथा पूर्वं तत्प्रथमतया उपसंपदि स्थितः तद्वत् तेषां स्थविराणां पार्श्वे 'पुणो आलोएज्जा' पुनरपि प्रथमोपसंपदीव भूयोऽप्यालोचयेत् आलोचनां कुर्यात् स्वकीयापराधं गुरुसमीपे वचसा प्रकाशयेत् 'पुणो पडिक्कमेज्जा' पुनर्भूयोऽपि प्रतिक्रामेत् तत्पापस्थानात् पुनरकरणतया प्रत्यावर्त्तनरूपं प्रति-क्रमणं कुर्यात् 'पुणो छेयस्स परिहारस्स उवट्ठाएज्जा' पुनर्भूयोऽपि छेदाय छेदप्रायश्चित्तग्रह-णाय परिहाराय वा परिहारतपोग्रहणाय वा उपतिष्ठेत उपस्थितो भवेत्, विपरिणते अपरि-णते वा भावे यत्किञ्चित् प्रायश्चित्तस्थानं प्राप्तवान्, तस्मिन् पापस्थाने आलोचिते प्रतिक्रान्ते सति गणनायकेन यत् छेदनामकं परिहारनामकं वा प्रायश्चित्तं निर्दिष्टम् तत्सम्यक् श्रद्धाय तस्य करणार्थ-मुपतिष्ठेत अभ्युद्यतो भवेत्। प्रथमं स्वगच्छात् विनिर्गतः पुनर्भावपरावर्त्तनेन स्वगच्छं समागतः तदनन्तरमाचार्येण यत् प्रायश्चित्तं दीयते तस्य सर्वस्यापि परिपालनाय समुद्यतो भवेदिति भावः। किमर्थं छेदादिप्रायश्चित्तार्थमभ्युद्यतो भवेत्? तत्राह-'भिक्खुभावस्स अट्ठाए' भिक्षुभावस्य भिक्षुत्वस्याऽर्थाय प्रयोजनाय 'यथाऽवस्थितं मे भिक्षुत्वं पुनरपि भूयात्' इत्येवमर्थम्, अथवा भिक्षुभावो नाम-स्मारणा, वारणा, नोदना, प्रतिनोदना, तत्र विस्मृतेऽर्थे स्मारणा १, अतिचारादेः प्रतिषेधनं वारणा २, स्खलितस्य पुनः शिक्षणं नोदना ३, स्खलितस्य पुनः पुनर्निष्ठुरं शिक्षापणं प्रतिनोदना ४। एताभिर्यथावस्थितो भावो भिक्षुभावः, एता यथा पूर्वमासीरन् तथेदानीमपि स्युरित्येवमर्थम् 'दोच्चंपि ओग्गहे अणुन्नवेयव्वे सिया' द्वितीयमपि वारमवग्रहोऽनुज्ञातव्यः स्यात् भवेत्, द्विती-यवारमवग्रहानुज्ञां गृह्णीयात् 'कप्पइ से एवं वदित्तए' कल्पते 'से' तस्य एव वक्ष्यमाणप्रकारेण वक्तुम्। कथमित्याह-'अणुजाणह भंते' अनुजानीत भदन्त! हे भदन्त! 'मिओग्गहं' मित-मवग्रहम्, अत्रावग्रहेत्युपलक्षणं गमनादीनाम्, तथाचाऽयमर्थः-मितं प्रमाणयुक्तं मर्यादायुक्तमवग्रहम्, मितं गमनं प्रयोजनवशतः, मितमवस्थानम् विश्रामनिमित्तम्, मितं निषीदन, मितं-त्वग्वर्त्तनादि-कम्। तत्र मितनिषीदनं स्वाध्यायादिनिमित्तम्, मितत्वग्वर्त्तनं पार्श्वपरितापकारणात्, आदिशब्दात् मितभाषणं कार्ये समापतिते भाषणावसरभावात्, मितभोजनम् एककुक्षिपूरणमात्रस्य भगवताऽनु ज्ञातात्, हे भदन्त! तत्सर्वमनुजानीत 'अहालंदं' यथालन्दं यथाकालं 'धुवं' ध्रुवम् गच्छमर्या-दया यदवश्यं कर्त्तव्यम् 'निययं' नियतं यावदवधावनिकामर्यादा तावदहमपि न त्यक्ष्यामि अव-श्यकरणीयम् 'निच्छइयं' नैश्चयिकं यावत् सहायान् न लभे तावत् अवश्यं निश्चयभावेनाऽनु-ष्ठेयम् तथा 'वेउट्टियं' व्यावर्त्तितम् प्रतिदिनं पक्षचातुर्मासिकसंवत्सरादौ क्षामणादिषु वा अने-कप्रकारमाज्ञाविलोपनं कृतम्, इत्येतत्सर्वमनुजानीत क्षमध्वमित्यर्थः। 'तओ पच्छा कायसंफासं'

ततो गुरुणाऽभ्युपगते सति पश्चात् कायसंस्पर्शम् कायस्य चरणयुगललक्षणस्य शिरसा संस्पर्शं करोति गुरोश्चरणद्वयं शिरसा वन्दते इत्यर्थः, अथवा कृतिकर्मादिषु आगमने गमने च यः कायसंस्पर्शः शरीरसंघट्टादिर्जातस्तमप्यनुजानीत गमनागमने च भवदासनादीनां संघट्टादिकं जातं तस्याऽपि क्षमां ददतु इत्यर्थः ॥ सू० २१ ॥

पूर्वं चरिकाप्रविष्टस्य सूत्रद्वयेनाऽऽलोचनादिकं प्रोक्तम्, सम्प्रति चरिकानिवृत्तस्य सूत्रद्वयेनाऽऽलोचनादिकमाह–'चरियानियट्टे भिक्खू' इत्यादि ।

सूत्रम्—चरियानियट्टे भिक्खू जाव चउरायपंचरायाओ थेरे पासेज्जा सच्चेव आलोयणा सच्चेव पडिक्कमणा सच्चेव उग्गहस्स पुव्वाणुण्णवणा चिट्ठइ अहालंदमवि उग्गहे ॥ सू० २२ ॥

छाया—चरिकानिवृत्तो भिक्षुः यावत् चतूरात्रपञ्चरात्रात् स्थविरान् पश्येत् सैवाऽऽलोचना तदेव प्रतिक्रमणम् सैवाऽवग्रहस्य पूर्वाऽनुज्ञापना तिष्ठति यथालन्दमप्यवग्रहे ॥ सू० २२ ॥

भाष्यम्—'चरियानियट्टे भिक्खू' चरिकानिवृत्तो भिक्षुः यः साधुः स्थविराज्ञां विना गत्वा तत्स्थानतो निवृत्तः 'जाव चउरायपंचरायाओ' यावत् चतूरात्रपञ्चरात्रात् यावत्पदेन एकरात्रात् द्विरात्रात् त्रिरात्राद्वा परं इत्यस्य संग्रहो भवति । शेषं सर्वं चरिकाप्रविष्टविषयकविंशतितमसूत्रवदेव व्याख्येयम् ॥ सू० २२ ॥

अथ चरिकानिवृत्तविषयकं द्वितीयसूत्रमाह–'चरियानियट्टे भिक्खू' इत्यादि ।

सूत्रम्—चरियानियट्टे भिक्खू परं चउरायपंचरायाओ थेरे पासेज्जा पुणो आलोएज्जा पुणो पडिक्कमेज्जा पुणो छेयपरिहारस्स उवट्ठाएज्जा भिक्खुभावस्स अट्ठाए दोच्चंपि ओग्गहे अनुन्नवेयव्वे सिया, अणुजाणह भंते ! मिओग्गहं अहालंदं धुवं नितियं नियच्छियं वेउट्टियं तओ पच्छा कायसंफासं ॥ सू० २३ ॥

छाया—चारिकानिवृत्तो भिक्षुः परं चतूरात्रपञ्चरात्रात् स्थविरान् पश्येत् पुनरालोचयेत् पुनः प्रतिक्रमेत् पुनश्छेदपरिहारस्योपतिष्ठेत् भिक्षुभावस्यार्थाय द्वितीयमपि अवग्रहः अनुज्ञातव्यः स्यात् अनुजानीत भदन्त ! मितमवग्रहं यथालन्दं ध्रुवं नियतं नैश्चयिकं व्यावृत्तम् ततः पश्चात् कायसंस्पर्शम् ॥ सू० २३ ॥

भाष्यम्—'चरियानियट्टे भिक्खू' चरिकानिवृत्तो भिक्षुः आज्ञामन्तरेण अन्यगणे ग्रामानुग्रामविहारे वा गत्वा ततः प्रतिनिवृत्तो भिक्षुरित्यर्थः 'परं चउरायपंचरायाओ' चतूरात्रपञ्चरात्रात् । पूर्वं परतो वा 'थेरे पासेज्जा' स्थविरान् पश्येत् । शेषं सर्वं चरिकाप्रविष्टविषयैकविंशतितमसूत्रवद् व्याख्येयम् ।

अथ यदि चरिकाप्रविष्टसूत्रद्वयवदेव चरिकानिवृत्तसूत्रद्वयमपि वर्त्तते तदा किमर्थमनयोः सूत्रयोः पृथगुपादानं क्रियते चरिकाप्रविष्टसूत्राभ्यामेव अनयोश्चरिकानिवृत्तसूत्रयोर्गतार्थत्वात्, यतो यैव चरिकाप्रविष्टानां श्रमणानां सामाचारी सैव सामाचारी चरिकानिवृत्तानां साधूनामपीति। अत्रोच्यते–केवलमुच्चारिते चरिकाप्रविष्टसूत्रद्वये, अनुच्चारिते च चरिकानिवृत्तसूत्रद्वये यथैव प्रायश्चित्तदानसामाचारी चरिकाप्रविष्टानाम् सैव सामाचारी चरिकानिवृत्तानामपीत्यर्थो न लभ्यते एतादृशार्थप्रतिपादकसूत्रपदाऽभावात्, पदेन हि पदार्थो ज्ञायते पदाऽभावे पदार्थज्ञानस्याऽसंभवात् ततःसूत्रद्वयमुच्चार्य यैव सामाचारी चरिकाप्रविष्टानां सैव सामाचारी चरिकानिवृत्तानामपीति बोधनाय चरिकानिवृत्तसूत्रद्वयं निहितम्, अन्यथा–एतत्सूत्रद्वयाभावे चरिकानिवृत्तानामन्यैव कापि सामाचारीति कल्प्येत ततः कल्पनान्तरं मा भूदित्येवमर्थं चरिकानिवृत्तसूत्रद्वयमिति ॥ सू० २३ ॥

सूत्रम्—दो साहम्मिया एगयओ विहरंति तंजहा सेहो रायणिए य, तत्थ सेहतराए पलिच्छन्ने रायणिए अपलिच्छन्ने, सेहतराएणं रायणिए उवसंपज्जियव्वे भिक्खोववायं च दलयइ कप्पागं ॥ सू० २४ ॥

छाया-- द्वौ साधर्मिकौ एकतो विहरतः तद्यथा–शैक्षो रात्निकश्च तत्र शैक्षतरः-परिच्छन्नः रत्निकोऽपरिच्छन्नः, शैक्षतरेण रात्निक उपसंपत्तव्यः भिक्षामुपपात च ददाति कल्प्यकम् ॥ सू० २४ ॥

भाष्यम्—'दो साहम्मिया' द्वौ साधर्मिकौ समानगुरुकुलौ सहाध्यायिनौ एकस्य गुरोरन्तेवासिनौ **'एगयओ विहरंति'** एकतः सहैव द्वावपि विहरतः **'तंजहा'** तद्यथा–**'सेहो रायणिए य'** शैक्षकः पर्यायविद्यादिमिश्च न्यून., रात्निकश्च रत्नाधिकः, **'तत्थ'** तत्र तयोर्द्वयोः शैक्षरात्निकयोर्मध्ये यः शैक्षतरः लघुपर्यायः सः **'पलिच्छन्ने'** परिच्छन्नः द्रव्यपरिच्छदेन शिष्यादिना परिवृतः संयुक्तः तथा **'रायणिए अपलिच्छन्ने'** रात्निको रत्नाधिकः अपरिच्छन्नः द्रव्यपरिवारेण शिष्यरूपेणाऽपरिच्छन्नः शिष्यपरिवाररहित इत्यर्थ, तत्र **'सेहतरएणं रायणिए उवसंपज्जियव्वे सिया'** शैक्षतरकेण लघुपर्यायसाधुना **'रायणिए'** रात्निको रत्नाधिक उपसंपत्तव्यः स्यात् शैक्षतरको रत्नाधिकमुपसंपद्येत रत्नाधिकस्य परिवारत्वेन स्थातव्यमित्यर्थ', तथा शैक्षतरः रत्नाधिकाय **'भिक्खोववायं च दलयइ कप्पागं'** भिक्षामुपपातं ददाति कल्पाकम् शैक्षतरको रत्नाधिकस्य भिक्षाम् अशनादिचतुर्विधमाहारम्, उपपातं समोपोपवेशनं विनयादिकं च ददाति, भिक्षादिकं सर्वमपि कल्पनीयं रत्नाधिकस्य ददाति तत्समीपे दैवसिकी रात्रिकी चालोचना कर्त्तव्या सर्वमपि विनयवैयावृत्त्यादिकं रत्नाधिकस्य कुर्यादिति भावः ॥ सू० २४ ॥

पूर्वसूत्रे शैक्षः परिवारसहितः रत्नाधिकश्च परिवाररहितः इति तयोर्द्वयोरेकत्र वासविधिः प्रदर्शितः, साम्प्रत तद्वैपरीत्येन तयोरेकत्र वासविधिमाह–**'दो साहम्मिया'** इत्यादि ।

सूत्रम्--दो साहम्मिया एगयओ विहरंति, तंजहा-सेहे य रायणिए य, तत्थ रायणिए पलिच्छण्णे सेहतराए अपलिच्छण्णे, इच्छा रायणिए सेहतरागं उवसंपज्जेज्जा, इच्छा नो उवसंपज्जेज्जा इच्छा भिक्खोववायं दलयइ कप्पागं इच्छा नो दलयइ कप्पागं ॥२५॥

छाया--द्वौ साधर्मिकौ एकतो विहरतः, तद्यथा-शैक्षश्च रात्निकश्च, तत्र रात्निकः परिच्छन्नः शैक्षतरकोऽपरिच्छन्नः, इच्छा रात्निकः शैक्षतरकमुपसंपद्येत इच्छा नो उपसंपद्येत इच्छाभिक्षोपपातं ददाति कल्प्यकम् इच्छा नो ददाति कल्प्यकम् ॥ सू० २५ ॥

भाष्यम्--'दो साहम्मिया' द्वौसाधर्मिकौ 'एगयओ विहरंति' एकत· सदैव विहरतः 'तंजहा' तद्यथा 'सेहे य रायणिए य' शैक्षश्च रात्निकश्च, तत्र शैक्षः लघुपर्यायः रात्निकः रत्नाधिकः पर्यायज्येष्ठः 'तत्थ' तत्र तयोर्द्वयोः शैक्षकरात्निकयोर्मध्ये 'रायणिए' रात्निको रत्नाधिकः पर्यायज्येष्ठः 'पलिच्छण्णे' परिच्छन्नः परिच्छदेन शिष्यपरिवारेण सहितः 'सेहतराए अपलिच्छण्णे' शैक्षतरकोऽपरिच्छन्नः शिष्यपरिवारेण रहितो भवेत्, एवं सति तत्र 'इच्छा' इच्छा-रात्निकस्य इच्छा यदि भवति तदा 'रायणिए' रात्निकः 'सेहतरागं उवसंपज्जेज्जा' शैक्षतरकमुपसंपद्येत यदि रात्निकस्येच्छा भवेत् तदा स रत्नाधिकः शैक्षतरकं स्वमर्यादायां गृह्णीयात् 'इच्छा' इच्छा पर्यायज्येष्ठस्य वाञ्छा तं शैक्षतरकं 'नो उवसंपज्जेज्जा' नो उपसंपद्येताऽपि। तथा 'इच्छा भिक्खोववायं दलइ कप्पागं' इच्छा भिक्षामुपपातं च ददाति कल्प्यकम्। यदि रत्नाधिकस्येच्छा भवति तदा शैक्षकाय भिक्षामशनादिचतुर्विधाहारमानीय शिष्यद्वारा आनाय्य वा कल्पनीयं ददाति, 'इच्छा नो दलयइ कप्पागं' इच्छा नो ददाति कल्प्यकम्, यदि कदाचित् रत्नाधिकस्याऽदातुमिच्छा तदा कल्पनीयं भिक्षादिकमानीय नापि ददाति शैक्षकाय।

अयं भावः--शैक्षको यदि सपरिवारो भवेत्तदा निष्परिवारं रत्नाधिकमुपसंपद्य विहर्त्तुं कल्पते किन्तु रत्नाधिकः सपरिवारः शैक्षकोऽपरिवारः एतादृश्यां स्थितौ रत्नाधिक इच्छानुसारं वर्त्तते, शैक्षकं स्वोपसंपादायां गृह्णीयात् नो गृह्णीयात्, पर्यायज्येष्ठस्य द्रव्यक्षेत्रकालभावादिज्ञातृत्वेन ऐच्छिक प्रवृत्तित्वविधानात्, इदमुक्तं भवति-यदि स शैक्षतरकोऽल्पपर्यायः किन्तु तुल्यश्रुतः तदा स रत्नाधिकश्चिन्तयति-एतस्य भिक्षाहिण्डनव्याक्षेपेण मा सूत्रार्था नश्येयुः, ततः संघाटकं ददाति, अथवा एष मम समानगुरुकुलवासी सहाध्यायी द्रव्यपरिच्छेदेनाऽपरिच्छदो मा भूयादिति सहाध्यायान्तेवासिस्नेहेन संघाटं साधुपरिवारं ददाति, आलोचनां च प्रयच्छति, यद्यल्पश्रुतस्तदा तु परिवारमुपसंपदं वा ददातीति। अथ स शैक्षतरको रत्नाधिकाद्बहुश्रुतस्तदा नियमत उपसंपत्तव्यः, परिवारश्च तस्य दातव्यः, रत्नाधिकस्य सूत्रार्थग्रहणकामुकत्वादिति। यदि शैक्षतरकोऽबहुश्रुतस्तदा न ददातीति 'इच्छा नो इच्छा' इत्यस्य विवेकः ॥ सू० २५ ॥

इतः परं चतुर्थोद्देशकसमाप्तिपर्यन्तं भिक्षुगणावच्छेदकाचार्योपाध्यायानां द्वित्वबहुत्वसंख्यामधिकृत्य सप्तसूत्री प्रोच्यते, तत्र प्रथमं भिक्षुसूत्रमाह-'दो भिक्खुणो' इत्यादि ।

सूत्रम्--दो भिक्खुणो एगयओ विहरंति नो णं कप्पइ अन्नमन्नं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, कप्पइ णं अहाराइणियाए अन्नमन्नं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए ॥ सू० २६ ॥

छाया—द्वौ भिक्षुकौ एकतो विहरतः नो खलु कल्पते अन्योऽन्यं उपसंपद्य खलु विहर्त्तुम् । कल्पते खलु यथारत्नाधिकतया उपसंपद्य खलु विहर्त्तुम् ॥ सू० २६॥

भाष्यम्—'दो भिक्खुणो' द्वौ भिक्षुकौ अन्यान्याचार्यनिश्रकौ 'एगयओ विहरन्ति एकतः संमिलितौ सन्तौ विहरतः । कथमेकतो मिलितौ ? इति चिन्त्यते—द्वावाचार्यौ अन्यस्मिन्नन्यस्मिन् क्षेत्रे स्थितौ भवेताम्, तौ च परस्परं सांभोगिकौ तौ द्वावप्याचार्यौ स्वं स्वं भिक्षुं क्षेत्रप्रत्युपेक्षणाकरणार्थमुपधिगवेषणार्थं वा प्रेषितवान् तयोर्गन्तव्यमार्गस्यैकत्वात् पथि संमिलितौ भवेतामिति । संमिलितौ यदि तिष्ठेतां तदा 'नो णं कप्पइ अन्नमन्नं उवसंपजित्त णं विहरित्तए' नो खलु कल्पतेऽन्योऽन्यं परस्परमुपसंपद्य समानतां स्वीकृत्य खलु विहर्त्तुम् । तर्हि कथं कल्पते ? इत्याह—'कप्पइ णं अहाराइणियाए अन्नमन्नं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए' कल्पते खलु यथारात्निकतया लघुज्येष्ठपर्यायमर्यादयाऽन्योऽन्यं परस्परमुपसंपद्य परस्परमर्यादां स्वीकृत्य विहर्त्तुम् ।' द्वौ साधू सहैव विहरतो समतयाऽपि लघुज्येष्ठमर्यादया वन्दनादिकरणं विना अवस्थातुं न कल्पते किन्तु पर्यायज्येष्ठमेकं रत्नाधिकमङ्गीकृत्य विहर्त्तुं कल्पते इति भावः ॥ सू० २६ ॥

अथ गणावच्छेदकादीनाश्रित्य शेषं सूत्रषट्कमाह—'दो गणावच्छेयया' इत्यादि ।

सूत्रम्—दो गणावच्छेयया एगयओ विहरंति नो णं कप्पइ अन्नमन्नं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, कप्पइ णं अहारायणियाए अन्नमन्नं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए ॥ सू० २७ ॥

दो आयरियउवज्झाया एगयओ विहरंति नो णं कप्पइ अन्नमन्नं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, कप्पइ अहारायणियाए अन्नमन्नं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए ॥ सू० २८ ॥

बहवे भिक्खुणो एगयओ विहरंति नो णं कप्पइ अन्नमन्नं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए कप्पइ अहाराइणियाए अन्नमन्नं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए ॥ सू० २९ ॥

बहवे गणावच्छेयया एगयओ विहरंति नो णं कप्पइ अन्नमन्नं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, कप्पइ णं अहाराइणियाए अन्नमन्नं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए ॥ सू० ३० ॥

बहवे आयरियउवज्झाया एगयओ विहरंति नो णं कप्पइ अन्नमन्नं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, कप्पइ णं अहाराइणियाए अन्नमन्नं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए ॥ सू० ३१ ॥

बहवे भिक्खुणो बहवे गणावच्छेयया बहवे आयरियउवज्झाया एगयओ विहरंति नो णं कप्पइ अन्नमन्नं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, कप्पइ अहाराइणियाए अन्नमन्नं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए ॥ सू० ३२ ॥

॥ ववहारे चउत्थो उद्देसो समत्तो ॥ ४ ॥

छाया—द्वौ गणावच्छेदकौ एकतो विहरतः नो खलु कल्पतेऽन्योऽन्यमुपसंपद्य विहर्त्तुम् , कल्पते यथा रात्निकतयाऽन्योऽन्यमुपसंपद्य खलु विहर्त्तुम् ॥ सू० २७ ॥

द्वावाचार्योपाध्यायौ एकतो विहरतः नो खलु कल्पतेऽन्योऽन्यमुपसंपद्य खलु विहर्त्तुम्, कल्पते यथारात्निकतयाऽन्योऽन्यमुपसंपद्य विहर्त्तुम् ॥ सू० २८ ॥

बहवो भिक्षुका एकतो विहरन्ति नो खलु कल्पतेऽन्योऽन्यमुपसंपद्य खलु विहर्त्तुम्, कल्पते यथारात्निकतयाऽन्योऽन्यमुपसंपद्य खलु विहर्त्तुम् ॥ सू० २९ ॥

बहवो गणावच्छेदका एकतो विहरन्ति नो खलु कल्पतेऽन्योऽन्यमुपसंपद्य खलु विहर्त्तुम्, कल्पते यथारात्निकतयाऽन्योन्यमुपसंपद्य खलु विहर्त्तुम् ॥ सू० ३० ॥

बहव आचार्योपाध्याया एकतो विहरन्ति नो खलु कल्पतेऽन्योऽन्यम् उपसंपद्य खलु विहर्त्तुम्, कल्पते यथारात्निकतयाऽन्योऽन्यमुपसंपद्य खलु विहर्त्तुम् ॥ सू० ३१ ॥

बहवो भिक्षुकाः बहवो गणावच्छेदकाः बहव आचार्योपाध्यायाः एकतो विहरन्ति नो खलु कल्पते अन्योऽन्यमुपसंपद्य खलु विहर्त्तुम्, कल्पते यथारात्निकतया अन्योऽन्यमुपसंपद्य खलु विहर्त्तुम् ॥ सू० ३२ ॥

॥ व्यवहारे चतुर्थ उद्देशः समाप्तः ॥४॥

भाष्यम्—एतानि 'दो गणावच्छेयया' इत्यादीनि चतुर्थोद्देशसमाप्तिपर्यन्तानि षडपि सूत्राणि षड्विंशतितमभिक्षुसूत्रवदेव व्याख्येयानि । एषाभयं भावः—'दो गणावच्छेयया' इति द्वयोर्गणावच्छेदकयोः एकं रत्नाधिकं प्रकल्प्य विहर्त्तुं कल्पते ॥ सू० २७ ॥ एवमेव 'दो आयरियउवज्झाया' इति द्वयोराचार्ययोः द्वयोरुपाध्याययोरपि एकं पर्यायज्येष्ठमाचार्यमुपाध्यायं च स्वीकृत्य विहर्त्तुं कल्पते ॥ सू० २८ ॥ एवं 'बहवे भिक्खुणो' इति बहूनाम् एकद्वित्रिप्रभृतीनां भिक्षुकाणां यथारात्निकमर्यादया विहर्त्तुं कल्पते ॥ सू० २९ ॥ तथा 'बहवे गणावच्छेयया' इति बहूनां गणावच्छेदकानां यथारात्निकमर्यादया विहर्त्तुं कल्पते ॥ सू० ३० ॥ तथा 'बहवे आयरियउव-

ज्झाया' इति बहूनामाचार्याणां बहूनामुपाध्यायानां च यथारात्निकमर्यादया विहर्त्तुं कल्पते ॥ सू० ३१ ॥ एवमेव 'बहवे भिक्खुणो, बहवे गणावच्छेययया बहवे आयरियउवज्झाया' इति बहवो भिक्षुकाः, बहवो गणावच्छेदकाः, बहवः आचार्या, बहवः उपाध्यायाश्च, एते सर्वे मिलित्वा एकतो विहरन्ति तदाऽपि तेषां यथोचितां रात्निकमर्यादां लघुज्येष्ठादिरूपां मर्यादां स्वीकृत्यैव विहर्त्तुं कल्पते नान्यथा। इति सूत्रषट्कस्य भाव इति ॥ सू० ३२ ॥

इति श्री-विश्वविख्यात-जगद्वल्लभ-प्रसिद्धवाचक-पञ्चदशभाषाकलितललितकलापालापक-प्रविशुद्धगद्यपद्यनैकग्रन्थनिर्मापक-वादिमानमर्दक-श्रीशाहूछत्रपतिकोल्हापुरराजप्रदत्त-"जैनाचार्य"-पदभूषित-कोल्हापुरराजगुरु-बालब्रह्मचारि-जैनाचार्य-जैन-धर्म-दिवाकर-पूज्यश्री-घासीलालव्रतिविरचितायां "व्यवहारसूत्रस्य" भाष्यरूपायां व्याख्यायां चतुर्थ उद्देशकः समाप्तः ॥४॥

॥ अथ पञ्चमोद्देशः प्रारभ्यते—

व्याख्यातश्चतुर्थोद्देशकः, सम्प्रति पञ्चमोद्देशको व्याख्यायते, तत्र पूर्वं चतुर्थोद्देशकस्य चरमसप्तसूत्र्यामेकतो विहरतां भिक्षुप्रभृतीनां यथारात्निकमर्यादा प्रतिपादिता। अत्र पञ्चमोद्देशके प्रवर्तिनीप्रभृतीनां ऋतुबद्धकालविहरणवर्षाकालनिवासपरकां मर्यादामाह—तत्र भाष्यकारो द्वयोरुद्देशयोः सम्बन्धप्रतिपादनार्थं गाथामाह-'एगविहारे' इत्यादि।

गाथा—एगविहारे वुत्ता, भिक्खुयमाईण वसणमज्जाया।
उउवद्धाइसु वुच्चइ, पवत्तिणीए य सा चेव ॥ १ ॥

छाया—एकविहारे प्रोक्ता, भिक्षुकादीनां वसनमर्यादा।
ऋतुबद्धादिषु प्रोच्यते, प्रवर्तिन्याश्च सैव ॥ १ ॥

भाष्यम्—पूर्वम् 'एगविहारे' इति एकतो विहारे एकत्र संमील्य विहरणे भिक्षुकादीनां भिक्षुकगणावच्छेदकाचार्योपाध्यायानां वसनमर्यादा यथारात्निकत्वेन एकत्र वासमर्यादा प्रोक्ता, अत्र निर्ग्रन्थानन्तरं निर्ग्रन्थीनां प्रसङ्ग इति पञ्चमोद्देशके ऋतुबद्धादिषु ऋतुबद्धकाले हेमन्तग्रीष्मयोर्विहरणे आदिशब्दाद् वर्षावासे च प्रवर्तिन्याश्च प्रवर्तिन्याः चकाराद् गणावच्छेदिन्याश्च सैवेत्ति मर्यादा विहरणस्य निवासस्य च मर्यादा प्रोच्यते, एष एव चतुर्थोद्देशकान्तिमसूत्रैः सहास्य पञ्चमोद्देशकादिसूत्राणां सम्बन्धः। अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य पञ्चमोद्देशकस्येदमादिमं सूत्रम्—'नो कप्पइ पवित्तिणीए' इत्यादि।

सूत्रम्—नो कप्पइ पवत्तिणीए अप्पविइयाए हेमंतगिम्हासु चरिए ॥ सू० १ ॥

छाया—नो कल्पते प्रवर्त्तिन्या आत्मद्वितीयायाः हेमन्तग्रीष्मयोश्चरितुम् ॥ सू० १ ॥

भाष्यम्—'नो कप्पइ' नो नैव कल्पते 'पवत्तिणीए' प्रवर्त्तिन्याः प्रवर्त्तिनीपदधारिण्याः श्रमण्याः 'अप्पविइयाए' आत्मद्वितीयायाः आत्मना स्वेन सह द्वितीयायाः 'हेमन्तगिम्हासु' हेमन्तग्रीष्मयोः हेमन्तकाले ग्रीष्मकाले चाष्टमासरूपे 'चरिए' चरितुं विहर्त्तुम् ॥ सू० १ ॥

कथं कल्पते ? तत्राह—'कप्पइ' इत्यादि।

सूत्रम्—कप्पइ पवत्तिणीए अप्पतइयाए हेमन्तगिम्हासु चारए ॥ सू० २ ॥

छाया—कल्पते प्रवर्त्तिन्या आत्मतृतीयायाः हेमन्तग्रीष्मयोश्चरितुम् ॥ सू० २ ॥

भाष्यम्—'कप्पइ पवत्तिणीए' कल्पते प्रवर्तिन्याः 'अप्पतइयाए' आत्मतृतीयायाः आत्मना सह त्रित्वसंख्याविशिष्टायाः एका स्वयम् द्वे च सहकारिण्यौ इत्यर्थः तादृश्यास्तस्याः 'हेमन्तगिम्हासु' हेमन्तग्रीष्मयोः 'चारए' चरितुम् ॥ सू० २ ॥

सूत्रम्—नो कप्पइ गणावच्छेइणीए अप्पतइयाए हेमंतगिम्हासु चारए ॥ सू० ३ ॥

छाया—नो कल्पते गणावच्छेदिन्या आत्मतृतीयायाः हेमन्तग्रीष्मयोश्चरितुम् ॥ सू०३॥

भाष्यम्—'नो कप्पइ' नो कल्पते 'गणावच्छेइणीए' गणावच्छेदिन्याः 'अप्पतइयाए' आत्मतृतीयायाः सहायिकाद्वययुक्तायाः 'हेमंतगिम्हासु' हेमन्तग्रीष्मयोः शेषकाले इत्यर्थः 'चारए' चरितुं विहर्त्तुम् । सहायिकाद्वयायुक्ताऽपि गणावच्छेदिनी हेमन्ते ग्रीष्मे च विहर्त्तुं न शक्नोति इति भावः ॥ सू० ३ ॥

गणावच्छेदिन्याः कथं कल्पते ? इत्याह—'कप्पइ' इत्यादि ।

सूत्रम्—कप्पइ गणावच्छेइणीए अप्पचउत्थीए हेमंतगिम्हासु चारए ॥ सू० ४ ॥

छाया—कल्पते गणावच्छेदिन्या आत्मचतुर्थाया हेमन्तग्रीष्मयोश्चरितुम् ॥ सू०४॥

भाष्यम्—'कप्पइ गणावच्छेइणीए' कल्पते गणावच्छेदिन्याः 'अप्पचउत्थीए' आत्मचतुर्थायाः आत्मना स्वेन चतुर्थसङ्ख्याविशिष्टायाः सहायकश्रमणीत्रयसहितायाः 'हेमन्तगिम्हासु' हेमन्तग्रीष्मयोः 'चारए' चरितुं विहर्त्तुम् । यदा खलु गणावच्छेदिनी आत्मना सह चतुर्थसंख्याविशिष्टा भवेत् एका स्वयम् सहचारिण्यस्तिस्रस्तदा गणावच्छेदिन्या हेमन्तग्रीष्मकाले तस्याः विहारः कल्पते इति भावः ॥ सू० ४ ॥

अथ प्रवर्त्तिन्या वर्षावाससूत्रद्वये प्रथमनिषेधसूत्रमाह—'नो कप्पइ' इत्यादि ।

सूत्रम्—नो कप्पइ पवत्तिणीए अप्पतइयाए वासावासं वत्थए ॥ सू० ५ ॥

छाया—नो कल्पते प्रवर्त्तिन्या आत्मतृतीयायाः वर्षावासं वस्तुम् ॥ सू० ५ ॥

भाष्यम्—'नो कप्पइ' नो कल्पते 'पवत्तिणीए अप्पतइयाए' प्रवर्त्तिन्याः आत्मतृतीयायाः आत्मना सह तृतीयाया एका स्वयम् द्वे च सहकारिण्यौ एतादृश्याः 'वासावासं' वर्षावास वर्षाकाले 'वत्थए' वस्तु वास कर्त्तुम् आत्मतृतीयायाः प्रवर्त्तिन्या वर्षासमये वासं कर्त्तुं न कल्पते इति भाव ॥ सू० ५ ॥

अथ द्वितीयं प्रवर्त्तिन्या वर्षावासे विधिसूत्रमाह—'कप्पइ' इत्यादि ।

सूत्रम्—कप्पइ पवत्तिणीए अप्पचउत्थीए वासावासं वत्थए ॥ सू० ६ ॥

छाया—कल्पते प्रवर्त्तिन्या आत्मचतुर्थाया वर्षावासं वस्तुम् ॥ सू० ६ ॥

भाष्यम्—'कप्पइ' कल्पते 'पवत्तिणीए अप्पचउत्थाए' प्रवर्त्तिन्याः आत्मचतुर्थायाः आत्मना स्वेन सह चतुर्थसंख्याविशिष्टायाः 'वासावासं वत्थए' वर्षावासे चातुर्मास्ये वस्तुं

वासं कर्तुम् । यदा खलु प्रवर्त्तिनी आत्मचतुर्था भवति तदैव तस्या चातुर्मास्यं कर्तुं कल्पते न तु तन्न्यूनाया इति भाव· ॥ सू० ६ ॥

गणावच्छेदिन्या वर्षावाससूत्रद्वये प्रथमं निषेधसूत्रमाह--'नो कप्पइ' इत्यादि ।

सूत्रम्--नो कप्पइ गणावच्छेइणीए अप्पचउत्थीए वासावासं वत्थए ॥ सू० ७ ॥

छाया- नो कल्पते गणावच्छेदिन्याः आत्मचतुर्थायाः वर्षावासं वस्तुम् ॥ सू० ७ ॥

भाष्यम्- 'नो कप्पइ' नो कल्पते **'गणावच्छेइणीए अप्पचउत्थीए'** गणावच्छेदिन्याः आत्मचतुर्थायाः आत्मना सह चतुःसंख्यकायाः **'वासावासं वत्थए'** वर्षावासं वस्तुं वासं कर्तुम् यदा खलु गणावच्छेदिनी चतु·संख्याविशिष्टा भवेत् तदा तस्या वर्षाकाले वासो कल्पनीयो भवतीति भावः ॥ सू० ७ ॥

अथ द्वितीयं गणावच्छेदिन्या वर्षावासे विधिमाह-**'कप्पइ'** इत्यादि ।

सूत्रम्—कप्पइ गणावच्छेइणीए अप्पपंचमाए वासावासं वत्थए ॥ सू० ८ ॥

छाया —कल्पते गणावच्छेदिन्याः आत्मपञ्चमायाः वर्षावासं वस्तुम् ॥ सू० ८ ।

भाष्यम्---'कप्पइ' कल्पते **'गणावच्छेइणीए'** गणावच्छेदिन्याः **'अप्पपंचमाए'** आत्मपञ्चमायाः आत्मना स्वेन सह पञ्चत्वसंख्याविशिष्टायाः **'वासावासं वत्थए'** वर्षावासं वर्षाकालं यावत् वस्तुं वास कर्तुम् । यदा खलु गणावच्छेदिनी आत्मपञ्चमा भवेत् तदैव वर्षाकाले वासं कर्तुं शक्नोति न तु ततो न्यूना ।

इदमुक्तं भवति-एषु अष्टसु सूत्रेषु प्रथमं सूत्रं प्रवर्त्तिन्या हेमन्तग्रीष्मयोरात्मद्वितीयाया विहरणनिषेधपरकम् १। द्वितीयमात्मतृतीयाया विहरणविधिपरकमिति प्रवर्त्तिनीमधिकृत्य हेमन्तग्रीष्मविषयकं सूत्रद्वयम् २ । तृतीयं सूत्रं गणावच्छेदिन्या आत्मतृतीयाया हेमन्तग्रीष्मयोर्विहरणनिषेधपरकम् ३ । चतुर्थं सूत्रमात्मचतुर्थाया विहरणविधिपरकमिति गणावच्छेदिनीमधिकृत्य हेमन्तग्रीष्मविषयकं सूत्रद्वयम् ४ । पञ्चमं सूत्रं प्रवर्त्तिन्या आत्मतृतीयायाः वर्षावासनिषेधपरकम् ५ । षष्ठमात्मचतुर्थाया वर्षावासविधिपरकमिति प्रवर्त्तिनीमधिकृत्य वर्षावासविषयकं सूत्रद्वयम् ६ । सप्तमं सूत्रं गणावच्छेदिन्या आत्मचतुर्थाया वर्षावासनिषेधपरकम् ७ । अष्टमं चात्मपञ्चमाया वर्षावासविधिपरकमिति गणावच्छेदिनीमधिकृत्य वर्षावासविषयकं सूत्रद्वयम् ८ । इत्यष्टानां सूत्राणां निष्कर्षः ॥

अत्र द्वितीयचतुर्थसूत्रयोरयं भावः—संयतीनां ऋतुबद्धकाले सप्तकः समाप्तकल्प इति ऋतुबद्धकाले प्रवर्त्तिन्या आत्मतृतीयायाः गणावच्छेदिन्याश्चाऽऽत्मचतुर्थाया विहरणं कल्पते इत्युक्तं तत् ऋतुबद्धकाले प्रवर्त्तिनीगणावच्छेदिन्योः सप्तकरूपस्य समाप्तकल्पस्य सद्भावादुक्तम् ।

षष्ठाष्टमसूत्रयोरयं भाव.—संयतीनां वर्षाकाले नवकः समाप्तकल्पो भवतीति वर्षाकाले प्रवर्त्तिन्या आत्मचतुर्थायाः, गणावच्छेदिन्याश्चात्मपञ्चमायाः स्थातुं कल्पते इत्युक्तं तत् नवकरूपस्य समाप्तकल्पस्य सद्भावादुक्तमिति ॥ सू० ८ ॥

अथ प्रवर्त्तिनी गणावच्छेदिनीनां वहुत्वमधिकृत्य हेमन्तग्रीष्मकाले ग्रामादिषु विहरणविधिमाह—'से गामंसि वा' इत्यादि ।

सूत्रम्—से गामंसि वा नगरंसि वा निगमंसि वा रायहाणीए वा खेडंसि वा कब्बडंसि वा मडंवंसि वा पट्टणंसि वा दोणमुहंसि वा आसमंसि वा संवाहंसि वा संनिवेसंसि वा वहूणं पवत्तिणीणं अप्पतइयाणं, वहूणं गणावच्छेइणीणं अप्पचउत्थीणं कप्पइ हेमंतगिम्हासु चारए अन्नमन्ननिस्साए ॥ सू० ९ ॥

छाया—अथ ग्रामे वा नगरे वा निगमे वा राजधान्यां वा खेटे वा कर्वटे वा मडम्बे वा पत्तने वा द्रोणमुखे वा आश्रमे वा संवाहे वा संनिवेसे वा वहूनां प्रवर्त्तिनीनाम् आत्मतृतीयानाम्, वहूनां गणावच्छेदिनीनामत्मचतुर्थानां कल्पते हेमन्तग्रीष्मयोश्चरितुमन्योऽन्यनिश्रया ॥ सू० ९ ॥

भाष्यम्—'**से गामंसि वा**' इति । '**से**' अथानन्तरम् एकैकस्याः प्रवर्त्तिन्याः ऋतुबद्धकाले विहरणप्रतिषेध–विधिकथनानन्तरम् '**गामंसि वा**' ग्रामे वा '**नगरंसि वा**' नगरे वा '**निगमंसि वा**' निगमे वा '**रायहाणीए वा**' राजधान्यां वा '**खेडंसि वा**' खेटे वा '**कब्बडंसि वा**' कर्वटे वा '**मडंवंसि वा**' मडम्बे वा '**पत्तणंसि वा**' पत्तने वा पट्टने वा '**दोणमुहंसि वा**' द्रोणमुखे वा '**आसमंसि वा**' आश्रमे वा '**संवाहंसि वा**' संवाहे वा '**संनिवेसंसि वा**' संनिवेशे वा चतुर्थोद्देशकनवमसूत्रोक्तार्थविशिष्टेषु ग्रामादिषु '**वहूणं पवत्तिणीणं**' वहूनामनेकासाम् एकद्वित्रिप्रभृतीनां प्रवर्त्तिनीनां '**अप्पतइयाणं**' आत्मतृतीयाना सहायकद्वययुक्तानाम् । '**वहूणं-गणावच्छेइणीणं**' वहूनामनेकासाम् एकद्वित्रिप्रभृतीनां गणावच्छेदिनीनाम् '**अप्पचउत्थीणं**' आत्मचतुर्थानाम् आत्मना च चतु संख्यायुक्तानाम् '**कप्पइ हेमंतगिम्हासु**' कल्पते हेमन्तग्रीष्मयो' ऋतुबद्धकाले इत्यर्थः '**चारए**' चरितुं विहर्त्तुम् तच्च '**अन्नमन्ननिस्साए**' अन्योऽन्यनिश्रया परस्परोपसंपदा परस्पर समानतया मिलित्वा पर्यायज्येष्ठां पुरस्कृत्य ततस्तदाज्ञया विहर्त्तुं कल्पते तासामित्यर्थः। यदा खलु अनेकाः प्रवर्त्तिन्यो आत्मतृतीया आत्मतृतीयाः सर्वाः, अनेका गणा-

वच्छेदिन्य आत्मचतुर्थाः आत्मचतुर्थाः सर्वाः, तदा सर्वा अपि पर्यायज्येष्ठाया उपसम्पत्त्वेन परस्परं मिलित्वा ऋतुबद्धकाले विहारं कर्तुं शक्नुवन्तीति भावः ॥ सू० ९ ॥

अथ आत्मचतुर्थानां बहूना प्रवर्त्तिनीनाम् आत्मपञ्चमानां बहूनां गणावच्छेदिनीनां वर्षासमये वासानुज्ञां दर्शयति–'से गामंसि वा' इत्यादि ।

सूत्रम्—से गामंसि वा नगरंसि वा निगमंसि वा रायहाणीए वा खेडंसि वा कव्वडंसि वा मडंबंसि वा पट्टणंसि वा दोणमुहंसि वा आसमंसि वा संवाहंसि वा संनिवेसंसि वा बहूणं पवत्तिणीणं अप्पचउत्थीणं, बहूणं गणावच्छेइणीणं अप्पपंचमाणं कप्पइ वासावासं वत्थए अन्नमन्ननिस्साए ॥ सू० १० ॥

छाया—अथ ग्रामे वा नगरे वा निगमे वा राजधान्यां वा खेटे वा कर्वटे वा मडम्बे वा पत्तने वा द्रोणमुखे वा आश्रमे वा संवाहे वा संनिवेशे वा बहूनां प्रवर्त्तिनीनामात्मचतुर्थानाम्, बहूनां गणावच्छेदिनीनामात्मपञ्चमानां कल्पते वर्षावासं वस्तुमन्योन्यनिश्रया ॥ सू० १० ॥

भाष्यम्—'से गामंसि वा' अथ ग्रामे वा 'नगरंसि वा' नगरे वा 'निगमंसि वा' निगमे वा 'रायहाणीए वा' राजधान्यां वा 'खेडंसि वा' खेटे वा 'कव्वडंसि वा' कर्वटे वा 'मडंबंसि वा' मडम्बे वा 'पट्टणंसि वा' पत्तने वा पट्टने वा 'दोणमुहंसि वा द्रोणमुखे वा 'आसमंसि वा' आश्रमे वा 'संवाहंसि वा' संवाहे वा 'संनिवेसंसि वा' सन्निवेशे वा अत्राऽपि 'गामंसि वा' इत्यारभ्य 'संनिवेसंसि वा' इत्यन्तपदानामर्थाः विस्तरतः चतुर्थोद्देशके नवमसूत्रे प्रदर्शिताः तादृशेषु ग्रामादिषु इत्यर्थः 'बहूणं पवत्तिणीणं अप्पचउत्थाणं' बहूनामनेकासां प्रवर्त्तिनीनामात्मचतुर्थानां, तथा 'बहूणं गणावच्छेइणीणं अप्पपंचमाणं' बहूनामनेकासां गणावच्छेदिनीनामात्मपञ्चमानाम् 'कप्पइ वासावासं वत्थए' कल्पते वर्षावासं वस्तुम् अन्योऽन्यनिश्रया परस्परोपसपदा लघुज्येष्ठपर्यायमर्यादया परस्परं मिलित्वा तासामनेकासां प्रवर्त्तिनीगणावच्छेदिनीनां वर्षावासे वस्तुं कल्पते ॥ सू० १० ॥

पूर्वं सयत्या ऋतुबद्धकालविहरणविधिः वर्षावासविधिश्च प्रदर्शितः, विहरन्त्याश्च तस्याः प्रवर्त्तिनी कदाचित् कालधर्मं प्राप्नुयात् तदा किं कर्त्तव्यमिति तद्विधिं प्रदर्शयति–'गामाणुगामं दूइज्जमाणा' इत्यादि ।

सूत्रम्—गामाणुगामं दूइज्जमाणा णिग्गंथी य जं पुरओ काउं विहरेज्जा सा य आहच्च वीसंभेज्जा अत्थि य इत्थ काइ अन्ना उवसंपज्जणारिहा सा उवसंपज्जियव्वा, नत्थि य इत्थ काइ अन्ना उवसंपज्जणारिहा तीसे य अप्पणो कप्पए असमत्ते एवं से

कप्पइ एगराइयाए पडिमाए जं णं जं णं दिसं अन्नाओ साहम्मिणीओ विहरंति तं णं तं णं दिसं उवलित्तए, नो से कप्पइ तत्थ विहारवत्तियं वत्थए कप्पइ, से तत्थ कारणवत्तियं वत्थए, तंसि च णं कारणंसि निट्ठियंसि परा वएज्जा वसाहि अज्जो ! एगरायं वा दुरायं वा, एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए, नो से कप्पइ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वत्थए, जं तत्थ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वसइ से संतरा छेए वा परिहारे वा ॥ सू० ११ ॥

छाया—ग्रामानुग्रामं द्रवन्ती निर्ग्रन्थी च यां पुरतः कृत्वा विहरेत् सा चाऽऽहृत्य विष्वग्भवेत् अस्ति चाऽत्र काचित् उपसंपदार्हा सा उपसंपत्तव्या, नाऽस्ति चाऽत्राऽन्या उपसंपदार्हा तस्याश्चात्मनः कल्पोऽसमाप्तः एवं तस्याः कल्पते एकरात्रिक्या प्रतिमया यां खलु यां खलु दिशमन्या साधर्मिण्यो विहरंति तां खलु तां खलु दिशमुपलातुम्, नो तस्याः कल्पते तत्र विहारप्रत्ययं वस्तुम्, कल्पते तस्या तत्र कारणप्रत्ययं वस्तुम् तस्मिंश्च कारणे निष्ठिते परावदेत् वस आर्ये ! एकरात्रं वा द्विरात्रं वा एवं तस्याः कल्पते एकरात्रं वा द्विरात्रं वा वस्तुम्, नो तस्याः कल्पते परमेकरात्राद्वा द्विरात्राद्वा वस्तुम्, यत् तत्र परमेकरात्राद्वा द्विरात्राद्वा वसति तस्याः सान्तरात् छेदो वा परिहारो वा ॥ सू० ११ ॥

भाष्यम्—'गामाणुगामं' ग्रामाद्ग्रामान्तरम् एकस्मात् ग्रामादपरं ग्रामम् 'दूइज्जमाणा णिग्गंथी य' द्रवन्ती विहार कुर्वन्ती निर्ग्रन्थी च 'जं पुरओ काउं विहरेज्जा' यामधिष्ठात्रीं प्रवर्त्तिनीं पुरतोऽग्रे कृत्वा विहरेत् यस्या निश्रायां विहरेदित्यर्थः । शेषं सर्वं व्याख्यानं चतुर्थोद्देशगतैकादशसूत्रवदेव स्त्रीलिङ्गव्यत्ययेन कर्त्तव्यम् ॥ सू० ११ ॥

सूत्रम्—वासावासं पज्जोसविया णिग्गंथी य जं पुरओ काउं विहरइ सा आहच्च वीसंभेजा अत्थि य इत्थ काइ अन्ना उवसंपणारिहा उवसंपज्जियव्वा, नत्थि य इत्थ काइ अन्ना उवसंपणारिहा तीसे य अप्पणो कप्पाए असमत्ते कप्पइ से एगराइयाए पडिमाए जं णं जं णं दिसं अन्नाओ साहम्मिणीओ विहरंति तं णं तं णं दिसं उवलित्तए, नो से कप्पइ तत्थ विहारवत्तियं वत्थए, कप्पइ से तत्थ कारणवत्तियं वत्थए, तंसि चणं कारणंसि निट्ठियंसि परा वएज्जा वसाहि अज्जो ! एगरायं वा दुरायं वा, एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए, नो से कप्पइ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वत्थए, जं तत्थ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वसइ से संतरा छेए वा परिहारे वा ॥ सू० १२ ॥

छाया—वर्षावर्षं पर्युषिता निर्ग्रन्थी च यां पुरतः कृत्वा विहरति सा आहत्य विष्वग् भवेत् अस्ति चाऽत्र काचित् अन्या उपसंपदर्हा सा उपसंपत्तव्या, नाऽस्ति चाऽत्र काचिदन्या उपसंपदर्हा तस्याश्चात्मनः कल्पोऽसमाप्तः कल्पते तस्या एकरात्रिक्या प्रतिमया यां खलु

यां खलु दिशम् अन्याः साधर्मिण्यो विहरंति तां खलु तां खलु दिशमुपलातुम्, नो तस्याः कल्पते तत्र विहारप्रत्ययं वस्तुम्, कल्पते तस्यास्तत्र कारणप्रत्ययं वस्तुम्, तस्मिंश्च कारणे निष्ठिते परा वदेत् वस आर्ये ! एकरात्रं वा द्विरात्रं वा, एवं तस्याः कल्पते एकरात्रं वा द्विरात्रं वा वस्तुम्, नो तस्याः कल्पते परमेकरात्राद्वा द्विरात्राद्वा वस्तुम्, यत्तत्र परमेकरात्राद्वा द्विरात्राद्वा वसति तस्याः सान्तरात् छेदो वा परिहारो वा ॥ सू० १२ ॥

भाष्यम्--'वासावासं पज्जोसविया' वर्षावास वर्षावासनिमित्तं पर्युषिता निवासार्थं स्थिता 'निग्गंथी' निर्ग्रन्थी। शेषं सर्वं चतुर्थोद्देशगतद्वादशसूत्रव्याख्यानवत् स्त्रीत्वनिर्देशेन व्याख्यातव्यम् ॥ सू० १२ ॥

सूत्रम्--पवत्तिणी य गिलायमाणी अन्नयरं वएज्जा मए णं अज्जो ! कालगयाए समाणीए इमा समुक्कसियव्वा सा य समुक्कसणारिहा समुक्कसियव्वा, सा य नो समुक्कसणारिहा नो समुक्कसियव्वा, अत्थि या इत्थ अन्ना काइ समुक्कसणारिहा समुक्कसियव्वा, नत्थि या इत्थ अन्ना काइ समुक्कसणारिहा साचेव समुक्कसियव्वा, ताए णं समुक्किट्ठाए परा वएज्जा दुस्समुक्किट्ठं ते अज्जे ! निक्खिवाहि, ताए णं निक्खिवमाणीए नत्थि केइ छेए वा परिहारे वा, जाओ साहम्मणीओ अहाकप्पेणं नो उट्ठाए विहरंति सव्वासिं तासिं तप्पत्तियं छेए वा परिहारे वा ॥ सू० १३ ॥

छाया--प्रवर्त्तिनी च ग्लायन्ती अन्यतरां वदेत् मयि खलु आर्ये ! कालगतायां सत्यामियं समुत्कर्षयितव्या। सा च समुत्कर्षणार्हा समुत्कर्षयितव्या, सा च नो समुत्कर्षणार्हा नो समुत्कर्षयितव्या, अस्ति चाऽत्राऽन्या काचित्समुत्कर्षणार्हा सा समुत्कर्षयितव्या नास्ति चात्राऽन्या काचित् समुत्कर्षणार्हा सैव समुत्कर्षयितव्या, तस्यां च खलु समुत्कृष्टायां परा वदेत् दुःसमुत्कृष्टं ते आर्ये ! निक्षिप, तस्या निक्षिप्यमाणायाः नास्ति कश्चित् छेदो वा परिहारो वा, ता यदा साधर्मिण्यो यथाकल्पेन नो उत्थाय विहरन्ति तासां सर्वासां तत्प्रत्ययं छेदो वा परिहारो वा ॥ सू० १३ ॥

भाष्यम्--'पवत्तिणी य' प्रवर्त्तिनी च 'गिलायमाणी' ग्लायन्ती रोगादिना ग्लानिमुपगता मरणासन्ना सतीत्यर्थः. 'अन्नयरं वएज्जा' अन्यतरां संयतीं वा वदेत् कथयेत्। शेषं सर्वं चतुर्थोद्देशगताचार्योपाध्यायात्मकत्रयोदशसूत्रवदेव व्याख्येयम् नवरं केवलमत्र विशेषोऽयम्--यत्तत्र 'से य नो समुक्कसणारिहे' इत्यस्यार्थे समुद्यतविहारजिनकल्पसमुद्यतमरणं प्रतिपत्तुकामः, इत्युक्तम् अत्र च प्रवर्त्तिनीसूत्रे 'सा य नो समुक्कसणारिहा' इत्यस्य भक्तप्रत्याख्यान प्रतिपत्तुकामा यदि भवेत् इत्यर्थः कर्त्तव्यः, एतावानेवात्र भेदः, अन्यच्च तत्र पुंस्त्वेन निर्देशः अत्र तु स्त्रीत्वेन निर्देशः कर्त्तव्यः ॥ सू० १३ ॥

सूत्रम्—पवत्तिणी य ओहायमाणा अन्नयरं वएज्जा मए णं अज्जो! ओहावियाए समाणीए इमा समुक्कसियव्वा, सा य समुक्कसणारिहा समुक्कसियव्वा, सा य नो समुक्कसणारिहा नो समुक्कसियव्वा, अत्थि य इत्थ अन्ना काइ समुक्कसणारिहा सा समुक्कसियव्वा, नत्थि य इत्थ अन्ना काइ समुक्कसणारिहा सा चेव समुक्कसियव्वा, ताए णं समुक्किट्ठाए परा वएज्जा दुस्समुक्किट्ठं ते अज्जे! निक्खिवाहि, ताए णं निक्खिवमाणीए नत्थि केइ छेए वा परिहारे वा, जाओ साहम्मिणीओ अहाकप्पेणं नो उट्ठाए विहरंति सव्वासिं तासिं तप्पत्तियं छेए वा परिहारे वा ॥ सू० १४॥

छाया—प्रवर्त्तिनी चाऽवधावमाना अन्यतरां वदेत् मयि खलु आर्ये! अवधावितायां सत्याम् इयं समुत्कर्षयितव्या, सा च समुत्कर्षणार्हा समुत्कर्षयितव्या, सा च नो समुत्कर्षणार्हा नो समुत्कर्षयितव्या, अस्ति चाऽत्राऽन्या काचित् समुत्कर्षणार्हा समुत्कर्षयितव्या, नाऽस्ति चाऽत्राऽन्या काचित् समुत्कर्षणार्हा-सैव समुत्कर्षयितव्या, तस्यां च समुत्कृष्टायां परा वदेत् दुःसमुत्कृष्टं ते आर्ये! निक्षिप, तस्याः खलु निक्षिप्यमाणाया नाऽस्ति कश्चित् छेदो वा परिहारो वा, याः साधर्मिण्यो यथाकल्पेन नोत्थाय विहरन्ति सर्वासां तासां तत्प्रत्ययं छेदो वा परिहारो वा ॥ सू० १४ ॥

भाष्यम्—'पवत्तिणी य' प्रवर्त्तिनी च 'ओहायमाणा' अवधावमाना द्रव्यलिङ्गं सडोरकमुखवस्त्रिकारजोहरणादिलक्षणं परित्यज्य मोहनीयकर्मोदयात्। शेषं सर्वं चतुर्थोद्देशगतावधावमानाचार्योपाध्यायस्य चतुर्दशसूत्रवदेव व्याख्येयम्, आचार्योपाध्यायसूत्रात्प्रवर्तिनीसूत्रे यो विशेषः सोऽत्रैव त्रयोदशसूत्रे प्रदर्शित एव शेषं सर्वं तद्वदेव ॥ सू० १४ ॥

सूत्रम्—णिग्गंथस्स नवडहरतरुणस्स आयारपकप्पे नामं अज्झयणे परिब्भट्ठे सिया से य पुच्छियव्वे-केण ते अज्जो! कारणेणं आयारपकप्पे णामं अज्झयणे परिब्भट्ठे किं आवाहेणं उदाहु पमाएणं? से य वएज्जा-नो आवाहेणं पमाएणं, जावज्जीवाए तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेययत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा, से य वएज्जा-आवाहेणं नो पमाएणं, से य संठवेस्सामीति संठवेज्जा एवं से कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेययत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा, से य संठवेस्सामीति नो संठवेज्जा एवं से नो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेययत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ॥ सू० १५ ॥

छाया—निर्ग्रन्थस्य नवडहरतरुणस्य आचारप्रकल्पो नामाऽध्ययनं परिभ्रष्टं स्यात् स च प्रष्टव्यः-केन ते आर्य! कारणेन आचारप्रकल्पो नामाऽध्ययनं परिभ्रष्टम् किम्-आवाधेन उताहो प्रमादेन?। स च वदेत्-नो आवाधेन प्रमादेन, यावज्जीवं तस्य तत्प्रत्ययं

नो कल्पते आचार्यत्वं वा यावद्गणावच्छेदकत्वं वा उद्देष्टुं वा धारयितुं वा। स च वदेत्-आवाधेन, नो प्रमादेन, स च-संस्थापयिष्यामीति संस्थापयेत्, एवं तस्य कल्पते आचार्यत्वं वा यावद्गणावच्छेदकत्वं वा उद्देष्टुं वा धारयितुं वा, स च-संस्थापयिष्यामीति नो संस्थापयेत् एवं तस्य नो कल्पते आचार्यत्वं वा यावद्गणावच्छेदकत्वं वा उद्देष्टुं वा धारयितुं वा ॥ सू० १५॥

भाष्यम्—'**निग्गंथस्स**' निर्ग्रन्थस्य श्रमणस्य '**नवडहरतरुणस्स**' नवडहरतरुणस्य, तत्र नवः—दीक्षापर्यायेण त्रिवार्षिकः, डहरः—जन्म-पर्यायेण षोडशवार्षिकः, तरुणः—चतुश्चत्वारिंशद्वार्षिकः

उक्तञ्च—'तिवरिसो होइ नवो, आसोलसगं डहरगं बेंति ।
तरुणो चउचत्तालो, मज्झिमो थेरओ सेसो ॥१॥

छाया—त्रिवर्षो भवति नवः, आषोडशकं डहरकं ब्रुवन्ति ।
तरुणश्चतुश्चत्वारिंशत्को मध्यमः स्थविरः शेषः ॥१॥ इति ।

तस्य तादृशस्य निर्ग्रन्थस्य यदि '**आयारपकप्पे नामं अज्झयणे**' आचारप्रकल्पो नामाध्ययनम्—आचाराङ्गनिशीथादिसूत्रम् '**परिब्भट्ठे सिया**' परिभ्रष्टं—पठितं सद् विस्मृतं स्यात् तदा '**से य पुच्छियव्वे**' स च अधीतविस्मृतो निर्ग्रन्थः स्थविरेण प्रष्टव्यः, किं प्रष्टव्यस्तत्राह—'**केण ते कारणेणं अज्जो**' हे आर्य ! ते तव केन कारणेन '**आयारपकप्पे नामं अज्झयणे परिब्भट्ठे**'—आचारप्रकल्पो नामाध्ययनं परिभ्रष्टं—त्वया विस्मृतम् ?, किं कारणमाश्रित्य त्वयाऽऽचारप्रकल्पाध्ययनं विस्मृतमिति पृच्छेदित्यर्थः । तत्र कारणमेव विविच्य पृच्छति—किमित्यादि, '**किं आवाहेणं उदाहु पमाएणं**' किम् आवाधेन—रोगादिकारणेन विस्मृतम् ? उताहो—अथवा किं प्रमादेन—आत्मनः प्रमादभावेन विस्मृतम् ?। एवं स्थविरेण पृष्टः सन् '**से य वएज्जा**' स च श्रमणो वदेत्—कथयेत् हे भदन्त ! '**नो आवाहेणं पमाएणं**' आवाधेन रागादिकारणेन नो विस्मृतं किन्तु प्रमादेन आत्मनः प्रमादभावेन विस्मृतम् । एवं कथिते सति '**जावज्जीवाए तस्स**' यावज्जीवं—जीवनपर्यन्तं तस्य श्रमणस्य '**तप्पत्तियं**' तत्प्रत्ययं प्रमादतो विस्मरणनिमित्तं '**नो कप्पइ**' नो कल्पते '**आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेययत्तं वा**' आचार्यत्वं वा यावत् उपाध्यायत्वं वा प्रवर्त्तकत्वं वा स्थविरत्वं वा गणित्वं वा गणधरत्वं वा एवं गणावच्छेदकत्वं वा '**उद्दिसित्तए वा**' उद्देष्टु वा अनुज्ञातुम् '**धारित्तए वा**' स्वयं धारयितुं वा न कल्पते इति पूर्वेण सम्बन्धः ।

अथ कदाचित् '**से य वएज्जा**' स च वदेत्—हे भदन्त ! अधीतमाचारकल्पो नामाध्ययनं मया '**आवाहेणं णो पमाएणं**' आवाधेन—रोगादिकारणेन विस्मृतं किन्तु नो प्रमादेन प्रमादभावमाश्रित्य नो विस्मृतमिति, '**से य संठवेस्सामीति संठवेज्जा**' स च संस्थापयिष्यामि विस्मृत-

माचारकल्पाध्ययनं पुनः स्मरिष्यामीति कथयित्वा यदि संस्थापयेद् विस्मृतं पुनरपि संस्मरेत् **'एवं से कप्पइ'** एवं प्रकारेण पुनः स्मृते आचारकल्पाध्ययने सति तस्य कल्पते **'आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेययत्तं वा'** आचार्यत्वं वा यावद् गणावच्छेदकत्वं वा **'उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा'** उद्देष्टुं वा धारयितुं वा कल्पते इति सम्बन्धः **'से य'** स च यदि **'संठवेस्सामीति नो संठवेज्जा'** संस्थापयिष्यामीति कथयित्वा नो संस्थापयेत् तदा **'एवं से नो कप्पइ'** एवं–संस्मरणाभावे तस्य नो कल्पते **'आयरियत्तं वा जाव गणावछेययत्तं वा'** आचार्यत्वं वा यावद् गणावच्छेदकत्वं वा **'उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा'** उद्देष्टुं वा धारयितुं वेति ॥ सू० १५ ॥

निर्ग्रन्थसूत्रमभिधाय सम्प्रति निर्ग्रन्थीसूत्रमाह—**'निग्गंथीए णं'** इत्यादि।

सूत्रम्—णिग्गंथीए णं नवडहरतरुणीए आयारपकप्पे नामं अज्झयणे परिब्भट्ठे सिया, सा य पुच्छियव्वा केणं ते कारणेणं अज्जे! आयारपकप्पे नामं अज्झयणे परिब्भट्ठे किं आबाहेणं उदाहु पमाएणं? सा य वएज्जा नो आबाहेणं पमाएणं, जावज्जीवाए तीसे तप्पत्तियं नो कप्पइ पवत्तिणित्तं वा गणावच्छेइणित्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा, सा य वएज्जा–आबाहाएणं नो पमाएणं सा य संठवेस्सामित्ति संठवेज्जा एवं से कप्पइ पवत्तिणित्तं वा गणावच्छेइणित्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा, सा य संठवेस्सामीति नो संठवेज्जा एवं से नो कप्पइ पवत्तिणित्तं वा गणावच्छेइणित्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ॥ सू० १६ ॥

छाया—निर्ग्रन्थ्याः खलु नवडहरतरुण्याः आचारप्रकल्पो नामाऽध्ययनं परिभ्रष्टं स्यात् सा च प्रष्टव्या-केन ते कारणेन आर्ये! आचारप्रकल्पो नामाऽध्ययनं परिभ्रष्टम्? किम् आबाधेन उताहो प्रमादेन? सा च वदेत् नो आबाधेन प्रमादेन, यावज्जीवं तस्यास्तत्प्रत्ययं नो कल्पते प्रवर्त्तिनीत्वं वा गणावच्छेदिनीत्वं वा उद्देष्टुं वा धारयितुं वा। सा च वदेत् आबाधेन नो प्रमादेन सा च संस्थापयिष्यामीति संस्थापयेत् एवं तस्याः कल्पते प्रवर्त्तिनीत्वं वा गणावच्छेदिनीत्वं वा उद्देष्टुं वा धारयितुं वा, सा च संस्थापयिष्यामीति नो संस्थापयेत् एवं तस्याः नो कल्पते प्रवर्त्तिनीत्वं वा गणावच्छेदिनीत्वं वा उद्देष्टुं वा धारयितुं वा ॥ सू० १६ ॥

भाष्यम्—'णिग्गंथीए णं' निर्ग्रन्थ्याः खलु श्रमण्याः **'नवडहरतरुणीए'** नवडहरतरुण्याः तत्र नवदीक्षिता नवा त्रिवर्षात्मकदीक्षापर्यायवती, डहरा–जन्मपर्यायेण अष्टादशवर्षिका, तरुणी–अधिगतयुवावस्था, जन्मतश्चत्वारिंशद्वर्षिका वा, उक्तञ्च–

"तिवरिसा होइ नवा, अट्ठारसिया य डहरिया होइ।
तरुणी य जाव जुवई, चत्तालिसिया य वा तरुणी" ॥१॥

छाया—त्रिवर्षा भवति नवा, अष्टादशिकाच डहरिका भवति।
तरुणी च यावद् युवतिः, चत्वारिंशा च वा तरुणी ॥१॥

तस्याः **'आयरपकप्पे णामं अज्झयणे'** आचारप्रकल्पो नामाऽध्ययनम् आचाराङ्गनिशीथादिकम् **'परिब्भट्ठे सिया'** परिभ्रष्टं स्यात् अधीतमाचारप्रकल्पाऽध्ययनम् विस्मृतं भवेत्तदा **'सा य पुच्छियव्वा'** सा चाऽधीतविस्मृता संयती स्थविरेण प्रष्टव्या—**'केण ते कारणेण अज्जे!'** हे आर्ये! केन खलु कारणेन ते तव, **'आयारपकप्पे नामं अज्झयणे परिब्भट्ठे'** आचारप्रकल्पो नामाऽध्ययनं परिभ्रष्टम्—अधीतमाचारप्रकल्पाऽध्ययनं त्वया विस्मृतं केन कारणेन विस्मृतमिति पृच्छेदित्यर्थः। तत्र कारणमेव विविच्य पृच्छति—किमित्यादि, **'किं आवाहेणं उदाहु पमाएणं'** किमावाधेन—रोगादिकारणेन उताहो—यद्वा प्रमादेन विस्मृतमिति। एवं पृष्टा सती—**'सा य वएज्जा'** सा च वदेत्—**'नो आवाहेणं पमाएणं'** नो आवाधेन रोगादिकारणेन किन्तु प्रमादेन मयाऽधीतमपि—आचारप्रकल्पाध्ययनं विस्मृतमिति, एवं कथिते सति **'जावज्जीवाए'** जावज्जीवं—जीवनपर्यन्तमित्यर्थः तस्या विस्मृतकल्पाऽध्ययनायाः श्रमण्याः **'तप्पत्तियं'**—तत्प्रत्ययं प्रमादतो विस्मरणनिमित्तम् **'नो कप्पइ'** नो कल्पते **'पवत्तिणीत्तं वा'** प्रवर्तिनीत्वं वा **'गणावच्छेइणित्तं वा'** गणावच्छेदिनीत्वं वा **'उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा'** उद्देष्टुमनुज्ञातुं वा स्वयं धारयितुं वा, एतादृश्याः पुनः प्रवर्तिनीपदस्याऽनुज्ञापनं न कर्त्तव्यमाचार्येण, न वा सा स्वयमेव पुनः प्रवर्त्तिनीत्वं गणावच्छेदिनीत्वं वा धारयितुं शक्नोतीति। **'सा य वएज्जा'** अथ यदि सा संयती एवं वदेत्—हे भदन्त! मया **'आवाहेण नो पमाएणं'** आवाधेन रोगादिना अधीतमपि पुनर्विस्मृतम्, नतु प्रमादेन विस्मृतमिति **'सा य संठवेस्सामीति संठवेज्जा'** सा च संयती विस्मृतमध्ययनं संस्थापयिष्यामि—पुनरपि स्मरिष्यामीति कथयित्वा संस्थापयेत्—पुनरपि संस्मरेत्, **'एवं से कप्पइ'** एवं प्रकारेण पुनः स्मृतेऽध्ययने सति तस्याः कल्पते **'पवत्तिणीत्तं वा गणावच्छेइणित्तं वा'** प्रवर्त्तिनीत्वं वा गणावच्छेदिनीत्वं वा **'उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा'** उद्देष्टुमनुज्ञातुं वा स्वयं धारयितु वा। अथ कदाचित् नष्टमध्ययनम् **'सा य संठवेस्सामीति नो संठवेज्जा'** संस्थापयिष्यामीति कथयित्वा नो संस्थापयेत् न तस्य संस्मरणं कुर्यात् **'एवं से नो कप्पइ पवत्तिणीत्तं वा गणावच्छेइणित्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा'** एवं तर्हि तस्याः संयत्याः नो कल्पते प्रवत्तिनीत्वं वा गणावच्छेदिनीत्वं वा उद्देष्टुमनुज्ञातुं वा स्वयं धारयितुं वा ॥ सू० १६ ॥

पूर्वं नवडहरतरुणनिर्गन्थनिर्ग्रन्थीनाम् आचारप्रकल्पाऽध्ययनं प्रमादतो विस्मरणेन असंस्थापनेन च यावज्जीवं पददानाऽभावः प्रतिपादितः, अस्मिन् सूत्रे तु स्थविराणां स्थविरभूमिप्रा-

प्तानां च आचारप्रकल्पनामकाऽध्ययनस्य विस्मृतौ संस्थापने असंस्थापने वापि आचार्यादिपदं दातव्यं भवेदिति प्रदर्शयन्नाह—'थेराणं' इत्यादि ।

सूत्रम्—थेराणं थेरभूमिपत्ताणं आयारपकप्पे नामं अज्झयणे परिब्भट्ठे सिया कप्पइ तेसिं संठवेत्ताण वा असंठवेत्ताण वा आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेययत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ॥ सू० १७ ॥

छाया—स्थविराणां स्थविरभूमिप्राप्तानामाचारप्रकल्पो नामाध्ययनं परिभ्रष्टं स्यात् कल्पते तेषां संस्थापयतामसंस्थापयतां वा आचार्यत्वं वा यावद्गणावच्छेदकत्वं वा उद्देष्टुं वा धारयितुं वा ॥ सू० १७ ॥

भाष्यम्—'थेराणं' स्थविराणाम्—ये ज्ञान–दर्शन–चारित्रे सीदतामिहलोकपरलोकाऽपायं प्रदर्श्य तान् संयमे संस्थापयन्ति तेषाम्—श्रुतस्थविराणां षष्टिवर्षाणां वा 'थेरभूमिपत्ताणं' स्थविरभूमिप्राप्तानाम्—आचार्यपदप्राप्तानाम् 'आयारपकप्पे नामं अज्झयणे परिब्भट्ठे सिया'—आचारप्रकल्पो नामाध्ययनम्—आचाराङ्गनिशीथसूत्रादिकं परिभ्रष्टं—नष्टं—विस्मृतं स्यात्—भवेत् 'कप्पइ तेसिं' कल्पते तेषां स्थविराणां स्थविरभूमिप्राप्तानाम् 'संठवेत्ताण वा' संस्थापयतां पुनरधीत्य सस्मरताम् 'असंठवेत्ताण वा' असंस्थापयतां पुनरसंस्मरतां वा 'आयरियत्तं जाव गणावच्छेययत्तं वा'—आचार्यत्वं वा उपाध्यायत्वं वा प्रवर्तकत्वं वा स्थविरत्वं वा गणित्वं वा गणधरत्वं वा गणावच्छेदकत्वं वा 'उद्दिसित्तए वा' उद्देष्टुमनुज्ञातुं वा, जीर्णत्वमहत्त्वकारणेन तेषां सूत्रधारणायाः सामर्थ्याभावात् 'धारित्तए वा' स्वयं धारयितुं वा । स्थविरविषये अत्र चतुर्भङ्गी यथा—

जीर्णो नो महान्, यस्तरुण एव सन् जरया परिणतः, इत्येकः १ ।
नो जीर्णः किन्तु महान्, यो वृद्धोऽपि सन् दृढशरीर इति द्वितीयः २ ।
जीर्णोऽपि च महानपि चेति तृतीयः ३ । नो जीर्णो नो महान् इति चतुर्थः ४ ।

अयं चतुर्थो भङ्गः शून्यः । शेषाणां तु त्रयाणामेकतरो न शक्नोति संस्थापयितुमिति तस्याचारप्रकल्पो नामाध्ययनं परिभ्रष्टं भवेदिति कल्पेत तादृशस्यासंस्थापनेऽपि आचार्यादिपदमुद्देष्टुं वा धारयितुं वेति ॥ सू० १७ ॥

सूत्रम्—थेराणं थेरभूमिपत्ताणं आयरपकप्पे णामं अज्झयणे परिब्भट्ठे सिया कप्पइ तेसिं संनिसण्णाण वा संतुयट्टाण वा उत्ताणयाण वा पासल्लियाण वा आयारपकप्पे नामं अज्झयणे दोच्चंपि तच्चंपि पडिपुच्छित्तए वा पडिसारेत्तए वा ॥ सू० १८ ॥

छाया—स्थविराणां स्थविरभूमि प्राप्तानाम् आचारप्रकल्पो नामाऽध्ययनं परिभ्रष्टं स्यात् कल्पते तेषां सन्निषण्णानां वा त्वग्वर्त्तयतां वा उत्तानकानां वा पार्श्वचतां (पार्श्वतः स्थितानाम्) वा आचारप्रकल्पो नामाऽध्ययनं द्वितीयमपि तृतीयमपि प्रतिप्रष्टुं वा प्रतिसारयितुं वा ॥ सू० १८ ॥

भाष्यम्—'थेराणं' स्थविराणाम् 'थेरभूमिपत्ताणं' स्थविरभूमिप्राप्तानाम्—आचार्यपदप्राप्तानाम्, अथवा—अतिवृद्धभावं प्राप्तानाम्, 'आयारपकप्पे नामं अज्झयणे' आचारप्रकल्पः—आचाराङ्गनिशीथादिसूत्रं नामाऽध्ययनम् 'परिब्भट्ठे सिया' परिभ्रष्टं—विनष्टं विस्मृतमित्यर्थः स्यात्—भवेत् 'कप्पइ तेसिं' कल्पते युज्यते तेषां विस्मृताध्ययनानाम् 'संनिसण्णाण वा'—सन्निषण्णानां वा—निषद्यागतानां समुपविष्टानामित्यर्थः 'संतुयट्टाण वा' त्वग्वर्त्तनेन स्थितानां सुप्तानामित्यर्थः 'उत्ताणयाण वा' उत्तानकानां वा—हृदयभागमूर्ध्वीकृत्य शयनं कुर्वताम् 'पासल्लियाण वा' पार्श्ववतां वामादिपार्श्वतः स्थितानाम् आश्रयमादायोपविष्टानां वा 'आयरपकप्पे नामं अज्झयणे'—आचारप्रकल्पनामकमध्ययनम् 'दोच्चंपि तच्चंपि' द्वितीयमपि वारं तृतीयमपि वारम् अपिशब्दात् चतुर्थादिवारमपि 'पडिपुच्छित्तए वा' प्रतिप्रष्टुं वा तद्विषयां पृच्छां कर्त्तुम् 'पडिसारेत्तए वा' प्रतिसारयितुं वा संस्मर्त्तुं ग्रहीतुं वा कल्पते इति पूर्वेण संबन्धः ॥ सू० १८ ॥

पूर्वं निर्ग्रन्थनिर्ग्रन्थीनां विस्मृताचारप्रकल्पाध्ययनस्य पठनमाश्रित्य कथितम्, साम्प्रतं निर्ग्रन्थनिर्ग्रन्थीनां द्वादशविधः सम्भोगो भवति तत्र कोऽपि दोष आपतितो भवेत्तदा तस्याऽऽलोचना कर्त्तव्येत्यालोचनाविधिं प्रदर्शयति—'जे णिग्गंथा णिग्गंथीओ य' इत्यादि ।

सूत्रम्—जे णिग्गंथा णिग्गंथीओ य संभोइया सिया, नो ण्हं कप्पइ अन्नमन्नस्स अंतिए आलोएत्तए, अत्थि या एत्थ केइ आलोयणारिहा कप्पइ से तेसिं अंतिए आलोएत्तए, नत्थि या एत्थ केइ आलोयणारिहा एवं ण्हं कप्पइ अन्नमन्नस्स अंतिए आलोएत्तए ॥ सू० १९ ॥

छाया—ये निर्ग्रन्था निर्ग्रन्थ्यश्च सांभोगिकाः स्युः नो खलु कल्पते अन्योऽन्यस्याऽन्तिके आलोचयितुम्, सन्ति चात्र केचित् आलोचनार्हाः कल्पते तस्य तेषामन्तिके आलोचयितुम्, न सन्ति वा केचिदत्र आलोचनार्हाः एवं खलु कल्पते अन्योऽन्यस्याऽन्तिके आलोचयितुम् ॥ सू० १९ ॥

भाष्यम्—'जे णिग्गंथा' ये निर्ग्रन्थाः 'णिग्गंथीओ य' निर्ग्रन्थ्यश्च 'संभोइया सिया'—साम्भोगिकाः स्युः, तत्र संभोगः उपध्यादिवस्तूनां परस्परमादानप्रदानम्, स च ओघतो

द्वादशविधः, उक्तञ्च—

गाथा—'उवहि–सुय–भत्तपाणं, अंजलिपगहो य दावणा णेया।
छट्ठं निकायणं तह, अब्भुट्ठाणं च किइकम्मं ॥१॥
वेयावच्चं चसमो–सरो निसज्जा कहापवंधो य।
बारसविहो य एसो, संभोगो ओघओ णेओ ॥२॥ इति,

छाया—उपधि–श्रुत–भक्तपानम् अञ्जलिप्रग्रहश्च दापना ज्ञेया।
षष्ठं निकाचनं तथा, अभ्युत्थानं च कृतिकर्म ॥१॥
वैयावृत्त्यं समवसरणं निषद्या कथाप्रबन्धश्च।
द्वादशविधश्चैष संभोग ओघतो ज्ञेयः ॥२॥ इति।

तथाहि—उपधिविषयः १, श्रुतविषयः २, भक्तपानविषयः ३, अञ्जलिप्रग्रहविषयः ४, दापनाविषय', दापना–शय्याहारोपधिस्वाध्यायशिष्यगणानां प्रदापनं तद्विषयः ५, निकाचनविषयः, निकाचनं निमन्त्रणं तद्विषयः ६, अभ्युत्थानविषयः ७, कृतिकर्मविषयः ८, वैयावृत्यविषयः ९, समवसरणं व्याख्यानादिकरणे गृहस्थसाक्षात् परस्परमन्तिके उपवेशनं, तद्विषयः समवसरणविषयः १०, संनिषद्याविषयः ११, कथाप्रबन्धविषयश्चेति १२ द्वादशविधः संभोगस्तद्विशिष्टाः सांभोगिका भवेयुः **'नो ण्हं कप्पइ अन्नमन्नस्स अंतिए आलोएत्तए'** नो–नैव 'ण्हं' इति वाक्यालङ्कारे कल्पतेऽन्योऽन्यस्य–परस्परस्य अन्तिके–समीपे निर्ग्रन्थस्य निर्ग्रन्थीसमीपे, निर्ग्रन्थ्याश्च निर्ग्रन्थसमीपे आलोचयितुम्–आलोचनां कर्तुम् स्वकीयं स्वकीयमतीचारजातं प्रकटयितुं नो कल्पते इति सम्बन्धः। एवं तर्हि कुत्र कल्पते ? इत्याह–**'अत्थि या'** इत्यादि। **'अत्थि या एत्थ केइ आलोयणारिहे'** सन्ति–विद्यन्ते चेदत्र समुदाये केचिदालोचनार्हाः आलोचनादानयोग्याः स्थानाङ्गसूत्रस्य दशमस्थानोक्तदशविधगुणवन्तो निर्ग्रन्थास्तदा–**'कप्पइ से तेसिं अंतिए आलोएत्तए'** कल्पते तस्य–आलोचकस्य तेषाम् आलोचनार्हाणामन्तिके समीपे आलोचयितुम्। आलोचनार्हः स्थानाङ्गसूत्रस्य दशमस्थानोक्तदशविधगुणधारको भवेत्। उक्तञ्च—

"दसहिं ठाणेहिं संपन्ने अणगारे अरिहइ आलोयणं पडिच्छित्तए, तं जहा–आयारवं १, अवहारवं २, ववहारवं ३, ओवीलए ४, पकुव्वए ५, अपरिस्साई ६, निज्जावए ७, अवायदंसी ८, पियधम्मे ९, दढधम्मे १०" ॥

छाया—आचारवान् १, अवधारवान् २, व्यवहारवान् ३, अपव्रीडकः ४, प्रकुर्वकः ५, अपरिस्रावी ६, निर्यापकः ७, अपायदर्शी ८, प्रियधर्मा ७ दृढधर्मा १० इति।

व्याख्या—दशस्थानसंपन्नोऽनगारः आलोचकेन दीयमानामालोचनां ग्रहीतुमर्हति, कीदृशः स भवितुमर्हति ? 'तं जहा' तद्यथा—आचारवान्—ज्ञानाद्याचारवान् १, अवधारवान्—अवधारणावान् २, व्यवहारवान्—आगमादिपञ्चप्रकारव्यवहारवान् ३, अपव्रीडकः—लज्जापनोदकः यथा परः सुखमालोचयति ४, प्रकुर्वकः—आलोचितेऽतिचारे शुद्धिकरणसामर्थ्यवान् ५, निर्यापकः—निर्यापनकारकः तथा प्रायश्चित्तं ददाति यथा स निर्वोढुं शक्नोति ६, अपरिस्रावी—श्रुतालोचकदोषाणां न कस्मैचित्कथनशीलः ७, अपायदर्शी—आलोचकस्य पारलौकिकाऽपायदर्शकः ८, प्रियधर्मा—धर्मप्रियः ९, दृढधर्मा—आपद्यपि धर्मेऽविचल १० इति। तस्य, तथा ज्येष्ठस्य च समीपे आलोचना कर्तव्या। यदि तत्र दशविधगुणयुक्तो न भवेत्तदा पर्यायज्येष्ठस्य समीपे दैवसिकं रात्रिकं सामान्यमतिचारजातमालोचयेदिति। अथापवादमाह—अथ यदि—**'नत्थि या इत्थ केइ आलोयणारिहे'** न सन्ति—न विद्यन्ते चेदत्र केचिदालोचनार्हा निर्ग्रन्थाः **'एवं ण्हं कप्पइ अन्नमन्नस्स अंतिए आलोएत्तए'** एवम्—एतादृश्यां परिस्थितौ खलु कल्पतेऽन्योऽन्यस्याऽन्तिके—समीपे आलोचयितुम्—आलोचनां कर्तुमिति।

अयं भावः—आलोचना च न विपक्षे, सपक्षेऽपि नागीतार्थेषु भवितुमर्हति, तत्र गुप्तातिचारस्य प्रकटनायोग्यत्वात्। तत्र विपक्षः—संयताः संयतीनाम्, संयत्यश्च संयतानामिति। सपक्षः संयताः संयतानाम्, संयत्यश्च संयतीनां भवति। यतः—विपक्षे आलोचनायां चतुर्थव्रतादिगुप्तातिचाराणां प्रकटने परस्परं भावभेदः संभवति, तस्माद् भगवता अन्योऽन्यालोचनाप्रतिषेधकमिदं सूत्रं प्रतिपादितम्। अपवादपक्षे गाढागाढकारणे समुत्पन्ने परस्परालोचनाविधिप्रतिपादकं सूत्रं प्रवर्त्तितम्। तत्रापि विवेकः प्रवर्त्तयितव्यः, यथा—आलोचको युवको वृद्धो वा आलोचनार्हा निर्ग्रन्थी वृद्धाऽवश्यम्भाविनी। आलोचिका युवतिर्वृद्धा वा आलोचनार्हो निर्ग्रन्थो वृद्धोऽवश्यंभावी युज्यते, एवं परस्परालोचनाविधिप्रतिपादकं सूत्रं प्रवर्त्तनीयमिति। आलोचनार्हैः कीदृशैर्भवितव्यम् ? तत्राह भाष्यकारः—**'गीयत्था'** इत्यादि।

गाथा—"गीयत्था कयकरणा, पोढा परिणामिया य गंभीरा।
चिरदिक्खिया य वुड्ढा, जइणो अलोयणाजोग्गा ॥ १ ॥"

छाया—गीतार्थाः कृतकरणाः, प्रौढाः पारिणामिकाश्च गम्भीराः।
चिरदीक्षिताश्च वृद्धाः, यतय आलोचनायोग्याः ॥ १ ॥

व्याख्या—'गीयत्था' इति। गीतार्थाः—सूत्रार्थतदुभयनिष्णाताः, कृतकरणाः—अनेकवारमालोचनादाने सहायीभूताः, प्रौढाः—समर्थाः सूत्रतोऽर्थतश्च प्रायश्चित्तदाने पश्चात्कर्तुमशक्याः, पारिणामिकाः—आलोचनायाः परिणामचिन्ताकुशलाः, गम्भीराः आलोचकस्य महति

दोषेऽपि श्रुते अपरिस्राविणः न कस्मैचिदपि प्रकटनशीला इत्यर्थः, चिरदीक्षिताः-प्रभूतकालप्रव्र-जिताः, वृद्धाः-श्रुतेन पर्यायेण वयसा च महान्तः, एवम्भूता यतयः-साधवः उपलक्षणात् साध्व्यश्च आलोचनादानयोग्याः आलोचनादाने समुचिता भवन्तीति ॥ १ ॥ अत्राह भाष्यकारः—'आलोयणाए' इत्यादि ।

गाथा—"आलोयणाए जे दोसा, वेयावच्चेवि ते पुणो ।
तम्हा अन्नोन्नभावेणं, वेयावच्चं न कारए" ॥ १ ॥

छाया—आलोचनायां ये दोषा वैयावृत्त्येऽपि ते पुनः ।
तस्माद् अन्योऽन्यभावेन वैयावृत्त्यं न कारयेत् ॥ १ ॥

व्याख्या—ये च खलु-विपक्षे-आलोचनायां दोषाः कथिताः, ते सर्वेऽपि दोषाः वैयावृत्त्येऽपि परस्परं वैयावृत्त्यकारणेऽपि भवन्ति तस्माद् अन्योऽन्यभावेन विपक्षे वैयावृत्त्यं न कारयेदिति सूत्राक्षरार्थः ।

अयं भावः—विपक्षात्-वैयावृत्त्यं शारीरिकं हस्तपादादिसंवाहनरूपं कारयतः साधोः कदाचित् चञ्चलचित्तायाः साध्व्या विषये मनो विकृतं भवेत् तेन व्रतभङ्गदोष आपद्येत, आहारा-द्यानयनविषये च श्रमण्या समानीतमन्नादिकं भुञ्जतः साधोराज्ञाभङ्गादिदोषाः, शङ्कितादि-दोषाश्च भवेयुः । उक्तञ्चात्र—

समणीए आणीयं, भुंजइ असणाइ जत्थ समणो य ।
गच्छो नपुंसओ सो, एवं समणीण धम्मकहा ॥ १ ॥

छाया—श्रमण्या आनीतं भुङ्क्ते अशनादि यत्र श्रमणश्च ।
गच्छो नपुंसकः सः, एवं श्रमणीनां धर्मकथा ॥ १ ॥

अयं भावः—यस्मिन् गच्छे श्रमण्या समानीतमशनादिकमकारणे श्रमणो भुङ्क्ते स गच्छो नपुंसको विज्ञेयः । एवं श्रमणानां सद्भावे श्रमण्या धर्मकथाऽपि बोध्या । श्रमणसत्तायां श्रमणी यदि पट्टोपर्युपविश्य परिषदि धर्मकथां करोति यस्मिन् गच्छे स गच्छोऽपि नपुंसक एवेति ॥ १ ॥

पुनश्च-आहारानयने-'अन्यन्मनसि-अन्यद्वचसि' इत्यादिदुष्टलक्षणलक्षिता संयती कदाचिद् अनेषणीयमप्यशनादिकमानीय समर्पयति, इत्यादि दोषबाहुल्यात् कथमपि किमपि संयतेन संयतीभिः किमपि वैयावृत्त्यं न कारयितव्यमिति । एवं संयत्याः संयतैर्वैयावृत्त्यकारणे दोषाः

समुन्नेयाः। अपवादे गाढागाढकारणे विवेकः कर्त्तव्य इति। विशेषत आलोचनादोषा वैयावृत्त्यदोषाश्च स्थानाङ्गसूत्राज्ज्ञातव्याः॥ सू० १९॥

पूर्वं विपक्षेऽन्योऽन्यवैयावृत्त्यकरणं निषिद्धम्, गाढकारणे चाज्ञा प्रतिपादिता, साम्प्रतं स्थविरकल्पिकजिनकल्पिकयोरपवादोत्सर्गौ प्रतिपादयन्नाह–'णिग्गंथं च णं' इत्यादि।

सूत्रम्—णिग्गंथं च णं राओ वा वियाले वा दीहपट्ठो वा लूसेज्जा इत्थी वा पुरिसस्स ओमावेज्जा पुरिसो वा इत्थीए ओमावेज्जा, एवं से कप्पइ एवं से चिट्ठइ परिहारं च नो पाउणइ एस कप्पे थेरकप्पियाणं। एवं से नो कप्पइ एवं से नो चिट्ठइ परिहारं च नो पाउणइ एस कप्पे जिणकप्पियाणं ति बेमि॥ सू० २१॥

ववहारस्स पंचमो उद्देसो समत्तो॥ ५॥

छाया—निर्ग्रन्थं च खलु रात्रौ वा विकाले वा दीर्घपृष्ठो लूषयेत् स्त्री वा पुरुषस्यापमार्जयेत् पुरुषो वा स्त्रिया अपमार्जयेत्, एवं तस्य कल्पते एवं तस्य तिष्ठति परिहारं च नो प्राप्नोति एष कल्पः स्थविरकल्पिकानाम्। एवं तस्य नो कल्पते एवं तस्य नो तिष्ठति परिहारं च नो प्राप्नोति एषः कल्पो जिनकल्पिकानाम्, इति ब्रवीमि॥ सू० २०॥

व्यवहारस्य पञ्चम उद्देशः समाप्तः॥ ५॥

भाष्यम्—'णिग्गंथं च णं' निर्ग्रन्थं श्रमणम् चकारात्–निर्ग्रन्थीं च खलु **'राओ वा वियाले वा'** रात्रौ वा विकाले–सायंकाले प्रातःकाले तदन्यकाले वा यदि–**'दीहपट्ठो वा लूसेज्जा'** दीर्घपृष्ठः सर्पः लूषयेत्–दशेत् तत्र–**'इत्थी वा पुरिसस्स ओमावेज्जा'** स्त्री श्रमणी पुरुषस्य साधोः स्वहस्तेन तं विषमपमार्जयेत् मन्त्रौषधादिना निवारयेत् **'पुरिसो इत्थीए ओमावेज्जा'** पुरुषः साधुः स्त्रियाः श्रमण्याः स्वहस्तेन विषमपमार्जयेत्। यदि–साधुः साध्वी वा सर्पदष्टा भवेत् तत्राऽसति व्यक्त्यन्तरे साधुः श्रमण्याः विषं हस्तेन प्रमार्जयेत्, श्रमणी वा श्रमणस्य विषं हस्तेनाऽपसारयेदिति भावः। **'एवं से कप्पइ'** एवम् एतादृश्यां परिस्थितौ तस्य स्थविरकल्पिकस्य कल्पते, **'एवं से चिट्ठइ'** एवम्–अनेन प्रकारेण अपवादमासेवमानस्य तस्य स्थविरकल्पिकस्य तिष्ठति पर्यायः न तु सः स्थविरकल्पिकत्वात् पर्यायपरिभ्रष्टो भवति अत एव **'परिहारं च से नो पाउणइ'** परिहारं च तपः स स्थविरकल्पिकः प्रायश्चित्तरूपेण न प्राप्नोति परिहारनामकं प्रायश्चित्तं च तस्य न भवति **'एस कप्पे थेरकप्पियाणं'** एषः–सूत्रोक्तः कल्पः–आचारः स्थविरकल्पिकानां कथितः। सम्प्रति जिनकल्पिकमधिकृत्य उत्सर्गमार्गं प्रदर्शयितुमाह–**'एवं से नो'** इत्यादि, **'एवं से नो कप्पइ'** एवम्–उक्तप्रकारेण सपक्षेण विपक्षेण वा वैयावृत्त्यकारणं **'से'** तस्य जिनकल्पिकस्य नो नैव कथमपि कल्पते, **'एवं से नो चिट्ठइ'** एवम्–अनेन प्रकारेण अपवादपदसेवनेन तस्य जिनकल्पिकस्य जिनपर्यायो न तिष्ठति, जिनकल्पिकत्वात् पतितो भवतीत्यर्थः।

अथ षष्ठोद्देशकः प्रारभ्यते—

अथ पञ्चमोद्देशकस्य चरमसूत्रेणास्य षष्ठोद्देशकस्यादिसूत्रेण सह कः सम्बन्धः ? इति सम्बन्धं प्रदर्शयन्नाह भाष्यकारः—'पंचम' इत्यादि ।

गाथा—"पंचमउद्देसंते, गिलाणभावो पदंसिओ मुणिणो ।
सो इच्छइ नायविहिं, संबंधो एस नायव्वो" ॥ १ ॥

छाया—पञ्चमोद्देशकान्ते ग्लानभावः प्रदर्शितो मुनेः ।
स इच्छति ज्ञातविधिं, सम्बन्ध एष ज्ञातव्यः ॥ १ ॥

व्याख्या—'पंचमउद्देसंते'-पञ्चमोद्देशकस्यान्ते चरमसूत्रे 'मुणिणो' मुनेः-निर्ग्रन्थस्य 'गिलाणभावो' ग्लानभावः-सर्पदंशेन मनोदौर्बल्यरूपः 'पदंसिओ' प्रदर्शितः । 'सो' सः-मरणाशङ्कादिना खिन्नः सन् 'णायविहिं' ज्ञातविधिं, तत्र-ज्ञाताः-मातापित्रादयः तत्संबन्धीभूता वा, तेषां विधिं-ज्ञातसम्बन्धमाश्रित्य तत्तत्संबन्धीभूतं ज्ञातभेदम् अन्यस्वजनान् वा 'इच्छइ' इच्छति तेषां समीपे गन्तुमिच्छेदित्यर्थः । अथवा स्वजना ग्लाना मरणासन्ना वा भवेयुस्तेषां दर्शनदानार्थं वा गन्तुमिच्छेदिति षष्ठोद्देशकस्यादौ ज्ञातविधिः प्रदर्श्यते, एष सम्बन्धः पूर्वापरोद्देशकयोर्ज्ञातव्य इति ॥ १ ॥ तत्रादिमं सूत्रमाह—"भिक्खू य इच्छेज्जा' इत्यादि ।

सूत्रम्—भिक्खू य इच्छेज्जा नायविहिं एत्तए, नो से कप्पइ थेरे अणापुच्छित्ता नायविहिं एत्तए, कप्पइ से थेरे आपुच्छित्ता नायविहिं एत्तए, थेरा य से वियरेज्जा एवं से कप्पइ नायविहिं एत्तए, थेरा य से नो वियरेज्जा, एवं से नो कप्पइ नायविहिं एत्तए, जं तत्थ थेरेहिं अविइण्णे नायविहिं एइ, से संतरा छेए वा परिहारे वा ॥ सू० १ ॥

छाया—भिक्षुश्च इच्छेत् ज्ञातविधिं नो तस्य कल्पते स्थविराननापृच्छय ज्ञातविधिमेतुम्, कल्पते तस्य स्थविरान् आपृच्छय ज्ञातविधिमेतुम्, स्थविराश्च तस्य वितरेयुः, एवं तस्य कल्पते ज्ञातविधिमेतुम्, स्थविराश्च तस्य नो वितरेयुः, एवं तस्य नो कल्पते ज्ञातविधिमेतुम्, यत्तत्र स्थविरैः अवितीर्णो ज्ञातविधिमेति तस्य सान्तरात् छेदो वा परिहारो वा ॥ सू० १ ॥

भाष्यम्—'भिक्खू य इच्छेज्जा' भिक्षुः-श्रमणः च-शब्दात् श्रमणी च इच्छेत्, किमिच्छेत्तत्राह—'नायविहिं' इत्यादि, 'णायविहिं एत्तए' ज्ञातविधिं स्वजनभेदम्, ज्ञाता-मातापित्रादयः,

अथवा पूर्वसंस्तुता मातापित्रादयः, पश्चात्संस्तुताः श्वश्रूश्वशुरश्यालकादयः, तन्निमित्तेन यः सम्बन्धः स ज्ञातविधिरुच्यते, मातापितृश्वश्रूश्वशुरादिविषयेऽनेके भेदा भवन्ति, अतो विधिशब्दोऽत्र भेदवाचको ज्ञातव्यः, तेषां गृहे दर्शनदानाद्यर्थम् एतुं–प्राप्तुं गन्तुमित्यर्थः तदा–**'नो से कप्पइ थेरे अणापुच्छित्ता नायविहिं एत्तए'** **'नो'**–न कथमपि **'से'** तस्य–श्रमणस्य कल्पते स्थविरान् गच्छनायकान् अनापृच्छ्य स्थविराज्ञामन्तरेणेत्यर्थः ज्ञातविधिमेतुम् आत्मनः स्वजनगेहे गन्तुम् । **'कप्पइ से थेरे आपुच्छित्ता नायविहिं एत्तए'** कल्पते तस्य स्थविरान् गच्छनायकान् आपृच्छ्य गच्छनायकस्याऽऽज्ञां लब्ध्वा इत्यर्थः ज्ञातविधिमेतुं–स्वजनगृहे गन्तुमिति । प्रच्छने यदि–**'थेराय से वियरेज्जा'** स्थविराश्च **'से'** तस्य वितरेयुः–गमनायाऽऽज्ञां दद्युः **'एवं से कप्पइ नायविहिं एत्तए'** एवं गच्छनायकस्याऽऽज्ञासंप्राप्त्यनन्तरम् **'से'** तस्य श्रमणस्य कल्पते ज्ञातविधिमेतुम् **'थेरा य से नो वियरेज्जा'** यदि स्थविराश्च तस्य स्वजनगृहे गन्तुमाज्ञां नो वितरेयुः नो दद्युः **'एवं से नो कप्पइ नायविहिं एत्तए'** एवम्–आज्ञावितरणाभावे तस्य नो कल्पते ज्ञातविधिमेतुम् । **'जं तत्थ थेरेहिं अविइण्णे नायविहिं एइ'** यत् यदि श्रमणस्तत्र स्थविरैरवितीर्णोऽननुज्ञातः ज्ञातविधिमेति प्राप्नोति स्थविराज्ञामन्तरेण यदि कश्चित् श्रमणः स्वजनगृहं याति गच्छति **'से संतरा छेए वा परिहारे वा'** **'से'** तस्य–श्रमणस्याज्ञामन्तरेण ज्ञातविधिं कुर्वतः सान्तरात् स्वकृताद् अन्तरात् आज्ञोल्लङ्घनरूपाऽपराधात् छेदो वा परिहारो वा, गच्छनायकाज्ञामुल्लंघ्य ज्ञातविधिकरणे श्रमणस्य छेदनामकं परिहारनामकं वा प्रायश्चित्तं भवति, इति भावः ॥ सू० १ ॥

ज्ञातविधिमेतुं कस्य न कल्पते ? तत्राह–**'नो से कप्पइ'** इत्यादि ।

सूत्रम्—**नो से कप्पइ अप्पसुयस्स अप्पागमस्स एगाणियस्स नायविहिं एत्तए ॥सू० २॥**

छाया—नो तस्य कल्पते अल्पश्रुतस्य अल्पागमस्य एकाकिनो ज्ञातविधिमेतुम् ॥सू० २॥

भाष्यम्—**'नो से कप्पइ'** नो–न कल्पते कथमपि **'से'** तस्य श्रमणस्य, कीदृशस्येत्याह–**'अप्पसुयस्स'** अल्पश्रुतस्याऽगीतार्थस्य, **'अप्पागमस्स'** अल्पागमस्य–आगमज्ञानविकलस्य लौकिकशास्त्रेष्वतिपरिचितस्य स्वशास्त्रविषयकज्ञानवञ्चितस्य, पुनश्च गीतार्थे सत्यपि **'एगाणियस्स'** एकाकिनः सहायकरहितस्याद्वितीयस्य **'णायविहिं एत्तए'** ज्ञातविधिमेतुम्–प्राप्तुम्, अल्पश्रुतेन–अल्पागमेन एकाकिनाऽगीतार्थेन श्रमणेन स्वजनगृहे गमनं न कर्त्तव्यमित्यर्थः ॥ सू० २ ॥

ज्ञातविधिमेतुं कस्य कल्पते ? इति तद्विधिमाह–**'कप्पइ से जे तत्थ'** इत्यादि ।

सूत्रम्—कप्पइ से जे तत्थ बहुस्सुए बब्भागमे तेण सद्धिं नायविहिं एत्तए ॥ सू० ३ ॥

छाया – कल्पते तस्य यस्तत्र बहुश्रुतो बह्वागमः तेन सार्द्धं ज्ञातविधिमेतुम् ॥ सू० ३ ॥

भाष्यम्—'कप्पइ से जे तत्थ बहुस्सुए बब्भागमे' कल्पते 'से' तस्य श्रमणस्य यस्तत्र-गच्छे बहुश्रुतः सूत्रापेक्षया, बह्वागमः अर्थापेक्षया **'तेण सद्धिं नायविहिं एत्तए'** तेन बहुश्रुतेन बह्वागमेन सार्धं ज्ञातविधिमेतुम्-स्वजनगृहं गन्तुं कल्पते इति संबन्धः, नैकाकिना श्रमणेन स्वजनगृहे गन्तुं शक्यते किन्तु-तस्मिन् गच्छे यो बहुश्रुतो बह्वागमः तेन साकं मिलित्वा गन्तुं शक्यते इति भावः ॥ सू० ३ ॥

स्वजनगृहे गते सति तत्राहारग्रहणविधिमाह-**'तत्थ से'** इत्यादि ।

सूत्रम्--तत्थ से पुव्वागमणेणं पुव्वाउत्ते चाउलोदणे, पच्छाउत्ते भिलिंगसूवे कप्पइ से चाउलोदणे पडिग्गाहित्तए, नो से कप्पइ भिलिंगसूवे पडिग्गाहित्तए ॥ सू० ४ ॥

छाया—तत्र तस्य पूर्वागमनात् पूर्वायुक्तः तन्दुलौदनः पश्चादायुक्तः भिलिङ्गसूपः कल्पते तस्य तन्दुलौदनः प्रतिग्रहीतुम्, नो तस्य कल्पते भिलिङ्गसूपः प्रतिग्रहीतुम् ॥ सू० ४ ॥

भाष्यम्—**'तत्थ से'** इति तत्र-गृहस्थगृहे तस्य-भिक्षार्थमागतस्य साधोः **'पुव्वागमणेणं'** सूत्रे पञ्चम्यर्थे तृतीया आर्षत्वात् तेन आगमनात्पूर्वं साधोरागमनात्प्रागेव **'पुव्वाउत्ते'** पूर्वायुक्तः पूर्वं रन्धनकाले एव आयुक्तः रध्यमानः गृहस्थैः स्वनिमित्तं पक्तुमारब्धः **'चाउलोदणे'** तन्दुलौदनः वर्तेत **'पच्छाउत्ते भिलिंगसूवे'** पश्चादायुक्तः साधोरागमनानन्तरं रध्यमानः **'भिलिंगसूवे'** इति मसूर दालिर्भवेत् उपलक्षणमेतत् सर्वदालीनाम्, तत्र तयोर्मध्ये **'कप्पइ से'** कल्पते तस्य साधोः **'चाउलोदणे'** तन्दुलौदनः **'पडिग्गाहित्तए'** प्रतिग्रहीतुम् तन्दुलौदनस्य पूर्वायुक्तत्वात्, किन्तु **'नो से कप्पइ'** नो—नैव—तस्य-साधोः कल्पते **'भिलिंगसूवे'** मसूरसूपः **'पडिग्गाहित्तए'** प्रतिग्रहीतुं तस्य पश्चादायुक्तत्वात् ॥ सू० ४ ॥

पुनरेवाह--**'तत्थ पुव्वागमणेणं'** इत्यादि ।

सूत्रम्—तत्थ पुव्वागमणेणं पुव्वाउत्ते भिलिंगसूवे, पच्छाउत्ते चाउलोदणे, कप्पइ से भिलिंगसूवे पडिग्गाहित्तए, नो से कप्पइ चाउलोदणे पडिग्गाहित्तए ॥ सू० ५ ॥

छाया—तत्र पूर्वागमनेन पूर्वायुक्तो भिलिङ्गसूपः पश्चादायुक्तस्तन्दुलौदनः कल्पते तस्य भिलिङ्गसूपः प्रतिग्रहीतुम्, नो तस्य कल्पते तन्दुलौदनः प्रतिग्रहीतुम् ॥ सू० ५ ॥

भाष्यम्—अस्मिन् सूत्रे भिलिङ्गसूपः साधोः प्रतिग्रहीतुं कल्पते पूर्वायुक्तत्वात् किन्तु तन्दुलौदनो न कल्पते तस्य पश्चादायुक्तत्वादिति सूत्रभावः ॥ सू० ५ ॥

सूत्रम्—तत्थ से पुव्वागमणेणं दोवि पुव्वाउत्ते कप्पइ से दोवि पडिग्गाहित्तए ॥ सू० ६ ॥

छाया—तत्र तस्य पूर्वागमनेन द्वावपि पूर्वायुक्तौ कल्पते तस्य द्वावपि प्रतिग्रहीतुम् ॥ सू० ६ ॥

भाष्यम्—अस्मिन् सूत्रे तन्दुलौदनो भिलिङ्गसूपश्चेति द्वावपि प्रतिग्रहीतुं कल्पते तयोर्द्वयोरपि पूर्वायुक्तत्वात् ॥ सू० ६ ॥

सूत्रम्—तत्थ से पुव्वागमणेणं दोवि पच्छाउत्ते नो से कप्पइ दोवि पडिग्गाहित्तए ॥ सू० ७ ॥

छाया—तत्र तस्य पूर्वागमनेन द्वावपि पश्चादायुक्तौ नो तस्य कल्पते द्वावपि प्रतिग्रहीतुम् ॥ सू० ७ ॥

भाष्यम्—अस्मिन् सूत्रे भिलिङ्गसूपस्तन्दुलौदनश्च द्वावपि नो कल्पते द्वयोरपि पश्चादायुक्तत्वात् ॥ सू० ७ ॥

अत्र कल्पने कारणं प्रदर्शयति–'जे से तत्थ' इत्यादि ।

सूत्रम्—जे से तत्थ पुव्वागमणेणं पुव्वाउत्ते, से कप्पइ पडिग्गाहित्तए ॥ सू० ८ ॥

छाया—यः सः तत्र पूर्वागमनेन पूर्वायुक्तः स कल्पते प्रतिग्रहीतुम् ॥ सू० ८ ॥

भाष्यम्—यः सः कोऽपि पदार्थो गृहस्थगृहे साधुप्रायोग्यः अशनादिः स सर्वोऽपि साधोरागमनात्पूर्वमायुक्तः–सम्पन्नः स कल्पते प्रतिग्रहीतुमिति तात्पर्यार्थः ॥ सू० ८ ॥

अथाऽकल्पने कारणमाह–'जे से' इत्यादि ।

सूत्रम्—जे से तत्थ पुव्वागमणेणं पच्छाउत्ते, नो से कप्पइ पडिग्गाहित्तए ॥सू०९॥

छाया—यः स तत्र पूर्वागमनेन पश्चादायुक्तो नो तस्य कल्पते प्रतिग्रहीतुम् ॥सू०९॥

भाष्यम्—यः स कोऽपि पदार्थः साधोर्ग्रहणयोग्योऽशनादिर्गृहस्थगृहे साधोरागमनात्पश्चादायुक्तः–सम्पन्नः स कोऽपि पदार्थः साधोर्न कल्पते इति भावः ॥ सू० ९ ॥

पूर्वं बहुश्रुतबह्वागमस्य ज्ञातविधिगमने विधिः प्रदर्शितः । ज्ञातविधिं कृत्वा ततः प्रत्यावर्त्य उपाश्रये आगच्छति तत्र पादप्रस्फोटनादि चावश्यं करोतीति तद्विषये आचार्योपाध्यायस्य पञ्चातिशेषान् दर्शयति–'आयरियउवज्झायस्स' इत्यादि ।

सूत्रम्—आयरियउवज्झायस्य गणंसि पंच अइसेसा पन्नत्ता, तं जहा आयरियउवज्झाए अंतो उवस्सयस्स पाए निगिज्झिय निगिज्झिय पप्फोडेमाणे वा पमज्जमाणे वा नो अइक्कमइ ॥ सू० १० ॥

छाया—आचार्योपाध्यस्य गणे पञ्च अतिशेषाः प्रज्ञप्ताः तद्यथा-आचार्योपाध्यायः अन्त उपाश्रयस्य पादौ निगृह्य निगृह्य प्रस्फोटयन् वा प्रमार्जयन् वा नो अतिक्रामति ॥सू०१०॥

भाष्यम्—'आयरियउवज्झायस्स' आचार्योपाध्यायस्य आचार्यश्चोपाध्यायश्चेत्या-चार्योपाध्याय· आचार्यरूप उपाध्यायः यद्वा आचार्येण सहित उपाध्यायः आचार्योपाध्यायः, तस्याचार्योपाध्यायस्य 'गणंसि' गणे-गच्छमध्ये इत्यर्थः 'पंच अइसेसा पन्नत्ता' पञ्च-पञ्चसंख्यका अतिशेषाः- अतिशयाः सामान्यसाधोरनाचरणीयत्वात् प्रज्ञप्ताः—कथिताः। तानेव पञ्चातिशयान् दर्शयितुमाह—'तं जहा' इत्यादि, 'तं जहा' तद्यथा—'आयरियउव-ज्झाए' आचार्योपाध्यायः, आचार्यश्चोपाध्यायश्चेत्यर्थ., 'अंतो उवस्सयस्स' अन्तः उपाश्रयस्य वसतेर्मध्ये इत्यर्थ', 'पाए' पादौ स्वकीयचरणौ 'निगिज्झिय निगिज्झिय' निगृह्य निगृह्य—भूमौ यतनया—आस्फाल्यास्फाल्य 'पप्फोडेमाणे वा' प्रस्फोटयन्—तद्गतधूल्यादिमपनयन् 'पमज्जमाणे वा' प्रमार्जयन् वा वस्त्रादिना प्रोञ्छयन् वा 'नो अइक्कमइ' नो अतिक्रामति—तीर्थकराज्ञां नो-लङ्घयति, वाह्यत आगतस्य साधोः पादप्रमार्जनमुपाश्रयाद्वहिरेव करणीयं भवेत् किन्तु आचा-र्योपाध्यायस्य तदतिशयत्वेन प्रतिपादनान्न दोषः, यत आचार्योपाध्याया न किमपि कारणं विना एवं कुर्वन्ति, वहिर्गृहस्थानामुपस्थितौ एवं करणे शासनोड्डाहो भवति, यदेते असभ्या जैनसाधवः ये उपस्थितजने धूलिमुड्डापयन्तीत्यादि कारणवशात्ते एवं कुर्वन्ति ततो न तेषामाज्ञा-भङ्गादि दोषः समापद्येत तेषामतिशयत्वेन भगवता प्रतिपादितत्वात्। एषः एकोऽतिशयः ॥सू०१०॥

अथ द्वितीयमाह—'आयरिय' इत्यादि।

सूत्रम्—आयरियउवज्झाए अन्तो उवस्सयस्स उच्चारपासवणं विगिंचमाणे वा विसोहेमाणे वा नो अइक्कमइ ॥ सू० ११ ॥

छाया—आचार्योपाध्यायः अन्त उपाश्रयस्य उच्चारप्रस्रवणं विगिञ्चयन् वा विशोधयन् वा नो अतिक्रामति ॥सू० ११॥

भाष्यम्—'आयरियउवज्झाए' आचार्योपाध्यायः 'अंतो उवस्सयस्स' अन्तः—मध्ये उपाश्रयस्य 'उच्चारपासवणं' उच्चारप्रस्रवणम् 'विगिंचमाणे वा' विगिञ्चयन्—व्युत्सृ-जन् वा, 'विसोहेमाणे वा' भूमिं विशोधयन् वा 'नो अइक्कमइ' नो अतिक्रामति, उपा-श्रयमध्ये उच्चारप्रस्रवणं कुर्वन् आचार्यः तस्य यत् पुरीषादिकं विशोधयन् उच्चारादिपरिष्ठा-पकोऽपि नातिक्रामति। आचार्योपाध्यायस्य यदि प्रस्रवणादिवेगो भवेत्, तदा स उपा-श्रयमध्य एव तत् कुर्यात्, यदन्यः कश्चिद् उच्चारादि परिष्ठापको भवेत्तर्हि—आचार्यः,

द्वितीयवारं तृतीयवारं वा उपाश्रयाद्बहिरुच्चाराद्यर्थं गन्तुं न शक्नुयात्, यतो हि-मुहुर्मुहुर्बहिर्गमने श्रावकैर्वारं वारं विनयादिकं कर्त्तुं न पार्येत, इत्यवज्ञया शासनस्य लघुता स्यात्, अत एव द्वितीयादिवारं यद्युच्चारादिशङ्का भवेत् तदा तत्रैव तत् तेन कर्त्तव्यम्, तस्य बहिर्गमने तदनुपस्थितौ यदि कोऽपि अन्यतैर्थिको वादी सामायाति कस्तं निवारयेत्, इत्यादिकारणसंभवात्, तस्य विशोधकोऽपि शिष्यो विशुद्धिं कुर्वन् तीर्थकराज्ञां नातिक्रामति प्रत्युत महानिर्जरां करोतीति भावः। इति द्वितीयोऽतिशयः २ ॥ सू० ११ ॥

अथ तृतीयमतिशयमाह—'आयरियउवज्झाए' इत्यादि ।

सूत्रम्—आयरियउवज्झाए पभू वेयावडियं इच्छा करेज्जा इच्छा नो करेज्जा ॥ सू० १२ ॥

छाया—आचार्योपाध्यायः प्रभुः वैयावृत्त्यम् इच्छा कुर्यात् इच्छा नो कुर्यात् ॥ सू० १२ ॥

भाष्यम्---'आरियउवज्झाए पभू' आचार्योपाध्यायः प्रभुः समर्थः शरीरसामर्थ्यवानपि 'वेयावडियं इच्छा करेज्जा' वैयावृत्त्यम् अन्यसाधुभ्यो भक्तपानादीनामानयनादिकम् इच्छा कुर्यात् यदीच्छा भवेत्तदा कुर्यात् कर्त्तुं शक्नोति, 'इच्छा नो करेज्जा' इच्छा नो कुर्यात्, यदीच्छा न भवेत्तदा न कुर्यात्, आचार्योपाध्यायस्य सामर्थ्येऽपि वैयावृत्त्यकरणप्रतिबन्धाभावात्, यदीच्छेत् तस्येच्छा भवेत् तदा वैयावृत्त्यं कुर्यात् यदि नेच्छा भवेत्, तदा न कुर्यात् तस्यातिशयवत्त्वात्। एष तृतीयोऽतिशयः ३ ॥ सू० १२॥

अथ चतुर्थमतिशयमाह—'आयरियउवज्झाए' इत्यादि ।

सूत्रम्—'आयरियउवज्झाए अंतो उवस्सयस्स एगरायं वा दुरायं वा वसमाणे नो अइक्कमइ ॥ सू० १३ ॥

छाया—आचार्योपाध्यायः अन्तः उपाश्रयस्य एकरात्रं वा द्विरात्रं वा वसन् नो अतिक्रामति ॥ सू० १३ ॥

भाष्यम्—'आयरियउवज्झाए अंतो उवस्सयस्स' आचार्योपाध्यायः अन्तः-मध्ये उपाश्रयस्य वसतेः 'एगरायं वा दुरायं वा वसमाणे' एकरात्रं वा द्विरात्रं वा एकाकी वसन् 'नो अइक्कमइ' नातिक्रामति कथमपि तीर्थङ्कराज्ञां नोल्लङ्घयति, तस्योपाश्रयमध्ये एकाकिवासोऽपि कल्पते अतिशयवत्त्वात्। एषश्चतुर्थोऽतिशयः ४ ॥ सू० १३॥

अथ पञ्चममतिशयमाह—'**आयरियउवज्झाए**' इयादि ।

सूत्रम्—आयरियउवज्झाए बाहिं उवस्सयस्स एगरायं वा दुरायं वा वसमाणे नो अइक्कमइ ॥ सू० १४ ॥

छाया—आचार्योपाध्यायो बहिरुपाश्रयस्य एकरात्रं वा द्विरात्रं वा वसन् नो अतिक्रामति ॥ सू० १४ ॥

भाष्यम्—'**आयरियउवज्झाए**' आचार्योपाध्यायः '**बाहिं उवस्सयस्स**' बहिरुपाश्रयस्य वसतेर्बहिर्भागे '**एगरायं वा दुरायं वा वसमाणे नो अइक्कमइ**, एकरात्रं वा द्विरात्रं वा कारणवशाद् एकाकी वसन् नो अतिक्रामति न कथमपि अतिचारादिकं प्राप्नोति कारणिकज्ञानवत्त्वात् । इति पञ्चमोऽतिशयः । ५ । इत्येते पञ्चातिशया आचार्योपाध्यायानामेव भवन्ति तेषामागमकुशलत्वेन औचित्यतो वर्त्तनशीलत्वात् ॥ सू० १४ ॥

उक्ता आचार्योपाध्यायस्य पञ्चातिशयाः, सम्प्रति गणावच्छेदकस्यातिशयद्वयं भवेदिति प्रदर्शयन्नाह—'**गणावच्छेययस्स**' इत्यादि ।

सूत्रम्—गणावच्छेययस्स णं गणंसि दो अइसेसा पन्नत्ता तं जहा—गणावच्छेयए अंतो उवस्सयस्स एगरायं वा दुरायं वा वसमाणे नो अइक्कमइ॥ सू० १५ ॥

गणावच्छेयए बाहिं उवस्सयस्स एगरायं वा दुरायं वा वसमाणे नो अइक्कमइ ॥ सू० १६ ॥

छाया—गणावच्छेदकस्य खलु गणे द्वावतिशेषौ प्रज्ञप्तौ तद्यथा-गणावच्छेदकः अन्तरुपाश्रयस्य एकरात्रं वा द्विरात्रं वा वसन् नो अतिक्रामति ॥ सू० १५ ॥

गणावच्छेदको बहिरुपाश्रयस्य एकरात्रं वा द्विरात्रं वा वसन् नो अतिक्रामति ॥सू०१६॥

भाष्यम्—'**गणावच्छेययस्स**' गणावच्छेदकस्य '**गणंसि**' गणे स्वगणमध्ये '**दो अइसेसा पन्नत्ता**' द्वौ—द्विसंख्यकौ अतिशेषौ—अतिशयौ प्रज्ञप्तौ, नतु साधारणतः आचार्योपाध्यायवदस्य पञ्चातिशया भवन्ति। तदेवातिशयद्वयं प्रदर्शयति—'**तं जहा**' इत्यादि । '**तं जहा**' तद्यथा—'**गणावच्छेयए अंतो उवस्सयस्स**' गणावच्छेदकोऽन्तः—मध्ये उपाश्रयस्य '**एगरायं वा दुरायं वा**' एकरात्रम्—एकरात्रिपर्यन्तं वा, द्विरात्रं वा रात्रिद्वयं वा '**वसमाणे**' वसन् निवासं कुर्वन्, '**नो अइक्कमइ**' नो अतिक्रामति—अतिचारभाग् न भवति, इति प्रथमोऽतिशयः १ ॥ सू० १५ ॥

द्वितीयमाह—'**गणावच्छेयए**' गणावच्छेदकः '**बाहिं उवस्सयस्स**' बहिर्बाह्यभागे उपाश्रयस्य—वसतेः, '**एगरायं वा दुरायं वा वसमाणे**' एकरात्रम्—एकरात्रिपर्यन्तं वा, द्विरात्रं रात्रिद्वयं वा

वसन् निवासं कुर्वन् 'नो अइक्कमइ' नो कथमपि अतिक्रामति अतिचारवान् न भवति, कारणाकारण-ज्ञानकुशलत्वात् । एतौ द्वावपि सूत्रोक्तावतिशयौ तस्यैव गणावच्छेदकस्य भवतः, यो हि गणावच्छेदको नियमतः आचार्यो भविता भविष्यति वा । यः पुनर्गणावच्छेदको गणावच्छेदकत्वे वर्त्तमान आचार्यपदानर्हः तस्य सूत्रोक्तौ अतिशयौ न भवतः ॥ सू० १६ ॥

उक्ता आचार्योपाध्यायगणावच्छेदकानामतिशयाः, सम्प्रति वसतिवासप्रसङ्गात् अगीतार्थानामेकप्राकारादियुक्तवसतौ वासनिषेधमाह—'से गामंसि वा' इत्यादि ।

सूत्रम्—से गामंसि वा जाव रायहाणिंसि वा एगवगडाए एगदुवाराए एगनिक्खमणप्पवेसाए नो कप्पइ बहूणं अगडसुयाणं एगयओ वत्थए, अत्थि य इत्थ ण्हं केइ आयारपकप्पधरे नत्थि य इत्थ ण्हं केइ छेए वा परिहारे वा, नत्थि य इत्थ ण्हं केइ आयारपकप्पधरे से संतरा छेए वा परिहारे वा ॥ सू० १७ ॥

छाया—अथ ग्रामे वा यावद्राजधान्यां वा एकवगडायां वा एकद्वारायां वा एकनिष्क्रमणप्रवेशायां वा नो कल्पते बहूनाम्-अकृतश्रुतानामेकतो वस्तुम् , अस्ति चात्र खलु कश्चिदाचारप्रकल्पधरः नास्ति चात्र खलु कश्चित् छेदो वा-परिहारो वा, नास्ति चात्र कश्चिद् आचारप्रकल्पधरः तेषां सान्तरात् छेदो वा परिहारो वा ॥ सू० १७ ॥

भाष्यम्—'से गामंसि वा' अत्र 'से'-शब्दोऽथशब्दार्थवाचकः, ततश्च 'से' अथ ग्रामे, 'जाव रायहाणिंसि वा' यावद् राजधान्यां वा, अत्र यावत्पदेन—'**नगरंसि वा खेडंसि वा कब्बडंसि वा मडंबंसि वा दोणमुहंसि वा पट्टणंसि वा णिगमंसि वा आसमंसि वा संवाहंसि वा संनिवेसंसि वा**' इति संग्राह्यम् । नगरे वा खेटे वा कर्वटे वा मडम्बे वा द्रोणमुखे वा पट्टने वा (पत्तने वा) आश्रमे वा संवाहे वा संनिवेशे वा, इतिच्छाया । तत्र ग्रामः—वृतिवेष्टितः, आकरः—सुवर्णरत्नाद्युत्पत्तिस्थानम्, नगरम्—अष्टादशकरवर्जितं जननिवासस्थानम्, खेटं—धूलिप्राकारपरिक्षिप्तम्, कर्बटम्—कुत्सितनगरम्, मडम्बं—सार्धक्रोशद्वयान्तग्रामान्तररहितम्, द्रोणमुखं—जलस्थलपथोपेतो जननिवासः, पत्तनं—समस्तवस्तुप्राप्तिस्थानम् तद् द्विविधं भवति जलपत्तन स्थलपत्तनं चेति, नौभिर्यत्र गम्यते तज्जलपत्तनम्, यत्र च शकटादिभिर्गम्यते तत् स्थलपत्तनम्, यद्वा शकटादिभिर्नौभिर्वा यद्गम्यं तत् पत्तनम्, यत् केवलं नौभिरेव गम्यं तत् पट्टनम्, उक्तञ्च—"पत्तनं शकटैर्गम्यं, घोटकैर्नौभिरेव च । नौभिरेव तु यद्गम्य, पट्टनं तत् प्रचक्षते" ॥ १ ॥

निगमः—प्रभूततरवणिग्जननिवासः, आश्रमः—तापसैरावासितः, पश्चादपरोऽपि लोकस्तत्रागत्य वसति, संवाहः—कृषीवलैर्धान्यरक्षार्थं निर्मितं दुर्गभूमिस्थानम् पर्वतशिखरस्थितजननिवासः, समागतप्रभूतपथिकजननिवासो वा, संनिवेशः—समागतसार्थवाहादिनिवासस्थानम्। एषु ग्रामादिषु, **'एगवगडाए'** एकवगडायाम् एका वगडा परिक्षेपः प्राकारः प्रकोटा इति लोकप्रसिद्धो यस्यां सा—एकवगडा, तस्यामेकवगडायाम्। तथा—**'एगदुवाराए'** एकद्वारायाम् एकं द्वारं यस्याः सा एकद्वारा तस्याम्, तथा **'एगनिक्खमणपवेसाए'** एकनिष्क्रमणप्रवेशायाम्, एकं निष्क्रमणं—वहिर्निर्गमनमार्गः, एकः प्रवेशः—प्रवेशमार्गो यस्याः सा एकनिष्क्रमणप्रवेशा तस्याम् एतादृश्यां वसतौ इति शेषः, **'नो कप्पइ'** नो कल्पते—न युज्यते। केषामेतादृशवसतौ वासो न कल्पते? तत्राह—**'बहूणं'** इत्यादि, **'बहूणं अगडसुयाणं'** बहूनाम्—अनेकेषाम् अकृतश्रुतानाम्—अनधिगताचाराङ्गनिशीथादिसूत्राणाम् अगीतार्थानामशिवादिकारणवशादेकत्र संप्राप्तानाम् **'एगयओ'** एकतः—एकत्र एकस्थाने मिलित्वा वस्तुं—वासं कर्त्तुम् ऋतुबद्धकाले वर्षाकाले वा न कल्पते इति पूर्वेण सम्बन्धः। यतः अगीतार्थसंगस्य दोषबाहुल्यात् तेषाम् ऋतुबद्धकाले वसतां मासलघु, वर्षाकाले चतुर्लघुकं प्रायश्चित्तं भवतीति। अपवादमाह—**'अत्थि य इत्थ णं केइ आयारपकप्पधरे'** अत्र **'णं'** शब्दो वाक्यालङ्कारे, अस्ति चात्र यथोक्तविशेषणविशिष्टायां वसतौ कश्चित् आचारप्रकल्पधरः—आचाराङ्ग—निशीथादिसूत्रधारकः एकोऽपि यदि भवेत् तदा तादृशवसतौ ऋतुबद्धकाले वर्षाकाले वा निवासकरणेऽपि, **'नत्थि य इत्थ णं केइ छेए वा परिहारे वा'** नास्ति—न भवति अत्र वसतौ वासेऽपि तेषां वसतां कश्चित् छेदो वा परिहारो वा, आचारप्रकल्पधराधिष्ठितयथोक्तवसतौ बहूनामकृतश्रुतानां वर्षाकाले ऋतुबद्धकाले वा निवसतां छेदनामकं परिहारनामकमन्यद्वा प्रायश्चित्तं न भवतीति भावः। गीतार्थेन सह वसतां केन कारणेन प्रायश्चित्तं न भवति, यतो हि—गीतार्थस्तेषां मार्गदेशको भवति, यथा केचित्पुरुषा अटव्यां मार्गभ्रष्टा भवन्ति तत्र कश्चिन्मार्गदेशकस्तान् मार्गं प्रदर्श्य नगरं प्रवेशयति, एवं गीतार्थोऽपि मोक्षपथपरिभ्रष्टानां मोक्षपथप्रदर्शको भवति तेन सह वसतां न किमपि प्रायश्चित्तं भवति, न तथा अगीतार्थ इति। **'नत्थि य इत्थ णं केइ आयारपकप्पधरे'** नास्ति—न विद्यते चात्र यथोक्तवसतौ खलु कश्चिदाचारप्रकल्पधरः-आचाराङ्गनिशीथादिसूत्रार्थज्ञाता, तदा तादृशवसतौ वासकरणे **'से संतरा छेए वा परिहारे वा'** तेषां सान्तरात् यावतो दिवसान् तत्र स्थितास्तावत्प्रमाणरूपात् स्वकृतात् अपराधात् छेदो वा परिहारो वा, आचारप्रकल्पधराऽनधिष्ठितवसतौ वासकरणात् तेषां छेदनामकं परिहारनामकमन्यद्वा यथाशास्त्रं यथाकालं च प्रायश्चित्तं भवतीति भावः॥ सू० १७॥

पूर्वसूत्रे अगीतार्थानामेकप्राकारैकद्वारादिविशिष्टवसतिमधिकृत्य निषेधः कृतः, सम्प्रति अनेकद्वारानेकप्राकारविशिष्टवसतौ गीतार्थनिश्रिता ये वसन्ति तानधिकृत्य प्रदर्शयितुमाह— 'से गामंसि वा' इत्यादि।

सूत्रम्—से गामंसि वा जाव रायहाणिंसि वा अभिनिव्वगडाए अभिनिदुवाराए अभिनिक्खमणपवेसाए नो कप्पइ बहूणंपि अगडसुयाणं एगयओ वत्थए, अत्थि य इत्थ एहं केइ आयारपकप्पधरे, जे तइयं रयणिं संवसइ, नत्थि य इत्थ केइ छेए वा परिहारे वा, नत्थि य इत्थ केइ आयारपकप्पधरे जे तइयं रयणिं संवसइ सव्वेसिं तेसिं तप्पत्तियं छेए वा परिहारे वा ॥सू० १८॥

छाया—अथ ग्रामे वा यावद् राजधान्यां वा अभिनिवगडायाम् अभिनिद्वारायाम् अभिनिष्क्रमणप्रवेशायाम् नो कल्पते बहूनामपि अकृतश्रुतानाम् एकतो वस्तुम् , अस्ति चात्र कश्चिद् आचारप्रकल्पधरो यस्तृतीयां रजनीं संवसति, नास्ति चात्र कश्चित् छेदो वा परिहारो वा, नास्ति चात्र कश्चिद् आचारप्रकल्पधरो यस्तृतीयां रजनीं संवसति, तेषां सर्वेषां तत्प्रत्ययं छेदो वा परिहारो वा ॥ सू० १८॥

भाष्यम्—'से गामंसि वा जाव रायहाणिंसि वा' अथाऽनन्तरं ग्रामे वा अत्र यावत्पदेन नगरे वा खेटे वा, कर्बटे वा, मडम्बे वा, द्रोणमुखे वा, पट्टने वा (पत्तने वा) निगमे वा आश्रमे वा, संबाहे वा, सन्निवेशे वा, इति संग्राह्यम् , ग्रामादिराजधानीपर्यन्तेषु जननिवासस्थानेषु 'अभिणिव्वगडाए' अभिनिवगडायाम्, तत्राऽभि—प्रत्येकं पृथक् पृथक् नियता वगडा परिक्षेपो यस्यां सा अभिनिवगडा तस्यां पृथक् पृथक् परिक्षेपवत्या वसतौ 'अभिनिदुवाराए' अभिनिद्वारायाम् प्रत्येकं पृथक् पृथग् नियतद्वारवत्याम्, 'अभिणिक्खमगपवेसाए' अभिनिष्क्रमणप्रवेशायाम्, तत्राऽभि-प्रत्येकं पृथक् पृथग् निष्क्रमणं बहिर्गमनं प्रवेशोऽन्तर्गमनं निष्क्रमणप्रवेशमार्गो यस्या सा—अभिनिष्क्रमणप्रवेशा तस्यां वसतौ 'नो कप्पइ' नो कल्पते, 'बहूणंवि अगडसुयाणं' बहूनामनेकेषामपि अकृतश्रुतानाम्, न कृतानि—नाधीतानि श्रुतानि—आचाराङ्गनिशीथादिसूत्रजातानि यैस्ते—अकृतश्रुताः अनधीतसूत्रार्थाः—अगीतार्था इत्यर्थः, तेषामकृतश्रुतानामनेकेषामपि 'एगयओ वत्थए' एकत एकत्र वस्तुं—निवासं कर्तुं न कल्पते इति, किं सर्वथैवाऽकृतश्रुतानाम् एकत्र वसतौ निवासो न कल्पते ? इति न, यदि तत्र तन्मध्ये कोऽपि—आचारप्रकल्पधरो विद्यते, तदा-तेषां तत्र गीतार्थस्य निश्रया एकत्र वासः कल्पते,

तदेव दर्शयति–'अत्थि' इत्यादि, 'अत्थि य इत्थ केइ आयारपकप्पधरे' अस्ति–विद्यते चाऽत्र कश्चिद् आचारप्रकल्पधरः–आचाराङ्गनिशीथादिसूत्रार्थयोर्ज्ञाता गीतार्थः, 'जे तइयं रयणिं संवसइ' य आचारप्रकल्पधरः तृतीयां रजनीं रात्रिं तृतीयरात्रौ इत्यर्थः अकृतश्रुतसंवासानन्तरं रात्रिद्वयं मुक्त्वा तृतीयस्यां रजन्यामागत्य तैरनेकैरकृतश्रुतैः सह संवसेत् तैः सह मिलित्वा तत्र निवासं कुर्यात्, यदि–एतादृशः कश्चिदाचारप्रकल्पधरो भवेत् यस्तृतीयदिवसे तैः सह मिलेत् तदा–'नत्थि य इत्थ केइ छेए वा परिहारे वा' नास्ति चात्र कश्चित् छेदो वा परिहारो वा, अकृतश्रुतसहवासजनितं छेदनामकं परिहारनामकमन्यद्वाऽपि प्रायश्चित्तं न भवति, तेषां गीतार्थनिश्राप्राप्तत्वात्। अथ च 'नत्थि य इत्थ केइ आयारपकप्पधरे' नास्ति चात्र कश्चिदाचारप्रकल्पधरः 'जे तइयं रयणिं संवसइ' य आचारप्रकल्पधरस्तृतीयां रजनीं–रात्रिं संवासानन्तरं तृतीयस्यां रजन्यामित्यर्थ तैः सह संवसति, यदि–तत्र कश्चिदाचारप्रकल्पधरस्तृतीयस्यां रात्रावपि समागत्य तत्र न वसेत्, यो हि तैः सह तृतीयदिवसेऽपि संमिलितो न भवेत् तदा–'सव्वेसिं तेसिं तप्पत्तियं छेए वा परिहारे वा' सर्वेषां तेषा तत्र वसतां निर्ग्रन्थानां तत्प्रत्ययम्–अगीतार्थसहवासनिमित्तकं छेदो वा परिहारो वा, यदि तत्र कश्चिद गीतार्थो न भवेत् तदा–तत्र वसतां सर्वेषामपि अकृतश्रुतानां छेदनामकं--परिहारनामकमन्यदपि देशकालोचितं प्रायश्चित्तं भवत्येवेति ॥ सू० १८ ॥

पूर्वमकृतश्रुतानामकृतश्रुतसंवन्धेन एकाकिनां गीतार्थसहवासमन्तरेण वस्तुं न कल्पते इति प्रोक्तम्, एकाकिप्रसङ्गादत्र पृथक् पृथग् द्वारादियुक्तायां वसतौ बहुश्रुतबह्वागमस्य भिक्षुकस्यैकाकिनो वस्तुं न कल्पते इति प्रदर्शयन्नाह—'से गामंसि वा' इत्यादि ।

सूत्रम्—से गामंसि वा जाव रायहाणिंसि वा अभिनिव्वगडाए अभिनिदुवाराए अभिनिक्खमणपवेसाए नो कप्पइ बहुस्सुयस्स बब्भागमस्स भिक्खुयस्स वत्थए, किमंग पुण अप्पागमस्स अप्पसुयस्स ॥ सू० १९ ॥

छाया—अथ ग्रामे वा यावद् राजधान्यां वा अभिनिवगडायाम् अभिनिद्वारायाम् अभिनिष्क्रमणप्रवेशायाम् नो कल्पते बहुश्रुतस्य बह्वागमस्य भिक्षुकस्य वस्तुम् किमङ्ग पुनरल्पागमस्याऽल्पश्रुतस्य ॥ सू० १९ ॥

भाष्यम्—'से गामंसि वा जाव रायहाणिंसि वा' अथ ग्रामे वा यावद् राजधान्यां वा 'अभिनिव्वगडाए' अभिनिवगडायाम्–अनेकप्राकारपरिक्षिप्तायाम् 'अभिनिदुवाराए' अभिनिद्वारायाम्—अनेकद्वारवत्याम्, 'अभिनिक्खमणपवेसाए' अभिनिष्क्रमणप्रवेशायाम्

यत्राऽनेको निष्क्रमणस्य प्रवेशस्य च मार्गो भवति तस्यामनेकनिष्क्रमणप्रवेशमार्गायां वसतौ 'नो कप्पइ' नो कल्पते 'बहुस्सुयस्स' बहुश्रुतस्य- सूत्रतोऽधीताऽनेकागमस्य 'बब्भागमस्स' बह्वागमस्य -अर्थतो ज्ञाताऽनेकागमस्य, य आवश्यकदशवैकालिकोत्तराध्ययन-ज्ञानवान् स बह्वागम आख्यायते, यः पुनर्द्वित्रिसूत्रज्ञानवान् सोऽल्पश्रुत', यस्तु सूत्राणि अनेकानि जानाति, अर्थं तु द्वित्राणामेव सोऽल्पाऽऽगमस्तस्य 'भिक्खुयस्स' भिक्षुकस्य साधोरेकाकिनः 'वत्थए' वस्तुं--निवासं कर्त्तुं न कल्पते 'किमंग पुण अप्पागमस्स अप्पसुयस्स' किमङ्ग पुनः -किमुत अल्पश्रुतस्याऽल्पागमस्य एकाकिनः सामान्यभिक्षुकस्य पृथग् निवासः कल्पते तस्य सुतरामेव न कल्पते--इति तात्पर्यम् । यदा- बहुश्रुतस्य बह्वागमस्यैकाकिनो निवासो न कल्पते तदा--अल्पश्रुतस्याऽल्पागमस्यैकाकिनस्तु कथमपि न कल्पते इति भावः ॥ सू० १९ ॥

पूर्वमेकाकिना वसतेरन्तर्बहिर्वा न वस्तव्यमित्यधिकृत्य कथितम्, सम्प्रति--बहुश्रुतस्योभयकालं भिक्षुभावप्राप्तस्यैकाकिनोऽपि एकवगडादियुक्तायां वसतौ वासः कल्पते, इत्यधिकृत्य सूत्रमाह--'से गामंसि वा' इत्यादि ।

सूत्रम्—से गामंसि वा नगरंसि वा जाव रायहाणिंसि वा एगवगडाए एगदुवाराए एगनिक्खमणपवेसाए कप्पइ बहुस्सुयस्स बब्भागमस्स एगाणियस्स भिक्खुस्स वत्थए, दुहओ कालं भिक्खुभावं पडिजागरमाणस्स ॥ सू० २० ॥

छाया—अथ ग्रामे वा नगरे वा यावद् राजधान्यां वा एकवगडायाम् एकद्वारायाम् एकनिष्क्रमणप्रवेशायाम् कल्पते बहुश्रुतस्य बह्वागमस्य एकाकिनो भिक्षोर्वस्तुम्, उभयकालं भिक्षुभावं प्रतिजाग्रतः ॥ सू० २० ॥

भाष्यम्—'से गामंसि वा नगरंसि वा जाव रायहाणिंसि वा' अथ ग्रामे वा नगरे वा यावद् राजधान्यां वा 'एगवगडाए' एकवगडायां वा—एकप्राकारविशिष्टायां वसतौ, 'एकदुवाराए' एकद्वारायां एकमेव द्वारं यत्र तस्याम्, 'एगनिक्खमणपवेसाए' एक निष्क्रमणप्रवेशायाम् यत्र एक एव निष्क्रमणमार्गः प्रवेशमार्गश्च तथाविधाया वसतौ, 'कप्पइ' कल्पते 'बहुस्सुयस्स' बहुश्रुतस्य—सूत्रापेक्षयाऽनेकशास्त्रकुशलस्य 'बब्भागमस्स' बह्वागमस्य—अर्थापेक्षयाऽनेकागमज्ञानवतः, 'एगाणियस्स' एकाकिन. सहायकरहितस्येत्यर्थ., 'भिक्खुस्स' भिक्षोः—श्रमणस्य 'वत्थए' वस्तुं—वासं कर्तुम् । कथमेकाकिनः कल्पते तत्राह—'दुहओ' इत्यादि, 'दुहओ कालं' उभयकालम् उपलक्षणादहोरात्रम्, 'भिक्खुभावं' भिक्षुभावम्—भावभिक्षुतां निरतिचारचारित्रमित्यर्थः 'पडिजागरमाणस्स' प्रतिजाग्रतः—दत्तावधानेन परिपालयतः, चारित्राराधनार्थं या सामाचारी तां कुर्वतः, चारित्रे दोषलेशो नापद्येतेति, तत्र अहर्निशं यतनां कुर्वतः एवम्भूतस्य एकवगडादिविशेषणविशिष्टायां वसतौ वस्तुमेकाकिनोऽपि कारणे कल्पते नान्यस्येति भावः ।

अष्टगुणवान् भिक्षुरेकाकिविहारप्रतिमाप्रतिपन्नो भवितुमर्हति उक्तञ्च–स्थानाङ्गे दशमे-स्थाने--'अट्ठहिं ठाणेहिं अणगारे अरिहइ एगल्लविहारपडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए तंजहा-सड्ढी पुरिसजाए १, सच्चे पुरिसजाए २, मेहावी पुरिसजाए ३, बहुस्सुए पुरिसजाए ४, सत्तिमं ५, अप्पाहिगरणे ६, धिइमं ७, वीरियसंपन्ने ८, छाया–श्रद्धी पुरुषजातम् (पुरुष–प्रकारः) १, सत्यः पुरुषजातम् २, मेधावी पुरुषजातम् ३, बहुश्रुतः पुरुषजातम् ४, शक्तिमान् ५, अल्पाधिकरणः ६, धृतिमान् ७, वीर्यसंपन्नः ८ ॥ इति सू० २० ॥

पूर्वं बहुश्रुतबह्वागमस्याऽहर्निशं भिक्षुभावं प्रतिजाग्रत एकाकिवासः प्रतिपादितः, एवं तर्हि एकवगडादियुक्तवसतौ सामान्यश्रमणस्यैकाकिवासे को दोषः ? इति श्रमणस्यैकाकिवासे दोषान् प्रदर्शयन्नाह–'जत्थ एए बहवे' इत्यादि ।

सूत्रम्—जत्थ एए बहवे इत्थीओ पुरिसा य पण्हावेंति तत्थ से समणे निग्गंथे अन्नयरंसि अचित्तंसि सोयंसि सुक्कपोग्गले णिग्घायमाणे हत्थकम्मपडिसेवणपत्ते आवज्जइ मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ॥ सू० २१ ॥

छाया—यत्र एते बहवः स्त्रियः पुरुषाश्च प्रस्नुवन्ति तत्र स श्रमणो निर्ग्रन्थोऽन्यतरस्मिन् अचित्ते स्रोतसि शुक्रपुद्गलान् निर्घातयन् हस्तकर्मप्रतिसेवनप्राप्तः आपद्यते मासिकं परिहारस्थानमनुद्घातिकम् ॥ सू० २१ ॥

भाष्यम्—'जत्थ एए बहवे' यत्र–यस्याम् एकवगडादिविशेषणविशिष्टायां वसतौ एते प्रत्यक्षतः परिदृश्यमानाः बहवोऽनेके 'इत्थीओ पुरिसा य' स्त्रियः पुरुषाश्च 'पण्हावेंति' प्रस्नुवन्ति–प्रस्पन्दन्ते–एकान्तस्थानत्वेन तत्र संमील्य मैथुनं सेवितुमारभन्ते 'तत्थ से समणे निग्गंथे' तत्र तस्मिन् प्रदेशे यत्र प्रदेशे बहवः स्त्रीपुरुषाः मैथुनं प्रारभमाणास्तिष्ठन्ति तादृशक्षेत्रविशेषे तेषां मैथुनकर्म चक्षुषाऽवलोक्य य एकाकी स्थितः स श्रमणो निग्रन्थः तत उदीर्णवेदः सन् 'कोऽत्र मां पश्यति' इति कृत्वा 'अन्नयरंसि अचित्तंसि सोयंसि' अन्यतरस्मिन् अचित्ते स्रोतसि, तत्रान्यतरस्मिन्–हस्तकर्माद्युचिते युगनालिकादिछिद्रे 'सुक्कपोग्गले णिग्घायमाणे' हस्तकर्मभावनया शुक्रपुद्गलान् निर्घातयन्–निष्कासयन् 'हत्थकम्मपडिसेवणपत्ते' हस्तकर्मप्रतिसेवनप्राप्तः–हस्तकर्मभावनया तत्रासक्तत्वात् हस्तकर्मप्रतिसेवनादोषं प्राप्तः सन् 'आवज्जइ' आपद्यते-प्राप्नोति 'मासियं' मासिकम् 'परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं' परिहारस्थानम् अनुद्घातिकम्, गुरुचातुर्मासिकमनुद्घातिकं परिहारनामकं प्रायश्चित्तं प्राप्नोतीति भावः, तस्मात् श्रमणेन एकाकिना एकान्तस्थाने न स्थातव्यमिति सूत्राशयः ॥ सू० २१ ॥

पूर्वं हस्तकर्मप्रत्ययिकं प्रायश्चित्तसूत्रमुक्तम्, सम्प्रति मैथुनप्रत्ययिकप्रायश्चित्ताभिधायकं सूत्रमाह—'जत्थ एए बहवे' इत्यादि।

सूत्रम्—जत्थ एए बहवे इत्थीओ पुरिसा य पण्हावेंति तत्थ से समणे णिग्गंथे अन्नयरंसि अचित्तंसि सोयंसि सुक्कपोग्गले णिग्घायमाणे मेहुणपडिसेवणपत्ते आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ॥ सू० २२ ॥

छाया—यत्रैते बहवः स्त्रियः पुरुषाश्च प्रस्नुवन्ति तत्र स श्रमणो निर्ग्रन्थोऽचित्ते स्रोतसि शुक्रपुद्गलान् निर्घातयन् मैथुनसेवनाप्राप्तः आपद्यते चातुर्मासिकं परिहारस्थान मनुद्घातिकम् ॥ सू० २२ ॥

भाष्यम्—'जत्थ' यत्रप्रदेशे 'एए' एते–प्रत्यक्षत उपलभ्यमानाः 'इत्थीओ पुरिसाय' स्त्रियः पुरुषाश्च 'पण्हावेंति प्रस्नुवन्ति मैथुनाख्यमब्रह्मकर्म समाचरन्ति 'तत्थ से समणे णिग्गंथे' तत्र–तस्मिन् प्रदेशे मैथुनकर्म दृष्ट्वा उदीर्णमोहः–संयमाच्चलितमनाः स श्रमणो निर्ग्रन्थः 'अन्नयरंसि' अन्यतरस्मिन् 'अचित्तंसि सोयंसि' अचित्ते-मैथुनाद्युचिते स्रोतसि युगनालिकाछिद्रे 'सुक्कपोग्गले णिग्घायमाणे' शुक्रपुद्गलान् निर्घातयन् 'मेहुणपडिसेवणपत्ते' मैथुनप्रतिसेवनप्राप्तः मैथुनकर्मप्रतिसेवनभावनया प्रसक्तो भवति, स च तथा प्रसक्तः 'आवज्जइ' आपद्यते–प्राप्नोति, 'चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं' गुरुचातुर्मासिकं परिहारस्थानं परिहारनामकं प्रायश्चित्तस्थानम् अनुद्घातिकम् । इदं सूत्रद्वयं निर्ग्रन्थीविषयेऽपि अनुसन्धातव्यमिति ॥ सू० २२ ॥

पूर्वमभिनिवगडादिका वसतिरुक्ता, तत्र वसतो निर्ग्रन्थस्य प्रायश्चित्तविधिः प्रतिपादितः, सम्प्रति–तादृग्वसतौ निर्ग्रन्थ्योऽपि संवसन्ति, तत्र तासां मध्ये काचिन्निर्ग्रन्थी वसतिदोषेण उदीर्णप्रबलवेदा दोषबहुला सामाचारीप्रमादपरा सती गणादपक्रामेत्, तया सह निर्ग्रन्थ–निर्ग्रन्थीभिः कथं वर्त्तितव्यमिति तद्विधिसूत्रमाह—'नो कप्पइ' इत्यादि ।

सूत्रम्—नो कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा निग्गंथिं अन्नगणाओ आगयं खुयायारं सबलायारं भिन्नायारं संकिलिट्ठायारचरित्तं तस्स ट्ठाणस्स अणालोयावेत्ता अपडिक्कमावेत्ता अनिंदावेत्ता अगरिहावेत्ता अविउट्टावेत्ता अविसोहावेत्ता अकरणाए अणब्भुट्ठावेत्ता अहारिहं पायच्छित्तं तवोकम्मं अपडिवज्जावेत्ता उवट्ठावेत्तए वा संभुंजित्तए वा संवसिएत्त वा तीसे इत्तरियं दिसं वा अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ॥ सू० २३ ॥

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा निर्ग्रन्थीम् अन्यगणादागतां क्षताचारां शबलाचारां भिन्नाचारां संक्लिष्टाचारचारित्रां तस्य स्थानस्य अनालोच्य अप्रतिक्राम्य अनिन्दयित्वा अगर्हयित्वा अविकुट्य अविशोध्य अकरणाय अनभ्युत्थाप्य

यथार्हं प्राश्चित्तं तपःकर्म अप्रतिपाद्य उपस्थापयितुं वा संभोक्तुं वा संवस्तुं वा तस्या इत्वरिकां दिशं वा अनुदिशं वा उद्देष्टुं वा धारयितुं वा ॥ सू० २३ ॥

भाष्यम्—'नो कप्पइ' नो कल्पते 'णिग्गंथाण वा निग्गंथीण वा' निर्ग्रन्थानां श्रमणानां पुनश्च निर्ग्रन्थीनां श्रमणीनाम् 'णिग्गंथिं' निर्ग्रन्थीं—श्रमणीम् 'अन्नगणाओ आगयं' अन्यगणात् गणान्तराद् आगताम् पापस्थानसेवने प्रायश्चित्तग्रहणभयात् आगताम्, कीदृशीमित्याह—'खुयायारं' क्षताचाराम्-क्षतो विनिष्ट आचारो—ज्ञानाद्याऽऽचारो यस्याः सा क्षताचारा ताम् । 'सबलायारं' शवलाचाराम् शवलः—कर्वुरः दूषितः आचारो विनयादिरूपः साध्वाचारो यस्या. सा शवला-चारा दूषिताचारा ताम् । 'भिन्नायारं' भिन्नाऽऽचाराम्—भिन्नः—भेदमापन्न आचारो यस्या· सा भिन्नाचारा ताम् । 'संकिलिट्ठायारचरित्तं' संक्लिष्टाऽऽचारचारित्राम् संक्लिष्टं क्रोधादिना मलिनम् आचारविशिष्टं चारित्रं यस्या. सा तथा ताम्, पुनश्च—'तस्स ठाणस्स' तस्य स्थानस्य यस्मिन् स्थाने प्रतिसेविते सति क्षताचारादिविशिष्टा जाता तस्य स्थानस्य 'अणालोएत्ता वा' अनालोच्य—तस्य पापस्थानस्याऽऽलोचनामकारयित्वा 'अपडिक्कमावेत्ता' अप्रतिक्रम्य तस्मा-त्पापस्थानादपरावर्त्य 'अनिंदावेत्ता' अनिन्दयित्वा तस्य पापस्थानस्याऽऽत्मसाक्षिकीं निन्दा-मकारयित्वा 'अगरिहावेत्ता' अगर्हयित्वा—गुरुसाक्षिकीं गर्हामकारयित्वा 'अविउट्टावेत्ता' अविकुट्य—अतिचारसम्बन्धमविच्छेद्य अतिचारात् पृथग् अकृत्वेत्यर्थ· 'अविसोहावेत्ता' अवि-शोध्य तस्य पापस्थानस्य शोधनमकारयित्वा 'अकरणाए अणब्भुट्ठावेत्ता' तस्य पापस्थानस्य पुन-रकरणाय अनभ्युत्थाप्य 'अहारिहं पायच्छित्तं तवोकम्मं अपडिवज्जावेत्ता' यथार्हं—यथा-योग्यं प्रायश्चित्तं तप.कर्म अप्रतिपाद्य—अस्वीकार्य तां निर्ग्रन्थीम् 'उवट्ठावेत्तए वा' पुनर्महा-व्रतेषु उपस्थापयितुम्, 'सभुंजित्तए वा' संभोक्तुं वा तया अकृतप्रायश्चितया सह एकमण्डले आहारादि कर्त्तुम्, 'संवसित्तए वा' संवस्तुं वा तया सह वसतौ स्थातुं वा, पुनश्च—'तीसे' तस्याः 'इतरियं दिसं वा' इत्वरिकां दिशं वा अल्पकालिकीं प्रवर्तिन्यादिपदवीम् 'अणुदिसं वा' अनुदिशं वा यावज्जीविकां वा प्रवर्त्तिन्यादिपदवीम् 'उद्दिसित्तए वा' उद्देष्टुं—दातुं न कल्पते एवम् 'धारित्तए वा' धारयितुं वा तस्याः स्वस्याः पदवीं धर्तुं वा न कल्पते, पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टया निर्ग्रन्थ्या सह किमपि प्रकारकं परिचयजातं निर्ग्रन्थ्या निर्ग्रन्थस्य न कल्पते, यथा कुथितनागवल्लीदलसंपर्केण अकुथितान्यपि दलानि कुथितानि जायन्ते तथैव क्षताचारादि-विशेषणविशिष्टाया निर्ग्रन्थ्या· सहवासादन्या अपि निर्ग्रन्थ्यस्तादृश्यो भवन्ति । अत्राशङ्कते कोऽपि—'पमायरहिया जा उ, सा कहं सबला भवे' प्रमादरहिता या तु सा कथं शवला भवेत् ? उत्तरमाह—'संवासमाइदोसेणाऽसबला सबला भवे' संवासादिदोषेण अशबला शवला भवेत्, इति ॥ १ ॥ तस्मात्तादृश्या निर्ग्रन्थ्या· सहवासो वर्जनीय इति । एवं पूर्वोक्तविशेषण-विशिष्टस्य निर्ग्रन्थस्य विषयेऽपि सूत्रमनुसंधातव्यमिति ॥ सू० २३ ॥

पूर्वं क्षताचारादिविशेषणविशिष्टाया निर्ग्रन्थ्याः सहवासो निषिद्धः, साम्प्रतं तद्विपर्यये सूत्रमाह–'कप्पइ' इत्यादि ।

सूत्रम्–कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा णिग्गंथिं अन्नगणाओ आगयं खुयायारं सवलायारं भिन्नायारं संकिलिट्ठायारचरित्तं तस्स ठाणस्स आलोयावेत्ता पडिक्कमावेत्ता निंदावेत्ता गरिहावेत्ता विउट्टावेत्ता विसोहावेत्ता अकरणाए अब्भुट्ठावेत्ता अहारिहं पायच्छित्तं तवोकम्मं पडिवज्जावेत्ता उवट्ठावेत्तए वा संभुंजित्तए वा संवसित्तए वा, तीसे इत्तरियं दिसं वा अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ॥ सू० २४ ॥

॥ ववहारे छट्ठो उद्देसो समत्तो ॥ ६ ॥

छाया—कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा निर्ग्रन्थीम् अन्यगणादागतां क्षताचारां शवलाचारां भिन्नाचारां संक्लिष्टाचारचरित्रां तस्य स्थानस्याऽऽलोच्य प्रतिक्राम्य निन्दयित्वा गर्हयित्वा विकुट्य, विशोध्य अकरणाय अभ्युत्थाप्य यथार्हं प्रायश्चित्तं तपःकर्म प्रतिपाद्य उपस्थापयितुं वा संभोक्तुं वा संवस्तुं वा, तस्या इत्वरिकां दिशं वा अनुदिशं वा उद्देष्टुं वा धारयितुं वा ॥ सू० २४ ॥

व्यवहारे षष्ठ उद्देशकः समाप्तः ॥६॥

भाष्यम्—'कप्पइ' कल्पते '**णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा**' निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा '**णिग्गथिं अन्नगणाओ आगयं**' निर्ग्रन्थीं–श्रमणीम् अन्यगणात् –परकीयगच्छादागताम् '**खुयायारं**' क्षताचाराम्–विनष्टाचारवतीम्, इत आरभ्य संक्लिष्टाचारचरित्रामितिपर्यन्तानां व्याख्या पूर्वसूत्रे गता, '**तस्स ठाणस्स आलोयावेत्ता**' तस्य स्थानस्य यस्मिन् स्थाने प्रतिसेवनां कृतवती तस्य पापस्थानस्य आलोच्य–अलोचनां कारयित्वा '**पडिक्कमावेत्ता**' प्रतिक्राम्य–पापस्थानात् परावर्त्य '**निंदावेत्ता**' निंदयित्वा–आत्मसाक्षिकीं निन्दां कारयित्वा '**गरिहावेत्ता**' गर्हयित्वा गुरुसाक्षिकीं निन्दां कारयित्वा '**विउट्टावेत्ता**' विकुट्य–चारित्रं निर्मलं कारयित्वा '**विसोहावेत्ता**' विशोध्य–पापस्य विशोधिं कारयित्वा '**अकरणाए अब्भुट्ठावेत्ता**' अकरणाय भविष्यति पुनरकरणाय अभ्युत्थाप्य पुनर्न करिष्यामीति प्रतिज्ञाम् कारयित्वा '**अहारिहं पायच्छित्तं तवोकम्मं**' यथार्हं-यथायोग्यम् यस्य पापस्थानस्य यादृशं प्रायश्चित्तं शास्त्रे कथितम् तादृशं प्रायश्चित्त तपःकर्म '**पडिवज्जावेत्ता**' प्रतिपाद्य प्राप्य दत्त्वेत्यर्थः '**उवट्ठावेत्तए वा**' उपस्थापयितुं वा–महाव्रतेषु पुनः स्थापयितुम् '**संभुजित्तए वा**' सभोक्तुं वा एकमण्डल्यामाहारादि कर्तुं वा '**संवसित्तए वा**' संवस्तुं वा तया सह एकत्र वसतौ निवासं कर्तुं वा, तथा

'तीसे इत्तरियं दिसं वा' तस्याः प्रायश्चित्तदानेन विशुद्धाया निर्ग्रन्थ्याः इत्वरिकां दिशम्-अल्पकालिकीं पदवीम् **'अणुदिसं वा'** अनुदिशं वा-यावत्कालिकीं प्रवर्त्तिन्यादिपदवीं वा **'उद्दिसित्तए वा'** उद्देष्टुमनुज्ञातुं वा **'धारित्तए वा'** धारयितुं वा दातुं वा कल्पते इति। अनेन-निर्ग्रन्थी-कथितप्रकारेण निर्ग्रन्थस्य अन्यगणादागतस्य क्षताचारादिमतोऽपि विधिर्ज्ञातव्यः॥ सू० २४॥

इति श्री-विश्वविख्यात-जगद्वल्लभ-प्रसिद्धवाचक-पञ्चदशभाषाकलितललितकलापालापक-प्रविशुद्धगद्यपद्यनैकग्रन्थनिर्मापक-वादिमानमर्दक-श्रीशाहूछत्रपतिकोल्हापुरराजप्रदत्त-"जैनाचार्य"-पदभूषित-कोल्हापुरराजगुरु-बालब्रह्मचारि-जैनाचार्य-जैन-धर्म-दिवाकर-पूज्यश्री-**घासीलालव्रति**-विरचितायां **"व्यवहारसूत्रस्य"** भाष्यरूपायां व्याख्यायां षष्ठ उद्देशकः समाप्तः॥६॥

॥ अथ सप्तमोद्देशकः ॥

गतः षष्ठ उद्देशः, साम्प्रतं सप्तमो व्याख्यायते, पूर्वोद्देशेनास्य कः सम्बन्धस्तत्राह गाथाद्वयं भाष्यकारः-'सामन्नओ' इत्यादि ।

गाथा—सामन्नओ दुयाणं, णिग्गंथी आगया खुयायारा ।
आलोयणं कराविय, कप्पइ तीए य संभोगो ॥ १ ॥

इइ वुत्तं पुव्वं इह, निग्गंथीए न कप्पए एवं ।
निग्गंथमणापुच्छिय, संबंधो एत्थ विन्नेओ ॥ २ ॥

छाया—सामान्यतो द्वयानां, निर्ग्रन्थी आगता क्षताचारा ।
आलोचनां कारयित्वा, कल्पते तया च संभोगः ॥ १ ॥

इत्युक्तं पूर्वमिह निर्ग्रन्थ्या न कल्पते एवम् ।
निर्ग्रन्थमनापृच्छय, सम्बन्धोऽत्र विज्ञेयः ॥ २ ॥

व्याख्या—सामान्यतः समुच्चयेन द्वयानां निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां च या काचिद् निर्ग्रन्थी आगता—अन्यगणात् समागता, कीदृशीत्याह—'खुयायारा' क्षताचारा, उपलक्षणात् शबलाचारादिविशेषणविशिष्टा भवेत्तदा 'आलोयणं कराविय' आलोचनाम् उपलक्षणात् प्रतिक्रमणादिकं कारयित्वा कल्पते तया सह संभोगो नान्यथेति ॥ १ ॥

'इइ वुत्तं' इत्यादि, इति—एवं प्रकारेण पूर्वं षष्ठोद्देशकस्य चरमसूत्रे उक्तम्, इह—अस्मिन् सप्तमोद्देशकस्यादिसूत्रे निर्ग्रन्थ्याः केवलं निर्ग्रन्थ्याः निर्ग्रन्थम्, अत्र जातावेकवचनं तेन निर्ग्रन्थान् साम्भोगिकान् आचार्यादिकान् अनापृच्छय अपृष्ट्वा एवम्—पूर्वोक्तप्रकारेण अनालोचितपापस्थानया निर्ग्रन्थ्या सह संभोगः कर्तुं न कल्पते, स यथा आदिशेत् तथा कुर्यादिति भावः, एषोऽत्र सम्बन्धो विज्ञेय इति ॥ २ ॥

अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य सप्तमोद्देशकस्य इदमादिमं सूत्रम्—"जे णिग्गंथा य इत्यादि ।

सूत्रम्—जे णिग्गंथा य णिग्गंथीओ य संभोइया सिया नो कप्पइ णिग्गंथीणं णिग्गंथे अणापुच्छित्ता णिग्गंथिं अन्नगणाओ आगयं खुयायारं सबलायारं भिन्नायारं संकिलिट्ठायारचरित्तं तस्स ठाणस्स अणालोयावेत्ता जाव अहारिहं पायच्छित्तं तवोकम्मं अपडिवज्जावेत्ता पुच्छित्तए वा वाएत्तए वा उवट्ठावेत्तए वा संभुंजित्तए वा संवसित्तए वा, तीसे इत्तरियं दिसं वा अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ॥ सू० १ ॥

छाया—ये निर्ग्रन्थाश्च निर्ग्रन्थ्यश्च साम्भोगिकाः स्युः नो कल्पते निर्ग्रन्थीनां निर्ग्रन्थाननापृच्छ्य निर्ग्रन्थीमन्यगणादागतां क्षताचारां शबलाचारां भिन्नाचारां संक्लिष्टाचारचरित्रां तस्य स्थानस्य अनालोच्य यावद् यथार्हं प्रायश्चित्तं तपःकर्म अप्रतिपाद्य प्रष्टुं वा वाचयितुं वा उपस्थापयितुं वा संभोक्तुं वा संवस्तुं वा, तस्या इत्वरिकां दिशं वा अनुदिशं वा उद्देष्टुं वा धारयितु वा ॥ सू० १ ॥

भाष्यम्—'**जे णिग्गंथा य णिग्गंथीओ य**' ये निर्ग्रन्थाः श्रमणाः तथा निर्ग्रन्थ्यः श्रमण्यश्च, '**संभोइया सिया**' साम्भोगिकाः स्यु. द्वादशप्रकारकसम्भोगयुक्ता एकत्र ग्रामादिषु भवेयुः–तिष्ठेयुः, उपलक्षणात् कल्पानुसारेण सार्द्धक्रोशद्वयपरिमिते दूरेऽपि वा तिष्ठेयुः, तेषां मध्ये '**नो कप्पइ णिग्गंथीणं णिग्गंथे अणापुच्छित्ता**' नो न कथमपि कल्पते निर्ग्रन्थीनां निर्ग्रन्थान् साम्भोगिकान् आचार्यादिकान् अनापृच्छ्य तेषामाज्ञामन्तरेणेत्यर्थः । किं न कल्पते ? तत्राह–'**णिग्गंथिं**' इत्यादि, '**णिग्गंथिं अन्नगणाओ आगयं**' निर्ग्रन्थीं श्रमणीमन्यगणाद्–अन्यगच्छाद् आगतां—समागताम्, कथम्भूतामन्यगणादागतां श्रमणीम् ? तत्राह–'**खुयायारं**' इत्यादि, '**खुयायारं**' क्षताचाराम् शबलाचाराम् भिन्नाचाराम् संक्लिष्टाचारचरित्राम्, एषां पदानां व्याख्या षष्ठोद्देशके त्रयोविंशतितमसूत्रे गता, एतादृशक्षताचारादिविशेषणयुक्तामन्यगणादागतां श्रमणीम् , '**तस्स ठाणस्स अणालोयावेत्ता**' तस्य पापस्थानस्यानालोच्य येनापराधेन सा मलिना जाता तादृशापराधस्थानस्य आलोचनामकारयित्वा तत्पापस्थानमप्रकटयित्वेत्यर्थः '**जाव अहारिहं पायच्छित्तं तवोकम्मं अपडिवज्जावेत्ता**' यावद् यथार्हं प्रायश्चित्तं तप.कर्म अप्रतिपाद्य–अदत्वा, अत्र यावत्पदेन '**अपडिक्कमावेत्ता अनिंदावेत्ता अगरिहावेत्ता अविउट्टावेत्ता अविसोहावेत्ता अकरणाए अणब्भुट्टावेत्ता**' इत्येतेषां विशेषणानां सङ्ग्रहो भवति, एषां पदानामपि व्याख्या षष्ठोद्देशकस्य त्रयोविंशतितमे सूत्रे गता, येन पापस्थानेन सा दूषिता तादृशपापस्थानस्य प्रतिक्रमणादिकमकारयित्वेत्यर्थः, यथार्हं–यथायोग्यं शास्त्रोक्तं प्रायश्चित्तं तपःकर्म अप्रतिपाद्य तस्य पापस्थानस्य यथायोग्यं प्रायश्चित्तरूपेण– तपःकर्माऽदत्वेत्यर्थः '**पुच्छित्तए वा वाएत्तए वा**' प्रष्टुं वा वाचयितुं वा, यदि पूर्वोक्तक्षताचारादियुक्ता अन्यगणात् काचित् श्रमणी समागच्छेत् तां गणनायकस्याऽऽज्ञामन्तरेण सुखशातादिकं प्रष्टुं न कल्पते, तथा तस्यै वाचनामपि दातुं न कल्पते श्रमणीनामित्यर्थः, तथा–'**उवट्ठावेत्तए वा**' उपस्थापयितुं वा महाव्रतेषु आरोपयितुं न कल्पते, तस्याश्छेदोपस्थापनीयचारित्रमपि न देयम् , '**संभुंजित्तए वा संवसित्तए वा**' संभोक्तुं वा संवस्तुं वा एतादृशपूर्वोक्तदूषणविशिष्टश्रमण्या सह एकमण्डल्यां नाऽऽहारादिव्यवहारः करणीय., तथा तया सह एकस्मिन्नुपाश्रयादौ निवासोऽपि न करणीय इति, '**तीसे इत्तरियं दिसं वा अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा**' तस्याः इत्वरिकां दिशं वा अनुदिशं वा उद्देष्टुं वा धारयितुं वा, एतादृशदोषोपेतायै श्रमण्यै इत्वरिकां दिशम् अल्पकालिकीं प्रवर्त्तिन्यादिपदवीम्, अनुदिशम् यावज्जीवनकालिकीं वा पदवीम्, उद्देष्टुम्–अनुज्ञातुम् धारयितुं पदवीं दातुं वा न कल्पते ॥ सू० १ ॥

पूर्वमन्यगणादागतायाः अनालोचितपापस्थानायाः साम्भोगिकनिर्ग्रन्थाज्ञामन्तरेण सुखशाताप्रच्छनादि निर्ग्रन्थीनां न कल्पते इति प्रोक्तम्, सम्प्रति तद्विपर्यये सूत्रमाह—'**जे णिग्गंथा य णिग्गंथीओ य**' इत्यादि।

सूत्रम्—जे णिग्गंथा य णिग्गंथीओ य संभोइया सिया कप्पइ णिग्गंथीणं णिग्गंथे आपुच्छित्ता णिग्गंथिं अन्नगणाओ आगयं खुयायारं सबलायारं भिन्नायारं संकिलिट्ठायारचरित्तं तस्स ठाणस्स आलोयावेत्ता जाव अहारिहं पायच्छित्तं तवोकम्मं पडिवज्जावेत्ता पुच्छित्तए वा वाएत्तए वा उवट्ठावेत्तए वा संभुंजित्तए वा संवसित्तए वा, तीसे इत्तरियं दिसं वा अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ॥ सू० २ ॥

छाया—ये निर्ग्रन्थाश्च निर्ग्रन्थ्यश्च सांभोगिकाः स्युः कल्पते निर्ग्रन्थीनां निर्ग्रन्थानाऽऽपृच्छ्य निर्ग्रन्थीमन्यगणादागतां क्षताचारां शबलाचारां भिन्नाचारां संक्लिष्टाचारचरित्रां तस्य स्थानस्याऽऽलोच्य यावद् यथार्हं प्रायश्चित्तं तपःकर्म प्रतिपाद्य प्रष्टुं वा वाचयितुं वा उपस्थापयितुं वा संभोक्तुं वा संवस्तुं वा तस्या इत्वरिकां दिशं वा अनुदिशं वा उद्देष्टुं वा धारयितुं वा ॥ सू० २ ॥

भाष्यम्—'**जे णिग्गंथा य**' ये निर्ग्रन्थाश्च श्रमणाः, '**णिग्गंथीओ य**' निर्ग्रन्थ्यः श्रमण्यश्च '**संभोइया सिया**' साम्भोगिकाः स्युः तन्मध्यात् '**कप्पइ**' कल्पते '**णिगंथीणं**' निर्ग्रन्थीनां श्रमणीनाम् '**णिग्गंथे आपुच्छित्ता**' निर्ग्रन्थान् साम्भोगिकाचार्यान् आपृच्छ्य-पृष्ट्वा तदाज्ञामादायेत्यर्थः, किमित्याह—'**णिग्गंथिं**' इत्यादि, '**णिग्गंथिं अन्नगणाओ आगयं**' निर्ग्रन्थीमन्यगणात्-गच्छान्तरात् आगताम् '**खुयायारं**' क्षताचाराम् शबलाचाराम् भिन्नाचाराम् संक्लिष्टाचारचरित्रामित्येषां पदानां व्याख्या षष्ठोद्देशकस्य चतुर्विंशतितमसूत्रे विलोकनीयेति, '**तस्स ठाणस्स**' तस्य स्थानस्य यस्याऽपराधस्थानस्य संसेवनेन क्षताचारादिका जाता तस्यापराधस्थानस्य '**आलोयावेत्ता**' आलोच्य-आलोचनां कारयित्वा '**जाव**' यावत्, अत्र यावत्पदेन '**पडिक्कमावेत्ता निंदावेत्ता गरिहावेत्ता विउट्टावेत्ता विसोहावेत्ता अकरणाए अब्भुट्ठावेत्ता**' एतेषां पदानां सग्रहः, व्याख्या च षष्ठोद्देशकस्य चतुर्विंशतितमे सूत्रेऽवलोकनीयेति, '**अहारिहं पायच्छित्तं तवोकम्मं पडिवज्जावेत्ता**' तस्य पापस्थानस्य यथार्हे—यथायोग्यं प्रायश्चित्तं तपःकर्म प्रतिपाद्य पापस्थानोचितं प्रायश्चिरूपेण तपो दत्त्वेत्यर्थ, तदनेन क्रमेण तपःकर्मणा सम्यक् तां विशुद्धीकृत्य ततः पश्चात् '**पुच्छित्तए वा**' सुखशातादि प्रष्टुं वा, '**वाएत्तए वा**' वाचयितुं वा वाचनां दातुं वा '**उवट्ठावेत्तए वा**' उपस्थापयितुं वा पुनर्महाव्रतेषु समारोपयितुं वा, '**संभुंजित्तए वा**' संभोक्तुं वा तया सह एकमण्डल्यामाहारादिकं कर्तुं वा '**संवसित्तए वा**' सवस्तुं वा एकत्र मिलित्वा वासं कर्तुं वा '**तीसे इत्तरियं दिसं वा**' तस्या उपर्युक्तप्रकारेण प्रायश्चित्तादिना विशुद्धायाः कृते इत्वरिकाम् अल्पकालिकीं प्रवर्त्तिन्यादिपदवीम्, '**अणुदिसं वा**' अनुदिशं वा यावज्जीवनकालिकीं प्रवर्त्तिन्यादिपदवीं वा '**उद्दिसित्तए वा**' उद्देष्टुं वा अनुज्ञातुं वा, '**धारित्तए वा**' धारयितुं वा-तादृशपदव्या. धारणं कारयितुं वा कल्पते ॥ सू० २ ॥

पूर्वं निर्ग्रन्थीमधिकृत्यान्यगणादागतक्षताचारादिदोषवत्याः स्वगणे स्थापने विधिरुक्तः, सम्प्रति निर्ग्रन्थमधिकृत्य तद्विधिमाह--'जे णिग्गंथा य' इत्यादि ।

सूत्रम्—जे णिग्गंथा य णिग्गंथीओ य संभोइया सिया, कप्पइ णिग्गंथाणं णिग्गंथीओ आपुच्छित्ता वा अणापुच्छित्ता वा णिग्गंथिं अन्नगणाओ आगयं खुयायारं सबलायारं भिन्नायारं संकिलिट्ठायारचरित्तं तस्स ठाणस्स आलोयावेत्ता जाव अहारिहं पायच्छित्तं तवोकम्मं पडिवज्जावेत्ता पुच्छित्तए वा वाएत्तए वा उवट्ठावेत्तए वा संभुंजित्तए वा संवसित्तए वा, तीसे इत्तरियं दिसं वा अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा, तं च णिग्गंथीओ नो इच्छेज्जा सेवमेव नियं ठाणं ॥ सू० ३ ॥

छाया—ये निर्ग्रन्थाश्च निर्ग्रन्थ्यश्च साम्भोगिकाः स्युः, कल्पते निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीः आपृच्छ्य वा अनापृच्छ्य वा निर्ग्रन्थीमन्यगणादागतां क्षताचारां शबलाचारां भिन्नाचारां संक्लिष्टाचारचरित्रां तस्य स्थानस्याऽऽलोच्य यावत् यथार्हं प्रायश्चित्तं तपःकर्म प्रतिपाद्य प्रष्टुं वा वाचयितुं वा उपस्थापयितुं वा संभोक्तुं वा संवस्तुं वा, तस्या इत्वरिकां दिशं वा अनुदिशं वा उद्देष्टुं वा धारयितुं वा, तां च निर्ग्रन्थ्यो नो इच्छेयुः सेवेत एव निजं स्थानम् ॥ सू० ३ ॥

भाष्यम्—'जे णिग्गंथा य णिग्गंथीओ य संभोइया सिया' ये निर्ग्रन्थाश्च निर्ग्रन्थ्यश्च द्वयेऽपि साम्भोगिका एकस्मिन् ग्रामादौ स्युः, तत्र 'कप्पइ णिग्गंथाणं' कल्पते निर्ग्रन्थानाम् 'णिग्गंथीओ आपुच्छित्ता वा अणापुच्छित्ता वा' निर्ग्रन्थीः श्रमणीः आपृच्छ्य वा अनापृच्छ्य वा, निर्ग्रन्थीः पृच्छेयुर्न वेति स्वेच्छा श्रमणानाम् 'णिग्गंथिं अन्नगणाओ आगयं' निर्ग्रन्थीमन्यगणादागताम् 'खुयायारं' क्षताचाराम् 'सबलायारं' शबलाचाराम् 'भिन्नायारं' भिन्नाचाराम् 'संकिलिट्ठायारचरित्तं' संक्लिष्टाचारचरित्राम् , व्याख्या पूर्ववत् 'तस्स ठाणस्स' तस्य स्थानस्य यादृशप्रतिसेवनाजनितेन मलिना जाता तस्य पापस्थानस्य 'आलोयावेत्ता' आलोच्य-आलोचनां कारयित्वा 'जाव' यावत् यावत्पदेन प्रतिक्राम्यादिपदानां संग्रहोऽर्थश्च पूर्ववदेव 'अहारिहं पायच्छित्तं तवोकम्मं पडिवज्जावेत्ता' यथार्हं तस्य पापस्थानस्य यथायोग्यं प्रायश्चित्तं तपःकर्म प्रतिपाद्य, तदनन्तरम्—'पुच्छित्तए वा' प्रष्टुं वा सुखशातादिकं प्रष्टुं कल्पते 'वाएत्तए वा' वाचयितुं वा—सूत्रादिवाचनां दातुं वा, 'उवट्ठावेत्तए वा' उपस्थापयितुं वा—महाव्रतेषु समारोपयितुं वा, 'संभुंजित्तए वा' संभोक्तुं वा—एकमण्डले भोजनादिव्यवहारं श्रमणीभिः सह कारयितुमित्यर्थः, 'संवसित्तए वा' संवस्तुं वा एकत्र श्रमणीभिः सह निवासं कारयितुमित्यर्थः कल्पते, 'तीसे इत्तरियं दिसं वा' तस्याः कृतप्रायश्चित्तायाः श्रमण्याः इत्वरिकाम्—अल्पकालिकीं दिशम् प्रवर्त्तिन्यादिपदवीम् 'अणुदिसं वा' यावत्कथिकां प्रवर्त्तिन्यादिपदवीम् 'उद्दिसित्तए वा'

उद्देष्टुमनुज्ञातुं वा, 'धारित्तए वा' धारयितुं वा—तस्याः प्रवर्त्तिनीपदं दातुं कल्पते 'तं च **णिग्गंथीओ नो इच्छेज्जा'** तां च निर्ग्रन्थ्यो नेच्छेयुः, यदि कदाचित् श्रमणेन प्रायश्चित्तदाना-दिना कृतशुद्धामपि अन्यगणादागतां तां श्रमणीं ताः साम्भोगिका निर्ग्रन्थ्यः अनापृच्छादिकारण-वशात् स्वगणे स्थापयितुं नेच्छेयुः तदा **'सेवमेव नियं ठाणं'** सेवेत एव निजं स्थानम्, तत्र स्थानमलभमाना सा स्वकीयं यत्स्थानं—स्वकीयगच्छरूपं, तदेव सेवेत तत्रैव पुनः परावृत्त्य गच्छे-दिति भावः। तासां तस्याः निर्ग्रन्थ्याः स्वसमीपे आश्रयादाने इमानि कारणानि संभवन्ति—प्रथमं तु कारणं निर्ग्रन्थीरनापृच्छ्य तस्याः शुद्धिः कृतेति नेच्छेयुः, पुनश्च यस्याः सा शिष्या तया सह तासां मैत्री ततस्तस्या अत्र रक्षणे अस्याः प्रवर्त्तिनी गुरुर्वा अस्माकमुपरि कोपं करिष्यतीति मत्वा तां नेच्छेयुः, अथवा सा कर्मानुभावेन स्वभावतः प्रायः सर्वजनस्याऽपि द्वेष्येति तां नेच्छेयुः। यदि वा पूर्वं भावानुभावतः प्रवर्त्तिन्या अप्रियेति, अथवा सा प्रवर्त्तिनी शुद्धिकर्त्तॄणां साम्भो-गिकानां विषये केनापि कारणेन परम्परातः कुपिता वर्त्तते। यदि वा गच्छस्योपरि कुपिता वर्त्तते, अथवा संयत्या यो निर्ग्रन्थीसमुदायस्तस्य तद्विषये प्रवर्त्तिन्याः प्रतिस्पर्द्धा भवेत्—यदियं न कस्या अपि शिष्या कर्त्तव्येति, अथवा ताः सर्वा अपि संयत्यः शृङ्खलाबद्धाः परस्परं गृहावस्था-सम्बन्धिन्यस्ततः 'नूतनैषाऽस्माकमपमानं करिष्यति, नास्माकं याद्दच्छिकमाहारविहारादिकं भवि-ष्यति' इत्यादिकारणैर्यदि तामुद्यतामपि नेच्छेयुस्तदा स्वगच्छे एव तया प्रसन्नचेतसा प्रत्यावर्त्तितव्यं तदेव तस्याः श्रेय इति। उपलक्षणादिदं सूत्रत्रयं निर्ग्रन्थविषयेऽपि अनुसन्धातव्यम्॥ सू० ३॥

पूर्वमन्यगणादागतां निर्ग्रन्थीम् आलोचनादिना विशोध्य तया सह सम्भोगः कल्पते इति प्रतिपादितम्, साम्प्रतम् निर्ग्रन्थानुसन्धानात् साम्भोगिकनिर्ग्रन्थस्यासाम्भोगिककरणे विधिं प्रदर्शयन्नाह—'जे **णिग्गंथा य'** इत्यादि।

सूत्रम्—जे णिग्गंथा य णिग्गंथीओ य संभोइया सिया, नो ण्हं कप्पइ परोक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोइयं करित्तए, कप्पइ ण्हं पच्चक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसं-भोइयं करित्तए, जत्थेव अन्नमन्नं पासेज्जा तत्थेव एवं वएज्जा—अहं णं अज्जो! तुमाए सद्धिं इमंमि कारणंमि पच्चक्खं संभोइयं विसंभोइयं करेमि। से य पडितप्पेज्जा एवं से नो कप्पइ पच्चक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोइयं करित्तए, से य नो पडितप्पेज्जा एवं से कप्पइ पच्चक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोइयं करित्तए॥ सू० ४॥

छाया—ये निर्ग्रन्थाश्च निर्ग्रन्थ्यश्च साम्भोगिकाः स्युः, नो खलु कल्पते परोक्षे प्रत्येकं साम्भोगिकं विसाम्भोगिकं कर्त्तुम्। कल्पते खलु प्रत्यक्षं प्रत्येकं सांभोगिकं विसाम्भोगिकं कर्त्तुम्। यत्रैवाऽन्योऽन्यं पश्येत् तत्रैव एवं वदेत्—अहं खलु आर्य! त्वया सार्द्धमस्मिन् कारणे

प्रत्यक्षं साम्भोगिकं विसाम्भोगिकं करोमि, स च प्रतितपेत् एवं तस्य नो कल्पते प्रत्यक्षं प्रत्येकं साम्भोगिकं विसाम्भोगिकं कर्त्तुम्, स च नो प्रतितपेत् एवं तस्य कल्पते प्रत्यक्षं प्रत्येकं साम्भोगिकं विसाम्भोगिकं कर्त्तुम् ॥ सू० ४ ॥

भाष्यम्—'जे णिग्गंथा य णिग्गंथीओ य' ये निर्ग्रन्थाश्च निर्ग्रन्थ्यश्च 'संभोइया सिया' सम्भोगिकाः द्वादशप्रकारकसंभोगवन्तो भवेयुः, तेषां निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां द्वयानां मध्ये निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थपदस्य पूर्वं प्रयुक्तत्वात्, 'नो ण्हं कप्पइ परोक्खं' अत्र 'ण्हं' शब्दो वाक्याऽलङ्कारे नो कल्पते खलु परोक्षे अनुपस्थितौ यदा स उपस्थितो न भवेत्तदेत्यर्थः 'पाडिएक्कं' प्रत्येकम्, अत्र निर्ग्रन्थमुद्दिश्य सूत्रप्रवृत्तेः कमपि निर्ग्रन्थम् 'संभोइयं विसंभोइयं करेत्तए' साम्भोगिकं—सम्भोगयोग्यमपि श्रमणं विसाम्भोगिकं—भक्तपानादिसम्भोगरहितं कर्त्तुं न कल्पते इति पूर्वेणान्वयः। तर्हि कथं कल्पते ? तत्राह—यदि विसम्भोगविषयं किमपि कारणमुत्पद्यते तदा—'कप्पइ ण्हं पच्चक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोइयं करित्तए' कल्पते खलु प्रत्यक्षे तदुपस्थितौ तत्संमुखमित्यर्थः प्रत्येकं निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थी-साम्भोगिकेति त्रयाणां मध्ये एकैकस्य साम्भोगिकं विसाम्भोगिकं कर्त्तुम्। कया रीत्या कल्पते ? तत्राह—'जत्थेव' इत्यादि, 'जत्थेव अन्नमन्नं पासेज्जा' यत्रैव स्थलविशेषेऽन्य एकः, अन्यमपरं पश्येत् 'तत्थेव एवं वएज्जा' तत्रैव स्थले एवं-वक्ष्यमाणप्रकारेण वदेत्—कथयेत्, किं वदेत् तत्राह—'अहं णं अज्जो !' अहं खलु हे आर्य ! 'तुमाए सद्धिं इमंमि कारणंमि पच्चक्खं संभोइयं विसंभोइयं करेमि' अथानन्तरं त्वया सार्द्धम् अस्मिन् कारणे—अतिचारादिकारणे—अतिचारादिकारणविशेषमासाद्य 'पच्चक्खं' प्रत्यक्षं त्वत्संमुखमेव 'संभोइयं विसंभोइयं करेमि' साम्भोगिकं त्वां विसाम्भोगिकं—संभोगरहितं करोमि अतिचारादिकारणविशेषमासाद्य त्वया सहाऽऽहारादिव्यवहारं पृथक्करोमीत्यर्थः। 'से य पडितप्पेज्जा' कारणे कथिते सति स श्रोता साम्भोगिकः श्रमणो यदि परितपेत्-- परितापं कुर्यात् यथा 'मया नेदं सुष्ठु कृतं येनेदानीं परित्यक्तो भवामि, नाद्यप्रभृति एवं करिष्यामि, कृतस्य चाऽशुभकर्मणो मिथ्यादुष्कृतं ददामि न पुनरेतादृशं दुष्टं कर्म करिष्यामी'-ति पश्चात्तापं कुर्यादिति भावः 'एवं से नो कप्पइ पच्चक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोइयं करित्तए' एवं—मिथ्यादुष्कृतादिदाने 'से' तस्य विसांभोगिकं कर्त्तुं प्रवृत्तस्य न कल्पते प्रत्यक्षं प्रत्येकं त्रयाणां मध्ये एकैकस्य साम्भोगिकं विसाम्भोगिकं कर्त्तुम्। यदि प्रतिपन्नपापस्थानः श्रमणः पश्चात्तापं कुर्यात् मिथ्यादुष्कृतं दद्यात् प्रायश्चित्तं च स्वीकुर्यात् तदा साम्भोगिकं विसाम्भोगिकं कर्त्तुं न कल्पते श्रमणानां श्रमणीनां वेति भावः। यदि प्रत्यक्षं पूर्वोक्तप्रकारेण कथितेऽपि 'से य नो पडितप्पेज्जा' स च यदि नो परितपेत्—यदि कदाचित् कृतकर्मणो निमित्तं पश्चात्तापं पूर्वोक्तरूपेण न कुर्यात्, स्वकृतातिचारस्याऽऽलोचनया प्रतिक्रमणेन तदुभाभ्याम्, व्युत्सर्गेण, तपसा एवं प्रकारेण यावत् पाराञ्चितेन प्रायश्चित्तेन विशोधिं न कुर्यात् 'एवं से कप्पइ पच्चक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोइयं करित्तए' एवं तदा 'से' तस्य विसाम्भोगिककर्त्तुः कल्पते प्रत्यक्षं प्रत्येकं साम्भोगिकं विसाम्भोगिकं कर्त्तुमिति ॥ सू० ४ ॥

पूर्वं निर्ग्रन्थमधिकृत्य सांभोगिकस्य प्रत्यक्षं तत्संमुखं विसांभोगिककरणे विधिरुक्तः, सम्प्रति निर्ग्रन्थीमुद्दिश्य सांभोगिकायाः परोक्षम्–तस्या अनुपस्थितौ विसांभोगिककरणे विधिमाह–**'जाओ णिग्गंथीओ वा'** इत्यादि।

सूत्रम्—जाओ णिग्गंथीओ वा णिग्गंथा वा संभोइया सिया, नो ण्हं कप्पइ पच्चक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोइयं करित्तए, कप्पइ ण्हं पारोक्खं, पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोइयं करित्तए, जत्थेव ताओ अप्पणो आयरियउवज्झाए पासेज्जा तत्थेव एवं वएज्जा–अहं णं भंते ! अमुगीए अज्जाए सद्धिं इमंमि कारणंमि पारोक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोइयं करेमि। सा य से पडितप्पेज्जा एवं से नो कप्पइ पारोक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोइयं करित्तए, सा य से नो पडितप्पेज्जा, एवं से कप्पइ पारोक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोइयं करित्तए ॥ सू० ५ ॥

छाया—या निर्ग्रन्थ्यो वा निर्ग्रन्था वा सांभोगिकाः स्युः, नो खलु कल्पते प्रत्यक्षं प्रत्येकं साम्भोगिकीं विसंभोगिकीं कर्त्तुम्, कल्पते खलु परोक्षं प्रत्येक साम्भोगिकीं विसांभोगिकीं कर्त्तुम्, यत्रैव ता आत्मनः-आचार्योपाध्यायान् पश्येयुः तत्रैव एवं वदेत्-अहं खलु भदन्त ! अमुकया आर्यया सार्द्धम् अस्मिन् कारणे परोक्षं प्रत्येकं सांभोगिकीं विसांभोगिकीं करोमि। सा च तस्याः प्रतितपेत्, एवं तस्याः नो कल्पते परोक्षं प्रत्येकं सांभोगिकीं विसांभोगिकीं कर्त्तुम्। सा च तस्याः नो प्रतितपेत्, एवं तस्याः कल्पते परोक्षं प्रत्येकं साम्भोगिकीं विसांभोगिकीं कर्त्तुम् ॥ सू० ५ ॥

भाष्यम्—**'जाओ णिग्गंथीओ वा णिग्गंथा वा'** याः काश्चन निर्ग्रन्थ्यः श्रमण्यः निर्ग्रन्था. श्रमणा वा **'संभोइया सिया'** साम्भोगिकाः स्यु.–भवेयु., तेषां द्वयानां मध्ये निर्ग्रन्थीनाम्, अत्र निर्ग्रन्थीपदस्य पूर्वं प्रयुक्तत्वात्, **'नो ण्हं कप्पइ पच्चक्खं पडिएक्कं संभोइयं विसंभोइयं करित्तए'** नो खलु कल्पते प्रत्यक्षं प्रत्येकं साम्भोगिकीं विसांभोगिकीं कर्त्तुम्। तासां श्रमणीनां नो कथमपि कल्पते प्रत्यक्ष-तस्याः संमुखमित्यर्थः प्रत्येकम्–एकैकस्याः संयत्याः प्रत्यक्षरूपेण सांभोगिकीं–भक्तपानादिव्यवहारवतीं श्रमणीं विसांभोगिकीं–सभोगरहितां परित्याजितभोजनादिव्यवहारां कर्त्तुम्। तर्हि कथं कल्पते ? इत्याह–**'कप्पइ ण्हं पारोक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोइयं करित्तए'** कल्पते खलु परोक्षं प्रत्येकं साम्भोगिकीं विसांभोगिकीं कर्त्तुम्, कल्पते परोक्षं–परोक्षरूपेण तदनुपस्थितौ प्रत्येकं सांभोगिकीं विसाभोगिकीं कर्त्तुम्। तद्विधिमाह—**'जत्थेव ताओ अप्पणो आयरियउवज्झाए पासेज्जा'** अथ यत्रैव स्थले ताः आत्मनः स्वसंघाटकस्य आचार्योपाध्यायान्–आचार्यान्–गच्छनायकान् उपाध्यायान् वा पश्येयु. **'तत्थेव एवं वएज्जा'** तत्रैव स्थले तासु मध्ये एका एवम्–वक्ष्यमाणप्रकारेण वदेत्। किं वदेदित्याह–'अहं णं' इत्यादि।

'अहं णं भंते !' अहं खलु भदन्त ! 'अमुगीए अज्जाए सद्धिं इमंमि कारणंमि' अमुक्या-निर्दिष्टनाम्न्या आर्यया सार्द्धम् अस्मिन् कारणे अतिचारादिरूपे 'पारोक्खं पडिएक्कं संभोइयं विसंभोइयं करेमि' परोक्षं-परोक्षरूपेण तदनुपस्थितौ भवत्पार्श्वे, न तु तत्संमुखं, प्रत्येकम् एकैकेत्यर्थः सांभोगिकीं विसांभोगिकीं करोमि । अथ साध्वीनाम् एवं प्रकारकं वचनं श्रुत्वा आचार्योपाध्यायास्तदुक्तं तस्याः कथयन्ति, कथिते सति यदि 'सा य से पडितप्पेज्जा' सा च संप्राप्तदोषा 'से' तस्याः कथने प्रतितपेत्, तत्प्रदत्तदोषविषये परिताप कुर्यात् पश्चात्तापवती भवेदित्यर्थः 'सत्यं दुष्टु मया कृतं, नैवं मम कर्त्तुं युज्यते' इत्येवं यदि मिथ्यादुष्कृतदानेन पश्चात्तापं कुर्यात् । यदि पापस्थानं न सेवितं भवेत्तदा असत्तदाख्यानमित्युक्त्वा प्रत्याख्यायेत् तत्कथनं निराकुर्यात् आचार्योपाध्यायेभ्यस्तदकरणे विश्वासं कारयेदित्यर्थः 'एवं से नो कप्पइ पारोक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोइयं करित्तए' एवं सति 'से' तासां समुदायस्य नो कल्पते परोक्षं प्रत्येक सांभोगिकीं विसांभोगिकीं कर्त्तुम् । 'सा य से नो पडितपेज्जा' सा च तासां कथने नो परितपेत्, अथ यदि सा श्रमणी तत्कथने मिथ्यादुष्कृतदानादि न समाचरेत् 'एवं से कप्पइ पारोक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोइयं करित्तए' एवं स्थितौ तासां कल्पते परोक्षं प्रत्येकं सांभोगिकीं विसांभोगिकीं कर्त्तुं कल्पते इति पूर्वेण सम्बन्धः, एवं रीत्या करणे आचार्योपाध्यायास्ताभ्यो न कमपि उपालम्भं प्रयच्छन्ति ॥

अत्र परोक्षप्रत्यक्षविषये शङ्कापूर्वकं समाधत्ते भाष्याकरः—'णिग्गंथाण य' इत्यादि ।

गाथा—"णिग्गंथाण य पच्चक्खं, परोक्खं संजईण किं ।
णिग्गंथा सहणं कुज्जा, असहा सा य भंडए" ॥ १ ॥

छाया—निर्ग्रन्थानां च प्रत्यक्षं, परोक्षं संयतीनां किम् ।
निर्ग्रन्थाः सहनं कुर्यात्, असहा सा च भण्डयेत् ॥ १ ॥

अयं भावः—अत्राशङ्कते-संयतसंयतीनां विषये विपर्ययेण कथने किं प्रयोजनम् ? । उत्तरमाह-संयताः सहनशीला भवन्ति परिशीलितशास्त्रत्वात्, संयत्यश्च न तथा सहनशीला भवन्ति स्त्रीस्वाभाव्यात्, ततस्ताः कुपिताः सत्यः भण्डयेयुः धर्मस्य, संयतसंयतीनां च भण्डनां कुर्युरतोऽत्र विपर्ययेण प्रोक्तमिति ॥ सू० ५ ॥

पूर्वं निर्ग्रन्थीनां सांभोगिकीनां विसाम्भोगिककरणे विधिः प्रदर्शितः, अथ निर्ग्रन्थानां स्वशिष्याकरणनिमित्तं निर्ग्रन्थ्याः प्रव्राजननिषेधमाह-'नो कप्पइ' इत्यादि ।

सूत्रम्—नो कप्पइ निग्गंथाणं निग्गंथिं अप्पणो अट्ठाए पव्वावेत्तए वा, मुंडावेत्तए वा, सेहावेत्तए वा, उवट्ठावेत्तए वा, संभुंजित्तए वा, संवसित्तए वा, तीसे इत्तरियं दिसं वा अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ॥ सू० ६ ॥

छाया--नो कल्पते निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीमात्मनोऽर्थाय प्रव्राजयितुं वा मुण्डापयितुं वा उपस्थापयितु वा संभोक्तुं वा संवस्तुं वा, तस्या इत्वरिकां दिशं वा अनुदिशं वा उद्देष्टुं वा धारयितुं वा ॥ सू० ६॥

भाष्यम्—'**नो कप्पइ णिग्गंथाणं**' नो कल्पते निर्ग्रन्थानाम् '**निग्गंथिं**' निर्ग्रन्थीम् '**अप्पणो अट्ठाए**' आत्मनोऽर्थाय-स्वस्य शिष्याकरणाय 'इयं मम शिष्या भविष्यती'-तिवुद्धचा '**पव्वावेत्तए वा**' प्रव्राजयितुं वा-सामायिकारोपणेन प्रव्रज्या दातुं वा, '**मुंडावेत्तए वा**' मुण्डापयितुं वा-लोचादिकरणेन मुण्डितां कर्तुं वा, '**सेहावेत्तए वा**' शिक्षयितुं वा-ग्रहणासेवनशिक्षां दातुं वा, '**उवट्ठावेत्तए वा**' उपस्थापयितुं वा-छेदोपस्थापनचारित्रे आरोपयितुं वा '**संभुंजित्तए वा**' संभोक्तुं वा द्वादशविधसंभोगानां मध्येऽन्यतम संभोगमाचरितुं वा भक्तपानाद्यादानप्रदानरूपं व्यवहारं कर्त्तुमित्यर्थः, '**संवसित्तए वा**' संवस्तुं वा-तया सह वासं कर्तुम्-एकत्र स्थातुं न कल्पते। तथा-'**तीसे इत्तरियं दिसं वा**' तस्याः संयत्या इत्वरिकाम्-अल्पकालिकीं दिशं प्रवर्त्तिन्यादिपदवीम् '**अणुदिसं वा**' अनुदिशं वा-यावज्जीविकां पदवीं वा '**उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा**' उद्देष्टुम्-अनुज्ञातुं वा धारयितुं वा न कल्पते ॥ सू० ६ ॥

पूर्वं निर्ग्रन्थानां स्वनिमित्तं निर्ग्रन्थ्याः प्रव्राजनादिनिषेधः कथितः, सम्प्रति-अन्यप्रवर्त्तिन्यादिनिमित्तं तत्कल्पते, इति विपर्यये सूत्रमाह-'**कप्पइ णिग्गंथाणं**' इत्यादि ।

सूत्रम्—कप्पइ णिग्गंथाणं णिग्गंथिं अन्नासिं अट्ठाए पव्वावेत्तए वा, मुंडावेत्तए वा, सेहावेत्त वा, उवट्ठावेत्तए वा, संभुंजित्तए वा, संवसित्तए वा, तीसे इत्तरियं दिसं वा, अणुदिसं वा, उद्दिसित्तए वा, धारित्तए वा ॥ सू० ७ ॥

छाया—कल्पते निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीम् अन्यासामर्थाय प्रव्राजयितु वा, मुण्डापयितु वा, शिक्षयितुं वा, उपस्थापयितुं वा संभोक्तुं वा, संवस्तुं वा, तस्या इत्वरिकां दिशं वा, अनुदिशं वा उद्देष्टुं वा धारयितु वा ॥ सू० ७ ॥

भाष्यम्—'**कप्पइ णिग्गंथाणं**' कल्पते निर्ग्रन्थानाम् '**णिग्गंथिं**' निर्ग्रन्थीम् '**अन्नासिं अट्ठाए**' अन्यासामर्थाय, तत्र अन्यासाम् प्रवर्त्तिन्यादीनाम् अर्थाय-प्रयोजनाय. 'एता एतस्या उपग्रहं करिष्यन्ती'-त्यभिप्रायेण, न तु स्वात्महितायेत्यर्थः, '**पव्वावेत्तए वा**' इत्यादि सर्वं पूर्ववदेव व्याख्येयम् ॥ सू० ७ ॥

निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीविषये प्रव्राजनादिविधिरुक्तः, सम्प्रति निर्ग्रन्थीनां निर्ग्रन्थविषये तन्निषेधमाह-'**नो कप्पइ**' इत्यादि ।

सूत्रम्—नो कप्पइ णिग्गथीणं णिग्गंथं अप्पणो अट्ठाए पव्वावेत्तए वा मुंडावेत्तए वा, सेहावेत्तए वा, उवट्ठावेत्तए वा, संभुंजित्तए वा, संवसित्तए वा, तस्स इत्तरियं दिसं वा, अणुदिसं वा, उद्दिसित्तए वा, धारित्तए वा ॥ सू० ८ ॥

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थीनां निर्ग्रन्थमात्मनोऽर्थाय प्रव्राजयितुं वा, मुण्डापयितुं वा, शिक्षयितु वा, उपस्थापयितुं वा, संभोक्तुं वा, संवस्तु वा, तस्या इत्वरिकां दिशं वा, अनुदिशं वा, उद्देष्टुं वा धारयितुं वा ॥ सू० ८ ॥

भाष्यम्—"नो कप्पइ णिग्गंथीणं" नो कल्पते निर्ग्रन्थीनाम् **'णिग्गंथं'** निर्ग्रन्थम् **'अप्पणो अट्ठाए'** आत्मनोऽर्थाय-आत्मनः-स्वस्याः प्रयोजनाय **'पव्वावेत्तए वा'** प्रव्राजयितुं वा, इत्यादि सर्वं पूर्ववदेव व्याख्येयम् ॥ सू० ८ ॥

पूर्वं निर्ग्रन्थीनां स्वनिमित्तं निर्ग्रन्थस्य प्रव्राजनादि न कल्पते इति प्रोक्तम्, सम्प्रति परनिमित्तम्-आचार्यादिनिमित्तं कल्पते इति तद्विपर्यये सूत्रमाह—**'कप्पइ णिग्गंथीणं'** इत्यादि ।

सूत्रम्—कप्पइ णिग्गंथीणं णिग्गंथं णिग्गंथाणं अट्ठाए पव्वावेत्तए वा, मुंडावेत्तए वा, सेहावेत्तए वा, उवट्ठावेत्तए वा, संभुंजित्तए वा, संवसित्तए वा, तस्स इत्तरियं दिसं वा, अणुदिसं वा, उद्दिसित्तए वा, धारित्तए वा ॥ सू० ९ ॥

छाया—कल्पते निर्ग्रन्थीनां निर्ग्रन्थं निर्ग्रन्थानामर्थाय प्रव्राजयितुं वा, मुण्डापयितुं वा, शिक्षयितु वा, उपस्थापयितुं वा, संभोक्तुं वा, संवस्तुं वा, तस्य इत्वरिकां दिशं वा अनुदिशं वा, उद्देष्टुं वा धारयितुं वा ॥ सू० ९ ॥

भाष्यम्—**'कप्पइ निग्गंथीणं'** कल्पते-निर्ग्रन्थीनाम् **'णिग्गंथं'** निर्ग्रन्थम् **'णिग्गंथाणं अट्ठाए'** निर्ग्रन्थानां श्रमणानामाचार्योपाध्यायादीनामर्थाय-प्रयोजनाय **'पव्वावेत्तए' वा** प्रव्राजयितुं वा, इत्यादि सर्वं पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥ सू० ९ ॥

पूर्वं स्वनिमित्तं दीक्षादानं निषिध्य अन्यार्थं दीक्षादानमुक्तम्, अन्यार्थं दीक्षादानं दत्वा च यन्निश्रामधिकृत्य दीक्षा दत्ता तदाचार्यादिसमीपे प्रेषणार्थं नियमात्तस्य विहारः कारयितव्यः, इति प्रथमं निर्ग्रन्थीमधिकृत्य विहारविधिमाह—**'नो कप्पइ'** इत्यादि ।

सूत्रम्—नो कप्पइ णिग्गंथीणं विइकिट्ठियं दिसं वा, अणुदिसं वा, उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ॥ सू० १० ॥

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थीनां व्यतिकृष्टां दिशं वा, अनुदिशं वा, उद्देष्टुं वा, धारयितुं वा ॥ सू० १० ॥

भाष्यम्—"नो कप्पइ णिग्गंथीणं" नो कल्पते निर्ग्रन्थीनाम् **"विइकिट्ठियं दिसं वा अणुदिसं वा"** व्यतिकृष्टां दूरस्थां दिशं वा, अनुदिशं वा, तत्र व्यतिकृष्टाम्, व्यतिकृष्टा दिग् द्विविधा भवति क्षेत्रतो भावतश्च, तत्र क्षेत्रतः क्षेत्रमाश्रित्य दूरदेशरूपा, भावतो दूरसम्बन्धगताचार्यादिरूपा, तत्र संयतस्य-आचार्योपाध्यायरूपा द्विविधा । संयत्याश्च आचार्योपाध्यायप्रवर्त्तिनीरूपा त्रिविधा दिग् भवति, तां क्षेत्रतो भावतश्च विप्रकृष्टां-दूरस्थां दिशम् **'अणुदिसं वा'** अनुदिशम्-विशेषतो विप्रकृष्टां दिशम् **"उद्दिसित्तए वा"** उद्देष्टुम्-अन्यमन्यां वाऽनुज्ञातुं तादृशदिग-

मनाज्ञां दातुं वा, "धारित्तए वा" धारायितुं स्वस्य गमनं स्वीकर्त्तुं स्वस्य गन्तुमित्यर्थ. न कल्पते इति पूर्वेण सम्बन्धः। क्षेत्रतो विप्रकृष्टा दिग्–दूरदेशरूपा, तत्र गच्छन्तीनां संयतीनां स्त्रीशरीरत्वाद् बहवो दोषा आत्मसंयमविराधनादयो भवन्ति। भावतो विप्रकृष्टा–अन्यगच्छीयाचार्यादिरूपा तत्राधिकरणादिसंभवादिति ॥ सू० १० ॥

सम्प्रति निर्ग्रन्थमधिकृत्य विहारविधिमाह—'कप्पइ' इत्यादि।

सूत्रम्—कप्पइ णिग्गंथाणं विइगिट्ठियं दिसं वा अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ॥ सू० ११ ॥

छाया—कल्पते निर्ग्रन्थानां व्यतिकृष्टां दिशं वा अनुदिशं वा उद्देष्टुं वा धारयितुं वा ॥ सू० ११ ॥

भाष्यम्—'कप्पइ' कल्पते 'णिग्गंथाणं' निर्ग्रन्थानाम् 'विइगिट्ठियं दिसं वा' व्यतिकृष्टां दिशं वा–व्यतिकृष्टाम् क्षेत्रतो भावतश्च विपरीतां, क्षेत्रतो दूरस्थाम्, भावतोऽन्यगच्छीयाचार्यादिरूपाम् 'अणुदिसं वा' अनुदिशं वा–अतिविपरीताम् 'उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा' उद्देष्टुमनुज्ञातुम् धारयितुं–स्वयं गन्तुं वा ॥ सू० ११ ॥

पूर्वं निर्ग्रन्थानां विप्रकृष्टदिग्गमने विधिः प्रोक्तः, सम्प्रति, विप्रकृष्टप्रसङ्गाद् विप्रकृष्टाधिकरणजन्यापराधक्षमापने निर्ग्रन्थमधिकृत्य सूत्रमाह—'नो कप्पइ णिग्गंथाणं' इत्यादि।

सूत्रम्—नो कप्पइ निग्गंथाणं विइगिट्ठाइं पाहुडाइं विओसवित्तए ॥सू०१२॥

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थानां व्यतिकृष्टानि प्राभृतानि व्यवशमयितुम् ॥ सू० १२ ॥

भाष्यम्—'नो कप्पइ' न कल्पते 'णिग्गंथाणं' निर्ग्रन्थानाम् 'विइगिट्ठाइं' व्यतिकृष्टानि–दूरदेशकृतानि 'पाहुडाइं' प्राभृतानि कठोरवचनादिजनिताधिकरणानि 'विओसवित्तए' व्यवशमयितुम् तत्रस्थानामेव उपशमयितुम्, किन्तु–यत्रैव स्थानविशेषेऽधिकरणं समुत्पन्नं तत्रैवोपशमयितुं कल्पते, क्लेशमुत्पाद्य नान्यत्र गमनं युक्तियुक्तमिति भावः। अत्रापि व्यतिकृष्टाधिकरणक्षमापनं द्विविधम्–क्षेत्रतो भावतश्च, एषः क्षेत्रतो व्यतिकृष्टाधिकरणक्षमापनविधिरुक्तः। भावतस्तु अन्येन श्रमणेन सार्द्धं कृताधिकरणस्याऽन्यसमीपे क्षमापनम्, एवमपि कर्त्तुं न कल्पते इति सूत्राशयः ॥ सू० १२ ॥

सम्प्रति निर्ग्रन्थीमधिकृत्य व्यतिकृष्टाधिकरणक्षमापनविधिमाह—'कप्पइ णिग्गंथीणं' इत्यादि।

सूत्रम्—कप्पइ णिग्गंथीणं विइगिट्ठाइं पाहुडाइं विओसवित्तए ॥ सू० १३ ॥

छाया—कल्पते निर्ग्रन्थीनां व्यतिकृष्टानि प्राभृतानि व्यवशमयितुम् ॥ सू० १३ ॥

भाष्यम्—'कप्पइ' कल्पते 'णिग्गंथीणं' निर्ग्रन्थीनाम् 'विइगिट्ठाइं' व्यतिकृष्टानि क्षेत्रतो भावतश्च दूरदेशकृतानि 'पाहुडाइं' प्राभृतानि–अधिकरणानि तत्रस्थिताया एव 'विओ-

सवित्तए' व्यवशमयितुम्–उपशमयितुं क्षमापयितुमित्यर्थः, निर्ग्रन्थीनां दूरदेशगमने स्त्रीशरीरत्वात् संयमात्मविराधनादिबहुदोषसंभवादिति ॥ सू० १३ ॥

पूर्वं निर्ग्रन्थनिर्ग्रन्थीनां व्यतिकृष्टाऽधिकरणक्षमापनविधिः प्रदर्शितः, सम्प्रति निर्ग्रन्थमधिकृत्य व्यतिकृष्टकाले स्वाध्यायनिषेधमाह—'नो कप्पइ निग्गंथाणं' इत्यादि ।

सूत्रम्—नो कप्पइ णिग्गंथाणं विइगिट्ठे काले सज्झायं करित्तए ॥ सू० १४ ॥

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थानां व्यतिकृष्टे काले स्वाध्यायं कर्त्तुम् ॥ सू० १४ ॥

भाष्यम्—नो कप्पइ' नो कल्पते **'णिग्गंथाणं'** निर्ग्रन्थानाम् **'विइगिट्ठे काले'** व्यतिकृष्टे काले-विकृते विपरीते काले अस्वाध्यायकाले यस्य स्वाध्यायस्य यः कालविशेषो निर्णीतः शास्त्रे तदतिरिक्ते काले, विकृतकालो द्विविधः–कालिक उत्कालिकश्चेति । तत्र कालिकः प्रथमपौरुष्या अनन्तरं चतुर्थपौरुषीतः पूर्वो यः कालः सः । विकृतोत्कालिकः–सूर्योदयसूर्यास्तयोः सन्धिकालः अर्द्धरात्रिश्चेति । एवम्भूते विकृते काले **'सज्झायं'** स्वाध्यायम्–आचाराङ्गनिशीथसूत्रप्रभृतीनां मूलपाठस्याऽध्ययनम् **'करित्तए वा'** कर्तुम् ॥ सू० १४ ॥

निर्ग्रन्थीनां व्यतिकृष्टे काले स्वाध्यायं कर्तुं कल्पते इति तद्विधिमाह—'कप्पइ णिग्गंथीणं' इत्यादि ।

सूत्रम्—कप्पइ णिग्गंथीणं विइगिट्ठे काले सज्झायं करित्तए णिग्गंथनिस्साए ॥१५॥

छाया—कल्पते निर्ग्रन्थीनां व्यतिकृष्टे काले स्वाध्यायं कर्त्तुं निग्रन्थनिश्रया ॥१५॥

भाष्यम्--'कप्पइ' कल्पते **'णिग्गंथीणं'** निर्ग्रन्थीनाम् **'विइगिट्ठे काले'** व्यतिकृष्टे काले–विकालेऽपीत्यर्थः **'सज्झायं करित्तए'** स्वाध्यायं आचाराङ्ग–निशीथसूत्राणामध्ययनं कर्तुम् । ननु पूर्वसूत्रे व्यतिकृष्टकाले निर्ग्रन्थानां स्वाध्यायस्य निषेधः कृतः, प्रकृतसूत्रेण श्रमण्याः कृते स्वाध्यायस्य विधानं क्रियते अस्वाध्यायकालस्तु सर्वेषां समान एव भवतीति न्यायस्य समानत्वात् कथमस्वाध्यायकाले निर्ग्रन्थीनां स्वाध्यायस्य विधानं कृतम् ? तत्राह–कारणिकमिदं सूत्रम्, यथा काचिन्नवदीक्षिता सूत्रावृत्तिं करोति स्त्रीस्वभावत्वाद् विस्मरणशीला च सा, संप्रति स्वाध्यायाकरणेऽस्याः सूत्रं विस्मृतं भविष्यतीत्यादिकारणमादाय निर्ग्रन्थ आज्ञां ददाति तदा तदाज्ञया तस्याः कृते व्यतिकृष्टकालेऽपि स्वाध्यायस्य विधानं कृतमिति नात्र दोषापत्तिरत आह–**'णिग्गंथ०'** इत्यादि, **'णिग्गंथनिस्साए'** निर्ग्रन्थनिश्रया–श्रमणस्याज्ञया श्रमण्या सूर्योदयसूर्यास्तसन्धिकालार्द्धरात्ररूपास्वाध्यायेऽपि काले स्वाध्यायः कल्पते, निषेधोऽत्र स्वातन्त्र्येण संयत्याः विकृतकाले स्वाध्यायकरणविषयको विज्ञेय इति ॥ सू० १५ ॥

सम्प्रति समुच्चयेन स्वाध्यायनिषेधमाह—'णो कप्पइ' इत्यादि ।

सूत्रम्—णो कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा असज्झाइए सज्झायं करित्तए ॥ सू० १६ ॥

छाया—नो कल्पते निर्ग्रंथानां वा निर्ग्रन्थीनां वा अस्वाध्यायिके स्वाध्यायं कर्त्तुम् ॥ सू० १६ ॥

भाष्यम्—'नो कप्पइ' नो कल्पते 'णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा' निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा 'असज्झाइए' अस्वाध्यायिके स्वाध्यायेन निर्वृत्तं स्वाध्यायिकं, न स्वाध्यायिकम् अस्वाध्यायिकम्, तस्मिन्–यदा यत्र वा अस्वाध्यायसम्बन्धि किमपि कारणं भवेत् तत्समये तत्स्थाने वा 'सज्झायं करित्तए' स्वाध्यायं कर्त्तुम्, यः खलुः अस्वाध्यायिकः कालस्तस्मिन् काले स्वाध्याय कर्त्तुं संयतानां संयतीनां वा न कल्पते । अस्वाध्यायिकप्रकरणं सविस्तरमुत्तराध्ययनसूत्रस्यैकोनत्रिंशत्तमेऽध्ययने मत्कृतायां प्रियदर्शनीव्याख्यायामालोकनीयम् ॥ सू० १६॥

अथ स्वाध्यायकाले स्वाध्यायोऽवश्यं कर्त्तव्य इति स्वाध्यायसूत्रमाह—'कप्पइ' इत्यादि ।

सूत्रम्—कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा सज्झाइए सज्झायं करित्तए ॥१७॥

छाया—कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा स्वाध्यायिके स्वाध्यायं कर्त्तुम् ॥१७॥

भाष्यम्—'कप्पइ' कल्पते 'निग्गंथाण वा' निर्ग्रन्थानां वा 'निग्गंथीण वा' निर्ग्रन्थीनां वा 'सज्झाइए' स्वाध्यायिके–स्वाध्यायकाले 'सज्झायं' स्वाध्यायम् 'करित्तए' कर्त्तुम् कल्पते, स्वाध्यायकाले निर्ग्रन्थनिर्ग्रन्थीभिरवश्यं स्वाध्यायः कर्त्तव्यः, नाऽत्र प्रमादः कार्य इति भावः । कस्य सूत्रस्य कः स्वाध्यायकालः ? कस्य सूत्रस्य कोऽस्वाध्यायकालः ? इत्यादि सर्वं नन्दीसूत्रे द्रष्टव्यम् ॥ सू० १७॥

अस्वाध्यायिकं द्विविधं भवति–आत्मसमुत्थं परसमुत्थं च, तत्राऽऽत्मसमुत्थमस्वाध्यायिकमाह–'नो कप्पइ' इत्यादि ।

सूत्रम्—नो कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा अप्पणो असज्झाइए सज्झायं करित्तए, कप्पइ ण्हं अण्णमण्णस्स वायणं दलइत्तए ॥ सू० १८॥

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा आत्मनोऽस्वाध्यायिके स्वाध्यायं कर्त्तुम्, कल्पते खलु अन्योऽन्यस्य वाचनां दातुम् ॥ सू० १८ ॥

भाष्यम्—'नो कप्पइ' नो कल्पते 'णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा' निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा, 'अप्पणो' आत्मनः स्वसंबन्धिनि स्वस्मादुत्थिते इत्यर्थः 'असज्झाइए' अस्वा-

ध्यायिके 'सज्झायं करित्तए' स्वाध्यायं कर्त्तुं न कल्पते इति सम्बन्धः, किन्तु 'कप्पइ ण्हं अन्नमन्नस्स' कल्पते खलु अन्योऽन्यस्य—परस्परस्य 'वायणं दलइत्तए' वाचनां दातुम् अन्यत्र अन्यस्थाने अन्यद्वारा वा। तत्रात्मसमुत्थमस्वाध्यायिकं श्रमणस्यैकं भवति रोगजम्, श्रमण्याश्च द्विविधम्—रोगजम् ऋतुजं च, तत्र रोगजम् अर्शोभगन्दरव्रणादिविषयम्, ऋतुजं च ऋतुविषयम्। तत्र श्रमणस्य रक्तपूयादिदर्शनं यावत्, श्रमणीनां च रक्तपूयरजोदर्शनं यावद् अस्वाध्यायिकं भवति, तस्मिन् काले निर्ग्रन्थनिर्ग्रन्थीनां स्वाध्यायं कर्त्तुं न कल्पते, किन्तु व्रणादिस्थानमष्ट-पुटवस्त्रेणाच्छाद्याऽन्योऽन्यस्य—परस्परस्य वाचनां अर्थरूपां दातुं श्रोतुं वा कल्पते ॥ सू० १८ ॥

पूर्वमस्वाध्यायिके स्वाध्यायनिषेधः, स्वाध्यायिके स्वाध्यायविधिश्च प्रदर्शितः, सम्प्रति स्वाध्यायिके नित्यस्वाध्यायकारकः श्रमणः पदवीयोग्यो भवति, स चाऽल्पपर्यायोऽपि बहुपर्याय-वत्याः श्रमण्या उपाध्यायतया आचार्यतया च उद्देष्टुं कल्पते इति सूत्रद्वयेनाह—'तिवास०' इत्यादि।

सूत्रम्—तिवासपरियाए समणे णिग्गंथे तीसंवासपरियायाए समणीए णिग्गं-थीए कप्पइ उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए ॥ सू० १९ ॥

छाया—त्रिवर्षपर्यायः श्रमणो निर्ग्रन्थः त्रिंशद्वर्षपर्यायायाः श्रमण्याः निर्ग्रन्थ्याः कल्पते उपाध्यायतया उद्देष्टुम् ॥ सू० १९ ॥

भाष्यम्—'तिवासपरियाए समणे णिग्गंथे' त्रिवर्षपर्यायः श्रमणो निर्ग्रन्थः, त्रिवर्ष--वर्षत्रयं यथा स्यात् पर्यायो—दीक्षाग्रहणसमयो विद्यते यस्य स त्रिवर्षपर्यायः श्रमणो निर्ग्रन्थो भवेत्तदा सः 'तीसंवासपरियाए' त्रिंशद्वर्षपर्यायायाः--त्रिंशद्वर्षदीक्षापर्यायवत्याः 'समणीए णिग्गंथीए' श्रमण्या निर्ग्रन्थ्याः 'कप्पइ उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए' कल्पते उपाध्यायतया उद्देष्टुं-स्वीकर्त्तुम्, त्रिंशद्वर्षपर्यायवत्याः श्रमण्याः त्रिवर्षपर्यायः श्रमणः उपाध्यायो भवितुमर्हतीति भावः ॥ १९ ॥

पुनराह--'पंचवासपरियाए' इत्यादि।

सूत्रम्—पंचवासपरियाए समणे निग्गंथे सट्ठिवासपरियायाए समणीए निग्गंथीए कप्पइ आयरियत्ताए उद्दिसित्तए ॥ सू० २० ॥

छाया—पञ्चवर्षपर्यायः श्रमणो निर्ग्रन्थः षष्टिवर्षपर्यायायाः श्रमण्या निर्ग्रन्थ्याः कल्पते आचार्यतया उद्देष्टुं ॥ सू० २० ॥

भाष्यम्—'पंचवासपरियाए' पञ्चवर्षपर्यायः--पञ्चवर्षदीक्षापर्यायः 'समणे निग्गंथे' श्रमणो निर्ग्रन्थो यदि भवेत्तदा सः 'सट्ठिवासपरियायाए' षष्टिवर्षपर्यायायाः- षष्टिवर्षदीक्षापर्या-यवत्याः 'समणीए निग्गंथीए' श्रमण्या निर्ग्रन्थ्याः 'कप्पइ' कल्पते, 'आयरियत्ताए' आचार्यतया

आचार्यरूपेण 'उद्दिसित्तए' उद्देष्टुं--स्वीकर्तुम्, पञ्चवर्षपर्यायः श्रमणः षष्टिवर्षपर्यायवत्याः श्रमण्याः आचार्यो भवितुमर्हतीति भावः। अत्र विषये अस्यैव व्यवहारसूत्रस्य तृतीयोद्देशकस्य तृतीयसूत्रे त्रिवर्षपर्यायस्य श्रमणनिर्ग्रन्थस्योपाध्यायत्वम्, पञ्चमे सूत्रे च पञ्चवर्षपर्यायस्य श्रमणनिर्ग्रन्थस्य च आचार्योपाध्यायत्वं कल्पते इति प्रोक्तमित्युभयोर्भेदः। ननु त्रिंशद्वर्षपर्यायायास्त्रिवर्षपर्याय उपाध्यायः, पञ्चवर्षपर्यायश्च षष्टिवर्षपर्यायाया आचार्यश्च भवेत्तदाऽधिकपर्यायवती श्रमणी अल्पपर्यायस्य श्रमणस्य कथं वन्दनादिव्यवहारं कुर्यात्, एतदनुचितं प्रतिभाति ? तत्राह--नैवं शङ्कनीयम् जिनशासने पुरुषज्येष्ठस्य धर्मस्य तीर्थकरैः प्रतिपादितत्वादिति, किं बहुना--श्रमण एकदिवसपर्यायोऽपि शतवर्षपर्यायायाः श्रमण्या वन्दनीयो भवतीति शास्त्रसंमतम् ॥ सू० २० ॥

पूर्वं पर्यायमाश्रित्य पदवीदानविधिः प्रदर्शितः, सम्प्रति--मृतश्रमणदेहस्य परिष्ठापनविधिमाह-'गामाणुगामं' इत्यादि।

सूत्रम्—गामाणुगामं दूइज्जमाणे भिक्खू य आहच्च वीसंभेजा तं च सरीरगं केइ साहम्मिए पासेज्जा कप्पइ से तं सरीरगं न सागारियमिति कट्टु थंडिले बहु-फासुए पडिलेहित्ता पमज्जित्ता परिट्ठवेत्तए, अत्थि य इत्थ केइ साहम्मियसंतिए उव-गरणजाए परिहरणारिहे कप्पइ से सागारकडं गहाय दोच्चंपि ओग्गहे अणुण्णवेत्ता परिहारं परिहरित्तए ॥ सू० २१ ॥

छाया—ग्रामानुग्रामं द्रवन् भिक्षुश्चाहत्य विष्वग्भवेत्, तं च शरीरकं कश्चित्साध-र्मिकः पश्येत् कल्पते तस्य तच्छरीरकं न सागारिकमिति कृत्वा स्थण्डिले बहुप्रासुके प्रतिलेख्य प्रमार्ज्य परिस्थापयितुम्। अस्ति चात्र किञ्चित् साधर्मिकसत्कमुपकरणजातं परिहरणार्हम्, कल्पते तस्य सागारकृतं गृहीत्वा द्वितीयमपि अवग्रहमनुज्ञाप्य परिहारं परिहर्तुम् ॥ सू० २१ ॥

भाष्यम्--'गामाणुगामं' ग्रामानुग्रामम्—एकस्माद् ग्रामाद् ग्रामान्तरम् **'दूइज्ज-माणे'** द्रवन्—विहारवृत्त्या गच्छन्, **'भिक्खू य'** भिक्षुश्च श्रमणः **'आहच्च'** आहत्य—कदा-चित् **'वीसंभेज्जा'** विष्वग्भवेत्—शरीराद् विष्वक्—पृथग्भवेत्—म्रियेत—कालगतो भवेदित्यर्थः **'तं च सरीरगं केइ साहम्मिया पासेज्जा'** तच्च शरीरकं कश्चित् साधर्मिकः—सहगतः श्रमणः पश्येत्—अयं मृत इति जानीयात्तदा **'कप्पइ'** कल्पते **'से'** तस्य साधर्मिकस्य भिक्षोः **'तं सरीरगं'** तन्मृतशरीरम् **'न सागरियमिति कट्टु'** न सागारिकं—सागारसंबन्धि—गृहस्थसंबन्धि मा भवतु गृहस्था इदं मृतकशरीरं मा स्पृशन्तु **'इति कट्टु'** इति कृत्वा—इति बुद्ध्या

'थंडिले' स्थण्डिले-एकान्तभूमिरूपे, कीदृशे ? इत्याह-'बहुफासुए' बहुप्रासुके-द्वीन्द्रियादि-जीवविवर्जिते 'पडिलेहित्ता' तत्स्थण्डिलं प्रतिलेख्य-प्रत्युपेक्ष्य द्वीन्द्रियादिप्राणिवर्जितं सम्यगवलोक्य ततः 'पमज्जित्ता' प्रमार्ज्य-प्रमार्जनं कृत्वा तत्स्थानात् द्वीन्द्रियादिकं पृथक् कृत्वा, 'परिट्ठवित्तए' परिस्थापयितुम् साधूनां साधर्मिकस्य मृतस्य संयतस्य शरीरं गृहस्था मा स्पृशन्तु इति बुद्ध्या द्वीन्द्रियादिजीवविवर्जितप्रदेशे प्रतिलेखनप्रमार्जनं कृत्वा तत् शरीरं परिष्ठापयितुं कल्पते इत्यर्थः। परिष्ठापनानन्तरम् 'अत्थि य इत्थ केइ साहम्मियसंतिए उवगरणजाए परिहरणारिहे' अस्ति चात्र किञ्चित् सावर्मिकसत्कमुपकरणजातं परिहरणार्हम्, अस्ति-विद्यते चात्र मृतसाधुशरीरसमीपे किञ्चित् साधर्मिकसंयतसवन्धि-उपकरणजातं भण्डोपकरणादिकं परिहरणार्हे-परिभोगार्हम् उपभोगयोग्यं भवेत्तदा 'कप्पइ से सागारकडं गहाय' कल्पते 'से' तस्य सागारकृतं गृहीत्वा, तत्र-सागारकृतं नाम नात्मना स्वीकरोति किन्तु आचार्यसम्बन्धि एतत्, आचार्य एव तस्य ज्ञायकः, एवमवग्रहपूर्वकं गृहीत्वाऽऽचार्याणां समर्पयेत्, आचार्यो यदि यस्मै कस्मैचिद्दद्यात् तदा सः 'मत्थएण वन्दामि तहत्ति' इति ब्रुवाणः आचार्यवचः स्वीकुर्यात् गृहीते सति 'दोच्चंपि ओग्गहं अणुण्णवेत्ता' द्वितीयमपि वारम् अवग्रहम्-आज्ञां भण्डोपकरणाद्युपभोगार्थमनुज्ञाप्य-गृहीत्वा 'परिहारं परिहरित्तए' परिहारं परिहर्तुम्-आचार्यानुज्ञापनानन्तरमुपभोगयोग्यं वस्तु आचार्यप्रदत्तमुपभोक्तुं कल्पते परिहर्तुमिति त्यागानुज्ञायां त्यक्तुं कल्पते, अन्यस्मै दातुं परिष्ठापयितुं वा कल्पते ॥ सू० २१ ॥

सम्प्रति-उपाश्रयस्य अवक्रयविक्रयविषयमधिकृत्य शय्यातरविधिं प्रदर्शयितुमाह-'सागारिए' इत्यादि ।

सूत्रम्—सागारिए उवस्सयं वक्कएणं पउंजेज्जा, से य वक्कइयं वएज्जा इमम्मि य इमम्मि य ओवासे समणा णिग्गंथा परिवसंति से सागारिए परिहारिए, से य नो वएज्जा वक्कइए वएज्जा से सागारिए परिहारिए, दोवि ते वएज्जा दोवि सागारिया परिहारिया ॥ सू० २२ ॥

छाया— सागारिकः उपाश्रयमवक्रयेण प्रयुञ्जीतः स चाऽवक्रयिकं वदेत्-अस्मिंश्च अस्मिंश्च अवकाशे श्रमणा निर्ग्रन्थाः परिवसन्ति, स सागारिकः परिहार्य्यः, स च नो वदेत् अवक्रयिको वदेत् स सागारिकः परिहार्य्यः, द्वावपि तौ वदेयाताम् द्वावपि सागारिकौ परिहार्य्यौ ॥ सू० २२ ॥

भाष्यम्—'सागारिए' सागारिकः उपाश्रयस्वामी 'उवस्सयं' उपाश्रयम्-वसतिम् 'वक्कएणं' अवक्रयेण, कियत्कालमवक्रयेण-भाटकप्रदानेन 'पउंजेज्जा' प्रयुञ्जीत-व्यापारयेत्,

श्रावको भाटकप्रदानपूर्वकमन्यस्मै उपाश्रयं दद्यात् इत्यर्थः, 'से य वक्कइयं वएज्जा' स च सागारिकः, अवक्रयिकं भाटकेनोपाश्रयप्रतिग्राहिणं वदेत् उपाश्रयग्रहणसमये कथयेत् । किं वदेत् ? तत्राह—'**इमम्मि**' इत्यादि, '**इमंमि य इमंमि य ओवासे समणा णिग्गंथा परिवसंति**' अस्मिश्च अस्मिश्च अवकाशे—उपाश्रयस्याऽमुकामुकप्रदेशे श्रमणा निर्ग्रन्थाः परिवसन्ति—निवासं कुर्वन्ति, स सागारिकः यस्मै भाटकग्रहणाय उपाश्रयं ददाति, तं प्रति उपाश्रयप्रदानसमये एवं वदेत्—यदहं तुभ्यं भाटकप्रदानपूर्वकमुपाश्रयं ददामि किन्तु उपाश्रयस्याऽमुकप्रदेशे साधवो वसन्ति अतस्तं प्रदेशं विहायोपाश्रयं ददामीति । तस्मात् साधुस्थितिकमुपाश्रयस्य प्रदेशं विहायाऽवशिष्ट एवोपाश्रयस्य प्रदेशो भाटकप्रदानपूर्वकं त्वया ग्रहीतव्यः '**से सागारिए परिहारिए**' एवमुक्ते स सागारिकः परिहार्यः—परिहर्त्तव्यः । उपाश्रयं भाटकप्रदानपूर्वकं ददतः शय्यातरस्य गृहात् साधुभिर्भक्तपानादिकं न ग्रहीतव्यमित्यर्थः । '**से य नो वएज्जा वक्कइए वएज्जा**' कदाचित् स चोपाश्रयस्वामी नो वदेत् अवक्रयिक एव—भाटकेनोपाश्रयग्रहीतैव वदेत्, यथा—अस्मिश्च अस्मिश्चावकाशे श्रमणा निवासं कुर्वन्तु, '**से सागारिए परिहारिए**' स सागारिकः—सोऽवक्रयिकः सागारिकः शय्यातर इति परिहार्य्यः—परिहर्त्तव्यः, तद्गृहादपि भक्तपानादिकं साधुभिर्न ग्रहीतव्यमिति । '**दोवि ते वएज्जा दोवि सागारिया परिहारिया**' द्वावपि तौ वदेयाताम्, द्वावपि सागारिकौ परिहार्य्यौ । अथ द्वावपि भाटकदाता भाटकेन प्रतिग्रहीता च वदेयाताम् प्रथममुपाश्रयस्वामी वदेत्—एतावति उपाश्रयस्याऽवकाशे श्रमणा निर्ग्रन्थाः स्थास्यन्तीति, पश्चादवक्रयिको ब्रूयात्—एतावति प्रदेशे श्रमणा निर्ग्रन्थास्तिष्ठन्तु न मे काऽपि हानिः, एवं यदि तौ द्वावपि वदेयाताम् तदा तौ द्वावपि सागारिकौ शय्यातरौ इति द्वावपि परिहार्य्यौ, तयोर्द्वयोरपि गृहात्साधुभिर्भक्तपानादिकं न ग्रहीतव्यमिति ।

यदि—शय्यातरो भाटकेनोपाश्रयं कस्मैचिद्ददाति तथा प्रदान समये कथयेत्—यामहं ददामि वसतिम्, तस्या वसतेरमुकाऽमुकप्रदेशे श्रमणा निर्ग्रन्थाः परिवसन्ति, अतस्तत्तत्प्रदेशं परित्यज्योपाश्रयस्य प्रदेशान्तरमेव त्वया ग्रहीतव्यम्, इत्थं कथयतः शय्यातरस्य भक्तपानादिकं श्रमणैर्न ग्रहीतव्यम् । यदि शय्यातरः सम्पूर्णमेवोपाश्रयं भाटकेन दद्यात् अतोऽमुकप्रदेशे श्रमणा स्तिष्ठन्तीति वक्तुं न पारयेत्—कथयितुं न शक्नुयात्, किन्तु—यो भाटकेन गृह्णाति स एव वदेत्—यदमुकाऽमुकप्रदेशे श्रमणा निर्ग्रन्थास्तिष्ठन्तु, तदा स भाटकेन उपाश्रयप्रतिग्रहीता शय्यातर इति तस्याऽपि भक्तपानादिकं ग्रहीतुं साधूनां न कल्पते । यदि उपाश्रयस्याधिपतिः भाटकेन ग्रहीता च उभावपि वदेयाताम् तत्र प्रथमो वदेत्—अमुकप्रदेशे श्रमणा निर्ग्रन्थाः स्थास्यन्तीति, उपाश्रयग्रहीताऽपि वदेत्—यदुपाश्रयस्याऽमुष्मिन् अवकाशे

श्रमणा निर्ग्रन्थास्तिष्ठन्तु तदोभावपि शय्यातरौ इति द्वयोरपि तयोर्भक्तपानादिकं साधुभिर्न ग्रहीतव्यमिति भावः ॥ सू० २२ ॥

सूत्रम्—सागारिए उवस्सयं विक्किणिज्जा से य कइयं वएज्जा इमंमि य इमंमि य ओवासे समणा णिग्गंथा परिवसंति, से य सागारिए परिहारिए, से य नो वएज्जा कइए वएज्जा से सागारिए परिहारिए, दोवि ते वएज्जा दोवि सागारिया परिहारिया ॥ सू० २३ ॥

छाया— सागारिक उपाश्रयं विक्रीणीत, स च क्रयिकं वदेत्—अस्मिश्च अस्मिश्च अवकाशे श्रमणा निर्ग्रन्थाः परिवसन्ति, स च सागारिकः परिहार्य्यः, स च नो वदेत्, अवक्रयिको वदेत् स सागारिकः परिहार्य्यः, द्वावपि तौ वदेयाताम् द्वावपि सागारिकौ परिहार्य्यौ ॥ सू० २३ ॥

भाष्यम्—'**सागारिए**' सागारिकः-शय्यातर. '**उवस्सयं**' उपाश्रयं-वसतिम् '**विक्किणिज्जा**' विक्रीणीत—उपाश्रयस्य विक्रयं कुर्यात् मूल्येन दद्यादित्यर्थः तस्योपाश्रयस्य यावन्मूल्यं तद् गृहीत्वा तमुपाश्रयं मूल्यदात्रे दद्यात्, '**से य कइयं वएज्जा**' स च क्रयिकं वदेत् स चोपाश्रयस्य विक्रेता सागारिकः यो मूल्यं दत्वा उपाश्रयं गृह्णाति तं प्रति वदेत्—'**इमंमि य इमंमि य ओवासे समणा णिग्गंथा परिवसंति**' त्वया मूल्येन गृहीतस्यास्योपाश्रयस्य अस्मिश्चास्मिश्च अवकाशे श्रमणा निर्ग्रन्थाः परिवसन्ति—अस्योपाश्रयस्यामुकप्रदेशे साधवस्तिष्ठन्ति, अतस्तादृशं देशं परित्यज्योपाश्रयं भवते ददामि, '**से य सागारिए परिहारिए**' स च सागारिकः शय्यातरः इति शय्यातरत्वात् स परिहार्य्यः—परिहर्त्तव्यः भक्तपानादिकं गृह्णद्भिः तस्य प्रतिषेधः कार्यः । '**से य नो वएज्जा**' स च—पूर्वस्वामी यदि किञ्चिदपि न वदेत् किन्तु '**कइए वएज्जा**' क्रयिक—यो मूल्यं दत्त्वा उपाश्रयं गृह्णाति स एव वदेत्—यथा—अस्योपाश्रयस्याऽमुकप्रदेशे मत्क्रीतेऽपि श्रमणा निर्ग्रन्थाः यथासुखं तिष्ठन्तु, तदा—'**से सागारिए परिहारिए**' स च क्रेता सागारिकः शय्यातर इति कृत्वा परिहार्य्यः—परिहर्त्तव्य', तद्गृहं भक्तपानाद्यर्थं परिवर्जनीयमिति । '**दोवि ते वएज्जा दोवि सागारिया परिहारिया**' अथवा द्वावपि तौ पूर्वप्रकारेण वदेयाताम् तदा द्वावपि सागारिकौ शय्यातरौ परिहार्य्यौ—परिहर्त्तव्यौ । अथ यदि द्वावपि वदेयाताम्—यथा पूर्वस्वामिना कथितम्—'एतावत्येकदेशे श्रमणा निर्ग्रन्थास्तिष्ठन्तु' परन्तु तावति प्रदेशे श्रमणानां समावेशमदृष्ट्वा मूल्येन ग्रहीता वदेत्—एतावति मदीयेऽपि प्रदेशे तिष्ठन्तु श्रमणा निर्ग्रन्थाः, तदा द्वावपि सागारिकौ—शय्यातरौ इति तौ द्वावपि परिहार्यौ—परिहर्त्तव्यौ, तद्गृहेभ्यो भक्तपानादिकं कदाचिदपि न ग्राह्यम् ॥ सू० २३ ॥

पूर्वमुपाश्रयमधिकृत्य शय्यातरविधिः प्रदर्शितः, साम्प्रतमुपाश्रयस्याऽवग्रहविधिमाह— 'विहवधूया' इत्यादि ।

सूत्रम्—विहवधूया नायकुलवासिणी सावि यावि ओग्गहं अणुन्नवेयव्वा किमंग ! पुण पिया वा भाया वा पुत्ते वा सेवि यावि ओग्गहं ओगिण्हियव्वे ॥ सू० २४ ॥

छाया—विधवदुहिता ज्ञातकुलवासिनी साऽपि चापि अवग्रहमनुज्ञापयितव्या किमङ्ग ? पुनः पिता वा भ्राता वा पुत्रो वा सोऽपि चापि अवग्रहमवग्रहीतव्यः ॥ सू० २४ ॥

भाष्यम्—'विहवधूया' विधवदुहिता तत्र विगतः धवः—पतिर्यस्याः सा विधवा—पतिरहिता, दुहिता—उपाश्रयस्वामिनः कन्या, कीदृशीत्याह—'**नायकुलवासिणी**' ज्ञातकुलवासिनी—पतिपक्षरहितत्वेन पितृगृहवासिनी पितृपक्षवासिनी पितृपितामहादिगृहवासिनी वा '**सावि यावि ओग्गहं अणुन्नवेयव्वा**' साऽपि चापि—साऽपि चावग्रहमनुज्ञापयितव्या—अवग्रहम्—आज्ञां प्रति अनुज्ञापयितव्या—आज्ञाग्रहणयोग्या भवति, साधुभिर्वासाय एषाऽपि प्रष्टव्येत्यर्थः, एतस्या अनुज्ञामादाय उपाश्रये वासः करणीयो न त्वाज्ञामन्तरेण निवसेदितिभावः । यदि पितृगृहस्थिता विधवाऽपि आज्ञाग्रहणार्थं योग्या भवति तर्हि-'**किमंग ! पुण पिया वा भाया वा पुत्ते वा**' किमङ्ग पुनः पिता वा भ्राता वा पुत्रो वा, '**सेवि यावि**' सोऽपि च सुतराम् '**ओग्गहं ओगेण्हियव्वे**' अवग्रहमवग्रहीतव्यः । यदि विधवा दुहिता स्थानार्थमनुज्ञापयितव्या भवेत्तदा का कथा पितृभ्रातृपुत्रादीनाम्, अतस्ते सर्वेऽपि निवासार्थमनुज्ञापयितव्याः । तत्र पुत्रादयो द्विप्रकारकाः प्रज्ञप्ताः प्रभवः सत्ताधारिणः, अप्रभवः—सत्तावर्जिताः, तत्राऽप्रभव एते—गृहीतभागः पृथग्भूतो भ्राता १, पुत्रो वा २, प्राघूर्णकः ३, दासः ४, भृतकः ५, जामात्रे दत्ता पितृपक्षद्विष्टा कन्या च ६, एते निस्सत्ताका अप्रभवो नानुज्ञापनीयाः, एतेषामुपाश्रयाज्ञा न ग्रहीतव्या श्रमणैरिति भावः । अथ च-अप्रभूणामनुज्ञापने सम्भवन्त्येते दोषाः, तथाहि— अप्रभूननुज्ञाप्य यदि कुत्रचित् उपाश्रये गृहे वा श्रमणः स्थास्यति तदा—यदा गृहस्वामी आगमिष्यति, अथ यदि तस्य साधुनिवासो नानुमतो भवेत् तदा स गृहस्वामी दिवा रात्रौ वा उपाश्रयात् श्रमणान्निष्कासयेत् । तत्र—निष्काशने लोके महती निन्दा स्यात्, कथयिष्यन्ति च लोकाः—यत् इमे साधवो दुष्टाः अशुभकर्मकारिणः सन्तीति प्रतिभाति, अत एव अमुकेन श्रावकेन स्वोपाश्रयान्निष्कासिता इति, कदाचित् स्थानान्तरमलभमानानामकिञ्चनानामिव यत्र तत्र परिभ्रमणं स्यात्, इत्यादिबहवो दोषाः संभवेयुः । तथा—अदत्तादानदोषोऽपि स्यात्, तेनाऽऽज्ञाभङ्गादयो दोषा अपि समापतेयुः, तस्मात् गृहस्वामिनो वा तन्निर्दिष्टाद्वा वसतेराज्ञा ग्रहीतव्येति भावः ॥ सू० २४ ॥

पूर्वं चतुर्विंशतितमसूत्रे नगरे वसता श्रमणेनाऽवग्रहयाचना कर्त्तव्येति कथितम् स च श्रमणो यथानगरे तिष्ठति तथा विहारं कुर्वन् श्रमणः कदाचिदटव्यामपि वसेदिति वनेऽपि तिष्ठता श्रमणेन तत्रापि अवग्रहयाचना कर्त्तव्येति दर्शयितुं पञ्चविंशतितमं सूत्रं व्याख्यातुमाह—'**पहेवि ओग्गहं**' इत्यादि ।

सूत्रम्—पहेवि ओग्गहं अणुन्नवेयव्वे ॥ सू० २५ ॥

छाया—पथि अपि अवग्रहमनुज्ञापयितव्यः ॥ सू० २५॥

भाष्यम्—पथि अपि, तत्र पथि—मार्गे अपिशब्दाद् वृक्षाद्यधः अटव्यादौ च '**ओग्गहं**' अवग्रहम्—निवासार्थमात्मनो निवासविषयकं याचनं प्रति कोऽपि वृक्षादिस्वामी भवेत् सः '**अणुन्नवेयव्वे**' अनुज्ञापयितव्यः, तत्सकाशान्निवासविषयाज्ञा ग्रहीतव्येति भावः । मार्गे यत्र वृक्षादौ छायायां विश्राम्यन्तो ये यत्र पथिकाः प्रथमं स्थितास्तिष्ठन्ति तानपि पृष्ट्वा तत्र श्रमणस्तिष्ठेत्, अपृष्ट्वा तु तत्रापि न स्थातव्यम् । यत्र ते सागारिका वसेयुर्वृक्षादिमूले ते तु सुतरामेव अनुज्ञापयितव्याः, ततो भवन्ति ते शय्यातराः । यत्र वृक्षस्याऽधस्तात् अन्यत्र वा एकस्य परिग्रहे अनेकेषां वा परिग्रहे साधवो रात्रौ वसन्ति तर्हि यदिसंस्तरेयुस्तदा सर्वानेव तान् शय्यातरान् कुर्युः अथाहाराद्यलाभेन न संस्तरेयुस्तदा तन्मध्ये एक एव शय्यातरत्वेन स्थापयितव्यः, इत्येषा शेषेषु सागारिकेषु भजनेति ॥ सू० २५ ॥

पूर्वं शय्यातरावग्रहानुज्ञापनाविधिरुक्तः, सम्प्रति राजपरावर्त्तेऽवग्रहानुज्ञापनाविधिमाह—'**से रज्जपरिपपट्टेसु**' इत्यादि ।

सूत्रम्—से रज्जपरिपट्टेसु संथडेसु अव्वोगडेसु अवोच्छिन्नेसु अपरपरिग्गहिएसु सच्चेव ओग्गहस्स पुव्वाणुन्नवणा चिट्ठइ अहालंदमवि ओग्गहे ॥ सू० २६ ॥

छाया—तस्य राजपरावर्त्तेषु संस्तृतेषु अव्याकृतेषु अव्यवच्छिन्नेषु अपरपरिगृहीतेषु सैवाऽवग्रहस्य पूर्वानुज्ञापना यथालन्दनमपि अवग्रहः ॥ सू० २६ ॥

भाष्यम्—'**से रज्जपरिपट्टेसु**' '**से**' तस्य श्रमणस्य राजपरावर्त्तेषु राज्ञः परावर्त्तने जाते सति, तत्र—राजपरावर्त्तो नाम पूर्वं यो राजा शासनं कुर्वन्नासीत् स राजा कालगतोऽभूत् नवीनश्च राजा तस्मिन् स्थानेऽभिषिक्तः, तेषु राजपरावर्त्तेषु । पुन. कथम्भूतेषु ? तत्राह—'**संथडेसु**' संस्तृतेषु—सम्यग्रूपेण समर्थेषु—न कोऽपि प्रत्यन्तरराजा तदीयराज्यं विलुम्पितुं शक्नोति तादृशेषु सामर्थ्यवत्सु । पुनः कथम्भूतेषु राजपरावर्त्तेषु ? '**अव्वोगडेसु**' अव्याकृतेषु—व्याकृतरहितेषु येषां दायादानां तद्राज्यसामान्यं तैर्दायादैरविभक्तेषु दायादभागवर्जितेषु । पुनः कथम्भूतेषु राजपरावर्त्तेषु ? तत्राह—'**अवोच्छिन्नेसु**' अव्यवच्छिन्नेषु—वंशपरम्परागतं तद्राज्यमद्यावधि न

यवच्छिन्नं परम्परागतमेव वर्तते तादृशेषु, अत एव 'अपरपरिग्गहिएसु' अपरपरिगृहीतेषु—न रेण केनापि राज्ञा परिगृहीतेषु राजपरावर्त्तेषु 'सच्चेव ओग्गहस्स पुव्वाणुन्नवणा' सा एव र्वावग्रहस्याऽनुज्ञापना या पूर्वराज्ञः सकाशाद् गृहीता—अनुज्ञापना कृता सैवाऽवग्रहस्याऽनुज्ञापना तिष्ठति। कियन्तं कालं सैव पूर्वाऽनुज्ञापना तिष्ठति ? तत्राह—'अहालंदमवि ओग्गहे' यथालन्दमप्यवग्रहः, लन्दशब्दोऽत्र कालवाचकस्तेन यावन्तं कालं स राजवंशोऽनुवर्त्तते तावन्तं कालम्, अथवा यावत्कालं श्रमणस्तत्र तिष्ठेत् तावत्कालपर्यन्तमपि अवग्रहे पूर्वराजाऽवग्रहे सैव पूर्वाऽनुज्ञापना वर्त्तते, न पुनरस्मिन् राज्ञि सिंहासने उपविष्टे स भूयोऽपि अवग्रहं प्रति अनुज्ञापयितव्य.। साधुः साध्वी वा पूर्वराजा कालगतः, द्वितीयो राज्येऽभिषिक्तः अनेन प्रकारेण राज्ये परिवर्त्तनं जातम् परन्तु सम्प्रति—तस्मिन् देशे प्रथमस्य राज्ञ आज्ञा न गता, दायादेषु विभागो न जातः, वंशपरम्परागतस्य राज्ञो विच्छेदो न जातः, वंशपरम्परागत एव तत्राभिषिक्तः, प्रत्यन्तरराजन्येन केनापि राज्यं न परिगृहीतम् तावत्कालपर्यन्तं पूर्वराज्ञ एव अवग्रहानुज्ञपनया स्थातव्यं श्रमणैरिति भावार्थः ॥ सू० २६ ॥

अथ पूर्वोक्तस्य विपर्यये सूत्रमाह—'से रज्जपरियट्टेसु' इयादि ।

सूत्रम्—से रज्जपरियट्टेसु असंथडेसु वोगडेसु वोच्छिन्नेसु परपरिग्गहिएसु भिक्खुभावस्स अट्ठाए दोच्चंपि ओग्गहे अणुन्नवेयव्वे सिया ॥ सू० २७ ॥

॥ ववहारे सत्तमो उद्देसो ॥७॥

छाया—तस्य राजपरावर्त्तेषु असंस्तृतेषु व्याकृतेषु व्यवच्छिन्नेषु परपरिगृहीतेषु भिक्षुभावस्याऽर्थाय द्वितीयमपि अवग्रहोऽनुज्ञापयितव्यः स्यात् ॥ सू० २७ ॥

॥ व्यवहारे सप्तम उद्देशः ॥७॥

भाष्यम्—'से रज्जपरियट्टेसु' 'से' तस्य श्रमणस्य राजपरावर्त्तेषु यत्र पूर्वराज्ञः परिवर्त्तनं जातम् पूर्वराज्ञि कालंगते सति तत्रापरो राजाऽभिषिक्तस्तद्देशेषु 'असंथडेसु' असंस्तृतेषु असमर्थेषु - अपरराजाऽऽक्रमणनिवारणार्थमशक्तेषु, कोऽप्यन्यो राजा तत्रागत्य तद्राज्यं विलुम्पितुं शक्नोति तादृशेषु त्रुटितपूर्वराज्यसंस्थितिष्वित्यर्थः 'वोगडेसु' व्याकृतेषु—विकृतिं प्राप्तेषु अन्यवंशीयैर्दायादैर्वा विभज्य स्वायत्तीकृतेषु 'वोच्छिन्नेसु' व्यवच्छिन्नेषु—व्यपगतेषु पूर्ववंशीयराजशासनेषु, अतएव 'परपरिग्गहिएसु' परपरिगृहीतेषु, परेण प्रत्यन्तरराज्ञा स्वाधीनीकृतेषु 'भिक्खुभावस्स अट्ठाए' भिक्षुभावस्याऽर्थाय, तत्र भिक्षोः—श्रमणस्य भावः—ज्ञान—दर्शन—चारित्ररूपः, तस्याऽर्थाय प्रयोजनायय थाऽवस्थितभिक्षुभावसंपादनायेत्यर्थः 'मम भिक्षुभावो मा खण्डितो भूयात् परिपूर्णो भवतु तदर्थ'मिति, अथवा भिक्षुभावोऽचौर्याख्यं तृतीयं व्रतं तस्याऽर्थाय—अचौर्यव्रतपरिरक्षायै 'दोच्चंपि' द्वितीयमपि वारम् , एकवारं पूर्वराजसमीपे अवग्रहस्याऽनुज्ञापना

कृताऽऽसीत्, राजपरावर्त्ते जाते द्वितीयमपि वारम्–तत्सिंहासनासीनराजसमीपे **'ओग्गहे अणुन्नवेयव्वे सिया'** अवग्रहः–अनुज्ञापयितव्यः स्यात्, तादृशपरिस्थितिसद्भावे द्वितीयमपि वारमवग्रहस्याऽनुज्ञापना कर्त्तव्येति भावः । यत्र प्रदेशे पूर्वराजा कालं गतः तस्य पूर्वावस्थितस्य राज्ञो राज्यस्थितिरपि परावृत्ता दायादैर्विभागोऽपि कृतः, अन्येन वा केनचित् राज्ञा तदासनं समासादितं तादृशेषु राजपरावर्त्तेषु द्वितीयमपि वारं श्रमणैः स्वकीयभावस्य ज्ञान–दर्शन–चरित्र–रूपस्याऽचौर्यव्रतस्य च रक्षार्थमवग्रहोऽनुज्ञापयितव्यः, अन्यथा अदत्तादानदोषः समापद्येतेति भावार्थः । एवं द्वितीयमपि वारम् अनुग्रहाऽननुज्ञापनायामात्मविराधना संयमविराधना च संभवति, यथा–स नूतनो राजा निर्विषयत्वं कुर्यात्, जीवनस्य भेदं वा कुर्यादित्याद्यात्मविराधनासंभवः, संयमविराधना चाज्ञाभङ्गादिरूपेति तस्मात् यत्र स्थिरो जातः स एव पुनरनुज्ञापयितव्यः ॥ सू० २७ ॥

इति श्री–विश्वविख्यात–जगद्वल्लभ–प्रसिद्धवाचक–पञ्चदशभाषाकलितललितकलापालापक–
प्रविशुद्धगद्यपद्यनैकग्रन्थनिर्मापक–वादिमानमर्दक–श्रीशाहूछत्रपतिकोल्हापुरराजप्रदत्त
"जैनाचार्य"–पदभूषित–कोल्हापुरराजगुरु–बालब्रह्मचारि–जैनाचार्य–जैन-
धर्म-दिवाकर–पूज्यश्री–**घासीलालव्रति**–विरचितायां **"व्यवहारसूत्रस्य"**
भाष्यरूपायां व्याख्यायां सप्तम उद्देशः समाप्तः ॥७॥

॥ अथ अष्टमोद्देशकः ॥

व्याख्यातः सप्तमोद्देशकः, अथाष्टमः प्रारभ्यते, अस्य सप्तमोद्देशकेन सह कः सम्बन्धः? इति सम्बन्धप्रतिपादनार्थमाह भाष्यकारः—'पुव्वं चरमे' इत्यादि ।

गाथा—पुव्वं चरमे रण्णो, ओग्गहऽणुण्णावणा तओ पच्छा ।
संथारग कायव्वं, किज्जइ इह वण्णणं तस्स ॥ १ ॥

छाया—पूर्वं चरमे राज्ञः अवग्रहानुज्ञापना ततः पश्चात् ।
संस्तारकं कर्त्तव्यम्, क्रियते इह वर्णनं तस्य ॥ १ ॥

व्याख्या—'पुव्वं' इति । पूर्वं सप्तमोद्देशके चरमे—चरमसूत्रे सप्तमोद्देशकस्याऽन्तिमे सूत्र **'रण्णो'** राज्ञः अवग्रहानुज्ञापना—वसतिवासार्थमाज्ञामार्गणा कथितेति शेषः **'तओ पच्छा'** ततः पश्चात् तदनन्तरं **'संथारग'** लुप्तविभक्तिकमिदंपदं तेन संस्तारकं पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् शय्यासंस्तारकं शय्या च संस्तारकश्चेति समाहारे तत् कर्त्तव्यं भवेदिति । इह-अस्मिन् अष्टमोद्देशकस्यादिसूत्रे तस्य शय्यासंस्तारकस्य वर्णनं क्रियते, इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्याऽस्याष्टमोद्देशकस्येदमादिमं सूत्रम्—**'गाहा'** इत्यादि ।

सूत्रम्—गाहा उ पज्जोसविए ताए गाहाए ताए पएसाए ताए ओवासंतराए जमिणं जमिणं सेज्जासंथारगं लभेज्जा तमिणं तमिणं ममेव सिया, थेरा य से अणुजाणेज्जा तस्सेव सिया, थेरा य से नो अणुजाणेज्जा एवं से कप्पइ अहारायणियाए सेज्जासंथारगं पडिगाहेत्तए ॥ सू० १ ॥

छाया—गाथायाम् ऋतौ पर्युषितः तस्यां गाथायां तस्मिन् प्रदेशे, तस्मिन् अवकाशान्तरे यदिदं यदिदं शय्यासंस्तारकं लभेत तदिदं तदिदं ममैव स्यात्, स्थविराश्च तस्याऽनुजानीयुः तस्यैव स्यात्, स्थविराश्च तस्य नो अनुजानीयुः एवं तस्य कल्पते यथारात्निकतया शय्यासंस्तारकं परिग्रहीतुम् ॥ सू० १ ॥

भाष्यम्—'गाहा' गाथा, गाथाशब्दोऽत्र गृहवाचकः 'गाथापतिः—गृहपति'रिति सर्वत्र लभ्यमानत्वात्, तेन गाथा—गृहं यदवग्रहेण प्राप्तम्, गृहस्य त्रिविधोऽवग्रहो भवति, तथाहि—ऋतुबद्धसाधर्मिकावग्रहः १, वर्षावाससाधर्मिकावग्रहः २, वृद्धावाससाधर्मिकावग्रहश्च ३ इति । तत्र **'उउ'** ऋतौ ऋतुबद्धे काले, वर्षावासातिरिक्ते हेमन्तग्रीष्मरूपे, उपलक्षणाद् वर्षाकाले वृद्धावासे वा **'पज्जोसविए'** पर्युषितः—निवसित इति गाथायाम् ऋतौ पर्युषितः **'ताए गाहाए'** तस्यां गाथायां

यस्मिन् गृहे ऋतुबद्धेकाले निवसति तस्मिन् गृहे **'ताए पएसाए'** तस्मिन् प्रदेशे यस्मिन् गृहप्रदेशे तिष्ठति तस्मिन् प्रदेशे—अन्तर्वहिरादिलक्षणे **'ताए ओवासंतराए'** तस्मिन् अवकाशान्तरे—द्वयोर्मध्यभागलक्षणे **'जमिणं जमिणं सेज्जासंथारगं लभेज्जा'** यदिदं यदिदं शय्यासंस्तारकम्—शय्या च संस्तारकश्चेति समाहारे शय्यासंस्तारकम् यद् यत् शयनोपयोगि स्थानं मदभिलषितं लभेत—प्राप्नुयात् **'तमिणं तमिणं ममेव सिया'** तदिदं तदिदं सर्वं ममैव स्यात्—भवतु, इति ब्रूते श्रमणस्तदा यदि **'थेरा य से अणुजाणेज्जा'** स्थविराश्च गच्छनायका आचार्याः तस्याशठभावम् अवगम्य, अशठेभावो नाम—मम श्लेष्मा प्रस्पन्दते स्वपतो मम श्लेष्माधिक्यं जायते अतो निर्वातस्थानमनुजानीत, अथवा अमुकं साधुमहं सदैव प्रतिपृच्छामि तत एतत्पार्श्वे मम शय्यासंस्तारकभूमिं यूयमनुजानीत, इत्यादिविषये तस्य ऋजुभावं ज्ञात्वा **'अणुजाणेज्जा'** अनुजानीयुः—आज्ञां दद्युः, यथा—'यदिदं यदिदं त्वया लब्धं तत्सर्वं शय्यासंस्तारकं तवैव भवतु' तदा तत्सर्वं शय्यासंस्तारकम् **'तस्सेव सिया'** तस्यैव—यो हि श्रमण एवं ब्रूते—ममेदं सर्वं तस्यैव तत् शय्यासस्तारकं स्यात्—भवेत्। अथ यदि कदाचित् याचकस्य श्रमणस्य पूर्वोक्तविषये शठभावो लक्ष्यते तदा **'थेरा य से णो अणुजाणेज्जा'** स्थविराश्च तस्य श्रमणस्य शठभावेन कथनात् नो अनुजानीयुः—नाज्ञां दद्युः तदा **'एवं से कप्पइ अहारायणियाए'** एवम् स्थविराज्ञाया अभावे तस्य कल्पते यथारात्निकतया .रत्नाधिकमर्यादया यल्लभ्यते तत् **'सेज्जासंथारगं पडिग्गाहित्तए'** शय्यासंस्तारकं प्रतिग्रहीतुम्—स्वीकर्त्तुं कल्पते, न तत्रेतस्ततः कर्त्तव्यमिति भावः। ऋतुबद्धे काले वर्षाकाले वा गृहे वसन् साधुः तत्र गृहे तत्प्रदेशे तदवकाशान्तरे वा यद् यत् शय्यासंस्तारकं लभते तत्तत् सर्वं स्थविरानुज्ञयैव लघुज्येष्ठादिमर्यादया प्रतिग्रहीतुं कल्पते न तु स्वेच्छयेति तात्पर्यम् ॥ सू० १ ॥

पूर्वं शय्यासंस्तारकस्थानविधिरुक्तः, सम्प्रति शय्यासंस्तारकगवेषणविधिमाह—**'से य'** इत्यादि।

सूत्रम्—से य अहालहुस्सगं सेज्जासंथारगं गवेसेज्जा जं चक्किया एगेणं हत्थेणं ओगिज्झ जाव एगाहं वा दुयाहं वा तियाहं वा परिवहित्तए एस मे हेमंतगिम्हासु भविस्सइ ॥ सू० २ ॥

छाया—स च यथालघुस्वकं शय्यासंस्तारकं गवेषयेत् यत् शक्नुयात् एकेन हस्तेनाऽवगृह्य यावदेकाहं वा द्व्यहं वा त्र्यहं वा अध्वानं परिवोढुम्, एतन्मे हेमन्त-ग्रीष्मेषु भविष्यति ॥ सू० २ ॥

भाष्यम्—'**से य**' स च भिक्षुः '**अहालहुस्सगं**' यथालघुस्वकम्—एकान्ततो लघुकमिति यथालघुस्वकम् अत्यन्ताऽल्पभारमित्यर्थः '**सेज्जासंथारगं**' शय्यासंस्तारकम् तत्र शय्या शरीरप्रमाणा संस्तारकः सार्धतृतीयहस्तप्रमाणकः, उभयोः समाहारे शय्यासंस्तारकं तत् '**गवे-सेज्जा**' गवेषयेत्, कीदृशं यथालघुस्वकम्—'**जं चक्किया एगेण हत्थेण ओगिज्झ**' यत्—यादृशं शय्यासंस्तारकं शक्नुयात्—समर्थो भवेत् एकेन हस्तेनाऽवगृह्य—गृहीत्वा '**जाव एगाहं वा दुयाहं वा तियाहं वा**' यावदेकाहम्—एकविश्रामपर्यन्तम्, द्व्यहम्—द्विविश्रामम् त्र्यहम्—त्रिविश्रामं यावत्, '**अद्धाणं परिवहित्तए**' अध्वानम्—मार्गं परिवोढुं शक्नुयात्। 'अहन्'—शब्दोऽत्र विश्रामवाचकः आहारशय्यासंस्तारकादेः क्रोशद्वयादुपरि नयनस्य शास्त्रे प्रतिषिद्धत्वा-दिति। किमर्थमेवं कुर्यात्? तत्राह—'**एस मे हेमंतगिम्हासु भविस्सइ**' एतन्मे शय्या-संस्तारकं हेमन्तग्रीष्मेषु—हेमन्तग्रीष्ममासेषु उपयोगि भविष्यति ॥ सू० २॥

एतदेव वर्षावासमधिकृत्याऽऽह '**से य**' इत्यादि।

सूत्रम्—से य अहालहुस्सगं सेज्जासंथारगं गवेसेज्जा जं चक्किया एगेण हत्थेण ओगिज्झ जाव एगाहं वा दुयाहं वा तियाहं वा अद्धाणं परिवहित्तए, एस मे वासावासासु भविस्सइ ॥ सू० ३॥

छाया—स च यथालघुस्वकं शय्यासंस्तारकं गवेषयेत् यत् शक्नुयात् एकेन-हस्तेनाऽवगृह्य यावत् एकाहं वा द्व्यहं वा त्र्यहं वा अध्वानं परिवोढुम्, एतन्मे वर्षावासेषु भविष्यति ॥ सू० ३॥

भाष्यम्—'**से य**' स च भिक्षुः '**अहालहुस्सगं**' यथालघुस्वकम् एकान्ततो लघुकम्, इत्यादि सर्वं पूर्वसूत्रवदेव व्याख्येयम्, नवरम्—अयं विशेषः—'**एस मे वासावासासु भविस्सइ**' एतत् शय्यासंस्तारकं मे—मम वर्षावासेषु—वर्षाकालिकमासेषु उपयोगि भविष्यतीति ॥ सू० ३॥

एतदेव पुनः वृद्धावासमधिकृत्याऽऽह—'**से य**' इत्यादि।

सूत्रम्—से य अहालहुस्सगं सेज्जासंथारगं गवेसेज्जा जं चक्किया एगेण हत्थेणं ओगिज्झ जाव एगाहं वा दुयाहं वा तियाहं वा चउयाहं वा पंचाहं वा दूर-मवि अद्धाणं परिवहित्तए, एस मे वुड्ढावासेसु भविस्सइ ॥ सू० ४॥

छाया—स च यथालघुस्वकं शय्यासंस्तारकं गवेषयेत् यत् शक्नुयात् एकेन हस्तेन अवगृह्य यावदेकाहं वा द्व्यहं वा त्र्यहं वा चतुरहं वा पञ्चाहं वा दूरमपि अध्वानं परिवोढुम्, एष मे वृद्धावासेषु भविष्यति ॥ सू० ४॥

भाष्यम्—'**से य**' स च श्रमणः '**अहालहुस्सगं**' यथालघुस्वकम्, इत्यादि सर्वं द्वितीय सूत्रवदेव व्याख्येम्, विशेषोऽत्रायम्—यत्पूर्वसूत्रद्वये त्र्यहं यावद् वहनं प्रतिपादितम्, अत्र तु—'**एगाहं वा दुयाहं वा तियाहं वा चउयाहं वा पंचाहं वा**' इति एकदिवसादारम्य पञ्चदिवसान् यावत्, पञ्च विश्रामान् यावत् इति कथितम्, पुनश्चायं विशेषः—'**दूरमवि अद्धाणं परिवहित्तए**' पञ्च-विश्रामपर्यन्तं दूरमपि अध्वानं परिवोढुं शक्नोति चेत् तं गवेषयेदिति। अयं भावः—वृद्धत्वेन पञ्चविश्रामान् कृत्वा नेतुं कल्पते किन्तु ते पञ्च विश्रामा अपि कोशद्वये एव भवितुमर्हन्ति न तु तदुपरि नेतुं कल्पते, अथवा शरीरदौर्बल्याद् द्वित्रादिदिवसानपि मार्गे स्थित्वा स्थित्वा गम्यते किन्तु तेन मार्गेण क्रोशद्वयपरिमितेनैव भाव्यम्, एषा शास्त्रमर्यादेति। किमर्थमित्याह—'**एस मे वुड्ढावासेसु भविस्सइ**' एतत् शय्यासंस्तारकं मे वृद्धावासेषु उपयोगि भविष्यतीति ॥ सू० ४ ॥

पूर्वं शय्यासंस्तारकस्य मार्गवहनसूत्रं प्रोक्तम्, मार्गवहनप्रसङ्गात् स्थविरभावेनाऽसहायानां स्थविराणां दण्डकादि कल्पते इति भिक्षाचर्यायां तद्ग्रहणस्थापनविधिमाह—'**थेराणं**' इत्यादि।

सूत्रम्—थेराणं थेरभूमिपत्ताणं कप्पइ दंडए वा भंडए वा छत्तए वा मत्तए वा लट्ठियं वा भिसे वा चेले वा चेलचिलिमिलिं वा चम्मे वा चम्मकोसे वा चम्मपलि-च्छेयणए वा अविरहिए ओवासे ठवेत्ता गाहावइकुलं भत्ताए वा पाणाए वा पविसित्तए वा निक्खमित्तए वा, कप्पइ ण्हं संनियट्टचाराणं दोच्चंपि ओग्गहं अणुन्नवेत्ता परिहारं परिहरित्तए ॥ सू० ५ ॥

छाया—स्थविराणां स्थविरभूमिप्राप्तानां कल्पते दण्डकं वा भाण्डकं वा छत्रकं वा मात्रकं वा यष्टिकां वा भिसं वा चेलं वा चेलचिलिमिलीं वा चर्म वा चर्मकोषं वा चर्मपरिच्छेदनकं वा अविरहिते अवकाशे स्थापयित्वा गाथापतिकुलं भक्ताय वा पानाय वा प्रवेष्टुं वा निष्क्रमितुं वा, कल्पते खलु संनिवृत्तचाराणां द्वितीयमपि अवग्रहमनु-ज्ञाप्य परिहारं परिहर्त्तुम् ॥ सू० ५॥

भाष्यम्—'**थेराणं**' स्थविराणां वृद्धानाम्—जङ्घाबलक्षीणानाम्—जरसा जीर्णानाम् '**थेरभूमिपत्ताणं**' स्थविरभूमिप्राप्तानाम् दीक्षा—श्रुत-वयोभिर्वृद्धानां ज्वरादिकारणेन गन्तुमशक्नुवतां वा '**कप्पइ**' कल्पते '**दंडए वा**' दण्डकं—रजोहरणदण्डकं वा '**भंडए वा**' भाण्डकं वा—अनेकविध-मुपकरणजातं मृत्पात्रं वा '**छत्तए वा**' छत्रकं वा मस्तकाच्छादनकं वस्त्रम्, नतु लोकप्रसिद्धं छत्रं तस्याऽनाचीर्णरूपत्वेन दशवैकालिके निषेधात् '**मत्तए वा**' मात्रकं वा, तत्र मात्रकमुच्चारप्रस्रवण-

खेलसम्बन्धिपात्रम् **'लट्ठियं वा'** यष्टिका—सार्द्धद्विहस्तप्रमाणा यदालम्बनेन गम्यते ताम् **'भिसे वा'** 'भिस' इति मुनीनामुपवेशनपट्टिका,या माश्रित्योपविशति ताम्, **'चेले वा'** चेलं वा—चेलं—देहाच्छादनवस्त्रं 'पछेवडी' 'चादर' इति प्रसिद्धम्, **'चेलचिलिमिलिं वा'** वस्त्रनिर्मितां जवनिकां, **'चम्मे वा'** चर्म वा तत्र चर्म—सूचिकया वस्त्रसन्धानसमये अंगुलीरक्षार्थ चर्मनिर्मिताङ्गुलीयकं वा, **'चम्मकोसे वा'** चर्मकोषं चर्मकुत्थलिकां या कण्टकोद्धरणकण्टकरक्षणार्थं ध्रियते ताम्, **'चम्मपरिच्छेयणए वा'** चर्मपरिच्छेदनकं वा चर्मवेष्ठनकम्, एतानि वस्तूनि **'अविरहिए ओवासे'** अविरहितेऽवकाशे स्थापयित्वा तत्र-अविरहिते-जनविरहवर्जिते यत्र जना गृहपतिर्वा वर्त्तते तत्र निरापदि अवकाशे प्रदेशे **'ठवेत्ता'** स्थापयित्वा **'गाहावइकुलं'** गाथापतिकुलं गृहस्थगृहम् **'भत्ताए वा पाणाए वा'** भक्ताय वा पानाय वा—भक्तपानादिप्राप्तये **'पविसित्तए वा'** प्रवेष्टुं वा—गाथापतिगृहे प्रवेशं कर्त्तुम् **'निक्खमित्तए वा'** निष्क्रमितुं वा—प्रविष्टानां प्रत्यावर्त्तितुं वा कल्पते इति पूर्वेण सम्बन्धः। स्थविरादिकारणेन कल्प्यत्वेन प्रतिपादितानि दण्डादिवस्तूनि अशून्ये गृहादौ स्थापयित्वा भिक्षाचर्यार्थं गृहस्थगृहे गमनं कल्पते न तु तानि गृहीत्वेत्यर्थः। भिक्षातः पूर्वं यद् यद् वस्तु दण्डादिकं गृहस्थगृहे स्थापितं तत् पुनर्गृहस्थाज्ञामादायैव उपभोक्तुं कल्पते इत्याह—**'कप्पइ'** इत्यादि, **'कप्पइ ण्हं'** कल्पते खलु **'संनियट्टचाराणं'** संनिवृत्त चाराणाम्—संनिवृत्तः—प्रतिनिवृत्तः चारः—चरणं—भ्रमणं येषां ते संनिवृत्तचारास्तेषाम्—भिक्षाचर्यातः प्रत्यागतानामित्यर्थः स्थविराणाम् **'दोच्चंपि'** प्रथमं तु आज्ञया गृहीतान्येवेति प्रथमतः **'दोच्चंपि'** इति कथितम्, द्वितीयमपि वारम् **'ओग्गहं'** अवग्रहम्, **'अणुन्नवेत्ता'** अनुज्ञाप्य-अनुज्ञामादायेत्यर्थः **'परिहारं'** परिहारम्-उपभोग्यं वस्तुजातम् **'परिहरित्तए'** परिहर्त्तुम्-धारणेन-परिभोगेन चोपभोक्तुं कल्पते, स्वस्य स्थापितस्यापि वस्तुनः पुनर्ग्रहणसमये श्रमणै गृहस्थाज्ञा अनुज्ञातव्येति भाव.॥ सू० ५॥

पूर्वं स्थविरानधिकृत्योपकरणग्रहणस्थापनविधिरुक्तः, साम्प्रतमुपाश्रयस्थितशय्यासंस्तारकस्यान्यत्र नयने निषेधमाह—**'नो कप्पइ णिग्गंथाण वा'** इत्यादि।

सूत्रम्—नो कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा पाडिहारियं वा सागारियसंतियं वा सेज्जासंथारगं दोच्चंपि ओग्गहं अणणुन्नवेत्ता वहिया नीहरित्तए॥ सू० ६॥

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा प्रातिहारिकं वा सागारिकसत्कं वा शय्यासंस्तारकं द्वितायमपि वारमननुज्ञाप्य वहिर्निर्हर्त्तुम्॥ सू० ६॥

भाष्यम्—**'नो कप्पइ'** नो कल्पते **'णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा'** निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा **'पाडिहारियं वा'** प्रातिहारिकं वा अल्पकालायोपभोगार्थं गृहस्थगृहादा-

नीतम्, 'सागारियसंतियं वा' सागारिकसत्कं वा–शय्यातरसम्बन्धि वा यदुपाश्रये स्थितं, यद् अन्यसत्कं वा तस्य शय्यातरस्य तदन्यस्य वा सबन्धि यत् 'सेज्जासंथारगं' शय्यासंस्तारकम् पीठफलकादिकमुपकरणजातं तद् यदि पूर्णे मासे वहिरन्यत्र गन्तुकामो मुनिर्यत् शय्यातरादिदत्तं शय्यातरादिसंवन्धि वा तत्र पूर्वोपाश्रये स्थितं शय्यातरादिसंस्तारकमन्यत्राऽलाभसंभवे वहिर्नेतुमिच्छेत्तदा पूर्वमवग्रहोऽनुज्ञापितोऽपि 'दोच्चंपि' द्वितीयमपि वारं पुनरपीत्यर्थः 'ओग्गहं अणणुन्नवेत्ता' अवग्रहमननुज्ञाप्य पीठफलकादिस्वामिन आज्ञां न गृहीत्वा 'वहिया नीहरित्तए' वहिर्ग्रामान्तरादौ पीठफलकादि निर्हर्त्तुम्–नेतुं न कल्पते इति सम्बन्धः। अयं भावः—कोऽपि साधुः साध्वी वा पूर्णे मासेऽन्यत्र गन्तुमिच्छेत्तदा–अन्यत्र तदलाभसम्भवे तस्य तस्या वा शय्यातराऽन्यश्रावकसम्बन्धिपीठफलकादेः पूर्वमाज्ञा गृहीताऽपि वहिर्नयनसमये पुनर्द्वितीयवारमपि पीठफकादिस्वामिन आज्ञामन्तरेण वसतेर्वहिस्तादृशमुपकरणजातं नीत्वा गन्तुं न कल्पते इति ॥ सू० ५ ॥

पूर्वं पूर्वगृहीतशय्यासंस्तारकस्याऽऽज्ञामन्तरेणाऽन्यत्र नयनं निषिद्धम्, सम्प्रति अन्यत्र तदलाभे किं कर्त्तव्यमिति तद्विधिमाह—'कप्पइ' इत्यादि।

सूत्रम्—कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा पाडिहारियं वा सागारियसंतियं वा सेज्जासंथारगं दोच्चंपि ओग्गहं अणुन्नवेत्ता वहिया नीहरित्तए ॥ सू० ७ ॥

छाया—कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा प्रातिहारिकं वा सागारिकसत्कं वा शय्यासंस्तारकं द्वितीयमपि अवग्रहमनुज्ञाप्य बहिर्निर्हर्त्तुम् ॥ सू० ७ ॥

भाष्यम्—अत्रास्मिन् सूत्रे पूर्वोक्तं शय्यासंस्तारकमाज्ञामादाय वहिर्नेतुं कल्पते, एतावानेव विशेषः, शेषं पूर्ववदेव ॥ सू० ७ ॥

शय्यासंस्तारकस्य समर्पणानन्तरं तस्य पुनर्ग्रहणे निषेधमाह—'नो कप्पइ' इत्यादि।

सूत्रम्—नो कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा पाडिहारियं वा सागारियसंतियं वा सेज्जासंथारगं सव्वप्पणा अप्पिणित्ता दोच्चंपि ओग्गहं अणणुन्नवेत्ता अहिट्ठित्तए, कप्पइ अणुन्नवेत्ता ॥ सू० ८ ॥

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा प्रातिहारिकं वा सागारिकसत्कं वा शय्यासंस्तारकं सर्वात्मना-अर्पयित्वा, द्वितीयमपि वारम् अवग्रहम ननुज्ञाप्याऽधिष्ठातुम्, कल्पतेऽनुज्ञाप्य ॥ सू० ८ ॥

भाष्यम्—'**नो कप्पइ**' नो कल्पते '**णिग्गंथाण वा**' निर्ग्रन्थानां वा '**णिग्गंथीण वा**' निर्ग्रन्थीनां वा, '**पाडिहारियं वा**' प्रातिहारिकं वा-कार्यानन्तरं प्रत्यावर्त्तनीयम् '**सागारियसंतियं वा**' सागारिकसत्कं वा—शय्यातरसम्बन्धि वा '**सेज्जासंथारगं**' शय्यासंस्तारकम्—पीठफलकादिकम् '**सव्वप्पणा अप्पिणित्ता**' सर्वात्मना सर्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकं यथा स्यात् तथा वस्तुस्वामिने समर्प्य यदि दत्तोपकरणस्य पुनरप्यावश्यकता भवेत् तदा '**दोच्चंपि**' द्वितीयमपि वारम् '**ओग्गहं अणणुन्नवेत्ता**' अवग्रहमननुज्ञाप्य—पुनरपि आज्ञामनादाय '**अहिट्ठित्तए**' अधिष्ठातुम् पुनस्तस्योपकरणस्योपभोगं कर्त्तुं न कल्पते। तर्हि कथं कल्पते? तत्राह—'**कप्पइ**' इत्यादि, '**कप्पइ अणुन्नवेत्ता**' कल्पतेऽनुज्ञाप्य—आज्ञामादाय उपभोक्तुं कल्पते इति भावः॥ सू० ८॥

पूर्वसूत्रे पीठफलकादिकमाश्रित्य विधिनिषेधौ कथितौ, सम्प्रति—उपाश्रयमाश्रित्य ग्रहणाग्रहणयोर्विधिनिषेधौ कथयितुमाह—'**नो कप्पइ**' इत्यादि।

सूत्रम्—नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पुव्वामेव ओग्गहं ओगिण्हित्ता तओ पच्छा अणुन्नवेत्तए॥ सू० ९॥

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा पूर्वमेव अवग्रहमवगृह्य ततः पश्चात् अनुज्ञापयितुम्॥ सू० ९॥

भाष्यम्—'**नो कप्पइ**' नो कल्पते '**णिग्गंथाण वा**' निर्ग्रन्थानां वा '**णिग्गंथीण वा**' निर्ग्रन्थीनां वा '**पुव्वामेव**' पूर्वमेव—आज्ञाग्रहणात्पूर्वकाल एव '**ओग्गहं ओगिण्हित्ता**' अवग्रहमवगृह्य—पीठफलकादिक गृहीत्वा '**तओ पच्छा**' ततः पश्चात्—तदनन्तरम् '**अणुन्नवेत्तए**' अनुज्ञापयितुम्—आज्ञां ग्रहीतुं न कल्पते। अयं भावः—पूर्वं वस्तुस्वामिसकाशात् पीठफलकादि प्राप्त्यर्थम् अनुज्ञा ग्रहीतव्या। आज्ञां विनैव किमपि वस्तुजातं गृहीत्वा तदनन्तरं तद्विषये आज्ञां गृह्णीयात्तन्न कल्पते, अदत्तादान दोषापत्तेः, एवं करणे श्रावकसंयतयोः कलहसम्भवोऽपि॥ सू० ९॥

पूर्वं वस्तु स्वायत्तीकृत्य पश्चादनुज्ञापनं निषिद्धम्, सम्प्रति तद्विपर्यये सूत्रमाह—'**कप्पइ**' इत्यादि।

सूत्रम्—कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा पुव्वामेव ओग्गहं अणुन्नवेत्ता तओ पच्छा ओगिण्हित्तए॥ सू० १०॥

छाया—कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा पूर्वमेवाऽवग्रहमनुज्ञाप्य ततः पश्चाद् अवग्रहीतुम्॥ सू० १०॥

भाष्यम्—'कप्पइ' कल्पते- '**णिग्गथाण वा**' निर्ग्रन्थानां वा '**णिग्गथीण वा**' निर्ग्रन्थीनां वा '**पुव्वामेव ओग्गहं अणुन्नवेत्ता**' पूर्वं प्रथमम् वस्तुग्रहणात् प्रागेव अवग्रहम् अनुज्ञाप्य–श्रावकेभ्यः पीठफलकादिग्रहणविषयिणीमाज्ञामादाय '**तओ पच्छा**' ततः पश्चात्—अनुज्ञापनानन्तरम् , '**ओगिण्हित्तए**' अवग्रहीतुम्—पीठफलकादि ग्रहीतुं कल्पते इति ॥ सू० १० ॥

पूर्वमाज्ञामादाय पश्चात् पीठफलकादि ग्रहीतव्यमित्युक्तम् , सम्प्रति पीठफलकादीनामन्यत्रालाभे किं कर्त्तव्यमिति तद्विधिमाह—'**अह पुण**' इत्यादि ।

सूत्रम्—**अह पुण एवं जाणेज्जा इह खलु णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा णो सुलभे पाडिहारिए सेज्जासंथारए–त्ति कट्टु एवं ण्हं कप्पइ पुव्वामेव ओग्गह ओगिण्हित्ता तओ पच्छा अणुन्नवेत्तए, मा दुहओ अज्जो ! वइ अणुलोमेण अणुलोमियव्वे सिया ॥ सू० ११ ॥**

छाया—**अथ पुनरेवं जानीयात् इह खलु निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा नो सुलभं प्रातिहारिकं शय्यासंस्तारकम् , इति कृत्वा खलु कल्पते पूर्वमेव अवग्रहमवगृह्य ततः पश्चात् अनुज्ञापयितुम्, मा द्विधात आर्याः ! वदत अनुलोमेन अनुलोमयितव्यः स्यात् ॥ सू० ११ ॥**

भाष्यम्—'**अह पुण एवं जाणेज्जा**' अथ यदि कदाचित् पुनः एवमेतज्जानीयात् , किं जानीयात्तत्राह—इहेत्यादि, '**इह खलु**' इह—अत्र ग्रामादौ खलु '**णिग्गथाण वा**' निर्ग्रन्थानां वा, '**णिग्गथीण वा**' निर्ग्रन्थीनां वा, '**नो सुलभे**' नो सुलभः—न सुखेन लभ्यः—सरलतया न प्राप्तव्यः '**पाडिहारिए सेज्जासंथारए**' प्रातिहारिकं शय्यासंस्तारकं पीठफलकादिकमुपकरणजातम् ऋतुबद्धकालग्राह्यं वर्षाकालग्राह्यं वा, '**त्ति कट्टु**' इति कृत्वा–इति विज्ञाय '**एवं ण्हं कप्पइ**' एवम् अनेन कारणेन खलु '**कप्पइ**' कल्पते, '**पुव्वामेव ओग्गहं ओगिण्हित्ता**' पूर्वमेवाऽनुज्ञापनतः प्रथममेव अवग्रहं—पीठफलकस्थानकादिकमवगृह्य—गृहीत्वा '**तओ पच्छा**' ततः पश्चात्—अवग्रहग्रहणानन्तरम् '**अणुन्नवेत्तए**' अनुज्ञापयितुम्—अनुज्ञां ग्रहीतुम् । प्रथममवग्रहग्रहणं कर्त्तव्यम् तदनन्तरमनुज्ञापना कर्त्तव्येत्यर्थः, एवं करणे यदि तददाने साधुसंयतानां विवादो भवेत्तदा आचार्याः श्रमणान् प्रति ब्रुवते—'**मा दुह ओ अज्जो वइ**' मा हे आर्याः ! द्विधातो वदत, एकं तु—अस्य शय्यासंस्तारकं वसतिं वा गृह्णीथ द्वितीयं परुषाणि भाषध्वे, हे आर्याः ! अयं गृहस्वामी एतदाज्ञयैव वस्तुजातं ग्रहीतव्यम् इति परम्पराप्राप्तो मुनीनां व्यवहारस्तस्मात् क्षमध्वम्, इत्यादिना '**अणुलोमेण**' अनुलोमेन—अनुकूलेन वचसा, यदि भवद्भिः कारणवशाद् गृहस्वामिन अज्ञामन्तरेण वसत्यादिवस्तुजातस्य ग्रहणं कृतम् तदाऽनेन गृहस्वामिना सह

विवादो न विधातव्यः, किन्तु शमतां पुरस्कृत्यैव आज्ञां याचध्वम्, एवं प्रकारेणाऽनुकूलेन वचसा स वस्तुस्वामी 'अणुलोमेयव्वे सिया' अनुलोमयितव्योऽनुकूलयितव्यः स्यात् अनुकूलवचोभिः सागारिकसंयतानां कलहः समूलमुपशमयितव्यो भवेत्, तमनुकूलेन वचसाऽनुकूलयित्वा तत्र तिष्ठेयुः संस्तारकं वा गृह्णीयुरिति ॥ सू० ११ ॥

उपर्युक्तसूत्रे वसतिमाश्रित्य कथितम्, सम्प्रति यदि कश्चिद् भक्तपानादिकमानेतुं श्रावकगृहं गतो भिक्षार्थं हिण्डन् वा यदि कस्यचित्साधोः किमप्युपकरणजातं तत्र पतितं पश्येत्तदा किं कर्त्तव्यमिति तद्विधिं दर्शयितुमाह—'णिग्गंथस्स णं गाहावइकुलं' इत्यादि।

सूत्रम्—णिग्गंथस्स णं गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुपविट्ठस्स अहालहुस्सए उपगरणजाए परिब्भट्ठे सिया तं च केइ साहम्मिए पासेज्जा कप्पइ से सागारकडं गहाय जत्थेव अन्नमन्नं पासेज्जा तत्थेव एवं वएज्जा—इमे भो अज्जो! किं परिन्नाए? से य वएज्जा—परिन्नाए तस्सेव पडिणिज्जायव्वे सिया, से य वएज्जा—नो परिन्नाए तं नो अप्पणा परिभुंजेज्जा नो अन्नमन्नस्स दावए एगंते बहुफासुए थंडिले परिट्ठवेयव्वे सिया ॥ सू० १२ ॥

छाया—निर्ग्रन्थस्य खलु गाथापतिकुलं पिण्डपातप्रतिज्ञया अनुप्रविष्टस्य यथा लघुस्वकमुपकरणजातं परिभ्रष्टं स्यात् तच्च कश्चित् साधर्मिकः पश्येत् कल्पते तस्य सागारकृतं गृहीत्वा यत्रैव अन्यमन्यं पश्येत् तत्रैव एवं वदेत्—इदं भो आर्य! किं परिज्ञातम्? स च वदेत्—परिज्ञातम् तस्यैव प्रतिनिर्यातव्यं स्यात्। स च वदेत्—नो परिज्ञातम् तन्नो आत्मना परिभुञ्जीत नो अन्यस्याऽन्यस्य दद्यात् एकान्ते बहुप्रासुके स्थण्डिले परिष्ठापयितव्यं स्यात् ॥ सू० १२ ॥

भाष्यम्—'णिग्गंथस्स णं' निर्ग्रन्थस्य खलु 'गाहावइकुलं' गाथापतिकुलम्—गृहस्थगृहम् 'पिंडवायपडियाए' पिण्डपातप्रतिज्ञया, तत्र—पिण्डम्—भक्तं पानं वा, तस्य पातप्रतिज्ञया ग्रहणेच्छया 'अणुपविट्ठस्स' अनुप्रविष्टस्य—भक्तं पानं वा आनेष्यामीत्याकारबुद्ध्या गृहपतिगृहं प्रविष्टस्य भिक्षाचर्यां हिण्डतो वा यस्य कस्यचित् श्रमणस्य 'अहालहुस्सए' यथालघुस्वकम्—एकान्तलघुक जघन्यं मध्यमं वा 'उवगरणजाए' उपकरणजातम्—उपकरणविशेषः लघुपात्रादिकं वा 'परिब्भट्ठे सिया' परिभ्रष्टं—गृहस्थगृहे मार्गे वा पतितं स्यात्। अथ च यस्य कस्यचिदुपकरणजातं पतितं तस्य मदीयमुपकरणं पतितमेवंप्रकारिका स्मृतिरपि अपगता भवेत्तदा 'तं च केइ साहम्मिए पासेज्जा' तच्च पतितं श्रावकगृहेऽन्यत्र वा उपकरणं-

१ यहाँ पूर्वाचार्यभाष्यगा० १४७ से १५२ में साधुभाषा के विरुद्ध आचरण लिखा है।

जातं कश्चिदन्यो मुनिर्भिक्षापानार्थं हिण्डन् तत्र गतो वा साधर्मिकः श्रमणः पश्येत् तथा इदमुपकरणं न गृहस्थस्य, किन्तु कस्यचित्साधोरेव, इत्येवंलक्षणपरिज्ञानेन जानीयात्, तदा **'कप्पइ से सागारकडं गहाय'** कल्पते 'से' तस्य उपकरणजातदर्शकस्य साधर्मिकस्य साधोः सागारकृतम् अगारसहितम् यथा-यस्येदमुपकरणजातमस्ति स यदि मिलिष्यति तदा तस्मै दास्यामीति बुद्ध्या गृहीत्वा तदनन्तरम् **'जत्थेव अन्नमन्नं पासेज्जा तत्थेव एवं वएज्जा'** यत्रैव स्थानेऽन्यमन्यम् अपराऽपरं श्रमणं पश्येत् तत्रैव स्थाने एवम्—वक्ष्यमाणप्रकारेण वदेत् यं यं पश्येत् श्रमणं तं तमेव पृच्छेदित्यर्थः। किं पृच्छेत्तत्राह—**'इमे भो अज्जो! परिन्नाए'** इदमुपकरणजातम् भो आर्य! परिज्ञातम्? उपलब्धमुपकरणजातं निष्काश्य साधर्मिकान्तरं दर्शयित्वा पृच्छेत्—यद् भो आर्य! परिज्ञातं—स्वसकाशात्पतितमुपकरणजातं त्वया स्मृतं किम्? जानासि किम् इदमुपकरणजातं मम? इत्येवं तं श्रमणं पृच्छेदित्यर्थः, एवं पृष्टे सति **'से य वएज्जा'** स च वदेत् **'परिन्नाए'** परिज्ञातम्—अहं जानामि एतदुपकरणजातं मदीयं पतितम्, इत्येवं वदेत् तदा **'तस्सेव पडिणिज्जायव्वे सिया'** तस्यैव एवं वदतः प्रतिनिर्यातव्यम्—तस्मै समर्पयितव्यं स्यात्, यो वदेद् मदीयमेतदुपकरणम् तत्तस्मै तदा दातव्यमिति भावः।

अथ यदि **'से य वएज्जा'** स च वदेत् पृष्टः सन् कथयेत्, **'नो परिन्नाए'** नो परिज्ञातम् यस्योपकरणविषये भवान् पृच्छति तदहं कस्येति न जानामि, तदा तत्तस्मै न समर्पणीयम्। तर्हि किं कर्त्तव्यमित्याह-**'तं नो'** इत्यादि, **'तं नो अप्पणा परिभुंजेज्जा'** तदुपकरणजातं नो आत्मना स्वयं परिभुञ्जीत-न व्यवह्रियात्, **'नो अन्नमन्नस्स दावए'** न वा अन्यान्यस्य—अन्यान्यस्मै दद्यात्, तद् उपकरणजातं न वाऽन्यस्मै दातव्यमित्यर्थः। अथ—यदि उपलब्धं तदुपकरणम् अनधिकारिणे न दद्यात्, न वा स्वयमुपभुञ्जीत तदा किं कर्त्तव्यमित्याह—**'एगंते'** इत्यादि, **'एगंते बहुफासुए थंडिले परिट्ठवेयव्वे सिया'** एकान्ते बहुप्रासुके स्थण्डिले परिष्ठापयितव्यं स्यात्, तत्रैकान्ते—विजने—जनसंचरणरहितप्रदेशे बहुप्रासुके- द्वीन्द्रियादिजीवपरिवर्जिते स्थण्डिले—भूभागे परिष्ठापयितव्यमिति ॥ सू० १२ ॥

पूर्वं भिक्षाचर्यायां गतस्य साधोः पतितलब्धोपकरणविषये विधिरुक्तः, सम्प्रति विचारभूमिं विहारभूमिं वा गतस्य पतितोपकरणविषये विधिमाह— **'णिग्गंथस्स णं बहिया'** इत्यादि।

सूत्रम्—णिग्गंथस्स णं बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खंतस्स अहालहुस्सए उवगरणजाए परिब्भट्ठे सिया तं च केइ साहम्मिए पासेज्जा कप्पइ से सागारकडं गहाय जत्थेव अन्नमन्नं पासेज्जा-तत्थेव एवं वएज्जा—इमे भो अज्जो!

किं परिन्नाए ? से य वएज्जा-परिन्नाए तस्सेव पडिणिज्जायव्वे सिया, से य वएज्जा नो परिन्नाए तं नो अप्पणा परिभुंजेज्जा नो अन्नमन्नस्स दावए एगंते बहुफासुए थंडिले परिट्ठवेयव्वे सिया" ॥ सू० १३ ॥

छाया--निर्ग्रन्थस्य खलु बहिर्विचारभूमिं वा विहारभूमिं वा निष्क्रान्तस्य यथा-लघुस्वकमुपकरणजातं परिभ्रष्टं स्यात् तच्च कश्चित् साधार्मिकः पश्येत्, कल्पते तस्य सागारकृतं गृहीत्वा यत्रैवाऽन्यमन्यं पश्येत् तत्रैव एवं वदेत्-इदं भो आर्य ! किं परि-ज्ञातम् ?, स च वदेत् परिज्ञातम्, तस्यैव प्रतिनिर्यातव्यं स्यात्, स च वदेत् नो परिज्ञातम् तत् नो आत्मना परिभुञ्जीत, नो अन्यस्याऽन्यस्य दद्यात् एकान्ते बहुप्रासुके स्थण्डिले परिष्ठापयितव्यं स्यात् ॥ सू० १३ ॥

भाष्यम्—'**णिग्गंथस्स णं**' निर्ग्रन्थस्य-श्रमणस्य खलु '**वियारभूमिं वा**' विचारभूमिं वा बाह्यभूमिम् उच्चारप्रस्रवणभूमिम्, अथवा '**विहारभूमिं वा**' विहारभूमिं वा स्वाध्यायादि-भूमिं प्रति '**णिक्खंतस्स**' निष्क्रान्तस्य विचाराद्यर्थं बहिर्गतस्य श्रमणस्य,अवशिष्टं सर्वं पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥ सू० १३ ॥

पूर्वं विचारभूमि विहारभूमिं वा गतस्य साधोः परिभ्रष्टोपलब्धोपकरणजातविषये विधिरुक्तः, सम्प्रति ग्रामानुग्रामं विहरतस्तद्विधिमाह—'**णिग्गंथस्स णं गामाणुगामं**' इत्यादि ।

सूत्रम्—णिग्गंथस्स णं गामाणुगामं दूइज्जमाणस्स अन्नयरे उवगरणजाए परिब्भट्ठे सिया तं च केइ साहम्मिए पासेज्जा कप्पइ से सागारकडं गहाय दूरमेव अद्धाणं परिवहित्तए, जत्थेव अन्नमन्नं पासेज्जा तत्थेव एवं वएज्जा-इमे भे अज्जो ! किं परिन्नाए?, से य वएज्जा परिन्नाए तस्सेव पडिणिज्जायव्वे सिया, से य वएज्जा-नो परिन्नाए तं नो अप्पणा परिभुंजेज्जा नो अन्नमन्नस्स दावए, एगंते बहुफासुए थंडिले परिट्ठवेयव्वे सिया ॥ सू० १४ ॥

छाया—निर्ग्रन्थस्य खलु ग्रामानुग्रामं द्रवतोऽन्यतरद् उपकरणजातं परिभ्रष्टं स्यात् तत् कश्चित् साधर्मिकः पश्येत् कल्पते तस्य सागारकृतं गृहीत्वा दूरमेवाध्वानं परिवोढुम्, यत्रैवाऽन्यमन्यं पश्येत् तत्रैव एवं वदेत्-इदं भो आर्य ! किं परिज्ञातम् ? स च वदेत् परिज्ञातम् तस्यैव प्रतिनिर्यातव्यं स्यात्, स च वदेत्-नो परिज्ञातम् तत् नो आत्मना परिभुञ्जीत नो अन्यस्याऽन्यस्य दद्यात्, एकान्ते बहुप्रासुके स्थण्डिले परिष्ठा-पयितव्यं स्यात् ॥ सू० १४ ॥

भाष्यम्—'**णिग्गंथस्स णं**' निर्ग्रन्थस्य खलु '**गामाणुगामं दूइज्जमाणस्स**' ग्रामानुग्रामं द्रवतः—एकस्माद् ग्रामाद् ग्रामान्तरं प्रति विहारं कुर्वतः, '**अन्नयरे उवगरणजाए**' अन्यतरत्-यत्

किमपि प्रकारकमुपकरणजातं–वस्त्रपात्रादिकम् 'परिब्भट्ठे सिया' परिभ्रष्ट–पतितं·विस्मृतं वा स्यात् 'तं च केइ साहम्मिए पासेज्जा' तच्च पतितमुपकरणजातं यः कोऽपि साधर्मिकः श्रमणः पश्येत् तदा 'कप्पइ से सागारकडं गहाय' कल्पते तस्य सागारकृतं गृहीत्वा 'दूरमेव अद्धाणं परिवहित्तए' दूरमेवाध्वानं परिवोढुम्–दूरमार्गपर्यन्तं तस्योपकरणस्य वहनं कर्तुम्, तदनन्तरम् 'जत्थेव अन्नमन्नं पासेज्जा' यत्रैव मार्गेऽन्यमन्यं–साधर्मिकान्तरं पश्येत्, इत्यादि सर्वं द्वादशसूत्रवद् व्याख्येयम् ॥ सू० १४ ॥

पूर्वं ग्रामानुग्रामं विहरतो मुनेः परिभ्रष्टोपलब्धोपकरणजातविषये विधिरुक्तः, सम्प्रति निर्ग्रन्थनिर्ग्रन्थीभिरन्योऽन्यस्य गृहीताधिकपात्रादि यमुद्दिश्य गृहीतं तस्याऽऽज्ञामन्तरेणाऽन्यस्मै न दातव्यमिति तद्विधिमाह–'कप्पइ णिग्गंथाण वा' इत्यादि ।

सूत्रम्—कप्पइ णिग्गंथाण वा, णिग्गंथीण वा अइरेगं पडिग्गहं अन्नमन्नस्स अट्ठाए दूरमवि अद्धाणं परिवहित्तए वा धारित्तए वा परिग्गहित्तए वा, सो वा णं धारेस्सइ अहं वा णं धारेस्सामि अन्नो वा णं धारेस्सइ, नो से कप्पइ तं अणापुच्छिय अणामंतिय अन्नमन्नेसिं दाउं वा, अणुप्पदाउं वा, कप्पइ से तं आपुच्छिय आमंतिय अन्नमन्नेसिं दाउं वा अणुप्पदाउं वा ॥ सू० १५ ॥

छाया—कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा अतिरेकं प्रतिग्रहम् (पतद्ग्रहम्) अन्योन्यस्यार्थाय दूरमप्यध्वानं परिवोढुं वा धारयितुं वा परिग्रहीतुं वा, स वा तद् धारयिष्यति, अहं वा तद् धारयिष्यामि, अन्यो वा तद् धारयिष्यति, नो तस्य कल्पते तमनापृच्छ्य, अनामन्त्र्य अन्यान्येषां दातुं वा, अनुप्रदातुं वा, कल्पते तमापृच्छ्य आमन्त्र्य अन्यान्येषां दातुं वा अनुप्रदातुं वा ॥ सू० १५ ॥

भाष्यम्—'कप्पइ' कल्पते 'निग्गंथाणं वा' निर्ग्रन्थानां वा 'णिग्गंथीण वा' निर्ग्रन्थीनां वा 'अइरेगं पडिग्गहं' अतिरेकं प्रतिग्रहं–पतद्ग्रहं वा, उपलक्षणाद् वस्त्रादिकं वा, तत्रातिरेकं नाम यावत्प्रमाणकं वस्त्र-पात्राद्युपकरणं शास्त्रसंमतं ततोऽधिकं यत् तद् अतिरेकं प्रतिग्रहम्, 'अन्नमन्नस्स अट्ठाए' अन्यान्यस्य अर्थाय–प्रयोजनाय, तत्राऽन्यस्याऽन्यस्य–अमुकाऽमुकस्य श्रमणाऽन्तरस्य प्रयोजनमुद्दिश्य, तत्र–अन्यस्याऽर्थाय–इदमविशेषितं सामान्यवचनम्, तेनान्यस्यान्यस्येति अमुकस्याऽमुकस्य साधर्मिकस्याऽर्थाय प्रयोजनाय गृहीतं न तु समुच्चयरूपेण गृहीतमित्यर्थो बोध्यः, तत् 'दूरमवि अद्धाणं परिवहित्तए' दूरमपि अध्वानं- मार्गं परिवोढुम्–गृहीत्वा दूरमपि मार्गं गन्तुम्, 'धारेत्तए वा परिग्गहित्तए वा' धारयितुं वा परिग्रहीतुं वा, कल्पते अन्यस्य श्रमणस्य अन्यस्याः श्रमण्या वा कृते प्रमाणादधिकमपि वस्त्रपात्रादिकं परिवोढुम्

धारयितुं परिग्रहीतुं वा कल्पते इत्यर्थः, यदुद्दिश्य गृहीतं तत्प्रकारं प्रदर्शयति–**'सो वा णं धारेस्सइ'** स वाऽमुको निर्ग्रन्थो यन्मया गृहीतं तद् धारयिष्यति ग्रहीष्यति, **'अहं वा णं धारेस्सामि'** अहं वा तद् धारयिष्यामि, **'अन्नो वा धारेस्सइ'** अन्यो वाऽमुको गणी वाचक उपाध्यायो वा तद् धारयिष्यति, स वा धारयिष्यति, इत्यादि विशेषितवचनम्, तेनाऽमुको गणी वाचकोऽन्यो वा श्रमणः स्यात्तस्येदं भविष्यतीति भावः, अहं वा धारयिष्यामि ममैव भविष्यतीत्यर्थः, स वा धारयिष्यति, इत्येवंप्रकारेण गृहीतं वस्त्रपात्रादिकम् **'नो से कप्पइ तं अणापुच्छिय अणामंतिय'** नो–नैव तस्य–पात्रादिवाहकस्य कल्पते तं यदर्थे गृहीतं तं श्रमणं–वाचकं–गणिनमुपाध्यायं वा अनापृच्छ्य–तस्य पृच्छामन्तरेण, अनामन्त्र्य–यथा–गृह्णातु भो इदं वस्त्रपात्रादिकं यन्मम समर्पितम्, इत्येवं तमकथयित्वा **'अन्नमन्नेसिं दाउं वा अणुप्पयाउं वा'** अन्येषामन्येषां दातुं वा एकवारम्, अनुप्रदातुं वा वारं वारम्, यदर्थमतिरेकं पात्रादिकमुपकरणं गृहीतं धारितं तं व्यक्तिविशेषमनापृच्छ्याऽनामन्त्र्य अन्यस्मै दातुमनुप्रदातुं वा न कल्पते **'कप्पइ से तं आपुच्छिय आमंतिय अन्नमन्नेसिं दाउं वा अणुप्पदाउं वा'** कल्पते तस्य पात्रादिवाहकस्य तमापृच्छ्य आमन्त्र्य अन्येषामन्येषां दातुं वा अनुप्रदातुं वा, स श्रमणो यं व्यक्तिविशेषमुद्दिश्याऽतिरेकं वस्त्रपात्रादिकं गृहीतवान् तं व्यक्तिविशेषं गणिनं वाचकमुपाध्यायं वा पृष्ट्वा आमन्त्र्य–सम्यक् कथयित्वा ततो यस्मै कस्मैचिन्निर्ग्रन्थाय निर्ग्रन्थ्या वा तदुपकरणं दातुं कल्पते इत्यर्थः ॥ सू० १५ ॥

पूर्वमुपधेरतिरेकविषये सूत्रमुक्तम्, सम्प्रति उपधेरतिरेकवदाहारातिरेको मुनिना न कर्त्तव्यः, यतः साधोर्द्वात्रिंशत्कवलपरिमित आहारः प्रमाणप्राप्तः कथ्यते, ततो न्यूनाहारे साधुरल्पाहारादिविशेषणविशिष्टो भवतीति तत् प्रकारं प्रदर्शयन्नाह—**'अट्ठकुक्कुडिअंड०'** इत्यादि ।

सूत्रम्—अट्ठकुक्कुडिअंडप्पमाणमेत्ते कवले आहारं आहारेमाणे णिग्गंथे अप्पाहारे, दुवालसकुक्कुडिअंडप्पमाणमेत्ते कवले आहारं आहारेमाणे णिग्गंथे अवड्ढोमोयरिए, सोलसकुक्कुडिअंडप्पमाणमेत्ते कवले आहारं आहारेमाणे णिग्गंथे दुभागपत्ते, चउव्वीसंकुक्कुडिअंडप्पमाणमेत्ते कवले आहारं आहारेमाणे णिग्गंथे तिभागपत्ते सिया ओमोयरिए, एगतीसंकुक्कुडिअंडप्पमाणमेत्ते कवले आहारं आहारेमाणे णिग्गंथे किंचूणोमोयरिए, बत्तीसं कुक्कुडिअंडप्पमाणमेत्ते कवले आहारं आहारेमाणे णिग्गंथे पमाणपत्ते । एत्तो एगेणवि कवलेणं ऊणगं आहारं आहारेमाणे समणे णिग्गंथे नो पकामभोई–त्ति वत्तव्वं सिया ॥ सू० १६ ॥

॥ ववहारे अट्ठमो उद्देसो समत्तो ॥८॥

छाया—अष्टकुक्कुटाण्डप्रमाणमात्रान् कवलान् आहारमाहरन् निर्ग्रन्थोऽल्पाहारः, द्वादशकुक्कुटाण्डप्रमाणमात्रान् कवलान् आहारमाहरन् निर्ग्रन्थोऽपार्धाऽवमौदर्यः, षोडशकुक्कुटाण्डप्रमाणमात्रान् कवलान् आहारमाहरन् निर्ग्रन्थो द्विभागप्राप्तः, चतुर्विंशतिकुक्कुटाण्डप्रमाणमात्रान् कवलान् आहारमाहरन् निर्ग्रन्थस्त्रिभागप्राप्तः स्यादवमौदर्यः, एकत्रिंशत्कुक्कुटाण्डप्रमाणमात्रान् कवलान् आहारमाहरन् निर्ग्रन्थः किञ्चिदूनाऽवमौदर्यः, द्वात्रिंशत्कुक्कुटाण्डप्रमाणमात्रान् कवलान् आहारमाहरन् निर्ग्रन्थः प्रमाणप्राप्तः । इत एकेनाऽपि कवलेन ऊनकमाहारमाहरन् श्रमणो निर्ग्रन्थो नो प्रकामभोजी-ति वक्तव्यं स्यात् ॥ सू० १६ ॥

॥ व्यवहारे अष्टम उद्देशकः समाप्तः ॥८॥

भाष्यम्—'अट्ठकुक्कुडिप्पमाणमेत्ते कवले' अष्टकुक्कुटाण्डप्रमाणमात्रान्–कुक्कुटाण्डप्रमाणान्, यः पुरुषस्य मुखे क्षिप्तः सन् सुखेन चर्व्यते तथा गलान्तराले अविलग्न एव गले प्रविशति एतावत्प्रमाणमेव कवलमश्नीयादित्येतावत्प्रमाणः कवलः कुक्कुटाण्डशब्देनोपमीयते यतः कुक्कुट्या अण्डकमाकारप्रमाणेन सदा सर्वदा समानमेव भवति न न्यूनं नाधिकमिति तत्प्रमाणेन गृहीतम्, अन्यत्रापि चान्द्रायणव्रतादौ कवलोऽनेनैव शब्देनोपमितो लभ्यते उपमामात्रमेवेति । यस्य प्रमाणप्राप्त आहारो यावत्परिमितो भवेत्तस्य द्वात्रिंशत्तमो भागः कवलशब्देन गृह्यते ततस्तादृशान् अष्टौ कवलान् 'आहारं आहारेमाणे' प्रमाणप्राप्ताहाराच्चतुर्थांशरूपम् आहरन्–आहारं कुर्वन् 'णिग्गंथे' निर्ग्रन्थः श्रमणः 'अप्पाहारे' अल्पाहारो भण्यते । 'दुवालसकुक्कुडिअंडप्पमाणमेत्ते कवले आहारं आहारे माणे' कुक्कुटाण्डप्रमाणमात्रान् द्वादश कवलान् आहारं–प्रमाणप्राप्ताहारचतुर्थांशतः किञ्चिदधिकं द्वादशकवलप्रमितम् आहरन् 'णिग्गंथे' निर्ग्रन्थः 'अवड्ढोमोयरिए' अपार्धावमौदर्यः कथ्यते । 'सोलसकुक्कुडिअंडप्पमाणमेत्ते कवले आहारं आहारेमाणे' षोडशकुक्कुटाण्डप्रमाणमात्रान् कवलानाहारं–प्रमाणप्राप्तादर्धम् आहरन्–आहारं कुर्वन् 'णिग्गंथे' निर्ग्रन्थः 'दुभागपत्ते' द्विभागप्राप्तः–द्विभागेन ऊनोदरः कथ्यते । 'चउवीसंकुक्कुडिअन्डप्पमाणमेत्ते कवले' चतुर्विंशतिकुक्कुटाण्डप्रमाणमात्रान् कवलान् 'आहारं आहारेमाणे णिग्गंथे' आहारमाहरन्–कुर्वन् निर्ग्रन्थः 'तिभागपत्ते सिया ओमोयरिए' त्रिभागप्राप्तः स्यात् अवमौदर्य इति कथ्यते । 'एगतीसंकुक्कुडिअंडप्पमाणमेत्ते कवले आहारं आहारेमाणे' एकत्रिंशत्कुक्कुटाण्डप्रमाणमात्रान् कवलान् आहारमाहरन् 'णिग्गंथे' निर्ग्रन्थः 'किंचूणोमोयरिए' किञ्चिदूनाऽवमौदर्यः कथ्यते । 'बत्तीसंकुक्कुडिअंडप्पमाणमेत्ते कवले आहारं आहारे–माणे' द्वात्रिंशत्कुक्कुटाण्डप्रमाणमात्रान् कवलान् आहारमाहरन् 'णिग्गंथे' निर्ग्रन्थः 'प्रमाणपत्ते' प्रमाणप्राप्तः कथ्यतेः । 'एत्तो एगेणवि कवलेणं ऊणगं आहारं' इतः–द्वात्रिंशत्कुक्कु–

टाण्डप्रमाणात् एकेनापि कवलेन ऊनकं-हीनम् आहारम् आहरन् कुर्वन् **'समणे णिग्गंथे'** श्रमणो निर्ग्रन्थः **'नो पकामभोइ-त्ति वत्तव्वं सिया'** नो प्रकामभोजीति वक्तव्यं स्यात्, ततोऽधिकभोजी-प्रकामभोजी कथ्यतेऽतः साधुना नैवं भाव्यमिति भावः ॥ सू० १६ ॥

इति श्री-विश्वविख्यात-जगद्वल्लभ प्रसिद्धवाचक-पञ्चदशभाषाकलितललितकलापालापक-प्रविशुद्धगद्यपद्यनैकग्रन्थनिर्मापक-वादिमानमर्दक-श्रीशाहूछत्रपतिकोल्हापुरराजप्रदत्त-**"जैनाचार्य"**-पदभूषित-कोल्हापुरराजगुरु-बालब्रह्मचारि-जैनाचार्य-जैनधर्म-दिवाकर-पूज्यश्री-**घासीलालव्रति**-विरचितायां**"व्यवहारसूत्रस्य"** भाष्यरूपायां व्याख्यायामष्टम उद्देशः समाप्तः ॥८॥

॥ नवमोद्देशकः ॥

व्याख्यातोऽष्टमोद्देशकः, साम्प्रतं नवमः प्रारभ्यते–तत्र अस्य नवमोद्देशकस्यादिसूत्रेण सहाऽष्टमोद्देशकस्य चरमसूत्रेण सह कः सम्बन्धः? इति संबन्धप्रतिपादनार्थमाह भाष्यकारः– 'वुत्तो आहारो' इत्यादि।

गाथा—वुत्तो आहारो अह, आएसो तं च तत्थ जइ भुंजइ।
साहूणं तग्गहणे, कप्पाकप्पस्स एत्थ विही ॥१॥

छाया— उक्त आहारः अथ आदेशस्तं च तत्र यदि भुङ्क्ते।
साधूनां तद्ग्रहणे, कल्प्याकल्प्यस्य अत्र विधिः ॥१॥

व्याख्या—'वुत्तो' इति। अष्टमोद्देशकस्य चरमसूत्रे 'आहारो वुत्तो' आहार उक्तः, आहारप्रमाणं प्रतिपादितम्, तं चाहारम् आदेशः आदिश्यते–सत्कारपुरस्सरम् आहूयते यः स आदेशः–प्राघूर्णकः, ज्ञातकः, स्वजनः, मित्रं, कुलगुर्वादिप्रभु', परतीर्थिको वा 'तत्थ' इति-तत्र सागारिकगृहे भुङ्क्ते तदा 'तग्गहणे' तद्ग्रहणे- तस्य तन्निमित्तं कृतस्य ग्रहणे 'साहूणं' साधूनाम् 'कप्पा–कप्पस्स' एत्थ विही कल्प्याऽकल्प्यस्य 'एत्थ' अत्र–नवमोद्देशकस्यादिसूत्रे विधिः प्रोच्यते ॥१॥

एष एव सम्बन्धः, अनेन सम्बन्धेन आयातस्य नवमोद्देशकस्येदमादिमं सूत्रम्– 'सागारियस्स' इत्यादि,।

सूत्रम्—सागारियस्स आएसे अन्तो वगडाए भुंजइ निट्ठिए निसिट्ठिए पाडिहारिए तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिग्गाहित्तए ॥सू० १॥

छाया—सागारिकस्य आदेशः अन्तर्वगडायां भुङ्क्ते निष्ठितान् निसृष्टान् प्रातिहारिकान् तस्माद् ददाति नो तस्य कल्पते प्रतिग्रहीतुम् ॥सू० १॥

भाष्यम्—'सागारियस्स' इति। 'सागारियस्स' सागारिकस्य–शय्यातरस्य, य उपाश्रयस्याऽऽज्ञां ददाति स सागारिक. कथ्यते, तस्य 'आएसे' आदेशः यः सत्कारपुरस्सरमादिष्टः–आहूत. स आदेशः कथ्यते, आवेशोवा–य आविशति–भोजनार्थं गृहे प्रविशति स आवेशः भोजनार्थं गृहमागत', स च प्राघूर्णकादिः 'अंतो वगडाए' अन्तर्वगडायाम्, तत्र वगडानाम–परिक्षेपः गृहमित्यर्थः, तस्य अन्तर्मध्ये–गृहमध्ये 'भुंजइ' भुङ्क्ते पदार्थान् ओदनादीन्, किंविशिष्टान ओदनादीन् भुङ्क्ते? तत्राह–'निट्ठिए' निष्ठितान्–निष्ठां नीतान् प्राघूर्णकाद्यर्थं निष्पादितान् इत्यर्थः 'निसिट्ठिए' निसृष्टान्–प्राघूर्णिकादिभ्यो दत्तान्, निष्ठितनिसृष्टयोरयं भेद.–यत् प्रथमं रन्धनक्रियायाम, द्वितीयं तु–दानक्रियायाम्, प्राघूर्णकाद्यर्थं पाचितवान्, तदर्थं दत्तान्, प्रातिहारिकान्–शय्यातरेण प्रातिहारिकरूपेण दत्तान्, शय्यातरः प्राघूर्णकादीन् वक्ति-

यथारुचि भुज्यतां शेषं ममेत्येवं रूपेण दत्तान् भुङ्क्ते **'तम्हा दावए'** तस्मात् परिनिष्ठितादि-विशेषणविशिष्टौदनादिमध्यात् निष्कास्य यद् ददाति साधवे **'नो से कप्पइ पडिग्गाहित्तए'** नो—न तस्य-श्रमणस्य कल्पते प्रतिग्रहीतुं—स्वीकर्त्तुम् अत्यक्तसत्ताकत्वेन शय्यातरपिण्डत्वात्, अयं भावः—शय्यातरस्य प्राघूर्णकादिर्गृहेभुङ्क्ते, यं शय्यातरः प्राघूर्णकार्थं कृत्वा प्राघूर्णकाय अवशिष्टग्रहणप्रतिज्ञया प्रयच्छति तं प्राघूर्णको भुङ्क्ते, तद्भुक्तावशिष्टाहारमध्यादाहारं यय्यातरः साधवे यदि ददाति तदा तादृश आहारो न कल्पते साधूनाम् । यतः स आहारः शय्यातरेण प्राघूर्णकादिभ्यः प्रातिहारिको दत्तोऽतः स शय्यातरस्वत्वेन शय्यातरपिण्ड इति ॥ सू० १ ॥

पूर्वं गृहान्तर्भोजिप्राघूर्णकादिसंबन्धिशय्यातरस्वत्वयुक्ताहारस्य निषेधः प्रोक्तः, साम्प्रतं शय्यातरस्वत्वरहिततादृशाहारस्य ग्रहणविधिमाह—**'सागारियस्स'** इत्यादि ।

सूत्रम्—सागारियस्स आएसे अंतो वगडाए भुंजइ निट्ठिए निसिट्ठे अपाडिहारिए तम्हा दावए एवं से कप्पइ पडिगाहेत्तए ॥ सू० २ ।

छाया—सागारिकस्य आदेशः अन्तर्वगडायां भुङ्क्ते निष्ठितान् निसृष्टान् अप्रातिहारिकान्, तस्मात् ददाति एवं तस्य कल्पते प्रतिग्रहीतुम् ॥ सू० २ ॥

भाष्यम्—'सागारियस्स' सागारिकस्य' इत्यादि पूर्वसूत्रवद् व्याख्येयम्, विशेषस्त्वयम्—सागारिकस्य गृहे प्राघूर्णकादिर्यान् पदार्थान् भुङ्क्ते तान् पदार्थान् शय्यातरो यदि स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकं प्राघूर्णकादिभ्यो दद्यात् तदा साधोः प्रतिग्रहीतुं कल्पते तदेवाह—**'अप्पडिहारिए'** इत्यादि, **'अप्पडिहारिए'** अप्रातिहारिकान् अपुनर्ग्रहणप्रतिज्ञया दत्तान् स प्राघूर्णकादिर्भुङ्क्ते **'तम्हा दावए'** तस्मात् परिनिष्ठितादिविशिष्टौदनादिभोजन जातमध्यात् साधवे दद्यात्, **'एवं से कप्पइ पडिगाहित्तए'** एवम्—अनेन प्रकारेण कल्पते तस्य साधोस्तादृशमाहारजातं प्रतिग्रहीतुम् । शय्यातरस्य प्राघूर्णकादिस्तस्य गृहे आहारजातं भुङ्क्ते तद् गृहपतिना तदर्थं निष्पादितं तादृशमाहारजातं गृहपतिर्भोक्तुं प्राघूर्णकादिभ्यो दत्त्वा कथयेत्—भोजनानन्तरं यदवशिष्टं भवेत्तत् त्वदीयमेवेति, तत् प्राघूर्णकेन न पुनर्गृहपतये समर्पितं भवेत्, तदप्रातिहारिकमुच्यते तादृशमाहारजातं यदि प्राघूर्णकादिः साधवे दद्यात् तदा तादृशमाहारजातं साधूनां प्रतिग्रहीतुं कल्पते इति भावः ॥ सू० २ ॥

संप्रति शय्यातरस्य गृहबहिर्भोजिप्राघूर्णकादिसंबन्धिभोजनजातस्य शय्यातरस्वत्वास्वत्वविषये निषेधं विधिं च सूत्रद्वयेनाह—**'सागारियस्स आएसे'** इत्यादि ।

यतं दीयते, दासादीनां च हस्तोत्पाटितं नियतमेव दीयते, तथा आदेशाय सत्कारपुरस्सरं दीयते, न तथा दासादिकृते, तथा—आदेशस्य भोजनविधिसंपादनाय महान् प्रयत्नः ससंभ्रमं विधीयते, दासादीनांतु न तादृशः प्रयत्नः क्रियते, इत्यत आदेशस्य दासादेश्च सूत्राणां पृथक्करण मुचितमेवेति बोध्यम् ॥ सू० ७ ८॥

उपर्युक्तसूत्राष्टके आदेशादिविषयमधिकृत्य कथितम्, सम्प्रति ज्ञातकमधिकृत्यैकगृहविषयं सूत्रचतुष्टयमाह—'**सागारियस्स**' इत्यादि ।

सूत्रम्—सागारियस्स नायए सिया सागारियस्स एगवगडाए अंतो एगपयाए सागारियं चोवजीवइ तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥ सू० ९ ॥

छाया—सागारिकस्य ज्ञातकः स्यात् सागारिकस्य-एकवगडायामन्तः एकप्रजायां सागारिकं चोपजीवति तस्माद् दद्यात् नो तस्य कल्पते प्रतिग्रहीतुम् ॥ सू० ९॥

भाष्यम्—'सागारियस्स' सागारिकस्य—शय्यातरस्य, **'नायए सिया'** ज्ञातकः—सागारिकस्वजनः स्यात्, तत्र—ज्ञातको नाम—स्वजनः पूर्वसंस्तुतः १, यदि वा पश्चात्संस्तुतः २, यदि वा उभयसंस्तुतः स्वजनः ३, तत्र पूर्वसंस्तुतः—मातापितृपक्षवर्ती १, पश्चात्संस्तुतः कलत्रपक्षगतः २, उभयसंस्तुतः-उभयपक्षवर्ती ३ भवेत्, **'सागारियस्स'** सागारिकस्य-शय्यातरस्य **'एगवगडाए'** एकवगडायाम्-एकस्मिन् गृहे, तस्य गृहस्य-**'अंतो'** अन्तः- मध्ये, **'एगपयाए'** एकप्रजायाम्, तत्र प्रजानाम-चुल्ली, तदर्थस्तु—प्रकर्षेण जायते पाकनिष्पत्तिरस्यामिति प्रजा-चुल्ही, तस्याम्, अथवा-**'एगपयाए'** इत्यस्य एकपचायामिति च्छाया, तत्र पच्यते ओदनादिर्यत्र सा पचा चुल्हीत्यर्थः, एका पचा एकपचा तस्याम्, **'सागारियं चोपजीवइ'** सागारिकं चोपजीवति, सागारिकमाश्रित्यैव जीवनयात्रां निर्वहति सागारिकस्य काष्ठलवणगोरसमुद्गादिसूपोदकाम्लशाकफलादिग्रहणपूर्वकमुपजीवति **'तम्हा दावए'** तस्मात्-तादृशात् सागारिकसंबन्धि—स्वजनाशनमध्याद् अशनादिकं दद्यात् **'नो से कप्पइ पडिगाहित्तए'** नो तस्य-साधोस्तत कल्पते प्रतिग्रहीतुम्, शय्यातरस्वजनपिण्डस्यापि शय्यातरवस्तुसंयोगात् शय्यातरपिण्डत्वदोष सद्भावात् ।

ननु—शय्यातरस्य तज्ज्ञातकस्य च किमर्थमेका चुल्ही भवति ? तत्राह—यतस्तत्र चुल्हीकरं राज्ये गृह्णाति, या या पृथक् चुल्ही भवति तस्यास्तस्याः करमपि पृथग् गृह्णातीति तत्रत्य-राज्यनियमात् करभीता लोका एकस्यामेव चुल्हिकायां पाकक्रियां कृत्वा स्वस्वभागं सर्वे गृह्णन्ति ततस्तत्र शय्यातरवस्तुसंमिश्रणप्रसङ्गात्स आहारोऽपि शय्यातरपिण्डदोषदूषितो भवेदिति न कल्पते ॥ सू० ९ ॥

सूत्रम्—सागारियस्स नायए सिया सागारियस्स एगवगड़ाए अन्तो सागारियस्स अभिनिप्पयाए सागारियं चोपजीवइ तम्हा दावए नो से कप्पइ पड़िगाहित्तए ॥सू० १०॥

छाया—सागारिकस्य ज्ञातकः स्यात् सागारिकस्यैकवगडायाम् अन्तः सागारिकस्याभिनिप्रजायां सागारिकं चोपजीवति तस्माद् दद्यात् नो तस्य कल्पते प्रतिग्रहीतुम् ॥१०॥

भाष्यम्—'सागारियस्स नायए सिया' सागारिकस्य—शय्यातरस्य ज्ञातकः—पूर्वोक्तस्वरूपः स्यात् स च 'सागारियस्स एगवगड़ाए अन्तो' सागारिकस्य—शय्यातरस्य—एकवगडायाम्—एकस्मिन् गृहे तदन्तःप्रदेशे एव निवसति, तथा—'सागारियस्स अभिनिपयाए' अभिनिप्रजायां तत्र—अभि—प्रत्येकं नि—नियता विविक्ता प्रजा अभिनिप्रजा पृथक्चुल्हीत्यर्थः, तस्याम्, सागारिकादभिनिप्रजायाम्, सूत्रे पञ्चम्यर्थे षष्ठी आर्षत्वात् ततः सागरिकात् शय्यातरात् पृथक्चुल्हिकायां रन्धनादिकं करोति किन्तु—'सागारियं चोवजीवइ' सागारिकमाश्रित्य चोपजीवति, शय्यातरस्यैव काष्ठलवणादिकं व्यवहरति । 'तम्हा दावए' तस्मात—सागारिकगृहस्थितपृथक्चुल्लिकासंपादितभक्तपानादिकर्तृस्वजनात् अन्नादिकं साधवे दद्यात् 'नो से कप्पइ पड़िगाहित्तए' तदप्याहारजातं नो—कथमपि न 'से' तस्य—श्रमणस्य कल्पते प्रतिग्रहीतुम् । यद्यपि—शय्यातरगृहे विद्यमानः स्वजनः पृथक् चुल्हिकायां रन्धनादिकं संपादयति तथापि शय्यातरस्य काष्ठादिकं व्यवहरतस्तस्य भक्तादिकमपि शय्यातरपिण्डत्वात् कथमपि साधुभिर्न ग्रहीतव्यमिति भावः ॥ सू० १० ॥

सूत्रम्—सागारियस्स नायए सिया सागारियस्स एगवगड़ाए बाहिं सागारियस्स एगपयाए सागारियं चोपजीवइ, तम्हा दावए नो से कप्पइ पाड़िगाहित्तए ॥ सू० ११ ॥

छाया—सागारिकस्य ज्ञातकः स्यात् सागारिकस्य एकवगडायां बहिः सागारिकस्यैकप्रजायां सागारिकं चोपजीवति तस्माद् दद्याद् नो तस्य कल्पते प्रतिग्रहीतुम् ॥ सू० ॥

भाष्यम्—'सागारियस्स' सागारिकस्य—शय्यातरस्य, 'नायए सिया' ज्ञातकः स्यात्, स च 'सागारियस्स एगवगडाए' सागारिकस्य—शय्यातरस्य एकवगड़ायाम्—एकस्मिन्—गृहे बहिःप्रदेशे 'सागारियस्स एगपयाए' सागारिकस्य—शय्यातरस्य—एकप्रजायाम्—एकस्यामेव चुल्हिकायाम् भोजनादिकं निष्पादयति 'सागारियं चोवजीवइ' सागारिकमुपजीवति—शय्यातरप्रदत्तकाष्ठजलादिभिराहारं निष्पादयति 'तम्हा दावए' तस्मात् सागारिकोपजीविस्वजन—

सूत्रम्—सागारियस्स आएसे वाहिं वगडाए भुञ्जइ निट्ठिए निसिट्ठे पाडिहारिए तम्हा दावए, नो से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥ सू० ३ ॥

सागारियस्स आएसे वाहिं वगडाए निट्ठिए निसिट्ठे अपाडिहारिए, तम्हा दावए एवं से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥ सू० ४ ॥

छाया—सागारिकस्याऽऽदेशो वहिर्वगडायां भुङ्क्ते निष्ठितान् निसृष्टान् प्रातिहारिकान् तस्मात् ददाति, नो तस्य कल्पते प्रतिग्रहीतुम् ॥ सू० ३ ॥

सागारिकस्य आदेशो वहिर्वगडायां भुङ्क्ते निष्ठितान् निसृष्टान् अप्रातिहारिकान् तस्माद् ददाति, एवं कल्पते प्रतिग्रहीतुम् ॥ सू ४ ॥

भाष्यम्—'सागारियस्स' सागारिकस्य–शय्यातरस्य 'आएसे' आदेशः–प्राघूर्णकादिः 'वाहिं वगडाए' वहिर्वगडायाम्–गृहस्य वहिर्भागे इत्यर्थः, शेषं सर्वं पूर्वसूत्रद्वयवदेव व्याख्येयम् । तात्पर्यमेतावदेव प्राघूर्णकादिदत्तमाहारं तृतीयसूत्रोक्तं प्रातिहारिकत्वान्न साधूनां कल्पते । चतुर्थसूत्रोक्तं च कल्पते अप्रातिहारिकत्वात्तस्येति विज्ञेयम् ॥ सू० ३–४ ॥

पूर्वं प्राघूर्णकादिभ्यो दत्तस्य शय्यातराहारस्य निषेधो विधिश्च प्रदर्शितः, सम्प्रति दासादिभ्यः प्रदत्ताहारविषये निषेधं विधिंच सूत्रद्वयेनाह–'सागारियस्स' इत्यादि ।

सूत्रम्—सागारियस्स दासेइ वा, पेसेइ वा, भयएइ वा, भइण्णएइ वा अंतोवगडाए भुंजइ निट्ठिए निसिट्ठे पाडिहारिए तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥ सू० ५॥

सागारियस्स दासेइ वा पेसेइ वा भयएइ भइण्णएइ वा अंतो वगडाए भुंजइ निट्ठिए निसिट्ठे अप्पाडिहारिए तम्हा दावए एवं से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥ सू० ६ ॥

छाया—सागारिकस्य दास इति वा प्रेष्य इति वा भृत्य इति वा भृतक इति वा अन्तर्वगडाय भुङ्क्ते निष्ठितान् निसृष्टान् प्रातिहारिकान् तस्माद् ददाति नो तस्य कल्पते प्रतिग्रहीतुम् ॥ सू० ५ ॥

सागारिकस्य दास इति वा प्रेष्य इति वा भृत्य इति वा भृतक इति वा अन्तर्वगडायां भुङ्क्ते निष्ठितान् निसृष्टान् अप्रातिहारिकान् तस्माद् ददाति एवं तस्य कल्पते प्रतिग्रहीतुम् ॥ सू० ६ ॥

भाष्यम्—'सागारियस्स' सागारिकस्य–शय्यातरस्य 'दासेइ वा' दास इति वा–आजन्ममरणावधि किङ्करः । 'पेसेइ वा' प्रेष्य इति वा, तत्र–प्रेष्यो यो ग्रामान्तरे प्रेषणार्थं किङ्करः ग्रामान्तरसम्बन्धि कार्यं करोतीत्यर्थः । 'भयएइ वा' भृत्य इति वा–तत्र–भृत्यः कञ्चित्कालं मूल्येन भृतः, 'भइण्णएइ वा' भृतक इति वा प्रभूतकालार्थं क्रयक्रीतः । 'अंतो वगडाए' अन्तर्वगडायाम्–

गृहमध्ये 'भुंजइ' भुङ्क्ते, इत्यादि सर्वं पूर्ववद् व्याख्येयम् । विशेषस्त्वयम्—अस्मिन् पञ्चमे सूत्रे शय्यातरेण प्रातिहारिकतया दत्तत्वात्तदाहारजातं साधूनां न कल्पते तत्र शय्यातरस्वत्वत्वात् ॥ सू० ५ ॥

षष्ठे सूत्रे च अप्रातिहारिकत्वेन दत्तत्वात्तदाहारजातं कल्पते इत्येतावदेवाऽन्तरं पञ्चम-षष्ठसूत्रयोरिति ॥ सू० ६ ॥

पूर्वं दासादिकमधिकृत्याऽन्तर्वगडासूत्रद्वयं प्रोक्तम्, सम्प्रति बहिर्वगडासूत्रद्वयमाह—'सागारियस्स' इत्यादि ।

सूत्रम्—सागारियस्स दासेइ वा, पेसेइ वा, भयएइ वा भइण्णएइ वा, बाहिं वगडाए भुंजइ निट्ठिए निसिट्ठे पाडिहारिए, तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥ सू० ७ ॥

सागारियस्स दासेइ वा पेसेइ वा भयएइ वा भइण्णएइ वा बाहिं वगडाए भुंजइ निट्ठिए निसिट्ठे अप्पाडिहारिए तम्हा दावए एवं से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥ सू० ८ ॥

छाया—सागारिकस्य दास इति वा प्रेष्य इति वा भृत्य इति वा भृतक इति वा बहिर्वगडायांभु ङ्क्ते निष्ठितान् निसृष्टान् प्रातिहारिकान् तस्मात् ददाति नो तस्य कल्पते प्रतिग्रहीतुम् ॥ सू० ७ ॥

सागारिकस्य दास इति वा प्रेष्य इति वा भृत्य इति वा-भृतक इति वा बहिर्वगडायां भुङ्क्ते निष्ठितान् निसृष्टान् अप्रातिहारिकान् तस्माद् ददाति, एवं तस्य कल्पते प्रतिग्रहीतुम् ॥ सू० ८ ॥

भाष्यम्—'सागारियस्स' सागारिकस्य—शय्यातरस्य **'दासे इ वा'** दास इति वा, इत्यादि पूर्ववदेव वगडाया बहिर्दासादिभोजनग्रहणं सप्तमसूत्रे प्रातिहारिकत्वेन दत्तत्वान्न कल्पते ॥ सू० ७ ॥

अष्टमसूत्रे च अप्रातिहारिकत्वेन दीयमानत्वात् कल्पते इति भावः ॥ सू० ८ ॥ अत्र सूत्राष्टकस्यायं भावः—अत्रादितश्चत्वारि सूत्राणि वगडाया अन्तर्बहिरादेशमधिकृत्य कथितानि ४ । चत्वारि च वगडाया अन्तर्बहिर्दासादिकमधिकृत्य कथितानि ४ (८) । तत्र—यत्र यत्र प्रातिहारिकं तत्र तत्र शय्यातरस्वत्वत्वात् शय्यातरपिण्ड इति न कल्पते । यत्र यत्र पुनरप्रातिहारिकं तत्र तत्र शय्यातर-स्वत्वरहितत्वान्न स शय्यातरपिण्ड इति कल्पते साधूनां प्रतिग्रहीतुम् । यथा प्रथम—तृतीय—पञ्चम-सप्तमसूत्रेषु शय्यातरपिण्डग्रहणदोषापत्तेरकल्प्यमाहरजातम् । द्वितीय—चतुर्थ—षष्ठाऽष्टमसूत्रेषु शय्यातरस्वत्वरहितत्वान्न तत्र शय्यातरपिण्डत्वमिति तत् कल्प्यमिति ॥

अत्राऽऽशङ्कते शिष्यः चत्वारि सूत्राणि आदेशविषयाणि, चत्वारि च दासादिविषयाणीति अष्टानां सूत्राणां पृथक् पृथक् कथन निरर्थकम्, आदेशस्य चतुर्ष्वेव सूत्रेषु तेन सार्द्धं दासादी-नामपि समावेशसंभवात् ? तत्राऽऽह—शृणु आदेशः कश्चिदपि कदाचिदागच्छति ततस्तस्याऽनि-

सम्बन्धिभक्तादितो दद्यात् 'नो से कप्पइ पडिगाहित्तए' नो तादृशमन्नम् 'से' तस्य श्रमणस्य कल्पते प्रतिग्रहीतुं, शय्यातरपिण्डत्वात् ॥ सू० ११ ॥

सूत्रम्—सागारियस्स नायए सिया सागारियस्स एगवगड़ाए बाहिं सागारियस्स अभिणिपयाए सागारियं चोवजीवइ तम्हा दावए नो से कप्पइ पड़िगाहित्तए ॥ सू० १२ ॥

छाया—सागारिकस्य ज्ञातकः स्यात् सागारिकस्य एकवगडायां बहिः सागारिकस्य अभिनिप्रजायां सागारिकं चोपजीवति तस्मात् दद्यात् नो तस्य कल्पते प्रतिग्रहीतुम् ॥ सू० १२ ॥

भाष्यम्—'सागारियस्स' सागारिकस्य 'नायए सिया' ज्ञातकः स्यात् 'सागारियस्स एगवगड़ाए बाहिं' सागारिकस्य शय्यातरस्य-गृहपतेः एकवगड़ायामेकस्मिन् गृहे बहिः सागारिकस्य गृहाद्बहिर्भागे 'सागारियस्स अभिनिपयाए' सागारिकस्य अभिनिप्रजायां-पृथक् चुल्हिकायां रन्धनादिकं करोति, शेषं सर्वं पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥

अयं भावः— शय्यातरस्य कश्चित् स्वजनो भवेत्, स च शय्यातरस्य यद् गृहम् तस्य बहिर्भागे पृथक् पृथक् चुल्हिकाया भोजनादिकं संपादयति, परन्तु-शय्यातरस्य जललवणादिना संपादितस्वजनपाकाद् यदि साधवे ओदनादिकं समर्पयति, तादृशमोदनादिकं प्रतिग्रहीतुं श्रमणस्य न कल्पते, तादृशोदनादेरपि शय्यातरपिण्डत्वात् ॥ सू० १२ ॥

पूर्वं सागारिकस्य प्रकरणेन-एकं गृहमाश्रित्याऽऽहारस्याऽनादेयत्वं कथितम् सम्प्रति-पृथक् पृथग् गृहमाश्रित्य शय्यातरपिण्डस्य-अनादेयतां कथयितुमाह—'सागारियस्स इत्यादि ।

सूत्रम्--सागारियस्स नायए सिया सागारियस्स अभिणिव्वगड़ाए एगदुवाराए एगनिक्खमणपवेसाए अन्तो सागारियस्स एगपयाए सागारियं चोवजीवइ तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥ सू० १३ ॥

छाया—सागारिकस्य ज्ञातकः स्यात् सागारिकस्य-अभिनिवगड़ायामेकद्वारायाम् एकनिष्क्रमणप्रवेशायाम् अन्तः सागारिकस्यैकप्रजायाम्, सागारिकं चोपजीवति तस्माद् दद्यात् नो तस्य कल्पते प्रतिग्रहीतुम् ॥ सू० १३ ॥

भाष्यम्—'सागारियस्स' सागारिकस्य-गृहपतेः 'नायए सिया' ज्ञातकः स्यात् । 'सागारियस्स अभिणिवगड़ाए' सागारिकस्य-शय्यातरस्य अभिनिवगडायाम्, तत्र-अभि-प्रत्येकं नि-नियता विविक्ता-पृथग्भूता वगड़ा-गृहम् इति -अभिनिवगडा, तस्याम्-शय्यातर-

गृहात् पृथग्गृहे इत्यर्थः किन्तु 'एगदुवाराए' एकद्वारायाम् एकमेव द्वारं यस्यां सा एकद्वारा तस्यामेकद्वारायामभिनिवगडायाम्, पुनश्च 'एगनिक्खमणपवेसाए' एकनिष्क्रमणप्रवेशायाम् एक एव निष्क्रमणेति निष्क्रमणमार्गः प्रवेशेति प्रवेशमार्गश्च यत्र तथाभूतायाम् अभिनिवगडायाम् 'अन्तो' अन्तर्मध्ये--एतादृशगृहस्याऽभ्यन्तरे 'सागारियस्स एगपयाए' सागारिकस्य एकप्रजायाम् एकस्यामेव प्रजायां--चुल्हिकायाम् यत्र चुल्हिकायाम् सागारिकः पचति तत्रैव तस्य स्वजनोऽपि रन्धनादिकं करोतीत्यर्थः, 'सागारियं चोवजीवइ' सागारिकं--शय्यातरमाश्रित्य उपजीवति - जीवनं यापयति । शेषं सर्वं पूर्वव्याख्यातवदेव बोध्यम् ॥ सू० १३ ॥

सूत्रम्—सागारियस्स नायए सिया सागारियस्स अभिनिव्वगडाए एगदुवाराए एगनिक्खमणपवेसाए अंतो सागारियस्स अभिणिपयाए सागारियं च उवजीवइ तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥ सू० १४ ॥

छाया—सागारिकस्य ज्ञातकः स्यात् सागारिकस्य अभिनिवगड़ायाम् एकद्वारायाम् एकनिष्क्रणप्रवेशायाम् अन्तः सागारिकस्य अभिनिप्रजायाम् सागारिकं चोपजीवति तस्माद् दद्यात् नो तस्य कल्पते प्रतिग्रहीतुम् ॥ सू० १४ ॥

भाष्यम्— 'सागारियस्स' सागारिकस्य 'नायए सिया' ज्ञातकः स्यात् स च स्वजनः 'सागारियस्स अभिनिव्वगडाए' सागारिकस्य अभिनिवगड़ायाम् पृथग्गृहे इत्यर्थः किन्तु 'एगदुवाराए' एकद्वारायाम्—एकद्वारयुक्तायाम्, 'एगनिक्खमणपवेसाए' एकनिष्क्रमणप्रवेशायाम्, एक एव निष्क्रमणस्य प्रवेशस्य च मार्गो यत्र तादृश्यामेकवगड़ायाम् । 'अन्तो' अन्तर्मध्ये 'सागारियस्स अभिनिपयाए' सागारिकस्य अभिनिप्रजायाम्—पृथग्भूतायां चुल्हिकायाम्, रन्धनादिकं करोति, इत्यादि सर्वं पूर्ववदेव व्याख्येयम् ॥ सू० १४ ॥

सूत्रम्—सागारियस्स नायए सिया सागारियस्स अभिनिव्वगडाए एगदुवाराए एगनिक्खमणपवेसाए बाहिं सागारियस्स एगपयाए सागारियं चोवजीवइ तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥ सू० १५ ॥

छाया—सागारिकस्य ज्ञातकः स्यात् सागारिकस्य अभिनिवगडायाम् एकद्वारायाम् एकनिष्क्रमणप्रवेशायाम् बहिः सागारिकस्य एकप्रजायाम् सागारिक चोपजीवति तस्माद् दद्यात् नो तस्य कल्पते प्रतिग्रहीतुम् ॥ सू० १५ ॥

भाष्यम्—'सागारियस्स' सागारिकस्य—शय्यातरस्य 'नायए सिया' ज्ञातकः स्यात् स च 'सागारियस्स' सागारिकस्य 'अभिनिव्वगडाए' अभिनिवगड़ायाम्—पृथग्भूतायां वसतौ पृथक् पृथग् गृहे इति यावत्, किन्तु 'एगदुवाराए' एकद्वारायाम्, एगनिक्खमणपवेसाए'

एकनिष्क्रमणप्रवेशायाम् 'बाहिं' बहिर्भागे इत्यर्थः 'सागारियस्स एगपयाए' सागारिकस्य एकप्रजायाम् एकस्यामपि चुल्हिकायामित्यादिशेषस्य सर्वस्यापि पूर्ववद् व्याख्यानं कर्त्तव्यमिति ॥१५॥

सूत्रम्—सागारियस्स नायए सिया सागारियस्स अभिनिव्वगडाए एगदुवाराए एगनिक्खमणपवेसाए बाहिं सागारियस्स अभिनिप्पयाए सागारियं चोवजीवइ तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिगाहित्तए' ॥ सू० १६ ॥

छाया—सागारिकस्य ज्ञातकः स्यात् सागारिकस्य-अभिनिवगडायाम् एकद्वारायाम् एकनिष्क्रमणप्रवेशायां बहिः सागारिकस्य अभिनिप्रजायाम् सागारिकं चोपजीवति, तस्मात् दद्यात् नो तस्य कल्पते प्रतिग्रहीतुम् ॥ सू० १६॥

भाष्यम्—'सागारियस्स' सागारिकस्य 'नायए सिया' ज्ञातकः स्यात् स च सागारिकस्य स्वजनः 'सागारियस्स' सागारिकस्य शय्यातरस्य 'अभिनिव्वगडाए' अभिनिवगडायाम्-पृथग्वसला किन्तु 'एगदुवाराए' एकद्वारायाम् 'एगनिक्खमणपवेसाए' एकनिष्क्रमण-प्रवेशायाम् 'बाहिं' बहिःप्रदेशे 'अभिनिपयाए' अभिनिप्रजायाम् पृथक्चुल्हिकायाम्, शेषं सर्वं व्याख्यातपूर्वसूत्रवद् बोध्यम् ।

अत्र ज्ञातकमधिकृत्य नवमसूत्रादारभ्य षोडशसूत्रपर्यन्तानि अष्ट सूत्राणि सन्ति, तत्रादिमानि चत्वारि (९-१२) सूत्राणि सागारिकस्यैकगृहविषयाणि सन्ति, तानि यथा—

२ सूत्रद्वयं गृहान्तः एकचुल्हिकाविषयं, पृथक्चुल्हिकाविषयं चेति । २–सूत्रद्वयं च गृहाद्बहिरेकचुल्हिकाविषयं, पृथक्चुल्हिकाविषयं चेति चत्वारि ४।

चरमाणि चत्वारि (१३–१६) सूत्राणि च–एकद्वारैकनिष्क्रमणप्रवेशयुक्तपृथग्गृहविषयाणि सन्ति, तानि यथा–२ सूत्रद्वयं गृहान्तः एकचुल्हिकाविषयं, पृथक्चुल्हिकाविषयं । २ सूत्रद्वयं च ग्रहाद्बहिरेकचुल्हिकाविषयं पृथक्चुल्हिकाविषयं चेति चत्वारि ४ ।

एवमष्ट सूत्राणि सन्ति, एषु चाष्टस्वपि सूत्रेषु प्रदर्शितमशनादि साधूनां प्रतिग्रहीतुं न कल्पते, तत्र सर्वत्र सागारिकज्ञातयोः परस्परं काष्ठलवणतक्रादिव्यवहारसम्बन्धेन शय्यातर-पिण्डदोषसंभवात् ।

ननु चतुर्षु प्रथम–तृतीय-पञ्चम–सप्तमरूपेषु सागारिकज्ञातकयोरेकचुल्हीत्वेन तत्र निष्पादिताशनादौ सागारिकपिण्डदोषसम्भवः, किन्तु सागारिककाष्ठलवणादिव्यवहाररहितस्य तत्र निवासमात्रेण स्थितस्य ज्ञातकस्य पृथक्चुल्हीनिष्पादितस्याऽशनादेर्ग्रहणे को दोषः? येन तदपि अग्राह्यत्वेन भगवता प्रतिपादितम्? तत्राह—तत्रापि भद्रकप्रसङ्गाद्यनेकदोषसम्भवः, भद्रक-

दोषा यथा—भद्रकः सागारिकश्चिन्तयति—यदहं शय्यातरोऽस्मीति साधवो मे भिक्षां न गृह्णन्ति तेनाहं साधुप्रतिलम्भनाद् वञ्चितो भवामीति विचार्य तं ज्ञातकं ब्रूते—एते साधवः शय्यातरत्वेन ममाशनादि ग्रहीतुं नेच्छन्ति ततस्त्वमेतेभ्यः प्रभूतमशनादिकं देहि, यत्त्वं दास्यति तदहं तव प्रतिदास्यामीति। ज्ञातकश्चैवं कुर्यात्। अथवा स स्वयं तस्याशनादौ स्वकीयाशनादेः प्रक्षेपणं कुर्यादिति प्रक्षेपादिरूपभद्रकदोषाः संभवन्ति।

प्रसङ्गदोषा यथा—सागारिकगृहस्थितज्ञातकाशनादेर्ग्रहणे सागारिकगृहप्रसङ्गाल्लोके शय्यातरपिण्डग्रहणाशङ्काऽवश्यम्भाविनीति प्रसङ्गदोषसम्भवः, अतो भगवता—एकगृहपृथग्गृहैकचुल्ही-पृथक्चुल्हीनिष्पादितं सर्वविधमपि अशनादिकं सागारिकगृहसम्बन्धात् साधूनामकल्प्यत्वेन प्रतिपादितमित्यलं विस्तरेणेत्यष्टसूत्रीभावः ॥ सू० ९-१६ ॥

पूर्वं सागारिकगृहस्थितिसंबन्धात्तत्र निवसतस्तत्स्वजनस्याऽपि अशनादि साधूनां प्रतिग्रहीतुं न कल्पते इति प्रोक्तम्, साम्प्रतं पण्यशालास्थितस्य साधुयोग्यवस्तुजातस्य ग्रहणे सागारिक-संबन्धासम्बन्धमधिकृत्य यथायोगं विधिनिषेधं प्रदर्शयन् चक्रिकाशालादिषोडशसूत्रीमाह—**'सागारियस्स चक्कियासाला'** इत्यादि।

सूत्रम्—सागारियस्स चक्कियासाला साहारणवक्कयपउत्ता तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥ सू० १७ ॥

छाया—सागारिकस्य चक्रिकाशाला साधारणावक्रयप्रयुक्ता तस्माद् दद्यात् नो तस्य कल्पते प्रतिग्रहीतुम् ॥ सू० १७ ॥

भाष्यम्—'सागारियस्स' सागारिकस्य—शय्यातरस्य **'चक्कियाशाला'** चक्रिकाशाला तैलविक्रयशाला, कीदृशीत्याह—**'साहारणवक्कयपउत्ता'** साधारणावक्रयप्रयुक्ता, तत्र—सागारिकस्य अन्यस्य भागिकस्य च द्वयोः साधारण—समानोऽवक्रयः विक्रयणं तेन प्रयुक्ता—नियोजिता, यत् तस्यां शालायां तिलादि प्रक्षिप्यते, यश्च तत्र लाभो भवेत् तत्सर्वं सागारिकेण भागिकेन च साधारणं—समानं, तज्जातलाभादेः समानो भागो न्यूनाधिको वा भागो भविष्यतीति नियमेन प्रयुक्ता चक्रिकाशाला भवेत्, **'तम्हा दावए'** तस्माद् दद्यात्, तस्मात्—साधारणावक्रय-शालागतवस्तुजातमध्याद् यद्वस्तु साधोर्योग्यं तैलादिकं तदन्यद्वा साधवे दद्यात् तदा तद्वस्तु **'नो से कप्पइ पडिगाहित्तए'** नो—नैव **'से'** तस्य—श्रमणस्य कल्पते प्रतिग्रहीतुम्।

अयं भावः—कस्यचित् शय्यातरस्य तैलशाला विद्यते तस्य अन्य एकोऽनेकेवाऽधिकारिणो भवेयुः, शालातस्तैलादीनां विक्रयकरणेन यो लाभो जायते स एकस्य न भवति, किन्तु—अनेकेषु विभज्यते, तत्र यो विक्रेता-स यदि साधवे तैलादिकं किमपि दद्यात् तादृशं वस्तु—तैलादिकं साधूनां ग्रहीतुं न कल्पते इति निषेधसूत्रम् ॥ सू० १७ ॥

अथ विधिसूत्रमाह—'सागारियस्स' इत्यादि ।

सूत्रम्—सागारियस्स चक्कियासाला निस्साहारणवक्कयपउत्ता तम्हा दावए एवं से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥ सू० १८ ॥

छाया—सागारिकस्य चक्रिकाशाला निस्साधारणाऽवक्रयप्रयुक्ता, तस्माद् दद्यात् एवं तस्य कल्पते प्रतिग्रहीतुम् ॥ सू० १८ ॥

भाष्यम्—'सागारियस्स' सागारिकस्य—शय्यातरस्य—गृहस्थस्य **'चक्कियासाला'** चक्रिकाशाला—तैलविक्रयशाला वर्त्तते किन्तु सा **'निस्साहरणवक्कयपउत्ता'** निःसाधारणाऽवक्रय-प्रयुक्ता निस्साधारणः—सागारिकभागरहितोऽवक्रयो विक्रयणम्, अत्र यत्किञ्चित्तैलादि, तत्संजातलाभश्च भविष्यति तत्सर्वं तवैव न मम, इत्येवंरूपेण प्रयुक्ता—नियोजिता भवेत्, स्वतन्त्ररूपेण तस्यैव चक्रिकस्य न तु सागारिकस्य तत्र भागो विद्यते **'तम्हा दावए'** तस्मात् तादृशनिःसाधारणचक्रिकाशालामध्यात् यत् साधूचितं तैलादिकमन्यद्वा वस्तु आपणस्थविक्रेता दद्यात् **'एवं से कप्पइ पडिगाहित्तए'** एवंप्रकारेण दीयमानं तैलादिकम् **'से'** तस्य—श्रमणस्य कल्पते प्रतिग्रहीतुम् ।

या खलु शाला साधारणा सागारिकभागयुक्ता भवेत् तन्मध्याद् दीयमानं वस्तु साधूनां न कल्पते प्रतिग्रहीतुमिति सप्तदशसूत्रस्याशयः । या तु खलु निस्साधारणा—सागारिक-भागवर्जिता भाटकेन गृहीता, व्यापारमाश्रित्य चक्रिकस्य स्वतन्त्रा शाला भवेत्तन्मध्याद् दीयमानं तैलादिकं वस्तु साधूनां कल्पते प्रतिग्रहीतुम् । इत्यष्टादशसूत्रस्याशयः, एवमग्रेऽपि गौडिक-शालादिसूत्राणि बोध्यानीति ॥ सू० १८ ॥

अथ गौडिकशालादिचतुर्दशसूत्राण्याह—'सागारियस्स गोलियसाला' इत्यादि ।

सूत्रम्—सागारियस्स गोलियसाला साहारणवक्कयपउत्ता तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥ सू० १९ ॥

सागारियस्स गोलियसाला निस्साहारणवक्कयपउत्ता तम्हा दावए एवं से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥ सू० २० ॥

सागारियस्स वोधियसाला साहारणवक्कयपउत्ता तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥ सू० २१ ॥

सागारियस्स वोधियसाला निस्साहारणवक्कयपउत्ता तम्हा दावए एवं से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥ सू० २२ ॥

सागारियस्स दोसियसाला साहारणवक्कयपउत्ता तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥ सू० २३ ॥

सागारियस्स दोसियसाला निस्साहारणवक्कयपउत्ता तम्हा दावए एवं से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥ सू० २४ ॥

सागारियस्स सोत्तियसाला साहारणवक्कयपउत्ता तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥ सू० २५ ॥

छाया—सागारिकस्य गौडिकशाला साधारणाऽवक्रयप्रयुक्ता तस्माद् दद्यात्, नो तस्य कल्पते प्रतिग्रहीतुम् ॥ सू० १९ ॥

सागारिकस्य गौडिकशाला निःसाधारणाऽवक्रयप्रयुक्ता, तस्मात् दद्यात् एवं तस्य कल्पते प्रतिग्रहीतुम् ॥ सू० २० ॥

सागारिकस्य वौधिकशाला साधारणावक्रयप्रयुक्ता तस्माद् दद्यात् एवं तस्य कल्पते प्रतिग्रहीतुम् ॥ सू० २१ ॥

सागारिकस्य वोधिकशाला निःसाधारणाऽवक्रयप्रयुक्ता तस्माद् दद्यात् एवं तस्य कल्पते प्रतिग्रहीतुम् ॥ सू० २२ ॥

सागारिकस्य दौष्यिकशाला साधारणाऽवक्रयप्रयुक्ता तस्माद् दद्यात् नो तस्य कल्पते प्रतिग्रहीतुम् ॥ सू० २३ ॥

सागारिकस्य दौषिकशाला निःसाधारणाऽवक्रयप्रयुक्ता तस्माद् दद्यात्, एवं तस्य कल्पते प्रतिग्रहीतुम् ॥ सू० २४ ॥

सागारिकस्य सौत्रिकशाला साधारणाऽवक्रयप्रयुक्ता, तस्माद् दद्यात्, नो तस्य कल्पते प्रतिग्रहीतुम् ॥ सू० २५ ॥

सागारियस्स सोत्तियसाला निस्साहारणवक्कयपउत्ता तम्हा दावए एवं से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥ सू० २६ ॥

सागारियस्स बोंडयसाला साहारणवक्कयपउत्ता तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥ सू० २७ ॥

सागारियस्स बोंडयसाला निस्साहारणवक्कयपउत्ता तम्हा दावए एवं से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥ सू० २८ ॥

सागारियस्स गंधियसाला साहारणवक्कयपउत्ता तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥ सू० २९ ॥

सागारियस्स गंधियसाला निस्साहारणवक्कयपउत्ता तम्हा दावए एवं से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥ सू० ३० ॥

सागारियस्स सोंडियसाला साहारणवक्कयपउत्ता तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥ सू० ३१ ॥

सागारियस्स सोंडियसाला निस्साहारणवक्कयपउत्ता तम्हा दावए एवं से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥ सू० ३२ ॥

छाया—सागारिकस्य सौत्रिकशाला निःसाधारणावक्रयप्रयुक्ता तस्माद् दद्यात्, एवं तस्य कल्पते प्रतिग्रहीतुम् ॥ सू० २६ ॥

सागारिकस्य बोंडजशाला साधारणावक्रयप्रयुक्ता, तस्माद् दद्यात् नो तस्य कल्पते प्रतिग्रहीतुम् ॥ सू० २७ ॥

सागारिकस्य बोंडजशाला निःसाधारणाऽवक्रयप्रयुक्ता तस्माद् दद्यात् एवं तस्य कल्पते प्रतिग्रहीतुम् ॥ सू० २८ ॥

सागारिकस्य गान्धिकशाला साधारणावक्रयप्रयुक्ता तस्माद् दद्यात् नो तस्य कल्पते प्रतिग्रहीतुम् । सू० २९ ॥

सागारिकस्य गान्धिकशाला निःसाधारणाऽवक्रयप्रयुक्ता तस्माद् दद्यात् एवं तस्य कल्पते प्रतिग्रहीतुम् ॥ सू० ३० ॥

सागरिकस्य शौण्डिकशाला साधारणाऽवक्रयप्रयुक्ता तस्माद् दद्यात् नो तस्य कल्पते प्रतिग्रहीतुम् ॥ सू० ३१ ॥

सागारिकस्य शौण्डिकशाला निःसाधारणावक्रयप्रयुक्ता तस्माद् दद्यात् एवं तस्य कल्पते प्रतिग्रहीतुम् ॥ सू० ३२ ॥

भाष्यम्—'**सागारियस्स गोलियसाला**' इत्यादीनि एकोनविंशतितमसूत्रादारभ्य द्वात्रिंत्तमसूत्रपर्यन्तानि चतुर्दश सूत्राणि चक्रिकाशालावत् प्रायः समानव्याख्यानानि सन्ति, तत्र विषमपदव्याख्या प्रतन्यते–'**गोलियसाला**' गौडिकशाला–गुडविक्रयशाला ॥ सू० १९ ।२० ॥ '**वोधियसाला**' बोधिकशाला–तन्दुलादिक्रयाणकविक्रयशाला ॥ सू० २१।२२ ॥ '**दोसियसाला**' दौषिकशाला–वस्त्रविक्रयशाला ॥ सू० २३ । २४ ॥ '**सोत्तियसाला**' सौत्रिकशाला–सूत्रविक्रयशाला ॥ सू० २५ । २६ ॥ '**वोंडयसाला**' बोण्डजसाला–कर्पासविक्रयशाला ॥ सू० २७ । २८ ॥ '**गंधियसाला**' गान्धिकशाला–गन्धद्रव्यविक्रयशाला ॥ सू० २९ । ३० ॥ '**सोंडियसाला**' शौण्डिकशाला–'सुखडी'–तिप्रसिद्धमिष्टान्नविक्रयशाला कान्दविकापण इत्यर्थः ॥ सू० ३१।३२ ॥ तथाविधा अन्या अपि शाला भवेयुः, तासु सर्वासु शालासु मध्ये या याँ '**साहारणवक्कयपउत्ता**' साधारणावक्रयप्रयुक्ता–सागारिकभागयुक्ता भवेत्तन्मध्याद्दीयमानं किमपि गुडादिवस्तुजातं साधूना ग्रहीतुं नो कल्पते, तत्र सागारिकभागसत्त्वेन शय्यातरपिण्डदोषसद्भावात् । तथा–या या च '**निस्साहारणवक्कयपउत्ता**' निस्साधारणावक्रयप्रयुक्ता–सागारिकभागवर्जिता स्वतन्त्रा गुडादिविक्रेतुरेव स्वाधीना न तु तत्र कस्याप्यन्यस्य सागारिकस्य वा आंशिकोऽपि भागो वर्त्तते, तस्या लाभादिग्राही तदधिकारी च स एक एव भवेत्, अथवा सागारिकव्यतिरिक्ता अनेके वा भागिनो भवेयुः किन्तु यत्र सागारिकभागो न भवेत्तादृश्याः शालाया मध्याद्दीयमानं गुडादिवस्तुजातं साधूनां प्रतिग्रहीतुं कल्पते, तत्र सागारिकभागरहितत्वान्न तद्ग्रहणे दोषः । इत्येकोनविंशतितमसूत्रादारभ्य द्वात्रिंशत्तमसूत्रपर्यान्तानां चतुर्दशसूत्राणां तात्पर्यम् ॥ एषु चतुर्दशसु सूत्रेषु मध्ये सप्तसु प्रथम-तृतीय-पञ्चम-सप्तम-नवमै-कादश-त्रयोदश-रूपेषु(१९-२१-२३-२५-२७-२९-३१) शय्यातरभागसत्त्वात्तत्तच्छालातो दीयमानं वस्तुजातं साधूनामकल्प्यम् । तथा सप्तसु–द्वितीय--चतुर्थ--षष्ठा-ऽष्टम–दशम-द्वादश-चतुर्दशरूपेषु (२०-२२-२४-२६-२८-३०-३२) शय्यातरभागराहित्येन तत्तच्छालातो दीयमानं वस्तुजातं साधूनां कल्प्यमिति चतुर्दशसूत्राशयः ॥ सू० १९–३२ ॥

पूर्वं सागारिकशालामधिकृत्य कल्प्याकल्प्यविधिः प्रदर्शितः, साम्प्रतं सूपकाररसवत्यां पच्यमाना औषधीरधिकृत्य सागारिकाऽसागारिकाहारे कल्प्याकल्प्यविधिं सूत्रद्वयेनाह—'**सागारियस्स ओसहीओ**' इत्यादि ।

सूत्रम्—सागारियस्स ओसहीओ संथडाओ तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥ सू० ३३ ॥

सागारियस्स ओसहीओ असंथडाओ तम्हा दावए एवं से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥ सू० ३४ ॥

छाया—सागारिकस्य औषधयः संस्तृताः ताभ्यो दद्यात् नो तस्य कल्पते प्रतिग्रहीतुम् ॥ सू० ३३ ॥

सागारिकस्य औषधयोऽसंस्तृताः ताभ्यो दद्यात् एवं तस्य कल्पते प्रतिग्रहीतुम् ॥ सू० ३४ ॥

भाष्यम्—'सागारियस्स' सागारिकस्य-शय्यातरस्य 'ओसहीओ' औषधयः--शालि-व्रीहिगोधूमादयः, तन्निष्पादितानि भोज्यजातान्यपि औषधिशब्देन व्यवह्रियन्ते तेन शाल्यादि-निष्पादितानि भोज्यजातानि, तदन्या वा ओषधयः सुण्ठ्यादयो या भवन्ति 'संथडाओ' संस्तृताः-सूपकाररसवत्यां सर्वसाधारणतया संस्कृताः पाचिताः, साधारणा इति यत्राऽन्येपि स्वस्वान्नादिकं पाचयन्ति ततः सर्वेषां संमिलिता इत्यर्थः 'तम्हा दावए' तस्माद्-ओषधिसम्बन्धि-भोजनजातात् सूपकारः श्रमणाय दद्यात् 'नो से कप्पइ पडिगाहित्तए' तादृशं दीयमानमन्नादिकं नो--नैव 'से' तस्य--श्रमणस्य कल्पते प्रतिग्रहीतुम् ॥ सू० ३३ ॥

अथ च या औषधयः असंस्तृताः—असाधारणाः सागारिकभागरहिताः, विभज्य तन्मध्यात् शय्यातरभागो निष्कासितो भवेत्तादृशभोजनमध्याद् यदि सूपकारो दद्यात्तदा कल्पते साधूनां प्रतिग्रहीतुम् ।

अयं भावः—सूपकारस्य पाकशालायां विवाहादिविविधमहोत्सवप्रसङ्गे लोका विविधा औषधीः पाचयन्ति तत्र सागारिकोऽपि पाचयति, ता द्विप्रकारका भवन्ति संस्तृताः साधारणाः सर्वेषां भागयुक्ताः, असंस्तृताः—असाधारणाः अन्यभागरहिता इति । तत्र या औषधयः शय्यातरेण सह साधारणाः-शय्यातरेणाऽविभक्तीकृताः, ता औषधयो दीयमाना अपि साधूनां न कल्पते प्रतिग्रहीतुम् , सागारिकभागाविभक्तत्वेन तासां सागारिकपिण्डत्वस्यैव सद्भावात् । ता एव विभक्तीकृताः सागारिकपिण्डरूपा न भवन्ति ततश्च ताः प्रतिग्रहीतुं कल्पते साधूनामिति सूत्रद्वयभावः ॥ सू० -३४ ॥

पूर्वमोषधिविषयं कल्प्याकल्प्यसूत्रमुक्तम्, साम्प्रतमाम्रफलान्यधिकृत्य कल्प्याकल्प्यविधिं सूत्रद्वयेनाह—'सागारियस्स' इत्यादि ।

सूत्रम्—सागारियस्स अंबफला संथडा तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥ सू० ३५ ॥

सागारियस्स अंबफला असंथडा तम्हा दावए एवं से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥ सू० ३६ ॥

छाया—सागारिकस्य--आम्रफलानि संस्तृतानि तेभ्यो दद्यात् नो तस्य कल्पते प्रतिग्रहीतुम् ॥ सू० ३५ ॥

सागारिकस्य--आम्रफलानि असंस्तृतानि तेभ्यो दद्यात् एवं तस्य कल्पते प्रतिग्रहीतुम् ॥ सू० ३६ ॥

भाष्यम्—'**सागारियस्स**' सागारिकस्य '**अंबफला**' आम्रफलानि शर्करादिशस्त्रपरिणताम्रफलानीत्यर्थः सचित्तानामकल्प्यत्वात् '**संथडा**' संस्तृतानि अविभक्तानि यथा-अन्यस्य यत्राधिकारः शय्यातरस्याऽपि तत्राधिकारो भवेत् '**तम्हा दावए**' तेभ्यस्तादृशेभ्योऽचित्तफलखण्डेभ्यः साधवे दद्यात् तदा '**नो से कप्पइ पडिगाहित्तए**' तादृशानि दीयमानानि आम्रखण्डानि न कथमपि '**से**' तस्य श्रमणस्य प्रतिग्रहीतुं--स्वीकर्त्तुं कल्पते ॥ सू० ३५ ॥

अथ च यदि '**सागारियस्स**' सागारिकस्याऽचित्तानि आम्रफलखण्डानि '**असंथडा**' असंस्तृतानि—सागारिकभागरहितानि भवेयुः, तदा तन्मध्याद्दीयमानानि तान्याम्रफलानि साधूनां कल्पते ॥ सू० ३६ ॥

पूर्वं शय्यातरपिण्डो न ग्राह्य इति प्रोक्तम्, तस्याऽग्रहणेऽज्ञातभिक्षाग्रहणरूपोऽभिग्रहो जातः, प्रतिमाऽपि चाभिग्रह एवेत्यभिग्रहप्रसङ्गात् प्रतिमाविधिमाह—'**सत्तसत्तमिया णं**' इत्यादि ।

सूत्रम्—सत्तसत्तमिया णं भिक्खुपडिमा एगूणपन्नाए राइंदिएहिं एगेण छन्नउएणं भिक्खासएणं अहासुत्तं अहाकप्पं अहामग्गं अहातच्चं सम्मंकाएणं फासिया पालिया सोहिया तीरिया किट्टिया आणाए अणुपालिया भवइ ॥ सू० ३७ ॥

छाया—सप्तसप्तकिका खलु भिक्षुप्रतिमा एकोनपञ्चाशता रात्रिंदिवैरेकेन षण्णवतेन भिक्षाशतेन यथासूत्रं यथाकल्पं यथामार्गं यथातथ्यं सम्यक्कायेन स्पर्शिता पालिता शोधिता तीरिता कीर्त्तिता आज्ञया अनुपालिता भवति ॥ सू० ३७ ॥

भाष्यम्—'**सत्तसत्तमिया णं भिक्खुपडिमा**' सप्तसप्तकिका खलु भिक्षुप्रतिमा, तत्र-सप्त सप्तकानि विद्यन्ते यस्यां सा सप्तसप्तकिका, अथवा-सप्तभिः सप्तकैरन्तः समाप्तिर्यस्याः सा सप्तसप्तकिका, '**सत्तसत्तमिया**' इत्यत्र ककारस्य मकारः प्राकृतत्वात् 'णं शब्दो' वाक्यालङ्कारे, सप्तसप्तकिका—सप्तसप्तकदिवसयुक्ता प्रतिमा (४९) एकोनपञ्चाशद्दिवससंपाद्या प्रतिमेत्यर्थः । तदेवाह—सा च प्रतिमा—अभिग्रहविशेषरूपा सप्तसप्तकिका प्रतिमा, '**एगूणपन्नाए राइंदिएहिं**' एकोनपञ्चाशता रात्रिंदिवैः, सप्तानां सप्तभिर्गुणने जायन्ते एकोनपञ्चाशद्रात्रिन्दिवानि, तैः, तथा—'**एगेण छन्नउएणं भिक्खासएणं**' एकेन षण्णवतेन भिक्षाशतेन, दिनानां सप्तसप्तके एकोनपञ्चाशद् दिवसा भवन्ति, तत्र च षण्णवत्यधिकं भिक्षाशतं भवति । तथाहि—प्रथमसप्तके प्रतिदिनमेकैका दत्तिराहारस्य पानस्य च गृह्यते ७ । द्वितीये सप्तके द्वे द्वे दत्ती १४ । तृतीये सप्तके तिस्रस्तिस्रो दत्तयः २१ । चतुर्थे सप्तके चतस्रश्चतस्रो

दत्तयः २८। पञ्चमे सप्तके पञ्च पञ्च दत्तयः ३५, षष्ठे सप्तके षट् षट् दत्तयः ४२। सप्तमे सप्तके सप्त सप्त दत्तयो गृह्यन्ते ४९। इति सप्तभिः सप्तकैरेकोनपञ्चाशद्दिवसैर्जायते षण्णवत्यधिकमेकं शतम् (१९६) भिक्षादत्तीनामिति।

॥ सप्तसप्तकिकाभिक्षुप्रतिमाकोष्ठकम् ॥

								संकलनम्
दत्तिः	१	१	१	१	१	१	१	७
दत्तिः	२	२	२	२	२	२	२	१४
दत्तिः	३	३	३	३	३	३	३	२१
दत्तिः	४	४	४	४	४	४	४	२८
दत्तिः	५	५	५	५	५	५	५	३५
दत्तिः	६	६	६	६	६	६	६	४२
दत्तिः	७	७	७	७	७	७	७	४९
संकलनम्	२८	२८	२८	२८	२८	२८	२८	संकलनम् १९६

एषा च सप्तसप्तकिका भिक्षुप्रतिमा **'अहासुत्तं'** यथासूत्रम्—सूत्रमनतिक्रम्य यद् भवति-तत्, सूत्रोक्तप्रकारान् अनतिक्रम्येत्यर्थः। **'अहाकप्पं'** यथाकल्पं—कल्पमनतिक्रम्य साधुकल्पानुसार-मित्यर्थः। **'अहामग्गं'** यथामार्गम् मार्गः—ज्ञान—दर्शन—चारित्ररूपः, तमनतिक्रम्य यद् भवति तत्, ज्ञान—दर्शन—चारित्राणामविराधनेनेत्यर्थः। **'अहातच्चं'** यथातथ्यं, तथ्यं—वास्तविकता, तद् अनतिक्रम्य—एकान्ततः सूत्रानुसारेण संपादितं सत्यतयेत्यर्थः। **'सम्मंकाएणं'** सम्यग्—यथार्थतया कायेन कायग्रहणात् त्रिविधेनापि मनोवाक्काययोगेन **'फासिया'** स्पर्शिता—विराधनारक्षणतः सेविता, **'पालिया'**पालिता सम्यग्रूपेण परिपालनात्, अत एव **'सोहिया'** शोधिता ईषदपि अतिचाराभावत् **'तीरिया'** तारिता तीरं-पारं-नीता-प्राप्ता पर्यन्तं नीतेत्यर्थः, **'किट्टिया'** कीर्तिता-आचार्याणां पुरतः कथिता यथा मया प्रतिमा समाप्तेति, **'आणाए अणुपालिया भवइ'** आज्ञया-तीर्थकराज्ञया-तीर्थकराज्ञानुसारेण अनुपालिता—सम्यग्रूपेण प्रतिपालिता भवति सा सप्तसप्तकिका भिक्षुप्रतिमा ॥ सू० ३७ ॥

अथाष्टाष्टकिकां भिक्षुप्रतिमामाह—'अट्ठअट्ठमिया' इत्यादि।

सूत्रम्—अट्ठअट्ठमिया णं भिक्खुपडिमा चउसट्ठीए राइंदिएहिं दोहि य अट्ठासीएहिं भिक्खासएहिं अहासुत्तं अहाकप्पं अहामग्गं अहातच्चं सम्मंकाएणं फासिया पालिया सोहिया तीरिया किट्टिया आणाए अणुपालिया भवइ॥ सू० ३८॥

छाया—अष्टाष्टकिका खलु भिक्षुप्रतिमा चतुष्षष्ट्या रात्रिन्दिवैः द्वाभ्यां चाष्टाशीताभ्यां भिक्षाशताभ्यां यथासूत्रम् यथाकल्पम् यथामार्गम् यथातथ्यम् सम्यक्कायेन स्पर्शिता पालिता शोधिता तीरिता कीर्त्तिता आज्ञयाऽनुपालिता भवति॥ सू० ३८॥

भाष्यम्—'अट्ठअट्ठमिया णं भिक्खुपडिमा' अष्टाष्टकिका—अष्ट अष्टकानि दिनानां प्रमाणं यस्यां सा अष्टाष्टकिका एतादृशी भिक्षुप्रतिमा '**चउसट्ठीए राइंदिएहिं**' चतुष्षष्ट्या—चतुष्षष्टिकैः—चतुष्षष्टिसंख्यकै रात्रिन्दिवैः—अहोरात्रैः, तथा '**दोहि य अट्ठासीएहिं भिक्खासएहिं**' द्वाभ्यामष्टाशीताभ्यां भिक्षाशताभ्याम्, तथाहि—अष्ट अष्टकानीति अष्ट अष्टभिर्गुणने चतुष्षष्टिरहोरात्राणि अस्याः सम्पन्नतायां भवन्ति। एषु चतुष्षष्टिसंख्यकेषु दिवसेषु प्रथमेऽष्टके एकैका दत्तिरिति अष्ट दत्तयः८, द्वितीयेऽष्टके द्वे द्वे दत्ती इति षोडश दत्तयः १६, तृतीयेऽष्टके तिस्रस्तिस्रो दत्तयः इति चतुर्विंशतिर्दत्तयः २४, चतुर्थेऽष्टके चतस्रश्चतस्र इति द्वात्रिंशद् दत्तयः ३२, पञ्चमेऽष्टके पञ्च पञ्चेति चत्वारिंशद्दत्तयः ४०, षष्ठेऽष्टके षट् षडिति अष्टचत्वारिंशद्दत्तयः ४८, सप्तमेऽष्टके सप्त सप्तेति षट्पञ्चाशद्दत्तयः ५६, अष्टमेऽष्टकेऽष्टाष्ट दत्तयो भिक्षाया इति चतुष्षष्टिर्दत्तयः ६४। आसां सर्वसकलने चतुष्षष्टिदिवसैर्जाते अष्टाशीत्यधिके द्वे शते (२८८) भिक्षादत्तीनामिति।

एतावद्भिक्षादत्तिभिरेषा अष्टाष्टकिका भिक्षुप्रतिमा यावदाज्ञयाऽनुपालिता भवति। शेषं सर्वं पूर्वसूत्रवदेव व्याख्येयम्॥ सू० ३८॥

॥ अष्टाष्टकिकाभिक्षुप्रतिमाकोष्टकम् ॥

दत्तिः	१	१	१	१	१	१	१	१	७
दत्तिः	२	२	२	२	२	२	२	२	१६
दत्तिः	३	३	३	३	३	३	३	३	२४
दत्तिः	४	४	४	४	४	४	४	४	३२
दत्तिः	५	५	५	५	५	५	५	५	४०
दत्तिः	६	६	६	६	६	६	६	६	४८
दत्तिः	७	७	७	७	७	७	७	७	५६
दत्तिः	८	८	८	८	८	८	८	८	६४
	३६	३६	३६	३६	३६	३६	३६	३६	१९६

अथ नवनवकिकां भिक्षुप्रतिमामाह–'नवनवमिया णं' इत्यादि ।

सूत्रम्—'नवनवमिया णं भिक्खुपडिमा एगासीए राइंदिएहिं चउहि य पंचुत्तरेहिं भिक्खासएहिं अहासुत्तं अहाकप्पं अहामग्गं अहातच्चं सम्मंकाएणं फासिया पालिया सोहिया तीरिया किट्टिया आणाए अणुपालिया भवइ ॥ सू० ३९ ॥

छाया—नवनवकिका खलु भिक्षुप्रतिमा एकाशीत्या रात्रिन्दिवैः चतुर्भिश्च पञ्चोत्तरैर्भिक्षाशतैः यथासूत्र यथाकल्पं यथामार्गं यथातथ्यं सम्यक्कायेन स्पर्शिता पालिता शोधिता तीरिता कीर्तिता आज्ञयाऽनुपालिता भवति ॥ सू० ३९ ॥

भाष्यम्—'**नवनवमिया णं भिक्खुपडिमा**' नवनवकिका नवेति नवसंख्यकानि नवकानि यस्यां सा नवनवकिका भिक्षुप्रतिमा '**एगासीए राइंदिएहिं**' एकाशीत्या रात्रिन्दिवैः एकाशीतिसंख्यकैरहोरात्रैरित्यर्थः '**चउहि य पंचुत्तरेहिं भिक्खासएहिं**' पञ्चोत्तरैः पञ्चाधिकैः चतुर्भिश्च भिक्षाशतैः ।

तथाहि—प्रथमे नवके प्रतिदिनमेकैका दत्तिरिति नव ९, द्वितीये नवके द्वे द्वे दत्ती इति अष्टादश १८, तृतीये नवके तिस्रस्तिस्र इति सप्तविंशतिः २७, चतुर्थे नवके चतस्रश्चतस्र इति षट्त्रिंशत् ३६, पञ्चमे नवके पञ्च पञ्चेति पञ्चचत्वारिंशत् ४५, षष्ठे नवके षट् षडिति चतुष्पञ्चाशत् ५४, सप्तमे नवके सप्त सप्तेति त्रिषष्टिः ६३, अष्टमे नवके अष्टाष्टेति द्विसप्ततिर्दत्तयः ७२, नवमे नवके नव नवेति--एकाशीतिर्दत्तयः ८१, आसां सर्वसंकलने एकाशीतिदिवसैः पञ्चोत्तराणि चत्वारि शतानि (४०५) भिक्षाया भवन्ति। एतावद्भिक्षादत्तिभिरेषा नवनवकिका भिक्षुप्रतिमा यावदाज्ञयाऽनुपालिता भवति। शेषं सर्वं सप्तसप्तकिकाभिक्षुप्रतिमासूत्रवद् व्याख्येयम् ॥ सू० ३९ ॥

॥ नवनवकिकाभिक्षुप्रतिमाकोष्टकम् ॥

दत्तिः	१	१	१	१	१	१	१	१	१	९
दत्तिः	२	२	२	२	२	२	२	२	२	१८
दत्तिः	३	३	३	३	३	३	३	३	३	२७
दत्तिः	४	४	४	४	४	४	४	४	४	३६
दत्तिः	५	५	५	५	५	५	५	५	५	४५
दत्तिः	६	६	६	६	६	६	६	६	६	५४
दत्तिः	७	७	७	७	७	७	७	७	७	६३
दत्तिः	८	८	८	८	८	८	८	८	८	७२
दत्तिः	९	९	९	९	९	९	९	९	९	८१
संकलनम्	४५	४५	४५	४५	४५	४५	४५	४५	४५	४०५

अथ दशदशकिकां भिक्षुप्रतिमामाह—'**दसदसमिया णं**' इत्यादि ।

सूत्रम्—दसदसमिया णं भिक्खुपडिमा एगेणं राइंदियसएणं अद्धछट्ठेहि य भिक्खासएहिं अहासुत्तं अहाकप्पं अहामग्गं अहातच्चं सम्मंकाएणं फासिया पालिया सोहिया तीरिया किट्टिया आणाए अणुपालिया भवइ ॥ सू० ४० ॥

छाया—दशदशकिका खलु भिक्षुप्रतिमा एकेन रात्रिन्दिवशतेन अर्द्धषष्ठैश्च भिक्षाशतैः यथासूत्रम् यथाकल्पम् यथामार्गम् यथातथ्यम् सम्यक्कायेन स्पर्शिता पालिता शोधिता तीरिता कीर्त्तित्ता आज्ञया अनुपालिता भवति ॥ सू० ४० ॥

भाष्यम्—'**दसदसमिया णं भिक्खुपडिमा**' दशदशकिका खलु भिक्षुप्रतिमा, तत्र दशदशकिका—दश दशकानि यस्यां सा दशदशकिका, एतादृशी भिक्षुप्रतिमा अभिग्रहविशेषः। सा च भिक्षुप्रतिमा '**एगेणं राइंदियसएणं**' एकेन रात्रिन्दिवशतेन, दश दशभिर्गुणिताः भवति शत-मेकं रात्रिन्दिवानामिति रात्रिन्दिवानामेकशतेन, तथा शतसंख्यकदिवसेषु '**अद्धछट्ठेहि य भिक्खासएहिं**' अर्द्धषष्ठैश्च भिक्षाशतैः, अर्द्धं षष्ठं शतं भिक्षाणां यत्र तानि अर्द्धषष्ठानि भिक्षाशतानिः, तैः पञ्चाशदधिकैः पञ्चभिः शतैरित्यर्थः (५५०), शतसंख्यकै रात्रिन्दिवैः, तत्संबन्धिभिः पञ्चाशदधिक-पञ्चशत(५५०)संख्यकैः भिक्षाप्रमाणैरेषा दशदशकिका भिक्षुप्रतिमा यथासूत्रं यथाकल्पं यथामार्गं यथातथ्यं सम्यक्कायेन स्पर्शिता पालिता शोधिता तीरिता कीर्त्तिता आज्ञया अनु-पालिता भवति ।

अथ भिक्षुप्रतिमानां कालप्रमाणं भिक्षाप्रमाणं तत्प्रमाणानयनविधिश्च प्रदर्श्यते, तथाहि—तत्र सप्तसप्तकिकायाः कालः एकोनपञ्चाशद् रात्रिन्दिवानि ४९ । अष्टाष्टकिकायाः प्रतिमायाः कालः चतुष्षष्टी रात्रिन्दिवानि ६४। नवनवकिकाया एकाशीती रात्रिन्दिवानि ८१। दशदशकिकायाः परिपूर्णं शतं रात्रिन्दिवानाम् १०० । सर्वप्रतिमानामधिकृतसूत्रचतुष्टयोपेतानां पृथक् पृथगेतावानेव भवति काल इति कालप्रमाणम् ।

सम्प्रति भिक्षापरिमाणमाह—सप्तसप्तकिकायां भिक्षापरिमाणं षण्णवत्यधिकं शतम् (१९६) भिक्षाणां भवति । अष्टाष्टकिकायाम्—अष्टाशीत्यधिके द्वे शते (२८८) भिक्षाणां भवतः । नवनवकिकायां पञ्चोत्तराणि चत्वारि शतानि (४०५) । दशदशकिकायां प्रतिमायामर्द्धषष्ठानि पञ्च शतानीति पञ्चाशदधिकानि पञ्च शतानि (५५०) भिक्षाणां भवन्ति ।

भिक्षाप्रमाणानयनविधिः प्रदर्श्यते तथाहि—सप्तसप्तकवर्गदिवसाः एकोनपञ्चाशत् (४९) ते मूलदिवसैः सप्तभिर्युताः क्रियन्ते, ततो जाताः षट्पञ्चाशत् (५६) । तेऽर्धीक्रियन्ते, ततो जाता अष्टाविंशतिः (२८) । सा मूलेन सप्तकेन गुण्यते, तदा—आगतं षण्णवत्यधिकं शतम् (१९६) । सप्तसप्तकिकाप्रतिमाभिक्षापरिमाणम् ।

तथा—अष्टाऽष्टकवर्गदिवसाः चतुष्षष्टिः (६४)। ते मूलदिवसैरष्टभिः संमिश्र्यन्ते ततो जाता द्वासप्ततिः (७२)। तस्या अर्धं क्रियते, ततो जाताः षट्त्रिंशत् (३६)। ते मूलेनाऽष्टकेन गुण्यन्ते जाते द्वे शतेऽष्टाशीत्युत्तरे—(२८८) अष्टाष्टकिकाप्रतिमाभिक्षापरिमाणम् ॥

एवं नवनवकिकायां दशदशकिकायां च भिक्षुप्रतिमायां यथोक्तं भिक्षापरिमाणं ज्ञातव्यम् ॥ सू० ४० ॥

॥ दशदशकिकाभिक्षुप्रतिमाकोष्ठकम् ॥

दत्तिः	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१०
दत्तिः	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२	२०
दत्तिः	३	३	३	३	३	३	३	२	३	३	३०
दत्तिः	४	४	४	४	४	४	४	४	४	४	४०
दत्तिः	५	५	५	५	५	५	५	५	५	५	५०
दत्तिः	६	६	६	६	६	६	६	६	६	६	६०
दत्तिः	७	७	७	७	७	७	७	७	७	७	७०
दत्तिः	८	८	८	८	८	८	८	८	८	८	८०
दत्तिः	९	९	९	९	९	९	९	९	९	९	९०
दत्तिः	१०	१०	१०	१०	१०	१०	१०	१०	१०	१०	१००
संकलनम्	५५	५५	५५	५५	५५	५५	५५	५५	५५	५५	५५०

अथ सप्तसप्तकिकादिभिक्षुप्रतिमाचतुष्टयस्य कालभिक्षापरिमाणादिसंग्राहकं गाथापञ्चकमाह—'पढमाए' इत्यादि ।

गाथा—'पढमाए पडिमाए, कालो एगूणपन्न दिवसाणं ।
बीयाए चउसट्ठी, एगासीई य तइयाए ॥ १ ॥

चोत्थीए सयमेगं, दिवसाणं होइ चउण्ह पडिमाणं ।
भिक्खाणं परिमाणं, वोच्छं चउसुंपि पडिमासु ॥ २ ॥

दत्ती पढमे एगा, निच्चं वड्ढिज्ज एवमिक्किक्कं ।
सत्त-ऽट्ठ—नवम—दसमं, सत्तगमाई च भिक्खाणं ॥ ३ ॥

छण्णउयं सयमेगं, अट्ठासीई य दो सया णेया ।
पंचुत्तरा चउसया, पण्णासऽहिया य पंच सया ॥ ४ ॥
पडिमासु चउसुंपि य, भिक्खापरिमाणमेत्थ पुव्वुत्तं ।
कमसो एया सव्वा, आणाए पालिया होंति" ॥ ५ ॥ इति ।

छाया—प्रथमायाः प्रतिमायाः काल एकोनपञ्चाशद्दिवसानाम् ।
द्वितीयायाश्चतुष्षष्टिः, एकाशीतिश्च तृतीयायाः ॥ १ ॥
चतुर्थ्याः शतमेकं, दिवसानां भवति चतसृप्रतिमानाम् ।
भिक्षाणां परिमाणं, वक्ष्ये चतसृष्वपि प्रतिमासु ॥ २ ॥
दत्तिः प्रथमे एका, नित्यं वर्द्धयेद् एवमेकैकाम् ।
सप्तमा-ऽष्टम-नवम-दशमं, सप्तकादि च भिक्षाणाम् ॥ ३ ॥
षण्णवतं शतमेकम्, अष्टाशीतिश्च द्वेशे ते ज्ञेये ।
पञ्चोत्तराणि चतुरश्शतानि, पञ्चाशदधिकानि च पञ्च शतानि ॥ ४ ॥
प्रतिमासु चतसृष्वपि च, भिक्षापरिमाणमत्र पूर्वोक्तम् ।
क्रमश एताः सर्वाः, आज्ञया पालिता भवन्ति ॥ ५ ॥ इति ॥

व्याख्या—**'पढमाए'** इति । प्रथमायाः प्रतिमाया एकोनपञ्चाशद्दिवसाः (४९) कालः, एकोनपञ्चाशद्दिवसैः प्रथमा सप्तसप्तकिका भिक्षुप्रतिमा सपद्यते १ । एवं द्वितीया अष्टाऽष्टकिका भिक्षुप्रतिमा चतुष्षष्टिसंख्यकैर्दिवसैः (६४) संपद्यते २ । तृतीया नवनवकिका भिक्षुप्रतिमा एकाशीतिदिवसैः (८१) संपद्यते ३ । गा० १ ॥ चतुर्थी दशदशकिका भिक्षुप्रतिमा शतसंख्यकैर्दिवसैः (१००) संपद्यते । एतत्कालपरिमाणं चतसृष्वपि भिक्षु-प्रतिमासु भवति ॥ गा० २ ॥ अथ भिक्षाया दत्तिग्रहणपरिमाणं प्रदर्श्यते-**'दत्ती'** इति आसु चतसृष्वपि प्रतिमासु प्रथमे सप्तकादिके इति प्रथमे सप्तके, प्रथमेऽष्टके, प्रथमे नवके, प्रथमे दशके एकैका दत्तिर्भोजनस्य एका पानस्य च गृह्यते । एवम् अनेन प्रकारेण नित्यं-सदा द्वितीयादिसप्तकादिषु एकैकां दत्तिं भिक्षाणां वर्द्धयेत् । कियत्पर्यन्तमित्याह-**'सत्तट्ठ०'** इत्यादि, सप्तमा-ऽष्टम-नवम-दशमदशकं यावत् ।

अयं भावः—सप्तसप्तकिकायां प्रतिमायां सप्तमं सप्तकं यावदिति सप्तमसप्तकपर्यन्तं वर्द्धयेत् । अष्टाष्टकिकायां प्रतिमायाम् अष्टमाष्टकपर्यन्तं वर्द्धयेत् । नवनवकिकायां प्रतिमायां नवमनवकपर्यन्तं वर्द्धयेत् । दशदशकिकायां प्रतिमायां दशमदशकपर्यन्तमेकैकां दत्तिं वर्द्धये-दिति ॥ गा० ३ ॥

अथ—भिक्षापरिमाणमाह—**'छण्णउयं'** इत्यादि । **'छण्णउयं सयमेगं'** इति षण्णवतं-षण्णवत्यधिकमेकं शतं (१९६) सप्तसप्तकिकाप्रतिमायां भिक्षाणां भवति १ । **'अट्ठासीई य दो सया'** इति-अष्टाशीत्यधिकं शतद्वयम् (२८८) अष्टाष्टकिकाप्रतिमायां भिक्षाणां

भवति २। 'पंचुत्तरा चउसया' इति-पञ्चोत्तराणि चत्वारि शतानि (४०५) नवनवकिका-प्रतिमायां भिक्षाणां भवन्ति ३। 'पण्णासऽहिया य पंच सया' इति-पञ्चाशदधिकानि पञ्च शतानि (५५०) दशदशकिकाप्रतिमायां भिक्षाणां भवन्ति ४ ॥ गा० ४ ॥ अत्र-चतसृष्वपि प्रतिमासु 'कमसो' क्रमश:-अनुक्रमेण पूर्वोक्तम्-अनुपदप्रदर्शितं भिक्षापरिमाणं भवति। उपसंहरन्नाह-'एया' इति-एताः सर्वाः-चतस्रोऽपि सप्तसप्तकिकादयो भिक्षुप्रतिमाः 'आणाए' आज्ञया-तीर्थकराज्ञया 'पालिया' पालिता-अनुपालिता भवन्तीति ॥ गा० ५ ॥ इति ॥

॥ भिक्षुप्रतिमानां दिवसपरिमाणभिक्षापरिमाणकोष्ठकम् ॥

प्रतिमानामानि	दिवसपरिमाणम्	भिक्षा परिमाणम्
सप्तसप्तकिका	४९	१९६
अष्टाष्टकिका	६४	२८८
नवनवकिका	८१	४०५
दशदशकिका	१००	५५०

॥ इति भिक्षुप्रतिमाप्रकरणं समाप्तम् ॥ सू० ४० ॥

पूर्वं सप्तसप्तकिकाया आरभ्य दशदशकिकापर्यन्तं भिक्षुप्रतिमाचतुष्कं प्रदर्शितम्, प्रतिमाप्रसङ्गात् साम्प्रतं मोकप्रतिमाद्वयं प्रदर्शयन्नाह—'दो पडिमाओ' इत्यादि।

सूत्रम्-'दो पडिमाओ पन्नत्ताओ तंजहा--खुड्डिया वा मोयपडिमा' १, महल्लिया वा मोयपडिमा २। खुड्डियण्णं मोयपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स कप्पइ पढमसरयकालसमयंसि वा चरमनिदाहकालसमयंसि वा वहिया ठावियव्वा गामस्स वा जाव रायहाणीए वा वणंसि वा वणदुग्गंसि वा पव्वयंसि वा पव्वयदुग्गंसि वा, भोच्चा आरुभइ चउद्दसमेणं पारेइ, अभोच्चा आरुभइ सोलसमेणं पारेइ, जाए जाए मोए आवियव्वे, दिया आगच्छइ आवियव्वे, राइं आगच्छइ नो आवियव्वे, सपाणे मत्ते आगच्छइ नो आवियव्वे, अप्पाणे मत्ते आगच्छइ आवियव्वे, सबीए मत्ते आगच्छइ नो आवियव्वे, अबीए मत्ते आगच्छइ आवियव्वे, ससणिद्धे मत्ते आगच्छइ नो आवियव्वे, असणिद्धे मत्ते आगच्छइ आवियव्वे, ससरक्खे मत्ते आगच्छइ नो आवियव्वे, अससरक्खे मत्ते आगच्छइ आवियव्वे। जाए जाए मोए आवियव्वे, तंजहा-अप्पे वा बहुए वा। एवं खलु एसा खुड्डिया मोयपडिमा अहासुत्तं अहाकप्पं अहामग्गं अहातच्चं सम्मं काएणं फासिया पालिया सोहिया तीरिया किट्टिया आणाए अणुपालिया भवइ ॥ सू० ४१ ॥

छाया—द्वे प्रतिमे प्रज्ञप्ते, तद्यथा-क्षुद्रिका वा मोकप्रतिमा १, महतिका वा मोकप्रतिमा २। क्षुद्रिकां खलु मोकप्रतिमां प्रतिपन्नस्य अनगारस्य कल्पते प्रथमशरत्कालसमये वा, चरमनिदाघकालसमये वा वहिः स्थापयितव्या, ग्रामस्य वा यावद्राजधान्या वा वने वा वनदुर्गे वा पर्वते वा पर्वतदुर्गे वा, भुक्त्वा आरोहति चतुर्दशेन पारयति, अभुक्त्वा आरोहति षोडशेन पारयति, जातं जातं मोकमापातव्यम्, दिवा आगच्छति आपातव्यम्, रात्रौ आगच्छति नो आपातव्यम्, सप्राणं मात्रम् आगच्छति नो आपातव्यम्, अप्राणं मात्रम् आगच्छति आपातव्यम् सबीजं मात्रम् आगच्छति नो आपातव्यम्, अबीजं मात्रम् आगच्छति आपातव्यम्, सस्निग्धं मात्रम् आगच्छति नो आपातव्यम् अस्निग्धं मात्रम् आगच्छति आपातव्यम्, सरजस्कं मात्रम् आगच्छति नो आपातव्यम्, अरजस्कं मात्रम् आगच्छति आपातव्यम्। जातं जातं मोकमापातव्यम् तद्यथा-अल्पं वा बहुकं वा। एवं खलु एषा क्षुद्रिका मोकप्रतिमा यथासूत्रम् यथाकल्पम् यथामार्गम् यथातथ्यम् सम्यक्कायेन स्पर्शिता पालिता शोधिता तीरिता कीर्त्तिता आज्ञया अनुपालिता भवति ॥ सू० ४१॥

भाष्यम्—'दो पडिमाओ पन्नत्ताओ' द्वे—द्विप्रकारिके प्रतिमे प्रज्ञप्ते कथिते, 'तंजहा' तद्यथा—'खुड्डिया वा मोयपडिमा महल्लिया वा मोयपडिमा' क्षुद्रिका वा मोकप्रतिमा महतिका वा मोकप्रतिमा। तत्र मोकं कायिकी, तत्प्रधाना प्रतिमा मोकप्रतिमा, मोचयति पापकर्मभ्यः साधुमिति मोकं तत्प्रधाना प्रतिमा मोकप्रतिमा, अस्यां प्रतिमायां सिद्धायां कश्चिन्मुनिः कालं कुर्वन् कर्मविमुक्तः सिद्धो भवति, देवो वा महर्द्धिको भवति, अथवा रोगाद्विमुच्यते शरीरेण कनकवर्णो जायते। उत्सर्गमार्गप्रधानेयं प्रतिमा, तां न कातरः पालयितुं शक्नोति। तत्र प्रथमं क्षुल्लिकामोकप्रतिमास्वरूपं प्रदर्शयति—'खुड्डियं णं मोयपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स' क्षुद्रिकां मोकप्रतिमां प्रतिपन्नस्य प्रशस्याऽनगारस्य साधोः 'कप्पइ' कल्पते 'पढमसरयकालसमयंसि वा' प्रथमशरत्कालसमये—शरत्कालस्य प्रथमसमये—मार्गशीर्षे 'चरमनिदाहकालसमयंसि वा' चरमनिदाघकालसमये—उष्णकालस्य चरमसमये आषाढमासे 'वहिया ठावेयव्वा' बहिः स्थापयितव्या बहिर्गत्वा समाचरणीया, कस्य वहिरित्याह—'गामस्स वा जाव रायहाणीए वा' ग्रामस्य वा यावद्राजधान्या वा वहिः, यावत्पदेन—आकरनगरनिगमखेटकर्वटमडम्बद्रोणमुखपत्तनाश्रमसंवाहसन्निवेशानां संग्रहस्तेन आकरनगरादिराजधानीपर्यन्तानां वहिरिति भावः। कुत्र स्थाने ? इत्याह—'वणंसि वा वणदुग्गंसि वा' वने वा—एकजातीयवृक्षसमुदायरूपे, वनदुर्गे वा नानाजातीयसघनवृक्षसमुदायरूपे, 'पव्वए वा पव्वयदुग्गंसि वा' पर्वते वा प्रसिद्धे, पर्वतदुर्गे वा अनेकपर्वतसमुदायरूपे गत्वेयं क्षुद्रिका मोकप्रतिमा समाचरणीया भवेत्। 'भोच्चा आरुभइ' भुक्त्वा—भोजनं कृत्वा आरोहति, तथाहि—मोकप्रतिमाप्रतिपन्नो मुनिर्निषद्यां चोलपट्टं कायिकीपात्रकं च गृहीत्वा ग्रामादेर्बहिर्गत्वा एकान्ते प्रतिमां प्रतिपद्यते। तत्र कायकीसमागमे तां मात्रके व्युत्सृज्यानापातेऽसंलोके दिशालोकं कृत्वा आपिवेत्। तां प्रतिमां यदि 'भोच्चा आरुभइ' भुक्त्वा स्वीकरोति तदा—'चउद्दसमेणं पारेइ' चतुर्दशेनचतुर्दशभक्तेन

षड्भिरुपवासैः पारयति–पारणां करोति 'अभोच्चा आरुभइ सोलसमेण पारेइ' अथ यदि अभुक्त्वा-भोजनमकृत्वा आरोहति प्रतिमां प्रतिपद्यते तदा षोडशेन–षोडशभक्तेन सप्तभिरुपवासैः पारयति पारणां करोति। तत्र विधिमाह–प्रतिमासमाचरणकाले 'जाए जाए मोए आवियव्वे' जातं जातं मोकं मात्रकं प्रस्रवणमित्यर्थः आपातव्यम्, तत्रापि यत् 'दिया आगच्छइ आवियव्वे' दिवा–दिवसे आगच्छति मोक तत आपातव्यम् 'राइं आगच्छइ नो आवियव्वे' यत् रात्रौ आगच्छति तद् नो आपातव्यम् रात्रौ वीर्यप्राणादेरदर्शनात् किन्तु परिष्ठापयितव्यम्, एवमग्रेऽपि योज्यम्। मोकं द्विविधं भवति–स्वाभाविक तदितरद्वा, तत्र स्वाभाविकं प्राणादिवर्जितं, तदितरत् प्राणादिसंमिश्रम्, तत्र स्वाभाविकं पातव्यम्, अस्वाभाविकं परिष्ठापनीयम्, तदेवाह– तत्रापि दिवसेऽपि यदि 'सपाणे मत्ते आगच्छइ नो आवियव्वे' सप्राणं जीवविशिष्टं मात्रकम् आगच्छति तदा नो आपातव्यं न पातव्यम्, 'अपाणे मत्ते आगच्छइ आवियव्वे' अप्राणम्–प्राणिविवर्जितं मात्रकमागच्छति तदा आपातव्यम्। सप्राणं मोकमेवं भवेत्–उदरे कृमयो भवेयुस्ते चोष्णप्रकृत्या तापिताः सन्तो मोकेन सार्द्धमागच्छेयुः, तांश्च छायायां निःसृजेत्, 'सवीए मत्ते आगच्छइ नो आवियव्वे' सबीजं बीजमिति वीर्यम् वीर्यविशिष्टं मात्रकमागच्छति तदा नो आपातव्यम्, 'अवीए मत्ते आगच्छइ आवियव्वे' यदि अबीजं वीर्यरहितं मात्रकमागच्छति तदा आपातव्यम्। 'ससणिद्धे मत्ते आगच्छइ नो आवियव्वे' सस्निग्धं स्नेहविशिष्टं चिक्कणं मात्रकमागच्छति तदा नो आपातव्यम्, 'असणिद्धे मत्ते आगच्छइ आवियव्वे' अस्निग्धं चिक्कणतावर्जितं मात्रकम् आगच्छति तदा आपातव्यम्। शौक्राः पुद्गला द्विविधा भवन्ति–चिक्कणा अचिक्कणाश्च, तत्र अचिक्कणा वीर्यरहिता इत्यर्थः, चिक्कणाः सवीर्याः सस्निग्धा उच्यन्ते, ते उभयेऽपि देहस्य शैथिल्ये तपोजनितौष्ण्येन तापिताः सन्तो मोकेन सार्द्धं प्रपतन्तीति, 'ससरक्खे मत्ते आगच्छइ नो आवियव्वे' सरजस्कं रजोविशिष्टं प्रमेहरोगजन्यकणिकामिश्रितं मात्रकमा-गच्छति तदा न आपातव्यम् किन्तु परिष्ठापनीयम् 'असरक्खे मत्ते आगच्छइ आवियव्वे' अरजस्क रजोरहितं मात्रकमागच्छति तदा आपातव्यम्। तन्मोकं कियत्परिमितं पातव्यम् अल्पं वा सर्वं वा? तत्राह 'जाए जाए' इत्यादि, 'जाए जाए मोए आवियव्वे' जातं जातं मोकं मात्रकं सर्वमापातव्यम्। 'तंजहा' तद्यथा–'अप्पे वा बहुए वा' अल्पं वा बहुकं वा, तत्सर्वं मोकं पातव्यम्। अथोपसंहरन्नाह–

'एवं खलु एसा खुड्डिया मोयपडिमा अहासुत्तं' इत्यादि 'जाव अणुपालिया भवइ' इत्यन्तम्, एवम् कथितप्रकारेण खलु एषा क्षुद्रिका मोकप्रतिमा यथासूत्रं यथाकल्पं यथामार्गं यथातथ्यं सम्यक्कायेन स्पर्शिता पालिता शोधिता तीरिता कीर्त्तिता आज्ञया तीर्थकराज्ञया अनुपालिता भवति, एतेषां पदानां व्याख्या पूर्वसूत्रे गता॥ सू० ४१॥

पूर्वं क्षुद्रिकामोकप्रतिमा प्रदर्शिता, साम्प्रतं महतीं मोकप्रतिमां प्रदर्शयति-'महल्लियं' इत्यादि ।

सूत्रम्—महल्लियं णं मोयपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स कप्पइ से पढमसरय-कालसमयंसि वा चरमनिदाहकालसमयंसि वा वहिया ठावियव्वा, गामस्स वा जाव रायहाणीए वा वणंसि वा वणदुग्गंसि वा पव्वयंसि वा पव्वयदुग्गंसि वा, भोच्चा आरुभइ सोलसमेण पारेइ, अभोच्चा आरुभइ अट्ठारसमेण पारेइ, जाए जाए मोए आवियव्वे तह चेव जाव अणुपालिया भवइ ॥ सू० ४२ ॥

छाया—महतीं खलु मोकप्रतिमां प्रतिपन्नस्य अनगारस्य कल्पते तस्य प्रथम-शरत्कालसमये वा चरमनिदाघकालसमये वा वहिः स्थापयितव्या ग्रामस्य वा यावद्राज-धान्या वा वने वा वनदुर्गे वा पर्वते वा, पर्वतदुर्गे वा भुक्त्वा आरोहति षोडशेन पारयति, अभुक्त्वा आरोहति अष्टादशेन पारयति, जातं जातं मोकमापातव्यम् तथैव यावद् अनुपालिता भवति ॥ सू० ४२ ॥

भाष्यम्—'महल्लियं णं मोयपडिमं' महतीं खलु मोकप्रतिमाम् 'पडिवन्नस्स' प्रतिपन्नस्स-प्राप्तस्य 'अणगारस्स' अनगारस्य-श्रमणस्य 'कप्पइ' कल्पते 'से' तस्य श्रमणस्य 'पढमसरयकालसमयंसि वा' प्रथमशरत्कालसमये-मार्गशीर्षमासे वा 'चरमनिदाहका-लसमयंसि वा' चरमनिदाघकालसमये वा-आषाढमासे वा 'वहिया ठावेयव्वा गामस्स वा जाव रायहाणीए वा' वहिः स्थापयितव्या-वहिः समाचरणीया भवति, कस्येत्याह-ग्रामस्य वा यावद्राजधान्या वा 'वणंसि वा वणदुग्गंसिवा' वने वा-वनविषये वा वनदुर्गे-वनदुर्गविषये वा, 'पव्वयंसि वा पव्वयदुग्गंसि वा' पर्वते वा पर्वतदुर्गे वा श्रमणस्य प्रतिमां ग्रहीतुं कल्पते इति पूर्वेणान्वयः ।

अथ यदि श्रमणः 'भोच्चा आरुभइ' भुक्त्वा यदि प्रतिमामारोहति-स्वीकरोति तदा 'सोलसमेण पारेइ' षोडशेन-षोडशभक्तेन-सप्तोपवासरूपेण पारयति- पारणां करोति 'अभोच्चा आरुभइ अट्ठारसमेणं पारेइ' अथ यदि अभुक्त्वा प्रतिमामारोहति-स्वीकरोति तदा-अष्टा-दशेन भक्तेन अष्टोपवासरूपेण पारयति-पारणां करोति, अस्या प्रतिमायाम् 'जाए जाए मोए आवियव्वे' जातं जातं मोकं कायिकीत्यर्थः, आपातव्यम् । 'तह चेव' तथैव -क्षुद्रिकाप्रतिमावदेव सर्वोऽपि आलापकोऽत्र ग्रहीतव्यः, कियत्पर्यन्तमित्याह-'जाव आणाए अणुपालिया भवइ' यावद् आज्ञया अनुपालिता भवति, इति पर्यन्तम् । अत्रस्थानां सर्वेषां पदानां व्याख्या क्षुद्रिकामोक-प्रतिमावत् कर्त्तव्या । एते द्वे अपि प्रतिमे धृतिवलसपन्नस्यैव भवति न तु कातरस्येति ॥सू० ४२॥

पूर्वं मोकप्रतिमाद्वयं प्रतिपादितम्, प्रतिमाधारी च दत्तिरूपेण भिक्षां गृह्णाति, तत्र किं नाम दत्तिरिति-दत्तिस्वरूपं प्रदर्शयति-'संखादत्तियस्स णं' इत्यादि ।

सूत्रम्—संखादत्तियस्स णं भिक्खुस्स पडिग्गहधारिस्स गाहावइकुलं पिंडवाय पडियाए अणुप्पविट्ठस्स जावइयं केइ अन्तो पडिग्गहस्स उच्चित्ता दलएज्जा तावइयाओ दत्तीओ वत्तव्वं सिया, तत्थ से केइ छब्बएण वा दूसएण वा चालएण वा अंतो पडिग्गहस्स उच्चित्ता दलएज्जा सावि णं सा एगा दत्ती वत्तव्वं सिया, तत्थ बहवे भुंजमाणा सव्वे ते सयं सयं पिंडं साहणिय अंतो पडिग्गहस्स उच्चित्ता दलएज्जा सव्वा विणं सा एगा दत्ती वत्तव्वं सिया ॥ सू० ४३ ॥

छाया—संख्यादत्तिकस्य खलु भिक्षोः पतिग्रहधारिणो गाथापतिकुलं पिण्डपात प्रतिज्ञया अनुप्रविष्टस्य यावत्कं कश्चित् अन्तः प्रतिग्रहस्य उच्चैः कृत्वा दद्यात् तावत्यो दत्तयो वक्तव्यं स्यात्, तत्र तस्य कश्चित् छब्बकेण वा दूष्यकेण वा चालकेण वा अन्तः प्रतिग्रहस्योच्चैः कृत्वाः दद्यात् सापि खलु सा एका दत्तिः वक्तव्यं स्यात्, तत्र बहवो भुञ्जानाः सर्वे ते स्वकं स्वकं पिण्डं संहृत्य अन्तः प्रतिग्रहस्य उच्चैः कृत्वा दद्यात् सर्वाऽपि खलु सा एका दत्तिः वक्तव्यं स्यात् ॥ सू० ४३ ॥

भाष्यम्—'संखादत्तियस्स णं' इति । संखादत्तियस्स णं' संख्यादत्तिकस्य खलु संख्या एकद्वित्रादिपरिमाणरूपा, तामाश्रित्य दत्तिः-भिक्षाया अव्यवच्छिन्नतया निपातनम् दत्तिरूपाऽन्नस्य पानस्य च भिक्षा यस्य स संख्यादत्तिकः, तस्य संख्यादत्तिकस्य 'भिक्खुस्स' भिक्षोः-दत्तिरूपाभिग्रहधारिश्रमणस्य, कीदृशस्य--'पडिग्गहधारिस्स' प्रतिग्रहधारिणः—पात्रसहितस्येत्यर्थः, 'गाहावइकुलं' गाथापतिकुलं—गृहस्थगृहम् 'पिंडवायपड़ियाए' पिण्डपातप्रतिज्ञया—आहारग्रहणेच्छया 'अणुप्पविट्ठस्स' अनुप्रविष्टस्य--गृहस्थगृहे गतस्य 'जावइयं' यावत्कं-यावद्वारम् आछिद्य आछिद्य द्वित्रादिवारं कृत्वाऽन्नं-पानं च 'अन्तो पड़िग्गहस्स' अन्तः प्रतिग्रहस्य पात्रस्य मध्ये 'उच्चित्ता' उच्चैः कृत्वा--उपरित उद्धृत्य 'दलएज्जा' दद्यात् 'तावइयाओ दत्तीओ' तावत्य एव दत्तयो भवन्तीति 'वत्तव्वं सिया' वक्तव्यं स्याद् ।

अयं भावः—एकस्यामपि भिक्षायामुपरि उत्पाटितायां यावतो वारान् आच्छिद्य--विच्छिद्य विरम्य विरम्य साधोः पात्रे अन्नं पानं च प्रक्षिपति तावत्यस्तत्र दत्तयो भवन्तीति । तत्र हस्तकेन पात्रकेण वा उत्पाटिता सा भिक्षेति कथ्यते । दत्तयः पुनस्तामेव भिक्षां यावतो वारान् अवच्छिद्य अवच्छिद्य क्षिपति तावत्यो दत्तयो भवन्तीति तात्पर्यम् ।

'तत्थ से केइ' तत्र 'से' तस्य-साधोः कश्चित् श्रावकः, 'छब्बएण वा' छब्बकेन वा वंशदलमयेन पात्रेण 'छाबड़ी' ति लोकप्रसिद्धेन, 'दूसएण वा' दूष्येण—वस्त्रेण वा, 'चालएण वा' चालकेन वा-'चालनी'—ति लोकप्रसिद्धेन पात्रेण 'अंतो पड़िग्गहस्स' अन्तः पतद्ग्रहस्य पात्रमध्ये 'उच्चित्ता' उच्चैः कृत्वा भिक्षामुपर्युत्पाट्य 'दलएज्जा' दद्यात् 'सावि णं सा एगा

दत्ती वत्तव्वं सिया' साऽपि खलु सा-एका दत्तिरिति वक्तव्यं स्यात् । इदमेकजनमाश्रित्य कथितम्, सम्प्रति-अनेकजनानाश्रित्य कथयति-'तत्थ से हवे' इत्यादि, 'तत्थ व व हवे भुंजमाणा' तत्र-गृहस्थगृहे वहवोऽनेके भुञ्जाना भोजनं कुर्वाणा भवेयुः 'सव्वे ते सयं सयं पिंडं' सर्वे ते स्वकं स्वकं-स्वकीयं स्वकीयं पिण्डमन्नादि 'साहणिय' संहृत्य--एकत्रीकृत्य 'अंतो पडिग्गहस्स' अन्तः पतद्ग्रहस्य पात्रमध्ये 'उच्चित्ता' उच्चैः कृत्वा--उपरितः 'दलएज्जा' दद्यात् 'सव्वावि णं सा एगा दत्ती वत्तव्वं सिया' सर्वाऽपि खलु सा भिक्षा एका दत्तिरिति वक्तव्यं स्यात् ।

अयं भावः—ओदनादिकं ददानो गृहस्थो यावत्कं भोजनजातमेकवारेण पात्रे क्षिपेत् सा एकवारं पतिता भिक्षा दत्तिरुच्यते । पानकस्य च दाने यावत् पानकधारा त्रुटचते तावदेका-दत्तिः कथ्यते । आहारजाते एकवारेण पात्रे पतिते--पानकद्रव्यस्य धाराविच्छेदे च यदि दाता पुनर्निक्षिपेत् तदा सा द्वितीया दत्तिर्भवेत् । एवं तृतीयचतुर्थादिवारेण तृतीयचतुर्थादिर्दत्ति-र्जायते । तथा-गृहस्थस्य गृहे पथिकाः कर्मकरा वा एकाङ्गणे पृथक् पृथक् उपस्कृत्य भुञ्जते, तेषामेकः परिवेषकः स्यात्, साधुश्च तत्र तत्समये भिक्षार्थमनुप्रविष्टो भवेत् ततः स परिवेषकः 'ददामी'-ति साधवे निवेदयति तत्समये भुञ्जानास्ते सर्वे वदेयुः--यत् प्रत्येकमस्मदीयभोजन-मध्यादपि साधवे भिक्षां देहीति, ततस्तेन परिवेषकेण तेषां सर्वेषां भोजनमध्याद् गृहीत्वा गृहीत्वा एकत्रीकृत्य तद् भोजनजातं साधोः पात्रमध्येऽव्यवच्छिन्नं प्रक्षिपेत्तदा बहुजनभिक्षासद्भावेऽपि सा एकैव दत्तिर्भवेत् एकेनैव वारेणाऽव्यवच्छिन्नतया पात्रे पतितत्वादिति । अत्र भिक्षा दत्तिश्चेति पदद्वयमधिकृत्य द्विकसंयोगे चतुर्भङ्गी भवति, तथाहि—एका भिक्षा--एका दत्तिः १, एका भिक्षा-अनेका दत्तयः २, अनेका भिक्षा--एका दत्तिः ३, अनेका भिक्षा अनेका दत्तयः ४, इति । अत्र प्रथमभङ्गे दायकेनाऽव्यवच्छिन्ना एकेनैव वारेण दत्ता तत एका भिक्षा--एका दत्तिः १, द्वितीय-भङ्गे व्यवच्छिद्य व्यवच्छिद्य दत्तेति—एका भिक्षा—अनेका दत्तयः २, तृतीयभङ्गे अनेका भिक्षा एका दत्तिः, अत्र दायकेन सर्वेषां भोजनजातमेकत्रीकृत्यैकवारेण अव्यवच्छिन्नतया दत्ता, अत्र 'तत्थ बहवे भुंजमाणा' इति सूत्रस्य पूर्वोक्तो भावो घटते ३। चतुर्थे भङ्गे अनेका बहुजनसत्का भिक्षा व्यवच्छिद्य व्यवच्छिद्याऽनेकवारेण दत्तेति-अनेका भिक्षा-अनेका दत्तयः ४, इति भङ्गचतुष्ट-यस्य स्पष्टीकरणम् ।

एवम्—एकानेकदायक-भिक्षा-दत्तीति पदत्रयमधिकृत्य त्रिकसयोगे चतुर्भङ्गी प्रदर्श्यते—एको दायकः एका भिक्षा एका दत्तिः, अत्र एको दायक एकां भिक्षामेकवारेणाऽव्यवच्छिन्नतया ददा-तीति प्रथमो भङ्गः १, एको दायकः एका भिक्षा अनेका दत्तयः, अत्र—एको दायक एकां भिक्षां बहुशो वारान् विच्छिद्य विच्छिद्य ददातीति द्वितीयो भङ्गः २, एको दायकः अनेका भिक्षा एका दत्तिः, अत्र

एको दायकः अनेकां भिक्षामेकत्रीकृत्य एकवारेणाऽव्यवच्छिन्नतया ददातीति तृतीयो भङ्गः ३, एको दायकः अनेका भिक्षा अनेका दत्तयः, अत्र–एको दायकोऽनेकां भिक्षां बहुशो वारान् विच्छिद्य विच्छिद्य ददातीति चतुर्थो भङ्गः ४, इति ॥ सू० ४३ ॥

पूर्वोक्तं सूत्रं पतद्ग्रहमधिकृत्य दत्तिविषयकं कथितम्, सम्प्रति पाणिपतद्ग्रहविषयकं सूत्रमाह– 'संखादत्तियस्स णं' इत्यादि ।

सूत्रम्—संखादत्तियस्स णं भिक्खुस्स पाणिपडिग्गहियस्स गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुप्पविट्ठस्स जावइयं केइ अंतो पाणिस्स उच्चित्ता दलएज्जा तावइयाओ दत्तीओ वत्तव्वं सिया, तत्थ से केइ छव्वएण वा दूसएण वा चालएण वा अंतो पाणिस्स उच्चित्ता दलएज्जा सावि णं सा एगा दत्ती वत्तव्वं सिया, तत्थ से बहवे भुंजमाणा सव्वे ते सयं सयं पिंडं समाहणिय अंतो पाणिस्स उच्चित्ता दलएज्जा सव्वावि णं सा एगा दत्ती वत्तव्वं सिया ॥ सू० ४४ ॥

छाया—संख्यादत्तिकस्य खलु भिक्षोः पाणिपतद्ग्रहिकस्य गाथापतिकुलं पिण्डपातप्रतिज्ञया अनुप्रविष्टस्य यावत्कं कश्चिद् अन्तः पाणेः उच्चैः कृत्वा दद्यात् तावत्यो दत्तयो वक्तव्यं स्यात्, तत्र तस्य कश्चित् छव्वकेन वा दूष्येण वा चालकेन वा अन्तः पाणेः उच्चैः कृत्वा दद्यात् सर्वाऽपि खलु सा एका दत्तिः वक्तव्यं स्यात्, तत्र तस्य बहवो भुञ्जानाः सर्वे ते स्वकं स्वकं पिण्डं संहृत्य अन्तः पाणेः उच्चैः कृत्वा दद्यात् सर्वाऽपि खलु सा एका दत्तिः वक्तव्यं स्यात् ॥ सू० ४४ ॥

भाष्यम्—'संखादत्तियस्स णं भिक्खुस्स' संख्यादत्तिकस्य संख्यामाश्रित्य दत्तिरूपेण भिक्षाग्राहिणः खलु भिक्षोः, कीदृशस्य तस्य ? इत्याह–'पाणिपडिग्गहियस्स' पाणिपतद्ग्रहिकस्य भिक्षोः पाणिरेव पतद्ग्रहं–पात्रं यस्य सः पाणिपतद्ग्रहः, स एव पाणिपतद्ग्रहिकः, यः पाणावेव करे एवान्नपानादिकं धृत्वा भुङ्क्ते तस्य 'गाहावइकुलं' गाथापतिकुलं–गृहस्थगृहम् 'पिंडवायपडियाए' पिण्डपातप्रतिज्ञया–आहारग्रहणेच्छया 'अणुप्पविट्ठस्स अनुप्रविष्टस्य गृहस्थगृहे भिक्षार्थं गतस्य 'जावइयं' यावत्कं–यावद्वारमाछिद्याछिद्य द्वित्रादिवारम्, इत्यादि शेषं सर्वं पूर्वोक्तपतद्ग्रहधारिसूत्रवद् व्याख्येयम्, विशेष एतावानेव–पूर्वसूत्रे 'अंतो पडिग्गहस्स' इत्यस्य स्थाने 'अंतो पाणिस्स' इति पठनीयम्, 'अंतो पाणिस्स' अन्तः पाणेः हस्तस्य मध्ये इति व्याख्या कर्त्तव्येति ॥ सू० ४४

पूर्वं पतद्ग्रहधारिणः पाणिपतद्ग्रहिकस्य च दत्तिरूपो भिक्षाऽभिग्रहः प्रतिपादितः, साम्प्रतमभिग्रहप्रसङ्गाद् उपहृतमेव गृह्णातीति–उपहृतस्वरूपमाह–'तिविहे उवहडे' इत्यादि ।

सूत्रम्—'तिविहे उवहडे पन्नत्ते, तंजहा–सुद्धोवहडे, फलिहोवहडे, संसट्ठोवहडे ॥४५॥

छाया—त्रिविधमुपहृतं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा–शुद्धोपहृतं फलिकोपहृतं संसृष्टोपहृतम् ॥ सू० ४५ ॥

भाष्यम्—य उपहृताभिग्रही स उपहृतं गृह्णाति तत् **'तिविहं'** त्रिविधं—त्रिप्रकारकम् **'उवहडे पन्नत्ते'** उपहृतं प्रज्ञप्तम् कथितम्, उप समीपे—अन्यस्य भोक्तुः समीपे परिवेषणार्थं हृतम् गृहीतम् उपहृतं कथ्यते, तत् त्रिविधं प्रज्ञप्तम् तंजहा'—तद्यथा **'सुद्धोवहडे'** शुद्धोपहृतम् १, **'फलिहोवहडे'** फलिकोपहृतम् २, **'संसट्ठोवहडे'** संसृष्टोपहृतम् ३, तत्र शुद्धोपहृतं यथा—यदि व्यञ्जनरहितं केवलं तण्डुलादिकं गृहीत्वा दास्यति तदा ग्रहीष्यामीति शुद्धोपहृतम् १। फलिकोपहृतं यथा फलिकं काष्ठपात्रम्, यदि काष्ठपात्रे गृहीत्वा दास्यति तदा ग्रहीष्यामि इति फलिकोपहृतम् २। संसृष्टोपहृतं यथा—यदि 'शाकादिखरडितपात्रे गृहीत्वा दास्यति तदा ग्रहीष्यामीति ससृष्टोपहृतम् ३। एतत्त्रिविधमुपहृतमुपहृताभिग्रहधारी भिक्षारूपेण गृह्णातीति ॥

अथ शुद्धादिपदानामर्थमाह—अत्र खलु यत् अलेपकृतं काञ्जिकेन पानीयेन वा न सन्मिश्रीकृतं तत्—शुद्धम्, अथवा व्यञ्जनादिरहितं शुद्धौदनं शुद्धम्। तच्च नियमतोऽलेपकृतम् १। फलिकं नाम यत् काष्ठपात्रे गृहीतम्, अथवा फलितमिति व्यञ्जनैर्नानाप्रकारकैर्भोज्यवस्तुभिर्विरचितमिति २। संसृष्टं नाम—भोक्तुकामेन गृहीतम्, यत् स्थाले परिवेषितम् ततो ग्रहणाय हस्ते, क्षिप्तो न तु मुखे प्रक्षिपति, अत्रान्तरे भिक्षार्थं कश्चित् साधुः समागतः यत् शाकादिना लेपकृतमलेपकृतं वा तत् संसृष्टमिति कथ्यते ३। उपहृतं तु यद् भोक्तुकामेन गृहीतं तदुपहृतमित्युच्यते ॥ सू० ४५ ॥

अथावग्रहिताभिग्रहस्वरूपमाह—**'तिविहे'** इत्यादि ।

सूत्रम्—तिविहे ओग्गहिए पण्णत्ते, तं जहा—जं च ओगिण्हइ जं च साहरइ जं च आसगंसि पक्खिवइ एगे एवमाहंसु ॥ सू० ४६ ॥

छाया—त्रिविधमवग्रहितं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा—यदवगृह्णाति यच्च संहरति यच्च आस्यके प्रक्षिपति, एके एवमाहुः ॥ सू० ४६॥

भाष्यम्—**'तिविहे'** त्रिविधम्—त्रिप्रकारकम्, **'ओग्गहिए पण्णत्ते'** अवग्रहितम्, अवग्रहितं नाम अभिग्रहविशेषः प्रज्ञप्तं—कथितम् **'तंजहा'** तद्यथा—**'जं च ओगिण्हइ'** यच्चाऽवगृह्णाति—भोजनार्थं गृह्णाति, **'जं च साहरइ'** यच्च संहरति, यच्च भोजन पात्राद् निष्क्रामयति, **'जं च आसगंसि पक्खिवइ'** यच्चाऽऽस्यके मुखे प्रक्षिपति, एवमवग्रहितं त्रिविधं भवति। **'एगे'** एके केचन आचार्या एवं पूर्वोक्तप्रकारेण त्रिविधमवग्रहितम् आहुः—कथयन्तीति ॥ सू० ४६ ॥

अत्रान्याचार्यमतमाह—**'एगे पुण'** इत्यादि ।

सूत्रम्—एगे पुण एवमाहंसु—दुविहे ओग्गहिए पन्नत्ते, तंजहा—जं च ओगिण्हइ जं च आसगंसि पक्खिवइ ॥ ४७ ॥

छाया--एके पुनरेवमाहुः—द्विविधमवग्रहितं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा-यच्चावगृह्णाति यच्चाऽऽस्यके प्रक्षिपति ॥ सू० ४७ ॥

भाष्यम्—'एगे पुण एवमाहंसु' एके पुनराचार्या अवग्रहितविषये एवं वक्ष्यमाणप्रकारेण आहुः कथयन्ति। तथाहि—'दुविहे 'ओग्गहिए पन्नत्ते' द्विविधं द्विप्रकारकमवग्रहितं प्रज्ञप्तं कथितं भगवता, अवग्रहितं नाम अवग्रहविशेषः 'तंजहा' तद्यथा 'जं च ओगिण्हइ' यच्चा वगृह्णाति भोजनार्थं स्थापयति, 'जं च आसगंसि पक्खिवइ' यच्चाऽऽस्यके मुखे प्रक्षिपति तत्, एव मवग्रहितं द्विविधं भवतीति ॥

ननु पूर्वमत्रावग्रहितं यच्चावगृह्णाति, यच्च संहरति यच्चास्ये प्रक्षिपतीति त्रिविधमुक्त्वा पुनरत्र द्विविधं प्रोक्तम् तत्कथं शास्त्रे वाक्यद्वैविध्यम् ? अत्राह—अत्र :यद् वाक्यद्वैविध्यं तदादेशान्तरेण भवति। आदेशो नाम यद् बहुश्रुतैराचीर्णं, न च तदन्यैर्युगप्रधानैर्बाधितं भवेत् स भवति नाम आदेश इत्येष. शास्त्रसंमतत्वाद् ग्राह्यः ततो नात्र वाक्यद्वैविध्यं शङ्कनीयमिति।

पुनः शङ्कते अत्र यदुक्तम् 'जं च आसगंसि पक्खिवइ' अस्यायमर्थः यद् आस्यके मुखे प्रक्षिपति तद् गृह्णातीति तदुच्छिष्टं भवेदिति लोके साधोरवहेलना भवेत् यदयं साधुरुच्छिष्टं भुङ्क्ते इति तत् कथं तद् गृह्यते ? अत्राह—मुखे इति स्वमुखे प्रक्षिपतीति न, भोक्तुमुपविष्टानां दत्त्वा परिवेषकोऽवशिष्टं भोजनजातं भूयो भोजनस्थापनपात्रस्य पिठरादेर्मुखे प्रक्षिपति, तत्प्रक्षिपन् साधवे दद्यात् तद् गृह्णातीत्यर्थोऽवसेयः। ततः पिठरादिमुखमधिकृत्येदं सूत्रं प्रवर्त्तितम् ॥ सू० ४७ ॥

इति श्री–विश्वविख्यात–जगद्वल्लभ-प्रसिद्धवाचक–पञ्चदशभाषाकलितललितकलापालापक–
प्रविशुद्धगद्यपद्यनैकग्रन्थनिर्मापक–वादिमानमर्दक–श्रीशाहूछत्रपतिकोल्हापुरराजप्रदत्त-
"जैनाचार्य"–पदभूषित–कोल्हापुरराजगुरु–बालब्रह्मचारि–जैनाचार्य–जैन-
धर्म-दिवाकर–पूज्यश्री–घासीलालव्रति–विरचितायां "व्यवहारसूत्रस्य"
भाष्यरूपायां व्याख्यायां नवमोद्देशः समाप्तः ॥९॥

॥ अथ दशमोद्देशकः ॥

तदेवं नवममुद्देशं व्याख्याय संप्रति-दशमोद्देशकः प्रारभ्यते, अस्य दशमोद्देशकप्रथम-सूत्रस्य नवमोदेशकचरमसूत्रेण सह कः सम्बन्धः ? इत्याह भाष्यकारः-'पुव्वं ओग्गहिया-भिह' इत्यादि ।

गाहा—पुव्वं ओग्गहियाभिह, अभिग्गहो देसिओ चरमसुत्ते ।
पडिमा अभिग्गहो इह, वुच्चइ एसेव संबंधो ॥ भा० गा० ॥ १ ॥

छाया—पूर्वम् अवग्रहिताभिधः अभिग्रहो देशितश्चरमसूत्रे ।
प्रतिमाभिग्रह इह, प्रोच्यते एष एव सम्बन्धः ॥ भा० गा० १ ॥

व्याख्या—पूर्वमिति पूर्वं नवमोद्देशकस्य चरमसूत्रे अवग्रहिताभिधः अवग्रहितनामकः अभिग्रहो देशितः कथितः । इह-दशमोद्देशकस्य प्रथमसूत्रे प्रतिमाऽपि अभिग्रह एवेति कृत्वा प्रतिमाभिग्रहः यवमध्य-वज्रमध्य-चन्द्रप्रतिमाद्वयरूपोऽभिग्रहः प्रोच्यते तत एष एव संबन्धो नवमदशमोद्देशकयोरिति ॥ भा० गा० १ ॥

अनेन सवन्धेनाऽऽयातस्यास्य दशमोद्देशकस्येदमादिमं सूत्रम्—'दो पडिमाओ' इत्यादि ।

सूत्रम्—दो पडिमाओ पन्नत्ताओ तं जहा-जवमज्झा य चन्दपडिमा वइरमज्झा य चंदपडिमा । जवमज्झं णं चंदपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स निच्चं मासं वोसट्ठकाए चियत्तदेहे जे केइ परीसहोवसग्गा समुप्पज्जंति दिव्वा वा मणुस्सगा वा तिरिक्खजोणिया वा अणुलोमा वा पडिलोमा वा, तत्थ अणुलोमा ताव वंदेज्जा वा नमंसिज्जा वा सक्कारेज्जा वा सम्माणेज्जा वा कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुपासेज्जा, पडिलोमा ताव अन्नयरेणं दंडेण वा अट्ठिणा वा जोत्तेण वा वेत्तेण वा कसेण वा काए आउट्टेज्जा ते सव्वे उप्पन्ने सम्मं सहइ खमइ तितिक्खइ अहियासेइ ॥ सू० १ ॥

छाया—द्वे प्रतिमे प्रज्ञप्ते तद्यथा-यवमध्यचन्द्रप्रतिमा च वज्रमध्यचन्द्रप्रतिमा च । यवमध्यां खलु चन्द्रप्रतिमां प्रतिपन्नस्याऽनगारस्य नित्यं मासं व्युत्सृष्टकाये त्यक्तदेहे ये केचित्परीषहोपसर्गाः समुत्पद्यन्ते दिव्या वा मानुषका वा तैर्यग्योनिका वा-अनुलोमा वा प्रतिलोमा वा, तत्राऽनुलोमा तावद् वन्देत वा नमस्येद् वा सत्कारयेद्वा संमानयेद् वा कल्याणं मङ्गलं दैवतं चैत्यं पर्युपासेत, प्रतिलोमा तावत् अन्यतरेण दण्डेन वा अस्थ्ना वा जोत्रेण वा वेत्रेण वा कशया वा कायम् आकुट्टयेत् तान् सर्वान् उत्पन्नान् सम्यक् सहते क्षमते तितिक्षते अधिसहते ॥ सू० १ ॥

भाष्यम्—'दो पडिमाओ पन्नत्ताओ' द्वे-द्विप्रकारिके प्रतिमे प्रज्ञप्ते कथिते, तत्र प्रतिमाया द्वैविध्यं दर्शयितुमाह-'तं जहा' इत्यादि 'तं जहा' तद्यथा-'जवमज्झा य चंदपडिमा वइरमज्झा य चंदपडिमा' यवमध्या च चन्द्रप्रतिमा वज्रमध्या च चन्द्रप्रतिमा, तत्र-यवमध्य-

चन्द्रप्रतिमाया यवेनोपमा चन्द्रेण चोपमा, यवस्येव मध्यं पृथुलत्वेन यस्याः सा यवमध्या चन्द्राकारा प्रतिमेति व्युत्पत्तेः। एवं वज्रमध्यचन्द्रप्रतिमायाः वज्रेण 'चन्द्रेण च सादृश्यम् वज्रवद् मध्यभागस्तनुकत्वेन यस्याः सा वज्रमध्या चन्द्राकारा प्रतिमा वज्रमध्यचन्द्रप्रतिमा, इत्येवं द्विप्रकारिके प्रतिमे इति। तत्र—**'जवमज्झं णं चंदपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स'** यवमध्यां खलु चन्द्राकारां प्रतिमां प्रतिपन्नस्य—प्राप्तस्य—प्रतिपन्नयवमध्यचन्द्रप्रतिमस्याऽनगारस्य भिक्षोः **'निच्चं मासं'** नित्यं—सदा दिवा रात्रौ मासम् एकमासं यावत् यावान् प्रतिमाकालस्तावत्कालपर्यन्तम् **'वोसट्ठकाए'** व्युत्सृष्टकाये व्युत्सृष्टः ममत्वाभावेन विसर्जितः एतादृशश्चासौ कायश्च अस्थ्यादिचयात्मकत्वात्कायः शरीरमिति व्युत्सृष्टकायस्तस्मिन् ममत्ववर्जिते शरीरे इत्यर्थः। व्युत्सृष्टकायो द्विविधः—द्रव्यतो भावतश्च, तत्र द्रव्यतो मलमलिनोऽप्यकृतस्नानः विभूषावर्जितः भूमिशायित्वादिरूपः, भावतो—व्युत्सृष्टकायो यो वातिक—पैत्तिक—श्लैष्मिकरोगातङ्कैः स्पृष्टोऽपि कायममत्वाभावान्न काश्चिदपि औषधभैषज्यादिना कायविषयां परिचारणादिरूपां चिन्तां करोति यः, एतादृशे ममत्ववर्जिते काये, यतो व्युत्सृष्टकायस्ततः **'चियत्तदेहे'** त्यक्तदेहे कायममत्वरहितत्वेन त्यक्त इव त्यक्तश्चासौ देहश्च तस्मिन् त्यक्तदेहभावे परिणतात्मभावे शरीरे। एतादृशं देहं यदि कोऽपि हन्याद् बध्नीयात्, रुन्ध्यात्, ताडयेद्वा तथापि तं न निवारयति प्रत्युत धृतनिर्जराभाव एवं विभावयति—'नेदं शरीरं मम, शरीरमन्यद् अहं चान्योऽतः को मां मारयितुं शक्नोति अजरामरोऽहम् एतेन वधबन्धनादिना मम कर्मनिर्जरा भवति' इति भावनया भावितस्यानगारस्य तादृशे देहे **'जे केइ परीसहोवसग्गा'** ये केचित् परीषहोपसर्गाः पहीषहाश्च उपसर्गाश्चेति परीषहोपसर्गाः, तत्र परीषहाः—क्षुत्पिपासादयो द्वाविंशतिविधाः, उपसर्गा देवादिकृतास्त्रिविधाः **'समुप्पज्जंति'** समुत्पद्यन्ते उपस्थिता भवन्ति, के ते उपसर्गाः? इति उपसर्गान् प्रदर्शयति—**'दिव्वा वा मणुस्सगा वा तिरिक्खजोणिया वा'** दिव्या वा मानुष्यका वा तैर्यग्योनिका वा, तत्र दिव्या—देवकृता भापनसंहरणादयः, मानुष्यका वधबन्धनादयः, तैर्यग्योनिकाः श्वापदादिकृताः, एते त्रिविधा अपि उपसर्गास्तस्मिन् त्यक्तममत्वे देहे समुत्पद्यन्ते। त इमे त्रयोऽपि परीषहोपसर्गाः प्रत्येकं चतुर्धा भवन्ति, सर्वसङ्कलनया द्वादश, तत्र दिव्या उपसर्गाश्चत्वारः—हासात् प्रद्वेषात् विमर्शतो विमात्रातो वा। एवं मनुष्यकृता अपि चत्वारः—हासात् प्रद्वेषात् विमर्शात् कुशीलप्रतिसेवनात्। तैरश्चा अपि चतुर्विधाः—भयात् प्रद्वेषतः, आहारकारणाद्, अपत्यरक्षाकारणतश्चेति भवेयुः।

ते पुनः **'अणुलोमा वा'** अनुलोमाः—प्रीतिकरा उपसर्गाः, **'पडिलोमा'** प्रतिकूला वा। **'तत्थ अणुलोमा ताव'** तत्राऽनुलोमप्रतिलोमोपसर्गयोर्मध्ये येऽनुलोमा देवादिकृताः तावत् कोऽपि देवादिः प्रतिमाभ्रंशकरणार्थं साधुम् **'वंदेज्जा'** वन्देत वन्दनं कुर्यात् **'नमंसिज्जा'** नमस्येत्—नमस्कारं कुर्यात् **'सक्कारेज्जा'** सत्कारयेत्—साधोः सत्कारं कुर्यात् **'संमाणेज्जा वा'** सम्मानयेत्—संमानं वा कुर्यात् **'कल्याणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुपासेज्जा'** कल्याणं

कल्याणकरं, मङ्गलं—मङ्गलस्वरूपं, दैवतं—धर्मदेवस्वरूपं, चैत्यं—ज्ञानस्वरूपं भवन्तं पर्युपासे' इत्युक्त्वा पर्युपासेत—समीपोपवेशनादिरूपामुपासनां कुर्यात्। ननु अनुलोमास्तु मनोगम्या भवन्ति तथाऽप्येते उपसर्गाः कथं भवेयुः, उपसर्गास्तु पीडोत्पादका भवन्तीत्यत्राह—प्रतिमाप्रतिपत्तिश्चलितकरणहेतुकत्वादात्मनो भावपीडोत्पादकत्वादेते उपसर्गशब्देन संबोधिता भगवतेति। **'पड़िलोमा'** प्रतिलोमाः—प्रतिकूला उपसर्गास्तावत् **'अन्नयरेण'** अन्यतरेण ताडनसाधनानां मध्ये केनापि-अन्यतरेण एकेन, तथाहि—**'दंडेण वा'** दण्डेन वा—लकुटेन, **'अट्ठिणा वा'** अस्थ्ना वा अस्थिरूपताडनसाधनेन, **'जोत्तेण वा'** जोत्रेण वा—जोत्रमिति गोवलीवर्दादिवन्धकस्थूलदवरिकारूपेण **'वेत्तेणवा'** वेत्रेण वा **'वेंत'** इति लोकप्रसिद्धेन वा। **'कसेण वा'** कशया वा **'चावूक'** इति लोकप्रसिद्धेन वा, एतादृशैस्ताडनसाधनभूतैः वस्तुभिः साधोः **'काए-आउट्टेज्जा'** कायं--शरीरम्-आकुटयेत् ताड़येत् **'ते सव्वे उप्पन्ने'** तान्-उपर्युक्तान् सर्वान् एव समुपस्थितान् **'सम्मं'** सम्यग् मनोमालिन्यराहित्येन **'सहइ'** सहते सहनं करोति **'खमइ'** क्षमते सत्यामपि निवारणशक्तौ क्षमां करोति **'तितिक्खेइ'** तितिक्षते-निर्जराभावेन सहते **'अधियासेइ'** अधिसहते अधि-निश्चलभावेन वासीचन्दनवृक्षवत् सहते। उक्तञ्च—

वासीचंदणकप्पो, जह रुक्खो इय सुहदुहसमो उ।
रागद्दोसविमुक्को, सहइ अणुलोम–पडिलोमे ॥ १॥ इति॥

छाया—वासीचन्दनकल्पो, यथा वृक्ष इति सुखदुःखसमस्तु।
रागद्वेषविमुक्तः, सहते अनुलोम–प्रतिलोमान् ॥ १ ॥ इति ॥ सू० १ ॥

अथ—यवमध्यचन्द्रप्रतिमायाः प्रतिपत्तिस्वरूपं प्रदर्शयति—**'जवमज्झं णं'** इत्यादि।

सूत्रम्—जवमज्झं णं चंदपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स सुक्कपक्खस्स पाडिवए कप्पइ एगं दत्तिं भोयणस्स पडिगाहित्तए एगं पाणगस्स, सव्वेहिं दुप्पयचउप्पयाइएहिं आहारकंखीहिं सत्तेहिं पडिनियत्तेहिं अन्नायउंछं सुद्धोवहडं णिज्जूहित्ता वहवे समण-माहण-अइहि-किवण-वणीमगा, कप्पइ से एगस्स भुंजमाणस्स पडिगाहित्तए नो दोण्हं नो तिण्हं-नो चउण्हं नो पंचण्हं नो गुव्विणीए नो वालवच्छाए नो दारगं पेज्ज-माणीए। नो से कप्पइ अंतो एलुयस्स दोवि पाए साहट्टु दलमाणीए, नो वाहिं एलु-यस्स दोवि पाए साहट्टु दलमाणीए, अह पुण एवं जाणेज्जा एगं पायं अंतो किच्चा एगं पायं वाहिं किच्चा एलुयं विक्खंभइत्ता एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे नो लभेज्जा नो आहारेज्जा विइज्जाए से कप्पइ दोण्णि दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहित्तए दोण्णि पाणगस्स, सव्वेहिं दुप्पय-चउप्पयाइएहिं जाव नो आहारेज्जा। एवं तइयाए तिण्णि जाव पण्णरसीए पणरस।

वहुलपक्खस्स पाडिवए से कप्पइ चोद्दसदत्तीओ, वीयाए तेरस जाव चोद्दसीए एगं दत्तिं भोयणस्स एगं पाणगस्स सव्वेहिं दुप्पयचउप्पयाइएहिं जाव नो आहारेज्जा, अमावासाए से य अभत्तट्ठे भवइ । एवं खलु एसा जवमज्झचंदपडिमा अहासुत्तं अहाकप्पं अहामग्गं सम्मं काएणं फासिया-पालिया सोहिया तीरिया किट्टिया आणाए अणुपालिया भवइ ॥ सू० २ ॥

छाया—यवमध्यां खलु चन्द्रप्रतिमां प्रतिपन्नस्याऽनगारस्य शुक्लपक्षस्य प्रतिपदि कल्पते एकां दत्तिं भोजनस्य प्रतिग्रहीतुम् एकां पानकस्य सर्वैर्द्विपदचतुष्पदादिभिराहारकांक्षिभिः सत्त्वैः प्रतिनिवृत्तैः अज्ञातोञ्छं शुद्धोपहृतं निर्यूह्य वहून् श्रमण-माहना-ऽतिथि-कृपण-वनीपकान्, कल्पते तस्यैकस्य भुञ्जानस्य प्रतिग्रहीतुम् नो द्वयोः नो त्रयाणाम् नो चतुर्णाम् नो पञ्चानाम्, नो गुर्विण्याः नो वालवत्सायाः नो दारकं पाययन्त्याः, नो तस्य कल्पते, अन्तरेलुकस्य द्वावपि पादौ संहृत्य ददत्याः, नो वहिरेलुकस्य द्वावपि पादौ संहृत्य ददत्याः, अथ पुनरेवं जानीयात् एकं पादमन्तः कृत्वा-एकं पादं वहिः कृत्वा एलुकं विष्कम्भयित्वा एतया एषणया एषयन् लभेत आहरेत्, एतया एषणया एषयन् नो लभेत नो आहरेत् । द्वितीयायां तस्य कल्पते द्वे दत्ती भोजनस्य प्रतिग्रहीतुम् द्वे पानकस्य सर्वैर्द्विपदचतुष्पदादिभिर्यावन्नो आहरेत् । एवं तृतीयायां तिस्रो यावत् पञ्चदश्यां पञ्चदश । वहुलपक्षस्य प्रतिपदि तस्य कल्पते चतुर्दश दत्तीः, द्वितीयायां त्रयोदश यावच्चतुर्दश्यामेकां दत्तिं भोजनस्य, एकां पानकस्य सर्वैर्द्विपदचतुष्पदादिभिर्यावत् नो आहरेत्, अमावास्यायां स चाभक्तार्थो भवति । एवं खलु एषा यवमध्यचन्द्रप्रतिमा यथासूत्रं यथाकल्पं यथामार्गं सम्यक् कायेन स्पर्शिता पालिता शोधिता तीरिता कीर्त्तिता आज्ञयाऽनुपालिता भवति ॥ सू० २ ॥

भाष्यम्—'**जवमज्झं णं चंदपडिमं**' यवमध्यां खलु चन्द्रप्रतिमाम्, यवमध्यचन्द्रप्रतिमायाः यवेन चन्द्रेण चोपमा यववन्मध्यभागः-पृथुलो यस्या सा यवमध्या । तथा चन्द्राकारा प्रतिमा चन्द्रप्रतिमा- चन्द्रानुसारिणीत्यर्थः ।

अयं भावः—शुक्लपक्षस्य प्रतिपत्तिथौ चन्द्रविमानस्य पञ्चदशभागीकृतस्य एकैव कला दृश्या भवति, द्वितीयायां तिथौ द्वे कले चन्द्रविमानस्य दृश्येते, तृतीयायां तिस्रः, एवं पूर्णिमायां परिपूर्णाः पञ्चदशाऽपि कलाः दृश्यन्ते । ततः कृष्णपक्षस्य प्रतिपदि एकया कलया हीनो दृश्यते चन्द्रस्य चतुर्दश कला दृश्यन्ते इत्यर्थः । द्वितीयायां तिथौ त्रयोदश कला दृश्यन्ते, तृतीयायां द्वादशैव, यावदमावास्यायामेकाऽपि कला न दृश्यते । तदेवमयं मासः आदौ ऊनः मध्ये संपूर्णः अन्ते पुनरपि परिहीनः । यद्वा-आदावन्ते च तनुको मध्ये विपुलः । एवं भिक्षुकोऽपि शुक्लपक्षस्य प्रतिपदि तिथौ एकां दत्तिं भिक्षाया गृह्णाति, द्वितीयायां शुक्लपक्षस्य द्वे गृह्णाति, तृतीयायां तिस्रो दत्तीः गृह्णाति यावत् पञ्चदश्यां पञ्चदश दत्तीर्गृह्णाति । कृष्णपक्षस्य प्रतिपदि पुनश्चतुर्दश दत्तीर्गृह्णाति, द्वितीयायां त्रयोदश, एवं क्रमेण यावत् चतुर्दश्यामेकैकोनत्वेन एकां दत्तिं गृह्णातीति तेन अमा-

वास्यायां चोपोषितो भवति, चतुर्थभक्तं करोतीत्यर्थः । ततश्चचन्द्राकारतया चन्द्रप्रतिमा आदा-वन्ते च भिक्षायास्तनुत्वात् मध्ये विपुलत्वात् यवमध्योपमितमध्यभागा, एवम्भूतां यवमध्यचन्द्र-प्रतिमाम् **'पडिवन्नस्स'** प्रतिपन्नस्य **'अणगारस्स'** अनगारस्य—साधोः स्वीकृतयवमध्यचन्द्र-प्रतिमस्य भिक्षोः, **'सुक्कपक्खस्स पाडिवए'** शुक्लपक्षस्य प्रतिपत्तिथौ **'कप्पइ' एगं दत्तिं भोगणस्स पडिगाहित्तए'** कल्पते एकां दत्तिं भोजनस्य प्रतिग्रहीतुम्, तथा—**'एगं पाणगस्स'** एकां दत्तिं पानकस्य प्रतिग्रहीतुं कल्पते । कदा कल्पते ? इत्याह—**'सव्वेहिं'** इत्यादि, **'सव्वेहिं दुप्पयचउप्पयाइएहिं आहारकंखीहिं सत्तेहिं पडिणियत्तेहिं'** सर्वैर्द्विपदचतुष्पदादिभिराहार-काङ्क्षिभिः सत्त्वैः—प्राणिभिः आहारं कृत्वा प्रतिनिवृत्तैः, अत्र सप्तम्यर्थे तृतीया प्राकृतत्वात् तेन सर्वेषु द्विपदचतुष्पदादिषु आहारकाङ्क्षिषु सत्त्वेषु प्रतिनिवृत्तेषु सत्सु, इत्यर्थः ।

अयं भावः—तस्मिन् समये साधुर्भिक्षार्थं गच्छेत् यदा सर्वेऽपि द्विपदचतुष्पदादयो जीवा आहारकांक्षिणः आहारं कृत्वा प्रतिनिवृत्ता भवेयुस्तदवसरे साधुर्भिक्षार्थं परिभ्रमेदिति । कीदृश-माहारं गृहीयात्तत्राह—**'अन्नायउंछं'** अज्ञातोञ्छम्, अज्ञातस्य—अपरिचितकुलस्य उञ्छम्—अल्पमल्पं **'सुद्धोवहडं'** शुद्धोपहृतम् निर्दोषमाहारं दातुमुत्थापितम्, यद्वा शुद्धेन—सचित्तादिसंपर्करहितेन गृहस्थेन उपहृतम्—दातुं हस्ते गृहीतं तत् अन्यस्मै दत्त्वा अवशिष्टं स्याद्भवेत्। **'निज्जूहित्ता वहवे समण-माहण-अइहि-किवण-वणीमगा'** बहून् श्रमण—माहना ऽतिथि—कृपण-वनीपकान्, तत्र—श्रमण-शाक्यभिक्षुः, माहनो भिक्षावृत्तिको ब्राह्मणः, अतिथिः—प्राघुर्णकादिः, कृपणः दीनः, वनीपको—याचकः, इत्येतान् सर्वान् निर्यूह्य—भिक्षाग्रहणप्रवृत्तान् वर्जयित्वा, यदा ते भिक्षां गृह्णन्तो भवेयुस्तदा तत्र साधुना भिक्षार्थं न गन्तव्यमिति भावः। तत्समये तत्र गतस्य **'कप्पइ से एगस्स भुंजमाणस्स पडिगाहित्तए'** कल्पते तस्य—गृहस्थगृहे प्रविष्टस्य, तत्र-एकस्य भुञ्जानस्य प्रतिग्रहीतुम्, एक एव पुरुषो यत्र भुङ्क्ते तस्य हस्तादेवान्नपानादिकं प्रतिग्रहीतुं कल्पते किन्तु—**'नो दोण्हं नो तिण्हं'** नो द्वयोः पुरुषयोर्भुञ्जानयोस्त्रयाणां वा भुञ्जानानाम् एवम्—**'नो चउण्हं नो पंचण्हं'** नो चतुर्णां नो वा पञ्चानां हस्ताद् भिक्षां प्रतिग्रहीतुं कल्पते, एवम् **'नो गुव्विणीए'** नो गुर्विण्या गर्भवत्या हस्तात् **'नो वालवच्छाए'** नो वालवत्सायाः यस्य वालोऽव्यक्तः, स न तस्या विरहे तिष्ठति एतादृश्या हस्तात्, एवम्—**'नो दारगं पेज्जमाणीए'** नो दारकं पाययन्त्याः—वालकं स्तन्यं धायन्त्याः, या स्त्री वालकं स्तन्यं पाययति तद्धस्तादपि भिक्षां ग्रहीतुं न कल्पते, पुनश्च **'नो से कप्पइ अंतो एलुयस्स दोवि पाए साहट्टु दलमाणीए'** न तस्य श्रमणस्य कल्पतेऽन्तर्मध्ये एलुकस्य-गृहदेहल्याः द्वावपि पादौ—चरणौ संहृत्य—स्थापयित्वा ददत्याः, गृहद्वाराभ्यन्तरे पादद्वयं संहृत्य या भिक्षां ददाति तद्धस्तादपि नो ग्रहीतुं कल्पते **'नो वाहिं एलुयस्स दोवि पाए साहट्टु दल-माणीए'** नो—न वा वहिः—वहिर्भागे एलुकस्य—गृहद्वारस्य द्वावपि पादौ संहृत्य भिक्षां ददत्याः, गृहस्य वहिर्भागे चरणद्वयं स्थापयित्वा या भिक्षां ददाति तद्धस्तादपि ग्रहीतुं न कल्पते इति

पूर्वेण सम्बन्धः। तदा कथं कल्पते ? इत्याह—'अह पुण एवं जाणेज्जा' अथ पुनरेवं जानीयात्- 'एगं पायं अंतो किच्चा' एकं पादमन्तर्द्वारस्य कृत्वा, 'एगं पायं वाहिं किच्चा' एकं पाद- मेलुकस्य—द्वारस्य वहिः—बहिर्भागे कृत्वा 'एलुयं विक्खंभइत्ता' एलुकं—गृहद्वारं विष्कम्भयित्वा द्वयो- श्चरणयोर्मध्ये कृत्वा ददत्या हस्तात्कल्पते, 'एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा' एतया एषणया एषयन् यदि लभेत, तदा 'आहारेज्जा' आहरेत्- आहारं कुर्यात् तादृशमन्नपानादिकं ग्रहीतुं कल्पते इति भावः 'एयाए एसणाए एसमाणे णो लभेज्जा णो आहारेज्जा' एतया एषणया एषयन् यदि नो लभेत तदा नो आहरेत् आहारं नो कुर्यात्। एषः प्रथमदिनभिक्षाग्रहणविधिरुक्तः, एवंरी- त्यैव द्वितीयादितिथिविषयेऽपि योजनीयमिति। एवम् 'विइयाए से कप्पइ दोण्णि दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहित्तए दो पाणगस्स' द्वितीयायां तिथौ 'से' तस्य यवमध्यचन्द्रप्रतिमां प्रति- पन्नस्याऽनगारस्य कल्पते द्वे दत्ती भोजनस्य—भक्तौदनादेः प्रतिग्रहीतुं तथा द्वे दत्ती पानकस्य प्रतिग्रहीतुम्। कदा-कल्पते ? तत्राह—'सव्वेहिं दुप्पयचउप्पयाइएहिं आहारकंखीहिं सत्तेहिं पडिनियत्तेहिं' सर्वेषु द्विपदचतुष्पदादिषु आहारकाङ्क्षिषु सत्त्वेषु—प्राणिषु प्रतिनिवृत्तेषु अन्नायउंछं सुद्धोवहडं जाव नो आहारेज्जा' अज्ञातोञ्छं शुद्धोपहृतं यावत् नो आहरेत्, इत्यादि पदानि प्रतिपदालापकोक्तवद् व्याख्येयानि।

'एवं तइयाए तिण्णि जाव पण्णरसीए पण्णरस' एवं तृतीयायां तिथौ तिस्रो यावत् पञ्चदश्यां पञ्चदश, पूर्वोक्तक्रमेण एकैकां दत्तिं वर्द्धयन् पञ्चदश्यां—पूर्णिमायां पञ्चदश दत्तीः भोजनस्य, पञ्चदश पानकस्य प्रतिग्रहीतुं कल्पते।

मासस्य शुक्लपक्षे दत्तीनां वर्द्धमानतामुपदर्श्य मासस्य कृष्णपक्षे दत्तीनां ह्रासतां दर्श- यितुमाह—'बहुलपक्खस्स' इत्यादि, 'बहुलपक्खस्स पाडिवए से कप्पइ चोद्दस दत्तीओ' बहुलपक्षस्य—कृष्णपक्षस्य प्रतिपदि प्रथमदिवसे तस्य—यवमध्यचन्द्रप्रतिमां प्रतिपन्नस्याऽनगारस्य चतुर्दश दत्तीर्भोजनस्य तथा चतुर्दश दत्तीः पानकस्य प्रतिग्रहीतुं कल्पते इति भावः। एवम् 'बीयाए तेरस' द्वितीयायां त्रयोदश 'जाव' यावत्, यावत्पदेन तृतीयायां द्वादश, चतुर्थ्या- मेकादश, पञ्चम्याम् दश, एवं क्रमेण ह्रापयन् 'चोद्दसीए एगं दत्तिं भोयणस्स' चतुर्दश्या- मेकां दत्तिं भोजनस्य 'एगं दत्तिं पाणगस्स' एकां दत्तिं पानकस्य प्रतिग्रहीतुं कल्पते। कदा ? इत्याह—'दुप्पयचउप्पयाइएहिं' द्विपदचतुष्पदादिषु भोजनकाङ्क्षिषु सत्त्वेषु—प्राणिषु प्रतिनि- वृत्तेषु, इत्यादि 'जाव नो आहारेज्जा' यावत् नो आहरेत्, एतया एषणया एषयन् लभेत आहरेत्, एतया एषणया नो लभेत नो आहरेदिति पूर्ववद् व्याख्येयम्, ततः 'अमावासाए से य अभ- त्तट्ठे भवइ' अमावास्यायां—मासस्य चरमे दिवसे स च अभक्तार्थः, न भक्तमभक्तं—भोजनराहित्यं तदेव प्रयोजनं यस्य सोऽभक्तार्थः, उपोषितो भवतीति। 'एवं खलु एसा जवमज्झचंदपडिमा' एवमुपर्युक्तप्रकारेण एषा—पूर्वप्रदर्शिता यवमध्यचन्द्रप्रतिमा 'अहासुत्तं' यथासूत्रम्—सूत्रानति-

क्रमेण, 'अहाकप्पं' यथाकल्पम्—सूत्रोक्तसाधुकल्पानतिक्रमेण, 'जाव अणुपालिया भवइ' यावद् अनुपालिता भवति, यावत्पदेन यथामार्गं सम्यक्कायेन स्पर्शिता पालिता शोधिता तीरिता कीर्त्तिता आज्ञया, इत्येतेषां ग्रहणं भवति। तत्र यथामार्गं ज्ञान—दर्शन—चारित्रानतिक्रमेण, सम्यग् निरतिचारं कायेन स्पर्शिता सेवनतः, पालिता जीवरक्षातः, शोधिता गुरुकथनानुसारतो निरतिचाराचरणतः, तीरिता-पर्यन्तं नीता, कीर्त्तिता—आचार्याणामग्रे 'मया प्रतिमा संपादिता' इति निवेदिता, तीर्थकराणामाज्ञया अनुपालिता भवतीति ॥ सू० २ ॥

यवमध्यचन्द्रप्रतिमाकोष्टकम्

शुक्लपक्षे

प्रति.	द्वि.	तृ.	च.	पं.	ष.	स.	अ.	न.	द.	एका.	द्वा.	त्रयो.	चतु.	पूर्णिमा
१	२,	३,	४,	५,	६,	७,	८,	९,	१०,	११,	१२,	१३,	१४,	१५

कृष्णपक्षे

प्रति.	द्वि.	तृ.	च.	पं.	ष.	स.	अ.	न.	द.	एका.	द्वा.	त्रयो.	चतु.	अमा.
१४,	१३,	१२,	११,	१०,	९,	८,	७,	६,	५,	४,	३,	२,	१,	०

अभक्तार्थः

पूर्वं शुक्लपक्षमाश्रित्य क्रियमाणा यवमध्यचन्द्रप्रतिमा प्रदर्शिता, साम्प्रतं—बहुलपक्षादारभ्य क्रियमाणा वज्रमध्यचन्द्रप्रतिमां प्रदर्शयति—'वइरमज्झं णं' इत्यादि।

सूत्रम्—'वइरमज्झं णं चंदपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स णिच्चं मासं वोसट्ठकाए चियत्तदेहे जे केइ परिसहोवसग्गा समुप्पज्जंति तंजहा—दिव्वा वा माणुस्सगा वा तिरिक्खजोणिया वा अणुलोमा वा पडिलोमा वा। तत्थ अणुलोमा ताव वंदेज्जा वा नमंसेज्जा वा-सक्कारेज्जा वा संमाणेज्जा वा कल्याणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासेज्जा। पडिलोमा अन्नयरेणं दंडेण वा अट्ठिणा वा जोत्तेण वा वेत्तेण वा कसेण वा काए आउट्टेज्जा ते सव्वे उप्पन्ने सम्मं सहेज्जा खमेज्जा तितिक्खेज्जा अहियासेज्जा॥ सू० ३॥

छाया—वज्रमध्यां खलु चन्द्रप्रतिमां प्रतिपन्नस्याऽनगारस्य नित्यं मासं व्युत्सृष्टकाये त्यक्तदेहे ये केचित् परीषहोपसर्गाः समुत्पद्यन्ते तद्यथा-दिव्या वा-मानुषका वा तिर्यग्योनिका वा अनुलोमा वा प्रतिलोमा वा, तत्राऽनुलोमा तावत् वन्देत नमस्येत् सत्कारयेत् संमानयेत् कल्याणं मङ्गलं दैवतं चैत्यं पर्युपासेत। प्रतिलोमा अन्यतरेण--दण्डेन

वा अस्थ्ना वा जोत्रेण वा वेत्रेण वा कशया वा कायमाकुट्टयेत, तान् सर्वान् समुत्पन्नान् सम्यक् सहेत क्षमेत तितिक्षेत अधिसहेत ॥ सू० ३ ॥

भाष्यम्—'वइरमज्झं णं चंदपडिमं' वज्रमध्यां खलु चन्द्रप्रतिमाम्, तत्र–वज्रस्येव मध्यं यस्याः सा वज्रमध्या चन्द्राकारा–चन्द्रतुल्या प्रतिमा–वज्रमध्यचन्द्रप्रतिमा, वज्रवद् आदौ अन्ते च स्थूला, मध्ये तनुकेत्यर्थः। कृष्णपक्षचन्द्राऽनुसारित्वात् चन्द्रानुसारिणी भवति ।

अयं भावः–वज्रमध्यचन्द्रप्रतिमायां कृष्णपक्ष आदौ क्रियते तत एवं भावना–कृष्णपक्षस्य प्रतिपत्तिथौ चन्द्रविमानस्य चतुर्दश कला दृश्यन्ते, द्वितीयायां चन्द्रविमानस्य त्रयोदश कला दृश्यन्ते, तृतीयायां द्वादश यावत् चतुर्दश्याम् एकैव कला दृश्यते, अमावास्यायां तु–एकापि कला चन्द्रविमानस्य न दृश्यते। ततः पुनरपि शुक्लपक्षस्य प्रतिपदि चन्द्रविमानस्यैका कला दृश्यते द्वितीयायां द्वे कले दृश्येते, तृतीयायां तिस्रः कला दृश्यन्ते, एवं यावत् पञ्चदश्यां पञ्चदशाऽपि कला दृश्यन्ते । तदयं मासः आदौ अवसाने च पृथुलो मध्ये तनुकः, वज्रमपि आदावन्ते च विपुलं मध्ये तनुकम् । एवंप्रकारेण श्रमणोऽपि भिक्षां गृह्णाति, कृष्णपक्षस्य प्रतिपदि चतुर्दश, द्वितीयायां त्रयोदश, तृतीयायां द्वादश यावत् चतुर्दश्यामेकैव, अमावास्यायाम् उपोषितो भवति । ततः पुनरपि शुक्लपक्षस्य प्रतिपदि एकां भिक्षां गृह्णाति, द्वितीयायां द्वे भिक्षे, तृतीयायां तिस्रो भिक्षाः यावत् पञ्चदश्यां पञ्चदश। तत एषा कृष्णपक्षगतचन्द्राकारतया चन्द्रप्रतिमा आदावन्ते च विपुलतया मध्ये च तनुतया वज्रमध्योपमितमध्यभागा इति वज्रमध्यचन्द्रप्रतिमा भवतीति । एतादृशीं वज्रमध्यचन्द्रप्रतिमाम् **'पडिवन्नस्स'** प्रतिपन्नस्य **'अणगारस्स'** अनगारस्य साधोः **'णिच्चं मासं वोसट्ठकाए'** नित्यं मासं मासपर्यन्तं व्युत्सृष्टकाये–परित्यक्तपरिकर्मणि काये अत एव **'चियत्तदेहे'** त्यक्तदेहे-त्यक्तात्मभावे देहे अनयोर्द्वयोः पदयोः सविस्तरमर्थो यवमध्यचन्द्रप्रतिमासूत्रे विलोकनीय', एतादृशे देहे **'जे कइ परीसहोवसग्गा समुप्पज्जंति'** ये केचित् परीषहोपसर्गाः शरीरविघातकाः परीषहा' उपसर्गाश्च समुत्पद्यन्ते-समागच्छन्ति तान् सर्वान् एव सोऽधिसहेतेत्यग्रिमेण सम्बन्ध'। ते के परीषहोपसर्गा इति तान् नामग्राहं दर्शयितुमाह—**'तंजहा'** इत्यादि, तद्यथा—**'दिव्वा वा माणुस्सगा वा तिरिक्खजोणिया वा'** इत्यादि, शेषं सर्वं सूत्रं यवमध्यचन्द्रप्रतिमावद् व्याख्येयम् ॥ सू० ३ ॥

पूर्वं वज्रमध्यचन्द्रप्रतिमाया' स्वरूपं प्रदर्शितम्, सम्प्रति तस्याः पालनप्रकारः प्रदर्श्यते- **'वइरमज्झं णं'** इत्यादि ।

सूत्रम्—**वइरमज्झं णं चंदपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स वहुलपक्खस्स पाडिवए कप्पइ पन्नरस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहित्तए-पन्नरस पाणगस्स, सव्वेहिं दुप्पयचउप्पयाइएहिं आहारकंखीहिं जाव णो आहारेज्जा। वितियाए से कप्पइ चउद्दस दत्तीओ भोयणस्स, चउदस पाणगस्स पडिगाहित्तए जाव णो आहारेज्जा। एवं जाव पणरसीए**

एगा दत्ती। सुक्कपक्खस्स पाडिवए कप्पइ दो दत्तीओ, वीयाए तिण्णि जाव चउद्दसीए पणरस, पुण्णिमाए अभत्तट्ठे भवइ। एवं खलु एसा वइरमज्झा चंदपडिमा अहासुत्तं अहाकप्पं अहामग्गं जाव अणुपालिया भवइ ॥ सू० ४ ॥

छाया—वज्रमध्यां खलु चन्द्रप्रतिमां प्रतिपन्नस्याऽनगारस्य वहुलपक्षस्य प्रतिपदि कल्पते तस्य पञ्चदश दत्तीर्भोजनस्य प्रतिग्रहीतुम् पंचदश पानकस्य, सर्वैर्द्विपदचतुष्पदादिभिराहारकांक्षिभिः यावत् नो आहरेत्। द्वितीयायां तस्य कल्पते चतुर्दश दत्तीर्भोजनस्य प्रतिग्रहीतुं चतुर्दश पानकस्य यावत् नो आहरेत्। एवं यावत् पञ्चदश्याम् (अमावास्यायाम्) एका दत्तिः। शुक्लपक्षस्य प्रतिपदि कल्पते द्वे दत्ती, द्वितीयायां तिस्रः यावच्चतुर्दश्यां पञ्चदश, पूर्णिमायाम् अभक्तार्थो भवति। एवं खलु एषा वज्रमध्या चन्द्रप्रतिमा यथासूत्रं यथाकल्पं यथामार्गं यावत् अनुपालिता भवति ॥ सू० ४ ॥

भाष्यम्—'वइरमज्झं णं चंदपडिमं' वज्रमध्यां खलु चन्द्रप्रतिमाम् 'पडिवन्नस्स अणगारस्स' प्रतिपन्नस्याऽनगारस्य—साधोः 'वहुलपक्खस्स' वहुलपक्षस्य कृष्णपक्षस्येत्यर्थः 'पाडिवए' प्रतिपदि—प्रतिपत्तिथौ प्रथमदिवसे इत्यर्थः, 'कप्पइ पन्नरस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहित्तए' कल्पते पञ्चदश दत्तीर्भोजनस्य—भक्तौदनादेः प्रतिग्रहीतुम्, तथा—'पन्नरस पाणगस्स' पञ्चदश दत्तीः पानकस्यापि प्रतिग्रहीतुं कल्पते, कदा? इत्याह—'सव्वेहिं दुप्पयचउप्पयाइएहिं आहारकंखीहिं जाव णो आहारेज्जा' सर्वेषु द्विपदचतुष्पदादिषु आहारकांक्षिषु प्रतिनिवृत्तेषु यावद् नो आहरेत्, एतया सूत्रोक्तया एषणया एषयन् यदि लभेत तदा—आहरेत्, एतया एषणया एषयन् नो लभेत तदा नो आहरेदिति सर्वत्रैव योजनीयम्। अत्र—यावत्पदगृहीतस्य सर्वस्यापि पाठस्यार्थो यवमध्यचन्द्रप्रतिमासूत्रे विलोकनीयः।

'वितियाए चउद सदत्तीओ भोयणस्स पडिगाहित्तए जाव णो आहारेज्जा' कृष्णपक्षस्य द्वितीयायां तिथौ द्वितीयदिवसे इत्यर्थः 'से' तस्याऽनगारस्य कल्पते चतुर्दश दत्तीर्भोजनस्य—भक्तौदनादेः प्रतिग्रहीतुम् चतुर्दश पानकस्य पानस्यापि चतुर्दशैव दत्तीः प्रतिग्रहीतुं कल्पते, तत्र यदि एतया सूत्रोक्तया एषणया एषयन् लभेत तदा—आहरेत् यदि नो लभेत तदा नो आहरेत्, इति। एवं जाव पणरसीए एगा दत्ती' एवम्-अनेन प्रकारेण यावत् तृतीयात आरभ्य क्रमश एकैकोनत्वेन पञ्चदश्यां तिथौ-अमावास्यायाम् एका दत्तिर्ग्रहीतव्या भवति, एकां दत्तिं प्रतिग्रहीतुं कल्पते। तदनन्तरम् 'सुक्कपक्खस्स पाडिवए' शुक्लपक्षस्य प्रतिपत्तिथौ कल्पते साधोः द्वे दत्ती प्रतिग्रहीतुम्, 'वीयाए तिण्णि' द्वितीयायां तिस्रः 'जाव चउद्दसीए पणरस' यावत् तृतीयात आरभ्य क्रमश एकैकवृद्ध्या चतुर्दश्यां तिथौ पञ्चदश, 'पुण्णिमाए अभत्तट्ठे

भवइ' पूर्णिमायां-पौर्णमास्यां तिथौ स प्रतिमाधारी साधुः अभक्तार्थः-भक्तप्रयोजनरहितः उपोषितो भवति । 'एवं खलु एसा वइरमज्झा चंदपडिमा' एवम् उक्तप्रकारेण एषा-कथितस्वरूपा वज्रमध्या चन्द्रप्रतिमा, 'अहासुत्तं अहाकप्पं जाव अणुपालिया भवइ' यथासूत्रं यथाकल्पं यावदनुपालिता भवति, एषां पदानामर्थो यवमध्यचन्द्रप्रतिमासूत्रेऽवलोकनीयः, एवं प्रकारेण वज्रमध्यचन्द्रप्रतिमा निरूपिता भवति । एतावानत्र भेदो द्वयोर्यवमध्यवज्रमध्यचन्द्रप्रतिमयो'-यत् यवमध्या चन्द्रप्रतिमा आदाववसाने च तनुका मध्ये च विपुला । वज्रमध्यचन्द्र प्रतिमा तु--आदाववसाने च विपुला मध्ये तनुकेति । सूत्रेऽर्थे च सति धृतिवलसंपन्न एव यवमध्यां वज्रमध्यां च चन्द्रप्रतिमां प्रतिपद्यते इति विज्ञेयम् ॥ सू० ४ ॥

वज्रमध्यचन्द्रप्रतिमाकोष्ठकम्

कृष्णपक्षे

तिथिः	प्रति.	द्वि.	तृ.	च.	पं.	ष.	स.	अ.	न.	द.	एका.	द्वा.	त्रयो.	च.	अमा.
दत्तिः	१५,	१४,	१३,	१२,	११,	१०,	९,	८,	७,	६,	५,	४,	३,	२.	१,

शुक्लसुक्षे

तिथिः	प्रति.	द्वि.	तृ.	च.	पं.	ष.	स.	अ.	न.	दश.	ए.	द्वा.	त्रयो.	च.	पू.
दत्तिः	२,	३,	४,	५,	६,	७,	८,	९,	१०,	११,	१२,	१३,	१४,	१५,	अभक्तार्थः

पूर्वं प्रतिमा प्रोक्ता, प्रतिमां चागमादिव्यवहारकुशल एव पालयितुं समर्थो भवेदिति पञ्चविधं व्यवहारं प्रदर्शयति—'पंचविहे ववहारे पन्नत्ते' इत्यादि ।

सूत्रम्—पंचविहे ववहारे पन्नत्ते तंजहा—आगमे १, सुए २, आणा ३, धारणा ४, जीए ५ । जत्थेव तत्थ आगमे सिया आगमेणं ववहारं पट्ठवेज्जा, नो से तत्थ आगमे सिया, जहा से तत्थ सुए सिया सुएणं ववहारं पट्ठवेज्जा, नो से तत्थ सुए सिया जहा से तत्थ आणा सिया आणाए ववहारं पट्ठवेज्जा, नो से तत्थ आणा सिया जहा से तत्थ धारणा सिया धारणाए ववहारं पट्ठवेज्जा नो से तत्थ धारणा सिया, जहा से तत्थजीए,

सिया जीएणं ववहारं पट्ठवेज्जा, एएहिं पंचहिं ववहारेहिं ववहारं पट्ठवेज्जा तंजहा-आगमेणं सुएणं आणाए धारणाए जीएणं। जहा जहा आगमे सुए आणा धारणा जीए तहा तहा ववहारं पट्ठवेज्जा। से किमाहु भंते ? आगमबलिया समणा णिग्गांथा। इच्चेयं पंचविहं ववहारं जया जया जहिं जहिं तया तया तहिं तहिं अणिस्सिओवस्सियं ववहारं ववहारेमाणे समणे णिग्गंथे आणाए आराहए भवइ॥ सू० ५॥

छाया—पञ्चविधो व्यवहारः प्रज्ञप्तः तद्यथा-आगमः १, श्रुतम् २, आज्ञा ३, धारणा ४. जीतम् ५, यत्रैव तत्रागमः स्यात्। आगमेन व्यवहारं प्रस्थापयेत् १, नो अथ तत्रागमः स्यात् यथा अथ तत्र श्रुतं स्यात् श्रुतेन व्यवहारं प्रस्थापयेत् २, नो अथ तत्र श्रुतं स्यात् यथा अथ तत्राज्ञा स्यात् आज्ञया व्यवहारं प्रस्थापयेत् ३, नो तत्राज्ञा स्यात् यथा अथ तत्र धारणा स्यात् धारणया व्यवहारं प्रस्थापयेत् ४, नो अथ तत्र धारणा स्यात् यथा अथ तत्र जीतं स्यात् जीतेन व्यवहारं प्रस्थापयेत् ५,। एभिः पञ्चभिर्व्यवहारैर्व्यवहारं प्रस्थापयेत् तद्यथा-आगमेन, श्रुतेन, आज्ञया, धारणया जीतेन, यथा यथा आगमः श्रुतम् आज्ञा धारणा जीतम् तथा तथा व्यवहारं प्रस्थापयेत्। अथ किमाहुर्भदन्त !, आगमबलिकाः श्रमणा निर्ग्रन्थाः। इत्येतं पञ्चविधं व्यवहारम् यदा यदा यत्र यत्र तदा तदा तत्र तत्र अनिश्रितोपश्रितं व्यवहारं व्यवहरन् श्रमणो निर्ग्रन्थः आज्ञया आराधको भवति ॥ सू० ५॥

भाष्यम्—'पंचविहे ववहारे पन्नत्ते' पञ्चविधः पञ्चप्रकारको व्यवहारः, तत्र-व्यवहरतीति व्यवहारः प्रज्ञप्तः-कथितः, तमेव पञ्चविधत्वं दर्शयितुमाह—'तंजहा' इत्यादि, 'तंजहा' तद्यथा—'आगमे' आगमः, तत्राऽऽगच्छति प्राप्तो भवति मोक्षरूपोऽर्थोऽनेन, ज्ञानदर्शनचारित्ररूपो वाऽर्थोऽनेन इत्यागमः द्वादशाङ्गगणिपिटकरूपः साधूनां प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपो व्यवहार इत्यर्थः, अत्र गुणगुणिनोरभेदोपचाराद् गुणेन गुणी गृह्यते तेन आगम इति आगमव्यवहारी स च केवलज्ञानी १, मनःपर्यवज्ञानी २, अवधिज्ञानी ३, चतुर्दशपूर्वधरः ४, दशपूर्वधरः ५, नवपूर्वधरश्चेति षडेते आगमव्यवहारिणो भवन्ति ६।

एतेषु षट्सु उत्तरोत्तरं ग्राह्यः 'सुए' श्रुतम्-श्रुतव्यवहारी आचारप्रकल्पनिशीथादिसूत्रधारी, अत्र श्रुतशब्देन नवादिपूर्वाणामपि ग्रहणं भवति, तेन नवपूर्वादिधरा अपि सूत्रव्यवहारिणः कथ्यन्ते २। 'आणा' आज्ञा-आज्ञाव्यवहारी, यथा—केचिद्गीतार्थां आचार्यादयः दूरदेशस्थिता जङ्घाबलक्षीणत्वेन विहृत्यागन्तुं न समर्था भवेयुस्तेषामाज्ञया, तीर्थकराज्ञया शास्त्रद्वारा वा व्यवहरति प्रायश्चित्तादि ददाति स आज्ञाव्यवहारीति ३। 'धारणा' धारणाव्यवहारी, यो धारणया व्यवहरति स धारणाव्यवहारी, धारणा नाम गीतार्थगुर्वादिभिः कस्मैचिद्दत्तां शोधिं दृष्ट्वा तद्दत्तां शोधिं श्रुत्वा वा धार्यते सा धारणा कथ्यते तया व्यवहर्त्ता धारणाव्यवहारी प्रोच्यते, यथा—यः कश्चिद् गीतार्थव्यवहारी कस्मैचित् प्रायश्चित्तादि ददाति तच्छ्रुत्वा-तदुक्तं धारयित्वा यः प्रायश्चित्तं ददाति स धारणाव्यहारीति कथ्यते ४। 'जीए' जीतम्-गुरुपरम्परागत-

प्रक्रियारूपं तेन यो व्यवहरति स जीतव्यवहारी, यः पूर्वाचार्यपरम्परामनुसृत्य प्रायश्चित्तादि ददाति स जीतव्यवहारी कथ्यते ५ ।

एषु पञ्चसु मध्ये एकैकाभावे उत्तरोत्तरेणाऽऽलोचना ग्रहीतव्येति प्रदर्शयति–'जत्थेव तत्थ' इत्यादि, 'जत्थेव तत्थ आगमे सिया आगमेणं ववहारं पट्ठवेज्जा' यत्रैव यत्र स्थाने आगमः आगमव्यवहारी भवेत् तत्र स्थानविशेषे आगमेन–आगमव्यवहारिणा व्यवहारं प्रस्थापयेत्, तत्र व्यवहारनिर्णयमागमव्यवहारिणैव कारयेत्–आगमव्यवहारिपार्श्वे एव आलोचनां गृह्णीयादिति भाव । आगमव्यवहारिणो जिनेन्द्राणामाज्ञयैव यथावस्थितं व्यवहारं व्यवहरन्ति किन्तु–नाधिकं न न्यूनम्, तेषां रागद्वेषविनिर्मुक्तत्वात् । उक्तञ्च—

"ते आगमववहारी, हवंति जे रागदोसनिम्मुक्का ।
जिणवरआणाए जे, ववहारं ववहरंति जहतत्थं" ॥१॥

छाया—ते आगमव्यवहारिणो, भवन्ति ये रागद्वेषनिर्मुक्ताः ।
जिनवराज्ञया ये व्यवहारं व्यवहरन्ति यथातथ्यम् ॥१॥ इति ।

अतः प्रथमं तेषां पार्श्वे व्यवहारं प्रस्थापयेदिति । 'नो तत्थ आगमे सिया' अथ च यत्र नो आगमः–आगमव्यवहारी न स्यात् न भवेत् तदा 'जहा से तत्थ सुए सिया' अथ यथा तत्र श्रुतम्–श्रुतव्यवहारी भवेत् तदा 'सुएणं ववहारं पट्ठवेज्जा' श्रुतेन श्रुतव्यवहारिणा व्यवहारं प्रस्थापयेत् श्रुतव्यवहारितः प्रायश्चित्तं गृह्णीयादित्यर्थः । 'नो से तत्थ सुए सिया' अथ नो तत्र श्रुतम्–श्रुतव्यवहारी स्यात् किन्तु 'जहा से तत्थ आणा सिया' यथा तत्राज्ञा स्यात् यदि श्रुतव्यवहारी न भवेत् किन्तु–आज्ञाव्यवहारी भवेत् तदा 'आणाए ववहारं पट्ठवेज्जा' आज्ञया आज्ञाव्यवहारिणा व्यवहारं प्रस्थापयेत् आज्ञाव्यवहारिद्वारा प्रायश्चित्तं गृह्णीयादित्यर्थः । 'नो से तत्थ आणा सिया जहा से तत्थ धारणा सिया' अथ नो तत्राऽऽज्ञा स्यात् अथ यथा तत्र धारणा स्यात्, यदि कदाचित् यत्राज्ञाव्यवहारी न भवेत् किन्तु धारणाव्यवहारी भवेत् तदा 'धारणाए ववहारं पट्ठवेज्जा' धारणया–धारणाव्यवहारिणा व्यवहारं प्रस्थापयेत् । 'नो से तत्थ धारणा सिया जहा से तत्थ जीए सिया जीएणं ववहारं पट्ठवेज्जा' अथ नो तत्र धारणा–धारणाव्यवहारी स्यात् अथ यथा तत्र जीतं–जीतव्यवहारी स्यात् तदा जीतेन जीतव्यवहारिणा व्यवहारं प्रस्थापयेत्, धारणाव्यवहारिणोऽभावे जीतव्यवहारिद्वारेणैव आलोचनाव्यवहारं कुर्यादित्यर्थः । 'एएहिं पंचहिं ववहारेहिं ववहारं पट्ठवेज्जा' एतैः–उपरिदर्शितैः पञ्चभिर्व्यवहारिभिर्व्यवहारं प्रस्थापयेत् कुर्यात्, 'तंजहा' तद्यथा–'आगमेणं सुएणं आणाए धारणाए जीएणं' आगमेन १, श्रुतेन २ आज्ञया ३, धारणया ४, जीतेन ५ । 'जहा जहा आगमे १, सुए २, आणा ३, धारणा४,

जीए' यथा यथा आगमः १, श्रुतम् २, आज्ञा ३, धारणा ४, जीतम् ५ 'तहा तहा ववहारं पट्ठवेज्जा' आगमव्यवहारिणोऽभावे तथा तथा तेन तेन श्रुतव्यवहार्यादिप्रकारेण व्यवहारं प्रस्थापयेत्। 'से किमाहु भंते?' अथ किमेवमाहुर्भदन्त! हे भदन्त! कथमेवं कथयसि यत् प्रथममागमव्यवहारिणैव व्यवहारं प्रस्थापयेदित्यागमस्य प्राथम्यं ददाति? तत्राह–'आगमवलिया समणा णिग्गंथा' आगमवलिकाः आगम एव बलं येषां ते आगमवलिकाः आगमाधारवन्त एव श्रमणा निर्ग्रन्था भवन्ति, आगमबलेनैव श्रमणा निर्ग्रन्था आगमेनैव व्यवहरन्ति, आगमस्य तीर्थकरैः स्वमुखोच्चरितत्वादिति। 'इच्चेयं पंचविहं ववहारं' इत्येतं–पूर्वप्रदर्शितं पञ्चविधं पञ्चप्रकारकं व्यवहारम्; 'जया जया जहिं जहिं' यदा यदा यत्र यत्र ये ये आगमादिव्यवहाणिो भवन्ति 'तया तया तहिं तहिं' तदा तदा तत्र तत्र–तेषां तेषां समीपे, 'अणिस्सिओवस्सियं' अनिश्रितोपश्रितं यथा स्यात्तथा कस्यापि निश्रां वर्जयित्वा–यथा अमुकस्य निश्रयाऽऽलोचनां करोति तदा–स न्यूनं प्रायश्चित्तं दास्यतीत्येवंरूपां निश्रां विवर्ज्य 'ववहरमाणे समणे णिग्गंथे आणाए आराहए भवइ' व्यवहरन्–व्यवहारं कुर्वन् श्रमणो निर्ग्रन्थः आज्ञायाः–तीर्थकराज्ञाया आराधको भवतीति॥

अत्राऽऽगमादिपञ्चसु व्यवहारिषु क्रमेण व्यवहारः प्रस्थापयितव्यः, यदि व्युत्क्रमेण व्यवहरति तदा चत्वारो गुरुमासाः प्रायश्चित्तं भवति, अयं भावः—आगमे विद्यमाने श्रुतादिभिर्व्यवहारं करोति। श्रुते विद्यमाने आज्ञादिभिर्व्यवहरति। आज्ञाव्यवहारे विद्यमाने धारणाव्यवहारं प्रस्थापयति। धारणायां विद्यमानायां जीतेन व्यवहारं प्रस्थापयति। इत्येवं व्युत्क्रमेण व्यवहारप्रस्थापने साधुश्चतुर्गुरुकादिप्रायश्चित्तभाग् भवतीति विज्ञेयम्। प्रथमं मुख्यतया आगमव्यवहारिसमीपे एवालोचना कर्त्तव्या भवेत्। आगमव्यवहारिणोऽपि षड्विधा भवन्ति तत्रापि क्रमेणैव व्यवहारः प्रस्थापनीयः, यथा प्रथमं केवलज्ञानिसमीपे आलोचना कर्त्तव्या, स चालोचकस्य सर्वमतिचारं जानाति, न तस्य समीपे माया कर्त्तुं शक्यते १, तदभावे मनःपर्यवज्ञानिपार्श्वे २, तदभावे–अवधिज्ञानिपार्श्वे ३, तदभावे चतुर्दशपूर्वधरसमीपे ४, तदभावे दशपूर्वधरसमीपे ५, तदभावे नवपूर्वधरसमीपे ६, आलोचना ग्रहीतव्या। पूर्वपूर्वाऽभावे उत्तरोत्तरो ग्राह्यः। एवमग्रे श्रुतव्यवहारादिविषयेऽपि मर्यादा बोध्या।

ननु यस्मिन् काले भगवन्तो गणधराः 'ववहारे पंचविहे पन्नत्ते' इत्यादि सूत्रं निबद्धवन्तस्तस्मिन् कालेऽव्याधितरूपेणाऽऽगम आसीदेव ततः कस्मात् कारणात् आज्ञादयो जीतान्ता व्यवहाराः सूत्रे तैर्निबद्धाः, आगमादेव सर्वव्यवहारसंभवात्, न हि सूर्यप्रकाशसत्तायां चाक्षुष्ककार्यसंपादनाय प्रदीपादीनामल्पप्रकाशानां संग्रहो भवति? अत्राह–तेऽवधिज्ञानादिना ज्ञातवन्तः, यत् स एतादृशः कालः समागमिष्यति यस्मिन् काले सूत्रमनागतविषयं भविष्यति आगमस्य

व्युच्छेदो भविष्यति तदा शेषैर्व्यवहारैर्व्यवहर्त्तव्यं भविष्यतीति कृत्वा श्रुतादिव्यवहारानपि सूत्रे निबद्धवन्तः। तत्रापि व्यवहारः क्षेत्रं काल च प्राप्य यो यथा संभविष्यति, तेन तथा व्यवहारः करणीयो भविष्यतीति।

अयं भावः—यस्मिन् यस्मिन् काले यो यो व्यवहारो व्यवच्छिन्नोऽव्यवच्छिन्नो वा भविष्यति तस्मिन् तस्मिन् काले प्रागुक्तक्रमेण साधवो व्यवहारं व्यवहरिष्यन्ति। तथा यस्मिन् यस्मिन् क्षेत्रे युगप्रधानैराचार्यादिभिर्या यां व्यवस्थां व्यवस्थापयिष्यन्ति तया तया व्यवस्थया अनिश्रितोपश्रितं व्यवहारः प्रवर्त्तितो भविष्यतीति विचार्य आगमादिपञ्चव्यवहारसूत्रं ते निबद्धवन्त इति।

अपि च—आगमादिका धारणान्ताश्चत्वारो व्यवहाराः यावत्तीर्थप्रवृत्तिस्तावद् भविष्यति, जीतव्यवहारस्तु यावच्चतुर्विधः सङ्घः प्रचलिष्यति तावत्कालपर्यन्तं स्थास्यति तस्मात् कारणात् जीतव्यहारोपादानं कृतमिति विवेकः।

सूत्रे यदुक्तम्—सूत्रोक्तव्यवहारं व्यवहरन् श्रमणो निर्ग्रन्थ आज्ञया आराधको भवतीति, सा चाऽऽराधना खलु त्रिप्रकारिका भवति यथा—उत्कृष्टाऽऽराधना १, मध्यमाऽऽराधना २, जघन्याऽऽराधना च। तत्रोत्कृष्टाया आराधनायाः फलम्—एको भवः, मध्यमाया आराधनायाः फलम् द्वौ भवौ, जघन्याया आराधनायाः फलम्—त्रयो भवाः। अथवा यदि तद्भवे मोक्षो न जातस्तदा उत्कृष्टाया आराधनायाः फलम्—जघन्यसंसरणम् द्वौ भवौ। मधयमाया आराधनायास्त्रयो भवाः, जघन्याया आराधनाया उत्कृष्टा अष्टौ भवा भवेयुरित्याराधनायाः फलं विज्ञेयम्।

सूत्रोक्तव्यवहारपदव्याख्या यथा—येनाऽऽगमादिना श्रमणो व्यवहरति—व्यवहारं करोति सोऽप्यागमादिर्व्यवहारः, व्यवह्रियतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या—आगमादेरपि व्यवहारत्वात, यद्यपि व्यवहर्त्तव्यं वस्तुप्रतिक्रमणप्रतिलेखनादिकं मुनिर्व्यवहरति सोऽपि व्यवहार एव। व्यवह्रियते यः स व्यवहार इति कर्मसाधनात् तदेवं करणे कर्मणि उभयत्रापि व्यवहारशब्दः प्रयुज्यते शाब्दिकमर्यादाबलात्॥ सू० ५॥

पूर्वं व्यवहाराः प्रदर्शिता, ते च पुरुषाधीना भवन्तीति तान् सम्यग्ज्ञानवन्तः पुरुषा एव व्यवहर्त्तुमर्हन्तीति। पुरुषाश्चार्थकरा मानकरा इति द्विविधा भवन्तीति तेषां चतुर्भङ्गी प्रदर्श्यते—'चत्तारि' इत्यादि।

सूत्रम्—चत्तारि पुरिसजाया पन्नत्ता तंजहा—अट्ठकरे नामं एगे नो माणकरे १, माणकरे णामं एगे नो अट्ठकरे २, एगे अट्ठकरे वि माणकरे वि ३, एगे नो अट्ठकरे नो माणकरे॥ सू० ६॥

छाया—चत्वारः पुरुषजाताः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा-अर्थकरो नाम एको नो मानकरः १, मानकरो नाम एको नो अर्थकरः २, एकोऽर्थकरोऽपि मानकरोऽपि ३, एको नो अर्थकरो नो मानकरः ४॥ सू० ६॥

भाष्यम्—'चत्तारि' चत्वारः 'पुरिसजाया' पन्नत्ता' पुरुषजाताः–चतुष्प्रकाराः पुरुषाः प्रज्ञप्ताः–कथिताः, तानेव चतुरो भेदान् दर्शयति–'तंजहा' तद्यथा–'अत्थकरे नामं एगे नो माणकरे' अर्थकरो नाम एकः नो मानकरः, तत्रार्थ उपकारः तादृशमर्थं करोति सोऽर्थकरः परेषां हितकारकोऽहितनिवारको भवेत् किन्तु न मानकरः। परेषामुपकारं कृत्वाऽभिमानं न करोतीति प्रथमः १।

'माणकरे णामं एगे णो अट्ठकरे' मानकरो नाम एकः न त्वर्थकरः कश्चिदेतादृश. पुरुषः, यो हि मानं करोति, न पुनः करोति कदाचिदपि कस्यापि कमप्युपकारम्, एष द्वितीयः २। 'एगे अट्ठकरेवि माणकरेवि' एकोऽर्थकरोऽपि मानकरोऽपि, तृतीयस्तु स हि भवति यो मानं करोति उपकारमपि करोति ३। 'एगे नो अट्ठकरे नो माणकरे' एकश्चतुर्थः सः, यो नो अर्थकरो नो वा मानकरः उभयमपि न करोति, चतुर्थ प्रकारकः सः, यो न परेषामुपकारं करोति न मानमपि करोति ४। एते चत्वारः चतुर्भिर्भेदैर्भिन्नाश्चतुर्विधाः पुरुषा भवन्तीति।

अयं भावः—एकोऽर्थकरः आचार्यस्य वैयावृत्त्यसंपादको न तु मानकरः १। द्वितीयो नार्थकरः केवलं मानकर एव राजवंशीयोऽहम्, धनिकवंशीयोऽहं वेति जातिकुलाद्यभिमानवानेव २। तृतीय उभयकरः अर्थकरोऽपि मानकरोऽपि, मानं कुर्वन्नपि आचार्यादेः कार्यसंपादकः ३। चतुर्थो नार्थकरो, न वा मानकरः, अर्थमाचार्यादेर्न किमपि कार्यं करोति, मानम्—अभिमानमपि न करोति ४। अत्र–चतुष्प्रकारकेष्वपि पुरुषेषु मध्ये प्रथमतृतीयौ–अर्थकरोभयकरौ सफलौ, इतरौ-द्वितीयचतुर्थौ–मानकरो नो अर्थकरो नोभयकरश्चेत्येतौ द्वितीयचतुर्थौ पुरुषौ निष्फलौ।

अथ दृष्टान्तमाह—एकस्मिन् नगरे केचिच्चत्वारः पुरुषाः केनाप्यपराधेन राज्ञा निर्विषयीकृताः सन्तो देशान्तरे गत्वा कस्यचिद्राज्ञ' सेवायां स्थितवन्तः। तत्र तेषु चतुर्षु मध्ये एकस्तस्य राज्ञः कार्यं संपादयति नाभिमानं करोति, तथा–राज्ञोऽभ्युत्थानासनदानादिना विनयं च करोति १। द्वितीयो राज्ञः कार्यं तु संपादयति किन्तु–मानं करोति नाभ्युत्थानासनदानादिना कमपि विनयं करोति–'अहमपि राजवंशीयः कुलजात्यादिमानस्मि, अहमपि जाति–कुलादिनाऽनेन समान एवाऽस्मी'–त्यभिमानं करोति २। एतौ द्वौ प्रथमतृतीयभङ्गप्रदर्शितौ पुरुषौ स्तः। शेषयोर्द्वयोर्मध्ये एको मानं करोति–'अहमेतादृशोऽस्मि, मम पूर्वजाः समृद्धिशालिन आसन्' इत्यादिरूपेण मानमात्रं करोति किन्तु न राज्ञः कार्यं सपादयति १, द्वितीयस्तु राज्ञो

न कमपि कार्यं साधयति मानमपि न करोति । एतौ द्वौ द्वितीयचतुर्थभङ्गोक्तौ पुरुषौ स्तः । तत्र राजा च प्रथमतृतीयभङ्गवर्त्तिपुरुषाभ्यां यथायोगं वृत्तिं दत्तवान्, द्वितीयचतुर्थभङ्गवर्त्तिपुरुषाभ्यां न कामपि वृत्तिं दत्तवान् । इति दृष्टान्तः ।

एवमेव पुरुषचतुष्टयदृष्टान्तेन कोऽपि साधुराचार्यस्यार्थं करोति न च मानम्, स चेत्थमाचार्यवैयावृत्त्यादिभेदैर्दशप्रकारं वैयावृत्त्यं संपादयति, अथवा–आचार्यस्य समागच्छतोऽभ्युत्थानम् १, आसनादिदानद् २ कृतिकर्म ३, विश्रामणा ४, उच्चारपात्रकस्य–प्रस्रवणपात्रकस्य श्लेष्मपात्रकस्य चोपनयनम् ७, संस्तारकस्य करणम् ८, आचार्यसमीपे आसनकरणम् ९ इत्यादिप्रयोजनभेदतोऽनेकप्रकारका अर्था भवन्ति, तत्करः अर्थकरः प्रोच्यते १ । द्वितीयो भवति मानकरः, यथा–समागच्छत आचार्यस्याऽभ्युत्थानं न करोति यदि वा–'आचार्येण न मेऽभ्यर्थना कृता न वा मम प्रशंसा कृता' इत्यादिरूपेण मानं करोति न किञ्चित्कार्यं संपादयतीति मानकरो नार्थकरः २ । तृतीय आचार्यस्याऽर्थकरोऽपि मानकरोऽपि आचार्यस्य वैयावृत्त्यादि करोति किन्तु मानवशादभ्युत्थानादि न करोति ३ । चतुर्थो नो अर्थकरो नो वा मानकरः अयमाचार्यस्य द्वयमपि न करोति । तत्र द्वितीयचतुर्थौ नो कर्मनिर्जराया लाभवन्तौ भवतः, न तयोराचार्याः सूत्रमर्थमुभयं वा प्रयच्छन्ति । प्रथमतृतीययोस्तु सूत्रार्थतदुभयस्य निर्जरायाश्च लाभो भवति अर्थकारितया आचार्यस्य मनःप्रसादकत्वात्, । तस्मात् प्रथमतृतीयाभ्यामिव वर्त्तितव्यम् न तु कदाचिदपि द्वितीयचतुर्थाभ्यामिवेति । तदेवं चत्वारः पुरुषजाताः प्रदर्शिताः ॥ सू० ६ ॥

पूर्वमाचार्यस्याऽर्थकरमानकरपुरुषजातचतुर्भङ्गी प्रदर्शिता, सम्प्रति गणमधिकृत्य चतुर्भङ्गीमाह– 'चत्तारि' इत्यादि ।

सूत्रम्—चत्तारि पुरिसजाया पन्नत्ता तंजहा–गणट्ठकरे नामं एगे नो माणकरे १, माणकरे नामं एगे नो गणट्ठकरे २, एगे गणट्ठकरेवि माणकरेवि ३, एगे नो गणट्ठकरे नो माणकरे ॥४॥ सू० ७ ॥

छाया—चत्वारः पुरुषजाताः प्रज्ञप्ताः तद्यथा-गणार्थकरो नाम एको, नो मानकरः १, मानकरो नाम एको नो, गणार्थकरः २, एको गणार्थकरोऽपि मानकरोऽपि ३, एको नो गणार्थकरो नो मानकरः ४॥ सू० ७ ॥

भाष्यम्– 'चत्तारि' चत्वारः–चतुष्प्रकाराः 'पुरिसजाया' पुरुषजाताः–पुरुषप्रकाराः 'पन्नत्ता' प्रज्ञप्ताः । तानेव चतुरो भेदान् दर्शयति–'तंजहा' इत्यादि । 'तंजहा' तद्यथा–'गणट्ठकरे णामं एगे नो माणकरे' गणार्थकरो नाम–एको नो मानकरः तत्र–गणो नाम गच्छः–समुदायः तस्य गणस्य योऽर्थ–कार्यम् तस्य गणकार्यस्य करः–संपादको यः स गणार्थकरः गच्छकार्य–संपादक इत्यर्थः, नो मानकरः गणस्य कार्यं कृत्वाऽपि मानमभिमानं न करोति, एतादृशः

पुरुषः प्रथमः १ । **'माणकरे णामं एगे नो गणट्ठकरे'** मानकरो नाम एको नो गणार्थकरः मानं करोति नो करोति गणस्यार्थं-कार्यम् स च द्वितीयः २ । **'एगे गणट्ठकरेवि माणकरेवि'** ३, एको गणार्थकरोऽपि मानकरोऽपि-गणस्याऽर्थसंपादकोऽपि भवति तथा मानकरोऽपीति तृतीयः ३ । **'एगे णो गणट्ठकरे णो माणकरे'** एको नो गणार्थकरो नो मानकरः, न खलु गणस्याऽर्थं-कार्यमेव करोति न वा मानमभिमान करोतीति चतुर्थः पुरुषः ४

तेषु चतुर्ष्वपि पुरुषजातेषु ये साधोः समानरूपधारिणो मुण्डितशिरस्का भिक्षाटनशीलाः, तथा—दैवचिन्तकाः निदर्शनं दृष्टान्तो भवति । तत्र- दैवचिन्तका नाम ते ये शुभाशुभं राज्ञे कथयन्ति, शकुनादिशास्त्रज्ञा इत्यर्थः, त एवात्र दृष्टान्तः, तथाहि-प्रथमः सः यो हि राज्ञा पृष्टोऽपृष्टो वा शुभाशुभं साधयति, किन्तु-मानं न करोति १ । द्वितीयो मानं करोति न च मानादेव किञ्चित् पृष्टोऽपि कथयति २ । तृतीयो यदि पृच्छति तदा कथयति नो पृच्छति तदा न कथयति ३ । चतुर्थो न किमपि कथयति न वा मानमेव करोति ४ ।

तत्र द्वौ प्रथमतृतीयौ सफलौ, द्वौ च द्वितीयचतुर्थौ विफलौ । एवं दृष्टान्तगतेन प्रकारेण गणेऽपि प्रथमतृतीयौ सफलौ, द्वौ च द्वितीय-चतुर्थौ विफलावेव ज्ञातव्यौ । तेषां चतुर्णामपि साधूनां मध्ये प्रथम आहारोपधिशयनासनादिभिर्गच्छस्योपकारं करोति, न च कदाचिदपि मानं करोति १ । द्वितीयो मानं करोति न च गणधरस्योपकारं करोति २ । तृतीयो गच्छस्योपकारमपि करोति मानमपि करोति ३ । चतुर्थस्तु-न गच्छस्योपकारं करोति न वा मानमेव करोति ४ । त इमे चत्वारो मुनिप्रभेदा भवन्तीति ॥ सू० ७ ॥

अथ गणसंग्रहमधिकृत्य चतुर्भङ्गीमाह—**'चत्तारि पुरिसजाया'** इत्यादि ।

सूत्रम्—चत्तारि पुरिसजाया पन्नत्ता तंजहा—गणसंगहकरे नामं एगे नो माणकरे १ एगे माणकरे नो गणसंगहकरे २, एगे गणसंगहकरेवि—माणकरेवि ३, एगे नो गणसंगहकरे नो माणकरे ४ ॥ सू० ८ ॥

छाया—चत्वारः पुरुषजाताः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा-गणसंग्रहकरो नाम एको न मानकरः १, एको मानकरो नो गणसंग्रहकरः २, एको गणसंग्रहकरोऽपि मानकरोऽपि ३, एको नो गणसंग्रहकरो नो मानकरः ॥ सू० ८ ॥

भाष्यम्—**'चत्तारि पुरिसजाया'** चत्वारः पुरुषजाताः, तत्र-चत्वारः-चतुष्प्रकारकाः पुरुषजाताः-पुरुषाः **'पन्नत्ता'** प्रज्ञप्ताः, तानेव भेदान् दर्शयितुमाह—**'तंजहा'** इत्यादि, **'तंजहा'** तद्यथा—**'गणसंगहकरे णामं एगे नो माणकरे'** गणसंग्रहकरो नाम एको न मान-

करः, तत्र गणस्य–गच्छस्य संग्रहं–द्रव्यभावभेदभिन्नं करोति–संपादयति यः स गणसंग्रहकरः, संग्रहो द्विविधो द्रव्यतो भावतश्च, तत्राऽऽहारवस्त्रपात्रादिकं द्रव्यसंग्रहः, सूत्रार्थज्ञानादिकं भावसंग्रहः, तदुभयमपि संग्रहं संपादयति नो मानकरः–नो–न कथमपि मानकरः आहारवस्त्रपात्रादिना ज्ञानादिना च गच्छस्योपग्रहं करोति किन्तु नाभिमानं करोतीति प्रथमः १ । **'एगे माणकरे नो गणसंगहकरे २'** एको मानकरो नो गणसंग्रहकरः–स्वस्य जातिकुलादेर्मानमेव करोति गणसंग्रहं न करोतीति द्वितीयः २ । **'एगे गणसंगहकरेवि माणकरेवि'** एको गणसंग्रहकरोऽपि मानकरोऽपि गणस्यापि संग्रहं करोति मानमपि करोतीति तृतीय ३ । **'एगे नो गणसंगहकरे नो माणकरे ४'** एको नो गणसंग्रहकरो नो मानकरः, द्वयमपि न करोतीति चतुर्थः ४ ।

अयं भावः–तत्र प्रथमभङ्गीयः साधुः द्रव्यत आहारोपधिशय्यादिद्वारा संग्रहकरो भवति, भावतो ज्ञानादिना संग्रहकरो भवति, ग्रणनायके आचार्येऽसमर्थे सति यदा गुरुः शारीरिकादिसामर्थ्याऽभावेन वाचनादाने शक्तो न भवति तदा शिष्यात्–प्रातीच्छकात् वाचयति एषः प्रथमः १ । द्वितीयस्तु–मानं करोति न तु द्रव्यतो भावतो वा गणस्य संग्रहं करोति २ । तृतीयस्तु–गणस्य द्रव्यतो भावतश्च सग्रहं करोति ३ । चतुर्थस्तु–न द्रव्यतो न भावतो गणस्य संग्रहं करोति ४ । तदेवं चत्वारः पुरुषा भवन्ति ॥ सू० ८ ॥

अथ गणशोभामधिकृत्य चतुर्भङ्गीमाह–**'चत्तारि पुरिसजाया'** इत्यादि ।

सूत्रम्—चत्तारि पुरिसजाया पन्नत्ता, तंजसो गणहाहकरे नामं एगे नो माणकरे १, माणकरे नामं एगे नो गणसोहकरे २, एगे गणसोहकरेवि माणकरेवि ३, एगे नो गणसोहकरे णो माणकरे ४ ॥ सू० ९ ॥

छाया—चत्वारः पुरुषजाताः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा-गणशोभाकरो नाम एको नो मानकरः १, मानकरो नाम एको नो गणशोभाकरः २, एको गणशोभाकरोऽपि मानकरोऽपि३, एको नो गणशोभाकरो नो मानकरः ४ ॥ सू० ९ ॥

भाष्यम्—'चत्तारि' चत्वारः **'पुरिसजाया'** पुरुषजाताः–पुरुषप्रकाराः **'पन्नत्ता'** प्रज्ञप्ताः । तानेव चतुर्भेदान् पुरुषान् दर्शयितुमाह–**'तंजहा'** तद्यथा–**'गणसोहकरे नामं एगे नो माणकरे१'** गणशोभाकरो नाम एको नो मानकरः, तत्र गच्छस्य चतुर्विधसङ्घस्य शोभां गणस्य ख्यातिं प्रवचनप्रभावनारूपां वा करोति स गणशोभाकरः, नो मानकरः न तु कदाचिदपि गणस्य शोभाकरणात् स्वमनसि मानम् अभिमानं करोति, एतादृशः प्रथमः पुरुषः १ ।

'माणकरे नामं एगे नो गणसोहकरे२' मानकरो नाम एको नो गणशोभाकरः, मानमेव करोति किन्तु कदाचिदपि गणस्य शोभां न करोति, एष द्वितीयः २ । **'एगे गण-**

सोहकरेवि माणकरेवि' एकस्तृतीयः सः–यो गणशोभाकरोऽपि मानकरोऽपि शोभा-मानयोरुभयोरपि कारक' स तृतीयः ३ । **'एगे नो गणसोहकरे नो माणकरे'** एकश्चचतुर्थः स पुरुषो यो न कदाचिदपि गणशोभाकरो न वा मानकरो भवति उभयवर्जितश्चतुर्थः ४ । अत्रापि–चतुर्पु भङ्गेषु मध्ये प्रथमतृतीयौ सफलौ, द्वितीयचतुर्थभङ्गौ विफलाविति ॥

तत्र–गणशोभाकरो नाम–यो गणं शोभयति, शोभा खलु वादिजयप्रवचनोड्डाहनिवा-रणादिभिर्भवति, तथाहि–वादेन वादिनं पराजित्य गणं शोभयति, उत्सूत्रप्ररूपकं सूत्रार्थं सम्यक् प्रदर्श्य जिनमार्गे स्थापयति, प्रवचनाक्षेपकान् सूत्रप्रमाणं प्रदर्श्य प्रवचनप्रभावनां वर्धयति धर्म-कथादिभिर्निमित्तैः, तथा विद्यादिभिश्चोन्मार्गगतान् यथायोगं जिनधर्मे आनयति, इत्येवंप्रकारेण सदा गणं शोभयति ।

अयं भावः—यदा कदाचित् सकलदर्शनपारदृश्वा वादी समागत्य गणनायकस्य पुरत एवं वदति–भो आचार्यमतप्रचारक ! साधो ! यदि त्वयि पाण्डित्यं भवेत्, यदि वा पाण्डित्येन स्वकीयं मतं लोके व्यवस्थापयसि, तर्हि राजादिपरिवृतपरिषदि मया सह वादं कुरु, यदि मां विजेष्यसि तदा त्वन्मतस्य संस्थापनं स्यात्, अहं तव धर्मं स्वीकरिष्यामि, नो चेत् केवलं विप्रतारकमेव त्वां मन्ये । तदा यदि प्रतिवादिना वादं कर्तुं स गणनायको न शक्तो भवेत् तदा महती शासनस्याऽप्रतिष्ठा स्यात् इति मन्यमानो वादनिपुणः साधुस्तं दुर्दान्तवादिनं सर्वज्ञ-सिद्धान्तोक्तमनेकान्तवादं पुरस्कृत्य पराजयति, पराजित्य च तं वादिन जिनधर्मे स्थापयित्वा शास-नस्य शोभां वर्धयति । एवंप्रकारेण स गणस्य शोभाकरो भवति । न केवलं वादेनैव पराजित्य गणशोभाकरः किन्तु धर्मकथां कृत्वा गणं शोभयति । तथा निमित्तादिशास्त्रं सम्यग् ज्ञात्वा निमित्तादिकथनद्वारा राजानमावर्जयित्वा शासनस्य ख्याति लोके सपादयति । एवं विद्यादि-बलात् महतोऽपि सङ्घप्रयोजनस्य साधनाद् गणं शोभयति । यदा कदाचित् सङ्घस्य महत्कार्यं समुपस्थितं भवेत् कार्यं च तादृशं प्रकारान्तरेण साधितं न भवति, तदा स साधुः विद्याति-शयप्रभावेण सङ्घस्य तादृशं कार्यं साधयन् गणशोभाकरो भवतीति ॥ सू० ९ ॥

अथ–शोधिमधिकृत्य चतुर्भङ्गीमाह–'चत्तारि पुरिसजाया' इत्यादि ।

सूत्रम्—चत्तारि पुरिसजाया पन्नत्ता, तंजहा गणसोहिकरे णामं एगे नो माण-करे १, एगे माणकरे नो गणसोहिकरे २, एगे गणसोहिकरेवि माणकरेवि ३, एगे नो गणसोहिकरे नो माणकरे ॥ सू० १० ॥

छाया—चत्वारः पुरुषजाताः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा–गणशोधिकरो नाम एको नो मान-करः १, एको मानकरो नो गणशोधिकरः २, एको गणशोधिकरोऽपि मानकरोऽपि ३, एको न गणशोधिकरो नो मानकरः ॥ सू० १० ॥

भाष्यम्—'चत्तारि' चत्वारः चतुःसंख्यकाः 'पुरिसजाया पन्नत्ता' पुरुषजाता पुरुषप्रकाराः प्रज्ञप्ताः, तानेव चतुरः प्रकारान् दर्शयितुमाह—'तंजहा' इत्यादि । 'तंजहा' तद्यथा—'**गणसोहिकरे णामं एगे नो माणकरे १**' गणशोधिकरो नाम एको नो मानकरः । तत्र—गणस्य शोधिं प्रायश्चित्तदानेन धर्मप्ररूपणया च विशुद्धिं करोतीति गणशोधिकरो न तु मानकरः १ । '**एगे माणकरे नो गणसोहिकरे २**' एको मानकरो भवति नो न तु कदाचिदपि गणस्य शोधिकरो भवति २ । '**एगे गणसोहिकरेवि माणकरेवि ३**' एको गणशोधिकरोऽपि मानकरोऽपि ३ । '**एगे नो गणसोहिकरे नो माणकरे ४**' एको नो गणशोधिकरो नो मानकरः ४ । अत्रापि प्रथमतृतीयभङ्गौ सफलौ, द्वितीयचतुर्थभङ्गौ विफलाविति ।

अत्रायं दृष्टान्तः—

एकस्मिन् नगरे जनपदविहारेण विहरन्त आचार्या अनेकैर्मुनिसङ्घाटकैः सह समवसृताः । तत्र साधुसङ्घाटकाः पृथक् २ भिक्षार्थं ग्रामे प्रविष्टवन्तः, तत्रैकस्मिन् गृहस्थगृहे एकः संघाटको भिक्षार्थं गतः, तत्र तस्य गृहे तदा प्राघुणकादिनिमित्तं बहुलं मोदकानां भोज्यं सम्पादितमासीत् ततस्तस्मै साधुसङ्घाटकाय विपुला मोदकाः प्रतिलाभिताः । तदनन्तरमकस्माद् द्वितीयः सङ्घाटकोऽपि तत्रैव गतः, तेनापि विपुला मोदका लब्धाः । एवं तृतीयश्चतुर्थः सङ्घाटकोऽपि तत्र गतः मोदकांश्च लब्धवान् । आगताः सर्वे उपाश्रये, आचार्येभ्यो भिक्षा प्रदर्शिता । सर्वेषां सदृशभिक्षालाभेन तेषां साधूनां मनसि शङ्का जाता यदेतेषां मोदकानामुद्गमा अशुद्धाः संभवेयुः साधूनागतान् श्रुत्वा साध्वर्थमिमे संपादिता इति लक्ष्यते । इति शङ्किते गत्वा तद्गृहं द्रष्टव्यं स प्रष्टव्यश्च भवेत् भो श्रमणोपासक ! अद्य तव गृहे सखडिर्वर्तते प्राघुणका वा समागताः ?, अथवा साधूनां कृते मोदकाः सपादिताः क्रीता वेति । तत्र च गृहे भोजनवेलायां न कोऽपि प्रवेशं लभते, क एतादृशः साहसिकः साधुर्यो भोजनवेलायां गृहस्थगृहे प्रविशेत्, पृच्छां विना एतदशनादि साधुभिर्न भोक्तव्यम्, एष साधुकल्पः । तत्रैकः ओजस्वी साधुः तद्गृहजनानां परिचितश्च स तस्मिन् गृहेऽनिवारितप्रसरस्तद् दुष्प्रवेशं गृहं प्रविशति । प्रविश्य च तेषां मोदकानामुद्गमं पृच्छाप्रतिपृच्छादिना विज्ञाय शुद्ध एषामुद्गमः, इति निशङ्कितं करोति । आगत्याऽऽचार्यपादमूले निवेदयति न मानं करोति, एष प्रथमः पुरुषजातो योऽमानेन गत्वाऽऽहारस्य शोधिं कृतवान् तेनायं शोधिकरो नो मानकर इति १। एवं द्वितीयः केवलं मानकरः किन्तु शोधिकरणेऽसमर्थः २। तृतीयः शोधिमपि करोति, कृत्वा मानमपि करोति ३। चतुर्थस्तु नोभयकरणसमर्थः ४। इति भङ्गचतुष्टयभावना ॥ सू० १० ॥

पूर्वं शोधिमाश्रित्य चतुर्भङ्गी प्रोक्ता. तत्र शोधिरिति वा धर्म इति वा एकार्थः, धर्मश्च रूपतो भावतश्चेति द्विधा भवति ततो रूपधर्मोभयमधिकृत्य चतुर्भङ्गीमाह—'**चत्तारि**' इत्यादि ।

सूत्रम्—चत्तारि पुरिसजाया पन्नत्ता, तंजहा—रूवं नाम एगे जहइ नो धम्मं१, धम्मं नाम एगे जहइ नो रूवं२, एगे रूवंवि जहइ धम्मंवि जहइ३, एगे नो रूवं जहइ नो धम्मं जहइ४ ॥ सू० ११ ॥

छाया—चत्वारः पुरुषजाताः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा-रूपं नाम एको जहाति नो धर्मम् १, धर्मं नाम एको जहाति नो रूपम् २; एको रूपमपि जहाति, धर्ममपि जहाति ३. एको नो रूपं जहाति नो धर्मं जहाति४ ॥सू० ११॥

भाष्यम्--'चत्तारि' चत्वारः 'पुरिसजाया' पुरुषजाताः पुरुषप्रकाराः 'पन्नत्ता' प्रज्ञप्ताः, तानेव चतुरो भेदान् दर्शयितुमाह—'तंजहा' इत्यादि, 'तंजहा' तद्यथा 'रूवं नाम एगे जहइ नो धम्मं' रूपं नाम एको जहाति नो धर्मं जहाति, प्रयोजने समुपस्थिते सति रूप—स्वकीयं लिङ्गं जहाति-परित्यजति, स्वलिङ्गं परित्यज्यापि साधयति कार्यम्, किन्तु धर्मं श्रुत-चारित्रलक्षणं कदापि न जहाति, इति प्रथमः १ ।

'धम्मं नाम एगे जहइ नो रूवं' धर्मं नाम एको जहाति नो रूपम्, यथा-पार्श्वस्थः इति द्वितीयः २ ।

'एगे रूवंवि जहइ धम्मंवि जहइ' एको रूपमपि जहाति धर्ममपि जहाति, यथा —एकान्ततो मिथ्यादृष्टिरिति तृतीयः ३ ।

'एगे नो रूवं जहइ नो धम्मं जहइ' एको नो रूपं जहाति नो धर्मं जहाति यथा— ज्ञानादिरत्नत्रयाऽऽराधकः, इति चतुर्थः ४ ।

अत्र यः सदोरकमुखवस्त्रिकारजोहरणादिरूपो मुनिवेषः स रूपमुच्यते, तथा धर्मो ज्ञान-दर्शन-चारित्रलक्षणः, धर्मशब्देन त्रयाणां रत्नानामेव ग्रहणं भवति ।

अयं भावः—कश्चिद् भावतो ज्ञानादिरत्नत्रयसमन्वितोऽशिवादि—मिथ्यादृष्टिराजादि—कारण-वशाद् अन्यलिङ्गं गृहिलिङ्गं वा प्रतिपद्यमानस्त्यक्तलिङ्गोऽत्यक्तधर्मश्च कथ्यते. । अत्र दृष्टान्तः—

आसीत् कस्मिंश्चिन्नगरे कनकदत्तो नाम राजा महामिथ्यादृष्टिर्नास्तिकवादी वावदूकः वाचालः पण्डिताभिमानी पण्डितैः सह वादं दत्त्वा तद्बुद्धिमेवोपजीव्य पण्डितान् अपमानयति । अथ कदाचित् कालान्तरे प्रवृद्धमिथ्यावासनः सर्वज्ञमतोपासकान् साधून् अपवद्रावयितुं प्रवृत्तः । स चाहूय साधून् कथयति—यदि युष्माकं धर्मः सत्यस्तर्हि भवद्भिर्मया सह वादः क्रियताम् । यदा साधवो वादाय समागच्छन्ति तदा किञ्चिद्वादं कृत्वा तानपमान्य स्वदेशादेव निष्का-सयति । ततस्तस्यैतादृशमपद्रावणकरणेन सर्वेऽपि साधव. श्रावकाश्च परमोद्विग्ना जाताः, पर-स्परं विचारणां च कुर्यु.—कथमेतस्य राज्ञो वादे पराजयः स्यात् अयं पण्डिताभिमानी दुःखायति साधून् । ततस्तत्रासीत् कश्चित् वादलब्धिसम्पन्नः खेचरलब्धिमांश्च साधुः, सः 'संघस्य अपमानो

भवती'ति विचार्य स्वकीयलिङ्गं परित्यज्य अन्यलिङ्गं विधाय वादकरणाय राजसमीपं गतवान्। गत्वा च तेन निवेदितम्–यदेकः साधुर्वादाय समागत.। तच्छ्रुत्वा सञ्जातकुतूहलो राजा वादकरणाय साधुमाहूतवान्, समागतः स साधुर्वादाय। तदनन्तरं द्वयोः साधुराज्ञोर्वादः प्रचलितः, प्रचलिते वादे राजाऽल्पमतित्वात् निरुत्तरो जातः। साधुश्च वादलब्धिसम्पन्नो राजानं मूकवद् वचनरहितं कृतवान्। तदनन्तरं स राजाऽल्पशक्तिमत्त्वात्, अल्पमतिकत्वाच्च स्वपक्षं निर्वाहयितुमसमर्थः क्रोधाग्निसतप्तः साधोर्वचसाऽपमानकरणे प्रवृत्तः। ततो राजसमीपतोऽपमानं ज्ञात्वा स साधुर्वाददर्पस्फोटनाय राज्ञो मस्तकं पादेनाऽऽक्रम्य वायुरिव आकाशे उत्प्लुत्य तत्स्थानात् पलायनं कृत्वा स्वस्थानमागतः। एष प्रथम. पुरुपस्त्यक्तस्वलिङ्गोऽत्यक्तधर्मा १।

द्वितीयस्त्यक्तधर्माऽत्यक्तरूपः, स खलु स्वलिङ्गे सति प्रतिपत्तव्यः, स च पार्श्वस्थादीनामन्यतमो निष्कारणप्रतिसेवी अवधावितुकामो वा ज्ञातव्यः, तस्य भावतस्त्यक्तधर्मत्वात् स्वलिङ्गस्य च धारणात् २। तृतीय उभयत्यक्तः, रूपं साधुवेषमपि त्यजति श्रुतचारित्ररूपं धर्ममपि त्यजति, मज्ञातैकान्तमिथ्यादृष्टिर्गृहिलिङ्गे वर्त्तमानो ज्ञातव्य' ३। चतुर्थस्तु उभयसहितः साधुवेषमपि न त्यजति स्वधर्ममपि न त्यजति, तत्र स्वलिङ्गेन सदोरकमुखवस्त्रिकारजोहरणादिरूपेण युक्तः धर्मेण–ज्ञान–दर्शन–चरित्र–लक्षणरत्नत्रयेण युक्तः स्वमतसिद्धः श्रमणः ४ ॥ सू० ११ ॥

अथ-गणमर्यादां धर्मं चाधिकृत्य चतुर्भङ्गीमाह–'चत्तारि' इत्यादि.।

सूत्रम्––चत्तारि पुरिसजाया पन्नत्ता, तंजहा–धम्मं नामेगे जहइ नो गणसंठिइं १, गणसंठिइं नामेगे जहइ नो धम्मं २, एगे धम्मंपि जहइ गणसंठिइंपि जहइ ३, एगे नो धम्मं जहइ नो गणसंठिइं ४ ॥ सू० १२ ॥

छाया—चत्वारः पुरुपजाताः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा-धर्मं नाम एको जहाति नो गणसंस्थितिम् १, गणसंस्थितिं नाम एको जहाति नो धर्मम् २, एको धर्ममपि जहाति गणसंस्थितिमपि जहाति ३, एको नो धर्मं जहाति नो गणसंस्थितिम् ४ ॥ सू० १२ ॥

भाष्यम्—'**चत्तारि पुरिसजाया पन्नत्ता**' चत्वारः पुरुषजाताः–पुरुषप्रकाराः प्रज्ञप्ताः। तानेवाह–'**तंजहा**' तद्यथा--'**धम्मं नामेगे जहइ नो गणसंठिइं**'धर्मं नाम एको जहाति नो गणसंस्थितिम्। तत्र गणस्य गच्छस्य संस्थितिः–मर्यादा यथा–तीर्थंकरस्येयमाज्ञा–यत् अन्यगच्छीयो वाचनाग्रहणयोग्यः साधुर्भवेत्तदा तस्य तीर्थंकराज्ञाप्रमाणेन सूत्रवाचनां दातुं कल्पते इति, किन्तु कश्चिद् गच्छ. स्वच्छन्दतया तीर्थंकराज्ञाविरुद्धां स्वगच्छस्य मर्यादां कुर्यात्-यद् अन्यगच्छीय योग्यमपि साधुं न वाचयेदिति। एवमेकः पुरुषो धर्मं तीर्थंकराज्ञारूपं जहाति–योग्यमप्यन्यगच्छीयं साधुं न वाचयति, किन्तु गणसंस्थितिम् अन्यगच्छीयसाधुवाचनादाननिषेधरूपां गणमर्यादां न जहाति, एष प्रथमो भङ्गः १। द्वितीयो गणसंस्थितिं जहाति योग्यमन्यगच्छीयं साधुं वाचयति, तेनाऽन्यगच्छीयस्य वाचनादाननिषेधरूपां मर्यादा त्यक्तवान् किन्तु

धर्मं जिनाज्ञारूपं यद् योग्यं साधुमन्यगच्छीयं वाचयेदित्येतादृशं धर्मं न त्यक्तवान्, एष द्वितीयः २ । तृतीयो धर्म—गणसंस्थितिरूपमुभयमपि जहाति, यथा अयोग्यस्य वाचनादानाद्धर्मं त्यक्तवान्, अन्यगच्छीयस्य वाचनादानाद् गणसंस्थितिमपि त्यक्तवान्, एष तृतीयः ३ । चतुर्थः पुनरुभयमपि न त्यजति, यथा—अन्यगच्छीयसाधोः शिष्यम् 'अयं मेधावी प्रवचनोपग्रहकरो भविष्यतीत्यादिगुणयुक्तमुपलभ्य तच्छेदप्रायश्चित्तदानेन स्वशिष्यं कृत्वा वाचयति तेन धर्मं तीर्थंकराज्ञारूपं न त्यक्तवान्, स्वशिष्यत्वेन कृतस्य वाचनादानाद् अन्यगच्छीयवाचनादाननिषेधरूपां गणमर्यादामपि न त्यक्तवान्, एष चतुर्थः ४ । एतमुभयं—गणसंस्थितिं धर्मं चावलम्बमानं महापुरुष वन्दामहे । इति सूत्रस्पष्टार्थः ॥ सू० १२ ॥

अथ प्रियधर्म—दृढधर्मेतिपदद्वयमधिकृत्य चतुर्भङ्गीमाह—'चत्तारि' इत्यादि ।

सूत्रम्—चत्तारि पुरिसजाया पन्नत्ता, तंजहा-पियधम्मे णामं एगे नो दढधम्मे १, दढधम्मे नामं एगे, नो पियधम्मे २, एगे पियधम्मेवि. दढधम्मेवि, ३, एगे नो पियधम्मे नो दढधम्मे ४, ॥ सू० १३ ॥

छाया—चत्वारः पुरुषजाताः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा--प्रियधर्मा नामैको नो दृढधर्मा १, दृढधर्मा नामैको नो प्रियधर्मा २, एकः प्रियधर्माऽपि दृढधर्माऽपि ३, एको नो प्रियधर्मा नो दृढधर्मा ४ ॥ सू० १३ ॥

भाष्यम्—**'चत्तारि'** चत्वारः **'पुरिसजाया पन्नत्ता'** पुरुषजाताः--पुरुषप्रकाराः प्रज्ञप्ताः, तानेव चतुष्प्रकारान् दर्शयितुमाह—**'तंजहा'** इत्यादि, **'तंजहा'** तद्यथा—**'पियधम्मे नामं एगे नो दढधम्मे'** प्रियधर्मा नामैको नो दृढधर्मा, तत्र- प्रियः—सर्वेभ्योऽपि अभिलाषयोग्यो धर्मो यस्य स प्रियधर्मा, नो दृढधर्मा, धर्मे दृढा—निश्चला मतिर्यस्य स तथा, तादृशो न, सोऽयं प्रथमः १, **दढधम्मे णाममेगे नो पियधम्मे २'** दृढधर्मा धर्मे दृढा मतिर्भस्य स तथा, तादृशः किन्तु प्रियधर्मा न, धर्मस्तु न तादृशः प्रियः २ । **'एगे प्रियधम्मेवि दढधम्मेवि'** एकः प्रियधर्माऽपि दृढधर्माऽपि, स चायं तृतीयः ३ । **'एगे नो पियधम्मे नो दढधम्मे ४'** एकः पुरुषो न प्रियधर्मा न वा—दृढधर्मा, एष चतुर्थः ४ ॥

अत्रायं भावः—प्रियधर्मा सः यो यस्माद् वाचनादि गृह्णाति तस्य द्रव्यत आहारादिना, भावतो मन.सुप्रणिधानादिना वैयावृत्त्ये उपतिष्ठते न कालान्तरेऽन्यस्योपतिष्ठते, दृढधर्मा तु सर्वेषामविशेषेण वैयावृत्त्ये उपतिष्ठते सर्वत्र निरतिचारश्चेति, अयं प्रियधर्म—दृढधर्मयोर्विशेषः । प्रथमभङ्गभावना यथा—प्रथमः पुरुषो दशप्रकारकस्य वैयावृत्त्यस्याऽग्रे वक्ष्यमाणस्याऽन्यतमस्मिन् वैयावृत्त्ये प्रियधर्मतया झटित्युद्यमं करोति किन्तु अदृढधर्मतयाऽत्यन्तं न निर्वहति तस्याल्पधृतिवीर्यत्वादिति प्रथमो भङ्गो भवति १ ।

द्वितीयस्तु वैयावृत्यनिर्वाहकत्वाद् दृढधर्मा यो गृहीतं वैयावृत्त्यं यावत्कालं तदावश्यकता भवेत्तावत्कालपर्यन्तं निर्वाहयति, नो प्रियधर्मा योऽप्रियधर्मतया महता कष्टेन कथं कथमपि प्रथमं वैयावृत्त्यं ग्राह्यते सर्वसाधारणवैयावृत्त्यकरणभावराहित्यात्, स एष द्वितीयभङ्गवर्त्ती २। उभयतः कल्याणकरस्तृतीयभङ्गवर्त्ती ३। चतुर्थस्तु न प्रियधर्मा नापि दृढधर्मा, इत्याकारको गच्छनिराकृतो ज्ञातव्यः ४ ॥ सू० १३ ॥

साम्प्रतमाचार्यपदमधिकृत्य चतुर्भङ्गीमाह–'चत्तारि' इत्यादि ।

सूत्रम्—चत्तारि आयरिया पन्नत्ता, तंजहा–पव्वायणायरिए नामं एगे णो उवट्ठावणायरिए १, उवट्ठावणायरिए नामं एगे नो पव्वायणायरिए २, एगे पव्वायणायरिएवि उवट्ठावणायरिएवि ३, एगे नो पव्वायणायरिए नो उवट्ठावणायरिए ४ धम्मायरिए ४ ॥ सू० १४ ॥

छाया—चत्वार आचार्याः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा- प्रव्राजनाचार्यो नामैको नो उपस्थापनाचार्यः १, उपस्थापनाचार्यो नामैको नो प्रव्राजनाचार्यः २, एकः प्रव्राजनाचार्योऽपि उपस्थापनाचार्योऽपि ३, एको नो प्रव्राजनाचार्यो नो उपस्थापनाचार्यो धर्माचार्यः ४ ॥ सू० १४ ॥

भाष्यम्—'चत्तारि' चत्वारः आयरिया पन्नत्ता' आचार्याः–गणनायकाः तत्र–आचार्यलक्षणं यथा–

आचिनोति च शास्त्रार्थम्, आचारे स्थापयत्यपि ।
स्वयमाचरते यस्मात्, तस्मादाचार्य उच्यते ॥१॥

अस्यार्थः-यस्मात् कारणात् शास्त्रार्थ–शास्त्रप्रतिपाद्यं वस्तु–पदार्थजातम् आचिनोति–एकत्रीकरोति–शास्त्रप्रतिपादितपदार्थजातं स्वमनसि अवधारयति, तथा शास्त्रप्रतिपादितसाधुमर्यादापरिभ्रष्टान् साधून् आचारे–शास्त्रप्रतिपादितव्यवहारे स्थापयति, शास्त्रप्रतिपादितपदार्थान् जीवाजीवादिकान्–अवबोधयति, तथा स्वयमाचरति–शास्त्रप्रतिपादितं समितिगुप्त्यात्मकं श्रमणधर्ममाचरति, स्वयं पालयति, तस्मात्कारणात् स आचार्य इति कथ्यते।

एतादृशा आचार्याश्चतुष्प्रकारकाः प्रज्ञप्ताः। सम्प्रति तानेव चतुरो भेदान् दर्शयितुमाह–'तंजहा' इत्यादि, 'तंजहा' तद्यथा–'पव्वायणायरिए नामं एगे नो उवट्ठावणायरिए' प्रव्रजनाचार्यो नामैको न तूपस्थापनाचार्यः, केवलं प्रव्राजयति–सम्यक्त्वोत्पादनेन दीक्षोन्मुखं कृत्वा सामायिकचारित्रं ददाति न तु छेदोपस्थापनीयचारित्रे उपस्थापयति स प्रथमः १।

'उवट्ठावणायरिए नामयेगे नो पव्वायणायरिए' उपस्थापनाचार्यो नामैको नो प्रव्राजनाचार्यः, सम्यक्त्वे-उपस्थितान् पञ्चमहाव्रते उपस्थापयति न प्रव्राजयति-न दीक्षां ददातीति द्वितीयः २।

'एगे पव्वायणायरिएवि उवट्ठावणायरिएवि ३' एकः प्रव्राजनाचार्योऽपि उपस्थापनाचार्योऽपि, स एव प्रव्राजयत्यपि स एवोपस्थापयत्यपि, इति तृतीयः ३ ।

'एगे नो पव्वायणायरिए नो उवट्ठावणायरिए ४, एको नो प्रव्राजनाचार्यो नो न वा उपस्थापनाचार्यः। ननु य उभयविकल' स कथमाचार्य' प्रोच्यते पङ्गुवदुभयचरणहीनत्वात्? तत्राह- **'धम्मायरिए'** धर्माचार्यः, एष नो प्रव्राजयति न वा उपस्थापयति किन्तु केवलं धर्ममेव श्रुतचारित्रलक्षणं ग्राहयति ततो धर्मदेशकत्वाद् धर्माचार्यः । एप चतुर्थः धर्मोपदेशलब्धिमान् श्रमणो भवतीति ।

अयं भावः--प्रथमभङ्गे प्रव्राजनाचार्यः सूचितो भवति १ । द्वितीयभङ्गे उपस्थापनाचार्यः सूचितः २ । तृतीयभङ्गे--उभयः सूचितः प्रव्राजनाचार्य उपस्थापनाचार्यश्चेति३, तत्र--प्रथमस्याऽऽचार्यस्याऽऽत्मार्थम् परार्थं वा केवलप्रव्राजनाधिकारः, य आत्मनिमित्तं परनिमित्तं वा केवलं प्रव्राजयति स प्रथमः प्रव्राजनाचार्यः १ । द्वितीयस्तु प्रव्रजितं केवलमुपस्थापयति, प्रव्रजितस्य पुरुषस्योपस्थापनां महाव्रतारोपणरूपा करोति २ । तृतीयस्तु पुनराचार्यः स्वात्मार्थं परार्थं वा प्रव्राजनमुपस्थापनं चोभयमपि करोति ३ । यस्तु--नो प्रव्राजयति न वा महाव्रतेषु उपस्थापयति स चतुर्थः, एष धर्मोपदेशकः केवलं जिनोक्तं धर्मं ग्राहयतीति ४ ।

अत्रैवं योजना विज्ञेया--एकः कश्चिद् धर्माचार्यः यः प्रथमतया धर्मं ग्राहयति १ । द्वितीयः प्रव्राजनाचार्यो यः प्रव्राजयति २ । तृतीयो गुरुरुपस्थापनाचार्यो यो हि प्राणातिपातविरमणादिपञ्चमहाव्रतेषूपस्थापयति ३ । एषु त्रिषु कश्चित् त्रिभिरपि संपन्नो भवति, यथा--कदाचित्स एव धर्मंग्राहयति,स एव प्रव्राजयति, स एव उपस्थापयत्यापि महाव्रतेषु कश्चिद् द्वाभ्यामेव संपन्नो भवति, यथा--स एव धर्मं ग्राहयति, स एव प्रव्राजयति; अथवा प्रव्राजयति उपस्थापयति च। कश्चिदेकेनैव गुणेन युक्तो भवति, यथा-यो धर्ममेव ग्राहयति, कश्चित् केवलं प्रव्राजयत्येव, कश्चित् केवलमुपस्थापयत्येवेति ॥ सू० १४ ॥

अथ पुनराचार्यप्रकारानेवाधिकृत्य चतुर्भङ्गीमाह--'चत्तारि' इत्यादि ।

सूत्रम्--चत्तारि आयरिया पन्नत्ता, तंजहा--उद्देसणायरिए नामं एगे नो वायणायरिए १, वायणायरिए नामं एगे नो उद्देसणायरिए २, एगे उद्देसणायरिएवि वायणायरिएवि ३, एगे नो उद्देसणायरिए नो वायणायरिए धम्मायरिए ४ ॥ सू० १५ ॥

छाया--चत्वार आचार्याः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा--उद्देशनाचार्यो नामैको नो वाचनाचार्यः १, वाचनाचार्यो नामैको नो उद्देशनाचार्यः २, एक उद्देशनाचार्योऽपि वाचनाचार्योऽपि ३, एको नो उद्देशनाचार्यो नो वाचनाचार्यो धर्माचार्यः ४ ॥ सू० १५ ॥

भाष्यम्--'चत्तारि' चत्वारः **'आयरिया पन्नत्ता'** आचार्याः । प्रज्ञप्ताः तानेव चतुरो भेदान् दर्शयति--**'तंजहा'** इत्यादि, **'तंजहा'** तद्यथा--**'उद्देसणायरिए नामं एगे नो वायणायरिए १'** उद्देशनाचार्यो नाम--एको नो वाचनाचार्यः प्रथम', य उद्दिशति श्रुतोक्तक्रियाकलापादि-

शिक्षणतो द्वादशाङ्गादिश्रुताध्ययनयोग्यतां संपादयति किन्तु श्रुतं न वाचयति–तादृशश्रुतस्य वाचनां न ददाति १ । **'वायणायरिए नामेगे नो उद्देसणायरिए २'** वाचनाचार्यो नामैको नो उद्देशनाचार्यः, श्रुतवाचनां ददाति नतूद्दिशति–न श्रुताध्ययनयोग्यतां संपादयति २ । **'एगे उद्देसणायरिएवि वायणायरिएवि ३'** एक उद्देशनाचार्योऽपि वाचनाचार्योऽपि–उद्दिशत्यपि वाचयत्यपि ३ । **'एगे नो उद्देसणायरिए-नो वायणायरिए-धम्मायरिए ४'** एकस्तु नो उद्देशनाचार्यो न वा वाचनाचार्यः किन्तु धर्माचार्यः ।

अयं भावः—तत्रैकः प्रथमः श्रुतमुद्दिशति–श्रुतगुणान् प्रदर्शयति परन्तु न वाचयति, यथा-मङ्गलबुद्धया प्रथमत आचार्य उद्दिशति १, तदनन्तरमुपाध्यायो वाचयति २। अत्राचार्यः प्रथमभङ्गवर्ती १, उपाध्यायस्तु, द्वितीयभङ्गवर्ती, आचार्येणोद्दिष्टमुपाध्यायो वाचयति २ । य एवोद्दिशति स एव वाचयति, इति तृतीयो भङ्गः ३ । यो नो उद्दिशति श्रुतं न वा वाचयति, इत्येषश्चतुर्थ. ४ । एष धर्माचार्यो धर्मोपदेशकत्वात्, स पुनः श्रुताध्येता गृहस्थो वा श्रमणो वा ज्ञातव्यः ॥ सू० १५ ॥

अथान्तेवासिनोऽधिकृत्य चतुर्भङ्गीमाह—**'चत्तारि'** इत्यादि ।

सूत्रम्—धम्मायरियस्स चत्तारि अन्तेवासी पन्नत्ता तंजहा-उद्देसणंतेवासी नामं एगे नो वायणंतेवासी १, वायणंतेवासी नामं एगे नो उद्देसणंतेवासी २, एगे उद्देसणंतेवासीवि वायणंतेवासी वि ३, एगे नो उद्देसणंतेवासी नो वायणंतेवासी-धम्मंतेवासी ४ ॥ सू० १६ ॥

छाया—**धर्माचार्यस्य चत्वारोऽन्तेवासिनः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा-उद्देशनान्तेवासी नामैको नो वाचनान्तेवासी १, वाचनान्तेवासी नामैको नो उद्देशनान्तेवासी २, एक उद्देशनान्तेवासी अपि वाचनान्तेवासी अपि ३, एको नो उद्देशनान्तेवासी नो वाचनान्तेवासी धर्मान्तेवासी ४ ॥ सू० १६ ॥**

भाष्यम्——**'धम्मायरियस्स चत्तारि अंतेवासी पन्नत्ता'** धर्माचार्यस्य चत्वारोऽन्तेवासिनः–शिष्याः प्रज्ञप्ताः, तत्र–अन्तं नाम–अन्तिकमभ्यास आसन्न समीपं चेत्येकोऽर्थः, तत्पुनरन्तः–समीपे वसति–शिक्षाग्रहणाय गुरुसमीप वसति सोऽन्तेवासी आचार्यं प्रतीत्यैव श्रुतग्रहणनियमात् । तथा चाऽऽचार्यस्याऽन्ते–समीपं वसतीत्येवंशीलो य. सोऽन्तेवासी, ते चान्तेवासिन आचार्यवदेव चतुष्प्रकारका भवन्ति । आचार्यस्य चतुर्विधत्वेन तदन्तेवासिनामपि चतुर्विधत्वसंभवात्, तानेव चतुरो भेदान् दर्शयति–तंजहा' इत्यादि, **'तंजहा'** तद्यथा-**'उद्देसणंतेवासी नामं एगे नो वायणंतेवासी'** उद्देशनान्तेवासी नाम-एको नो वाचनान्तेवासी, तत्र–उद्देशनमुद्देशः सूत्रोक्तशिक्षेत्यर्थः । केवलमुद्देशमेवाधिकृत्य योऽन्तेवासी स उद्देशनान्तेवासी कथ्यते. एतादृश एकः किन्तु नो वाचनान्तेवासी वाचनामधिकृत्य नो अन्तेवासी वाचनाग्रहणबुद्धयाऽन्तेवासी नेति प्रथमः १।

'वायणंतेवासी नामं एगे नो उद्देसणंतेवासी २, वाचनान्तेवासी नाम एको न तु उद्देशनान्तेवासी, यः केवलं वाचनामेव गृह्णाति न तूद्देशमिति द्वितीयः २ । **'एगे उद्देसणंतेवासीवि वायणंतेवासीवि'** एक उद्देशनान्तेवासी-अपि, वाचनान्तेवासी-अपि, य उभयमपि गृह्णाति-उद्देशमपि गृह्णाति तथा श्रुतस्य वाचनामपि गृह्णाति स तृतीयः ३ । **'एगे नो उद्देसणंतेवासी नो वायणंतेवासी धम्मंतेवासी ४'** एको नो उद्देशं गृह्णाति, न वा वाचनामेव श्रुतस्य गृह्णाति किन्तु केवलं धर्मश्रवणमात्रमधिकृत्याऽऽचार्यान्तिके वसति स धर्मान्तेवासीति चतुर्थः ४ ।

अय भावः— यो यस्यान्ते-उद्देशनमेवाधिकृत्य वसति स तस्याचार्यस्योद्देशनान्तेवासी प्रथमः । यो यस्याचार्यस्य अन्तिके केवलं वाचनामेवाधिकृत्य वसति स तस्य वाचनान्तेवासी द्वितीयः २ । यस्तु यस्याऽऽचार्यस्यान्तिके उद्देशनं वाचनां चेत्युभयमपि अधिकृत्य वसति, स तस्याचार्यस्योभयान्तेवासी, इति तृतीयः ३ । यस्तु यस्याचार्यस्य समीपे नो उद्देशनं नाऽपि वाचनामधिकृत्य वसति, किन्तु—धर्मश्रवणमात्रमधिकृत्यैव वसति, स तं प्रति उभयविकलो धर्मान्तेवासीति चतुर्थः ४ ।

अत्रैव योजना कर्त्तव्या, तथाहि—प्रथमं कश्चित् धर्मश्रोतृत्वेन धर्मान्तेवासी १ । कश्चित् श्रुतोक्तशिक्षाग्राहित्वेन उद्देशान्तेवासी २ । कश्चित् श्रुतवाचनाग्राहित्वेन वाचनान्तेवासी ३ । कश्चिद् उद्देशनं वाचनां चेत्युभयस्यापि ग्राहित्वेन उभयान्तेवासीति चत्वारोऽन्तेवासिनो भवन्तीति ४ ।

अत्र—धर्मादिमिश्रणेनापि पञ्चविधा अन्तेवासिनो भवन्ति, तथाहि—कश्चिद् धर्मोद्देशनवाचनेतित्रिभिः समन्वितो भवति १ । कश्चिद्धर्मवाचनाभ्यां समन्वितो भवति २ । कश्चिद् धर्मोद्देशनाभ्यां समन्वितो भवति ३ । कश्चिद्वाचनोद्देशनाभ्यां युक्तो भवति ४, कश्चिद्- एकेनैव युक्तो भवति धर्मेण वा उद्देशनेन वा—वाचनया वाऽन्तेवासी भवतीति ॥ सू १६ ॥

पूर्वमन्तेवासिनां चतुर्भङ्गी प्ररूपिता, अन्तेवासिनश्च स्थविराणां भवन्तीति स्थविरवक्तव्यतामाह—**'तओ थेरभूमीओ'** इत्यादि ।

सूत्रम्—'तओ थेरभूमीओ पन्नत्ताओ, तंजहा- जाइथेरे सुयथेरे परियायथेरे य । सट्ठिवासजाए-जाइथेरे ठाणसमवायधरे सुयथेरे २, वीसवासपरियाए परियायथेरे ३,॥सू०१७॥

छाया--तिस्रः स्थविरभूमयः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा-जातिस्थविरः १ श्रुतस्थविरः, २ पर्यायस्थविरश्च ३ । षष्टिवर्षजातो जातिस्थविरः १, स्थानसमवायधरः श्रुतस्थविरः २, विंशतिवर्षपर्यायः पर्यायस्थविरः ४ ॥ सू० १७ ॥

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा क्षुल्लकं वा क्षुल्लिकां वा ऊना-ष्टवर्षजातमुपस्थापयितुं वा संभोक्तुं वा ॥ सू० १९ ॥

भाष्यम्—'नो कप्पइ' नो–नैव कल्पते, 'णिग्गंथाण वा' निर्ग्रन्थानां श्रमणानां वा 'णिग्गंथीण वा' निर्ग्रन्थीनां श्रमणीनां वा 'खुड्डगं वा खुड्डियं वा' क्षुल्लकं क्षुल्लिकां वा--तत्र-क्षुल्लकोऽल्पवयस्कः तम्, क्षुल्लिका- अल्पवयस्का ताम्, तादृशं पुनः कथम्भूतम्, तत्राह—'ऊणट्ठ' इत्यादि, 'ऊणट्ठवासजायं' ऊनाष्टवर्षजातम् ऊनानि किञ्चिन्न्यूनानि अष्ट वर्षाणि जाते जन्मनि यस्य स ऊनाष्टवर्षजातः-अष्टवर्षाद् अल्पावस्थाकः, तम्, तां वा क्षुल्लकं क्षुल्लिकां वा, 'उवट्ठावए' उप-स्थापयितुं पञ्चमहाव्रतेषु-उपस्थापयितुं-प्रव्राजयितुमित्यर्थः । तथा--'संभुंजित्तए' संभोक्तुं वा एक-मण्डल्यां सहोपविश्य तेन सह समोक्तुम्—आहारादिसंभोगं कर्त्तुम् श्रमणस्य श्रमण्या वा न कल्पते, यथाहि—अष्टवर्षान्न्यूनवयस्के बालके उपस्थापितं चारित्रं मतेरपरिपक्वत्वेन न सम्यग् अवतिष्ठते, तदवस्थायाश्चञ्चलस्वभावत्वात्, यथा आमे घटे निहितं जलं नावतिष्ठते घटस्याऽऽम-त्वेन जलं निशीर्यते तथैवात्रापि विज्ञेयम् ॥ सू० १९ ॥

पूर्वम् ऊनाष्टवर्षजातं क्षुल्लकादिकं न दीक्षयेदित्युक्तं तेनाऽऽयातं पूर्णाष्टवर्षजातं तु दीक्षये-दिति तन्निराकरणाय सूत्रमाह–'कप्पइ' इत्यादि ।

सूत्रम्—कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा खुड्डगं वा खुड्डियं वा साइरेगअट्ठ-वासजायं उवट्ठावेत्तए वा संभुंजित्तए वा ॥ सू० २० ॥

छाया—कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा क्षुल्लकं वा क्षुल्लिकां वा साति-रेकाऽष्टवर्षजातम् उपस्थापयितुं वा संभोक्तुं वा ॥ सू० २० ॥

भाष्यम्—'कप्पइ' कल्पते, 'णिग्गंथाण वा' निर्ग्रन्थानां वा 'णिग्गंथीण वा' निर्ग्रन्थीनां वा 'खुड्डगं वा' क्षुल्लकं—बालकं वा, 'खुड्डियं वा' क्षुल्लिकां-बालिकां वा, 'साइरेगअट्ठवासजायं' सातिरेकाष्टवर्षजातम् 'जन्मनाऽष्टवर्षादधिकवयस्कम् 'उवट्ठावेत्तए वा' उपस्थापयितुं—प्रव्राजयितुं वा, तथा 'संभुंजित्तए वा' संभोक्तुं वा—तेन तया वा सह आहारादिसंभोगं कर्त्तुं कल्पते, यतः सातिरेकाष्टवर्षायुष्के मतिर्विकसितु प्रारभते ततो भगवतेद प्रतिपादितम् ॥ सू० २० ॥

पूर्वं सातिरेकाष्टवर्षायुष्कं दीक्षयेदिति प्रोक्तम्, सम्प्रति तादृशस्यापि आचारप्रकल्पनामा-ध्ययनस्य निषेधकालं प्रदर्शयति–'नोकप्पइ' इत्यादि ।

सूत्रम्—नोकप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा खुड्डगस्स वा खुड्डियाए वा अव्वं-जणजायस्स आयारकप्पे नामं अज्झयणे उद्दिसित्तए ॥ सू० २१ ॥

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा क्षुल्लकस्य वा क्षुल्लिकाया वा अव्यञ्जनजातस्य आचारकल्पो नामाऽध्ययनमुद्देष्टुम् ॥ सू० २१ ॥

भाष्यम्—'नो कप्पइ' नो नैव कल्पते, 'णिग्गंथाण वा निग्गंथीणवा' निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा, 'खुड्डगस्स वा खुड्डियाए वा' क्षुल्लकस्य वा क्षुल्लिकाया वा, 'अवंजणजायस्स' अव्यञ्जनजातस्य, तत्र व्यञ्जनानि युवत्वसंसूचककक्षालोमादीनि, तानि न जातानि न समुत्पन्नानि यस्य यस्या वा सोऽव्यञ्जनजातोऽव्यञ्जनजाता वा, तस्य तस्या वा अप्राप्तषोडशवर्षस्य क्षुल्लकस्य, अप्राप्तयौवनायाः क्षुल्लिकाया वेत्यर्थः 'आयारकप्पे नामं अज्झयणे' आचारकल्पो नामाऽध्ययनम्, अत्र आचारपदेन आचाराङ्गं कल्पपदेन निशीथमिति आचाराङ्गसूत्रं निशीथसूत्रं च 'उद्दिसित्तए' उद्देष्टुं समुपदेष्टुम् । उक्तञ्च—

"यावन्न यौवनाऽऽशंसि, लोमलज्जोद्गमः स्फुटम् ।
तावन्निशीथसूत्राणां कल्पतेऽध्ययनं नहि" ॥१॥

यावत्कालपर्यन्तं यौवनाऽभिव्यञ्जकलोमराजिः नेत्राद्यङ्गप्रत्यङ्गे लज्जोद्गमः स्फुटं नावभासेत तावत्कालपर्यन्तं बालस्य दीक्षितस्यापि श्रमणस्य श्रमण्या वा निशीथसूत्रादिकमध्यापयितुं श्रमणानां श्रमणीनां वा न कल्पते, अपक्वमतिकाले तदध्ययनस्य निषेधात् ।

यथा—ऊनाष्टवर्षो बालश्चारित्रधारणे समर्थो न भवतीति अप्राप्ताऽष्टमवर्षस्य दीक्षणं प्रतिषिद्धम् । एवमेवाप्राप्तव्यञ्जनस्याऽऽचाराङ्ग–निशीथ–सूत्रादिकं नाऽध्याप्यते, अपरिपक्वबुद्धितयाऽपवादशास्त्रस्य धारणेऽयोग्यतामाकलय्य स्थविरास्तान् अज्ञातव्यञ्जनान् आचाराङ्ग–निशीथ-सूत्रादिकं नाऽध्यापयन्तीति ॥ सू० २१ ॥

अथाऽऽचारप्रकल्पनामाध्ययनकालमाह—'कप्पइ णिग्गंथाण वा' इत्यादि ।

सूत्रम्—कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा खुड्डगस्स खुड्डियाए वा वंजणजायस्स आयारकप्पे नामं अज्झयणे उद्दिसित्तए ॥ सू० २२॥

छाया—कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा क्षुल्लकस्य क्षुल्लिकाया वा व्यञ्जनजातस्य आचारकल्पो नामाध्ययनमुद्देष्टुम् ॥ सू० २२ ॥

भाष्यम्—'कप्पइ' कल्पते 'णिग्गंथाण वा' निर्ग्रन्थानां वा 'णिग्गंथीण वा' निर्ग्रन्थीनां वा 'खुड्डगस्स वा खुड्डियाएवा' क्षुल्लकस्य बालकस्य वा, क्षुल्लिकाया वा, बालिकाया वा 'वंजणजायस्स' व्यञ्जनजातस्य सञ्जातयुवत्वसूचककक्षारोमादिव्यञ्जनस्य, तादृशस्य श्रमणस्य श्रमण्या वा 'आयारकप्पे नामं अज्झयणे' आचारकल्पो नामाध्ययनं आचाराङ्ग–निशीथ–रूपम् 'उद्दिसित्तए' उद्देष्टु समुद्देष्टुम् अध्यापयितुम्, कस्मात्कारणादिति चेद् अत्र ब्रूमः—तादृशो हि

भाष्यम्—'तओ' तिस्रः–त्रिप्रकारिकाः **'थेरभूमीओ पन्नत्ताओ'** स्थविरभूमयः प्रज्ञप्ताः तत्र–भूमिः स्थानं काल इत्येकार्थः तेनायमर्थः—स्थविरस्य भूमि.–अवस्थारूपः कालः, तास्तिस्रः प्रज्ञप्ताः, ता एवाह—'तंजहा' इत्यादि, **'तंजहा'** तद्यथा–**'जाइथेरे'** जातिस्थविरः, **'सुयथेरे'** श्रुतस्थविरः, **'परियायथेरे य'** पर्यायस्थविरश्च । तत्रैषां त्रयाणां स्थविराणां व्याख्यानं सूत्रकारः स्वयं करोति–**'सट्ठिवासजाए'** इत्यादि, **'सट्ठिवासजाए'** षष्टिवर्षजातः–जन्मतः षष्टिवर्षायुष्कः साधु **'जाइथेरे'** जातिस्थविरः कथ्यते १ **'ठाणसमवायधरे सुयधरे'** स्थानसमवायधरः–स्थानाङ्ग-समवायाङ्गधरः श्रुतस्थविरः प्रोच्यते २ । **'वीसवासपरियाए परियायथेरे'** विंशतिवर्षपर्यायः–विंशति-वर्षदीक्षापर्यायवान् पर्यायस्थविर उच्यते ३ इति ।

एषां त्रयाणामपि स्थविराणां सत्कारसम्मानादिपूर्वकं तद्योग्यं वैयावृत्त्यमन्यसाधुभिः कर्त्तव्यम्, तथाहि- यो हि जातिस्थविरः षष्टिवर्षजातः, तस्य स्थविरस्य देश–काल–स्वभावानुमताहार-पानीयादिर्दातव्यः । उपधिर्यावता संस्तरति तावत्प्रमाणको दातव्यः । तथा–शय्यावसतिरनु-कूला दातव्या । संस्तारको मृदुको देयः । तथा क्षेत्रान्तरगमनसमये जातिस्थविरस्योपध्यादिक-मन्ये वहन्तीति जातिस्थविरस्य वैयावृत्तिप्रकारः १ ।

तथा—श्रुतस्थविरस्य श्रुतेन तपसा, वृद्धस्य कृतिकर्म–वन्दनादिकं कर्त्तव्यम्, तस्य छन्दतो ऽनुवर्त्तनं कर्त्तव्यम् । एवमागतस्य श्रुतस्थविरस्याऽभ्युत्थानमभिवादनं पादप्रमार्जनादिकं कर्त्तव्यम् । तद्योग्यमाहारादिकमानीय समर्पणीयम् । तदीयगुणानां प्रशंसनं कर्त्तव्यम् । यत्र श्रुतस्थविर उपविष्टो भवेत् तत्र तदपेक्षया नीचैः शय्यायामुपवेष्टव्यम् । तस्याऽऽज्ञा सर्वदा परिपालनीया । एवंप्रकारेण श्रुतस्थविरस्य संमानपूर्वक वैयावृत्त्यं विधेयमिति श्रुतस्थविरस्य वैयावृत्त्यप्रकारः २ । तथा पर्यायस्थविरस्य अप्रव्राजकस्यापि वाचनामदातुरपि आगच्छतोऽभ्युत्थानादिकं सहर्षं कर्त्तव्यम् । योग्यमाहारादिकमानीय तस्मै समर्पणीयमिति पर्यायस्थविरस्य वैयावृत्त्यप्रकार इति ॥ सू० १७ ॥

पूर्वं तिस्र स्थविरभूमयः प्रदर्शिताः, स्थविराणां वैयावृत्त्यादिकं शैक्ष एव कर्त्तुमर्हतीति शैक्षसूत्रमाह–अथवा स्थविरपक्षाः शैक्षा इति स्थविरसूत्रानन्तरं शैक्षसूत्रमाह—'तओ' इत्यादि ।

सूत्रम्—'तओ सेहभूमीओ पन्नत्ताओ, तंजहा–सत्तराइंदिया, चाउम्मासिया, छम्मासिया । छम्मासिया य उक्कोसिया, चाउम्मासिया मज्झमिया, सत्तराइंदिया जहन्ना ॥ सू० १८ ॥

छाया—तिस्रः शैक्षभूमयः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा–सप्तरात्रिंदिवा, चातुर्मासिकी, षाण्मा-सिकी । षाण्मासिकी चोत्कृष्टा, चातुर्मासिकी मध्यमा, सप्तरात्रिन्दिवा जघन्या' ॥ सू० १८ ॥

भाष्यम्—'**तओ सेहभूमीओ पन्नत्ताओ**' तिस्रः—त्रिसंख्यकाः शैक्षभूमयः, शैक्षकाणां—शिष्याणां भूमयः—उपस्थपनाकालरूपाः प्रज्ञप्ताः—कथिताः, तानेव भेदान् दर्शयितुमाह—'**तंजहा**' इत्यादि, '**तंजहा**' तद्यथा—'**सत्तराइंदिया**' सप्तरात्रिन्दिवा—सप्तरात्रिंदिवप्रमाणा, '**चाउमासिया**' चातुर्मासिकी—चतुर्मासप्रमाणा, '**छम्मासिया**' षाण्मासिकी षण्मासप्रमाणा, तत्र—तासु तिसृषु मध्ये 'छम्मासिया य उक्कोसिया' षाण्मासिकी, उत्कृष्टा शैक्षभूमिः षाण्मासिकी—भवति। तथा'**चाउम्मासिया मज्झमिया**' चातुर्मासिकी, मध्यमा शैक्षकभूमिः चातुर्मासिकी भवति । '**सत्तराइंदिया जहन्ना**' सप्तरात्रिदिवा जघन्या, जघन्या शैक्षकभूमिः सप्तरात्रिदिवप्रमाणा भवति। ता एताः तिस्रः शैक्षकभूमयो भवन्तीति ।

अयं भावः—यः शैक्षकः पूर्वं गृहीतप्रव्रज्यः उत्प्रव्रजितो भूत्वा पुनरपि प्रव्रज्यां प्रतिपन्नवान् स शैक्षकः सप्तमे दिवसे उपस्थापनीयः। तस्य हि यावद्भिर्दिनैः पूर्वविस्मृतसाधुसामाचारीरूपषडध्ययनात्मकमावश्यकमधीतं भवेत् तदा दीक्षादिना सप्ममे दिवसे छेदोपस्थापनीये चारित्रे उपस्थापयितव्यः, एषा जघन्या भूमिः। यद्येतावद्दिनेषु आवश्यकं नाभ्यस्तं भवेत्तदा स चतुर्थे मासे उपस्थापनीयः, एषा मध्यमिका भूमिः। चतुर्भिर्मासैरप्यावश्यकं नाधीतं भवेत् तदा षष्ठे मासे उपस्थापयितव्यः, एषा उत्कृष्टा भूमिः । दुर्मेधसं धर्ममश्रद्दधान च प्रतीत्य उत्कृष्टा षाण्मासिकी भूमिर्भवतीति ।

अत्रेयं भावना—यदि सप्तसु दिवसेषु आवश्यकमभ्यस्तं न भवेत्तदा चतुर्थमासि उपस्थापयितव्यः । ततोऽपि यदि न भवेदभ्यस्तमावश्यकं तदा षष्ठेमासे उपस्थापयितव्यः । ततोऽपि न भवेत् तदा यदा भवेत्तदोपस्थापयितव्यः। जघन्यभूमिप्राप्तः शैक्षो धर्मश्रद्धापरिणतत्वेन परिणामकः कथ्यते । परिणामको द्विप्रकारको भवति, यथा—आज्ञापरिणामको दृष्टान्तपरिणामकश्च । तत्र-आज्ञापरिणामकः आज्ञयैव-जिनाज्ञामात्रेणैव परिणतो भवति '**तमेव सच्चं नीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं**' तदेव सत्यं निश्शङ्कं यज्जिनैः प्रवेदितम्, इत्येवंप्रकारेण जिनोक्तानि जीवा-जीवादि-तत्त्वानि निश्शङ्कं श्रद्दधाति न कारणं जानीते न वा कारणं पृच्छति स आज्ञापरिणामकः शैक्षः ।

यस्तु परोक्षहेतुकमर्थं प्रत्यक्षप्रसिद्धदृष्टान्तद्वारा आत्मबुद्धौ-आरोपयति नान्यथा, स दृष्टान्त परिणामकः। दृष्टान्तेन विवक्षितमर्थं परिणमयति स्वबुद्धौ स दृष्टान्तपरिणामक इति ॥ सू० १८ ॥

पूर्वं शैक्षकस्योपस्थापनाकालः प्रोक्तः, साम्प्रतं शैक्षकस्याऽवस्थामधिकृत्योपस्थापनाप्रकारमाह—'**नो कप्पइ निग्गंथाण वा**' इत्यादि ।

सूत्रम्—नो कप्पइ निग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा खुड्डगं वा खुड्डियं वा ऊणट्ठवासजायं उवट्ठावेत्तए वा संभुंजित्तए वा ॥ सू० १९ ॥

युवा परिपक्वबुद्धितयाऽपवादशास्त्रस्याऽपि ज्ञाने समर्थो भवति, अतस्तस्य जातव्यञ्जनस्याऽध्यापनं विधीयते इति ॥ सू० २२ ॥

पूर्वं जातव्यञ्जनायाऽऽचारप्रकल्पाध्ययनमुद्देष्टव्यमिति प्रोक्तम्, एतादृशस्तु अल्पकाल दीक्षितोऽपि भवेत्तदा तादृशाय श्रमणाय तत् समुद्देष्टव्यं न वा ? इति जिज्ञासायां सूत्रकारो दीक्षा-पर्यायमाश्रित्याऽऽचाराङ्गादिसूत्राध्ययनक्रमं पञ्चदशभिः सूत्रैः प्रदर्शयति, तत्र प्रथमं त्रिचतुःपञ्चाष्टा-दशवर्षपर्यायसंबन्धि सूत्रपञ्चकमाह—'तिवासपरियायस्स' इत्यादि ।

सूत्रम्— तिवासपरियायस्स समणस्स निग्गंथस्स कप्पइ आयारकप्पे नामं अज्झ-यणे उद्दिसित्तए ॥ सू० २३ ॥

छाया—त्रिवर्षपर्यायस्य श्रमणस्य निर्ग्रन्थस्य कल्पते आचारकल्पो नामाऽध्ययन मुद्देष्टुम् ॥ सू० २३ ॥

भाष्यम्—'तिवासपरियायस्स' त्रिवर्षपर्यायस्य त्रीणि वर्षाणि परिपूर्णानि पर्यायस्य दीक्षाकालस्य जातानि यस्य स त्रिवर्षपर्याय. प्रारब्धचतुर्थवर्षपर्याय इत्यर्थः, यस्य दीक्षापर्यायो वर्षत्रयात्मकः परिपूर्णो जातश्चतुर्थश्च प्रविष्टस्तस्य 'समणस्स णिग्गंथस्स' श्रमणस्य निर्ग्रन्थस्य 'कप्पइ' कल्पते 'आयारकप्पे णामं अज्झयणे' आचारकल्पो नामाध्ययनम् आचाराङ्गनिशीथादि-सूत्रम्, 'उद्दिसित्तए' उद्देष्टुम् अध्यापयितुम् । जातव्यञ्जनस्यापि त्रिवर्षपर्यायस्यैव श्रमणनिर्ग्रन्थस्य आचारकल्पो नामाऽध्ययनमुद्देष्टव्यं भवेत् नाऽन्यस्येति भावः ॥ सू० २३ ॥

सूत्रम्—चउवासपरियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ सूयगडे नामं अंगे उद्दिसित्तए ॥ २४ ॥

पंचवासपरियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ दसाकप्पववहारे उद्दिसित्तए ॥२५॥

छाया— चतुर्वर्षपर्यायस्य श्रमणस्य निर्ग्रन्थस्य कल्पते सूत्रकृतं नामाङ्गमुद्देष्टुम् ॥२४॥

पञ्चवर्षपर्यायस्य श्रमणस्य निर्ग्रन्थस्य कल्पते दशाकल्पव्यवहारान् उद्देष्टुम् ॥२५॥

भाष्यम्—'चउवासपरियायस्स' इति, चतुर्वर्षपर्यायस्य परिपूर्णचतुर्वर्षदीक्षाकालस्य श्रमणनिर्ग्रन्थस्य 'सूयगडे नामं अंगे' सूत्रकृतं नामाङ्गं-द्वितीयमङ्गसूत्रमुद्देष्टुं कल्पते ॥ सू० २४ ॥ एवम्—'पंचवासपरियायस्स' इति, पञ्चवर्षपर्यायस्य सञ्जातपरिपूर्णपञ्चवर्षदीक्षाकालस्य श्रमण-निर्ग्रन्थस्य 'दसाकप्पववहारे' दशाकल्पव्यवहारान्—दशाश्रुतस्कन्धः, बृहत्कल्पः, व्यवहार-श्चेति व्यवहारसूत्रं चेति त्रीणि सूत्राणि उद्देष्टुं कल्पते, अस्य पञ्च-षट्-सप्तवर्षदीक्षापर्यायरूपेषु

त्रिषु वर्षेषु त्रीणि सूत्राणि उद्देष्टव्यानि येनाऽग्रे स स्थानाङ्ग-समवायाङ्ग-सूत्रोद्देशनयोग्यतां प्राप्नुयात्तदर्थम् अग्रिमसूत्रेऽष्टवर्षपर्यायस्य स्थानसमवायोद्देशनं प्रतिपादितम् ॥सू० २५॥

अथ–अष्टवर्षपर्यायरूपं चतुर्थसूत्रमाह–**'अट्ठवासपरियायस्स'** इत्यादि ।

सूत्रम्—अट्ठवासपरियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ ठाणसमवाया उद्दिसित्तए ॥ सू० २६ ॥

छाया—अष्टवर्षपर्यायस्य श्रमणस्य निर्ग्रन्थस्य कल्पते स्थानसमवायौ उद्देष्टुम् ॥ सू० २६ ॥

भाष्यम्—'अट्ठवासपरियायस्स' अष्टवर्षपर्यायस्य, यस्य दीक्षापर्यायोऽष्टवर्षात्मको व्यतीतः नवमे च प्रविष्टस्तस्य तादृशस्य, **'समणस्स णिग्गंथस्स'** श्रमणस्य निर्ग्रन्थस्य **'कप्पइ'** कल्पते **'ठाणसमवाया उद्दिसित्तए'** स्थानसमवायौ-स्थानाङ्गं समवायाङ्गं चेति सूत्रद्वयम् उद्देष्टुमध्यापयितुम् ।

अष्टनवात्मके वर्षद्वये स्थानाङ्गसमवायाङ्गेति सूत्रद्वये उद्दिष्टे सति तस्य व्याख्याप्रज्ञप्त्यङ्गोद्देशन-योग्यता स्यात्, अग्रिमसूत्रे दशवर्षपर्यायस्य व्याख्याप्रज्ञप्तेरुद्देशनस्य प्रतिपादितत्वात् ॥सू० २६ ॥

तदेवाह—**'दसवास०'** इत्यादि ।

सूत्रम्—दसवासपरियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ विवाहे नामं अंगे उद्दिसित्तए ॥ सू० २७ ॥

छाया—दशवर्षपर्यायस्य श्रमणस्य निर्ग्रन्थस्य कल्पते विवाहो नामाङ्गमुद्देष्टुम् ॥२७॥

भाष्यम्—'दसवासपरियायस्स' दशवर्षपर्यायस्य, यस्य दीक्षाकालो दशवर्षात्मको व्यतीतस्तादृशस्य **'समणस्स णिग्गंथस्स'** श्रमणस्य-निर्ग्रन्थस्य **'कप्पइ'** कल्पते, **'विवाहे नामं अंगं उद्दिसित्तए'** विवाहनामकमङ्गं–व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्रं–भगवतीसूत्रापरपर्यायं सूत्रम् उद्देष्टुमध्यापयितुम् ।

त्रिवर्षपर्यायादारभ्य दशवर्षपर्यायपर्यन्तानां पञ्चानां सूत्राणामयं भावः–त्रिवर्षपर्यायस्याऽऽचा-रप्रकल्पाध्ययनोद्देशेन स साध्वाचारस्य सम्यक् परिपालनसमर्थो भवति तत्र साध्वाचारस्य प्रतिपादि-तत्वात्॥सू० २३॥ चतुर्वर्षपर्यायस्य सूत्रकृताङ्गोद्देशनमनुज्ञातम्, यतश्चतुर्वर्षपर्यायो धर्मे दृढमतिर्भवेत् हीनपर्यायो मतिभेदेन मिथ्यात्वं प्राप्नुयात्, सूत्रकृताङ्गे च त्रिषष्ट्यधिकाना त्रयाणां पाखण्डिगतानां दृष्टयः प्ररूपिताः, तदध्ययनेन स कुसमयैर्नापह्रियते ॥ सू० २४ ॥ पञ्चवर्षपर्यायोऽपवादज्ञान-योग्यो भवतीति कृत्वा तस्य दशाश्रुतस्कन्ध–बृहत्कल्प–व्यवहाराध्यापनमनुज्ञातम् ॥ सू०२५॥ एषां त्रयाणा सूत्राणामध्ययनं पञ्चषट्-सप्तेति वर्षत्रयं यावत् करोति ततः स विकृष्टपर्यायो

जायते तेन कारणेन अष्टवर्षपर्यायस्य स्थानाङ्गं समवायाङ्गं चेति सूत्रद्वयस्याऽध्ययनमष्टम-नवमेतिवर्षद्वये करोति एतत्सूत्रद्वयस्य द्वादशानामपि, अङ्गानां मध्ये प्रायेण महर्द्धिकत्वात् ॥ सू० २६ ॥ ततस्ताभ्यां परिकर्मितमतेर्दशवर्षपर्यायस्य व्याख्याप्रज्ञप्तिरुद्दिश्यते । इति सूत्रपञ्चकाशयः ॥ सू० २७ ॥

अथैकादशवर्षपर्यायं श्रमणनिर्ग्रन्थमधिकृत्य सूत्रमाह—'एक्कारसवासपरियायस्स' इत्यादि ।

सूत्रम्—एक्कारसवासपरियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ खुड्डियाविमाण पविभत्ती महल्लियाविमाणपविभत्ती अंगचूलिया वंगचूलिया विवाहचूलिया नामं अज्झयणं उद्दिसित्तए ॥ सू० २८ ॥

छाया—एकादशवर्षपर्यायस्य श्रमणस्य निर्ग्रन्थस्य कल्पते क्षुल्लिकाविमानप्रविभक्तिर्महती विमानप्रविभक्तिरङ्गचूलिकवर्गचूलिका विवाहचूलिका नामाऽध्ययन-मुद्देष्टुम् ॥ सू० २८ ॥

भाष्यम्—'एक्कारसवासपरियायस्स' एकादशवर्षदीक्षापर्यायस्य 'समणस्स णिग्गंथस्स' श्रमणस्य निर्ग्रन्थस्य 'कप्पइ' कल्पते 'खुड्डियाविमाणपविभत्ती' क्षुल्लिकाविमानप्रविभक्ति', यत्र-कल्पेषु विमाना वर्ण्यन्ते, 'महल्लियाविमाणपविभत्ती' महती विमानप्रविभक्तिः, यत्र कल्पेपु विमानान्येव विस्तारपूर्वकं प्रतिपाद्यन्ते, 'अंगचूलिया' अङ्गचूलिका, तत्राऽङ्गानाम् उपासकदशाप्रभृतोनां पञ्चानां चूलिका निरयावलिका इत्यङ्गचूलिका । 'वंगचूलिया' वर्गचूलिका महाकल्पश्रुतस्य चूलिका वर्गचूलिका । 'विवाहचूलिया' विवाहचूलिका—व्याख्याप्रज्ञप्तेश्चूलिका 'नामं अज्झयणं' एतन्नामकमध्ययनं शास्त्रम् 'उद्दिसित्तए' उद्देष्टुमध्यापयितुम् ॥ सू० २८ ॥

द्वादशवर्षपर्यायमाश्रित्याह--'बारसवासपरियायस्स' इत्यादि ।

सूत्रम्—'बारसवासपरियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ अरुणोववाए गरुलोववाए वरुणोववाए धरणोववाए वेसमणोववाए वेलंधरोववाए नामं अज्झयणं उद्दिसित्तए ॥ सू० २९ ॥

छाया—द्वादशवर्षपर्यायस्य श्रमणस्य निर्ग्रन्थस्य कल्पते अरुणोपपातो गरुडोपपातो वरुणोपपातो धरणोपपातो वैश्रमणोपपातो वेलंधरोपपातो नामाध्ययनमुद्देष्टुम् ॥ सू० २९ ॥

भाष्यम्—'बारसवासपरियायस्स' द्वादशवर्षपर्यायस्य यस्य साधोर्दीक्षापर्यायो द्वादश-वर्षात्मको व्यतीतः, येन द्वादशवर्षपर्यन्तं श्रामण्यं पालितं तस्य, तादृशस्य 'समणस्स णिग्गंथस्स' श्रमणस्य निर्ग्रन्थस्य 'कप्पइ' कल्पते 'अरुणोववाए' अरुणोपपातः—अरुणोपपातनामकमध्ययनम्, अत्र 'नामं अज्झयणं' इति प्रतिपदे संयोज्यम् । 'गरुलोववाए' गरुडोपपातः—गरुडोपपातना-मकमध्यनम् । 'वरुणोववाए' वरुणोपपातः—एतन्नामकमध्ययनम् । 'धरणोववाए' धरणोपपातः-

एतन्नामकमध्ययनम् । **'वेसमणोववाए'** वैश्रमणोपपातः—एतन्नामकोऽध्ययनविशेषः । तथा—**'वेलंधरोववाए नामं अज्झयणं'** वेलंधरोपपातो नामाध्ययनम् **'उद्दिसित्तए'** उद्देष्टुं—वाचयितुमध्यापयितुमित्यर्थः ।

एतेषामरुणोपपातादिनामाऽध्ययनानामधिष्ठातारस्तत्तदध्ययनसदृशनामानोऽरुणादयो देवाः सन्ति तानरुणादिदेवान् हृदये संप्रधार्य ये श्रमणा यदा अरुणोपपातादिकानि अध्ययनानि परावर्त्तन्ते तदा तेषामन्तिके स्वकीयस्वकीयाऽध्ययनपरावर्त्तनाऽनुगृहीतास्ते देवा अञ्जलिमुकुलितहस्ता दशाऽपि दिश उद्योतयन्तः प्रादुर्भवन्ति, प्रादुर्भूय च किङ्करभूताः सन्तोऽध्ययनपरावर्त्तकान् पर्युपासते, वेलन्धरा धरणा वरुणाश्च देवाः वेलन्धरोपपातादिपाठकानामन्तिके गन्धोदकादि वर्षां वर्षन्ति, तथा—अरुणा गरुडा वैश्रमणाश्च देवा अरुणोपपातादिकाऽऽध्ययनपरावर्त्तनेनाऽऽवर्जिताः सन्तः तत्तदन्तिकमुपागत्य सुवर्णरजतादीनां वृष्टिं कुर्वाणा दासवद् उपासते ब्रुवते च हे श्रमणाः ! आदिशत किं कुर्मो वयमिति ॥ सू० २९ ॥

अथ—त्रयोदशवर्षपर्यायमधिकृत्याह—**'तेरसवासपरियायस्स'** इत्यादि ।

सूत्रम्—तेरसवासपरियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ उट्ठाणसुए समुट्ठाणसुए देविंदोववाए णागपरियावणिया नामं अज्झयणं उद्दिसित्तए ॥ सू० ३० ॥

छाया—त्रयोदशवर्षपर्यायस्य श्रमणस्य निर्ग्रन्थस्य कल्पते, उत्थानश्रुतं समुत्थानश्रुतं देवेन्द्रोपपातो नागपर्यापनिका नामाध्ययनमुद्देष्टुम् ॥ सू० ३० ॥

भाष्यम्—**'तेरसवासपरियायस्स'** त्रयोदशवर्षपर्यायस्य—यस्य दीक्षापर्यायस्त्रयोदशवर्षात्मकः कालो व्यतीतस्तादृशस्य, **'समणस्स णिग्गंथस्स'** श्रमणस्य निर्ग्रन्थस्य **'कप्पइ'** कल्पते, **'उट्ठाणसुए'** उत्थानश्रुतम्-एतन्नामकमध्ययनम् । तथा—**'समुत्थानसुए'** समुत्थानश्रुतम्—एतन्नामकमध्ययनम् । तथा **'देविंदोववाए'** देवेन्द्रोपपातः—देवेन्द्रोपपातकनामकमध्ययनम् । **'नागपरियावणिया नामं अज्झयणं'** नागपर्यापनिकानामकमध्ययनम् **'उद्दिसित्तए'** उद्देष्टुम्, त्रयोदशवर्षपर्यायस्य श्रमणस्य उत्थानश्रुतादिनामकानि—अध्ययनानि अध्यापयितुं कल्पते ॥

एतेषामध्ययनानामयमतिशयः- त्रयोदशवर्षपर्यायः श्रमणो निर्ग्रन्थो यत्र स्थानविशेषे सुचेतसा मनःप्रणिधानपूर्वकम् उत्थानश्रुतं परावर्त्तयति तत्रैव स्थानविशेषे कुलग्रामदेशा उत्तिष्ठन्ति उद्वशीभवन्ति, तदनन्तरं कार्ये निष्पन्ने सति समुत्थानश्रुते परावर्त्त्यमाने पुनरपि ते कुलग्रामदेशा स्वस्थीभूय निवसन्ति । एवमुपर्युक्तप्रकारेण स्वनामसदृशदेवेन्द्रोपपात इति देवेन्द्रपर्यापनिका—नागपर्यापनिकाऽध्ययनात् देवेन्द्रा नागदेवाश्च स्वस्वाध्ययनाध्येतॄणां समीपे समागच्छन्ति, समागत्य च किङ्करवत् तान् पर्युपासते, एष एवातिशय उत्थानादिश्रुतानाम् ॥ सू० ३० ॥

चतुर्दशवर्षपर्यायमधिकृत्याह--'**चउद्दसवासपरियायस्स समणस्स**' इत्यादि ।

सूत्रम्— चउद्दसवासपरियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ सुमिणभावणा णामं अज्झयणं उद्दिसित्तए ॥ सू० ३१ ॥

छाया— चतुर्दशवर्षपर्यायस्य श्रमणस्य निर्ग्रन्थस्य कल्पते स्वप्नभावना नामाध्ययनमुद्देष्टुम् ॥ सू० ३१ ॥

भाष्यम्—'**चउद्दसवासपरियायस्स**' चतुर्दशवर्षदीक्षापर्यायस्य–यस्य श्रमणस्य दीक्षा–पर्यायो–दीक्षाग्रहणकालः चतुर्दशवर्षात्मको व्यतीतः तादृशस्य, '**समणस्स णिग्गंथस्स**' श्रमणस्य निर्ग्रन्थस्य '**कप्पइ**' कल्पते '**सुमिणभावणा णामं अज्झयणं**' स्वप्नभावनामाध्ययनम् , । यस्मिन्नध्ययने सामान्यतः त्रिंशत्स्वप्नाः विशेषतो द्वा चत्वारिंशत् स्वप्नाः प्रतिपादिताः, कीदृशस्य स्वप्नस्य कीदृशं शुभमशुभं वा फलं भवति, एतत्प्रतिपादकमध्ययनं स्वप्नभावनाध्ययनम् इति कथ्यते । तादृशं स्वप्नभावनानामकमध्ययनम् '**उद्दिसित्तए**' उद्देष्टुमध्यापयितुं कल्पते इति ।

अयं भावः—यदा खलु मनो निद्रावस्थायां हृदयेऽवस्थितं भवति तदा दृष्टश्रुतान् अर्थान् पश्यति स स्वप्नः कारणभेदात् त्रिप्रकारको भवति, रोगबलात् वासनाबलात्, अदृष्टबलाच्च । तत्र-रोगस्त्रिविधः पैत्तिको वातिकः श्लैष्मिकश्च । तत्र–ज्वरादिरोगाक्रान्तः स्वप्नेऽग्निदाहादिकं पश्यति । वातरोगाक्रान्तो रात्रौ–आकाशगमनादिकं पश्यति, श्लैष्मिकरोगपीडितस्तु जलसंतरणादिकं पश्यति, सोऽयं स्वप्नो रोगजनितः कथ्यते। वासनाजनितस्तु स यो वासनया समुत्पद्यते, तत्र–वासनादिवसे दृष्टस्य श्रुतस्य वा विषयजातस्य संस्कारवशाद् रात्रौ शयानः तमेव पदार्थजातं पश्यति यः स तादृशः । इमौ द्वावपि स्वप्नौ न फलदायकौ भवतो वासनाजनितः स्वप्नः कथ्यते ।

तृतीयस्तु—अदृष्टजनितः–भाग्यजनितः स शुभमशुभं वा फलं ददाति । तत्राऽदृष्टजनिताः सामान्यतस्त्रिंशत् स्वप्नाः विशेषतो द्वाचत्वारिंशत् स्वप्नाः, सङ्कलनया द्वासप्तति-संख्यका भवन्ति । तदुक्तमसुकस्वप्नस्य फलम् —

"यदा कर्मसु काम्येषु, स्त्रियं पश्यति पुरुषः ।
अरिष्टं तत्र जानीयात् , तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने ॥ १ ॥

इत्यादिना शुभाशुभफलसूचकत्वं स्वप्नस्य दर्शितम् । स्वप्ने खररोहणादीनि जघन्यानि वस्तूनि पश्यन्ति, तेन 'अशुभफलसूचनं भवति । विशेषतस्तु-स्वप्नाध्यायादेव द्रष्टव्यम् ॥ सू० ३१ ॥

पञ्चदशवर्षपर्यायमधिकृत्याऽऽह--'**पन्नरसवासपरियायस्स**' इत्यादि ।

सूत्रम्— पन्नरसवासपरियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ चारणभावणा णामं अज्झयणं उद्दिसित्तए ॥ सू० ३२ ॥

छाया—पञ्चदशवर्षपर्यायस्य श्रमणस्य निर्ग्रन्थस्य कल्पते चारणभावना नामाध्ययनमुद्देष्टुम् ॥ सू० ३२ ॥

भाष्यम्—'पन्नरसवासपरियायस्स' पञ्चदशवर्षपर्यायस्य यस्य पञ्चदशवर्षात्मको दीक्षाकालो व्यतीतस्तादृशस्य, 'समणस्स णिग्गंथस्स' श्रमणस्य निर्ग्रन्थस्य 'कप्पइ' कल्पते, 'चारणभावणा नामं अज्झयणं' चारणभावनानामकमध्ययनम् 'उद्दिसित्तए' उद्देष्टुमध्यापयितुं कल्पते। पञ्चदशवर्षपर्यायस्य साधोः चारणभावनानामकमध्ययनम् अध्यापयितुं कल्पते। अस्यायमतिशयः—चारणभावनानामकाऽध्ययनाध्येतुश्चारणलब्धिरुत्पद्यते, अथवा येन तपोविशेषेण कृतेन जङ्घाचारण—विद्याचारण—लब्धिर्जायते इति तत्रैव वर्णनमुपलभ्यते ॥ सू० ३२ ॥

षोडशवर्षपर्यायमाश्रित्याह—'सोलसवासपरियायस्स' इत्यादि।

सूत्रम्—सोलसवासपरियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ तेयनिसग्गे नामं अज्झयणे उद्दिसित्तए' ॥ सू० ३३ ॥

छाया—षोडशवर्षपर्यायस्य श्रमणस्य निर्ग्रन्थस्य कल्पते तेजोनिसर्गो नामाध्ययनमुद्देष्टुम् ॥ सू० ३३ ॥

भाष्यम्—'सोलसवासपरियायस्स' षोडशवर्षपर्यायस्य यस्य साधोर्दीक्षाकालः षोडशवर्षात्मको व्यतीतः स षोडशवर्षपर्यायस्तस्य 'समणस्स णिग्गंथस्स' श्रमणस्य निर्ग्रन्थस्य 'कप्पइ' कल्पते तेयनिसग्गे नामं अज्झयणे' तेजोनिसर्गो नामकमध्ययनम् 'उद्दिसित्तए' उद्देष्टुम्- अध्यापयितुम्। तेजोनिसर्गाऽध्ययनाध्येतुस्तेजोनिःसरणं भवति-तेजसो निस्सरणं-प्रादुर्भावो जायते, अयमेवातिशयः ॥ सू० ३३ ॥

सप्तदशपर्यायमधिकृत्याऽऽह- 'सत्तरसवासपरियायस्स' इत्यादि।

सूत्रम्—सत्तरसवासपरियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ आसीविसभावणा नामं अज्झयणे उद्दिसित्तए ॥ सू० ३४ ॥

छाया—सप्तदशवर्षपर्यायस्य श्रमणस्य निर्ग्रन्थस्य कल्पते आशीविषभावना नामाऽध्ययनमुद्देष्टुम् ॥ ३४ ॥

भाष्यम्—'सत्तरसवासपरियायस्स' सप्तदशवर्षपर्यायस्य, यस्य दीक्षाकालः सप्तदशवर्षात्मको व्यतीतः सः सप्तदशवर्षपर्यायः, तादृशस्य 'समणस्स णिग्गंथस्स' श्रमणस्य निर्ग्रन्थस्य 'कप्पइ' कल्पते 'आसीविसभावणा नामं अज्झयणं' आशीविषभावनानामकमध्ययनम् 'उद्दिसित्तए' उद्देष्टुम्--अध्यापयितुं कल्पते, आशीविषभावनाऽध्ययनपाठकस्य आशीविषलब्धिः

समुत्पद्यते। अथवा यैराचरणैराशीविषत्वेन कर्म बध्यते तेषामाचरणानामुपवर्णनमत्राऽऽशीविषभावनाध्ययने समुपलभ्यते। एष एवास्त्यतिशयः ॥ सू० ३४ ॥

अष्टादशवर्षपर्यायमाश्रित्याऽऽह—'अट्ठारसवासपरियायस्स' इत्यादि।

सूत्रम्—'अट्ठारसवासपरियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ दिट्ठिविसभावणा-णामं अज्झयणं उद्दिसित्तए ॥ सू० ३५ ॥

छाया—अष्टादशवर्षपर्यायस्य श्रमणस्य निर्ग्रन्थस्य कल्पते दृष्टिविषभावनामाध्ययनमुद्देष्टुम् ॥ सू० ३५ ॥

भाष्यम्—'अट्ठारसवासपरियायस्स' अष्टादशवर्षपर्यायस्य, यस्य दीक्षाकालोऽष्टादशवर्षात्मको व्यतीतः सोऽष्टादशवर्षपर्यायः, तादृशस्य 'समणस्स णिग्गंथस्स' श्रमणस्य निर्ग्रन्थस्य 'कप्पइ' कल्पते, 'दिट्ठिविसभावणा णामं अज्झयणं' दृष्टिविषभावनानामाऽध्ययनम् 'उद्दिसित्तए' उद्देष्टुम्। अस्याध्ययनस्याध्येतुर्दृष्टिविषनाम्नो लब्धिः प्रादुर्भवति, तत्प्रभावादस्य श्रमणस्य दृष्ट्या विषमुपशाम्यति। अथवा यैः समाचरणैर्मनुष्यो दृष्टिविषतया कर्म बध्नातीत्यत्र तद्वर्णनमुपलभ्यते ॥ सू० ३५ ॥

अथैकोनविंशतिवर्षपर्यायसूत्रमाह—'एगूणवीसवासपरियायस्स' इत्यादि।

सूत्रम्—एगूणवीसवासपरियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ दिट्ठिवायं नामे अंगे उद्दिसित्तए ॥ सू० ३६ ॥

छाया—एकोनविंशतिवर्षपर्यायस्य श्रमणस्य निर्ग्रन्थस्य कल्पते दृष्टिवादं नामाङ्गमुद्देष्टुम् ॥ सू० ३६ ॥

भाष्यम्—'एगूणवीसवासपरियायस्स' एकोनविंशतिवर्षपर्यायस्य, यस्य साधोः दीक्षापर्याय एकोनविंशतिवर्षप्रमाणो व्यतीतो भवेत् स एकोनविंशतिवर्षपर्यायः, तादृशस्य 'समणस्स णिग्गंथस्स' श्रमणस्य निर्ग्रन्थस्य 'कप्पइ' कल्पते 'दिट्ठिवायं नामे अंगे उद्दिसित्तए' दृष्टिवादं नामाङ्गं दृष्टिवादाख्यं द्वादशमङ्गम् उद्देष्टुम् अध्यापयितुम्। यो हि श्रमण एकोनविंशतिवर्षप्रमाणकदीक्षापर्याय. स दृष्टिवादनामकमङ्गमध्येतुं शक्नोति, एतावद्वर्षदीक्षापर्यायस्यैव दृष्टिवादाध्ययनयोग्यताया भगवता प्रतिपादितत्वात् ॥ सू० ३६ ॥

पूर्वं दृष्टिवादाङ्गपर्यन्तश्रुतानामुद्देशनयोग्यता प्रदर्शिता, ततः परं श्रमणः कीदृशीं योग्यतां प्राप्नोतीति प्रदर्शयन्नाह—'वीसइवासपरियाए' इत्यादि।

सूत्रम्—वीसइवासपरियाए समणे णिग्गंथे सव्वसुयाणुवाई भवइ ॥ सू० ३७ ॥

छाया—विंशतिवर्षपर्यायः श्रमणो निर्ग्रन्थः सर्वश्रुतानुपाती भवति ॥ सू० ३७ ।

भाष्यम्—'वीसइवासपरियाए' विंशतिवर्षपर्यायः, यस्य दीक्षापर्यायो विंशतिवर्षप्रमाणको जातस्तादृशः, 'समणे णिग्गंथे' श्रमणो निर्ग्रन्थः 'सव्वसुयाणुवाई भवइ' सर्वश्रुतानुपाती भवति, स आचाराङ्गादिद्वादशाङ्गगणिपिटकधारको जायते ।

अयं भावः—अत्राचाराङ्गादिदृष्टिवादपर्यन्तानां योग्यताक्रमेणोद्देशनविधिः प्रदर्शितस्तेन पात्रस्यैव यथोचिते काले तत्तद्योग्यतां विचार्य यस्य यदुचितमङ्गं ज्ञायते तत्तस्य दातव्यं भवेत् न त्वन्यत् । अपात्रे दाने महती श्रुताशातना जायते ॥ सू० ३७ ॥

पूर्वं श्रुताध्ययनयोग्यता प्रदर्शिता, सा च कर्मलाघवेन समुपलभ्यते, कर्मलाघवं चाचार्यादीनां वैयावृत्त्येन जायते, इति साम्प्रतं दशविधवैयावृत्त्यं तत्फलं च प्रदर्शयति—'दसविहे वेयावच्चे' इत्यादि ।

सूत्रम्—दसविहे वेयावच्चे पण्णत्ते तंजहा—आयरियवेयावच्चे १, उवज्झायवेयावच्चे २, थेरवेयावच्चे ३, तवस्सिवेयावच्चे ४, सेहवेयावच्चे ५ गिलाणवेयावच्चे ६ साहम्मियवेयावच्चे ७ कुलवेयावच्चे ८ गणवेयावच्चे ९ संघवेयावच्चे १० ॥३८॥

छाया—दशविधं वैयावृत्त्यं प्रज्ञप्तम्, तद्यथा-आचार्यवैयावृत्त्यम् १, उपाध्यायवैयावृत्त्यम् २, स्थविरवैयावृत्त्यम् ३, तपस्विवैयावृत्त्यम् ४, शैक्षवैयावृत्त्यम् ५, ग्लानवैयावृत्त्यम् ६, साधर्मिकवैयावृत्त्यम् ७, कुलवैयावृत्त्यम् ८, गणवैयावृत्त्यम् ९, सङ्घवैयावृत्त्यम् ॥ सू० ३८ ॥

भाष्यम्—'दसविहे वेयावच्चे पन्नत्ते' दशविधं दशप्रकारकं वैयावृत्त्यं प्रज्ञप्तं कथितम् । तानेव दश भेदान् दर्शयितुमाह—'तंजहा' इत्यादि, 'तंजहा' तद्यथा—'आयरियवेयावच्चे' आचार्यवैयावृत्त्यम्, तत्राचार्यस्य गणनायकस्य वैयावृत्त्यं भक्तपानादिना तस्य सेवाकरणमिति प्रथमं वैयावृत्त्यम् १ ।

'उवज्झायवेयावच्चे' उपाध्यायवैयावृत्त्यम्, तत्रोपाध्यायस्य यस्य-उप-समीपे आगत्याधीयते सूत्रार्थतदुभयमिति स उपाध्यायस्तस्य वैयावृत्त्यमिति द्वितीयं वैयावृत्त्यम् २ ।

'थेरवेयावच्चे' स्थविरवैयावृत्त्यम् स्थविरस्य श्रुतपर्यायावस्थाभेदेन त्रिविधस्य स्थविरस्य वैयावृत्त्यं तृतीयं वैयावृत्त्यम् ३ ।

'तवस्सिवेयावच्चे' तपस्विवैयावृत्त्यम्, तत्र तपो बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विविधं, तत्करोति यः स तपस्वी, तस्य तपस्विनो वैयावृत्त्यं चतुर्थं वैयावृत्त्यम् ४ ।

'सेहवेयावच्चे' शैक्षवैयावृत्त्यम्, तत्र शैक्षः शिक्ष्यते शास्त्रदर्शितविधिर्ज्ञायते व्रतातिचारादिर्यस्य सः शैक्षः शिक्षयितुं योग्यः शैक्षः, यद्वा ग्रहणासेवनशिक्षायोग्यः शैक्षस्तस्य वैयावृत्त्यम् समये समये तस्य वैयावृत्त्यं ग्रहणासेवनीशिक्षाप्रदानरूपं पञ्चमं वैयावृत्त्यम् ५ ।

'गिलाणवेयावच्चे' ग्लानवैयावृत्त्यम् तत्र—ग्लानो रोगतपोभेदेन द्विविधः, रोगेण ग्लानस्तपसा वा ग्लानस्तस्य वैयावृत्त्यम् औषधान्नपानादिभिरभिभावनमिति षष्ठं वैयावृत्त्यम् ६ ।

'साहम्मियवेयावच्चे' साधर्मिकवैयावृत्त्यम्, तत्र समान एको धर्मः श्रुतचारित्रलक्षणो येषां ते साधर्मिकाः समानधर्माचरणशीलाः साधवस्तेषां वैयावृत्त्यं सप्तमं वैयावृत्त्यम् ७ ।

'कुलवेयावच्चे' कुलवैयावृत्त्यम् तत्र कुलम् एकगुरुपरिवाररूपः साधुसमुदायस्तस्य वैयावृत्त्यम् अष्टमं वैयावृत्त्यम् ८ ।

'गणवेयावच्चे' गणवैयावृत्त्यम्, गणस्य एकगुरुपरम्परागत साधुसमुदायस्य वैयावृत्त्यं नवमं वैयावृत्त्यम् ९ ।

'संघवेयावच्चे' सङ्घवैयावृत्त्यम्, तत्र संघस्य साधुसाध्वीरूपस्य भक्तपानवस्त्रपात्रादिना, चतुर्विधसंघस्य वा परतीर्थिकविवादनिवारणादिना सदुपदेशादिना च वैयावृत्त्यम् दशमं वैयावृत्त्यम् १० । एतद्दशविधं वैयावृत्त्यं भगवता प्ररूपितमिति ॥ सू० ३८ ॥

पूर्वं दशविधं वैयावृत्त्यं नामनिर्देशपूर्वकं प्रदर्शितम्, साम्प्रतं सर्वेषां मुख्यत्वेन प्रथममाचार्यवैयावृत्त्यस्य फलं प्रदर्शयति—'आयरियवेयावच्चं' इत्यादि ।

सूत्रम्—आयरियवेयावच्चं करेमाणे समणे णिग्गंथे महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ ॥ सू० ३९ ॥

छाया—आचार्यवैयावृत्यं कुर्वन् श्रमणो निर्ग्रन्थो महानिर्जरो महापर्यवसानो भवति ॥ सू० ३९ ॥

'आयरियवेयावच्चे' आचार्यवैयावृत्त्यम्, तत्राचार्यस्य गणनायकस्य वैयावृत्त्यं, तच्च त्रयोदशभिः प्रकारैः क्रियते, अत्र गाथाद्वयमाह—'भत्तं पाणं च' इत्यादि ।

"भत्तं १ पाणं २ च सेज्जा ३, आसणदाणं ४ तहेव पडिलेहा ५ ।
पायपमज्जण ६ ओसह ७, अद्धागमणे ८ य रायदुट्ठे य ९ ॥१॥
तेणा १० पत्तग्गहणं ११, गेलन्ने १२ पत्तढोयणं १३ चेव ।
एवं आयरियाणं, वेयावच्चं करेइ मोक्खट्ठी" ॥२॥

छाया—भक्तं पानं शय्या, आसनदानं तथैव प्रतिलेखा ।
पादप्रमार्जन मौषधः, अध्वगमने च राजद्विष्टे च ॥१॥
स्तेनात् पात्रग्रहणं; ग्लाने पात्रढौकनं चैव ।
एवमाचार्याणां, वैयावृत्यं करोति मोक्षार्थी । २॥

अयं भावः—भक्तं पानं च यथासमयं दीयते इति २, **'सेज्जा'** शय्या संस्तारकं क्रियते ३, समीपागमनेऽभ्युत्थानपूर्वकमासनदानम् ४, एवमेव तेषां क्षेत्रवस्त्रपात्रादीनां प्रतिलेखनाकरणम् ५, बहिःप्रदेशादागतानां पादप्रमार्जनकरणम् ६, ग्लानत्वे औषधभैषज्यादिना परिचरणम् ७, अध्वगमने–मार्गगमने तेषामुपधेर्वहनम्, विश्रामणयोपष्टम्भनं च ८, राजद्विष्टे–राज्ञि द्विष्टे सति तत्कृतोपद्रवान्निस्तारणम् ९, **'तेणा'** स्तेनात्-शरीरोपधेः स्तेनाद्रक्षणम् १०, **पत्तग्गहणं** विचारभूमित आगतानां पात्रादीनां स्वहस्ते धारणम् ११, ग्लाने यद् योग्यं पथ्यादि तदानीय समर्पणम् १२, **'पत्तढोयणं'** पात्रढौकनम्–उच्चार-प्रस्रवण-खेल–सम्बन्धिपात्रत्रिकस्य तदग्रे स्थापनम् १३ । एवं त्रयोदशभिः प्रकारैराचार्याणां वैयावृत्त्यं यो मोक्षार्थी श्रमणः स करोति तस्य मोक्षप्राप्तिहेतुकत्वात्, इति गाथाद्वयार्थः ॥२॥

एवं त्रयोदशप्रकारै वैयावृत्त्यम् **'करेमाणे'** कुर्वन् निर्जराभावेन संपादयन् **'समणे णिग्गंथे'** श्रमणो निर्ग्रन्थः **'महानिज्जरे'** महानिर्जरः महती निर्जरा–कर्मशातनारूपा यस्य स महानिर्जरः, आचार्यस्य वैयावृत्त्यक्रियायामायुक्तः श्रमणोऽनुसमयं कर्मकोटिं क्षपयति । यत. कर्मकोटिक्षपकस्ततोऽयम् **'महापज्जवसाणे भवइ'** महापर्यवसानो भवति, तत्र महत् पुनरबन्धकत्वेन पर्यवसानं ज्ञानावरणीयाद्यष्टविधकर्मणां परि–समन्तादात्मप्रदेशाद् अवसानम् अन्तो जातो यस्य स महापर्यव सानः सर्वकर्मक्षयकरो भवति जायते स तद्भवे एव मोक्षगामी भवतीति भावः ॥ सू० ३९ ॥

पूर्वमाचार्यवैयावृत्त्यस्य फलमुक्तम्, एवमेव शेषाणामुपाध्यायादीनामपि वैयावृत्त्यकरणे एतदेव फलं भवतीति उपाध्यायादीनां नवानां वैयावृत्यफलं प्रदर्शयन् नवसूत्रीमाह–**उवज्झाय०'** इत्यादि ।

सूत्रम्—उवज्झायवेयावच्चं करेमाणे समणे णिग्गंथे महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ ॥ सू० ४० ॥

थेरवेयावच्चं करेमाणे समणे णिग्गंथे महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ सू०४१
तवस्सि वेयावच्चं करेमाणे समणे णिग्गंथे महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ ४२

छाया—उपाध्यायवैयावृत्यं कुर्वाणः श्रमणो निर्ग्रन्थो महानिर्जरो महापर्यवसानो भवति ॥ सू० ४० ॥
स्थविरवैयावृत्यं कुर्वन् श्रमणो निर्ग्रन्थो महानिर्जरो महापर्यवसानो भवति ॥ सू०४१
तपस्वि वैयावृत्य कुर्वन् श्रमणो निर्ग्रन्थो महानिर्जरो महापर्यवसानो भवति ॥सू०४२

सूत्रम्—सेहवेयावच्चं करेमाणे समणे निग्गंथे महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ ॥ ४३॥

गिलाणवेयावच्चं करेमाणे समणे णिग्गंथे महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ॥ ४४ ॥

साहम्मियवेयावच्चं करेमाणे समणे णिग्गंथे महानिज्जरे महापज्वसाणे भवइ ॥ ४५ ॥

कुलवेयावच्चं करेमाणे समणे णिग्गंथे महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ ॥ ४६ ॥

गणवेयावच्चं करेमाणे समणे णिग्गंथे महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ ॥ ४७ ॥

संघवेयावच्चं करेमाणे समणे णिग्गंथे महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ ॥ ४८ ॥

ववहारे दसमो उद्देसो समत्तो ॥१॥

छाया—शैक्षवैयावृत्यं कुर्वन् श्रमणो निर्ग्रन्थो महानिर्जरो महापर्यवसानो भवति ॥सू० ४३॥
ग्लानवैयावृत्त्यं कुर्वाणः श्रमणो निर्ग्रन्थो महानिर्जरो महापर्यवसानो भवति ॥सू ४४॥
साधमिकवैयावृत्त्यं कुर्वाणः श्रमणो निर्ग्रन्थो महानिर्जरो महापर्यवसानो भवति ॥४५॥
कुलवैयावृत्त्यं कुर्वन् श्रमणो निर्ग्रन्थो महानिर्जरो महापर्यवसानो भवति ॥४६॥
गणवैयावृत्त्यं कुर्वन् श्रमणो निर्ग्रन्थो महानिर्जरो महापर्यवसानो भवति ॥४७॥
संघवैयावृत्त्यं कुर्वन् श्रमणो निर्ग्रन्थो महानिर्जरो महापर्यवसानो भवति ॥४८॥

भाष्यम्'—उवज्झायवेयावच्चं करेमाणे' इति सूत्रादारभ्य 'संघवेयावच्चं करेमाणे' इति सूत्रपर्यन्तानां नवानामपि सूत्राणां व्याख्या—आचार्यवैयावृत्यसूत्रवदेव कर्त्तव्या।

अयं भावः—आचार्यादीना दशानामपि वैयावृत्त्यं कुर्वन् श्रमणो निर्ग्रन्थो महानिर्जरो महापर्यवसानो भवति। निर्जराभावेन कृतस्य वैयावृत्यस्य मोक्षप्रापकत्वेन भगवदुपदिष्टत्वात् ॥ सू० ४०—४८ ॥

इति श्री—विश्वविख्यात—जगद्वल्लभ - प्रसिद्धवाचक—पञ्चदशभाषाकलितललितकलापालापक—प्रविशुद्धगद्यपद्यनैकग्रन्थनिर्मापक—वादिमानमर्दक—श्रीशाहूछत्रपतिकोल्हापुरराजप्रदत्त-"जैनाचार्य"—पदभूषित—कोल्हापुरराजगुरु—बालब्रह्मचारि- जैनाचार्य—जैन-धर्म-दिवाकर—पूज्यश्री—घासीलालव्रति—विरचितायां "व्यवहारसूत्रस्य" भाष्यरूपायां व्याख्यायां दशम उद्देशः समाप्तः ॥१०॥

श्री-व्यवहारसूत्रस्य

मूलपाठः

सूत्रम्—जे भिक्खू मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचिय आलोएमाणस्स मासियं, पलिउंचिय आलोएमाणस्स दोमासियं ॥१॥

जे भिक्खू दोमासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचिय आलोए-माणस्स दोमासियं, पलिउंचिए आलोएमाणस्स तिमासियं ॥२॥

जे भिक्खू तेमासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचिय आलो-एमाणस्स तेमासियं, पलिउंचिय आलोएमाणस्स चाउम्मासियं ॥३॥

जे भिक्खू चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचिय आलोएमाणस्स चाउम्मासियं, पलिउंचिय आलोएमाणस्स पंचमासियं ॥४॥

जे भिक्खू पंचमासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचिय आलोएमाणस्स पंचमासियं, पलिउंचिय आलोएमाणस्स छम्मासियं ॥५॥

तेण परं पलिउंचिए वा अपलिउंचिए वा ते चेव छम्मासा ॥६॥

जे भिक्खू बहुसोवि मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचिय आलोएमाणस्स मासियं, पलिउंचिय आलोएमाणस्स दोमासियं ॥७॥

जे भिक्खू बहुसोवि दोमासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलि-उंचिय आलोएमाणस्स दोमासियं, पलिउंचिय आलोएमाणस्स तेमासियं ॥८॥

जे भिक्खू बहुसोवि तेमासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलि-उंचिय आलोएमाणस्स तेमासियं, पलिउंचिय आलोएमाणस्स चाउम्मासियं ॥९॥

जे भिक्खू बहुसोवि चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलि-उंचिय आलोएमाणस्स चाउम्मासियं, पलिउंचिय आलोएमाणस्स पंचमासियं ॥१०॥

जे भिक्खू बहुसोवि पंचमासियं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलि-उंचिय आलोएमाणस्स पंचमासियं, पलिउंचिय आलोएमाणस्स छम्मासियं ॥११॥

तेण परं पलिउंचिए वा अपलिउंचिए वा, ते चेव छम्मासा ॥१२॥

जे भिक्खू मासियं वा, दोमासियं वा, तेमासियं वा चाउमासियं वा, पंचमासियं वा, एएसिं परिहारट्ठाणाणं अन्नयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचिय आलोएमाणस्स मासियं वा दोमासियं वा तेमासियं वा चाउम्मासियं वा पंचमासियं वा, पलिउंचिय आलोएमाणस्स दोमासियं वा तेमासियं वा चाउम्मासियं पचमासियं वा छम्मासियं वा, तेण परं पलिउंचिए वा अपलिउंचिए वा ते चेव छम्मासा ॥१३॥

जे भिक्खू बहुसोवि मासियं वा बहुसोवि दोमासियं वा, बहुसोवि तेमासियं वा, बहुसोवि चाउम्मासियं वा, बहुसोवि पंचमासियं वा, एएसिं परिहारट्ठाणाणं अन्नयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचिय आलोएमाणस्स मासियं वा, दोमासियं वा, तेमासियं वा; चाउम्मासियं वा, पंचमासियं वा, पलिउंचिय आलोएमाणस्स दोमासियं वा, तेमासियं वा, चाउम्मासियं वा, पंचमासियं वा, छम्मासियं वा; तेण परं पलिउंचिए वा, अपलिउंचिए वा, ते चेव छम्मासाः ॥१४॥

जे भिक्खू चाउम्मासियं वा साइरेगचाउम्मासियं वा, पंचमासियं वा साइरेगपंचमासियं वा, एएसिं परिहारट्ठाणाणं अन्नयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचिय आलोएमाणस्स चाउम्मासियं वा साइरेगचाउम्मासियं वा पंचमासियं वा साइरेगपचमासियं वा, पलिउंचिय आलोएमाणस्स पंचमासियं वा साइरेगपंचमासियं वा छम्मासियं वा, तेण परं पलिउंचिए वा अपलिउंचिए वा ते चेव छम्मासा ॥

जे भिक्खू बहुसोवि चाउम्मासियं वा, बहुसोवि साइरेगचाउम्मासियं वा बहुसोवि पंचमासियं वा बहुसोवि साइरेगपंचमासियं वा, एएसिं परिहारट्ठाणाणं अन्नयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचिय आलोएमाणस्स चाउम्मासियं वा साइरेगचाउम्मासियं वा पंचमासियं वा साइरेगपंचथासियं वा, पलिउंचिय आलोएमाणस्स पंचमासियं वा साइरेगपंचमासियं वा छम्मासियं वा, तेण परं पलिउंचिए वा अपलिउंचिए वा ते चेव छम्मासा ॥१६॥

जे भिक्खू चाउम्मासियं वा, साइरेगचाउम्मासियं वा, पंचमासियं वा, साइरेगपंचमासियं वा, एएसिं परिहारट्ठाणाणं अन्नयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचिय आलोएणाणस्स ठवणिज्जं ठावइत्ता करणिज्जं वेयावडियं, ठाविएवि पडिसेवित्ता सेवि कसिणे तत्थेव आरुहियव्वे या, सिपुव्वं पडिसेवियं पुव्वं

आलोइयं १, पुव्वं पडिसेवियं पच्छा आलोइयं २, पच्छा पडिसेवियं पुव्वं आलोइयं ३, पच्छा पडिसेवियं पच्छा आलोइयं ४। अपलिउंचिए अपलिउंचियं १, अपलिउंचिए पलिउंचियं २, पलिउंचिए अपलिउंचियं ३, पलिउंचिए पलिउंचियं ४। अपलिउंचिए अपलिउंचियं आलोएमाणस्स सव्वमेयं सकयं साहणिय जे एयाए पट्ठवणाए पट्ठविए निव्विसमाणे पडिसेवइ सेवि कसिणे तत्थेव आरुहियव्वे सिया ॥१७॥

जे भिक्खू चाउम्मासियं वा, साइरेगचाउम्मासियं वा, पंचमासियं वा साइरेगपंचमासियं वा, एएसिं परिहारट्ठाणाणं अन्नयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, पलिउंचिय आलोएमाणस्स ठवणिज्ज ठावइत्ता करणिज्जं वेयावडियं, ठाविएवि पडिसेवित्ता सेवि कसिणे तत्थेव आरुहियव्वे सिया, पुव्वं पडिसेवियं पुव्वं आलोइयं १, पुव्वं पडिसेवियं पच्छा आलोइयं २, पच्छा पडिसेवियं पुव्वं आलोइयं३, पच्छा पडिसेवियं-पच्छा आलोइयं ४,। अपलिउंचिए अपलिउंचियं १,अपलिउंचिए पलिउंचियं २,पलिउंचिए अपलिउंचियं ३, पलिउंचिए पलिउंचियं ४,। पलिउंचिए पलिउंचियं आलोएमाणस्स सव्वमेयं सकयं साहणिय जे एयाए पट्ठवणाए पट्ठविए निव्विसमाणे पडिसेवइ सेवि कसिणे तत्थेव आरुहियव्वे सिया ॥१८॥

जे भिक्खू वहुसोवि चाउम्मासियं वा वहुसोवि साइरेगचाउम्मासियं वा, वहुसोवि पंचमासियं वा वहुसोवि साइरेगपंचमासियं वा, एएसिं परिहारट्ठाणाणं अन्नयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचिय आलोएमाणस्स ठवणिज्जं ठावइत्ता करणिज्जं वेयावडियं, ठाविएवि पडिसेवित्ता सेवि कसिणे तत्थेव आरुहियव्वे सिया, पुव्वं पडिसेविय पुव्वं आलोइयं १, पुव्वं पडिसेवियं पच्छा आलोइयं २, पच्छा पडिसेवियं पुव्वं आलोइयं ३, पच्छा पडिसेवियं पच्छा आलोइयं ४। अपलिउंचिए अपलिउंचियं १, अपलिउंचिए पलिउंचियं २, पलिउंचिए अपलिउंचियं ३, पलिउंचिए पलिउंचियं ४, अपधिउंचिए अपलिउंचियं आलोएमाणस्स सव्वमेयं सकयं साहणिय जे एयाए पट्ठवणाए पट्ठविए निव्विसमाणे पडिसेवइ सेवि कसिणे तत्थेव आरुहियव्वे सिया ॥१९॥

जे भिक्खू वहुसोवि चाउम्मासियं वा वहुसोवि साइरेगचाउम्मासियं वा वहुसोवि पंचमासियं वा वहुसोवि साइरेगपंचमासियं वा, एएसिं परिहारट्ठाणाणं अन्नयरं परिहारट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, पलिउंचिय आलोएमाणस्स ठवणिज्जं

ठावइत्ता, करणिज्जं वेयावडियं, ठाविएवि पडिसेवित्ता सेवि कसिणे तत्थेव आरुहियव्वे सिया, पुव्वं पडिसेवियं पुव्वं आलोइयं १, पुव्वं पडिसेवियं पच्छा आलोइयं २, पच्छा पडिसेवियं पुव्वं आलोइयं ३, पच्छा पडिसेवियं पच्छा आलोइयं ४ । अपलिउंचिए अपलिउंचियं १, अपलिउंचिए पलिउंचियं २, पलिउंचिए अपलिउंचियं ३, पलिउंचिए पलिउंचियं ४ । पलिउंचिए पलिउंचियं आलोएमाणस्स सव्वमेयं सकयं साहणिय जे एयाए पट्ठवणाए पट्ठविए निव्विसमाणे पडिसेवइ सेवि कसिणे तत्थेव आरुहियव्वे सिया ॥२०॥

बहवे परिहारिया बहवे अपरिहारिया इच्छेज्जा एगयओ अभिनिसेज्जं वा अभिनिसीहियं वा चेइत्तए नो ण्हं से कप्पइ थेरे अणापुच्छित्ता एगयओ अभिनिसेज्जं वा अभिनिसीहि यं वा चेइत्तए, कप्पइ ण्हं से थेरे आपुच्छित्ता एगयओ अभिनिसेज्जं वा अभिनिसीहियं वा चेइत्तए, थेरा य ण्हं से वियरेज्जा एवं ण्हं कप्पइ एगयओ अभिनिसेज्जं वा अभिनिसीहियं वा चेइत्तए, थेरा य ण्हं से नो वियरेज्जा एवं ण्हं नो कप्पइ एगयओ अभिनिसेज्जं वा अभिनिसीहियं वा चेइत्तए । जो ण्हं थेरेहिं अविइण्णे अभिनिसेज्जं वा अभिनिसीहियं वा चेएइ से संतरा छेए वा परिहारे वा ॥२१॥

परिहारकप्पट्ठिए भिक्खू बहिया थेराणं वेयावडियाए गच्छेज्जा, थेरा य से सरेज्जा कप्पइ से एगराइयाए पडिमाए जं णं जं णं दिसं अण्णे साहम्मिया विहरंति तं णं तं णं दिसं उवलित्तए, नो से कप्पइ तत्थ विहारवत्तियं वत्थए, कप्पइ से तत्थ कारणवत्तियं वत्थए, तंसि च णं कारणंसि निट्ठियंसि परो वएज्जा वसाहि अज्जो ! एगरायं वा दुरायं वा, एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए, नो से कप्पइ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वत्थए, जे तत्थ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वसइ से संतरा छेए वा परिहारे ॥२२॥

परिहारकप्पट्ठिए भिक्खू बहिया थेराणं वेयावडियाए गच्छेज्जा, थेरा य से नो सरेज्जा कप्पइ से निव्विसमाणस्स एगराइयाए पडिमाए जं णं जं णं दिसं अन्ने साहम्मिवा विहरंति तं णं तं णं दिसं उवलित्तए, नो से कप्पइ तत्थ विहारवत्तियं वत्थए, कप्पइ से तत्थ कारणवत्तियं वत्थए, तंसि च णं कारणंसि निट्ठियंसि परो वएज्जा वसाहि अज्जो ! एगरायं वा दुरायं वा, एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए, नो से कप्पइ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वत्थए, जं तत्थ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वसइ से संतरा छेए वा परिहारे वा ॥२३॥

परिहारकप्पट्ठिए भिक्खू बहिया थेराणं वेयावडियाए गच्छेज्जा, थेरा य से सरेज्जा वा नो सरेज्जा वा कप्पइ से निव्विसमाणस्स एगराइयाए पडिमाए जं णं जं णं दिसं अन्ने साहम्मिया विहरंति तं णं तं णं दिसं उवलित्तए, नो से कप्पइ तत्थ विहारवत्तियं वत्थए, कप्पइ से तत्थ कारणवत्तियं वत्थए, तंसि च णं कारणंसि निट्ठियंसि परो वएज्जा वसाहि अज्जो ! एगरायं वा दुरायं वा एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थइ, नो से कप्पइ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वत्थए, जं तत्थ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वसइ से संतरा छेए वा परिहारे वा ॥२४॥

भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म एगल्लविहारपडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरेज्जा, से य इच्छेज्जा दोच्चंपि तमेव गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए अत्थि या इत्थ सेसे पुणो आलोएज्जा पडिक्कमेज्जा पुणो छेयपरिहारस्स उवट्ठाएज्जा ॥२५॥

गणावच्छेयए य गणाओ अवक्कम्म एगल्लविहारपडिमं उवसंपज्जित्ता णं विरेज्जा, से य इच्छेज्जा दोच्चंपि तमेव गणं उवसंपज्जिता णं विहरित्तए पुणो आलोएज्जा पुणो पडिक्कमेज्जा पुणो छेयपरिहारस्स उवट्ठावेज्जा ॥२६॥

आयरियउवज्झाए य गणाओ अवक्कम्म एगल्लविहारपडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरेज्जा, से य इच्छेज्जा दोच्चंपि तमेव गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए पुणो आलोएज्जा पुणो पडिक्कमेज्जा पुणो छेयपरिहारस्स उवट्ठाएज्जा ॥२७॥

भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म पासत्थविहारपडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरेज्जा, से य इच्छेज्जा दोच्चंपि तमेव गणं ववसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, अत्थि या इत्थ सेसे पुणो आलोएज्जा पुणो पडिक्कमेज्जा पुणो छेयस्स वा परिहारस्स वा उवट्ठावेज्जा ॥२८॥

भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म जहाछंदविहारपडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरेज्जा, से य इच्छेज्जा दोच्चंपि तमेव गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, अत्थि या इत्थ सेसे पुणो आलोएज्जा पुणो पडिक्कमेज्जा पुणो छेयस्स वा परिहारस्स वा उवट्ठावेज्जा ॥२९॥

भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म कुसीलविहारपडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरेज्जा, से य इच्छेज्जा दोच्चंपि तमेव गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए अत्थि या इत्थ सेसे पुणो आलोएज्जा पुणो पडिक्कमेज्जा पुणो छेयस्स वा परिहारस्स वा उवट्ठावेज्जा ॥३०॥

भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म ओसन्नविहारपडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरेज्जा, से य इच्छेज्जा दोच्चंपि तमेव गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए अत्थि या इत्थ सेसे पुणो आलोएज्जा पुणो पडिक्कमेज्जा पुणो छेयस्स वा परिहारस्स वा उवट्ठावेज्जा ॥३१॥

भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म संसत्तविहारपडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरेज्जा, से य इच्छेज्जा दोच्चंपि तमेव गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए अत्थि या इत्थ सेसे पुणो आलोएज्जा पुणो पडिक्कमेज्जा पुणो छेयस्स वा परिहारस्स वा उवट्ठावेज्जा ॥३२॥

भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म परपासंडपडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरेज्जा, से य इच्छेज्जा दोच्चंपि तमेव गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, नत्थि णं तस्स तप्पत्तिए केइ छेए वा परिहारे वा, नन्नत्थ एगाए आलोयणाए ॥३३॥

भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म ओहावेज्जा, से य इच्छेज्जा दोच्चंपि तमेव गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, नत्थि णं तस्स तप्पत्तिए केइ छेए वा परिहारे वा नन्नत्थ एगाए सेहोवणियाए ॥३४॥

भिक्खू य अन्नयरं अकिच्चट्ठाणं सेवित्ता इच्छेज्जा आलोइत्तए जत्थेव अप्पणो आयरियउवज्झाए पासेज्जा तेसंतियं आलोज्जा पडिक्कमेज्जा निंदेज्जा गरहेज्जा विउट्टेज्जा विसोहेज्जा अकरणयाए अब्भुट्ठेज्जा अहारिहं तवोकम्मं पाय च्छित्तं पडिवज्जेज्जा (१)।

नो चेव अप्पणो आयरियउवज्झाए जत्थेव संभोइयं साहम्मियं पासेज्जा वहुस्सुयं वब्भागमं तस्संतियं आलोएज्जा पडिक्कमेज्जा निंदेज्जा गरहेज्जा विउट्टेज्जा विसोहेज्जा अकरणयाए उब्भुट्ठेज्जा अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जेज्जा (२)।

नो चेव संभोइयं साहम्मियं, जत्थेव अन्नसंभोइयं साहम्मियं पासेज्जा वहुस्सुयं वब्भागमं तस्संतियं आलोएज्जा पडिक्कमेज्जा निंदेज्जा गरहेज्जा विउट्टेज्जा विसोहेज्जा अकरणाए अब्भुट्ठेज्जा अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जेज्जा (३)

नो चेव अन्नसंभोइयं साहम्मियं जत्थेव सारूवियं पासेज्जा वहुस्सुयं वब्भागमं तस्संतियं आलोएज्जा पडिक्कमेज्जा निंदेज्जा गरहेज्जा विउट्टेज्जा विसोहेज्जा अकरण-याए अब्भुट्ठेज्जा अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जेज्जा (४)।

नो चेव सारूवियं पासेज्जा वहुस्सुयं वब्भागमं जत्थेव समणोवासगं पच्छाकडं पासेज्जा वहुस्सुयं वब्भागमं तस्संतिए आलोएज्जा पडिक्खमेज्जा निंदेज्जा गरहेज्जा विउट्टेज्जा विसोहेज्जा अकरणयाए अब्भुट्ठेज्जा अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडि-वज्जेज्जा (५)।

नो चेव समणोवासगं पच्छाकडं पासेज्जा बहुस्सुयं बब्भागमं जत्थेव सम्मं-भावियाइं चेइयाइं पासेज्जा तेसंतिए आलोएज्जा पडिकक्मेज्जा निंदेज्जा गरहेज्जा विउट्टेज्जा विसोहेज्जा अकरणयाए अब्भुट्ठेज्जा अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिव-ज्जेज्जा (६)।

नो चेव सम्मंभावियाइं चेइयाइं पासेज्जा, बहिया गामस्स वा नगरस्स वा निग-मस्स वा रायहाणीए वा खेडस्स वा कब्बडस्स वा मडंबस्स वा पट्टणस्स वा दोणमु हस्स वा आसमस्स वा संवाहस्स वा संनिवेसस्स वा पाईणाभिमुहे वा उदीणाभिमुहे वा करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वएज्जा-एवइया मे अवराहा एवइक्खुत्तो अहं अवरद्धो अरहंताणं सिद्धाणं अंतिए आलोएज्जा पडिक्कमेज्जा निंदेज्जा गरहेज्जा विउट्टेज्जा विसोहेज्जा अकरणयाए अब्भुट्ठेज्जा अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जेज्जासि (७) त्ति बेमि ॥३५॥

॥ ववहारे पढमो उद्देसो समत्तो ॥

॥ बीओ उद्देसो ॥

दो साहम्मिया एगयओ विहरंति एगे तत्थ अन्नयरं अकिच्चट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा ठवणिज्जं ठावइत्ता करणिज्जं वेयावडियं ॥१॥

दो साहम्मिया एगयओ विहरंति दोवि ते अण्णयरं अकिच्चट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा एगं तत्थ कप्पागं ठावइत्ता एगे णिव्विसेज्जा अह पच्छा सेवि णिव्विसेज्जा ॥२॥

बहवे साहम्मिया एगयओ विहरंति एगे तत्थ अण्णयरं अकिच्चट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, तत्थ ठवणिज्जं ठावइत्ता करणिज्जं वेयावडियं ॥३॥

बहवे साहम्मिया एगयओ विहरंति सव्वेवि ते अण्णयरं अकिच्चट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, एगं तत्थ कप्पागं ठावइत्ता अवसेसा णिव्विसिज्जा, अह पच्छा सेवि णिव्विसेज्जा ॥४॥

परिहारकप्पट्ठिए भिक्खू गिलायमाणे अण्णयरं अकिच्चट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा से य संथरेज्जा ठवणिज्जं ठावइत्ता करणिज्जं वेयावडियं,

से य णो संथरेज्जा अणुपारिहारिएणं करणिज्जं वेयावडियं, से य संते बले अणुपारिहारिएणं कीरमाणं वेयावडियं साइज्जेज्जा से य कसिणे तत्थेव आरुहियव्वे सिया ॥५॥

परिहारकप्पट्ठियं भिक्खुं गिलायमाणं णो कप्पइ तस्य गणावच्छेयगस्स णिज्जूहित्तए अगिलाए तस्य करणिज्जं वेयावडियं जाव तओ रोगायंकायो विप्पमुक्को, तओ पच्छा तस्स अहालहुस्सए नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया ॥६॥

अणवट्ठप्पं भिक्खुं गिलायमाणं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेयगस्स निज्जूहित्तए, अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं जाव तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को तओ पच्छा तस्स अहालहुस्सए नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया ॥७॥

पारंचियं भिक्खुं गिलायमाणं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेयगस्स निज्जूहित्तए, अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं जाव तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को तओ पच्छा तस्स अहालहुस्सगे नामं ववहारे पठवियव्वे सिया ॥८॥

खित्तचित्तं भिक्खुं गिलायमाणं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेयगस्स निज्जूहित्तए, अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं जाव तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को, तओ पच्छा तस्स अहालहुस्सए नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया ॥९॥

दित्तचित्तं भिक्खुं गिलायमाणं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेयगस्स निज्जूहित्तए, अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं जाव तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को तओ पच्छा तस्स अहालहुस्सगे नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया ॥१०॥

जक्खाइट्ठं भिक्खुं गिलायमाणं नो कप्पइ तस्य गणावच्छेयगस्स निज्जूहित्तए, अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं जाव तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को, तओ पच्छा तस्स अहालहुस्सगे नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया ॥११॥

उम्मायपत्तं भिक्खुं गिलायमाणं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेयगस्स निज्जूहित्तए, अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं जाव तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को, तओ पच्छा अहालहुस्सगे नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया ॥१२॥

उवसग्गपत्तं भिक्खुं गिलायमाणं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेयगस्स निज्जूहित्तए, अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं जाव तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को, तओ पच्छा तस्स अहालहुस्सगे नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया ॥१३॥

साहिगरणं भिक्खुं गिलायमाणं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेयगस्स, निज्जूहित्तए, अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं जाव तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को तओ पच्छा अहालहुस्सगे नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया ॥१४॥

सपायच्छित्तं भिक्खुं गिलायमाणं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेयगस्स निज्जूहित्तए, अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं जाव तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को, तओ पच्छा तस्स अहालहुस्सगे नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया ॥१५॥

भत्तपाणपडियाइक्खियं भिक्खुं गिलायमाणं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेयगस्स निज्जूहित्तए, अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं जाव तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को, तओ पच्छा अहालहुस्सगे नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया ॥१६॥

अट्ठजायं भिक्खुं गिलायमाणं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेयगस्स निज्जूहित्तए, अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं जाव तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को, तओ पच्छा अहालहुस्सगे नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया ॥१७॥

अणवट्ठप्पं भिक्खुं अगिहिभूयं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेयगस्स उवट्ठावेत्तए। अणवट्ठप्पं भिक्खुं गिहिभूयं कप्पइ तस्स गणावच्छेयगस्स उवट्ठावित्तए ॥१८॥

पारंचियं भिक्खुं अगिहिभूयं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेयगस्स उवट्ठावित्तए। पारंचियं भिक्खुं गिहिभूयं कप्पइ तस्स गणावच्छेयगस्स उवट्ठावित्तए ॥१९॥

अणवट्ठप्पं भिक्खुं पारंचियं वा भिक्खुं गिहिभूयं वा अगिहिभूयं वा कप्पइ तस्स गणावच्छेयगस्स उवट्ठावित्तए जहा तस्स गणस्स पत्तियं सिया ॥२०॥

दो साहम्मिया एगयओ विहरंति, एगे तत्थ अण्णयरं अकिच्चट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अहण्णं भंते ! अमुएणं साहुणा सद्धिं इमंमि य कारणंमि मेहुणपडिसेवी, पच्चयहेउं च सयं पडिसेवियं भणइ तत्थ पुच्छियव्वे किं पडिसेवी ? अपडिसेवी ?, से य वएज्जा पडिसेवी परिहारपत्ते। से य वएज्जा णो पडिसेवी णो परिहारपत्ते। जं से पमाणं वयइ से य पमाणाओ घेतव्वे सिया से किमाहु भंते !, सच्चपइण्णा ववहारा ॥२१॥

भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म ओहाणुपेही वएज्जा, से आहच्च अणोहाइओ, से य इच्छेज्जा दोच्चंपि तमेव गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए। तत्थ णं थेराणं इमेयारूवे विवाए समुप्पज्जिज्जा इमं अज्जो ! जाणह किं पडिसेवी किं अपडिसेवी ? से य वएज्जा पडिसेवी परिहारपत्ते, से य वएज्जा नो पडिसेवी नो परिहारपत्ते, जं से पमाणं वयइ से य पमाणाओ घेतव्वे, से किमाहु भंते !, सच्चपइण्णा ववहारा ॥२२॥

एगपक्खियस्स भिक्खुयस्स कप्पइ आयरियउवज्झायाणं इत्तरियं दिसं वा अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा जहा वा तस्स गणस्स पत्तियं सिया ॥२३॥

बहवे परिहारिया बहवे अपरिहारिया इच्छेज्जा एगयओ एगमासं वा दुमासं वा तिमासं वा चाउम्मासं वा पंचमासं वा छम्मासं वा वत्थए ते अन्नमन्नं संभुंजंति अन्नमन्नं नो संभुंजंति मासंते तओ पच्छा सव्वेवि एगयओ संभुंजंति ॥२४॥

परिहारकप्पट्ठियस्स भिक्खुस्स णो कप्पइ असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा दाउं वा अणुप्पदाउं वा, थेरा णं वएज्जा इमं ता अज्जो ! तुमं एएसिं देहि वा अणुप्पदेहि वा एवं से कप्पइ दाउं वा अणुप्पदाउं वा, कप्पइ से लेवं अणुजाणावित्तए अणुजाणाह भंते ! लेवाए एवं से कप्पइ लेवं समासेवित्तए ॥२५॥

परिहारकप्पट्ठिए भिक्खू सएणं पडिग्गहेणं बहिया अप्पणो वेयावडियाए गच्छेज्जा, थेरा य तं वएज्जा–पडिग्गाहेहि अज्जो ! अहंपि भोक्खामि वा पाहामि वा, एवं णं से कप्पइ पडिग्गाहित्तए, तत्थ णो कप्पइ अपरिहारिएणं परिहारियस्स

पडिग्गहंसि असणं वा पाणं वा खाइम वा साइमं वा भोत्तए वा पायए वा, कप्पइ से सयंसि पडिग्गहंसि सयंसि पलासगंसि कमढगंसि वा सयंसि खुव्वगंसि पाणिंसि वा उद्धट्टु उद्धट्टु वा भोत्तए वा पायए वा, एस कप्पे अपारिहारियस्स पारिहारियओ ॥२६॥

परिहारकप्पट्ठिए भिक्खू थेराणं पडिग्गहेणं वहिया थेराणं वेयावडियाए गच्छेज्जा थेरा य वएज्जा पडिग्गाहेहि अज्जो ! तुमंपि एत्थ भोक्खसि वा पाहसि वा, एवं से कप्पइ पडिग्गाहित्तए, तत्थ णो कप्पइ पारिहारिएणं अपारिहारियस्स पडिग्गहंसि असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा भोत्तए वा पायए वा, कप्पइ से सयंसि पडिग्गहंसि वा सयंसि पलासगंसि कमढगंसि वा सयंसि खुव्वगंसि वा सयंसि पाणिंसि वा उद्धट्टु उद्धट्टु भोत्तए वा पायए वा एस कप्पे पारिहारियस्स अपारिहारियओत्ति वेमि ॥२७॥

॥ ववहारे बीओ उद्देसो समत्तो ॥२॥

॥ तइओ उद्देसो ॥

भिक्खू य इच्छेज्जा गणं धारित्तए भगवं च से अपलिच्छण्णे एवं से नो कप्पइ गणं धारित्तए । भगवं च से पलिच्छन्ने एवं से कप्पइ गणं धारित्तए ॥१॥

भिक्खू य इच्छेज्जा गणं धारित्तए नो से कप्पइ थेरे अणापुच्छित्ता गणं धारित्तए । कप्पइ से थेरे आपुच्छित्ता गणं धारित्तए । थेरा य से वियरेज्जा एवं से कप्पइ गणं धारित्तए, थेरा य से नो वियरेज्जा एवं से नो कप्पइ गणं धारित्तए । जण्णं थेरेहिं अविइण्णं गणं धारेज्जा से संतरा छेए वा परिहारे वा ॥२॥

तिवासपरियाए समणे निग्गंथे आयारकुसले संजमकुसले पवयणकुसले पन्नत्तिकुसले संगहकुसले उवग्गहकुसले अक्खयायारे अभिन्नायारे असवलायारे असंकिलिट्ठायारे बहुस्सुए बब्भागमे जहन्नेणं आयारकप्पधरे कप्पइ उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए ॥३॥

सच्चेव णं से तिवासपरियाए समणे णिग्गंथे नो आयारकुसले नो संजमकुसले नो पवयणकुसले नो पन्नत्तिकुसले नो संगहकुसले नो उवग्गहकुसले खयायारे भिन्नायारे सवलायारे संकिलिट्ठायारे अप्पसुए अप्पागमे नो कप्पइ उवज्झायत्ताए द्दिसित्तए ॥४॥

पंचवासपरियाए समणे णिग्गंथे आयारकुसले संजमकुसले पवयणकुसले पन्नत्तिकुसले संगहकुसले उवग्गहकुसले अक्खयायारे असवलायारे असंकिलिट्ठायारे बहुस्सुए बब्भागमे जहन्नेणं दसाकप्पववहारधरे कप्पइ आयरियउवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए ॥५॥

सच्चेव णं से पंचवासपरियाए समणे णिग्गंथे नो आयारकुसले नो संजमकुसले नो पवयणकुसले नो पन्नत्तिकुसले नो संगहकुसले नो उवग्गहकुसले खयायारे भिन्नायारे सवलायारे संकिलिट्ठायारे अप्पसुए अप्पागमे नो कप्पइ आयरियउवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए ॥६॥

अट्ठवासपरियाए समणे णिग्गंथे आयारकुसले संजमकुसले पवयणकुसले पन्नत्तिकुसले संगहकुसले उवग्गहकुसले अक्खयायारे अभिन्नायारे असवलायारे बहुस्सुए बब्भागमे जहन्नेणं ठाणसमवायधरे कप्पइ आयरियत्ताए उवज्झायत्ताए गणावच्छेयगत्ताए उद्दिसित्तए ॥७॥

सच्चेव णं अट्ठवासपरियाए समणे णिग्गंथे नो आयारकुसले नो संजमकुसले नो पवयणकुसले नो पन्नत्तिकुसले नो संगहकुसले नो उवग्गहकुसले खयायारे भिन्नायारे

सबलायारे संकिलिट्ठायारे अप्पसुए अप्पागमे नो कप्पइ आयरियत्ताए उवज्झायत्ताए गणावच्छेयगत्ताए उद्दिसित्तए ॥८॥

निरुद्धपरियाए समणे णिग्गंथे कप्पइ तद्दिवसं आयरियउवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए, से किमाहु भंते !, अत्थि णं थेराणं तहारूवाणि कुलाणि कडाणि पत्तियाणि थेज्जाणि वेसासियाणि संमयाणि सम्मुइयकराणि अणुमयाणि बहुमयाणि भवंति, तेहिं कडेहिं तेहिं पत्तिएहिं तेहिं थेज्जेहिं तेहिं वेसासिएहिं तेहिं संमएहिं तेहिं संमुइयकरेहिं तेहिं अणुमएहिं तेहिं बहुमएहिं जं से निरुद्धपरियाए समणे णिग्गंथे कप्पइ आयरियउवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए तद्दिवसं ॥९॥

निरुद्धवासपरियाए समणे णिग्गंथे कप्पइ आयरियउवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए समुच्छेयकप्पंसि तस्स णं आयारपकप्पस्स देसे अवट्ठिए सेय 'अहिज्जिस्सामि'- त्ति अहिज्जेज्जा एवं से कप्पइ आयरियउवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए, से य 'अहिज्जिस्सामि'-- त्ति नो अहिज्जेज्जा एवं से नो कप्पइ आयरियउवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए तद्दिवसं ॥१०॥

णिग्गंथस्स णं नव–डहर–तरुणस्य आयरियउवज्झाए वीसंभेज्जा नो से कप्पइ अणायरियउवज्झायत्ताए होत्तए, कप्पइ से पुव्वं आयरियं उद्दिसावेत्ता तओ पच्छा उवज्झायं, से किमाहु भंते ! दुसंगहिए समणे णिग्गंथे तंजहा आयरिएण उवज्झाएण य ॥११॥

णिग्गंथीए णं नव डहर–तरुणीए आयरियउवज्झाए वीसंभेज्जा नो से कप्पइ अणायरियउवज्झायत्ताए होत्तए, कप्पइ से पुव्वं आयरियं उद्दिसावेत्ता तओ उवज्झायं, तओ पच्छा पवित्तिणिं, से किमाहु भंते ! तिसंगहिया समणी निग्गंथी तंजहा–आयरिएणं उवज्झाएणं पवित्तिणीए य ॥१२॥

भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म मेहुणं पडिसेवेज्जा तिण्णि संवच्छराणि तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेयगत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा, तिहिं संवच्छरेहिं वीइक्कंतेहिं चउत्थगंसि संवच्छरंसि पट्ठियंसि ठियस्स उवसंतस्स उवरयस्स पडिविरयस्स णिव्विगारस्स, एवं से कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेयगत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ॥१३॥

गणावच्छेयए गणावच्छेयगत्तं अणिक्खिवित्ता मेहुणधम्मं पडिसेवेज्जा जावज्जीवाए तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेयगत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ॥१४॥

गणावच्छेयए गणावच्छेयगत्तं णिक्खिवित्ता मेहुणधम्मं पडिसेवेज्जा तिण्णि संवच्छराणि तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेयगत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा, तिहिं संवच्छरेहिं वीइक्कंतेहिं चउत्थगंसि संवच्छरंसि पट्ठियंसि ठियस्स उवसंतस्स उवरयस्स पडिविरयस्स निव्विगारस्स एवं से कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेयगत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ॥१५॥

आयरियउवज्झाए आयरियउवज्झायत्तं अणिक्खिवित्ता मेहुणधम्मं पडिसेवेज्जा जावज्जीवाए तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेयगत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ॥१६॥

आयरियउवज्झाए आयरियउवज्झायत्तं णिक्खिवित्ता मेहुणधम्मं पडिसेवेज्जा तिण्णि संवच्छराणि तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेयगत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा, तिहिं संवच्छरेहिं वीइक्कंतेहिं चउत्थगंसि संवच्छरंसि पट्ठियंसि ठियस्स उवसंतस्स उवरयस्स पडिविरयस्स णिव्विगारस्स एवं से कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेयगत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ॥१७॥

भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म ओहाएज्जा, तिण्णि संवच्छराणि तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेयगत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा, तिहिं संवच्छरेहिं वीइक्कंतेहिं चउत्थगंसि संवच्छरंसि पट्ठियंसि ठियस्स उवसंतस्स उवरयस्स पडिविरयस्स निव्विगारस्स एवं से कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेयगत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ॥१८॥

गणावच्छेयए गणावच्छेयगत्तं अणिक्खिवित्ता ओहाएज्जा जावज्जीवाए तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेयगत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ॥

गणावच्छेयए गणावच्छेयगत्तं णिक्खिवित्ता ओहाएज्जा तिण्णि संवच्छराणि तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा गणावच्छेयगत्तं वा जाव उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा, तिहिं संवच्छरेहिं वीइक्कंतेहिं चउत्थगंसि संवच्छरंसि पट्ठियंसि ठियस्स उवसंतस्स उवरयस्स पडिविरयस्स निव्विगारस्स एवं से कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेयगत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ॥२०॥

आयरियउवज्झाए आयरियउवज्झायत्तं अणिक्खिवित्ता ओहाएज्जा जावज्जीवाए तस्स पप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेयगत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ॥२१॥

आयरियउवज्झाए आयरियउवज्झायत्तं णिक्खिवित्ता ओहाएज्जा तिण्णि संवच्छ
राणि तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेयगत्तं वा उद्दिसित्तए
धारित्तए वा, तिहिं संवच्छरेहिं वीइक्कंतेहिं चउत्थगंसि संवच्छरंसि पट्ठियंसि ठियस
उवसंतस्स उवरयस्स पडिविरयस्स निव्विगारस्स एवं से कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गण
वच्छेयगत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ॥२२॥

भिक्खू य वहुस्सुए वब्भागमे वहुसो वहुसु आगाढागाढेसु कारणेसु माई मुस
वाई असुई पापजीवी, जावज्जीवाए तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा जा
गणावच्छेयगत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ॥२३॥

गणावच्छेयए वहुस्सुए वब्भागमे वहुसो वहुसु आगाढागाढेसु कारणेसु मा
मुसावाई असुई पावजीवी जावज्जीवाए तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा जा
गणावच्छेयगत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ॥२४॥

आयरियउवज्झाए वहुस्सुए वब्भागमे वहुसो वहुसु आगाढागाढेसु कारणेसु मा
मुसावाई असुई पावजीवी जावज्जीवाए तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा जा
गणावच्छेयगत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ॥२५॥

वहवे भिक्खुणो वहुस्सुया वब्भागमा वहुसो वहुसु आगाढागाढेसु कारणेसु मा
मुसावाई असुई पावजीवी जावज्जीवाए तेसिं तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा जा
गणावच्छेयगत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ॥२६॥

वहवे गणावच्छेयया वहुस्सुया वब्भागमा वहुसो वहुसु आगाढागाढेसु कारणेसु
माई मुसावाई असुई पावजीवी जावज्जीवाए तेसिं तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं व
जाव गणावच्छेयगत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ॥२७॥

वहवे आयरियउवज्झाया वहुस्सुया वब्भागमा वहुसो वहुसु आगाढागाढेसु कार
णेसु माई मुसावाई असुई पावजीवी जावज्जीवाए तेसिं तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं
वा जाव गणावच्छेयगत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ॥२८॥

वहवे भिक्खुणो वहवे गणावच्छेयगा वहवे आयरियउवज्झाया वहुस्सुया वब्भागमा
वहुसो वहुसु आगाढागाढेसु कारणेसु माई मुसावाई असुई पावजीवी जावज्जीवाए तेसिं
तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेयगत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ॥

॥ ववहारे तइओ उद्देसो समत्तो ॥३॥

॥ चउत्थो उद्देसो ॥

नो कप्पइ आयरियउवज्झायस्स एगाणियस्स हेमंतगिम्हासु चरित्तए ॥१॥
कप्पइ आयरियउवज्झायस्स अप्पबिइयस्स हेमंतगिम्हासु चरित्तए ॥२॥
नो कप्पइ गणावच्छेयगस्स अप्पबिइयस्स हेमंतगिम्हासु चरित्तए ॥३॥
कप्पइ गणावच्छेयगस्स अप्पतइयस्स हेमंतगिम्हासु चरित्तए ॥४॥
नो कप्पइ आयरियउवज्झायस्स अप्पबिइयस्स वासावासं वत्थए ॥५॥
कप्पइ आयरियउवज्झायस्स अप्पतइयस्स वासावासं वत्थए ॥६॥
नो कप्पइ गणावच्छेयगस्स अप्पतइयस्स वासावासं वत्थए ॥७॥
कप्पइ गणावच्छेयगस्स अप्पचउत्थस्स वासावासं वत्थए ॥८॥

से गामंसि वा नगरंसि वा निगमंसि वा रायहाणीए वा खेडंसि वा कव्वडंसि वा मडंबंसि वा पट्टणंसि वा दोणमुहंसि वा आसमंसि वा संवाहंसि वा संनिवेसंसि बहूणं आयरियउवज्झायाणं अप्पबिइयाणं, बहूणं गच्छावच्छेयगाणं अप्पतइयाणं कप्पइ हेमंत-गिम्हासु चरित्तए अन्नमन्ननिस्साए ॥९॥

से गामंसि वा नगरंसि वा निगमंसि वा रायहाणीए वा खेडंसि वा कव्वडंसि वा मडंबंसि वा पट्टणंसि वा दोणमुहंसि वा आसमंसि वा संवाहंसि वा संनिवेसंसि वा बहूणं आयरियउवज्झायाणं अप्पतइयाणं, बहूणं गणावच्छेयगाणं अप्पचउत्थाणं कप्पइ वासावासं वत्थए अन्नमन्ननिस्साए ॥१०॥

गामाणुगामं दूइज्जमाणे भिक्खू जं पुरओ कट्टु विहरइ से आहच्च वीसंभेज्जा, अत्थि या इत्थ अन्ने केइ उवसंपज्जणारिहे से उवसंपज्जियव्वे, णत्थि या इत्थ अन्ने केइ उवसंपज्जणारिहे तस्स अप्पणो कप्पाए असमत्ते कप्पइ से एगराइयाए पडिमाए जण्णं जण्णं दिसं अन्ने साहम्मिया विहरंति तण्णं तण्णं दिसं उवलित्तए, नो से कप्पइ तत्थ विहारवत्तियं वत्थए, कप्पइ से तत्थ कारणवत्तियं वत्थए, तंसि च णं कारणंसि निट्ठियंसि परो वएज्जा वसाहि अज्जो ! एगरायं वा दुरायं वा एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए, नो से कप्पइ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वत्थए, जं तत्थ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वसइ से संतरा छेए वा परिहारे वा ॥११॥

वासावासं पज्जोसविओ भिक्खू जं पुरओ कट्टु विहरइ से आहच्च वीसंभेज्जा अत्थि या इत्थ अन्ने केइ उवसंपज्जणारिहे से उवसंपज्जियव्वे, नत्थि या इत्थ अन्ने केइ उव-

संपज्जणारिहे तस्स अप्पणो कप्पाए असमत्ते कप्पइ से एगराइयाए पडिमाए जण्णं जण्णं दिसं अन्ने साहम्मिया विहरंति तण्णं तण्णं दिसं उवलित्तए, नो से कप्पइ तत्थ विहारवत्तियं वत्थए, कप्पइ से तत्थ कारणवत्तियं वत्थए। तंसि च णं कारणंसि निट्ठियंसि परो वएज्जा वसाहि अज्जो! एगरायं वा दुरायं वा एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए, नो से कप्पइ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वत्थए, जं तत्थ एगरायाओ वा दुरायाओ वा परं वसइ से संतरा छेए वा परिहारे वा ॥१२॥

आयरियउवज्झाए गिलायमाणे अन्नयरं वएज्जा अज्जो! ममंसि णं कालगयंसि समाणंसि अयं समुक्कसियव्वे, से य समुक्कसणारिहे समुक्कसियव्वे, से य नो समुक्कसणारिहे नो समुक्कसियव्वे, अत्थि या इत्थ अन्ने केइ समुक्कसणारिहे से समुक्कसियव्वे, नत्थि या इत्थ अन्ने समुक्कसणारिहे से चेव समुक्कसियव्वे। तंसि च णं समुक्किट्ठंसि परो वएज्जा दुस्समुक्किट्ठं ते अज्जो! निक्खिवाहि, तस्स णं निक्खिवमाणस्स नत्थि केइ छेए वा परिहारे वा, जे साहम्मिया अहाकप्पेणं नो अब्भुट्ठाए विहरंति सव्वेसिं तेसिं तप्पत्तियं छेए वा परिहारे वा ॥१३॥

आयरियउवज्झाए ओहायमाणे अन्नयरं वएज्जा अज्जो! ममंसि णं ओहावियंसि समाणंसि अयं समुक्कसियव्वे, से य समुक्कसणारिहे समुक्कसियव्वे, से य नो समुक्कसिणारिहे नो समुक्कसियव्वे, अत्थि या इत्थ अण्णे केइ समुक्कसणारिहे से समुक्कसियव्वे, नत्थि या इत्थ अन्ने केइ समुक्कसणारिहे से चेव समुक्कसियव्वे, तंसि च णं समुक्किट्ठंसि परो वएज्जा दुस्समुक्किट्ठं ते अज्जो! निक्खिवाहि, तस्स णं निक्खिवमाणस्स नत्थि केइ छेए वा परिहारे वा, जे साहम्मिया अहाकप्पेणं नो अब्भुट्ठाए विहरंति सव्वेसिं तेसिं तप्पत्तियं छेए वा परिहारे वा ॥१४॥

आयरियउवज्झाए सरमाणे परं चउरायपंचरायाओ कप्पागं भिक्खुं नो उवट्ठावेइ कप्पाए, अत्थि याइं से केइ माणणिज्जे कप्पागे, णत्थि याइं से केइ छेए वा परिहारे वा, णत्थि याइं से केइ माणणिज्जे कप्पाए से संतरा छेए वा परिहारे वा ॥१५॥

आयरियउवज्झाए असरमाणे परं चउरायपंचरायाओ कप्पागं भिक्खुं नो उवट्ठावेइ कप्पाए, अत्थि य इत्थ से केइ माणणिज्जे कप्पाए नत्थि से केइ छेए वा परिहारे वा, नत्थि य इत्थ से केइ माणणिज्जे कप्पाए से संतरा छेए वा परिहारे वा ॥१६॥

आयरियउवज्झाए सरमाणे वा असरमाणे वा परं दसरायकप्पाओ कप्पागं भिक्खुं नो उवट्ठावेइ कप्पाए, अत्थि य इत्थ से केइ माणणिज्जे कप्पाए नत्थि य इत्थ से केइ

छेए वा परिहारे वा, नत्थि य इत्थ से केइ माणणिज्जे कप्पाए संवच्छरं तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा उवज्झायत्तं वा पवत्तयत्तं वा थेरत्तं वा गणित्तं वा गणहरत्तं वा गणावच्छेयगत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ॥१७॥

भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म अन्नं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरेज्जा तं च केइ साहम्मिए पासित्ता वएज्जा—कं अज्जो! उवसंपज्जित्ता णं विहरसि? जे तत्थ सव्वराइणिए तं वएज्जा, अह भंते! कस्स कप्पाए? जे तत्थ वहुस्सुए तं वएज्जा जं वा भगवं वक्खइ तस्स आणाउववायवयणनिद्देसे चिट्ठिस्सामि ॥१८॥

वहवे साहम्मिया इच्छेज्जा एगयओ अभिनिचरियं चारए णो ण्हं कप्पइ थेरे अणापुच्छित्ता एगयओ अभिनिचरियं चारए, कप्पइ ण्हं थेरे आपुच्छित्ता एगयओ अभिनिचरियं चारए, थेरा य से वियरेज्जा एवं ण्हं कप्पइ एगयओ अभिनिचरियं चारए, थेरा य से नो वियरेज्जा एवं ण्हं नो कप्पइ एगयओ अभिनिचरियं चारए, जं तत्थ थेरेहिं अविइण्णे एगयओ अभिनिचरियं चरंइ से संतरा छेए वा परिहारे वा ॥१९॥

चरियापविट्ठे भिक्खू जाव चउरायपंचरायाओ थेरे पासेज्जा सच्चेव आलोयणा सच्चेव पडिक्कमणा सच्चेव ओग्गहस्स पुव्वाणुण्णवणा चिट्ठइ अहालंदमवि उग्गहे ॥२०॥

चरियापविट्ठे भिक्खू परं चउरायपंचरायाओ थेरे पासेज्जा पुणो आलोएज्जा पुणो पडिक्कमेज्जा पुणो छेयस्स परिहारस्स उवट्ठाएज्जा भिक्खुभावस्स अट्ठाए दोच्चंपि ओग्गहे अणुण्णवेयव्वे सिया, कप्पइ से एवं वदित्तए--अणुजाणह भंते! मिओग्गहं अहालंदं धुवं नियय नेच्छइयं वेउट्टियं तओ पच्छा कायसंफासं ॥२१॥

चरियानियट्टे भिक्खू जाव चउरायपंचरायाओ थेरे पासेज्जा सच्चेव आलोयणा सच्चेव पडिक्कमणा सच्चेव उग्गहस्स पुव्वाणुण्णवणा चिट्ठइ आहालंदमवि उग्गहे ॥

चरियानियट्टे भिक्खू परं चउरायपंचरायाओ थेरे पासेज्जा पुणो आलोएज्जा पुणो पडिक्कमेज्जा पुणो छेयपरिहारस्स उवट्ठाएज्जा भिक्खुभावस्स अट्ठाए दोच्चंपि ओग्गहे अणुण्णवेयव्वे सिया, अणुजाणह भंते! मिओग्गहं अहालंदं धुवं नियय नेच्छइयं वेउट्टियं तओ पच्छा कायसंफासं ॥२३॥

दो साहम्मिया एगयओ विहरंति तंजहा—सेहो रायणिए य, एत्थ सेहतराए पलिच्छन्ने रायणिए अपलिच्छन्ने सेहतराएणं रायणिए उवसंपज्जियव्वे भिक्खोववायं च दलयइ कप्पागं ॥२४॥

दो साहम्मिया एगयओ विहरंति, तंजहा—सेहे य रायणिए य, तत्थ रायणिए पलिच्छण्णे सेहतराए अपलिच्छण्णे, इच्छा रायणिए सेहतरागं उवसंपज्जेज्जा, इच्छा

नो उवसंपज्जेज्जा, इच्छा भिक्खोववायं दलयइ कप्पागं, इच्छा नो दलयइ कप्पागं ॥२५॥

दो भिक्खुणो एगयओ विहरंति नो णं कप्पइ अन्नमन्नं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, कप्पइ णं अहारायणियाए अन्नमन्नं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए ॥२६॥

दो गणावच्छेयगा एगयओ विहरंति नो णं कप्पइ अन्नमन्नं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, कप्पइ णं अहारायणियाए अन्नमन्नं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए ॥२७॥

दो आयरियउवज्झाया एगयओ विहरंति नो णं कप्पइ अन्नमन्नं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, कप्पइ अहारायणियाए अन्नमन्नं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए ॥२८॥

बहवे भिक्खुणो एगयओ विहरंति नो णं कप्पइ अन्नमन्नं उवसंपज्जित्ता णं विह-रित्तए, कप्पइ अहारायणियाए अन्नमन्नं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए ॥२९॥

बहवे गणावच्छेयगा एगयओ विहरंति नो णं कप्पइ अन्नमन्न उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, कप्पइ णं अहारायणियाए अन्नमन्नं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए ॥३०॥

बहवे आयरियउवज्झाया एगयओ विहरंति नो णं कप्पइ अन्नमन्नं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, कप्पइ णं अहारायणियाए अन्नमन्नं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए ॥३१॥

बहवे भिक्खुणो बहवे गणावच्छेयया बहवे आयरियउवज्झाया एगयओ विहरंति नो णं कप्पइ अन्नमन्नं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, कप्पइ अहारायणियाए अन्नमन्नं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए ॥३२॥

॥ ववहारे चउत्थो उद्देसो समत्तो ॥४॥

॥ पंचमो उद्देसो ॥

नो कप्पइ पवत्तिणीए अप्पबिइयाए हेमंतगिम्हासु चारए ॥१॥

कप्पइ पवत्तिणीए अप्पतइयाए हेमंतगिम्हासु चारए ॥२॥

नो कप्पइ गणावच्छेइणीए अप्पतइयाए हेमंतगिम्हासु चारए ॥३॥

कप्पइ गणावच्छेइणीए अप्पचउत्थीए हेमंतगिम्हासु चारए ॥४॥

नो कप्पइ पवत्तिणीए अप्पतइयाए वासावासं वत्थए ॥५॥

कप्पइ पवत्तिणीए अप्पचउत्थीए वासावासं वत्थइ ॥६॥

नो कप्पइ गणावच्छेइणीए अप्पचउत्थीए वासावासं वत्थए ॥७॥

कप्पइ गणावच्छेइणीए अप्पपंचमाए वासावासं वत्थए ॥८॥

से गामंसि वा नगरंसि वा निगमंसि वा रायहाणीए वा खेडंसि वा कव्वडंसि वा मडंवंसि वा पट्टणंसि वा दोणमुहंसि वा आसमंसि वा संवाहंसि वा संनिवेसंसि वा वहूणं पवत्तिणीणं अप्पतइयाणं, वहूणं गणावच्छेइणीणं अप्पचउत्थीणं कप्पइ हेमंतगिम्हासु चारए अन्नमन्ननिस्साए ॥९॥

से गामंसि वा नगरंसि वा निगमंसि वा रायहाणीए वा खेडंसि वा कव्वडंसि वा मडंवंसि वा पट्टणंसि वा दोणमुहंसि वा आसमंसि वा संवाहंसि वा संनिवेसंसि वा वहूणं पवत्तिणीणं अप्पचउत्थीणं, वहूणं गणावच्छेइणीणं अप्पपंचमाणं कप्पइ वासावासं वत्थए अन्नमन्ननिस्साए ॥१०॥

गामाणुगामं दूइज्जमाणा णिग्गंथी य जं पुरओ काउं विहरेज्जा सा य आहच्च वीसंभेज्जा अत्थि य इत्थ काइ अन्ना उवसंपज्जणारिहा सा उवसंपज्जियव्वा, नत्थि य इत्थ काइ अन्ना उवसंपज्जणारिहा तीसे य अप्पणो कप्पाए असमत्ते एवं से कप्पइ एगराइयाए पडिमाए जं णं जं णं दिसं अन्नाओ साहम्मिणीओ विहरंति तं णं तं णं दिसं उवलित्तए, नो से कप्पइ तत्थ विहारवत्तियं वत्थए, कप्पइ से तत्थ कारणवत्तियं वत्थए, तंसि च णं कारणंसि निट्ठियंसि परा वएज्जा वसाहि अज्जे ! एगरायं वा दुरायं वा, एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए, नो से कप्पइ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वत्थए. जं तत्थ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वसइ से संतरा छेए वा परिहारे वा ॥११॥

वासावासं पज्जोसविया णिग्गंथी य जं पुरओ काउं विहरइ सा आहच्च वीसंभेजा अत्थि य इत्थ काइ अन्ना उवसंपज्जणारिहा उवसंपज्जियव्वा, नत्थि य इत्थ

काइ अन्ना उवसंपज्जणारिहा तीसे य अप्पणो कप्पाए असमत्ते कप्पइ से एगराइयाए पडिमाए जं णं जं णं दिसं अन्नाओ साहम्मिणीओ विहरंति तं णं तं णं दिसं उवलित्तए, नो से कप्पइ तत्थ विहारवत्तियं वत्थए, कप्पइ से तत्थ कारणवत्तियं वत्थए, तंसि च णं कारणंसि निट्ठियंसि परा वएज्जा वसाहि अज्जे ! एगरायं वा दुरायं वा, एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए, नो से कप्पइ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वत्थए, जं तत्थ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वसइ से संतरा छेए वा परिहारे वा ॥१२॥

पवत्तिणी य गिलायमाणी अन्नयरं वएज्जा मए णं अज्जो ! कालगयाए समाणीए इमा समुक्कसियव्वा, सा य समुक्कसणारिहा समुक्कसियव्वा, सा य नो समुक्कसणारिहा नो समुक्कसियव्वा, अत्थि या इत्थ अन्ना काइ समुक्कसणारिहा समुक्कसियव्वा, नत्थि या इत्थ अन्ना काइ समुक्कसणारिहा सा चेव समुक्कसियव्वा, ताए णं समुक्किट्ठाए परा वएज्जा दुस्समुक्किट्ठं ते अज्जे ! निक्खिवाहि, ताए णं निक्खिवमाणीए नत्थि केइ छेए वा परिहारे वा, जाओ साहम्मणीओ अहाकप्पेणं नो अब्भुट्ठाए विहरंति सव्वासिं तासिं तप्पत्तियं छेए वा परिहारे वा ॥१३॥

पवत्तिणी य ओहायमाणी अन्नयरं वएज्जे मए णं अज्जे ! ओहावियाए समाणीए इमा समुक्कसियव्वा, सा य समुक्कसणारिहा समुक्कसियव्वा, सा य नो समुक्कसणारिहा नो समुक्कसियव्वा, अत्थि य इत्थ अन्ना काइ समुक्कसणारिहा सा समुक्कसियव्वा, नत्थि य इत्थ अन्ना काइ समुक्कसणारिहा सा चेव समुक्कसियव्वा, ताए णं समुक्किट्ठाए परा वएज्जा दुस्समुक्किट्ठं ते अज्जे ! निक्खिवाहि, ताए णं निक्खिवमाणीए नत्थि केइ छेए वा परिहारे वा, जाओ साहम्मिणीओ अहाकप्पेणं नो अब्भुट्ठाए विहरंति सव्वासिं तासिं तप्पत्तियं छेए वा परिहारे वा ॥१४॥

णिग्गंथस्स नवडहरतरुणस्स आयारपकप्पे नामं अज्झयणे परिब्भट्ठे सिया, से य पुच्छियव्वे–केण ते अज्जो ! कारणेणं आयारपकप्पे णामं अज्झयणे परिब्भट्ठे किं आबाहेणं उदाहु पमाएणं ? से य वएज्जा–नो आबाहेणं पमाएणं, जावज्जीवाए तस्स तप्पत्तियं नो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेयगत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा, से य वएज्जा–आबाहेणं नो पमाएणं, से य संठवेस्सामित्ति संठवेज्जा एवं से कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेयगत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा, से य संठवेस्सामित्ति न संठवेज्जा एवं से नो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेयगत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए ॥१५॥

णिग्गथीए णं नवडहरतरुणीए आयारपकप्पे नामं अज्झयणे परिब्भट्ठे सिया, सा य पुच्छियव्वा केणं ते कारणेणं अज्जे! आयारपकप्पे नामं अज्झयणे परिब्भट्ठे किं आवाहेणं उदाहु पमाएणं ? सा य वएज्जा नो आवाहेणं पमाएणं, जावज्जीवाए तीसे तप्पत्तियं नो कप्पइ पवत्तिणित्तं वा जाव गणावच्छेइणित्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा, सा य वएज्जा–आवाहेणं नो पमाएणं सा य संठवेस्सामित्ति संठवेज्जा, एवं से कप्पइ पवत्तिणित्तं वा जाव गणावच्छेइणित्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा, सा य संठवेस्सामित्ति नो संठवेज्जा एवं से नो कप्पइ पवत्तिणित्तं वा जाव गणावच्छेइणित्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ॥१६॥

थेराणं थेरभूमिपत्ताणं आयारपकप्पे नामं अज्झयणे परिब्भट्ठे सिया कप्पइ तेसिं संठवेत्ताण वा असंठवेत्ताण वा आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेयगत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ॥१७॥

थेराणं थेरभूमिपत्ताणं आयारपकप्पे णामं अज्झयणे परिब्भट्ठे सिया कप्पइ तेसिं संनिसण्णाण वा संतुयट्टाण वा उत्ताणयाण वा पासल्लियाण वा आयारपकप्पे नामं अज्झयणे दोच्चंपि तच्चंपि पडिपुच्छित्तए वा पडिसारेत्तए वा ॥१८॥

जे णिग्गंथा णिग्गंथीओ य संभोइया सिया, नो ण्हं कप्पइ अन्नमन्नस्स अंतिए आलोएत्तए, अत्थि या एत्थ केइ आलोयणारिहा कप्पइ से तेसिं अंतिए आलोएत्तए, नत्थि या एत्थ केइ आलोयणारिहा एवं ण्हं कप्पइ अन्नमन्नस्स अंतिए आलोएत्तए ॥१९॥

णिग्गंथं च णं राओ वा वियाले वा दीहपट्ठो वा लूसेज्जा इत्थी वा पुरिसस्स ओमावेज्जा पुरिसो वा इत्थीए ओमावेज्जा, एवं से कप्पइ एवं से चिट्ठइ परिहारं च नो पाउणइ एस कप्पे थेरकप्पियाणं। एवं से नो कप्पइ एवं से नो चिट्ठइ परिहारं च नो पाउणइ एस कप्पे जिणकप्पियाणं ति बेमि ॥२१॥

॥ ववहारस्स पंचमो उद्देसो समत्तो ॥५॥

॥ छट्ठो उद्देसो ॥

भिक्खू य इच्छेज्जा नायविहिं एत्तए, नो से कप्पइ थेरे अणापुच्छित्ता नायविहिं एत्तए, कप्पइ से थेरे आपुच्छित्ता नायविहिं एत्तए, थेरा य से वियरेज्जा एवं से कप्पइ नायविहिं एत्तए, थेरा य से नो वियरेज्जा, एवं से नो कप्पइ नायविहिं एत्तए, जं तत्थ थेरेहिं अविइण्णे नायविहिं एइ, से संतरा छेए वा परिहारे वा ॥१॥

नो से कप्पइ अप्पसुयस्स अप्पागमस्स एगाणियस्स नायविहिं एत्तए ॥२॥

कप्पइ से जे तत्थ बहुस्सुए बब्भागमे तेण सद्धिं नायविहिं एत्तए ॥३॥

तत्थ से पुव्वागमणेणं पुव्वाउत्ते चाउलोदणे, पच्छाउत्ते भिलिंगसूवे कप्पइ से चाउलोदणे पडिग्गाहित्तए, नो से कप्पइ भिलिंगसूवे पडिग्गाहित्तए ॥४॥

तत्थ पुव्वागमणेणं पुव्वाउत्ते भिलिंगसूवे, पच्छाउत्ते चाउलोदणे, कप्पइ से भिलिंगसूवे पडिग्गाहित्तए, नो से कप्पइ चाउलोदणे पडिग्गाहित्तए ॥५॥

तत्थ से पुव्वागमणेणं दोवि पुव्वाउत्ता कप्पइ से दोवि पडिग्गाहित्तए ॥६॥

तत्थ से पुव्वागमणेणं दोवि पच्छाउत्ता नो से कप्पइ दोवि पडिग्गाहित्तए ॥७॥

जे से तत्थ पुव्वागमणेणं पुव्वाउत्ते, से कप्पइ पडिग्गाहित्तए ॥८॥

जे से तत्थ पुव्वागमणेणं पच्छाउत्ते, नो से कप्पइ पडिग्गाहित्तए ॥९॥

आयरियउवज्झायस्य गणंसि पंच अइसेसा पन्नत्ता, तं जहा—आयरियउवज्झाए अंतो उवस्सयस्स पाए निगिज्झिय निगिज्झिय पप्फोडेमाणे वा पमज्जेमाणे वा नो अइक्कमइ ॥१०॥

आयरियउवज्झाए अंतो उवस्सयस्स उच्चारपासवणं विगिंचमाणे वा विसोहेमाणे वा नो अइक्कमइ ॥११॥

आयरियउवज्झाए पभू वेयावडियं इच्छा करेज्जा इच्छा नो करेज्जा ॥१२॥

आयरियउवज्झाए अंतो उवस्सयस्स एगरायं वा दुरायं वा वसमाणे नो अइक्कमइ ॥१३॥

आयरियउवज्झाए बाहिं उवस्सयस्स एगरायं वा दुरायं वा वसमाणे नो अइक्कमइ ॥१४॥

गणावच्छेयगस्स णं गणंसि दो अइसेसा पन्नत्ता तं जहा—गणावच्छेयए अंतो उवस्सयस्स एगरायं वा दुरायं वा वसमाणे नो अइक्कमइ ॥१५॥

गणावच्छेयए वाहिं उवस्सयस्स एगरायं वा दुरायं वा वसमाणे नो अइक्कमइ ॥१६॥

से गामंसि वा जाव रायहाणिंसि वा एगवगडाए एगदुवाराए एगनिक्खमणप्पवेसाए नो कप्पइ वहूणं अगडसुयाणं एगयओ वत्थए, अत्थि य इत्थ एहं केइ आयारपकप्पधरे नत्थि य इत्थ एह केइ छेए वा परिहारे वा, नत्थि य इत्थ एहं केइ आयारपकप्पधरे से संतरा छेए वा परिहारे वा ॥१७॥

से गामंसि वा जाव रायहाणिंसि वा अभिनिव्वगडाए अभिनिदुवाराए अभिनिक्खमणपवेसाए नो कप्पइ वहूणं अगडसुयाणं एगयओ वत्थए, अत्थि य इत्थ एहं केइ आयारपकप्पधरे, जे तइयं रयणिं संवसइ, नत्थि य इत्थ केइ छेए वा परिहारे वा, नत्थि य इत्थ केइ आयारपकप्पधरे जे तइयं रयणिं संवसइ सव्वेसिं तेसिं तप्पत्तियं छेए वा परिहारे वा ॥१८॥

से गामंसि वा जाव रायहाणिंसि वा अभिनिव्वगडाए अभिनिदुवाराए अभिनिक्खमणपवेसाए नो कप्पइ वहुस्सुयस्स वब्भागमस्स भिक्खुयस्स वत्थए, किमंग पुण अप्पागमस्स अप्पसुयस्स ॥१९॥

से गामंसि वा नगरंसि वा जाव रायहाणिसि वा एगवगडाए एगदुवाराय एगनिक्खमणपवेसाए कप्पइ वहुस्सुयस्स वब्भागमस्स एगाणियस्स भिक्खुस्स वत्थए, दुहओ कालं भिक्खुभावं पडिजागरमाणस्स ॥२०॥

जत्थ एए वहवे इत्थीओ पुरिसा य पण्हावेंति तत्थ से समणे निग्गंथे अन्नयरंसि अचित्तंसि सोयंसि सुक्कपोग्गले णिग्घायमाणे हत्थकम्मपडिसेवणपत्ते आवज्जइ मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ।२१॥

जत्थ एए वहवे इत्थीओ पुरिसा य पण्हावेंति तत्थ से समणे णिग्गंथे अन्नयरंसि अचित्तंसि सोयंसि सुक्कपोग्गले णिग्घायमाणे मेहुणपडिसेवणपत्ते आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ॥२२॥

नो कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा निग्गंथिं अन्नगणाओ आगयं खुयायारं सवलायारं भिन्नायारं संकिलिट्ठायारचरित्तं तस्स ट्ठाणस्स अणालोयावेत्ता अपपडिक्कमावेत्ता अनिंदावेत्ता अगरिहावेत्ता अविउट्टावेत्ता अविसोहावेत्ता अकरणाए अणब्भुट्ठावेत्ता अहारिहं पायच्छित्तं तवोकम्मं अपडिवज्जावेत्ता उवट्ठावेत्तए वा संभुंजित्तए वा संवसित्तए वा, तीसे इत्तरियं दिसं वा अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ॥२३॥

कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा णिग्गंथिं अन्नगणाओ आगयं खुयायार सवलायारं भिन्नायारं संकिलिट्ठायारचरित्तं तस्स ठाणस्स आलोयावेत्ता पडिक्कमावेत्ता निंदावेत्ता गरिहावेत्ता विउट्टावेत्ता विसोहावेत्ता अकरणाए अब्भुट्ठावेत्ता अहारिहं पायच्छित्तं तवोकम्मं पडिवज्जावेत्ता उवट्ठावेत्तए वा संभुंजित्तए वा, संवसित्तए वा, तीसे इत्तरियं दिसं वा अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ॥२४॥

॥ ववहारे छट्ठो उद्देसो समत्तो ॥७॥

॥ सत्तमो उद्देसो ॥

जे णिग्गंथा य णिग्गंथीओ य संभोइया सिया नो कप्पइ णिग्गंथीणं णिग्गंथे अणापुच्छित्ता णिग्गंथिं अन्नगणाओ आगयं खुयायारं सबलायारं भिन्नायारं संकिलिट्ठायारचरित्तं तस्स ठाणस्स अणालोयावेत्ता जाव अहारिहं पायच्छित्तं तवोकम्मं अपडिवज्जावेत्ता पुच्छित्तए वा वाएत्तए वा उवट्ठावेत्तए वा संभुंजित्तए वा संवसित्तए वा, तीसे इत्तरियं दिसं वा अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ॥१॥

जे णिग्गंथा य णिग्गंथीओ य संभोइया सिया कप्पइ निग्गंथीणं णिग्गंथे आपुच्छित्ता णिग्गंथिं अन्नगणाओ आगयं खुयायारं सबलायरं भिन्नायारं संकिलिट्ठायारचरित्तं तस्स ठाणस्स आलोयावेत्ता जाव अहारिहं पायच्छित्तं तवोकम्मं पडिवज्जावेत्ता पुच्छित्तए वा वाएत्तए वा उवट्ठावेत्तए वा संभुंजित्तए वा संवसित्तए वा, तीसे इत्तरियं दिसं वा अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ॥२॥

जे णिग्गंथा य णिग्गंथीओ य संभोइया सिया, कप्पइ णिग्गंथाणं णिग्गंथीओ आपुच्छित्ता वा अणापुच्छित्ता वा णिग्गंथिं अन्नगणाओ आगयं खुयायारं सबलायारं भिन्नायारं संकिलिट्ठायारचरित्तं तस्स ठाणस्स आलोयावेत्ता जाव अहारिहं पायच्छित्तं तवोकम्मं पडिवज्जावेत्ता पुच्छित्तए वा वाएत्तए वा उवट्ठावेत्तए वा भुंजित्तएसं वा संवसित्तए वा, तीसे इत्तरियं दिसं वा अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा, तं च णिग्गंथीओ नो इच्छेज्जा सेवमेव नियं ठाणं ॥३॥

जे णिग्गंथा य णिग्गंथीओ य संभोइया सिया, नो ण्हं कप्पइ परोक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोइयं करित्तए, कप्पइ ण्हं पच्चक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोइयं करित्तए, जत्थेव अन्नमन्नं पासेज्जा तत्थेव एवं वएज्जा—अहं णं अज्जो ! तुमाए सद्धिं इमंमि कारणंमि पच्चक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोइयं करेमि । से य पडितप्पेज्जा एवं से नो कप्पइ पच्चक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोइयं करित्तए, से य नो पडितप्पेज्जा एवं से कप्पइ पच्चक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोइयं करित्तए ॥४॥

जाओ णिग्गंथीओ वा णिग्गंथा वा संभोइया सिया, नो ण्हं कप्पइ पच्चक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोइयं करित्तए, कप्पइ ण्हं पारोक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोइयं करित्तए, जत्थेव ताओ अप्पणो आयरियउवज्झाए पासेज्जा तत्थेव एवं वएज्जा—अहं णं भंते ! अमुगीए अज्जाए सद्धिं इमंमि कारणंमि पारोक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसं-

भोइयं करेमि । सा य से पडितप्पेज्जा एवं से नो कप्पइ पारोक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोइयं करित्तए, सा य से नो पडितप्पेज्जा, एवं से कप्पइ पारोक्खं पाडिएक्कं संभोइयं-विसंभोइयं करित्तए ॥५॥

नो कप्पइ निग्गंथाणं निग्गंथिं अप्पणो अट्ठाए पव्वावेत्तए वा, मुंडावेत्तए वा, सेहावेत्तए वा, उवट्ठावेत्तए वा, संभुंजित्तए वा, संवसित्तए वा, तीसे इत्तरियं दिसं वा अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ॥६॥

कप्पइ णिग्गंथाणं णिग्गंथिं अन्नासिं अट्ठाए पव्वावेत्तए वा, मुंडावेत्तए वा, सेहावेत्तए वा, उवट्ठावेत्तए वा, संभुंजित्तए वा, संवसित्तए वा, तीसे इत्तरियं दिसं वा अणुदिसं वा, उद्दिसित्तए वा, धारित्तए वा ॥७॥

नो कप्पइ णिग्गथीणं णिग्गंथं अप्पणो अट्ठाए पव्वावेत्तए वा मुंडावेत्तए वा, सेहावेत्तए वा, उवट्ठावेत्तए वा, संभुंजित्तए वा, संवसित्तए वा, तस्स इतरियं दिसं वा, अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा ॥८॥

कप्पइ णिग्गंथीणं णिग्गंथं णिग्गंथाणं अट्ठाए पव्वावेत्तए वा, मुंडावेत्तए वा, सेहावेत्तए वा, उवट्ठावेत्तए वा, संभुंजित्तए वा, संवसित्तए वा, तस्स इत्तरियं दिसं वा, अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ॥९॥

नो कप्पइ णिग्गंथीणं विइगिट्ठियं दिसं वा अणुदिसं वा, उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ॥१०॥

कप्पइ णिग्गंथाणं विइगिट्ठियं दिसं वा अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ॥

नो कप्पइ निग्गंथाणं विइगिट्ठाइं पाहुडाइं विओसवित्तए ॥१२॥

कप्पइ णिग्गंथीणं विइगिट्ठाइं पाहुडाइं विओसवित्तए ॥१३॥

नो कप्पइ णिग्गंथाणं विइगिट्ठे काले सज्झायं करित्तए ॥१४॥

कप्पइ णिग्गंथीणं विइगिट्ठे काले सज्झायं करित्तए णिग्गंथनिस्साए ॥१५॥

णो कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा असज्झाइए सज्झायं करित्तए ॥१६॥

कप्पइ णिग्गंथाणं वा णिग्गंथीण वा सज्झाइए सज्झायं करित्तए ॥१७॥

नो कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा अप्पणो असज्झाइए सज्झायं करित्तए कप्पइ ण्हं अण्णमण्णस्स वायणं दलइत्तए ॥१८॥

तिवासपरियाए समणे णिग्गंथे तीसंवासपरियायाए समणीए णिग्गंथीए कप्पइ उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए ॥१९॥

पंचवासपरियाए समणे निग्गंथे सट्ठिवासपरियायाए समणीए निग्गंथीए कप्पइ आयरियत्ताए उद्दिसित्तए ॥२०॥

गामाणुगामं दूइज्जमाणे भिक्खू य आहच्च वीसंभेजा तं च सरीरगं केइ साहम्मिए पासेज्जा कप्पइ से तं सरीरगं न सागारियमिति कट्टु थंडिले बहुफासुए पडिलेहित्ता पमज्जित्ता परिट्ठवेत्तए, अत्थि य इत्थ केइ साहम्मियसंतिए उवगरणजाए परिहरणारिहे कप्पइ से सागारकडं गहाय दोच्चंपि ओग्गहे अणुण्णवेत्ता परिहारं परिहरित्तए ॥२१॥

सागारिए उवस्सयं वक्कएणं पउंजेज्जा, से य वक्कइयं वएज्जा इमम्मि य इमम्मि य ओवासे समणा णिग्गंथा परिवसंति से सागारिए परिहारिए, से य नो वएज्जा वक्कइए वएज्जा से सागारिए परिहारिए, दोवि ते वएज्जा दोवि सागारिया परिहारिया ॥२२॥

सागारिए उवस्सयं विक्किणिज्जा से य कइयं वएज्जा इमंमि य इमंमि य ओवासे समणा णिग्गंथा परिवसंति, से य सागारिए परिहारिए, से य नो वएज्जा कइए वएज्जा से सागारिए परिहारिए· दोवि ते वएज्जा दोवि सागारिया परिहारिया ॥

विहवधूया नायकुलवासिणी सावि यावि ओग्गहं अणुन्नवेयव्वा किमंग ! पुण पिया वा भाया वा पुत्ते वा सेवि यावि ओग्गहं ओगिण्हियव्वे ॥२४॥

पहेवि ओग्गहं अणुन्नवेयव्वे ॥२५॥

से रज्जपरियट्टेसु संथडेसु अव्वोगडेसु अवोच्छिन्नेसु अपरपरिग्गहिएसु सच्चेव ओग्गहस्स पुव्वाणुन्नवणा चिट्ठइ अहालंदमवि ओग्गहे ॥२६॥

से रज्जपरियट्टेसु असंथडेसु वोगडेसु वोच्छिन्नेसु परपरिग्गहिएसु भिक्खुभावस्स अट्ठाए ओग्गहे अणुन्नवेयव्वे सिया ॥२७॥

॥ ववहारे सत्तमो उद्देसो समत्तो ॥७॥

॥ अट्ठमो उद्देसो ॥

गाहा उ पज्जोसविए ताए गाहाए ताए पएसाए ताए ओवासंतराए जमिणं जमिणं सेज्जासंथारगं लभेज्जा तमिणं तमिणं ममेव सिया, थेरा य से अणुजाणेज्जा तस्सेव सिया, थेरा य से नो अणुजाणेज्जा एवं से कप्पइ अहारायणियाए सेज्जासंथारगं पडिग्गाहित्तए ॥१॥

से य अहालहुस्सगं सेज्जासंथारगं गवेसेज्जा जं चक्किया एगेणं हत्थेणं ओगिज्झ जाव एगाहं वा दुयाहं वा तियाहं वा परिवहित्तए एस मे हेमंतगिम्हासु भविस्सइ ॥२॥

से य अहालहुस्सगं सेज्जासंथारगं गवेसेज्जा जं चक्किया एगेण हत्थेण ओगिज्झ जाव एगाहं वा दुयाहं वा तियाहं वा अद्धाणं परिवहित्तए, एस मे वासावासासु भविस्सइ ॥३॥

से य अहालहुस्सगं सेज्जासंथारगं गवेसेज्जा जं चक्किया एगेण हत्थेण ओगिज्झ जाव एगाहं वा दुयाहं वा तियाहं वा चउयाहं वा पंचाहं वा दूरमवि अद्धाणं परिवहित्तए, एस मे वुड्ढावासेसु भविस्सइ ॥४॥

थेराणं थेरभूमिपत्ताणं कप्पइ दंडए वा भंडए वा छत्तए वा मत्तए वा लट्ठियं वा भिसे वा चेले वा चेलचिलिमिली वा चम्मे वा चम्मकोसे वा चम्मपलिच्छेयणए वा अविरहिए ओवासे ठवेत्ता गाहावइकुलं भत्ताए वा पाणाए वा पविसित्तए वा निक्खमित्तए वा, कप्पइ ण्हं संनियट्टचाराणं दोच्चंपि ओग्गहं अणुन्नवेत्ता परिहारं परिहरित्तए ॥५॥

नो कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा पाडिहारियं वा सागारियसंतियं वा सेज्जासंथारगं दोच्चंपि ओग्गहं अणणुन्नवेत्ता वहिया नीहरित्तए ॥६॥

कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा पाडिहारियं वा सागारियसंतियं वा सेज्जासंथारगं दोच्चंपि ओग्गहं अणुन्नवेत्ता वहिया नीहरित्तए ॥७॥

नो कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा पाडिहारियं वा सागारियसंतियं वा सेज्जासंथारगं सव्वप्पणा अप्पिणित्ता दोच्चंपि ओग्गहं अणणुन्नवेत्ता अहिट्ठित्तए, कप्पइ अणुन्नवेत्ता ॥८॥

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पुव्वामेव ओग्गहं ओगिण्हित्ता तओ पच्छा अणुन्नवेत्तए ॥९॥

कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा पुव्वामेव ओग्गहं अणुन्नवेत्ता तओ पच्छा ओगिण्हित्तए ॥१०॥

अह पुण एवं जाणेज्जा इह खलु णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा णो सुलभे पाडिहारिए सेज्जासंथारए—त्ति कट्टु एवं ण्हं कप्पइ पुव्वामेव ओग्गहं ओगिण्हित्ता तओ पच्छा अणुन्नवेत्तए, मा दुहओ अज्जो ! वइ अणुलोमेण अणुलोमियव्वे सिया ॥११॥

णिग्गंथस्स गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुपविट्ठस्स अहालहुस्सए उपगरणजाए परिब्भट्ठे सिया तं च केइ साहम्मिए पासेज्जा कप्पइ से सागारकडं गहाय जत्थेव अन्नमन्नं पासेज्जा तत्थेव एवं वएज्जा—इमे भो अज्जो ! किं परिन्नाए ? से य वएज्जा-परिन्नाए तस्सेव पडिणिज्जायव्वे सिया, से य वएज्जा—नो परिन्नाए तं नो अप्पणा परिभुंजेज्जा नो अन्नमन्नस्स दावए एगंते बहुफासुए थंडिले परिट्ठवेयव्वे सिया ॥१२॥

णिग्गंथस्स णं बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खंतस्स अहालहुस्सए उवगरणजाए परिब्भट्ठे सिया तं च केइ साहम्मिए पासेज्जा कप्पइ से सागारकडं गहाय जत्थेव अन्नमन्नं पासेज्जा तत्थेव एवं वएज्जा—इमे भो अज्जो ! किं परिन्नाए ? से य वएज्जा—परिन्नाए तस्सेव पडिणिज्जायव्वे सिया, से य वएज्जा—नो परिन्नाए तं नो अप्पणा परिभुंजेज्जा नो अन्नमन्नस्स दावए एगंते बहुफासुए थंडिले परिट्ठवेयव्वे सिया ॥१३॥

णिग्गंथस्स णं गामाणुगामं दूइज्जमाणस्स अन्नयरे उवगरणजाए परिब्भट्ठे सिया तं च केइ साहम्मिए पासेज्जा कप्पइ से सागारकडं गहाय दूरमेव अद्धाणं परिवहित्तए, जत्थेव अन्नमन्नं पासेज्जा तत्थेव एवं वएज्जा—इमे भो अज्जो ! किं परिन्नाए से य वएज्जा परिन्नाए तस्सेव पडिणिज्जायव्वे सिया, से य वएज्जा—नो परिन्नाए तं नो अप्पणा परिभुंजेज्जा नो अन्नमन्नस्स दावए, एगंते बहुफासुए थंडिले परिट्ठवेयव्वे सिया ॥१४॥

कप्पइ णिग्गंथाण वा, णिग्गंथीण वा अइरेगं पडिग्गहं अन्नमन्नस्स अट्ठाए दूरमवि अद्धाणं परिवहित्तए वा धारित्तए वा परिग्गहित्तए वा, सो वा णं धारेस्सइ, अहं वा णं धारिस्सामि अन्नो वा णं धारेस्सइ नो से कप्पइ तं अणापुच्छिय अणामंतिय अन्नमन्नेसिं दाउं वा, अणुप्पदाउं वा, कप्पइ से तं आपुच्छिय आमंतिय अन्नमन्नेसिं दाउं वा अणुप्पदाउं वा ॥१५॥

अट्ठकुक्कुडिअंडप्पमाणमेत्ते कवले आहारं आहारेमाणे णिग्गंथे अप्पाहारे, दुवालसकुक्कुडिअंडप्पमाणमेत्ते कवले आहारं आहारेमाणे णिग्गंथे अवड्ढोमोयरिए, सोलसकुक्कुडिअंडप्पमाणमेत्ते कवले आहारं आहारेमाणे णिग्गंथे दुभागपत्ते, चउवीसंकुक्कुडिअंडप्पणाणमेत्ते कवले आहारं आहारेमाणे णिग्गंथे तिभागपत्ते सिया ओमायरिए, एगतीसंकुक्कुडिअंडप्पमाणमेत्ते कवले आहारं आहारेमाणे णिग्गंथे किंचूणोमोयरिए, बत्तीसं कुक्कुजिअंडप्पमाणमेत्ते कवले आहारं आहारेमाणे निग्गंथे पमाणपत्ते। एत्तो एगेणवि कवलेणं ऊणगं आहारं आहारेमाणे समणे णिग्गंथे नो पकामभोइ--त्ति वत्तव्वं सिया॥१६॥

॥ ववहारे अट्ठमो उद्देसो समत्तो ॥८॥

॥ नवमो उद्देसो ॥

सागारियस्स आएसे अंतो वगडाए भुंजइ निट्ठिए निसिट्ठे पाडिहारिए तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिग्गाहित्तए ॥१॥

सागारियस्स आएसे अंतो वगडाए भुंजइ निट्ठिए निसिट्ठे अपाडिहारिए तम्हा दावए एवं से कप्पइ पडिग्गहित्तए ॥२॥

सागारियस्स आएसे बाहिं वगडाए भुंजइ निट्ठिए निसिट्ठे पाडिहारिए तम्हा दावए, नो से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥३॥

सागारियस्स आएसे बाहिं वगडाए भुंजइ निट्ठिए निसिट्ठे अपाडिहारिए, तम्हा दावए एवं से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥४॥

सागारियस्स दासेइ वा, पेसेइ वा, भयएइ वा, भइण्णएइ वा अंतो वगड़ाए भुंजइ निट्ठिए निसिट्ठे पाडिहारिए तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥५॥

सागारियस्स दासेइ वा पेसेइ वा भयएइ भइण्णएइ वा अंतो वगडाए भुंजइ निट्ठिए निसिट्ठे अप्पाडिहारिए तम्हा दावए एवं से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥६॥

सागारियस्स दासेइ वा, पेसेइ वा, भयएइ वा भइण्णएइ वा, बाहिं वगडाए भुंजइ निट्ठिए निसिट्ठे पाडिहारिए, तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥७॥

सागारियस्स दासेइ वा पेसेइ वा भयएइ वा भइण्णएइ वा बाहिं वगडाए भुंजइ निट्ठिए निसिट्ठे अप्पाडिहारिए तम्हा दावए एवं से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥८॥

सागारियस्स नायए सिया सागारियस्स एगवगडाए अंतो एगपयाए सागारियं चोवजीवइ तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥९॥

सागारियस्स नायए सिया सागारियस्स एगवगड़ाए अंतो सागारियस्स अभिनिप्पयाए सागारियं चोपजीवइ तम्हा दावए नो से कप्पइ पड़िगाहित्तए ॥१०॥

सागारियस्स नायए सिया सागारियस्स एगवगड़ाए बाहिं सागारियस्स एगपयाए सागारियं चोपजीवइ, तम्हा दावए नो से कप्पइ पड़िगाहित्तए ॥११॥

सागारियस्स नायए सिया सागारियस्स एगवगड़ाए बाहिं सागारियस्स अभिणिपयाए सागारियं चोवजीवइ तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥१२॥

सागारियस्स नायए सिया सागारियस्स अभिणिव्वगड़ाए एगदुवाराए एगनिक्खमणपवेसाए अंतो सागारियस्स एगपयाए सागारियं चोवजीवइ तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥१३॥

सागारियस्स नायए सिया सागारियस्स अभिनिव्वगडाए एगदुवाराए एग-निक्खिमणपवेसाए अंतो सागारियस्स अभिणिपयाए सागारियं च उवजीवइ तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥१४॥

सागारियस्स नायए सिया सागारियस्स अभिनिव्वगडाए एगदुवाराए एग-निक्खमणपवेसाए बाहिं सागारियस्स एगपयाए सागारियं चोवजीवइ तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥१५॥

सागारियस्स नायए सिया सागारियस्स अभिनिव्वगडाए एगदुवाराए एग-निक्खमणपवेसाए बाहिं सागारियस्स अभिनिप्पयाए सागारियं चोवजीवइ तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥१६॥

सागारियस्स चक्कियासाला साहारणवक्कयपउत्ता तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥१७॥

सागारियस्स चक्कियासाला निस्साहारणवक्कयपउत्ता तम्हा दावए एवं से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥१८॥

सागारियस्स गोलियसाला साहारणवक्कयपउत्ता तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥१९॥

सागारियस्स गोलियसाला निस्साहारणवक्कयपउत्ता तम्हा दावए एवं से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥२०॥

सागारियस्स बोधियसाला साहारणवक्कयपउत्ता तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥२१॥

सागारियस्स बोधियसाला निस्साहारणवक्कयपउत्ता तम्हा दावए एवं से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥२२॥

सागारियस्स दोसियसाला साहारणवक्कयपउत्ता तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥२३॥

सागारियस्स दोसियसाला निस्साहारणवक्कयपउत्ता तम्हा दावए एवं से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥२४॥

सागारियस्स सोत्तियसाला साहारणवक्कयपउत्ता तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥२५॥

सागारियस्स सोत्तियसाला निस्साहारणवक्कयपउत्ता तम्हा दावए एवं से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥२६॥

सागारियस्स बोंडयसाला साहारणवक्कयपउत्ता तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥२७॥

सागारियस्स बोंडयसाला निस्साहारणवक्कयपउत्ता तम्हा दावए एवं से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥२८॥

सागारियस्स गंधियसाला साहारणवक्कयपउत्ता तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥२९॥

सागारियस्स गंधियसाला निस्साहारणवक्कयपउत्ता तम्हा दावए एवं से कप्पइ पडिगाहित्तय ॥३०॥

सागारियस्स सोंडियसाला साहारणवक्कयपउत्ता तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिगाहित्तय ॥३१॥

सागारियस्स सोंडियसाला निस्साहारणवक्कयपउत्ता तम्हा दावए एवं से कप्पइ पडिगाहित्तए ।३२॥

सागारिस्स ओसहीओ संथडाओ तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥३३॥

सागारियस्स ओसहीओ असंथडाओ तम्हा दावए एवं से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥

सागारियस्स अंबफला संथडा तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥३५॥

सागारियस्स अंबफला असंथडा तम्हा दावए एवं से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥३६॥

सत्तसत्तमिया णं भिक्खुपडिमा एगूणपन्नाए राइंदिएहिं एगेण छन्नउएणं भिक्खासएणं अहासुयं अहाकप्पं अहामग्गं अहातच्चं सम्मं काएण फासिया पालिया सोहिया तीरिया किट्टिया आणाए अणुपालिया भवइ ॥३७॥

अट्ठअट्ठमिया णं भिक्खुपडिमा चउसट्ठीए राइंदिएहिं दोहि य अट्ठासीएहिं भिक्खासएहिं अहासुत्तं अहाकप्पं अहामग्गं अहातच्चं सम्मं काएणं फासिया पालिया सोहिया तीरिया किट्टिया आणाए अणुपालिया भवइ ॥३८॥

नवनवमिया णं भिक्खुपडिमा एगासीए राइंदिएहिं चउहि य पंचुत्तरेहिं भिक्खासएहिं अहासुत्तं अहाकप्पं अहामग्गं अहातच्चं सम्मं काएणं फासिया पालिया सोहिया तीरिया किट्टिया आणाए अणुपालिया भवइ ॥३९॥

दसदसमिया णं भिक्खुपडिमा एगेणं राइंदियसएणं अद्धछट्ठेहि य भिक्खासएहिं अहासुत्तं अहाकप्प अहामग्ग अहातच्चं सम्मं काएणं फासिया पालिया सोहिया तीरिया किट्टिया आणाए अणुपालिया भवइ ॥४०॥

दो पडिमाओ पन्नत्तओ तंजहा—खुड्डिया वा मोयपडिमा १, महल्लिया वा मोयपडिमा २। खुड्डियण्णं मोयपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स कप्पइ पढमसरयकालसमयंसि वा चरमनिदाहकालसमयंसि वा बहिया ठावियव्वा गामस्स वा जाव रायहाणीए वा वणंसि

वा वणदुग्गंसि वा पव्वयंसि वा पव्वयदुग्गंसि वा, भोच्चा आरुभइ चउद्दसमेणं पारेइ, अभोच्चा आरुभइ सोलसमेणं पारेइ, जाए जाए मोए आवियव्वे, दिया आगच्छइ आवियव्वे, राइं आगच्छइ नो आवियव्वे, सपाणे मत्ते आगच्छइ नो आवियव्वे, अप्पाणे मत्ते आगच्छइ आवियव्वे, सबीए मत्ते आगच्छइ नो आवियव्वे, अबीए मत्ते आगच्छइ आवियव्वे, ससणिद्धे मत्ते आगच्छइ नो आवियव्वे, असणिद्धे मत्ते आगच्छइ आवियव्वे, ससरक्खे मत्ते आगच्छए नो आवियव्वे, असरक्खे मत्ते आगच्छइ आवियव्वे। जाए जाए मोए आवियव्वे, तंजहा—अप्पे वा बहुए वा। एवं खलु एसा खुड्डिया मोयपडिमा अहासुत्तं अहाकप्पं अहामग्गं अहातच्चं सम्मं काएणं फासिया पालिया सोहिया तीरिया किट्टिया आणाए अणुपालिया भवइ ॥४१॥

महल्लियं णं मोयपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स कप्पइ से पढमसरयकालसमयंसि वा चरमनिदाहकालसमयंसि वा बहिया ठावियव्वा, गामस्स वा जाव रायहाणीए वा वणंसि वा वणदुग्गंसि वा पव्वयंसि वा पव्वयदुग्गंसि वा, भोच्चा आरुभइ सोलसमेण पारेइ, अभोच्चा आरुभइ अट्ठारसमेण पारेइ, जाए जाए मोए आवियव्वे तह चेव जाव अणुपालिया भवइ ॥४२॥

संखादत्तियस्स णं भिक्खुस्स पडिग्गहधारिस्स गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुप्पविट्ठस्स जावइयं केइ अंतो पडिग्गहस्स उच्चित्ता दलएज्जा तावइयाओ दत्तीओ वत्तव्वं सिया, तत्थ से केइ छव्वएण वा दूसएण वा चालएण वा अंतो पडिग्गहस्स उच्चित्ता दलएज्जा सावि णं सा एगा दत्ती वत्तव्वं सिया, तत्थ बहवे भुंजमाणा सव्वे ते सयं सयं पिंडं साहणिय अंतो पडिग्गहस्स उच्चित्ता दलएज्जा सव्वा वि णं सा एगा दत्ती वत्तव्वं सिया ॥४३॥

संखादत्तियस्स णं भिक्खुस्स पाणिपडिग्गहियस्स गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुप्पविट्ठस्स जावइयं केइ अंतो पाणिस्स उच्चित्ता दलएज्जा तावइयाओ दत्तीओ वत्तव्वं सिया, तत्थ से केइ छव्वएण वा दूसएण वा चालएण वा अंतो पाणिस्स उच्चित्ता दलएज्जा सावि णं सा एगा दत्ती वत्तव्वं सिया, तत्थ से बहवे भुंजमाणा सव्वे ते सयं सयं पिंडं साहणिय अंतो पाणिस्स उच्चित्ता दलएज्जा सव्वावि णं सा एगा दत्ती वत्तव्वं सिया ॥४४॥

'तिविहे उवहडे पन्नत्ते, तंजहा—सुद्धोवहडे, फलिहोवहडे, संसट्ठोवहडे ॥४५॥

तिविहे ओग्गहिए पण्णत्ते, तं जहा—जं च ओगिण्हइ जं च साहरइ जं च आसगंसि पक्खिवइ एगे एवमाहंसु ॥४६॥

एगे पुण एवमाहंसु—दुविहे ओग्गहिए पन्नत्ते तंजहा—जं च ओगिण्हइ जं च आसगंसि पक्खिवइ ॥४७॥

॥ ववहारे नवमो उद्देसो समत्तो ॥ ९॥

॥ दसमो उद्देसो ॥

दो पडिमाओ पन्नत्ताओ तं जहा—जवमज्झा य चंदपडिमा वइरमज्झा य चंदपडिमा । जवमज्झं णं चंदपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स निच्चं मासं वोसट्ठकाए चियत्तदेहे जे केइ परीसहोवसग्गा समुप्पज्जंति दिव्वा वा माणुस्सगा वा तिरिक्खजोणिया वा अणुलोमा वा पडिलोमा वा, तत्थ अणुलोमा ताव वंदेज्जा वा नमंसिज्जा वा सक्कारेज्जा वा सम्माणेज्जा वा कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुपासेज्जा, पडिलोमा ताव अन्नयरेणं दंडेण वा अट्ठिणा वा जोत्तेण वा कसेण वा काए आउट्टेज्जा, ते सव्वे उप्पन्ने सम्मं सहइ खमइ तितिक्खइ अहियासेइ ॥१॥

जवमज्झं णं चंदपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स सुक्कपक्खस्स पाडिवए कप्पइ एगं दत्ति भोयणस्स पडिगाहित्तए एगं पाणगस्स, सव्वेहिं दुप्पयचउप्पयाइएहिं आहारकंखीहिं सत्तेहिं पडिनियत्तेहिं अन्नायउंछं सुद्धोवहडं णिज्जूहित्ता वहवे समणमाहणअइहिकिवणवणीमगा, कप्पइ से एगस्स भुंजमाणस्स पडिगाहित्तए नो दोण्हं नो तिण्हं नो चउण्हं नो पंचण्हं नो गुव्विणीए नो वालवच्छाए नो दारगं पेज्जमाणीए । नो से कप्पइ अंतो एलुयस्स दोवि पाए साहट्टु दलमाणीए नो वाहिं एलुयस्स दोवि पाए साहट्टु दलमाणीए, अह पुण एवं जाणेज्जा एगं पायं अंतो किच्चा एगं पायं वाहिं किच्चा एलुयं विक्खंभइत्ता एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा, एयाए एसणाए एसमाणे नो लभेज्जा नो आहारेज्जा । विइज्जाए से कप्पइ दोण्णि दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहित्तए दोण्णि पाणगस्स, सव्वेहिं दुप्पयचउप्पयाइएहिं जाव नो आहारेज्जा । एवं तइयाए तिण्णि जाव पण्णरसीए पणरस । वहुलपक्खस्स पाडिवए से कप्पइ चोद्दसदत्तीओ, वीयाए तेरस जाव चोद्दसीए एगं दत्ति भोयणस्स एगं पाणगस्स सव्वेहिं दुप्पयचउप्पयाइएहिं जाव नो आहारेज्जा, अमावासाए से य अभत्तट्ठे भवइ । एवं खलु एसा जवमज्झचंदपडिमा अहासुत्तं अहाकप्पं अहामग्गं अहातच्चं सम्मं काएणं फासिया पालिया सोहिया तीरिया किट्टिया आणाए अणुपालिया भवइ ॥२॥

वइरमज्झं णं चंदपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स णिच्चं मासं वोसट्ठकाए चियत्तदेहे जे केइ परिसहोवसग्गा समुप्पज्जंति तंजहा—दिव्वा वा माणुस्सगा वा तिरिक्खजोणिया वा अणुलोमा वा पडिलोमा वा । तत्थ अणुलोमा ताव वंदेज्जा वा नमंसेज्जा वा सक्कारेज्जा वा समाणेज्जा वा कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासेज्जा । पडिलोमा अन्नयरेणं दंडेण वा अट्ठिणा वा जोत्तेण वा वेत्तेण वा कसेण वा काए आउट्टेज्जा ते सव्वे उप्पन्ने सम्मं सहेज्जा खमेज्जा तितिक्खेज्जा अहियासेज्जा ॥३॥

वइरमज्झं णं चंदपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स वहुलपक्खस्स पाडिवए कप्पइ पन्नरस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहित्तए-पन्नरस पाणगस्स, सव्वेहिं दुप्पयचउप्पया-इएहिं आहारकंखीहिं जाव णो आहारेज्जा। वितियाए से कप्पइ चउद्दस दतीओ भोय-णस्स, चउद्दस पाणगस्स पडिगाहित्तए जाव णो आहारेज्जा। एवं जाव पणरसीए एगा दत्ती। सुक्कपक्खस्स पाडिवए कप्पइ दो दत्तीओ, वीयाए तिण्णि जाव चउदसीए पण-रस, पुण्णिमाए अभत्तट्ठे भवइ। एवं खलु एसा वइरमज्झा चंदपडिमा अहासुत्तं अहाकप्पं अहामग्गं जाव अणुपालिया भवइ ॥४॥

पंचविहे ववहारे पन्नत्ते तंजहा—आगमे १, सुए २, आणा ३, धारणा ४, जीए ५। जत्थेव तत्थ आगमे सिया आगमेणं ववहारं पट्ठवेज्जा, नो से तत्थ आगमे सिया, जहा से तत्थ सुए सिया सुएणं ववहारं पट्ठवेज्जा, नो से तत्थ सुए सिया जहा से तत्थ आणा सिया आणाए ववहारं पट्ठवेज्जा, नो से तत्थ आणा सिया जहा से तत्थ धारणा सिया धारणाए ववहारं पट्ठवेज्जा, नो से तत्थ धारणा सिया जहा से तत्थ जीए सिया जीएणं ववहारं पट्ठवेज्जा, एएहि पंचहिं ववहारेहिं ववहारं पट्ठवेज्जा तंजहा—आगमेणं सुएणं आणाए धारणाए जीएणं। जहा जहा आगमे सुए आणा धारणा जीए तहा तहा ववहारं पट्ठवेज्जा। से किमाहु भंते! आगमवलिया समणा णिग्गंथा। इच्चेयं पंचविहं ववहारं जया जया जहिं जहिं तया तया तहिं तहिं अणिस्सिओवस्सियं ववहारं ववहारे-माणे समणे णिग्गंथे आणाए आराहए भवइ ॥५॥

चत्तारि पुरिसजाया पन्नत्ता तंजहा—अट्ठकरे नामं एगे नो माणकरे १, माणकरे णामं एगे नो अट्ठकरे २, एगे अट्ठकरे वि माणकरे वि ३, एगे नो अट्ठकरे नो माणकरे ॥६॥

चत्तारि पुरिसजाया पन्नत्ता तंजहा—गणट्ठकरे नामं एगे नो माणकरे १, माणकरे नामं एगे नो गणट्ठकरे २, एगे गणट्ठकरेवि माणकरेवि ३, एगे नो गणट्ठकरे नो माणकरे ॥७॥

चत्तारि पुरिसजाया पन्नत्ता तंजहा—गणसंगहकरे नामं एगे नो माणकरे १ एगे माणकरे नो गणसंगहकरे २, एगे गणसंगहकरेवि-माणकरेवि ३, एगे नो गणसंगहकरे नो माणकरे ४ ॥८॥

चत्तारि पुरिसजाया पन्नत्ता, तंजहा—गणसोहकरे नामं एगे नो माणकरे १, माणकरे नामं एगे नो गणसोहकरे २, एगे गणसोहकरेवि माणकरेवि ३, एगे नो गण-सोहकरे णो माणकरे ४ ॥९॥

चत्तारि पुरिसजाया पन्नत्ता, तंजहा गणसोहिकरे णामं एगे नो माणकरे १, एगे माणकरे नो गणसोहिकरे २, एगे गणसोहिकरेवि माणकरेवि ३, एगे नो गणसोहिकरे नो माणकरे ॥१०॥

चत्तारि पुरिसजाया पन्नत्ता, तंजहा—रूवं नाम एगे जहइ नो धम्मं १, धम्मं नाम एगे जहइ नो रूवं २, एगे रूवंवि जहइ धम्मंवि जहइ ३, एगे नो रूवं जहइ नो धम्मं जहइ ४ ॥११॥

चत्तारि पुरिसजाया पन्नत्ता, तंजहा—धम्मं नामेगे जहइ नो गणसंठिइं १, गणसंठिइं नामेगे जहइ नो धम्मं २, एगे धम्मंपि जहइ गणसंठिइंपि जहइ ३, एगे नो धम्मं जहइ नो गणसंठिइं ४ ॥१२॥

चत्तारि पुरिसजाया पन्नत्ता, तंजहा—पियधम्मे णामं एगे नो दढधम्मे १, दढधम्मे नामं एगे, नो पियधम्मे २, एगे पियधम्मेवि, दढधम्मेवि, ३, एगे नो पियधम्मे नो दढधम्मे ४ ॥१३॥

चत्तारि आयरिया पन्नत्ता, तंजहा—पव्वायणायरिए नामं एगे णो उवट्ठावणायरिए १, उवट्ठावणायरिए नामं एगे नो पव्वायणायरिए २, एगे पव्वायणायरिएवि उवट्ठावणायरिएवि ३, एगे नो पव्वायणायरिए नो उवट्ठावणायरिए—धम्मायरिए ४ ॥

चत्तारि आयरिया पन्नत्ता, तंजहा—उद्देसणायरिए नामं एगे नो वायणायरिए १, वायणायरिए नामं एगे नो उद्देसणायरिए २, एगे उद्देसणायरिएवि वायणायरिएवि ३, एगे नो उद्देसणायरिए नो वायणायरिए—धम्मायरिए ४ ॥१५॥

धम्मायरियस्स चत्तारि अंतेवासी पन्नत्ता तंजहा—उद्देसणंतेवासी नामं एगे नो वायणंतेवासी १, वायणंतेवासी नामं एगे नो उद्देसणंतेवासी २, एगे उद्देसणंतेवासीवि वायणंतेवासी वि ३, एगे नो उद्देसणंतेवासी नो वायणंतेवासी—धम्मंतेवासी ४ ॥१६॥

'तओ थेरभूमीओ पन्नत्तओ, तंजहा—जाइथेरे १, सुयथेरे २, परियायथेरे ३, य। सट्ठिवासजाए जाइथेरे १, ठाणसमवायधरे सुयथेरे २. वीसवासपरियाए परियायथेरे ३.

'तओ सेहभूमीओ पन्नत्ताओ, तंजहा—सत्तराइंदिया, चाउम्मासिया, छम्मासिया। छम्मासिया य उक्कोसिया, चाउम्मासिया मज्झमिया, सत्तराइंदिया जहन्ना ॥१८॥

नो कप्पइ निग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा खुड्डगं वा खुड्डियं वा ऊणट्ठवासजायं उवट्ठावेत्तए वा संभुंजित्तए वा ॥१९॥

कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा खुड्डगं वा खुड्डियं वा साइरेगअट्टवासजायं उवट्ठावेत्तए वा संभुंजित्तए वा ॥२०॥

नोकप्पइ णिग्गंथाण वा थिग्गंथीण वा खुड्डगस्स वा खुड्डियाए वा अव्वंजणजायस्स आयारकप्पे नामं अज्झयणे उद्दिसित्तए ॥२१॥

कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा खुड्डगस्स वा खुड्डियाए वा वंजणजायस्स आयारकप्पे नामं अज्झयणे उद्दिसित्तए ॥२२॥

तिवासपरियायस्स समणस्स निग्गंथस्स कप्पइ आयारकप्पे नामं अज्झयणे उद्दिसित्तए ॥२३॥

चउवासपरियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ सूयगडे नामं अंगे उद्दिसित्तए ॥२

पंचवासपरियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ दसाकप्पववहारे उद्दिसित्तए ॥२५

अट्ठवासपरियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ ठाणसमवाया उद्दिसित्तए ॥२६॥

दसवासपरियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ विवाहे नामं अंगे उद्दिसित्तए ॥२७

एक्कारसवासपरियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ खुड्डियाविमाणपविभत्ती महल्लियाविमाणपविभत्ती अंगचूलिया वंगचूलिया विवाहचूलिया नामं अज्झयणं उद्दिसित्तए ॥

'बारसवासपरियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ अरुणोववाए गरुलोववाए वरुणोववाए धरणोववाए वेसमणोववाए वेलंधरोववाए नामं अज्झयणे उद्दिसित्तए ॥२९॥

तेरसवासपरियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ उट्ठाणसुए समुट्ठाणसुए देविंदोववाए णागपरियावणिया नामं अज्झयणं उद्दिसित्तए ॥३०॥

चउद्दसवासपरियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ सुमिणभावणा णामं अज्झयणं उद्दिसित्तए ॥३१॥

पन्नरसवासपरियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ चारणभावणा णामं अज्झयणं उद्दिसित्तए ॥३२॥

सोलसवासपरियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ तेयनिसग्गे नामं अज्झयणे उद्दिसित्तए ॥३३॥

सत्तरसवासपरियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ आसीविसभावणा नामं अज्झयणे उद्दिसित्तए ॥३४॥

'अट्ठारसवासपरियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ दिट्ठिविसभावणा नामं अज्झयणं उद्दिसित्तए ॥३५॥

एगूणवीसवासपरियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ दिट्ठिवाए नामं अंगे उद्दिसित्तए ॥३६॥

वीसइवासपरियाए समणे णिग्गंथे सव्वसुयाणुवाई भवइ ॥३७॥

दसविहे वेयावच्चे पण्णत्ते तंजहा— आयरियवेयावच्चे १, उवज्झायवेयावच्चे २, थेरवेयावच्चे ३, तवस्सिवेयावच्चे ४, सेहवेयावच्चे ५ गिलाणवेयावच्चे ६ साहम्मियवेयावच्चे ७ कुलवेयावच्चे ८ गणवेयावच्चे ९ संघवेयावच्चे १० ॥३८॥

आयरियवेयावच्चं करेमाणे समणे णिग्गंथे महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ ॥

उवज्झायवेयावच्चं करेमाणे समणे णिग्गंथे महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ ॥

थेरवेयावच्चं करेमाणे समणे णिग्गंथे महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ ॥४१॥

तवस्सिवेयावच्चं करेमाणे समणे णिग्गंथे महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ ॥

सेहवेयावच्चं करेमाणे समणे निग्गंथे महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ ॥४३॥

गिलाणवेयावच्चं करेमाणे समणे णिग्गंथे महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ ॥

साहम्मियवेयावच्चं करेमाणे समणे णिग्गंथे महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ ।

कुलवेयावच्चं करेमाणे समणे णिग्गंथे महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ ॥४६॥

गणवेयावच्चं करेमाणे समणे णिग्गंथे महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ ॥४७॥

संघवेयावच्चं करेमाणे समणे णिग्गंथे महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ ॥४८॥

॥ ववहारे दसमो उद्देसो समत्तो ॥१०॥

॥ इति व्यवहारसूत्रस्य मूलपाठः समाप्तः ॥

(२)

चूर्णिभाष्यावचूरिसमलङ्कृतम्

श्रीबृहत्कल्पसूत्रम् .

ॐ

बृहत्कल्पसूत्रस्य विषयानुक्रमणिका

प्रथमोद्देशकः

॥ इति बृहत्कल्पे प्रथमोद्देशकः समाप्तः ॥१॥

॥ अथ द्वितीयोद्देशकः ॥

॥ इति बृहत्कल्पे चतुर्थोद्देशकः समाप्तः॥४॥

॥ अथ पञ्चमोद्देशकः ॥

॥ इति बृहत्कल्पे षष्ठोद्देशकः समाप्तः ॥६॥

॥ इति बृहत्कल्पसूत्रस्य विषयानुक्रमणिका समाप्ता ॥

जैनाचार्य-जैनधर्मदिवाकर-पूज्यश्री-घासीलालव्रतिविरचितं
चूर्णिभाष्यावचूरीसमलङ्कृतम्

श्रीबृहत्कल्पसूत्रम् ।

मङ्गलाचरणम्

(मालिनीवृत्तम्)

भविजनहितकारं, ज्ञानवित्तैकसारम्,
कृतभवभयपारं नष्टकर्मारिभारम् ।
अघहरणसमीरं, दुःखदावाग्निनीरम्,
विमलगुणगभीरं, नौमि वीरं सुधीरम् ॥१॥

(मालावृत्तं-इन्द्रवज्रा)

बृहद्भिरिद्धैश्च जिनैर्गणीशै,-स्तथा पुरा पूर्वधरैः प्ररूपितः ।
तैरेव पूर्वं चरितो बृहन् यः, कल्पो बृहत्कल्प इति प्रसिद्धः ॥२॥

(अनुष्टुब् वृत्तम्)

बृहत्कल्पस्य तस्यैव, भाष्यं चूर्ण्यवचूरिका ।
शास्त्रसारं समादाय, घासीलालेन तन्यते ॥३॥

अथेह शास्त्रादौ पूर्वमनुगमः कर्त्तव्यः, अनुगमः इति किम्? गमनं गमः ज्ञानमित्यर्थः अनु-भगवद्वचनमनुसृत्य यो गमः सोऽनुगम । स च द्विधा-निर्युक्त्यनुगमः, सूत्रानुगमश्च, तत्र निर्युक्त्यनुगमः पद्यादिरूपः, सोऽत्र नाधिकृत । सूत्रानुगमः सूत्ररूपः, स चात्र प्रसङ्गप्राप्तः शास्त्रस्य गणधरैः प्रायः सूत्ररूपेण ग्रथितत्वात् इति सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयम्, तच्च स्खलितादिदशदोषविनिर्मुक्तं भवितुमर्हति, ते च सूत्रोच्चारणदोषा यथा—

संवलितं १ मिलितं २ चैव, व्यविद्धाक्षरमेव च ३ ।
हीनाधिकाक्षरे द्वे ५ च, व्यत्याम्रेडितमेव च ६ ।" ॥१॥
अपरिपूर्णमित्येक ७-मपरिपूर्णघोषकम् ८
अकण्ठोष्ठविप्रमुक्त ९-मगुरुवाचनाऽऽगतम् १० ॥२॥ इति

तत्र संवलितम्-यद् अन्तराऽन्तरा पदादि मुक्त्वा उच्चारणम् १ । मिलितम्-यत् अन्यान्यस्य उद्देशस्याध्ययनस्य वा आलापकादि संमेल्योच्चारणम् २ । व्याविद्धाक्षरम्-यद् विपर्यस्तरत्न-

मालागतरत्नवत् विपर्यस्ताक्षरविन्यासपूर्वकमुच्चारणम् ३ । हीनाक्षरम्— यद् सूत्रगताक्षरेभ्यः कानिचिदक्षराणि हीनानि कृत्वा उच्चारणम् ४ । अधिकाक्षरम्—यत् सूत्रे स्वबुद्ध्याऽक्षराणि अधिकानि संयोज्योच्चारणम् ५ । व्यत्याम्रेडितम्—यद् एकस्य शास्त्रस्य वचनेऽन्यान्यशास्त्रवचनानां संमिश्रणं कृत्वोच्चारणम् ६ । अपरिपूर्णम्—यद् मात्रापदचरणबिन्दुवर्णादिभिरपरिपूर्णतयोच्चारणम् ७ । अपरिपूर्णघोषम्—यद् उदात्तानुदात्तस्वरितरूपैः घोषैरपूर्णमुच्चारणम् ८ । अकण्ठौष्ठविप्रमुक्तम्- यत् कण्ठौष्टताल्वादिभिरविमुक्तमेवेति वर्णानां कण्ठौष्ठसलग्नत्वेनाऽव्यक्तमस्पष्टमुच्चारणम्, अथवा वर्णानां कण्ठौष्ठादितत्तत्स्थानरहितमेवोच्चारणम् ९। अगुरुवाचनागतमिति—अगुरुवाचनोपगतम्—यद् गुरुप्रदत्तवाचनया न प्राप्तं, गुरुतो वाचनामप्राप्यैवोच्चारणम् १०। इति । इत्यादिदोषरहितं सूत्रमुच्चारणीयमित्यस्य शास्त्रस्य प्रथमं सूत्रमाह—'नोकप्पइ' इत्यादि ।

सूत्रम्—नो कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गंथीणं वा आमे तालपलंबे अभिन्ने पडिगाहित्तए ॥सू० १॥

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा आमं तालप्रलम्बं अभिन्नं प्रतिग्रहीतुम् ॥सू० १॥

चूर्णी—**'नो कप्पइ'** न कल्पते **निग्गंथाणं** निर्ग्रन्थानाम्,—निर्—निर्गता ग्रन्थात् बाह्याभ्यन्तररूपात्, तत्र बाह्यो ग्रन्थः क्षेत्र-वास्तु-हिरण्य-सुवर्ण-धन-धान्य-द्विपद-चतुष्पद-कुप्य-रूपो नवविधः, आभ्यन्तरः—राग-द्वेष-क्रोध-मान-माया-लोभ-हास्य-रत्यरति-मिथ्यात्व-वेद-भय-शोक-जुगुप्सारूपश्चतुर्दशविधः, ताभ्यां द्विविधाभ्यामपि ग्रन्थाभ्यां निर्गता निर्ग्रन्थाः श्रमणास्तेषाम्, एवं **निग्गंथीणं** निर्ग्रन्थीनां पूर्वोक्तलक्षणवतीनां साध्वीनां **आमे** आमम् अपक्वम्, यत् **तालपलंबे**, तालप्रलम्बम्, तलो वृक्षविशेषस्तत्र भवं तालं वृक्षविशेषसम्बन्धि, **पलम्बं**—प्रलम्बते इति प्रलम्बं प्रकर्षेण लम्बं वा प्रलम्बं लम्बायमानमाकृतितो दीर्घं कदलीफलादिकं **अभिन्ने** अभिन्नं, भिन्नं द्रव्यतो भावतश्च द्विविधम्, तत्र द्रव्यतो भिन्नं क्षुरिकादिना विदारितं, भावतो भिन्नं व्यपगतजीवमचित्तमित्यर्थः तद्विपरीतम् अभिन्नं शस्त्रापरिणतत्वेन सचित्तमित्यर्थः, तादृशं तालप्रलम्बं **पडिगाहित्तए** प्रतिग्रहीतुम्—आदातुं न कल्पते इति पूर्वेण सम्बन्धः, आमफलस्य सचित्तत्वसद्भावात् । सू० १॥

अथ यादृशं तालप्रलम्बं कल्पते तदेव प्रदर्शयति—'**कप्पइ**' इत्यादि ।

मूलम्—कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गंथीणं वा आमे तालपलम्बे भिन्ने पडिगाहित्तए ॥सू० २॥

छाया—कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा आमं तालप्रलम्बं भिन्नं प्रतिग्रहीतुम् ॥सू०२॥

चूर्णी—कप्पइ कल्पते निग्गंथाणं निर्ग्रन्थानां निग्गंथीणं निर्ग्रन्थीनां पूर्वप्रदर्शितस्वरूपाणां साधूनां साध्वीनां च आमे आमं अपक्वं तालप्रलम्बं वृक्षविशेषस्य लम्बं फलं कदलीफलादिकं यदि भिन्नं द्रव्यतो भावतश्च शस्त्रपरिगतमचित्तं भवेत्तदा पडिग्गाहित्तए प्रतिग्रहीतुम् कल्पते भिन्नस्य शस्त्रपरिणतत्वेन सचित्तत्वदोषराहित्यात् ॥सू० २॥

पूर्वं सामान्येन निषेधो विधिश्च प्रदर्शितः, साम्प्रतं विशेषमाह—'कप्पइ' इत्यादि ।

मूलम्—कप्पइ निग्गंथाणं पक्के तालपलंबे भिण्णे वा अभिण्णे वा पडिगाहित्तए ॥ सू० ३ ॥

छाया—कल्पते निर्ग्रन्थानां पक्वं तालप्रलम्बं भिन्नमभिन्नं वा प्रतिग्रहीतुम् ॥सू०३॥

चूर्णी—कप्पइ कल्पते निग्गंथाणं निर्ग्रन्थानां श्रमणानां पक्के तालपलंबे पक्वं तालप्रलम्बं कदलीफलादिकं दीर्घफलं भिण्णे वा अभिण्णे वा भिन्नं वा अभिन्नं वा द्विविधमपि पडिगाहित्तए प्रतिग्रहीतुं कल्पते। पक्वमिति यदचित्तं तत् कल्पते, साधूनामाकृतिजनितदोषाभावात् ॥सू०॥३॥

अथ निर्ग्रन्थीनां पक्वस्याप्यभिन्नस्य ग्रहणे निषेधमाह—'नो कप्पइ' इत्यादि ।

मूलम्—नो कप्पइ निग्गंथीणं पक्के तालपलंबे अभिन्ने पडिगाहित्तए ॥४॥

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थीनां पक्वं तालप्रलम्बं अभिन्नं प्रतिग्रहीतुम् ॥सू०४॥

चूर्णी—नो कप्पइ नो नैव कल्पते निग्गंथीणं निर्ग्रन्थीनां साध्वीनां पक्के तालपलंबे पक्वमपि तालप्रलम्बं यत् अभिन्ने अभिन्नम् अविदारितं अखण्डमित्यर्थः, तत् पडिगाहित्तए प्रतिग्रहीतुं न कल्पते, निर्ग्रन्थीनां तदाकृतिजन्यदोषप्राप्तिसद्भावात् ॥सू०४॥

साम्प्रतं पक्वस्य तालप्रलम्बस्य ग्रहणे साध्वीनां विधिं प्रदर्शयति—'कप्पइ' इत्यादि ।

मूलम्—कप्पइ निग्गंथीणं पक्के तालपलंबे भिन्ने पडिगाहित्तए, सेवि य विहिभिण्णे नो चेव णं अविहिभिण्णे ॥ सू० ५ ॥

छाया—कल्पते निर्ग्रन्थीनां पक्वं तालप्रलबं भिन्नं प्रतिग्रहीतुम्, तदपि च विधिभिन्नं नैव खलु अविधिभिन्नम् ॥सू० ५॥

चूर्णी—कप्पइ कल्पते निग्गंथीणं निर्ग्रन्थीनां पक्के तालपलंबे पक्वं तालप्रलम्बं भिण्णे भिन्नं खण्डितं यदि भवेत्तदा पडिगाहेत्तए प्रतिग्रहीतुं कल्पते, किन्तु सेवि य णं तदपि च भिन्नमपि च खलु यदि विहिभिन्ने विधिभिन्नं विधिना उचितप्रकारेण फलकर्त्तनविधिना यदि भिन्नं भवेत्तदा कल्पते नो चेव णं नैव खलु अविहिभिन्ने अविधिभिन्नं कल्पते, विधिभिन्नमिति किमप्याकारविशेषमधिकृत्य खण्डितं न भवेत् तत्, अविधिभिन्नं तु यत् कमप्याकारविशेषमधिकृत्य खण्डितं भवेत्तन्न कल्पते इति भावः ॥सू०५॥ अत्र गाथात्रयमाह भाष्यकारः—

भाष्यम्—पढमे आममभिन्नं, तालपलंबं निसेहियं दुण्हं।
बीए भिन्नग्गहणं, आणत्तं समण–समणीणं ॥१॥
तइए निग्गंथाणं, भिण्णमभिण्णं च पक्कमाणत्तं।
निग्गंथीण चउत्थे, पक्कं पि निसेहियमभिण्णं ॥२॥
कप्पइ य एत्थ भिण्णं, विहिभिण्णं तंपि णो अविहिभिण्णं
समणीण य छ ब्भंगा, जो सुद्धो सो य गहियव्वो ॥३॥

छाया—प्रथमे आममभिन्नं तालप्रलम्बं निषिद्धं द्वयानाम्।
द्वितीये भिन्नग्रहणम्, आज्ञप्तं श्रमण–श्रमणीनाम् ॥१॥
तृतीये निर्ग्रन्थानां, भिन्नमभिन्नं च पक्वमाज्ञप्तम्।
निर्ग्रन्थीनां चतुर्थे, पक्वमपि निषिद्धमभिन्नम् ॥२॥
कल्पते चात्र (पञ्चमे) भिन्नं, विधिभिन्नं तदपि नो अविधिभिन्नम्।
श्रमणीनां षड् भङ्गा, यः शुद्धः स च ग्रहीतव्यः ॥३॥

अवचूरी—पढमे इति। पढमे प्रथमे सूत्रे आममभिन्नं तालप्रलम्बं दुण्हं द्वयानां श्रमणानां श्रमणीनां च निसेहियं निषिद्धमिति। बीए द्वितीये सूत्रे समणसमणीणं, श्रमण–श्रमणीनां साधूनां साध्वीनां च भिण्णग्गहणं भिन्नग्रहणं भिन्नस्य तालप्रलम्बस्य ग्रहणम् आदानम् आणत्तं आज्ञप्तम्-आज्ञाविषयीकृतं भगवतेति ॥१॥

तइए तृतीये सूत्रे निर्ग्रन्थानां साधूनां पक्के पक्वं तालप्रलम्बं भिन्नमभिन्नं च आज्ञप्तम्। चउत्थे चतुर्थे सूत्रे निर्ग्रन्थीनां पक्वमपि तत् अभिन्नं निषिद्धम् ॥२॥

'एत्थ' अत्र पञ्चमे सूत्रे निर्ग्रन्थीनां भिन्नं कल्पते किन्तु तंपि तदपि भिन्नं तालप्रलम्बमपि विहिभिन्नं विधिभिन्नं विधिना समुचितप्रकारेण नतु केनाप्याकारविशेषेण भिन्नं खण्डितं भवेत्तदा कल्पते नो अविहिभिण्णं अविधिभिन्नम्, अविधिना अनुचितप्रकारेण, केनापि आकारविशेषेण भिन्नं भवेत्तदा नो नैव कल्पते। अत्र श्रमणीनां प्रलम्बग्रहणे छ ब्भंगा षड् भङ्गा भवन्ति तत्र यो भङ्गो ग्रहणविषये शुद्धो भवेत् सो गहियव्वो स ग्रहीतव्यः नान्य इति ॥३॥

के ते षड् भङ्गाः? इति तान् प्रदर्शयति भाष्यकारः—'समणीणं' इत्यादि

भाष्यम्—समणीणं छ ब्भंगा, होंति य जे ते इहं पवुच्छामि।
पढमो दोहि अभिण्णं, दव्वेणं तह य भावेणं (१) ॥४॥
अविहि–विही य दव्वे, बीओ तइओ य होइ दो भंगा (३)।
भावेण य दव्वेण य, भिण्णमभिण्णं चउत्थो य (४) ॥५॥

भावेणं भिण्णं पुण, दव्वेणं अविहिभिण्ण पंचमओ (५)।
छट्ठो य भावभिण्णं, तंपि य दव्वेण विहिभिण्णं (६) ॥६॥

छाया—श्रमणीनां षड् भङ्गा भवन्ति च ये तान् इह प्रवक्ष्यामि।
प्रथमो द्वाभ्यामभिन्नं द्रव्येण तथा च भावेन (१)
अविधिविधी च द्रव्ये द्वितीयस्तृतीयश्च भावतो द्वौ भङ्गौ (३) ॥४॥
भावेन च द्रव्येण च, भिन्नं अभिन्नं चतुर्थश्च (४) ॥५॥
भावेन भिन्नं पुनर्द्रव्येणाविधिभिन्नं पञ्चमकः (५)।
षष्ठश्च भावभिन्नं, तदपि च द्रव्येण विधिभिन्नम् (६) ॥६॥

अवचूरी—'समणीणं' इति। समणीणं श्रमणीनां प्रलम्बग्रहणविषये षड् भङ्गा ये भवन्ति तान् इह 'पवुच्छामि' प्रवक्ष्यामि कथयिष्यामीति भाष्यकारवचनम्। तानेव दर्शयति—पढमो इत्यादि, तत्र षट्सु भङ्गेषु प्रथमो भङ्गः पूर्वोक्तं प्रलम्बं दोहि द्वाभ्यामपि प्रकाराभ्यां यथा 'दव्वेण य भावेण य' द्रव्यतो भावतश्च यत्र अभिन्नं भवेत्स प्रथमो भङ्ग इत्यर्थः (१)। अविहि-विही य दव्वे' द्रव्ये द्रव्यविषये प्रथमविधिः, ततश्च विधिर्यथा—पूर्वोक्तं भावतो यद् अभिन्नं तत्, द्वितीये भङ्गे—अविधिभिन्नं, तृतीये भङ्गे—विधिभिन्नम्, इत्येवं 'बीओ तइओ य' द्वितीयस्तृ-तीयश्चेति 'होंति दो भंगा' द्वौ भङ्गौ भवतः (३)। 'भावेण य दव्वेण य भिण्णमभिण्णं' क्रमशो यथासंख्यं भावेन भिन्नं, द्रव्येण अभिन्नम्, इत्येवं चतुर्थो भङ्गो भवति (४)। भावेणं भिण्णं पुण भावेन भिन्नमपि 'दव्वेण अविहिभिण्णं' द्रव्येण तद् अविधिभिन्नं भवति, इत्येषः 'पंचमओ' पञ्चमो भङ्गो भवति (५)। 'छट्ठो य' षष्ठश्च भङ्गः—भावभिण्णं भावतो भिन्नं, तंपि य' तदपि च दव्वेण विहिभिण्णं' द्रव्येण विधिभिन्नम्, इत्येष षष्ठो भङ्गः (६)। एष भङ्गः श्रमणीनां ग्राह्यो भवतीति भावः।

षण्णां भङ्गानां कोष्ठकमिदम्—

१–द्रव्यतो भावतश्च अभिन्नम्।
२–भावतः अभिन्नं–द्रव्यतः अविधिभिन्नम्।
३–भावतः अभिन्नं द्रव्यतः–विधिभिन्नम्।
४–भावतः भिन्नं–द्रव्यतः–अभिन्नम्
५–भावतः भिन्नं–द्रव्यतः–अविधिभिन्नम्।
६–भावतः भिन्नं द्रव्यतः विधिभिन्नम्।

। इति प्रलम्बप्रकरणम्।

पूर्वं प्रलम्बग्रहणविधिरुक्तः, सम्प्रति वसतिनिवासविधिमाह, तत्र पूर्वसूत्रेणाऽस्य कः सम्बन्धः? इति सम्बन्धं प्रदर्शयति भाष्यकारः—'आहारो' इत्यादि।

भाष्यम्—आहारो पुव्वुत्तो, सो य कहिं भुंजए समुवविस्स ।
इय वसहीविहिमेत्थ य, वन्नेइ एस संबंधो ॥७॥

छाया—आहारः पूर्वमुक्तः स च कुत्र भुज्यते समुपविश्य ।
इति वसतिविधिमत्र च वर्णयति एष सम्बन्धः ॥७॥

अवचूरिः—'आहारो' इति । पूर्वं पूर्वसूत्रे आहारः उक्तः, स चाहारः कुत्र समुपविश्य भुज्यते इति, एतदवलम्ब्य अत्र च वसतिविधिं 'वन्नेइ' वर्णयति । एष पूर्वसूत्रेणास्य सम्बन्ध इति ॥७॥

इत्यनेन सम्बन्धेन निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां च ऋतुबद्धादिकाले एकस्मिन् क्षेत्रे कियन्तं कालं वस्तुं कल्पते ? इति प्रदर्शयितुकामः सूत्रकारः प्रथमं निर्ग्रन्थसूत्रमाह—**'से गामंसि वा'** इत्यादि ।

मूलम्—से गामंसि वा णगरंसि वा खेडंसि वा कव्वडंसि वा मडंबंसि वा पट्टणंसि वा आगरंसि वा दोणमुहंसि वा निगमंसि वा आसमंसि वा संनिवेसंसि वा संवाहंसि वा घोसंसि वा अंसियंसि वा पुडभेयणंसि वा रायहाणिंसि वा सपरिक्खेवंसि अबाहिरियंसि कप्पइ निग्गंथाणं हेमंतगिम्हासु एगं मासं वत्थए, ॥६॥

छाया—अथ ग्रामे वा नगरे वा खेटे वा कर्वटे वा मडम्बे वा पत्तने वा आकरे वा द्रोणमुखे वा निगमे वा आश्रमे वा संनिवेशे वा संवाहे वा घोषे वा अंसिकायां वा पुटभेदने वा राजधान्यां वा सपरिक्षेपे अबाहिरिके कल्पते निर्ग्रन्थानाम् हेमन्तग्रीष्मेषु एकं मासं वस्तुम् ॥सू० ६॥

चूर्णी :—**से गामंसि वा** इति । 'से' अथ ग्रामे—गम्यो गमनीयः प्रापणीयो वा अष्टादशानां कराणां यः स ग्रामः, ग्रसते बुद्ध्यादिगुणान् इति वा ग्रामः, पृषोदरादिना सिद्धिः, तस्मिन् ग्रामे, नगरे वा, 'नयरे' इत्यस्य नकरे इति छाया, तत्र करः अष्टादशविधो राजदेयो भागः, स न विद्यते यत्र नकरम्—नगरम्, पृषोदरादित्वात् ककारस्य गकारः, नञो लोपाभावश्चेति, तस्मिन् नगरे, खेटे वा खेटः धूलिप्राकारपरिक्षिप्तजननिवासः तस्मिन्, कर्वटे वा, कर्वटः कुत्सितनगरम्, तस्मिन् वा, मडंबे वा—मडम्बो यस्य सर्वतश्चतुर्दिक्षु सार्द्धगव्यूतपर्यन्तं ग्रामादिकं न भवति सः, तस्मिन् वा, पत्तने वा, पत्तनं द्विविधं—जलपत्तनं स्थलपत्तनं च, यत्र नावादिना गम्यते तत् जलपत्तनम्, यत्र शकटघोटकादिभिर्गम्यते तत् स्थलपत्तनम्, तस्मिन् एतादृशे द्विविधेऽपि पत्तने वा, आकरे वा, आकरः खनिः लोहताम्ररूप्याद्युत्पत्तिस्थानं, यत्र लोकाः प्रस्तरधातुधमनादिना लोहताम्ररूप्यादि संपादयन्ति तस्मिन् तादृशे स्थाने वा, द्रोणमुखे वा द्रोणमुखम्—द्रोणः परिमाणविशेष इति परिमाणस्य परिमितजलरूपस्य मुखं, यत्र समुद्रस्य ऊर्मयः यथासमयमागच्छन्ति

तत् जलस्थलेति द्विप्रकारयुक्तं स्थानं तस्मिन्, निगमे वा—निगमः नैगमानां वणिजकानां स्थानं, निगमे भवा नैगमाः इति व्युत्पत्त्या तस्मिन्, आश्रमे वा आश्रमः प्रथमतस्तापसैरावासितः पश्चादपरेऽपि जना आगत्य संवसन्ति, तादृशं स्थानं तस्मिन्, संनिवेशे वा, संनिवेशः यत्र जनसमुदायरूपः सार्थो व्यापारादिनिमित्तं प्रस्थितः सन् अन्तरान्तरा वासमधिवसति सः, तस्मिन् तादृशे स्थाने, संवाहे वा संवाहः यत्र कृषीवला अन्यत्र कर्षणं कृत्वा, वणिजो वा, वाणिज्यनिमित्तमन्यतः धान्यादिकं संवाह्य—आनीय—पर्वतादौ विषमे स्थाने धान्यादिकं कोष्ठागारादौ च प्रक्षिप्य वसन्ति सः, तस्मिन् तादृशे स्थाने, घोषे वा—घोषः आभीरपल्ली तस्मिन, अंशिकायां वा अंशिकानाम यत्र ग्रामस्यार्धं तृतीयश्चतुर्थो वा भाग आगत्य वसति, ग्रामांशत्वाद् अंशिका प्रोच्यते सा तस्यां वा, पुटभेदने वा, पुटभेदनं पुटानां कुङ्कुमादिपुटानां यत्र नानादिग्भ्य आनीय विक्रयार्थं भेदनं क्रियते, तत् तस्मिन् तादृशे स्थाने वा, राजधान्यां वा, राजधानी यत्र राजा वसति सा तस्यां वा, एतादृशे पूर्वोक्तस्वरूपे ग्रामादौ सपरिक्षेपे कण्टकवृत्तिभित्त्यादिपरिक्षेपयुक्ते, पुनश्च अबाहिरिके बाहिरिका यस्य ग्रामादेः परिक्षेपाद् बहिर्गृहपङ्क्तिर्भवेत् सा, न विद्यते बाहिरिका बहिर्जन-वसतिः 'पुरा' इति प्रसिद्धा यस्य ग्रामादेः स अबाहिरिको ग्रामादिः, तस्मिन् एतादृशे ग्रामादौ निर्ग्रन्थानां श्रमणानां हेमन्तग्रीष्मेषु हेमन्तादिग्रीष्मान्तेषु ऋतुबद्धकालसम्बन्धिषु अष्टसु मासेषु मध्ये एकं मासं यावत् वस्तुम् अवस्थातुं कल्पते ततोऽधिकनिवासेऽतिपरिचये-नाऽनादरसंभव, स्त्र्यादीनां वारं वारं दर्शनभाषणादिना संयमात्मोभयविराधनादयो दोषाः संभ-वन्ति, अधिककालवासेन भद्रकगृहस्थानां श्रमणोपरि गाढतरः स्नेहः संजायते, तेनाधाकर्मादि-दोषदुष्टमशनादि प्रतिलाभयन्ति, कदाचित्ततो विहारे तेषां गाढतरस्नेहसम्बन्धेन ते पुरुषाः स्त्रियो वा विरहदुःखदुःखिता अपि भवेयुः, अधिकनिवासे क्षेत्रमपि नीरसं भवति, इत्याद्यनेके दोषाः श्रमणानामापतन्ति ततः ऋतुबद्धकाले ग्रामादौ एकमेव मासं यावद् वस्तुं कल्पते नाधि-कमिति। आगाढकारणे तु कल्पते तत् प्रदर्श्यते—यदि आचार्यादीनां शरीरदौर्बल्येन तत्प्रायोग्यं भक्तपानादिकं तदासन्नग्रामादौ दुरापं भवेत् तदा कियत्कालं यावत्, तथा साधुर्वा ग्लानो जायते, अन्यत्र औषधभैषज्यादि सुलभं न भवेत् तेन कारणेन मासादधिकं यावत्कालपर्यन्तं ग्लानः प्रगुणीभूतो न भवेत्तावत्कालपर्यन्तमपि तत्र वस्तुं कल्पते। यदि ग्लानः प्रगुणीभूतो भवेत्तदा तदैव तस्मात् स्थानान्निर्गन्तव्यमिति तात्पर्यम् ॥सू० ६॥

अथ ग्रामादिवासविषयेऽन्यमपि विधिं प्रदर्शयति सूत्रकारः—'से गामंसि वा' इत्यादि।

सूत्रम्—से गामंसि वा जाव रायहाणिंसि वा सपरिक्खेवंसि सबाहिरियंसि कप्पइ निग्गंथाणं हेमंतगिम्हासु दो मासे वत्थए, अंतो इक्कं मासं, बाहिं इक्कं मासं, अंतो वसमाणाणं अंतो भिक्खायरिया, बाहिं वसमाणाणं बाहिं भिक्खायरिया ॥सू० ७॥

छाया—अथ ग्रामे वा यावत् राजधान्यां वा सपरिक्षेपे सबाहिरिके कल्पते निर्ग्रन्थानां हेमन्तग्रीष्मेषु द्वौ मासौ वस्तुम्। अन्तः एकं मासं बहिरेकं मासम्, अन्तर्वसताम् अन्तर्भिक्षाचर्या, बहिर्वसतां बहिर्भिक्षाचर्या ॥सू० ७॥

चूर्णी—'से गामंसि वा' इति। अथ ग्रामे वा यावत् राजधान्यां वा, ग्रामत आरभ्य राजधानीपर्यन्तं सर्वत्र ग्रामादौ पूर्वप्रतिपादितस्वरूपे सपरिक्षेपे–परिक्षेपसहिते, सबाहिरिके परिक्षेपाद् बहिर्जननिवाससहिते निर्ग्रन्थानां हेमन्तग्रीष्मेषु ऋतुबद्धकालसंबन्धिषु अष्टसु मासेषु द्वौ मासौ मासद्वयपर्यन्तं वस्तुं कल्पते। पूर्वमेकमासं यावत् निवासः प्रोक्तः, अस्मिन् सूत्रे च द्वौ मासौ, इति प्रोक्तं तत्कथम्? अत्राह—पूर्वसूत्रे सपरिक्षेपे सति बाहिरिकारहितत्वेन एकं मासमेव निवासः कथितः, अत्र तु यद ग्रामादि सबाहिरिकं भवेत्तत्र द्विमासमपि वस्तुं कल्पते, इत्येवं दर्शयति सूत्रकारः–'अंतो इक्कं' इति, सबाहिरिके ग्रामादौ अन्तः–ग्रामादिपरिक्षेपमध्ये एकं मासं, बहिश्च एकं मासं यावत् वस्तुं कल्पते, तत्रापि अन्तर्वसतां परिक्षेपान्तर्निवासं कुर्वतां निर्ग्रन्थानां अन्तरेव परिक्षेपमध्ये एव भिक्षाचर्या करणीया भवेत्, बहिः परिक्षेपाद्बहिर्भागे जनवसतौ वसतां निर्ग्रन्थानां बहिर्ग्रामाद्बहिरेव बाह्यवसतावेव भिक्षाचर्या करणीया भवेत्, इत्येष विशेषोऽत्र बोध्यः॥

ग्रामाद्यन्तर्वसद्भिर्निर्ग्रन्थैर्मासकल्पे परिपूर्णे सति ग्लानादिकारणवशात्तदन्यत्र विहरणं कर्त्तुं न शक्यते तदा द्वितीये मासे बाहिरिकायां संक्रमणं कर्त्तव्यम्, पीठफलकाद्यपि तत्रैव ग्रहीतव्यं नाभ्यन्तरतो बहिर्नेतव्यम्, यदि बाहिरिकायां पीठफलकादि न लभ्यते तदा अन्तरुपाश्रयस्वामिनं पृष्ट्वा तदाज्ञया नेतुं कल्पते, न त्वनापृच्छ्येति। यद्यनापृच्छ्य नीयते तदा स्तेनाहृतादिनानाविधदोषसंभवः, संयमात्मविराधनाऽपि भवितुमर्हति ॥सू०७॥

पूर्वं निर्ग्रन्थानामृतुबद्धकालसम्बन्धिनिवासविधिः प्रोक्तः, साम्प्रतं निर्ग्रन्थीनां स प्रोच्यते– 'से गामंसि वा' इत्यादि।

मूलम्—से गामंसि वा जाव रायहाणिंसि वा सपरिक्खेवंसि अबाहिरियंसि कप्पइ निग्गंथीणं हेमंतगिम्हासु दो मासे वत्थए ॥सू० ८॥

छाया—अथ ग्रामे वा यावत् राजधान्यां वा सपरिक्षेपे सबाहिरिके कल्पते निर्ग्रन्थीनां हेमन्तग्रीष्मेषु द्वौ मासौ वस्तुम् ॥सू० ८॥

चूर्णी—'से गामंसि वा' इति। अथ ग्रामे वा यावत् राजधान्यां सपरिक्षेपे अबाहिरिके बाह्यवसतिरहिते निर्ग्रन्थीनां ऋतुबद्धकाले अष्टमासरूपे द्वौ मासौ यावत् वस्तुं कल्पते। ननु निर्ग्रन्थानामेतादृशे ग्रामादौ एकं मासं यावदेकत्र वसनमनुज्ञातं, निर्ग्रन्थीनां च द्वौ मासौ इति कोऽत्र हेतुः, महाव्रतानि तु समानान्येव द्वयानाम्? इत्यत्राह—द्वयानां महाव्रतेषु समानेष्वपि तासां मासे मासे विहरणे स्त्रीशरीरत्वादनेके दोषाः समापतन्ति ततो भगवता निर्ग्रन्थीभ्यो द्विमासं यावदेकत्र निवासकरणमनुज्ञातमिति ॥सू० ८॥

साम्प्रतं सबाहिरिकग्रामादौ निर्ग्रन्थीनां वासविधिमाह--'से गामंसि वा' इत्यादि ॥

मूलम्—से गामंसि वा जाव रायहाणिंसि वा सपरिक्खेवंसि सबाहिरियंसि कप्पइ निग्गंथीणं हेमंतगिम्हासु चत्तारि मासे वत्थए, अंतो दो मासे, बाहिं दो मासे, अंतो वसमाणीणं अंतो भिक्खायरिया, बाहिं वसमाणीणं बाहिं भिक्खायरिया ॥सू० ९॥

छाया—अथ ग्रामे वा यावत् राजधान्यां वा सपरिक्षेपे सबाहिरिके कल्पते निर्ग्रन्थीनां हेमन्तग्रीष्मेषु चतुरो मासान् वस्तुम्, अन्तर्द्वौ मासौ, बहिर्द्वौ मासौ, अन्तर्वसतीनामन्तर्भिक्षाचर्या, बहिर्वसतीनां बहिर्भिक्षाचर्या ॥सू० ९॥

चूर्णी—'से गामंसि वा'इति । अथ ग्रामे वा यावत्-राजधान्यां वा सपरिक्षेपे सबाहिरिके बहिर्जननिवासयुक्ते ग्रामादौ निर्ग्रन्थीनां हेमन्तग्रीष्मेषु ऋतुबद्धकालसम्बन्धिषु अष्टसु मासेषु चतुरो मासान् स्थातुं कल्पते, कथमित्याह—अंतो दो मासे इति, अन्तः परिक्षेपयुक्तग्रामाद्यभ्यन्तरे द्वौ मासौ यावत् स्थातव्यम् , तदन्तरं द्वौ मासौ च बहिरिति बाहिरिकायां परिक्षेपाद्बहिर्गृहपङ्क्तिरूपायां जनवसतौ द्वौ मासौ यावत् स्थातव्यम् । तत्रापि अन्तर्वसतीनां परिक्षेपाभ्यन्तरे वसतीनां वासं कुर्वन्तीनां निर्ग्रन्थीनाम् अन्तरेव परिक्षेपाभ्यन्तरे एव भिक्षाचर्या करणीया,बहिर्वसतीनां बाहिरिकायां स्थितानां निर्ग्रन्थीनां च बहिरेव भिक्षाचर्या कर्त्तव्या किन्तु अन्तःस्थितानां बहिर्भिक्षाचर्या कर्त्तु न कल्पते इति ॥ सू० ९॥

अत्राह भाष्यकार'- 'बाहिरिय'० इत्यादि ॥

भाष्यम्--बाहिरियरहियगामा,-इए य हेमंतगिम्हमासेसुं ।
कप्पइ निग्गंथाणं, एगं मासं च वत्थेउं ॥८॥
बाहिरियसहियगामा,-इए य मासदुगं पकप्पेइ ।
अंतो ठियाण अंतो, भिक्खा बाहिं च बज्झाणं ॥९॥
एगत्थाहियवासे, सिणेहबंधो तहेव अस्सद्धा ।
आहाकम्मग्गहणं, विराहणं संजमत्ताणं ॥१०॥
एवं निग्गथीणं, दुगुणं निग्गंथकालमाणाओ ।
बंभव्वयाइरक्खा,-निमित्तमेयं च आणत्तं ॥११॥

छाया —बाहिरिकारहितग्रामादिके च हेमन्तग्रीष्ममासेषु । कल्पते निर्ग्रन्थानां, एकं मासं च वस्तुम् ॥८॥ बाहिरिकासहितग्रामादिके च मासद्विकं प्रकल्पते । अन्तः स्थितानामन्तो भिक्षा बहिश्च बाह्यानाम् ॥९॥ एकत्राधिकवासे स्नेहबन्धस्तथैव अश्रद्धा । आधाकर्मग्रहणं, विराधनं संयमात्मनो ॥१०॥ एवं निर्ग्रन्थीनां,द्विगुणं निर्ग्रन्थकालमानात् । ब्रह्मव्रतादिरक्षा,-निमित्तमेतच्च आज्ञतम् ॥११॥

अवचूरी—'बाहिरिय०' इति । बाहिरिकारहितग्रामादिके सपरिक्षेपे सति अबाहिरिके ग्रामादिके ग्रामादारभ्य राजधानीपर्यन्तस्थाने हेमन्तग्रीष्ममासेषु हेमन्तादिग्रीष्मान्तेषु ऋतुद्वद्व-कालसम्बन्धिषु अष्टसु मासेषु निर्ग्रन्थानामेकं मासं वस्तुं कल्पते, निर्ग्रन्थानामेकं मास यावदेक-स्थानवासस्य कल्पत्वात् ॥८॥ तथा-'बाहिरियसहिय०' इति । सपरिक्षेपे सति सबाहिरिके परिक्षेपाद् बहिर्जननिवाससहिते ग्रामादौ मासद्विकं द्वौ मासौ यावद्वस्तुं प्रकल्पते, तादृशस्थानस्य वसतिद्वय-युक्तत्वात्, तत्रापि यदि ग्रामाद्यन्तस्तिष्ठेयुस्तदा तेषामन्त:स्थानां निर्ग्रन्थानां भिक्षा—भिक्षाचर्या अन्तः ग्रामाद्यभ्यन्तरे एव कर्त्तुं कल्पते, नतु बाहिरिकायाम्, यदि च बहिस्तिष्ठेयुस्तदा बाह्यानां बहिः-स्थितानां तेषां बहिः बाहिरिकायामेव भिक्षाचर्या कर्त्तुं कल्पते, नतु ग्रामाद्यभ्यन्तरे, इति निर्ग्रन्थानां तत्र वासविधिर्विज्ञेयः ॥९॥ अधिकवासनिषेधे कारणमाह—

'एगत्थाहिय०' इति । एकत्र एकस्मिन् ग्रामादौ अधिके वासे सति निर्ग्रन्थानां बहवो दोषा भवन्ति, तथाहि—प्रथमं तत्र स्नेहबन्धः श्रावकश्राविकादिभिः सह जायते तज्जन्यो दोषः, तथा चाधिके वासे तत्रत्यानां मनसि निर्ग्रन्थान् प्रति अश्रद्धा जायते—यदेते कियन्तं कालमत्र स्थास्यन्ति ? कदा गमिष्यन्तीत्यादि, पुनश्च स्नेहबंधेन स्त्र्यादिससर्गे ब्रह्मव्रतेऽपि शङ्का भवेत्, तथा स्नेहवशात् आधाकर्माहारग्रहणमपि जायते, इत्यादिकारणेन निर्ग्रन्थानां संयमस्य आत्मनश्च विराधनमवश्यम्भावि, तस्माच्छास्त्रोक्तकालादधिकं न वस्तव्यमिति ॥१०॥ 'एवं' इति एवम् अनेनैव रीत्या निर्ग्रन्थीनां निर्ग्रन्थकालमानात् निर्ग्रन्थानां वासविधौ यत् कालमानं मासरूपं द्विमासरूपं च प्रोक्तं तस्मात् द्विगुणम् एकमासस्थाने मासद्विकम्, द्विमासस्थाने मासचतुष्ट-यमित्येवंरूपं द्विगुणं कालमानं कथितम्, तथाहि—निर्ग्रन्थीनामबाहिरिके ग्रामादौ, द्वौ मासौ यावत् स्थातुं कल्पते, सबाहिरिके ग्रामादौ च चतुरो मासान् यावत् स्थातुं कल्पते इति भावः। अन्यो विधिर्भिक्षाचर्यारूपो निर्ग्रन्थसमान एव विज्ञेयः । निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां च समानेऽपि श्रामण्ये कथमेषो भेदः प्रतिपादितः ? तत्राह—ताश्च स्त्रीजातीयाः सन्ति ततस्तासां ब्रह्मव्रतादि-रक्षानिमित्तमेतद् आज्ञप्तं भगवतेति ।

तदधिके वासे च ये निर्ग्रन्थविषये दोषाः प्रोक्तास्ते तु निर्ग्रन्थीनामप्यनिवार्या एव भवन्ति ततः शास्त्रोक्तसमयादधिकं ग्रामादौ कुत्रापि नैव वस्तव्यमिति भावः । ग्लानत्वादि-कारणे तु यावत्कालं ग्लानत्वं न निवर्त्तते तावत्कालं तत्र वस्तुं कल्पते, ग्लानत्वे निवृत्ते नैकमपि दिवसं तत्र स्थातव्यम्, अन्यत्र गन्तव्यमेवेति भावः ॥११॥

॥ इति मासकल्पप्रकरणम् ॥

पूर्वं निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां च मासकल्पविधिः प्रोक्तः, सम्प्रति तेषामेकस्थाने वस्तुं न कल्पते, इति विधिमाह—'से गामंसि वा' इत्यादि ।

सूत्रम्--से गामंसि वा जाव रायहाणिंसि वा एगवगडाए एगदुवाराए एगनिक्खमणपवेसाए नो कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गंथीणं वा एगयओ वत्थए ॥सू० १०॥

छाया—अथ ग्रामे वा यावत् राजधान्यां वा एकवगडाके एकद्वारके एकनिष्क्रमणप्रवेशके नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा एकतो वस्तुम् ॥ सू० १०॥

चूर्णी—'से गामंसि वा' इति । अथ ग्रामे वा यावत् राजधान्यां वा एकवगडाके 'वगडा' इति देशी शब्दः परिक्षेपवाची, एका वगडा—परिक्षेपः प्राकारो यस्य तत् एकवगडाकम्, तस्मिन् एकप्राकारयुक्ते, ग्रामादौ इत्यर्थः, एवम्—एकद्वारे एकमेव द्वारं यस्य ग्रामादेस्तद् एकद्वारम्, तस्मिन्—एकद्वारयुक्ते, एकनिष्क्रमणप्रवेशके एकं एकमेव निष्क्रमणं निस्सरणमार्गः, एकं एव च प्रवेशः—प्रवेशमार्गो यस्य तत् एकनिष्क्रमणप्रवेशकं तस्मिन् एकनिष्क्रमणप्रवेशयुक्ते ग्रामादौ इत्यर्थः, यस्य ग्रामादेः निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां च निष्क्रमणं प्रवेशश्च एकेनैव द्वारेण भवेत् तादृशे ग्रामादौ निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां च द्वयानां एकतः—एकत्र वस्तु स्थातुं न कल्पते । अत्र चतुर्भङ्गी भवति ।

यथा—१-एका वगडा—एकं द्वारम् । २—एका वगडा—अनेकानि द्वाराणि । ३—अनेका वगडा—एकं द्वारम् । ४—अनेका वगडा—अनेकानि द्वाराणि । अत्र चतुर्थो भङ्गः शुद्धः, स ग्राह्य इति ॥ सू० १०॥

यद्येवं तर्हि कीदृशे ग्रामादौ वस्तुं कल्पते ? इति प्रदर्शयति—'से गामंसि वा' इत्यादि ।

सूत्रम्--से गामंसि वा जाव रायहाणिंसि वा अभिणिवगडाए अभिनिदुवाराए अभिणिक्खमणपवेसाए कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गंथीणं वा एगयओ वत्थए ॥सू० ११॥

छाया—अथ ग्रामे वा यावत् राजधान्यां वा अभिनिवगडाके अभिनिद्वारके अभिनिष्क्रमणप्रवेशके कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा एकतो वस्तुम् ॥ सू० ११ ॥

चूर्णी—'से गामंसि वा' इति । अथ ग्रामे वा यावत् राजधान्यां वा अभिनिवगडाके अभिशब्दोऽनेकार्थः, नि—शब्दो नियतार्थकः वगडाशब्दः प्राकारार्थक इति, अभि—अनेका, नि—नियता वगडा—प्राकारो यत्र तत् अभिनिवगडाकं, तस्मिन् अनेकनियतपरिक्षेपयुक्ते ग्रामादौ, तथा अभिनिद्वारे-अनेकद्वारयुक्ते अभिनिष्क्रमणप्रवेशके—अनेकनिष्क्रमणप्रवेशमार्गयुक्ते ग्रामादौ तत्र निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां च एकतः एकत्र एतादृशे एकस्मिन् ग्रामादौ वस्तुं कल्पते ॥ सू० ११॥

अत्राह भाष्यकारः—'खेत्ते' इत्यादि ।

भाष्यम्--खेत्ते संकुचिए खलु, निक्खमणं तह पवेसणं एगं ।
तत्थेगत्थ ठियाणं, गमणागमणे य बहुदोसा ॥१२॥
तम्हा अणेगवगडा, अणेगदारा भवंति जत्थेव ।
तत्थेव निवसियव्वं, भिक्खासण्णाइसुलभत्थं ॥१३॥

छाया—क्षेत्रे संकुचिते खलु निष्क्रमण तथा प्रवेशनमेकम्।
तत्रैकत्र स्थितानां, गमनागमे च बहुदोषाः ॥१२॥
तस्मात् अनेकवगडा अनेकद्वाराणि भवन्ति यत्रैव।
तत्रैव निवस्तव्यं, भिक्षासंज्ञादिसुलभार्थम् ॥१३॥

अवचूरी—'खेत्ते' इति। क्षेत्रे संकुचिते खलु निश्चयेन यत्र निष्क्रमणं तथा प्रवेशनं चैकं भवति तत्र तस्मिन् क्षेत्रे ग्रामादौ एकत्र स्थितानां निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां च गमनागमने बहुदोषा बहवः दोषाः संभवन्ति ॥१२॥

तस्मात् कारणात् यत्र अनेका वगडा अनेकानि द्वाराणि च यत्रैव यस्मिन्नेव ग्रामादौ भवन्ति तत्रैव निर्ग्रन्थैः निर्ग्रन्थीभिश्च निवस्तव्यं निवासः कर्त्तव्यः, नान्यत्र। किमर्थमित्याह—भिक्षासंज्ञादिसुलभार्थम्, तत्र—भिक्षा—भिक्षाचर्यार्थगमनं, संज्ञा—संज्ञाभूमौ गमनं तत आगमनं चैतद् द्वयमपि सुलभं भवति तदर्थं तत्र वस्तव्यम्, तत्र साधुसाध्वीनां परस्परं संपर्काभावादिति ॥१३॥

अथ निर्ग्रन्थीनां कीदृशे उपाश्रये वस्तुं न कल्पते ? इत्येव प्ररूपयितुमाह—**'नो कप्पइ निग्गंथीणं'** इत्यादि।

सूत्रम्—नो कप्पइ निग्गंथीणं आवणगिहंसि वा रत्थामुहंसि वा, सिंघाडगंसि वा चउक्कंसि वा चच्चरंसि वा अंतरावणंसि वा वत्थए ॥सू० १२॥

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थीनां आपणगृहे वा रथ्यामुखे वा शृङ्गाटके वा चतुष्के वा चत्वरे वा अन्तरापणे वा वस्तुम् ॥ सू० १२॥

चूर्णी—**'नो कप्पइ'** इति। नो न कल्पते तावत् निर्ग्रन्थीनाम् आपणगृहे वा 'दुकान' इति प्रसिद्धे. यत् खलु गृहम् आपणमध्ये वर्त्तते, आपणैः समन्तात्परिक्षिप्तं भवति, अथवा मध्यभागे यद् गृहं द्वाभ्यामपि पार्श्वाभ्यां यस्याऽऽपणा भवन्ति तद् आपणगृहं तस्मिन्, रथ्यामुखे वा रथ्या इति मार्गः, रथ्यायाः पार्श्वे यद् गृहं तद् रथ्यामुखम्। तच्च त्रिविधम्—रथ्याभिमुखम् १, रथ्याबहिर्मुखम् २, रथ्योभयतोमुखम् ३। तत्र यद् गृहं रथ्यायाः पार्श्वे वर्त्तते तद् रथ्याभिमुखम् १, यस्य पृष्ठतो रथ्या वर्त्तते तद् रथ्याबहिर्मुखम् २, यस्यैकं द्वारं रथ्यायाः पराङ्मुखम्, एकं द्वारं च रथ्याया अभिमुखं भवेत् तत् रथ्योभयतोमुखम् ३। अथवा यस्माद् गृहाद् रथ्या प्रवहति तद् रथ्यामुखमुच्यते, अथवा यस्य गृहस्य मुखं रथ्यायां राजमार्गे भवति तद् रथ्यामुखम्, तस्मिन्, तथा शृङ्गाटके वा शृङ्गाटक तावत् त्रिकोणाकारः फलविशेषः, तदाकारेण यत्र मार्गो भवति तत्, मार्गत्रयमिलनस्थानमित्यर्थः, तस्मिन् शृङ्गाटकस्थिते गृहे। चतुष्के—चतुष्कं पुनश्चतुर्णां मार्गाणां संमिलनस्थानम्, यत्र चत्वारो मार्गा आगत्य मिलन्ति तत्स्थानं चतुष्कं व्यपदिश्यते, तस्मिन् चतुष्कस्थिते गृहे वा, चत्वरे वा—चत्वरं नाम यत्र षण्णां मार्गाणां संमेलनं भवति तत्, तस्मिन् चतुष्कस्थिते गृहे वा, अन्तरापणे वा—अन्तरापणस्तावत् यत्र अन्तरन्तो

मध्ये-मध्ये आपणा भवन्ति स हट्टमार्ग 'इत्यर्थः, स च एकपार्श्वेन द्वाभ्यां वा पार्श्वाभ्यां यत्र भवेत् तत्, अथवा यद् गृहं स्वयमेव आपणरूपं तद् अन्तरापणमुच्यते, यत्र एकेन द्वारेण आपणव्यवहारः क्रियते, द्वितीयेन तु द्वारेण पुनर्गृहकार्यं विधीयते तद् गृहम् अन्तरापणम्, तस्मिन्। एतेषु पूर्वोक्तेषु उपाश्रयेषु निर्ग्रन्थीनां वस्तुं न कल्पते। एतेषु उपाश्रयेषु वसन्तीनां निर्ग्रन्थीनां जनसमुदायस्य गमनागमनबाहुल्यात् स्वाध्यायादि न सम्यग् जायते, तथा अनेकविधजनावलोकने परिणयनादिमहोत्सवाद्यवलोकने च पूर्वस्मृतिसंभवाच्चित्तवृत्तौ विकारसंभवः, कामुकजनद्वारा निर्ग्रन्थ्या अपहरणमपि संभवेत्, इत्यादिकारणैः संयमात्म-विराधनासंभवादेतादृशेषु उपाश्रयेषु निर्ग्रन्थीनां वासः प्रतिषिद्धः ॥१२॥

पूर्वोक्तेषु उपाश्रयेषु निर्ग्रन्थानां वस्तुं कल्पते इति प्रदर्शयति-'कप्पइ' इत्यादि।

सूत्रम्--कप्पइ निग्गंथाणं आवणगिहंसि वा जाव अंतरावणंसि वा वत्थए ॥सू०१३॥

छाया -कल्पते निर्ग्रन्थानां आपणगृहे वा यावत् अन्तरापणे वा वस्तुम् ॥सू०१३॥

चूर्णी--'कप्पइ' इति। कल्पते निर्ग्रन्थानाम् आपणगृहे वा यावत् अन्तरापणे वा, यावत् पदेन रथ्यामुखे वा शृङ्गाटके वा चतुष्के वा चत्वरे वा, इति संग्रहः। साध्वीसूत्रे कथितेषु सर्वविधेषु उपाश्रयेषु साधूनां वस्तुं कल्पते, पुरुषत्वेन तेषां दोषाभावात् ॥ सू० १३ ॥

अत्राह भाष्यकारः-'आवणगिहाइएसुं' इत्यादि।

भाष्यम्--आवणगिहाइएसुं, निग्गंथीहिं न तत्थ वसियव्वं ।
पुरिसाणं आवाओ, निग्गंथीणं भवेज्ज दोसट्ठं ॥१४॥
निग्गंथाणं कप्पइ, पुव्वुत्तेसु य समग्गठाणेसु ।
तेसिं पुरिसत्तणओ, नो दोसा पुरिससंसग्गा ॥१५॥

छाया --आपणगृहादिकेषु निर्ग्रन्थीभिर्न तत्र वस्तव्यं।
पुरुषाणामापातो निर्ग्रन्थीनां भवेद् दोषार्थम् ।१४।
निर्ग्रन्थानां कल्पते पूर्वोक्तेषु च समग्रस्थानेषु ।
तेषां पुरुषत्वतो नो दोषाः पुरुषसंसर्गात् ॥ १५ ॥

अवचूरी--'आवणगिहाइएसुं' इति। आपणगृहादिषु पूर्वोक्तेषु स्थानेषु निर्ग्रन्थीभिस्तत्र न वस्तव्यम्, यतस्तत्र पुरुषाणामनेकविधानामपशब्दादिवादिनामपि आपात आगमनं भवति स च निर्ग्रन्थीनां स्त्रीजातित्वेन दोषाय भवतीति ॥१४॥

निर्ग्रन्थानां च पूर्वोक्तेषु समग्रस्थानेषु आपणगृहादिषु वस्तुं कल्पते, यतस्तेषां पुरुषत्वेन पुरुषसंसर्गात् नो-नैव केचिदपि दोषा भवेयुरिति ॥१५॥

पुनर्निर्ग्रन्थीनामुपाश्रयविधिं प्रदर्शयति-'नो कप्पइ....अवंगुय०' इत्यादि।

सूत्रम्—नो कप्पइ निग्गथीणं अवंगुयदुवारिए उवस्सए वत्थए। एगं पत्थारं अंतो किच्चा एगं पत्थारं बाहिं किच्चा ओहाडियचिलिमिलियागंसि एवं णं कप्पइ वत्थए ॥ सू० १४ ॥

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थीनामपावृतद्वारके उपाश्रये वस्तुम्। एकं प्रस्तारम् अन्तः कृत्वा, एकं प्रस्तारं बहिः कृत्वा अवघाटितचिलिमिलिकाके एवं खलु कल्पते वस्तुम् ॥सू०१४॥

चूर्णी—'नो कप्पइ' इति। नो—न कल्पते निर्ग्रन्थीनां अपावृतद्वारके अपावृतं-अपगतम् आवृतम्-आवरणं कपाटादिकं यत्र तद् अपावृतम्-तादृशं द्वारं यस्य तत् अपावृतद्वारकम्, तस्मिन् तादृशे उपाश्रये वस्तुम्, कपाटाद्यावरणरहिते उपाश्रये निर्ग्रन्थीनां वस्तुं न कल्पते, यत् उपाश्रये कदाचिद् रोगादिवशाद् अनावरणत्वमपि तासां स्यात् अतस्तादृशे उपाश्रये साध्वीनां वासो निषिद्धः। अथापवादमाह—ग्रामान्तराद् विहृत्य सन्ध्यासमये ग्रामं प्राप्तास्तत्समयेऽन्योपाश्रयाऽभावे एकरात्रं द्विरात्रं वा कल्पते तत्र तदा एष विधिः—एकं प्रस्तारं वस्त्रकटादिकम् अन्तः उपाश्रयमध्ये कृत्वा बद्ध्वा, एकं-द्वितीयं प्रस्तारं वस्त्रादिकं बहिः उपाश्रयबाह्यभागे-कृत्वा बद्ध्वा अवघाटितचिलिमिलिकाके—अवघाटिता विस्तारिता चिलिमिलिका—जवनिका 'पडदा' इति प्रसिद्धा, अथवा मशकदानी-(मच्छरदानी)-ति प्रसिद्धा यत्र तत् तस्मिन्, तत्र स्थविरां पुनरेकां निर्ग्रन्थीमुपाश्रयद्वारे प्रतिहारिकारूपेण रात्रौ स्थापयेत्, एवम् अनया रीत्या खलु तत्र वस्तुं कल्पते ॥ सू० १४ ॥

निर्ग्रन्थानां तु अन्योपाश्रयाभावे पूर्वोक्तोपाश्रयेऽपि स्थातुं कल्पते इति प्रदर्शयति—'कप्पइ' इत्यादि।

सूत्रम्—कप्पइ निग्गंथाणं अवंगुयदुवारिए उवस्सए वत्थए ॥ सू० १५ ॥

छाया—कल्पते निर्ग्रन्थानामपावृतद्वारके उपाश्रये वस्तुम् ॥१५॥

चूर्णी—'कप्पइ' इति सूत्रं स्पष्टार्थम्। यतो निर्ग्रन्थाश्च पुरुषत्वेन ते धृतिबलादिसंपन्ना भवन्ति तस्माद् अपावृतशरीरत्वमपि तेषां न विरुध्यते ततस्तेषामन्योपाश्रयाभावेऽपावृतद्वारके उपाश्रयेऽपि वासो विहित इति ॥ सू० १५ ॥

अत्राह भाष्यकारः—'अव्वाउडदुवारे' इत्यादि

भाष्यम्—अव्वाउडदुवारे, निग्गंथीहिं न तत्थ वसियव्वं।
इत्थित्तणेण बंभे, रक्खा पुण दुल्लहा जत्थ ॥१६॥
अन्नट्ठाणाभावे चिलिमिलि काउं च तत्थ वसियव्वं।
निग्गंथाणं कप्पइ, पुरिसत्तणओ य नो हाणी ॥१७॥

छाया—अप्रावृतद्वारे निर्ग्रन्थीभिर्न तत्र वस्तव्यम्।
स्त्रीत्वेन ब्रह्मणि रक्षा पुनर्दुर्लभा यत्र ॥१६॥

अन्यस्थानाभावे, चिलिमिलिं कृत्वा च वस्तव्यम् ।
निर्ग्रन्थानां कल्पते, पुरुषत्वेन च नो हानिः ॥१७॥

अवचूरी—'अव्वाउडदुवारे' इति । अप्रावृतद्वारे उपाश्रये निर्ग्रन्थीभिस्तत्र न वस्तव्यं न वासः कार्यः, स्त्रीत्वेन तत्र वसन्तीनां नानाविधजनदृष्टिपातादिसंभवात्, यत्र स्थाने ब्रह्मणि ब्रह्मव्रते रक्षा पुनर्दुर्लभा भवति तस्मादप्रावृतद्वारे निर्ग्रन्थीनां वासो निषिद्ध ॥१६॥

अपवादे—विकाले विहृत्यागतानामन्यस्थानाभावे एकद्विरात्रार्थं निवास आवश्यको भवेत्तदा तत्र चिलिमिलिं—वस्त्रादिना चिलिमिलिकां कृत्वा तत्र वस्तव्यम् । निर्ग्रन्थानां च तत्र वासः कल्पते यतस्तेषां पुरुषत्वेन पुरुषशरीरत्वेन नो हानिः न काचिदपि हानिरतस्तेषां तादृशे उपाश्रये वासो विहित इति । निर्ग्रन्थानामप्येतदपवादिकं सूत्रम्, तेन अन्यस्थानाभावे साधूनां तत्र एक-द्विरात्रार्थं वासः कल्पते, न तु ततः परमिति भाव ॥ सू० १७ ॥

पूर्वं चिलिमिलिकया प्रावृते उपाश्रये निर्ग्रन्थ्यो वसन्ति तत्र रात्रौ मात्रकं विना कायि-क्यादिव्युत्सर्जनार्थं बहुशो बहिर्निर्गमप्रवेशं कुर्वन्त्यो निर्ग्रन्थ्यो दुःखपूर्वकं निर्गच्छन्ति प्रविशन्ति च तस्मात् कायिक्यादिव्युत्सर्जनार्थं घटीमात्रकमावश्यकमिति घटीमात्रकधारणविधिप्रतिपादकं सूत्रमाह—'कप्पइ' इत्यादि ।

सूत्रम्—कप्पइ निग्गंथीणं अंतोलित्तं घडिमत्तयं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥ सू० १६ ॥

छाया—कल्पते निर्ग्रन्थीनां अन्तर्लिप्तं घटीमात्रकं धर्तुं वा परिहर्तुं वा ॥सू० १६

चूर्णी—'कप्पइ'-इति । कल्पते निर्ग्रन्थीनां अन्तर्लिप्तं—अन्तर् मध्ये लिप्तं श्लक्ष्णपदार्थलेपेन श्लक्ष्णीकृतं घटीमात्रकं घटी-लघुघट, तत्संस्थानकं मात्रकं काष्ठपात्र धर्तुं पार्श्वे स्थापयितुम् परिहर्तुम् उपभोक्तुं कल्पते इति पूर्वेण सम्बन्ध । अन्तर्लिप्तमिति विशेषणं—अन्तर्लिप्ते श्लक्ष्णे पात्रे कायि-क्यादिलेपसंश्लेषणाभावात् सम्मूर्छिमोत्पत्त्यभावप्रदर्शनार्थमिति—॥ सू० १६ ॥

पूर्वं निर्ग्रन्थीनां घटीमात्रकधारणं प्रोक्तं, तत्तु निर्ग्रन्थानां न कल्पते, इति प्रदर्शयितुमाह-'नो कप्पइ' इत्यादि ।

सूत्रम्—नो कप्पइ निग्गंथाणं अंतोलित्तं घडिमत्तयं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥सू०१७॥

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थानामन्तर्लिप्त घटीमात्रकं धर्तुं वा परिहर्तुं वा ॥सू० १७॥

चूर्णी— 'नो कप्पइ' इति । पूर्वोक्तमन्तर्लिप्तं घटीमात्रकं निर्ग्रन्थानां धर्तुं परिहर्तुं वा न कल्पते । तेषां तद्भिन्नाकारकं सामान्यं काष्ठपात्रं कायिक्यादिनिमित्तं कल्पते, यत. साधूनां पात्रचतु-ष्टयं कल्पते तत्र त्रीणि पात्राणि अशनादिनिमित्तम्, चतुर्थं च कायिक्यादिनिमित्तं ते स्थापयन्तीति घट्याकारकं मात्रकं तेषां न कल्पते, तदाकारावलोकनेन मनोविकारसंभवादिति भावः ॥सू०१७॥

पूर्वं निर्ग्रन्थनिर्ग्रन्थीनां कायिक्यादिनिमित्तं घटीमात्रकधारणाऽधारणे विधिर्निषेधश्च प्रोक्तः, तत् कायिक्यादि आहारादि च चिलिमिलिकाप्रावृते स्थाने एव कर्त्तव्यं भवेदिति सा चिलिमिलिका कस्य वस्तुनो भवितुमर्हतीति तत् प्रदर्शयितुमाह-'कप्पइ' इत्यादि ।

सूत्रम्—कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा चेलचिलिमिलियं धारित्तए वा, परि-हरित्तए वा ॥ सू० १८॥

छाया —कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा चेलचिलिमिलिकां धर्त्तुं वा परिहर्त्तुं वा ॥ सू०१८ ॥

चूर्णी-'कप्पइ' इति । निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां वा द्वयानामपि चेलचिलिमिलिकां चेलमिति वस्त्रं, तस्य तेन निर्मितां वा चिलिमिलिकां धर्तु परिहर्तु च कल्पते इति सूत्रार्थः, यतो वस्त्ररज्जुकटवंशदलादि-चिलिमिलिकासु केवलं वस्त्रचिलिमिलिकैव कल्पते, रज्ज्वादिचिलिमिलिकासु मत्कुणमशकादिलघु-जन्तूनामुत्पत्तिसंभवात् ताः दुष्प्रतिलेख्या भवन्ति तेन संयमात्मविराधनाऽवश्यम्भाविनीति ॥ सू० १८ ॥

पूर्वमनावृतस्थाने आहारादिकं कुर्वतः निर्ग्रन्थान् निर्ग्रन्थींश्च कश्चित् सागारी मा पश्यतु, इति विभाव्य चिलिमिलिका क्रियते, इति प्रतिपादितम्, साम्प्रतमनावृतस्थानप्रसंगाद् उदकतीरे स्थाननिषदनादिनिषेधं प्रतिपादयन्नाह-'नो कप्पइ ...दगतीरंसि' इत्यादि ।

सूत्रम्—नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा दगतीरंसि चिट्ठित्तए वा निसी-इत्तए वा, तुयट्टित्तए वा निदाइत्तए वा पयलाइत्तए वा, असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आहारित्तए, उच्चारं वा पासवणं वा खेलं वा सिंघाणं वा परिट्ठवित्तए, सज्झायं वा करित्तए, धम्मजागरियं वा जागरित्तए, काउस्सग्गं वा करित्तए, ठाणं वा ठाइत्तए ॥ सू० १९॥

छाया –नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा उदकतीरे स्थातुं वा निषत्तुं वा त्वग्वर्त्तयितुं वा निद्रायितुं वा प्रचलायितुं वा अशनं वा पानं वा खाद्यं वा स्वाद्यं वा आहर्तुम्, उच्चारं वा प्रस्रवणं वा खेलं वा सिङ्घाणं वा परिष्ठापयितुम्, स्वाध्यायं वा कर्तुम्, धर्मजागरिकां वा जागरितुम्, कायोत्सर्गं वा कर्त्तुम्, स्थानं वा स्थातुम् ॥सू. २०॥

चूर्णी—'नो कप्पइ' इति । निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां च उदकतीरे स्थाननिषदनादि किमपि कार्यं कर्तुं न कल्पते इति सूत्राशयः । तत्र किं किं न कर्त्तव्यम् ? इति प्रदर्शयति-'**दकतीरंसि वा**' उदकतीरे अत्र उदकशब्देन उदकस्थानं गृह्यते तेन उदकस्य नदीतडागादेः तीरम् उदकतीरम्, यत्राऽऽरण्यका ग्रामेयका वा पशव मनुष्याः स्त्रियो वा जलार्थिनोऽवतरीतुकामा उत्तरीतुकामा वा तत्र स्थितं साधुं दृष्ट्वा तिष्ठन्ति निवर्त्तन्ते भयोद्विग्ना वा भवन्ति, तथा यत्र स्थितं साधुं दृष्ट्वा मत्स्यकच्छपादयो जलचरास्त्रस्यन्ति बिभ्यति तादृशं स्थानमुदकतीरं कथ्यते, नतु यत्र जलं नीयते

तद् उदकतीरं, न वा यावान् भूभागो जलपूरेण आक्रम्यते तद् उदकतीरम्, न वा यावन्तं प्रदेशं तरङ्गाः स्पृशन्ति तद् उदकतीरम्, नो वा यावान् प्रदेशो जलेन स्पृष्टो भवति तद् उदकतीरमिति भावः। तस्मिन्, तत्र **चिट्ठित्तए वा** स्थातुं ऊर्ध्वस्थानेनाऽवस्थातुम्, **निसीइत्तए वा** निषत्तुं वा उपवेष्टुम्, **तुयट्टित्तए वा** त्वग्वर्त्तयितुं वा कायमायतं कृत्वा पार्श्वपरिवर्तनं कर्तुम् **निद्दाइत्तए वा** निद्रायितुं वा सुखप्रतिबोधावस्थारूपया निद्रया शयितुम्, **पयलाइत्तए वा** प्रचलायितुं वा यत्र स्थितेनैव निद्रायते सा प्रचला कथ्यते, स्थितस्य निद्रातुम्, तथा **असणं वा** अशनादिचतुर्विधमाहारं वा **आहरित्तए वा** आहर्त्तुं कर्त्तुम्, पुनश्च उच्चारादिकं परिष्ठापयितुम्, तत्र उच्चारं–प्रस्रवणं, खेलं कफलक्षणं श्लेष्माणम् **सिंघाणं** नासिकामलम्, एतानि शरीरसम्बन्धिमलानि **परिट्ठवित्तए** परिष्ठापयितुं परित्यक्तुम्, तथा **सज्झायं वा करित्तए** स्वाध्यायं सूत्रार्थोभयपरिवर्त्तनरूपं कर्त्तुम्, पुनश्च **धम्मजागरियं वा जागरित्तए** धर्मजागरिकां तत्त्वविचारणारूपां जागरितुं कर्तुम् **काउस्सगं वा करित्तए** कायोत्सर्गं लोगस्सगुणनपूर्वकं कायनिश्चेष्टतारूपं कर्तुम् **ठाणं वा ठाइत्तए** स्थानं वा यत्र एकस्थाने पादमारोप्य ऊर्ध्वस्थितेन कायोत्सर्गः क्रियते तत् स्थानमिति कथ्यते, तत् तादृशं कायोत्सर्गं स्थातुं–कर्तुं निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां वा नो कल्पते इति। उदकतीरे स्थानादिकं कुर्वतो निर्ग्रन्थादेराज्ञाभङ्गादिका दोषाः समापद्यन्ते ॥१९॥

अत्राह भाष्यकारः–'दगतीरे' इत्यादि।

भाष्यम्—दगतीरे ठाणाइ य, नो करणिज्जं भवेज्ज साहूणं।
तत्थ अणेगे दोसा, तेणं पावंति पच्छित्तं ॥१८॥
जीवाणं जलपाणे, जमंतराओ जणे य उड्डाहो।
सिंगाइणा य हणणं, विराहणं संजमप्पाणं ॥१९॥

छाया–दकतीरे स्थानादि च नो करणीयं भवेत् साधूनाम्।
तत्रानेके दोषाः तेन प्राप्नुवन्ति प्रायश्चित्तम्॥१८॥
जीवानां जलपाने यद् अन्तरायः जने च उड्डाहः।
शृङ्गादिना च हनन, विराधनं संयमात्मनोः ॥१९॥

अवचूरी—'दगतीरे' इति। उदकतीरे जलाशयसांनिध्ये स्थानादि स्थाननिषदनादि सूत्रोक्तं सर्वं साधूनां साध्वीनां च करणीयं नो भवेत् न कर्त्तव्यमित्यर्थः। यतस्तत्र स्थानादिकरणे अनेके वक्ष्यमाणा दोषा भवन्ति तेन कारणेन ते प्राप्नुवन्ति प्रायश्चित्तम् ॥१८॥

दोषा यथा जीवानां जलपानेऽन्तरायो भवेत्, तथा जने लोकमध्ये उड्डाहः अपवादः निन्दनं भवेत्, पशवश्च शृङ्गादिना साधुसाध्वीनां हननमपि कुर्युः, इत्यादिना संयमात्मनो. संयमस्यात्मनश्च विराधनं जायते इति भाष्यार्थः ॥१९॥

पूर्वं निर्ग्रन्थ–निर्ग्रन्थीनामुदकतीरे स्थानादिकरणं निषिद्धम् । सम्प्रति चित्रकर्मयुक्तोपाश्रये निर्ग्रन्थनिर्ग्रन्थीभिर्न वस्तव्यमिति सचित्रकर्मोपाश्रयनिषेधमाह–'नो कप्पइ० सचित्तकम्मे' इत्यादि।

सूत्रम्––नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा सचित्तकम्मे उवस्सए वत्थए ॥सू० २०॥ कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अचित्तकम्मे उवस्सए वत्थए ॥ सू०२१॥

छाया– नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा सचित्रकर्मणि उपाश्रये वस्तुम् ॥सू० २०॥ कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा अचित्रकर्मणि उपाश्रये वस्तुम् ॥सू० २१॥

चूर्णी––'नो कप्पइ' इति । निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा सचित्रकर्मणि चित्रकर्मणा सहिते उपाश्रये वस्तुं न कल्पते, तत्र चित्राणि भित्त्यादौ रक्तपीतादिरागद्रव्येण मनुष्य–स्त्री-पशु-पक्षि-नदी-पर्वत-गृह-वृक्ष-लतादीनामाकृतिरूपाणि, तैः सहिते चित्रिते उपाश्रये साधुसाध्वीनां निवासो निषिद्धः, यतः सचित्रोपाश्रये वसतां साधूनां साध्वीनां च हास्य-कौतुककेलिभुक्तभोगस्मृतिमनोविकाराद्यनेकदोषाणां सम्भवः, अतो मुनिभिस्तत्र वासो न विधातव्यः ॥सू०२१॥ एवं चित्रकर्मरहिते उपाश्रये साधुसाध्वीनां वस्तुं कल्पते इति द्वितीयसूत्रार्थः ॥सू. २२॥

पूर्वोक्तचित्रकर्मरहिते उपाश्रये साधुसाध्वीनां वासः कल्पते, तत्रापि साध्वीनां सागारिकनिश्रया वस्तुं कल्पते, न त्वनिश्रयेति प्रदर्शयन् सूत्रद्वयमाह–'नो कप्पइ० सागारिय०' इत्यादि ।

सूत्रम्––नो कप्पइ निग्गंथीणं सागारियअणिस्साए वत्थए ॥ सू०२२॥
कप्पइ निग्गंथीणं सागारियणिस्साए वत्थए ॥ सू० २३॥

छाया––नो कल्पते निर्ग्रन्थीनां सागारिकानिश्रया वस्तुम् ॥ सू. २२॥
कल्पते निर्ग्रन्थीनां सागारिकनिश्रया वस्तुम् ॥ सू २३॥

चूर्णी––'नो कप्पइ' इत्यादि । चित्रकर्मरहिते उपाश्रयेऽपि निर्ग्रन्थीनां सागारिकाऽनिश्रया सागारिकस्य शय्यातरस्य उपाश्रयस्वामिनः अनिश्रया, निश्रेति आलम्बनम् शय्यातरस्यालम्बनं विनेत्यर्थः, आलम्बनं यथा–भो शय्यातर ! वयमत्र निवसामस्तवाऽऽज्ञयाऽतोऽस्माकं त्वया निरीक्षणं कर्तव्यम्, इति कथनं, तेन विना निर्ग्रन्थीनां तत्र वस्तुं न कल्पते ॥ सू०२२॥ 'कप्पइ' इति सागारिकनिश्रया शय्यातराऽऽलम्बनेन निर्ग्रन्थीनां तत्र वस्तु कल्पते, इति ॥ सू०२३॥

अत्राह भाष्यकारः–'सागारियनिस्सं' इत्यादि ।

भाष्यम्––सागारियनिस्सं जइ, अकिच्चा साहुणीउ चिट्ठंति ।
पावंति आणभंगे, तम्हा निस्साए वसियव्वं ॥२०॥
निस्साकरणे सो पुण, तासिं रक्खं करेइ दुट्ठाओ ।
सावयतेणाइत्तो, रक्खणमिह होइ तक्कज्जं ॥२१॥

छाया—सागारिकनिश्रां यदि अकृत्वा साध्व्यस्तिष्ठन्ति।
प्राप्नुवन्ति आज्ञाभङ्गान् तस्मात् निश्रया वस्तव्यम् ॥२०॥
निश्राकरणे स पुनस्तासां रक्षां करोति दुष्टात्।
श्वापदस्तेनादितः, रक्षणमिह भवति तत्कार्यम् ॥२१॥

अवचूरी—'सागारियणिस्सं' इति। सागारिकनिश्रां शय्यातरस्याऽऽलम्बनम् अकृत्वा यदि साध्व्य. उपाश्रये तिष्ठन्ति तदा आज्ञाभङ्गान् तीर्थकराज्ञाविराधनादिदोषान् प्राप्नुवन्ति। तस्मात् कारणात् साध्वीभिः निश्रया सागारिकनिश्रया वस्तव्यम् ॥२०॥ यतः निश्राकरणे स शय्यातरः पुनः दुष्टात् दुष्टजनात् कामुकादिदुष्टपुरुषात् तासां रक्षां करोति, एवं करणे न कोऽपि तासां काञ्चिदपि बाधामुत्पादयितुं शक्नोति, तथा श्वापदस्तेनादितः—श्वापदेभ्यः हिंस्रपश्वादिभ्यः चौरादिभ्यश्च तासामिह उपाश्रये रक्षणं रक्षाकरणं तत्कार्यं तस्य तत् कार्यमेव भवति ॥२१॥

उक्तं निर्ग्रन्थीनां सागारिकनिश्रया संवसनम्, साम्प्रतं निर्ग्रन्थानां तु सागारिकस्य निश्रयाऽनिश्रया वा वस्तुं कल्पते इति प्रदर्शयति—'कप्पइ' इत्यादि।

सूत्रम्—कप्पइ निग्गंथाणं सागारियस्स णिस्साए वा अणिस्साए वा वत्थए ।२४।

छाया—कल्पते निर्ग्रन्थानां सागारिकस्य निश्रया वा अनिश्रया वा वस्तुम् ।सू० २४॥

चूर्णी—'कप्पइ' इति। निर्ग्रन्थानां यत् श्वापदस्तेनादिबहुलं क्षेत्रं भवेत्तत्र तेभ्यो रक्षादिकारणे सति सागारिकस्य शय्यातरस्य निश्रया आलम्बनेन 'वयमत्र वसामः अस्माकं रक्षा त्वया कर्त्तव्या' इत्यादिरूपेण गृहस्थस्यालम्बनं कृत्वा वस्तुं कल्पते, अथ चाऽसति पूर्वोक्ते कारणे सागारिकस्याऽनिश्रयाऽपि वस्तुं कल्पते, पुरुषत्वेन स्वभावत एव धृतिबलादिसंपन्नत्वात्तेषाम्, निर्ग्रन्थीनां तु कारणे अकारणे वा सागारिकनिश्रां विना न कदापि वस्तुं कल्पते, इति द्वयोः सूत्रयोर्भिन्नत्वम् ॥२४॥

पूर्वं निर्ग्रन्थानां सागारिकस्य निश्रयाऽनिश्रया वा निवासः प्रोक्तः, साम्प्रतं गृहस्थवस्तुजातरूपसागारिकसहिते उपाश्रये निर्ग्रन्थनिर्ग्रन्थीनां द्वयानामपि वस्तुं न कल्पते, इति प्रतिपादयति—'नो कप्पइ० सागारिए' इत्यादि।

सूत्रम्—नो कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गंथीणं वा सागारिए उवस्सए वत्थए ।२५।

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा सागारिके उपाश्रये वस्तुम् ॥सू० २५॥

चूर्णी—'नो कप्पइ' इति। निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां च सागारिके—अगारिण इदं वस्तुजातं आगारिकं, आगारिकेण सहितः सागारिकः, यत्रोपाश्रये गृहस्थस्य वस्त्राभूषणखट्वापल्यङ्कादिगृहसामग्री वर्त्तते सः सागारिक उपाश्रयः कथ्यते, तस्मिन् वस्तुं न कल्पते इति। सागारिकं द्विविधम्—द्रव्यसागारिकं भावसागारिकं च, तत्र द्रव्यसागारिक वस्त्राभूषणादिवस्तुजातम्, भावसागारिकम्—ईर्ष्याक्लेशादिमयो मनोभावः, यत्र गृहस्थानां तदुपाश्रयविषये परस्परं मनसि ईर्ष्याक्लेशादिभावः परम्परागत आधुनिको वा संभवेत्तादृश उपाश्रयो भावसागारिकः प्रोच्यते, अत्र चतुर्भङ्गी यथा—

(१) द्रव्यतः सागारिकः—भावतोऽपि सागारिकः ।

(२) द्रव्यतः असागारिकः—भावतः सागारिकः ।

(३) भावतः असागारिकः—द्रव्यतः सागारिकः ।

(४) द्रव्यतः—असागारिकः—भावतोऽपि असागारिकः ।

एषु चतुर्षु भङ्गेषु अन्तिमो भङ्गो ग्राह्यः ।

एवम्भूते सागारिके उपाश्रये वसतां द्वयानां निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थीनां तद्गतविलासिवस्तुजातावलोकनेन मनोविकारादिना संयमविराधना, तद्गतवस्तुजातस्य चौर्यादिना च आत्मविराधना संभवेदिति ॥सू०२५॥

अत्राह भाष्यकारः—'सागारियवसहीए' इत्यादि ।

भाष्यम्—सागारियवसहीए, वसमाणाणं हवंति बहुदोसा ।
मोहेण पुव्वसरणं, तेणागमणं च तग्गहणे ॥२२॥

छाया—सागारिकवसतौ वसतां भवन्ति बहुदोषाः ।
मोहेन पूर्वस्मरणं, स्तेनाऽऽगमनं च तद्ग्रहणे ॥२२॥

अवचूरी—'सागारियवसहीए' इति । सागारिकवसतौ गृहस्थवस्तुजातसहितोपाश्रये वसतां निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां च बहुदोषाः बहवो दोषाः संयमात्मविराधनारूपा भवन्ति, कथमित्याह—मोहेन तद्गतवस्त्राभूषणपल्यङ्काद्यवलोकनेन पूर्वस्मरणं पूर्वस्य गृहस्थावस्थारूपपूर्वकालस्य स्मरणं भवेत्, यत्—'ममापि एतादृशानि सुन्दराणि वस्त्राभूषणादीनि आसन्' इत्यादिस्मरणेन संयमविराधना भवेत् । तथा तत् तस्य वस्त्राभूषणादिवस्तुजातस्य ग्रहणे ग्रहणार्थं स्तेनागमनं स्तेनानां चौराणामागमनं भवेत्, तैर्वस्तुजातं चोरितं वा भवेत् तेन साधुसाध्वीविषये गृहस्थस्य शङ्का जायते ततः सः साधुं साध्वीं वा राजपुरुषैर्ग्राहयेत् तेन आत्मविराधनासंभवः, तस्माद्धेतोः सागारिकोपाश्रये साधु—साध्वीनां वस्तुं न कल्पते इति भावः ॥२२॥

पूर्वं सागारिके उपाश्रये साधुसाध्वीभिर्निवासो न कर्त्तव्य इति प्रोक्तम्, सम्प्रति सागारिकरहितोपाश्रये निवासः कल्पते इत्याह—'कप्पइ' इत्यादि ।

सूत्रम्—कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अप्पसागारिए उवस्सए वत्थए ।२६।

छाया—कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा अल्पसागारिके उपाश्रये वस्तुम् ॥

चूर्णी—'कप्पइ' इति । निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनाम् अल्पसागारिके, अत्र अल्पशब्दः अभाववाची तेन असागारिके सागारिकं गृहस्थसम्बन्धिवस्त्रभूषणादिवस्तुजातं, तद् यत्र न विद्यते सः अल्पसागारिकः, तस्मिन् गृहस्थसम्बन्धिवस्तुरहिते उपाश्रये वस्तुं कल्पते, तत्र पूर्वोक्तदोषाऽसद्भावात् ॥ सू० २६॥

पूर्वं सागारिकोपाश्रये वासो निषिद्धः, असागारिके च वासो विहितः, साम्प्रतं निर्ग्रन्थानां स्त्रीसागारिकोपाश्रये, निर्ग्रन्थीनां च पुरुषसागारिकोपाश्रये वासस्य कल्पाकल्पविधिं सूत्रचतुष्टयेन प्रतिपादयन् प्रथमं निर्ग्रन्थविषयकं सूत्रद्वयमाह–'नो कप्पइ० इत्थीसागारिए' इत्यादि ।

सूत्रम्—नो कप्पइ निग्गंथाणं इत्थीसागारिए उवस्सए वत्थए ॥ सू०२७॥
कप्पइ निग्गंथाणं पुरिससागारिए उवस्सए वत्थए ॥ सू०२८॥

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थानां स्त्रीसागारिके उपाश्रये वस्तुम् ॥ सू० २७॥
कल्पते निर्ग्रन्थानां पुरुषसगारिके उपाश्रये वस्तुम् ॥ सू० २८॥

चूर्णी—'**नो कप्पइ**' इति । नो कल्पते निर्ग्रन्थानां साधूनां स्त्रीसागारिके उपाश्रये वस्तुम्, तत्र स्त्रीभिः मनुष्यतिर्यक्स्त्रीभिर्यः सागारिकः स्त्रीसागारिकः- यत्रोपाश्रये स्त्रियो वसन्ति खण्डनपेषणादिकार्यं कुर्वन्त्यस्तिष्ठन्ति गमनागमनं वा कुर्वन्ति, अथवा यत्रोपाश्रये स्त्रीणां प्रवेशनिर्गममार्गो वा भवेत्, अथवा तिर्यकस्त्रियो यत्र गोमहिष्यजादिरूपा तिर्यक्स्त्रियस्तिष्ठन्ति बद्धा भवन्ति वा सोऽपि स्त्रीसागारिकः प्रोच्यते, तस्मिन् स्त्रीसंसर्गोपेते उपाश्रये साधूनां वस्तुं नो कल्पते, तत्र वासे साधूनां ब्रह्मव्रतभङ्गप्रसङ्गात् ॥ सू० २७॥

अथ पुरुषसागारिके निर्ग्रन्थानां वासः कल्पते इति द्वितीय सूत्रमाह- '**कप्पइ**' इत्यादि कल्पते निर्ग्रन्थानां पुरुषसागारिके उपाश्रये वस्तुम्। साधूनां पुरुषशरीरत्वेन पुरुषसंसर्गे दोषाऽसंभवात्, इदमपवादिकं सूत्रम्, तेन विशुद्धाऽन्योपाश्रयाभावे एकद्विरात्रं यावद् यतनया तत्र वस्तुं कल्पते नाधिकमिति विज्ञेयम् ॥ सू० २८॥

अत्राह भाष्यकारः—'इत्थी' इत्यादि ।

भाष्यम्—इत्थी दुविहा वुत्ता, माणुस्सित्थी तहेव तेरित्थी ।
दुविहावि जत्थ चिट्ठइ, वसिउं नो कप्पइ जईणं ॥२३॥
थीसागारियवासे, बंभे दोसा तहा य उड्डाहो ।
कप्पइ पुंवसहीए, एत्थंपि य एगदुगरत्तिं ॥२४॥

छाया - स्त्री द्विविधा प्रोक्ता, मानुषस्त्री तथैव तिर्यकस्त्री ।
द्विविधाऽपि यत्र तिष्ठति, वस्तुं नो कल्पते यतीनाम् ॥२३॥
स्त्रीसागारिकवासे, ब्रह्मणि दोषाः तथा च उड्डाहः ।
कल्पते पुंवसतौ, अत्रापि च एकद्विकरात्रम् ॥२४॥

अवचूरी—'इत्थी' इति । अत्र स्त्रीसागारिके उपाश्रये निर्ग्रन्थानां वासो निषिद्धः, तत्र स्त्री द्विविधा प्रोक्ता तद्यथा–मानुषस्त्री तिर्यक्स्त्री च, एवं द्विविधाऽपि स्त्री यत्र तिष्ठति, पुरुषस्त्रियो रन्धनकुट्टनादिकार्यं कुर्वन्त्यो निवसन्ति, तथा तिर्यक्स्त्रियश्च गोमहिष्यजादिरूपाः बद्धा अबद्धा वा यत्र तिष्ठन्ति तत्र यतीनां निर्ग्रन्थानां वस्तुं न कल्पते ॥२३॥

यतः साधूनां स्त्रीसागारिकवासे ब्रह्मणि ब्रह्मव्रते दोषाः संभवेयुः, तथा च उड्डाहः—लोके निन्दा जायते यदेते साधवः स्त्रीसागारिके उपाश्रये वसन्ति तेन ज्ञायते नैतेषां ब्रह्मव्रतं विशुद्धम्, स्त्रीसंसर्गे पुरुषाणां मनोविकारादेरवश्यम्भावादिति, यतः संयमात्मविराधनादयोऽनेके दोषास्ततो निर्ग्रन्थानां स्त्रीसागारिके उपाश्रये वासो भगवता निषिद्धः। अथापवादमाह—अन्योपाश्रयालाभे पुंवसतौ पुरुषसागारिके निर्ग्रन्थानां वस्तुं कल्पते, किन्तु अत्रापि च एकद्विरात्रं यावत् वस्तुं कल्पते नाधिकम्, आधिक्येन पुरुषसंसर्गेऽपि पुरुषाणां सविकारनिर्विकारादिभिरनेकदोषसंभवादिति ।२४।

पूर्वं निर्ग्रन्थानां स्त्रीसागारिकोपाश्रये वासो निषिद्धः, पुरुषसागारिकोपश्रये चापवादेन विधिः प्रोक्तः, साम्प्रतं निर्ग्रन्थीनां वासावासविधिं प्रदर्शयितुमाह-'नो कप्पइ०' इत्यादि ।

सूत्रम्--नो कप्पइ निग्गंथीणं पुरिससागारिए उवस्सए वत्थए ॥ सू०२९॥

कप्पइ निग्गंथीणं इत्थीसागारिए उवस्सए वत्थए ॥ सू०३०॥

छाया -नो कल्पते निग्रन्थीनां पुरुषसागारिके उपाश्रये वस्तुम् ॥सू०२९॥

कल्पते निर्ग्रन्थीनां स्त्रीसागारिके उपाश्रये वस्तुम् ॥सू०३०॥

चूर्णी –'नो कप्पइ' इति । यथा निर्ग्रन्थानां स्त्रीसागारिके उपाश्रये वासनिषेधः प्रोक्तस्तथैवात्र निर्ग्रन्थीनां पुरुषसागारिके उपाश्रये वासनिषेधः प्रोच्यते, तथाहि-निर्ग्रन्थीनां पुरुषसागारिके पुरुषसहिते उपाश्रये यत्र पुरुषाः वार्त्तालापं कुर्वन्ति क्रीडन्ति लेखनादिकार्यं च कुर्वन्ति, तद्गतमार्गेण गमनागमनं वा कुर्वन्ति तादृशे उपाश्रये, तथा तिर्यक्पुरुषा अपि गोमहिषाजाश्वादिरूपा बद्धा अबद्धा वा भवेयुस्तादृशे उपाश्रये निर्ग्रन्थीनां वस्तुं न कल्पते, स्त्रीजातीनां पुरुषजातिभिः संसर्गोऽपि नोचितः, कदाचिन्मनुष्याणां मनोविकारादिसंभवे बलात्कारादिना संयमात्मविराधनासंभवात् ।सू०२९॥

अथापवादमाह–'कप्पइ' इत्यादि । अन्योपाश्रयाभावे निर्ग्रन्थीनां स्त्रीसागारिके स्त्रीजनसंयुक्ते उपाश्रये वस्तुमल्पकालाय कल्पते । यथा निर्ग्रन्थानां स्त्रीसागारिके पूर्वं दोषाः प्रोक्तास्त एवाऽत्र निर्ग्रन्थीसूत्रे पुरुषसागारिके वैपरीत्येन वा बोद्धव्या इति ॥सू० ३०॥

पूर्वं समुच्चयेन विभागेन च स्त्रीपुरुषसागारिकप्रतिश्रयापरपर्याया शय्या प्रतिपादिता, संप्रति सागारिकप्रतिबद्धोपाश्रयविषये निर्ग्रन्थानां निषेधं निर्ग्रन्थीनां च विधिं प्रतिपादयितुकामः प्रथमं निर्ग्रन्थानां प्रतिबद्धशय्यायां वासनिषेधमाह–'नो कप्पइ० पडिबद्धसेज्जाए' इत्यादि ।

सूत्रम्--नो कप्पइ निग्गंथाणं पडिबद्धसेज्जाए वत्थए ॥३१॥

छाया -नो कल्पते निर्ग्रन्थानां प्रतिबद्धशय्यायां वस्तुम् ॥३१॥

चूर्णी—'नो कप्पइ'—इति । नो कल्पते निर्ग्रन्थानां प्रतिबद्धशय्यायां, शय्येति वसतिः उपाश्रय इत्यर्थः, प्रतिबद्धेति गृहस्थगृहेण सह एकभित्यादिरूपेण सम्बद्धा सा प्रतिबद्धा कथ्यते, एतादृशी शय्या–उपाश्रयः प्रतिबद्धशय्या, तस्यां वस्तुं निर्ग्रन्थानां न कल्पते इति सूत्राशयः। प्रतिबद्धोपाश्रयो द्विविधः द्रव्यप्रतिबद्धः भावप्रतिबद्धश्चेति । तत्र द्रव्यतः प्रतिबद्धः बलभीकाष्ठ-

भित्त्यादि यस्मिन् उपाश्रये गृहस्थगृहेण सार्द्धं संबद्धं भवेत् गृहस्थगृहस्य उपाश्रयस्य चाच्छादनादिकाष्ठं भित्तिर्वा एका भवेत्, यत्र स्थितैर्गृहस्थस्त्रीपुरुषाणां शब्दादि श्रूयते एष द्रव्यतः प्रतिबद्धः। भावतः प्रतिबद्धश्चतुर्विधः—प्रस्रवण–स्थान–रूप–शब्दभेदात् । एते चत्वारो भेदा भावप्रतिबद्धे भवन्ति । यत्रोपाश्रये साधूनां गृहस्थस्त्रीपुरुषाणां च एकैव कायिकी भूमिर्भवेत् स प्रस्रवणप्रतिबद्धः प्रथमः १, यत्रैकमेवोपवेशनस्थानं भवेत् स स्थानप्रतिबद्धो द्वितीयः २, यत्र स्त्रीणां रूपसौन्दर्यादि विलोक्यते स रूपप्रतिबद्धस्तृतीयः ३, यत्र पुनः स्थितैः स्त्रीणां भाषाभूषणपदन्यासादिशब्दाः रहस्यशब्दाश्च श्रूयन्ते स शब्दप्रतिबद्धश्चतुर्थः ४ । अत्र द्रव्यभावसंयोगे चत्वारो भङ्गा भवन्ति तथाहि—द्रव्यतः प्रतिबद्धो न भावतः १, भावतः प्रतिबद्धो न द्रव्यतः २, द्रव्यतो भावतश्च प्रतिबद्धः ३, न द्रव्यतो न भावतः प्रतिबद्धः ४ । अत्र चतुर्थो भङ्गोऽनुज्ञातः, उभयथाऽप्यप्रतिबद्धत्वात् । अत्र तु प्रतिबद्धोपाश्रये निवासविषयो निषेधो विहितः । प्रतिबद्धोपाश्रये वसतां निर्ग्रन्थानामाज्ञाभङ्गादयो दोषाः समापतन्ति । साधवो द्विविधाः प्रोक्ताः—भुक्तभोगिनः अभुक्तभोगिनश्च, तत्र ये भोगान् भुक्त्वा पश्चात् प्रव्रजितास्ते भुक्तभोगिनः, ये च कुमारावस्थायामेव प्रव्रजितास्ते अभुक्तभोगिनः प्रोच्यन्ते ।

अत्र चतुर्विधे भावप्रतिबद्धे दोषा इमे—प्रस्रवणप्रतिबद्धे—कायिक्यादिकरणे अकस्मात् गृहस्थस्त्रीणां साधूनां चैकत्रागमनं संभवेत् १, स्थानप्रतिबद्धे स्वाध्यायादिसमये द्वयानामेकत्रोपवेशनं भवेत् २, रूपप्रतिबद्धे—स्त्रीणां रूपसौन्दर्याङ्गचेष्टाद्यवलोकन भवेत् ३, शब्दप्रतिबद्धे—स्त्रीणां हसित–गीत–क्रन्दित–कूजित–प्रेमालापादिशब्दश्रवणं भवेत् ४ । एतेन भुक्तभोगिनां भुक्तभोगस्मृतिर्जायते, अभुक्तभोगिनां कौतुकादि जायते, तेन ब्रह्मव्रते शङ्काकाङ्क्षादिना व्रतभङ्गदोषप्रसङ्गः । तत्र वसतां निर्ग्रन्थानामाज्ञाभङ्गमिथ्यात्वानवस्थादयोऽनेके दोषाः संभवन्ति, अतः प्रतिबद्धायां बसतौ निर्ग्रन्थानां बासो न कल्पते इति भावः ॥सू० ३१॥

पूर्वं प्रतिबद्धशय्यायां निर्ग्रन्थानां वासो निषिद्धः, साम्प्रतं निर्ग्रन्थीनां तत्र वासः कल्पते इति विधिं प्रदर्शयति—'कप्पइ० पडिबद्ध०' इत्यादि ।

सूत्रम्—कप्पइ निग्गंथीणं पडिबद्धसिज्जाए वत्थए ॥सू०३२॥

छाया—कल्पते निर्ग्रन्थीनां प्रतिबद्धशय्यायां वस्तुम् ॥३२॥

चूर्णी—'कप्पइ' इति । निर्ग्रन्थीना प्रतिबद्धशय्यायां वस्तुं कल्पते इति सूत्रार्थः । ननु पूर्वोक्तस्वरूपायां प्रतिबद्धशय्यायां तु निर्ग्रन्थीनामपि पूर्वोक्ता एव दोषाः संभवन्ति तर्हि कथं तासां 'कल्पते' इति प्रोक्तम् ? तत्राह—निर्ग्रन्थीनां केवलस्त्रीजनप्रतिबद्धोपाश्रये सम्बन्धिजनप्रतिबद्धोपाश्रये वा वस्तुं कल्पते इति सूत्रकाराभिप्रायो बोध्यः, तत्र केवलस्त्रीजन–सम्बन्धिजन–प्रतिबद्धत्वेन द्रव्यभावभेदभिन्नस्यापि तस्य निर्दोषत्वसद्भावात् साध्वीनां द्रव्यत. स्त्रीप्रतिबद्धे उपाश्रये

निवासः कल्पते, यतः पूर्वं साध्वीनां सागारिकनिश्रया वस्तुं कल्पते इति प्रतिपादितम्, तासां शीलरत्नरक्षाया आवश्यकत्वात्, अत्र सागारिकाः मातृष्वसृ–भगिनी–भ्रातृजाया–मातृ–पितृ–भ्रातृ-पितामही–मातामही–प्रभृतिसम्बन्धिजनरूपा विज्ञेयाः, तत्प्रतिवद्धे उपाश्रये साध्वीभिर्वस्तव्यं नत्व-न्यस्मिन् पतिपत्न्यादिप्रतिवद्धे दुष्टजनप्रतिवद्धे वा, यतस्तत्र वसन्तीनां शीलरत्नरक्षा सुलभा भवति, सम्बन्धिजना' समर्था. सन्त उपसर्गकारकान् दुष्टजनान् निवारयन्ति अतो निर्ग्रन्थीनां निर्दोषे प्रतिवद्धोपाश्रये निवसनमावश्यकमिति ज्ञात्वैव भगवता निर्ग्रन्थीभ्यः प्रतिवद्धोपाश्रये वासो विहित इति । भावतः प्रस्रवण–स्थान–रूप–शब्द–भेदाच्चतुर्विधे प्रतिश्रये वसन्तीनां साध्वीनां पूर्वोक्ता एव दोषाः समापतन्त्येवेति तादृशे प्रतिवद्धे उपाश्रये साध्वीभिर्न कदाऽपि वस्तव्य-मिति तात्पर्यम् ॥ सू० ३२॥

पूर्वं निर्ग्रन्थसूत्रे प्रतिवद्धोपाश्रयो निषिद्धः, तत्प्रसङ्गात् यत्रोपाश्रये गृहस्थगृहमध्यमार्गेण गमनागमन भवेत् सोऽपि प्रतिवद्ध एव कथ्यते, इति निर्ग्रन्थानां तादृशे उपाश्रये वस्तुं न कल्पते इति निषेधसूत्रमाह–**'नो कप्पइ०' गाहावइ०** इत्यादि ।

सूत्रम्--नो कप्पइ निग्गंथाणं गाहावइकुलस्स मज्झंमज्झेणं गंतु वत्थए ॥ सू०३३॥

छाया – नो कल्पते निर्ग्रन्थानां गाथापतिकुलस्य मध्यमध्येन गत्वा वस्तुम् ॥सू०३३॥

चूर्णी —'नो कप्पइ' इति । निर्ग्रन्थानां साधूनां गाथापतिकुलस्य गृहस्थगृहस्य मध्य-मध्येन-मध्यमार्गेण गत्वा उपाश्रये गम्यते निर्गम्यते च, एवमुपलक्षणात् यस्योपाश्रयस्य मध्य मार्गेण गृहस्थाः स्वगृहे प्रविशन्ति निर्गच्छन्ति वा तादृशे उपाश्रये वस्तुं न कल्पते । तत्र निवासे गमनागमनसमये साधूनां गृहस्थप्रक्रियायां दृष्टिपातो भवेत्, गृहस्थानामुपाश्रयमार्गेण गमना-गमने ते साधूनामाहारोपवेशननिषदनादिप्रक्रियां पश्यन्ति तेन तेषां परस्परं तत्तत्प्रक्रियाणां समा-लोचनासंभवस्ततः परस्परं द्वेषकलहादिसभवः, साधूनां तत्रस्थस्त्रीरूपदर्शने मोहोदयो वा भवेत्, ततः श्रामण्ये शङ्काकाङ्क्षाद्यनेके दोषाः समापतन्ति तस्मादेतादृशे उपाश्रये निर्ग्रन्थानां वस्तुं न कल्पते ॥सू० ३३॥

निर्ग्रन्थीनां पूर्वोक्ते उपाश्रये कारणसद्भावाद् वस्तुं कल्पते इति निर्ग्रन्थीसूत्रमाह–**'कप्पइ० गाहावइ०'** इत्यादि ।

सूत्रम्—कप्पइ निग्गंथीणं गाहावइकुलस्स मज्झंमज्झेण गंतुं वत्थए ॥सू०३४॥

छाया—कल्पते नि न्थीनां गाथापतिकुलस्य मध्यमध्येन गत्वा वस्तुम् ॥सू०३४॥

चूर्णी –'कप्पइ' इति । निर्ग्रन्थीनां गाथापतिकुलस्य मध्यमध्येन गत्वा उपाश्रये गम्यते निर्गम्यते एतादृशे उपाश्रये वस्तुं कल्पते । ननु निर्ग्रन्थसूत्रप्रोक्ता दोषास्तु साध्वीनामेव समाप-तन्ति तर्हि कथं तासां 'कल्पते' इति विधिरुक्तः? अत्राह–निर्ग्रन्थ्यः स्त्रीत्वेन स्वभावत एव

मृदुमुग्धहृदया भवन्ति, लोके च शीललुण्टाका विषयलोलुपा धूर्त्ता जना अनेकविधवचनचाटु-त्वेन ता मोहयन्ति, बलात्कारं वा कुर्वन्ति, इत्यादिकारणवशात्तासां संबन्धिजनासन्नत्वेन निर्दोषे तादृशे उपाश्रयेऽपि वस्तुं कल्पते इति प्रोक्तम् ॥सू० ३५॥

अत्राह भाष्यकारः—'सीलस्स' इत्यादि ।

भाष्यम्—सीलस्स रक्खणट्ठं, निग्गंथीणं पकप्पए तत्थ ।
अप्पडिबद्धे वासे,को तासिं रक्खणं कुज्जा ॥२५॥

छाया—शीलस्य रक्षणार्थं, निर्ग्रन्थीनां प्रकल्पते तत्र ।
अप्रतिबद्धे वासे, कस्तासां रक्षणं कुर्यात् ॥२५॥

अवचूरी—'सीलस्स' इति । निर्ग्रन्थीनां शीलस्य ब्रह्मव्रतस्य रक्षणार्थं रक्षानिमित्तं तत्र प्रतिबद्धोपाश्रये, तथा यत्र सम्बन्धिजनगाथापतिकुलमध्यमार्गेण गमनागमनयुक्ते उपाश्रये वा वस्तुमवस्थातुं प्रकल्पते युज्यते तत्र मूलगुणभूतब्रह्मव्रतरक्षायाः सुशक्यत्वात् । अन्यथा अप्रतिबद्धाद्युपाश्रयवासे उपसर्गोत्पादकेभ्यो दुष्टजनेभ्यस्तासां रक्षणं कः कुर्यात् ? अतो निर्ग्रन्थीनां प्रतिबद्धोपाश्रये वस्तुं कल्पते इत्युक्तम् ॥२५॥

अत्र पूर्वापरसूत्रयोः सम्बन्धमाह भाष्यकारः—'निग्गंथाण०' इत्यादि ।

भाष्यम्—निग्गंथाणमकप्पं, निग्गंथीणं च कप्पमिह वुत्तं ।
एयं असद्दहंतो, करेज्ज जइ सोऽत्थ अहिगरणं ॥२६॥
तत्थ य किं कायव्वं, उवसमियव्वं च होइ अहिगरणं ।
एसो संबंधो इह, सुत्तेण पुव्वभणिएणं ॥२७॥

छाया—निर्ग्रन्थानामकल्प्यं, निर्ग्रन्थीनां च कल्प्यमिहोक्तम् ।
एतद् अश्रद्दधानः कुर्यात् यदि सोऽत्र अधिकरणम् ॥२६॥
तत्र च किं कर्त्तव्यम्, उपशमितव्यं च भवति अधिकरणम् ।
एष सम्बन्ध इह, सूत्रेण पूर्वभणितेन ॥२७॥

अवचूरी—'निग्गंथाण' इति । निर्ग्रन्थानां गाथापतिकुलस्योपाश्रयमार्गेण गमनागमन-युक्ते उपाश्रये संवसनम् अकल्प्यम् अकल्प्यत्वेन प्रतिपादितम्, इह तत्रैव तादृशे एव उपाश्रये निर्ग्रन्थीनां च संवसनं कल्प्यमुक्तं-कल्प्यत्वेन प्रतिपादितम् । एतद्-वैषम्यं साधुसंघे कश्चित्साधुः अश्रद्दधानः तत्राश्रद्धां कुर्वाणो विवादग्रस्तो भूत्वा यदि तत्र साधुमण्डल्याम् अधिकरणं कलहं कुर्यात् तत्र कलहविषये किं कर्त्तव्यम् ?

तत्राऽऽचार्य आह—'उवसमियव्वं' इत्यादि, तदुत्पन्नमधिकरणं भगवद्वचनश्रद्धावता साधुना साध्वाचारं विभाव्य उपशमितव्यं भवति स स्वावनतत्वेनाधिकरणस्योपशमं कुर्यादिति भावः, इत्यधिकरणस्योपशमनसूत्रमत्र प्रोच्यते । इह अत्र विषये पूर्वभणितेन सूत्रेण सह एष सम्बन्धः ॥

एतेन सम्बन्धेनायातमिदमधिकरणोपशमनसूत्रं प्रस्तौति—'भिक्खू य' इत्यादि।

सूत्रम्--भिक्खू य अहिगरणं कट्टु तं अहिगरणं विओसवित्ता विओसवियपाहुडे, इच्छाए परो आढाइज्जा इच्छाए परो नो आढाइज्जा, इच्छाए परो अब्भुट्ठिज्जा इच्छाए परो नो अब्भुट्ठिज्जा, इच्छाए परो वंदिज्जा इच्छाए परो नो वंदिज्जा, इच्छाए परो संभुंजिज्जा इच्छाए परो नो संभुंजिज्जा, इच्छाए परो संवसिज्जा इच्छाए परो नो संवसिज्जा, इच्छाए परो उवसमिज्जा इच्छाए परो नो उवसमिज्जा, जो उवसमइ तस्स अत्थि आराहणा, जो न उवसमइ तस्स नत्थि आराहणा, तम्हा अप्पणा चेव उवसमियव्वं। से किमाहु भंते!? उवसमसारं सामण्णं ॥ सू० ३५॥

छाया—भिक्षुश्च अधिकरणं कृत्वा तद् अधिकरणं व्यवशमय्य व्यवशमितप्राभृतः इच्छया पर आद्रियेत इच्छया परो नो आद्रियेत, इच्छया परः अभ्युत्तिष्ठेत् इच्छया परो नो अभ्युत्तिष्ठेत्, इच्छया परो वन्देत इच्छया परो नो वन्देत, इच्छया परः संभुञ्जीत इच्छया परो नो संभुञ्जीत, इच्छया परः संवसेत्, इच्छया परो न संवसेत्, इच्छया पर उपशाम्येत् इच्छया परो नो उपशाम्येत्, य उपशाम्यति, तस्य अस्ति आराधना, यो नोपशाम्यति तस्य नास्ति आराधना, तस्मात् आत्मनैव उपशमितव्यम्, तत् किमाहुः भदन्त!? उपशमसारं श्रामण्यम् ॥ सू० ३५॥

चूर्णी—'भिक्खूय' इति। भिक्षुस्तावत् सामान्यसाधुः चकारात् आचार्य उपाध्यायश्च, अधिकरणम्—अधिक्रियते नरकगतिगमनयोग्यतां प्राप्यते आत्मा येन तत् अधिकरणम् कलहः प्राभृतमित्येकोऽर्थः तत् कृत्वा तथाविधद्रव्यक्षेत्रादिसांनिध्योपबृंहितात् कषायमोहनीयोदयाद् अपर—श्रमणेन सह कलहरूपम् अधिकरणं विधायेत्यर्थः तदनन्तरं स्वयमन्योपदेशेन वा तस्य कलहस्य ऐहिकपारलौकिकप्रत्यवायबाहुल्यं परिभाव्य तद् अधिकरणं कलहरूपम् व्यवशमय्य वि—विविधैः-अनेकैः प्रकारैः स्वापराधप्रतिपत्तिपूर्वकं मिथ्यादुष्कृतदानेन अवशमय्य—उपशमं प्रापय्य तदनन्तरं व्यवशमितप्राभृत—विशेषेण अवशमितम् उपशान्तीकृतम् अवसानं प्रापितं प्राभृतं कलहो येन स व्यवशमितप्राभृतो दूरीकृतकलहो भवेदित्यर्थः, तथा च गुरुसन्निधौ स्वदुश्चरितमालोच्य तत्प्रदत्तप्रायश्चित्तं च यथावत् प्रतिपद्य पुनस्तदकरणायाभ्युत्तिष्ठेत्। अथ येन सह कलहरूपम् अधिकरणम् उत्पन्नम् स यदि उपशमं नीयमानोऽपि नोपशाम्यति तदा किं कुर्यात्? इत्यत आह—'इच्छाए परो आढाएज्जा' इत्यादि, इच्छया—यथास्वरुच्या यथेच्छमित्यर्थः, परः—अन्यो द्वितीयः श्रमण आद्रियेत वा, इच्छया—यथास्वरुचि स्वेच्छानुसारं परः—अन्यो द्वितीयः साधुः नाद्रियेत वा, पूर्ववत् सम्भाषणादिभिरादरं विदध्याद् वा न वेति भावः, एवम् इच्छया स्वेच्छानुसारं परः—अन्यो द्वितीयः साधुः तम्—उपशामकम् साधुम् अभ्युत्तिष्ठेत् तस्य अभ्युत्थानं कुर्याद् वा, इच्छया—स्वेच्छानुसारं परः—अन्यो द्वितीयः साधुर्नाऽभ्युत्तिष्ठेत्—अभ्युत्थानं

न वा कुर्यात्, इच्छया परः-द्वितीयः साधुस्तं साधुं वन्देत वा, इच्छया परः अन्यः श्रमणो न वन्देत वा, इच्छया परः साधुस्तेन साधुना सह संभुञ्जीत-एकसार्थं भोजनं दानग्रहणसंभोगं वा कुर्यात् वा, इच्छया परः अन्यो द्वितीयः साधुर्न संभुञ्जीत-एकमण्डल्यां भोजनं तेन सह न वा कुर्यात्, इच्छया परः साधुस्तेन साधुना सह संवसेत्—सम् एकीभूय-एकस्मिन् उपाश्रये वसेद् वा, इच्छया परः साधुः न वा संवसेत्-एकीभूय एकत्रोपाश्रये न वसेद् वा, इच्छया परः साधुः उपशाम्येद् वा इच्छया परः श्रमणो नोपशाम्येद् वा परम्, तत्र यः श्रमण उपशाम्यति कषायितापाऽपगमेन निर्वृतिमुपैति उपशमं प्राप्नोतीत्यर्थः, तस्य सम्यग्दर्शनसम्यग्ज्ञानादीनामाराधना भवति, यः पुनः साधुः नोपशाम्यति उपशमं न प्राप्नोति तस्य साधोस्तेषां सम्यग्दर्शनादीनां नास्ति आराधना, तस्मात् कारणात् एवम्-उक्तरीत्या विचिन्त्य-विभाव्य आत्मनैव उपशान्तव्यम् उपशमो विधेयः। शिष्यः-प्राह 'से किमाहु भंते' हे भदन्त ! से तत् किमत्र विषये कारणमाहुः उक्तवन्तः तीर्थकरप्रभृतयः ? आचार्य आह-'उवसमसारं सामन्नं' उपशमसारम्-उपशमः सारो यत्र तत् उपशमसारमेव श्रामण्यं भवति, नोपशमरहितं श्रामण्यमित्यर्थः, उपशमवर्जितस्य श्रामण्यस्य निष्फलत्वादिति भावः। तथा चोक्तम्-'सामन्नऽणुचरंतस्स कसाया जस्स उक्कडा होंति।

मन्नामि उच्छुपुप्फं व, निष्फलं तस्स सामन्नं ॥१॥

श्रामण्यमनुचरतः कषाया यस्य उत्कटा भवन्ति। मन्ये इक्षुपुष्पमिव निष्फलं तस्य श्रामण्यम् ॥१॥ इति ॥ सू० ३५॥

अथ पूर्वोक्ताऽधिकरणसूत्रेण सहास्य वर्षावासगमननिषेधसूत्रस्य कः सम्बन्धः ? इत्यत्राह भाष्यकारः—'किच्चा' इत्यादि।

भाष्यम्—किच्चा कलहं गच्छइ, आगच्छइ वा पुणो य खामेउं।
वासावासे नेवं, करणिज्जं एस संबंधो ॥२८॥

अवचूरी—'किच्चा कलहं' इति। केनापि साधुना सहाधिकरणे समुत्पन्ने तयोर्द्वयोर्मध्ये एकेन विवेकिना भिक्षुणा 'उपशमसारं श्रामण्यम्' इति गुरूपदेशमभिसंधाय तदधिकरणं क्षमापनादिना उपशमितम् किन्तु येन सहाऽधिकरणं समुत्पन्नं स उपशाम्यमानोऽपि नोपशान्तो भवेत् स कषायानुबद्धमनाःश्रमणोऽन्यत्र ग्रामादौ 'कलहं किच्चा' अधिकरणं कृत्वा गच्छति, अथवा यः पूर्वमनुपशान्तः सन् अन्यत्र ग्रामादौ गतः स तत्र तस्य मतिपरिवर्तनेन शुभपरिणामवशात् स्वयम्, अन्यसाधूपदेशेन वा येन सहाधिकरणं जातं भवेत्तं साधुं 'खामेउं' क्षमयितुं स्वापराधं क्षमापनार्थम् गच्छति, अथवा अन्यत्र गतः स सांवत्सरिकक्षमापनाकाले आसन्ने समायाते सति विचारयेत्—'यन्मया तदधिकरणं न क्षमितमतः कथं तावन्मम सांवत्सरिकप्रतिक्रमणं कर्तुं कल्पते' इति विचिन्त्य तं श्रमणं क्षमयितुं पुनरप्यागच्छति, अथवा श्रमणानां परस्परमधिकरणमुत्पन्नमिति श्रुत्वाऽन्यत्र स्थितोऽन्यः

कश्चित् प्रवचनोड्डाहभीरुर्धर्मश्रद्धालुः साधुस्तदधिकरणमुपशमयितुं तत्रागच्छति, एवम् तत् तदीय-गमनागमनं शुद्धमपि **वासावासे** वर्षावासे वर्षाकाले **'न करणिज्जं'** न करणीयम् यतो वर्षाकाले साधूनां गमनागमनं न कल्पते, इत्येष एव पूर्वसूत्रेण सहाऽस्य सूत्रस्य सम्बन्धः ॥२८॥

अनेन सम्बन्धेनायातं वर्षावासे गमनागमननिषेधपरकमिदं सूत्रमाह—**'नो कप्पइ'** इत्यादि ।

सूत्रम्—नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा वासावासेसु चरित्तए ॥ सू३६॥

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा वर्षावासेषु चरितुम् ॥ सू०३६॥

चूर्णी—'नो कप्पइ' इति । निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां च वर्षावासेषु वर्षायां वर्षाकाले वासः वर्षावासः, तस्य चातुर्मासरूपत्वाद् बहुत्वविवक्षायां तेषु वर्षावासेषु चतुर्मासरूपेषु वर्षाकालसम्बन्धिषु चतुर्षु मासेषु चरितुं विचरितुम् एकस्माद् ग्रामादन्यस्मिन् ग्रामे गन्तुं न कल्पते । वर्षासु विहरतः षट्कायविराधनेन संयमात्मविराधना भवति । तत्र षट्कायविराधना यथा–वर्षाकाले पन्थानः अमर्दिता भवन्ति तेन पृथिवीकायविराधना १, जलक्लिन्नमार्गे गमनेऽप्कायविराधना सुस्पष्टैव २, उपधेर्जलक्लिन्नत्वेन तापनार्थं मतिर्भवेत्तेन तापनबुद्ध्याऽग्निकायविराधनादोषः समापद्येत ३, जलार्द्र-वायोस्तीव्रगत्या वायुकायविराधना ४, वर्षाकाले भूमौ दूर्वादिवनस्पतिकायः समुद्भवति, जलसद्भावात् पनकसंमूर्च्छनमपि भवति, इत्यादिना वनस्पतिकायविराधना ५, वर्षाकाले इन्द्रगोपशिशुनागाद्यने-कत्रसा भूमौ विचरन्ति तेन त्रसकायविराधना भवेत् ६ । एवं सयमविराधना भवति । आत्म-विराधना तु अनेकप्रकारा भवति यथा–कर्दमपिच्छिले मार्गे पादस्खलन, तेन विषमे भूप्रदेशे निपतनं भवेत्, जलेऽदृश्यमानकीलककण्टकादि वा चरणयोर्विद्धं भवेत्, अकस्मात् गिरिनद्यादिजलपूरेणान्यत्र नयनं भवेत्, इत्याद्यनेकप्रकाराऽऽत्मविराधना भवेत् । तीर्थकराज्ञाविराधना तु स्पष्टैव शास्त्रे, चातुर्मास-विहरणस्य निषिद्धत्वात् । तस्मात् निर्ग्रन्थैर्निर्ग्रन्थीभिश्च वर्षाकाले विहरणं न विधेयम्, अपवादे राज्योपद्रवे ग्रामदाहे दुर्भिक्षे जलप्लाविते ग्रामे, इत्यादिसंयमयात्रानिर्वाहबाधकेषु कारणेषु समुपस्थि-तेषु वर्षाकालेऽपि तत्रतो निर्गमनमावश्यकं भवेदिति ॥ सू० ३६॥

पूर्वं–वर्षावासे–चातुर्मासे श्रमणानां विहरणं न कल्पते इति प्रतिपादितम्, अथ कस्मिन् काले श्रमणानां विहरणं कल्पते ? इति प्रश्ने विहारकल्पकालं प्रदर्शयन्नाह—**'कप्पइ'** इत्यादि ।

सूत्रम्—कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गंथीणं वा हेमंतगिम्हासु चरित्तए ॥ सू०३७॥

छाया—कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा हेमन्तग्रीष्मेषु चरितुम् ॥सू०३७॥

चूर्णी—'कप्पइ' इति । निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा **'हेमंतगिम्हासु'** हेमन्तग्रीष्मेषु हेमन्तग्रीष्मसम्बन्धिषु अष्टसु मासेषु ऋतुबद्धे काले इत्यर्थः चरितुं विचरितुं कल्पते, ऋतुबद्ध-काले शुष्कभूम्यादिकारणेन संयमात्मविराधनाया असंभवात् ॥ सू० ३७॥

पूर्वसूत्रे ऋतुबद्धकाले निर्ग्रन्थानां विहरणं कल्पते इति प्रोक्तम्, साम्प्रतम् ऋतुबद्धकाले विहृत्य निर्ग्रन्था ग्रामनगरादौ मासकल्पविधिना तिष्ठन्ति, यत्र निर्ग्रन्थास्तिष्ठन्ति तेन स्थानेनाऽपायवर्जितेन भवितव्यम्, स चापायो वैराज्यविरुद्धराज्यादिरूपो भवतीति तादृशे स्थाने निर्ग्रन्थैर्गमनागमनं न कर्त्तव्यमिति तद्विधिं प्रदर्शयति—'नो कप्पइ० वेरज्ज०' इत्यादि ।

सूत्रम्—नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा वेरज्जविरुद्धरज्जंसि सज्जं गमणं सज्जं आगमणं सज्जं गमणागमणं करित्तए । जो खलु निग्गंथो वा निग्गंथी वा वेरज्जविरुद्धरज्जंसि सज्जं गमणं सज्जं आगमणं सज्जं गमणागमणं करेइ करेंतं वा साइज्जइ से दुहओवि वीइक्कममाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ॥

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा वैराज्यविरुद्धराज्ये सद्यो गमनं सद्य आगमनं सद्यो गमनागमनं कर्त्तुम् । यः खलु निर्ग्रन्थो वा निर्ग्रन्थी वा वैराज्यविरुद्धराज्ये सद्यो गमनं सद्य आगमनं सद्यो गमनागमनं करोति कुर्वन्तं वा स्वदते स द्विधातोऽपि व्यतिक्रामन् आपद्यते चातुर्मासिकं परिहारस्थानम् अनुद्घातिकम् ॥३८॥

चूर्णी—'नो कप्पइ' इति । नो कल्पते न युज्यते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा ऋतुबद्धकाले विहरतां वैराज्यविरुद्धराज्ये, वि–विरुद्धं राज्यं विराज्यं तदेव वैराज्यं वर्त्तमानकालिकवैरयुक्तं राज्यम्, अथवा विगतराजकं यत्र राजा मृतो भवेत् तद् वैराज्यम्, तथा विरुद्धराज्यं यत्र द्वयोः राज्ञोः स्वस्वराज्ये परस्परम् एकराज्यजनानामन्यराज्ये गमनागमनं विरुद्धं निषिद्धं भवेत्तद् विरुद्धराज्यम्, वैराज्यं च विरुद्धराज्यं चेति समाहारे वैराज्यविरुद्धराज्यम्, तस्मिन् तादृशे देशे प्रदेशे वा सद्यः–तत्कालम् विरोधकाल एव गमनम् यत्र स्थितस्तत्रतो निस्सरणम्, तत्, आगमनम्–अन्यप्रदेशात् सद्यः–विरोधसमकाले तत्र प्रवेशः, तत्, तथा सद्यः–विरोधसमकाल एव गमनागमनं–वारं वारं निस्सरणं प्रवेशं वा कर्त्तुं न कल्पते इति पूर्वेण सम्बन्धः । यदि यः खलु साधुः पूर्वोक्ते वैराज्यविरुद्धराज्ये गमनमागमन गमनागमनं च करोति स्वयं, कारयति वाऽन्यं, तथा कुर्वन्तं वाऽन्यं स्वदते–अनुमोदते तदा स तत्र गमनस्यागमनस्य गमनागमनस्य च कर्त्ता कारयिता अनुमोदिता च द्विधातोऽपि–उभयतोऽपि द्वयानामपि तीर्थकृतां राज्ञां च सम्बन्धिनीम् आज्ञां व्यतिक्रामन् उल्लङ्घयन् तीर्थकरराजाज्ञाया विराधनां कुर्वन् आपद्यते प्राप्नोति चातुर्मासिकं चतुर्माससम्बन्धि परिहारस्थानम् अनुद्घातिकं चतुर्गुरुकं प्रायश्चित्तम् । यस्मात्कारणात् वैराज्यविरुद्धराज्ये गमनागमनकरणे साधुः प्रायश्चित्तभागी भवति तस्मात् कारणात् वैराज्यविरुद्धराज्ये न स्वयं गमनागमनं कुर्यात् न कारयेत् न वा कुर्वन्तमन्यमनुमोदेत, तत्र प्रवचनोड्डाहसंयमात्मविराधनाद्यनेकदोषापत्तिसद्भावादिति ॥ सू० ३८॥

पूर्वसूत्रे वैराज्यविरुद्धराज्ये साधूनां गमनागमननिषेधः प्रतिपादितः, साम्प्रतं वैराज्यविरुद्धराज्ये कदाचिद् गतो भवेत्तत्र लुण्टकैर्वस्त्राणि लुण्टितानि भवेयुस्ततोऽन्यग्रामादौ साधुर्गच्छेत्

तत्राऽशनाद्यर्थं गृहस्थगृहे प्रविशन्तं तमल्पवस्त्रं दृष्ट्वा कश्चित् श्रावकस्तं मुनिं वस्त्रादिग्रहणार्थमुपनिमन्त्रयति तदा साधुना किं कर्त्तव्यमिति तद्विधिं प्रदर्शयति–'निग्गंथं च णं' इत्यादि ।

सूत्रम्--निग्गंथं च णं गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुप्पविट्ठं केई वत्थेण वा पडिग्गहेण वा कंबलेण वा पायपुंछणेण वा उवनिमंतेज्जा, कप्पइ से सागारकडं गहाय आयरियपायमूले ठवित्ता दोच्चंपि उग्गहं अणुण्णवित्ता परिहारं परिहरित्तए ॥ सू० ३९॥

छाया—निर्ग्रन्थं च खलु गाथापतिकुलं पिण्डपातप्रतिज्ञया अनुप्रविष्टं कश्चित् वस्त्रेण वा प्रतिग्रहेण वा कम्बलेन वा पादप्रोञ्छनेन वा उपनिमन्त्रयेत् कल्पते सागारकृतं गृहीत्वा आचार्यपादमूले संस्थापयित्वा द्वितीयमपि अवग्रहम् अनुज्ञाप्य परिहारं परिहर्त्तुम् ॥ सू० ३९॥

चूर्णी—'निग्गंथं च णं' इति । निर्ग्रन्थं च खलु वैराज्यविरुद्धराज्यविहारादागतमल्पवस्त्रादिकं साधुम्, कीदृशम् ? पिण्डपातप्रतिज्ञया, तत्र पिण्डः–ओदनादिस्तस्य पातः पात्रे पतनं ग्रहणं पिण्डपातस्तस्य प्रतिज्ञया–अशनादिग्रहणेच्छया गाथापतिकुलं–गृहस्थगृहम् अनुप्रविष्टम्–अनु-अन्यया च कजननिस्सरणानन्तरं प्रविष्टम् अनुप्रविष्टम्, अनेन गृहस्थगृहे दानार्थमपावृतद्वारं भवेदिति सूचितम्, गृहस्थगृहे गतं साधुं कश्चित् श्रावकस्तमल्पवस्त्रादिकं दृष्ट्वा वस्त्रेण वस्त्रमुद्दिश्य, प्रतिग्रहेण–पात्रेण पात्रमुद्दिश्य कम्बलेन–ऊर्णामयवस्त्रेण ऊर्णामयवस्त्रमुद्दिश्य, पादप्रोञ्छनेन रजोहरणेन, अथवा 'पात्रप्रोञ्छनेन' इति च्छाया, तत्र पात्राणां प्रोञ्छनकवस्त्रम् तेन, अथवा पात्रशब्देन पात्रबन्धः पात्रकेसरिकादिकः, प्रोञ्छनशब्देन रजोहरणं गृह्यते ततः पात्रं च प्रोञ्छनं चेति समाहारद्वन्द्वे पात्रप्रोञ्छनं तेन वा, तदुद्दिश्य उपनिमन्त्रयेत् वस्त्रादिग्रहणार्थं प्रार्थयेत, तदा **'से'** तस्य उपनिमन्त्रितस्य मुनेः कल्पते तद् वस्त्रादिकं ग्रहीतुम्, केन विधिना कल्पते ? इत्याह–तद् वस्त्रादिकं सागारकृतम्–सागारसम्बन्धिकम्, अगारेण सहितः सागारः–गृहस्थः तत्सम्बन्धिकम्, इदं वस्त्रादिकं गृहस्थसत्कमेव, त्वत्सत्कमेव न ममेति कथनपूर्वकम् । अथवा साकारकृतमिति आकारेण सहितम्, यथा–संप्रति तवेदं वस्त्रादिकं गृह्णामि तत् प्रातिहारिकरूपेण गृह्णामि, यद्याचार्या ग्रहीष्यन्ति तदा तेभ्यो दास्यामि, अन्यथा प्रत्यावर्तयिष्यामि, एवंरूपाकारपूर्वकम्, अथवा आचार्यसत्कमिदं वस्त्रं, न मम, ते यस्मै कस्मैचित् मह्यं वा दास्यन्ति, ते वा स्वयमस्योपभोगं करिष्यन्ति यत्तत्सम्बन्धिकमेवेदं वस्त्रादिकं भविष्यति नान्यस्य, यदि ते नादरिष्यन्ति तदैतद्वस्त्रादिकं सागारकृतमेवेति तुभ्यमेवानीय परावर्त्तयिष्यामि, इत्येवं सविकल्पककथनपूर्वकं **'गहाय'** गृहीत्वा आचार्यपादमूले–आचार्यचरणसमीपे स्थापयित्वा, यदि ते तस्मै एव ददाति तदा द्वितीयमपि वारम्–अवग्रहम्, प्रथमत एकोऽवग्रहः गृहस्थसम्बन्धी यो गृहस्थाद् गृहीतः, द्वितीय आचार्यसम्बन्धी, इत्येवं द्वितीयं वारम् अवग्रहम् वस्त्रादिग्रहणाज्ञाम् अनुज्ञाप्य–गृहीत्वा परिहारं,

परिह्रियते यत्तत् परिहारम्–उपभोगयोग्यं वस्त्रादिकं परिहर्त्तुं धर्त्तुमुपभोक्तुं वा कल्पते इति पूर्वेण सम्बन्धः ॥ सू० ३९॥

पूर्वसूत्रे भिक्षार्थगतस्य साधोर्गृहस्थोपनिमन्त्रितवस्त्रादिग्रहणविधिः प्रतिपादितः, साम्प्रतं विचारविहारभूमिगतस्य वस्त्रादिग्रहणविधिमाह–'निग्गंथं च णं' इत्यादि,

सूत्रम्--निग्गंथं च णं वहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खंतं समाणं केइ वत्थेण वा पडिग्गहेण वा कंवलेण वा पायपुंछणेण वा उवनिमंतेज्जा, कप्पइ से सागारकडं गहाय आयरियपायमूले ठवित्ता दोच्चंपि उग्गहं अणुण्णवित्ता परिहारं परिहरित्तए ॥ सू० ४०॥

छाया—निर्ग्रन्थं च खलु वहिर्विचारभूमिं वा, विहारभूमिं वा निष्क्रान्तं सन्तं कोऽपि वस्त्रेण वा प्रतिग्रहेण वा कम्बलेन वा, पादप्रोञ्छनेन वा उपनिमन्त्रयेत्, कल्पते तस्य सागारकृतं गृहीत्वा आचार्यपादमूले स्थापयित्वा द्वितीयमपि अवग्रह अनुज्ञाप्य परिहर्त्तुम् ॥४०॥

चूर्णी—'निग्गंथं च णं' इति । निर्ग्रन्थं च खलु, 'वहिया' बहिः उपाश्रयाद्बहिःप्रदेशे विचारभूमिं–विचारः–संज्ञा तस्य भूमिः विचारभूमिस्तां विचारभूमिं स्थण्डिलभूमिमित्यर्थः, वा–अथवा विहारभूमिं–विहारभूमिरिति स्वाध्यायभूमिः मुनिर्यत्र शास्त्रस्वाध्यायार्थमुपाश्रयाद्बहिर्गत्वा एकान्तभूमौ आत्मद्वितीय आत्मतृतीयः सन् तत्र स्थित्वा सूत्रमर्थं तदुभयं च चिन्तयति सा विहारभूमिः समयभाषया कथ्यते, ततस्तां विचारभूमिं विहारभूमिं वा तत्र गमनार्थमित्यर्थः निष्क्रान्तं गत सन्तं कोऽपि गृहस्थः वस्त्रादिग्रहणार्थमुपनिमन्त्रयेत् यथा—'आगच्छतु भगवन्! मम गृहे भवत्कल्प्यं वस्त्रादि गृह्णातु' इत्येवं प्रार्थयेत् तदा, इत्यादि यथा पूर्वं भिक्षाचर्यागतस्य यो वस्त्रादिग्रहणविधिरुक्तः स एवात्र बोध्यः ॥ सू० ४०॥

पूर्वं निर्ग्रन्थविषयकं भिक्षाचर्यार्थं गतस्य, तथा विचारभूमिं विहारभूमिं गतस्य च वस्त्रादिग्रहणविधिप्रतिपादकं सूत्रद्वयं प्रतिपादितम्, साम्प्रतं एष एव विधिर्निर्ग्रन्थीमुद्दिश्य सूत्रद्वयेन प्रतिपाद्यते-'निग्गंथिं च णं' इत्यादि ।

सूत्रम्--निग्गंथिं च णं गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुप्पविट्ठं केइ वत्थेण वा पडिग्गहेण वा कंवलेण वा पायपुंछणेण वा उवनिमंतेज्जा कप्पइ से सागारकडं गहाय पवत्तिणीपायमूले ठवित्ता दोच्चंपि उग्गहं अणुण्णवित्ता परिहारं परिहरित्तए ॥ निग्गंथिं च णं वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खंतं समाणं केइ वत्थेण वा पडिग्गहेण वा कंवलेण वा पायपुंछणेण वा उवनिमंतेज्जा, कप्पइ से सागारकडं गहाय पवत्तिणीपायमूले ठवित्ता दोच्चंपि उग्गहं अणुण्णवित्ता परिहारं परिहरित्तए ॥ सू० ४२॥

छाया—निर्ग्रन्थीं च खलु गाथापतिकुलं पिण्डपातप्रतिज्ञया अनुप्रविष्टां कोऽपि वस्त्रेण वा कम्बलेन वा पादप्रोञ्छनेन वा उपनिमन्त्रयेत्, कल्पते तस्याः सागारकृतं (साकारकृतं वा) गृहीत्वा प्रवर्तिनीपादमूले स्थापयित्वा द्वितीयमपि अवग्रहम् अनुज्ञाप्य परिहारं परिहर्त्तुम् ॥ सू० ४१॥ निर्ग्रन्थीं च खलु विचारभूमिं वा विहारभूमिं वा निष्क्रान्तीं सतीं कोऽपि वस्त्रेण वा प्रतिग्रहेण वा कम्बलेन वा पादप्रोञ्छनेन वा उपनिमन्त्रयेत् कल्पते तस्या सागारकृतं (साकारकृतं वा) गृहीत्वा प्रवर्त्तिनीपादमूले स्थापयित्वा द्वितीयमपि अवग्रहम् अनुज्ञाप्य परिहारं परिहर्त्तुम् ॥ सू० ४२॥

चूर्णी—'निग्गंथिं च णं गाहावइकुलं' इत्यादि, तथा 'निग्गंथिं च णं वियारभूमिं वा' इत्यादि च सूत्रद्वयमपि निग्रन्थसूत्रावदेव व्याख्येयम्, नवरं विशेषस्त्वयम्—यत् निर्ग्रन्थसूत्रद्वये 'आयरियपायमूले ठवित्ता, आचार्यपादमूले स्थापयित्वा' इत्युक्तम, अत्र निर्ग्रन्थीसूत्रद्वये च'पवत्तणीपायमूले ठवित्ता' 'प्रवर्त्तिनीपादमूले स्थापयित्वा' इति व्याख्येयम् तत्र । प्रवर्त्तिनीति-प्रवर्त्तयति-प्रेरयति स्वनिश्रागतसाध्वीः श्रुतचारित्रधर्मे या सा प्रवर्त्तिनी—दीक्षादात्री, पर्यायज्येष्ठा वा निर्ग्रन्थीति । शेषं सर्वं निर्ग्रन्थसूत्रवदेव व्याख्येयमिति ॥ सू० ४२॥

अत्राह भाष्यकार—'सच्छंदं' इत्यादि ।

भाष्यम्—सच्छंदं नो गिण्हे, नो परिभुंजे य वत्थपत्ताई
जं आयरियपदत्तं, तं गिण्हे तं च परिभुंजे ॥सू०२९॥
एवं निग्गंथीणं, पवत्तिणीदत्तवत्थपत्ताई ।
कप्पइ किंतु सयं तं, नो गिण्हे नेव परिभुंजे ॥३०॥

छाया—स्वच्छन्दं नो गृह्णीयात्, नो परिभुञ्जीत च वस्त्रपात्रादि ।
यद् आचायप्रदत्तं, तद् गृह्णीयात् तच्च परिभुञ्जीत ॥२९॥
एवं निर्ग्रन्थीनां, प्रवर्त्तिनीदत्तवस्त्रपात्रादि ।
कल्पते किन्तु स्वयं तद् नो गृह्णीयात् नैव परिभुञ्जीत ।३०॥

अवचूरी—'सच्छंद' इति । निर्ग्रन्थ वस्त्रपात्रादि गृहस्थगृहाद् गृहस्थहस्ताच्च स्वच्छंदं स्वच्छन्दतया यथारुचि नो गृह्णीयात्, एवं गृहीतं च तद् नो नैव परिभुञ्जीत । किं कुर्यात्? तत्राह—गृहीतं तद् वस्त्रादिकं साकारकृतमिति कृत्वा 'नेदं वस्त्रं मम, किन्तु आचार्यसत्कं प्रातिहारिकं वा अस्ति' इति कथनपूर्वकमादाय आचार्यसमीपे स्थापयेत्, तत्र यद् वस्त्रादिकमाचार्यप्रदत्तं भवेत्—आचार्या, उपाध्यायाः, पर्यायज्येष्ठा वा स्वेच्छया यद् वस्त्रादिकं दद्युस्तद् गृह्णीयात्, विनयवन्दनपूर्वकं द्वितीयमवग्रहमनुज्ञाप्य स्वीकुर्यात् तच्चेति तदेव वस्त्रादिकं परिभुञ्जीत स्वकार्ये व्यापारयेदिति निर्ग्रन्थकल्प ॥ २९ ॥

'एवं' इति । एवम् अनेनैव प्रकारेण निर्ग्रन्थीनां साध्वीनां प्रवर्त्तिनीप्रदत्तवस्त्रपात्रादि ग्रहीतुं परिभोक्तुं च कल्पते, किन्तु तद् वस्त्रपात्रादिकं स्वयं स्वेच्छया गृहस्थाद् नो गृह्णीयात् न स्वीकुर्यात्

नैव च परिभुञ्जीत न स्वकार्ये व्यापारयेत्, किन्तु निर्ग्रन्थवदेव गृहस्थेन दीयमानं वस्त्रादिकं साकारकृतमिति कृत्वा 'नेदं मम वस्त्रादि, किन्तु प्रवर्त्तिनीसत्कं प्रातिहारिकं वाऽस्ती'-तिकृत्वा प्रवर्त्तिनीसमीपे स्थापयित्वाऽवग्रहानुज्ञापूर्वकं तत्प्रदत्तं वस्त्रादिकं विनयेन स्वीकुर्यात्, तदेव च परिभुञ्जीतेति निर्ग्रन्थीकल्पः ॥ ३० ॥

पूर्वं निर्ग्रन्थनिर्ग्रन्थीनां वस्त्रपात्रादिग्रहणविधिः प्रतिपादितः, साम्प्रतं वस्त्रादिग्रहणानन्तरमाहाराधिकार इति रात्रौ विकाले वाऽऽहारग्रहणनिषेधं प्रदर्शयति-'नो कप्पइ० राओ वा०' इत्यादि।

सूत्रम्--नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा राओ वा वियाले वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहित्तए, नन्नत्थ एगेणं पुव्वपडिलेहिएणं सेज्जासंथारएणं ॥ सू०४३॥

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा रात्रौ वा विकाले वा अशनं वा पानं वा खाद्यं वा स्वाद्यं वा प्रतिग्रहीतुम्, नान्यत्र एकेन पूर्वप्रतिलेखितेन शय्यासंस्तारकेण ॥ सू० ४३॥

चूर्णी—'**नो कप्पइ**' इति। निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा रात्रौ वा रात्रिमध्ये विकाले वा सन्ध्यासमये '**असणं वा**' इति अशनादि चतुर्विधमाहारं प्रतिग्रहीतुम् आदातुं न कल्पते। अत्र विकाले चतुर्विधाहारनिषेधस्तर्हि किमन्यदप्युपधिजातं रात्रौ विकाले वा ग्रहीतुं न कल्पते? अत्राह सूत्रकारः—'**नन्नत्थ**' इत्यादि, एकेन केवलेन '**सेज्जासंथारएणं**' शय्यासंस्तारकेण, तत्र शय्या शरीरप्रमाणा, संस्तारकः सार्द्धतृतीयहस्तप्रमाणः, शय्या च संस्तारकश्चेति समाहारे शय्यासंस्तारकम्, तेन, कीदृशेन शय्यासंस्तारकेण? तत्राह--पूर्वप्रतिलेखितेन-पूर्वं दिवसे यत् प्रतिलेखितं भवेत् तेन विना अन्यत्र न, तत्यक्त्वा अन्यत् किमपि न कल्पते, दिवसे शय्यासंस्तारकस्य प्रतिलेखनां कृत्वाऽन्यत्र स्थाने वसतौ स्थानाभावे चौरादिशङ्कया वा गृहस्थनिश्रया तद्गृहे स्थापितं भवेत्तदा तद् रात्रौ विकाले वा शयनार्थं प्रतिग्रहीतुं कल्पते नान्यदिति भावः ॥ सू० ४३ ॥

पूर्वं रात्रौ विकाले वा अशनादिग्रहणनिषेधः प्रोक्तः, साम्प्रतं वस्त्रादिग्रहणनिषेधमाह—'नो कप्पइ० वत्थं वा' इत्यादि ।

सूत्रम्--नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा राओ वा वियाले वा वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा पडिग्गाहित्तए, नन्नत्थ एगाए हरियाहडियाए, सावि य परिभुत्ता वा धोया वा रत्ता वा घट्ठा वा मट्ठा वा संपधूमिया वा ॥ सू०४४ ॥

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा रात्रौ वा विकाले वा वस्त्रं वा प्रतिग्रहं वा कम्बलं वा पादप्रोञ्छनं वा प्रतिग्रहीतुम्, नान्यत्र एकया हृताहृतया, साऽपि च परिभुक्ता वा धौता वा रञ्जिता वा घृष्टा वा मृष्टा वा संप्रधूमिता वा ॥ सू० ४४ ॥

चूर्णी-'नो कप्पइ' इति। निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां रात्रौ विकाले वा वस्त्रं वा चोलपट्टशाटिकादिकम्, प्रतिग्रहं-पात्रम्, कम्बलम्-ऊर्णामयं प्रावरणवस्त्रम्, पादप्रोञ्छनं-रजोहरणम्, अथवा पात्रप्रोञ्छनम्-आहारादिपात्राणां प्रोञ्छनवस्त्रम्, एतत्सर्वं वस्तुजातं प्रतिग्रहीतुं न कल्पते। तर्हि किं कल्पते ? इत्याह-एकया केवलया हृताहृतया-हृतं पूर्वं चौरादिना चोरितं पश्चात् शुभपरिणामादिवशात् गृहस्थभयवशाद्वा आहृता-आनीय पुनर्दत्ता, एतादृशी काऽपि वस्त्रजातिः, तया अन्यत्र-विना तां त्यक्त्वेत्यर्थः न कल्पते, सा तु कल्पते इति भावः। साऽपि च या आनीय दत्ता सा यदि परिभुक्ता हरणकर्त्रा स्वपरिभोगे नीता शरीरे धृता भवेत्, धौता वा जलेन प्रक्षालिता वा भवेत्, रञ्जिता वा रक्तपीतादिरागेण रङ्गयुक्ता वा कृता भवेत्, घृष्टा वा चिक्कणप्रस्तरादिना चिक्कणीकृता वा, मृष्टा वा म्रक्षिता सुकोमलीकृता वा भवेत्, संप्रधूमिता, संप्रधूपिता वा अगुरुचन्दनादिसुगन्धद्रव्यधूमेन धूमयुक्ता कृता, सुगन्धद्रव्यधूपेन धूपिता वा भवेत् तथापि सा वस्त्रजातिर्निर्ग्रन्थैर्निर्ग्रन्थीभिः रात्रौ विकाले वाऽपि सा दीयमाना ग्रहीतव्या, तस्याः स्वनिश्रागतत्वादिति ॥ सू० ४४ ॥

पूर्वं रात्रौ विकाले वा वस्त्रग्रहणविधिरुक्तः, साम्प्रतमध्वगमनस्य सखडिगमनस्य च निषेधमाह-'नो कप्पइ० अद्धाण०' इत्यादि।

सूत्रम्--'नो कप्पइ निग्गंथाण वा, निग्गंथीण वा राओ वा, वियाले वा, अद्धाणगमणं एत्तए ॥ सू०४५ ॥ नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा संखडिं वा संखडिपडियाए अद्धाणगमणं एत्तए ॥ सू०४६॥

छाया-नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा रात्रौ वा विकाले वा अध्वगमनम् एतुम् ॥ सू० ४५॥ नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा संखडिं वा संखडिप्रतिज्ञया अध्वगमनम् एतुम् ॥ सू० ४६ ॥

चूर्णी--'नो कप्पइ' इति। निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां च रात्रौ विकाले वा सन्ध्याकाले अध्वगमनं मार्गगमनम् एतुं कर्तुं नो कल्पते, रात्रौ विकाले वा गमनशीलस्य प्रथमम् चक्षुरगोचरतया ईर्यासमितिरेव विराधिता भवति, तस्यां विराधितायां संयमोऽपि विराधितो भवेत् तेन तीर्थकराज्ञाऽतिक्रान्ता भवतीति संयमविराधना भवति, एवमात्मविराधना तु प्रत्यक्षैव यथा-रात्रौ विकाले वा गमनशीलस्य साधोरन्धकारसद्भावाद् गर्त्तादौ पतनं भवेत्, पादयोः कण्टकवेधः स्यात्, चौरलुण्टाकादिना वस्त्राद्यपहरणं भवेत्, श्वापदादिहिंस्रजन्तुकृतस्त्रासः समुत्पद्येत, स मारयेद्वा कुलटाजारादिकृतोपद्रवोऽपि सम्भवेत् तस्माद् निर्ग्रन्थनिर्ग्रन्थीभिः रात्रौ विकाले वाऽध्वगमनं न

कर्त्तव्यम् ॥ सू० ४५ ॥ निर्ग्रन्थनिर्ग्रन्थ्यो रात्रौ गमनं संखड्यामाहाराद्यर्थं वा कदाचित् कुर्वन्तीति तन्निषेधमप्याह—'नो कप्पइ' इत्यादि । नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा संखडिं वा, संखण्ड्यन्ते त्रोट्यन्ते षट्कायजीवानामायूंषि यत्र सा संखडिः अग्न्यारम्भे षट्कायानामुपमर्दनसद्भावात्, विवाहमरणादिनिमित्तं क्रियमाणं बहुजनभोज्यं संखडिरुच्यते, तामपि संखडिप्रतिज्ञया संखडिवाञ्छया तन्निमित्तम् अध्वगमनम्, एतुं कर्त्तुं न कल्पते ॥ ४६ ॥

पूर्वसूत्रे रात्रौ विकाले वा ऽध्वगमनस्य संखडिगमनस्य च निषेधः प्रतिपादितः, साम्प्रतं गमनप्रकरणाद् निर्ग्रन्थस्य एकाकिनः संज्ञादिभूमौ गमनविधिमाह—'नो कप्पइ०' इत्यादि ।

सूत्रम्—नो कप्पइ निग्गंथस्स एगाणियस्स राओ वा वियाले वा बहिया वियारभूमिं वा, विहारभूमिं वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा । कप्पइ से अप्पबिइयस्स वा अप्पतइयस्स व, राओ वा, वियाले वा वहिया वियारभूमिं वा, विहारभूमिं वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा ॥ सू० ४७ ॥

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थस्य एकाकिनः रात्रौ वा विकाले वा बहिर्विचारभूमिं वा विहारभूमिं वा निष्क्रमितुं वा प्रवेष्टुं वा, कल्पते तस्य आत्मद्वितीयस्य वा आत्मतृतीयस्य वा रात्रौ वा विकाले वा बहिर्विचारभूमिं वा विहारभूमिं वा निष्क्रमितुं वा प्रवेष्टुं वा ॥ सू० ४७ ॥

चूर्णी—'नो कप्पइ' इति । निर्ग्रन्थस्य साधोः एकाकिनः—अद्वितीयस्य रात्रौ वा विकाले वा बहिः उपाश्रयाद् बहिःप्रदेशे विचारभूमिं वा—सञ्ज्ञाभूमिं कायिक्यादिपरिष्ठापनभूमिम्, विहारभूमिं वा स्वाध्यायभूमिम् उद्दिश्य निष्क्रमितुं—निस्सर्तुं प्रवेष्टुं बहिर्भागतोऽन्तरागन्तुं गमनागमनं कर्तुमित्यर्थः नो कल्पते । तर्हि कथं कल्पते ? इत्याह—कल्पते 'से' तस्य निर्ग्रन्थस्य आत्मद्वितीयस्य आत्मा स्वयं द्वितीयो यस्य सः एकः अन्यः साधुः स्वयं द्वितीयो भवेत् स आत्मद्वितीयो भवेत् स आत्मद्वितीयः, तस्य वा, अथवा आत्मतृतीयस्य द्वौ अन्यौ श्रमणौ स्वयं च तृतीयो भवेत् स आत्मतृतीयः, तस्य एकेन श्रमणेन द्वाभ्यां वा श्रमणाभ्यां सहितस्य रात्रौ वा विकाले वा बहिः उपाश्रयाद् बहिःप्रदेशे विचारभूमिं वा विहारभूमिं वा निष्क्रमितुं प्रवेष्टुं गमनागमनं कर्त्तुं कल्पते । रात्रौ विकाले च एकाकिना श्रमणेन उपाश्रयाद्बहिर्न गन्तव्यमिति भावः । रात्रौ एकाकित्वेन गमनशीलस्य साधोः संयमविराधना आत्मविराधना च भवति, तथाहि—संयमविराधना यथा—बहिर्गतम् एकाकिन साधुं दृष्ट्वा रूपमुग्धा काचित् कुलटा स्त्री तदनिच्छयापि

तमुपसर्गयति, 'कोऽत्र मां पश्यती' ति कृत्वा एकाकिनो मनो वा भिद्यते, इत्यादिना संयमविराधना। रात्रौ वहिर्गतमेकाकिनं साधुं दृष्ट्वा तस्करास्तदुपधिमपहरेयुः, ग्रामारक्षका वा एकाकिनं रात्रौ दृष्ट्वा चौरोऽयमिति बुद्धया ग्रहणाकर्षणादिकं वा कुर्युः, श्वापदादिभिर्वा हन्येत, श्रामण्यसीदितः पलायनप्रतीक्षक एकाकित्वेन पलायेत, रात्रौ बहिः कायिकीं प्रतिष्ठापयन् वायुप्रकोपेन मूर्छितः सन् भूमौ प्रपतेत् म्रियेत वा, इत्यादिप्रकारेण आत्मविराधना भवति तस्मात् नैकाकिना श्रमणेन रात्रौ वहिर्भूमौ गन्तव्यम्, अपितु एकेन द्वाभ्यां वा सह कायिक्याद्यर्थं रात्रौ वहिर्गन्तव्यं, तेन पूर्वोक्तपरिस्थितौ तस्य साहाय्यं भवेदिति भावः ॥ सू० ४७ ॥

पूर्वं निर्ग्रन्थस्य रात्रौ वहिर्गमनविधिः प्रतिपादितः, साम्प्रतं तमेव विधिं निर्ग्रन्थ्यर्थं प्रतिपादयितुमाह-'नो कप्पइ० एगाणियाए' इत्यादि।

सूत्रम्—नो कप्पइ निग्गंथीए एगाणियाए राओ वा वियाले वा वहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा। कप्पइ से अप्पविइयाए वा अप्पतइयाए वा अप्पचउत्थीए वा राओ वा वियाले वा वहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा ॥ सू० ४८ ॥

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थ्या एकाकिन्या रात्रौ वा विकाले वा बहिर्विचारभूमिं वा विहारभूमिं वा निष्क्रमितुं वा प्रवेष्टुं वा कल्पते तस्या आत्मद्वितीयाया वा आत्मतृतीयाया वा आत्मचतुर्थ्या वा रात्रौ वा विकाले वा वहिर्विचारभूमिं वा विहारभूमिं वा निष्क्रमितुं वा प्रवेष्टुं वा ॥ सू० ४८ ॥

चूर्णी—'नो कप्पइ' इति। इदं सूत्रं निर्ग्रन्थसूत्रवदेव व्याख्येयम्, नवरं निर्ग्रन्थसूत्रे निर्ग्रन्थस्य आत्मद्वितीयस्य आत्मतृतीयस्य रात्रौ वहिर्गमनं कल्पते इति प्रोक्तम्, अत्र तु निर्ग्रन्थीसूत्रे आत्मचतुर्थ्या वा रात्रौ बहिर्गतुं कल्पते, इति प्रोक्तम्, एतावानेव विशेषः शेषं पूर्वसूत्रवदेवेति। निर्ग्रन्थ्या रात्रौ एकाकिन्या बहिर्गमनेऽनेके दोषाः संयमात्मविराधनादिकाः संभवेयुः, तथाहि—एकाकिनीं वहिर्गतां दृष्ट्वा लम्पटः कोऽपि पुरुष उपसर्गयेत्, तत्प्रार्थनायां स्वमनो वा भिद्यते 'कोऽत्र मां पश्यती' ति कृत्वा तमनुमोदते, इत्यादिरूपेण संयमविराधना। आत्मविराधना प्रायः पूर्वोक्तैव रात्रौ गर्त्तादौ प्रपतेत्, मूर्छिता वा भवेत्, इत्यादिकाऽऽत्मविराधना भवति, अतो निर्ग्रन्थ्या एकया द्वाभ्यां तिसृभिश्च सहितया रात्रौ बहिर्गन्तव्यम्, किन्तु नैकाकिन्या रात्रौ वहिर्गन्तव्यम्, एकाकिन्या रात्रौ वहिर्गमने आज्ञाभङ्गानवस्थामिथ्यात्वादयोऽनेके दोषाः समापद्येरन्निति ॥ सू० ४८ ॥

पूर्वं निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां च रात्रौ वहिर्गमनविधिः प्रत्येकं पृथक्पृथक्त्वेन प्रतिपादितः, साम्प्रतं गमनप्रसङ्गात् निर्ग्रन्थनिर्ग्रन्थीनां समुच्चयेनाऽऽर्यदेशान् प्रदर्शयन् विहरणविधिमाह—'कप्पइ० पुरत्थिमेणं' इत्यादि ।

सूत्रम्—कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पुरत्थिमेणं जाव अंगमगहाओ एत्तए, दक्खिणेणं जाव कोसंबीओ, पच्चत्थिमेणं जाव थूणाविसयाओ, उत्तरेणं जाव कुणालाविसयाओ एत्तए, एतावताव कप्पइ, एतावताव आरिए खेत्ते, णो से कप्पइ एत्तो बाहिं । तेण परं जत्थ नाणदंसणचरित्ताइं उस्सप्पंति–त्ति बेमि ॥ सू० ४९ ॥

छाया–कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा पौरस्त्ये यावत् अङ्गमगधान् एतुम्, दक्षिणे यावत् कौशाम्बीः, पाश्चात्ये यावत् स्थूणाविषयान्, उत्तरे यावत् कुणालाविषयान् एतुम्, एतावत्तावत् कल्पते, एतावत्तावद् आर्यं क्षेत्रम् । नो तेषां (तासां वा) कल्पते एतस्माद् बहिः । ततः परं यत्र ज्ञानदर्शनचारित्राणि उत्सर्पन्ति–इति ब्रवीमि ॥ सू० ४९ ॥

चूर्णी—'कप्पइ' इति । निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा द्वयानां **'पुरत्थिमेणं'** पौरस्त्ये पूर्वदिशायां यावत् अङ्गमगधान् अङ्गजनपदं–मगधजनपद चावधीकृत्य अङ्गमगधदेशपर्यन्तमित्यर्थः । एतुं विहर्तुं कल्पते । तत्र चम्पाप्रान्तसम्बद्धो जनपदः अङ्गपदेन प्रोच्यते, राजगृहसम्बद्धश्च जनपदो मगधशब्देन प्रोच्यते । अत्र सूत्रे बहुवचनं तद्गतानेकापान्तरालजनपदविवक्षया बोध्यम्, एवमग्रेऽपि। **'दक्खिणेणं'** दक्षिणस्यां दिशि यावत् कौशाम्बीः, कौशाम्बीति कौशाम्बीनगर्युपलक्षितो जनपदः कौशाम्बीशब्देन प्रोच्यते इति कौशाम्बीसम्बद्धदेशपर्यन्तम् एतुं कल्पते, इति सर्वत्र संबध्यते । **'पच्चत्थिमेणं'** पाश्चात्ये पश्चिमदिशायां यावत् स्थूणाविषयान् स्थूणादेशपर्यन्तम् एतुं कल्पते । **'उत्तरेणं'** उत्तरस्यां दिशि यावत् कुणालाविषयान् कुणालादेशपर्यन्तम् एतुं कल्पते । एतावत्तावत् चतुर्दिक्षु पूर्वोक्तजनपदपर्यन्तमेव निर्ग्रन्थनिर्ग्रन्थीनां विहर्तुं कल्पते । तत्र कारणमाह—**'एतावताव'** एतावत्प्रमाणमेव आर्यक्षेत्रम्, अत्र तीर्थंकरादिमहापुरुषजन्मभूमित्वेन लोका धर्मिष्ठाः सन्ति तेन निर्ग्रन्थनिर्ग्रन्थीनां ज्ञानदर्शनचारित्राणामाराधना सम्यक् कर्तुं शक्यतेऽत एतावत्येव आर्यक्षेत्रे निर्ग्रन्थनिर्ग्रन्थीभिर्विहर्तव्यमिति भगवता समुपदिष्टम् । आर्यक्षेत्राद्बहिर्विहरणे निषेधमाह—**'नो से कप्पइ'** इति । 'से' इति तेषां निर्ग्रन्थानां तासां निर्ग्रन्थीनां वा नो कल्पते एतस्मात् क्षेत्राद् बहिर्विहर्तुम् । ज्ञानादिलाभार्थमपवादमाह—**'तेण परं'** इति, ततः पूर्वोक्तमर्यादितार्यक्षेत्रात् परम्–अग्रे अनार्यदेशेऽपि यत्र ज्ञानदर्शनचारित्राणि उत्सर्पन्ति वृद्धिमासादयन्ति तत्र विहर्तुं कल्पते, यदि पूर्वोक्तार्यक्षेत्राद्बहिः कारणवशात् श्रुतस्थविरास्तत्क्षेत्रेऽपि तत्क्षेत्रगतजनानां सुलभबोधित्वप्राप्तिबुद्ध्या गता भवेयुः, ते च पश्चात् जङ्घाबलक्षीणत्वेन तत्रैव स्थिरवासे स्थिता भवेयुस्तेषां पार्श्वे ज्ञान-

दर्शनचारित्रवृद्धिसंभवः, इति बुद्धया यथावसरं तत्रापि श्रमणश्रमणीनां गन्तुं कल्पते, इत्यपवाद-पदसंक्षेपार्थः। सुधर्मा स्वामी उपसंहरति-'त्ति बेमि' इति, यथा भगवन्मुखात् श्रुतं तथैव ब्रवीमि--कथयामि न तु स्वबुद्धयेति ॥ सू० ४९॥

इति श्री-विश्वविख्यात-जगद्वल्लभ-प्रसिद्धवाचक-पञ्चदशभाषाकलितललितकलापालापक-प्रविशुद्धगद्यपद्यनैकग्रन्थनिर्मापक-वादिमानमर्दक-श्रीशाहूछत्रपतिकोल्हापुरराजप्रदत्त-"जैनाचार्य"-पदभूषित-कोल्हापुरराजगुरु-बालब्रह्मचारि-जैनाचार्य-जैन-धर्म-दिवाकर-पूज्यश्री-घासीलालव्रतिविरचितायां "बृहत्कल्पसूत्रस्य" चूर्णि-भाष्या-ऽवचूरीरूपायां व्याख्यायां

प्रथमोद्देशकः समाप्तः ॥१॥

। अथ द्वितीयोद्देशकः ।

अथास्य द्वितीयोद्देशकादिसूत्रस्य प्रथमोद्देशकस्यान्तिमसूत्रेण सह कः सम्बन्धः ? इत्यत्राह— भाष्यकारः—'पुव्वं' इत्यादि ।

भाष्यम्—पुव्वं आरियविसया, वुत्ता साहूण गमणपाउग्गा ।
तत्थ निवासविही इह, दरिसिज्जइ एस संबंधो ॥१॥

छाया —पूर्वम् आर्यविषयाः, प्रोक्ताः साधूनां गमनप्रायोग्याः ।
तत्र निवासविधिरिह, दर्श्यते एष सम्बन्धः ॥१॥

अवचूरी—'पुव्वं' इति । पूर्वम्-प्रथमोद्देशकस्यान्तिमसूत्रे आर्यविषयाः आर्यदेशाः साधूनां गमनप्रायोग्याः विहरणयोग्याः प्रोक्ताः, तत्र आर्यदेशेषु विहरतां मुनीनां कीदृशे उपाश्रये वस्तव्यम् ? इति उपाश्रयनिवासविधिः इह—अस्य द्वितीयोद्देशकस्य प्रथमे सूत्रे दर्श्यते । एष पूर्वोद्देशकान्तिमसूत्रेण सह अस्यादिसूत्रस्य सम्बन्धो वर्त्तते ॥१॥

इत्यनेन सम्बन्धेनायातेऽस्मिन् द्वितीयोद्देशके निर्ग्रन्थनिर्ग्रन्थीभिः कीदृशे उपाश्रये वस्तव्यमिति प्रदर्शयितुकामः सूत्रकारोऽस्मिन् विषये त्रीणि सूत्राणि वक्ष्यति, तत्र प्रथमं सचित्तप्रतिबद्धोपाश्रयवासप्रतिषेधसूत्रम् १, द्वितीयम्—ऋतुबद्धकालयोग्योपाश्रयवासविधिप्रतिपादकं सूत्रम् २, तृतीयं चातुर्मासयोग्योपाश्रयविधिप्रतिपादकं सूत्रम् ३ चेति त्रीणि सूत्राणि, तत्र प्रथमं सचित्तबीजप्रतिबद्धोपाश्रयनिवासनिषेधसूत्रमाह—'उवस्सयस्स' इत्यादि ।

सूत्रम्—उवस्सयस्स अंतो वगडाए सालीणि वा वीहीणि वा मुग्गाणि वा मासाणि वा तिलाणि वा कुलत्थाणि वा गोहूमाणि वा जवाणि वा जवजवाणि वा उक्खित्ताणि वा विक्खित्ताणि वा विइकिण्णाणि वा विप्पकिण्णाणि वा नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अहालंदमवि वत्थए ॥ सू० १ ॥

छाया—उपाश्रयस्य अन्तर्वगडायां शालयो वा व्रीहयो वा मुद्गा वा माषा वा तिला वा कुलत्था वा गोधूमा वा यवा वा, यवयवा वा उत्क्षिप्ता वा विक्षिप्ता वा व्यतिकीर्णा वा विप्रकीर्णा वा नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा यथालन्दमपि वस्तुम् ॥ सू०१ ॥

चूर्णी—'उवस्सयस्स' इति । पूर्वोक्तेषु आर्यक्षेत्रेषु विहरतां श्रमणानां ऋतुबद्धकाले चातुर्मासे वा यत्र उपाश्रये स्थितिः कर्त्तव्या भवेत् तस्य उपाश्रयस्य वगडायां 'वगडा' इति देशी शब्दः प्राङ्गणवाचकस्तेन वगडायामिति उपाश्रयस्य प्राङ्गणे शालयः शालिबीजानि, व्रीहयः ता एव शालिविशेषाः, मुद्गाः प्रसिद्धाः, माषाः 'उडद' इति प्रसिद्धाः, तिलाः, कुलत्थाः 'कुलथी' इति प्रसिद्धो धान्यविशेषस्तस्या बीजानि, गोधूमाः, यवाः, यवयवाः 'ज्वारी' इति प्रसिद्धाः, यवजातीयबीजानि वा, एतानि धान्यबीजानि यदि उपाश्रयप्राङ्गणे उत्क्षिप्तानि सामान्येन प्रसृतानि, विक्षिप्तानि

विशेषेण प्रसृतानि, व्यतिकीर्णानि सर्वत्र प्रसृतानि वा भवेयुस्तादृशे उपाश्रये निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा यथालन्दमपि—क्षणमात्रमपि, यथालन्दशब्दो देशीयोऽत्र क्षणमात्रवाचकः, यावता कालेन जलार्द्रा हस्तरेखा शुष्यति तावत्कालमपि तत्र वस्तुं नो कल्पते। तत्र वासे अप्रमत्तानामपि अकस्मात् सचित्तबीजसंघट्टनस्यावश्यम्भावात् ॥ सू० १॥

अथ तत्रापि ऋतुबद्धकालयोग्योपाश्रयविधिप्रतिपादकं द्वितीयं सूत्रमाह—'अह पुण' इत्यादि।

सूत्रम्—अह पुण एवं जाणिज्जा—(उवस्सयस्स अंतो वगडाए सालीणि वा०) नो उक्खित्ताइं नो विक्खित्ताइं नो विइकिण्णाइं नो विप्पकिण्णाइं (किन्तु) रासिकडाणि वा पुंजकडाणि वा भित्तिकडाणि वा कुलियाकडाणि वा लंछियाणि वा मुद्दियाणि वा पिहियाणि वा कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा हेमंतगिम्हासु वत्थए ॥ सू० २॥

छाया—अथ पुनरेवं जानीयात्-(उपाश्रयस्य अन्तर्वगडायां शालयो वा०) नो उत्क्षिप्ताः, नो विक्षिप्ताः, नो व्यतिकीर्णा, नो विप्रकीर्णाः, (किन्तु) राशीकृता वा, पुञ्जीकृता वा, भित्तिकृता वा, कुलिकाकृता वा, लाञ्छिता वा, मुद्रिता वा, पिहिता वा, कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा हेमन्तग्रीष्मेषु वस्तुम् ॥ सू० २॥

चूर्णी—'अह पुण' इति। तत्रार्यदेशे वस्तुमिच्छन्तो मुनयः अथ पुनरिति पूर्वसूत्रोक्तशाल्यादिबीजोत्क्षेपादिविपरीतमुपाश्रयं जानीयात्, अत्र पूर्वसूत्रोक्तपाठस्यानुवृत्तिः कर्त्तव्या, यथा उपाश्रयस्य वगडायां शालिबीजादीनि नो नैव उत्क्षिप्तानि विक्षिप्तानि व्यतिकीर्णानि किन्तु तानि तत्र वक्ष्यमाणप्रकारेण स्थितानि भवेयुः, यथा राशीकृतानि एकत्र राशिं कृत्वा स्थापितानि, पुञ्जीकृतानि—दीर्घगोलाकारराशिं कृत्वा स्थापितानि, भित्तिकृतानि—भित्तौ कृतानिष्टकादिरचितभित्तिनिश्रया स्थापितानि कुलिकाकृतानि मृत्पिण्डनिर्मितं कुड्याकारं स्थानं कुलिकोच्यते तत्रालीनानि कृत्वा स्थापितानि, लाञ्छितानि भस्मादिना चिन्हितानि, मुद्रितानि छगणमृत्तिकादिना अङ्कितानि आवृतानि, पिहितानि किलिञ्जकटादिना स्थाल्यादिना वा एवमेव स्थगयित्वा स्थापितानि भवेयुरत्रोपाश्रये तदा तत्र निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां हेमन्तग्रीष्मेषु ऋतुबद्धेषु अष्टसु मासेषु मध्ये स्वस्वकल्प्यकाले वस्तुं कल्पते। एतादृशप्रकारेण स्थितेषु शाल्यादिबीजेषु तत्र वसतां मुनीनां सचित्तसंघट्टनादिप्रसङ्गाभावात्। तत्रापि चातुर्मासकाले न कल्पते, चातुर्मासे बीजानां गृहस्थकृतनिस्सारणपुन.स्थापनयोर्भूयो भूयः प्रसङ्गेन सचित्तसंघट्टनादेरवश्यम्भावात् ॥ सू० २॥

अथ तत्रापि चातुर्मासयोग्योपाश्रयविधिप्रतिपादकं तृतीयं सूत्रमाह—'अह पुण' इत्यादि।

सूत्रम्—अह पुण एवं जाणिज्जा (उवस्सयस्स अंतो वगडाए सालीणि वा०) नो रासिकडाइं, नो पुंजकडाइं, नो भित्तिकडाइं, नो कुलियाकडाइं, (किन्तु)कोट्ठाउत्ताणि वा, पल्लाउत्ताणि वा, मंचाउत्ताणि वा, मालाउत्ताणि वा ओलित्ताणि वा लित्ताणि वा, पिहि-

याणि वा लंछियाणि वा, मुद्दियाणि वा कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा वासावासं वत्थए ॥ सू० ३ ॥

छाया—अथ पुनरेवं जानीयात् (उपाश्रयस्यान्तर्वगडायां शालयो वा०)नो राशीकृतानि वा नो पुञ्जीकृतानि नो भित्तिकृतानि नो कुलिकाकृतानि (किन्तु)कोष्ठागुप्तानि वा पल्यागुप्तानि वा, मञ्चागुप्तानि वा, मालागुप्तानि वा, अवलिप्तानि वा, लिप्तानि वा, पिहितानि वा, लाञ्छितानि वा, मुद्रितानि वा, कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा वर्षावासं वस्तुम् ॥ सू० ३ ॥

चूर्णी—'अह पुण' इति । चातुर्मासवस्तुकामो मुनिः अथ—पूर्वोक्तप्रकारादन्यथाप्रकारेण पुनरेवं जानीयात्, यथा—प्रथमसूत्रानुवृत्त्या उपाश्रयस्यान्तर्वगडायां शालिबीजानि वा, इत्यादिपूर्वोक्तानि बीजानि पूर्ववत् नो राशीकृतानि नो पुञ्जीकृतानि नो भित्तिकृतानि नो कुलिकाकृतानि, एतानि पदानि पूर्ववद् व्याख्येयानि, किन्तु तानि शाल्यादिबीजानि कोष्ठागुप्तानि—कोष्ठेषु—कुशूलेषु—'कोठी' इतिप्रसिद्धेषु प्रक्षिप्य आ—समन्ताद् गुप्तानि गोपितानि गुप्तीकृतानि अचक्षुर्विषयीकृतानि, पल्यागुप्तानि वा—पल्येषु काष्ठगोमयमृत्तिकालिप्तवंशदलादिनिर्मितधान्याधारपात्रविशेषेषु 'पल्ला'इति प्राचीनसमयप्रसिद्धेषु आगुप्तानि समन्ततो गुप्तीकृतानि, मञ्चागुप्तानि वा—मञ्चेषु स्तम्भोपरि मृत्तिकागोमयलिप्तवंशदलादिना निर्मितेषु गोलाकारेषु उपर्याच्छादनसहितेषु धान्याधारविशेषेषु प्रक्षिप्य गुप्तीकृतानि, मालागुप्तानि वा—मालेषु गृहस्योपरि द्वितीयभूमितलगतेषु स्थानेषु प्रक्षिप्य गुप्तीकृतानि भवेयुः, तान्यपि अवलिप्तानि तद्द्वारदेशं काष्ठपट्टादिना पिधाय गोमयमृत्तिकादिना कृतोपलेपानि, लिप्तानि विशेषेण सर्वान्तः खरण्टितानि, पिहितानि तन्मुखाकारसमीचीनाच्छादकेन सम्यक्तया गुप्तीकृतानि, लाञ्छितानि—रेखाऽक्षरादिकरणेन चिह्नितानि, मुद्रितानि—मृत्तिकादिना तद्गतच्छिद्राणि विलिप्य कृतमुद्रायुक्तानि भवेयुस्तस्मिन्, एवंविधे उपाश्रये निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा वर्षावासं चातुर्मासं वस्तुं कल्पते । एवप्रकारेण स्थापितानि शालिबीजादीनि चातुर्मासे नोद्घाटयन्ते तेन तत्र वसतां श्रमणानां सचित्तबीजादिसङ्घट्टनाशङ्काया अभावादिति ॥ सू० ३ ॥

पूर्वं सचित्तप्रतिबद्धोपाश्रयनिवासनिषेधः, ऋतुबद्धचातुर्मासयोग्योपाश्रयनिवासविधिश्च प्रदर्शितः, साम्प्रतं सुराविकटकुम्भादिप्रतिबद्धोपाश्रयनिवासे सापवादं विधिं प्रदर्शयन्नाह '**उवस्सयस्स ....सुरावियडकुंभे**' इत्यादि ।

सूत्रम्—उवस्सयस्स अंतो वगडाए सुरावियडकुंभे वा, सोवीरवियडकुंभे वा, उवनिक्खित्ते सिया, नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अहालंदमवि वत्थए, हुरत्था य उवस्सयं पडिलेहमाणे नो लभेज्जा एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए, जे तत्थ एगरायाओ वा दुरायाओ वा परं वसइ से संतरा छेए वा परिहारे वा ॥ सू० ४ ॥

छाया—उपाश्रयस्य अन्तर्वगडायां सुराविकटकुम्भो वा सौवीरविकटकुम्भो वा उपनिक्षिप्तः स्यात्, नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा यथालन्दमपि वस्तुम्, हुरत्था

च उपाश्रयं प्रतिलिखन् नो लभेत एवं तस्य कल्पते एकरात्रं वा द्विरात्रं वा वस्तुम्, यस्तत्र एकरात्राद् वा द्विरात्राद् वा परं वसति तस्य स्वान्तरात् छेदो वा परिहारो वा ॥ सू० ४ ॥

चूर्णी—'**उवस्सयस्स**' इति। उपाश्रयस्यान्तर्वगडायां सुराविकटकुम्भो वा सुराविकटस्य पिष्ट-निष्पन्नमद्यस्य कुम्भो घटो वा, सौवीरविकटस्य—पिष्टवर्जित गुडादिनिष्पन्नमद्यस्य कुम्भो घटो वा उपनिक्षिप्तः स्यात् स्थापितो भवेत् तदा तत्र निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा यथालन्दमपि—क्षणमात्रमपि आर्द्रहस्तरेखापरिशोषणकालमात्रमपि वस्तुं नो कल्पते। इत्युत्सर्गसूत्रम्। अथापवादमाह—'**हुरत्था**' इति देशी शब्दः बहिरर्थप्रतिपादकस्तेन बहिश्च तादृशोपाश्रयाद् बहिरन्यं च उपाश्रयं प्रतिलिखन् शोधयन् यदि नो लभेत तत्र ग्रामनगरादौ निर्दोषोपाश्रयं न प्राप्नुयात् तदा एवम्—एतादृश्यां परिस्थितौ सत्यां 'से' तस्य अत्र निर्ग्रन्थजातित्वेन एकवचनम्, कल्पते तथाविधेऽपि उपाश्रये एकरात्रं वा द्विरात्रं वा अत्र रात्रपदेन अहोरात्रं गृह्यते तेन एकाहोरात्रं वा द्व्यहोरात्रं वा वस्तुम्। किन्तु 'जे' यः कोपि साधुः तत्र तादृशे उपाश्रये एकरात्राद्वा द्विरात्राद्वा परम्—अधिकं त्रिचतूरात्रादिकं यावत् वसति '**से**' तस्य '**संतरा**' स्वान्तरात् स्वकृतं यद् अन्तरं भगवदुक्तैकद्विरात्रतो भेदः त्रिचतूरात्रादिकालावस्थान-रूपः तस्मात्, भगवदाज्ञाभेदकरणात् भगवदाज्ञाऽनाराधनादित्यर्थः छेदो वा छेदः पञ्चरात्रिन्दि-वादिः, परिहारो वा मासलघुकादिस्तपोविशेषो वा आपद्यते इति ॥ सू० ४ ॥

पूर्वसूत्रे सुराविकटादिप्रतिबद्धोपाश्रयवासस्य निषेधः, सापवादं विधिश्च प्रदर्शितः, साम्प्रतं पूर्ववदेव उदकविकटादिप्रतिबद्धोपाश्रयस्य निषेधं सापवादं विधिं च प्रदर्शयति—'**उवस्सयस्स**, इत्यादि।

सूत्रम्—उवस्सयस्स अंतो वगडाए सीओदगवियडकुंभे वा उसिणोदगवियड-कुंभे वा उवनिक्खित्ते सिया, नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अहालंदमपि वत्थए। हुरत्था य उवस्सयं पडिलेहमाणे नो लभेज्जा एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए, जे तत्थ एगरायाओ वा दुरायाओ वा परं वसइ से संतरा छेए वा परिहारे वा ॥ सू० ५ ॥

छाया—उपाश्रयस्य अन्तर्वगडायां शीतोदकविकटकुम्भो वा उष्णोदकविकटकुम्भो वा उपनिक्षिप्तः स्यात् नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा यथालन्दमपि वस्तुम्, हुरत्था च उपाश्रयं प्रतिलिखन् नो लभेत एवं तस्य कल्पते एकरात्रं वा द्विरात्रं वा वस्तुम्, यस्तत्र एकरात्राद्वा द्विरात्राद्वा परं वसति तस्य स्वान्तरात् छेदो वा परिहारो वा ॥ सू० ५ ॥

चूर्णी—'**उवस्सयस्स**' इति। अस्य सूत्रस्य व्याख्या सुराविकटकुम्भसूत्रवदेव ज्ञातव्या, नवरं—विशेष एतावानेव यत् अत्र '**सीओदगवियडकुंभे वा उसिणोदगवियडकुंभे वा**' इति वाच्यम् अत्रायमर्थः—शीतोदकविकृतकुम्भः शीतोदकं च तद् विकृत च स्ववर्णादिना ध्वस्तं शीतोदकविकृतं विकृतशीतोदकं, तस्य कुम्भो घटः, एवम् उष्णोदकविकृतकुम्भः—उष्णोदकं च तद् विकृतं च उष्णोदकविकृतं विकृतोष्णोदकं तस्य कुम्भो घटो यत्रोपाश्रये उपनिक्षिप्तो भवेत्। शेषं सर्वं पूर्व-वदिति ॥ सू० ५ ॥

साम्प्रतमग्निकायप्रतिबद्धोपाश्रयसूत्रमाह–'**उवस्सयस्स० सव्वराईए**' इत्यादि ।

सूत्रम्–उवस्सयस्स अंतो वगडाए सव्वराईए जोई झियाएज्जा नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अहालंदमवि वत्थए, हुरत्था य उवस्सयं पडिलेहमाणे नो लभेज्जा एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए, जे तत्थ एगरायाओ वा दुरायाओ वा परं वसइ से संतरा छेए वा परिहारे वा ॥ सू०६ ॥

छाया—उपाश्रयस्य अन्तर्वगडायां सार्वरात्रिकं ज्योतिः ध्मायेत् नो कल्पते, निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा यथालन्दमपि वस्तुम्, हुरत्था च उपाश्रयं प्रतिलिखन् नो लभेत एवं तस्य कल्पते एकरात्रं वा द्विरात्रं वा वस्तुम्, यस्तत्र एकरात्राद्वा द्विरात्राद्वा परं वसति तस्य स्वान्तरात् छेदो वा परिहारो वा ॥ सू० ६ ॥

चूर्णी–'उवस्सयस्स' इति । इदमपि सूत्रं सुराविकटकुम्भसूत्रवदेव व्याख्येयम्, विशेषस्त्वयम्-अत्र **सव्वराईए जोई झियाएज्जा** इति वाच्यम्, तस्यायमर्थः–सार्वरात्रिकं-परिपूर्णरात्रिव्यापकं ज्योतिः अग्निकायः ध्मायेत् प्रज्वलेत्, शेषं पूर्ववत् । साधूनामत्र वासे यत्राग्निकायविराधना तत्र षट्कायविराधना स्यादतः षट्कायविराधनादोष आपद्येत । अन्योपाश्रयालाभे एकद्विरात्रं वस्तुं कल्पते इति कारणजातेऽपवादः ॥ सू०६ ॥

अथ प्रदीपप्रतिबद्धोपाश्रयसूत्रमाह–'**उवस्सयस्स० पईवे**' इत्यादि ॥

सूत्रम्–उवस्सयस्स अंतो वगडाए सव्वराईए पईवे पईवेज्जा नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अहालंदमवि वत्थए, हुरत्था य उवस्सयं पडिलेहमाणे नो लभेज्जा एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए, जे तत्थ एगरायाओ वा दुरायाओ वा परं वसइ से संतरा छेए वा परिहारे वा ॥ सू०७ ॥

छाया—उपाश्रयस्यान्तर्वगडायां सार्वरात्रिकः प्रदीप प्रदीप्येत, नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा यथालन्दमपि वस्तुम्, हुरत्था च उपाश्रय प्रतिलिखन् नो लभेत एवं तस्य कल्पते एकरात्रं वा द्विरात्रं वा वस्तुम्, यस्तत्र एकरात्राद्वा द्विरात्राद्वा परं वसति तस्य स्वान्तरात् छेदो वा परिहारो वा ॥ सू०७ ॥

चूर्णी—'उवस्सयस्स' इति । इद प्रदीपसूत्रमपि सुराविकटकुम्भसूत्रवदेव व्याख्येयम्, विशेषस्त्वयम्–'**सव्वराईए**' सार्वरात्रिकः परिपूर्णरात्रिव्यापकः संपूर्णरात्रिं यावत् प्रदीपः तैलप्रदीपो विद्युत्प्रदीपो वा दीप्येत प्रज्वलेत् तदा तत्र यथालन्दमपि निर्ग्रन्थनिर्ग्रन्थीनां वस्तुं न कल्पते अन्योपाश्रयाभावे एकद्विरात्रं तत्र वस्तुं कल्पते, इत्यादि पूर्ववद् व्याख्या कर्त्तव्येति । अग्न्यारम्भे साधूनां वस्तुं न कल्पते तत्र पूर्ववदेव षट्कायविराधनादयो दोषाः संभवेयुः दीपेषु पततां पतङ्गादिप्राणिनां विराधनासंभवः, उपध्यादिषु तेषां पतनात् साधुशरीरेणापि विराधना स्यात्, इत्यादिदोषसंघातसंभवात्, अपवादे अन्योपाश्रयालाभे एकद्विरात्रं कल्पतेऽपि, इति सूत्राशयः ॥ सू०७ ॥

पूर्वं सार्वरात्रिकप्रदीपप्रतिबद्धोपाश्रये निर्ग्रन्थनिर्ग्रन्थीभिर्न स्थातव्यमिति प्रोक्तम्, साम्प्रतं पिण्डादिप्रतिबद्धोपाश्रयविषये त्रीणि सूत्राणि वक्ष्यति, तत्र प्रथमं पिण्डादिप्रतिबद्धोपाश्रय-निवासप्रतिषेधसूत्रम् १, द्वितीयं ऋतुबद्धकालयोग्योपाश्रयनिवासविधिप्रतिपादकं सूत्रम् २, तृतीयं चातुर्मासयोग्योपाश्रयनिवासविधिप्रतिपादकं सूत्रं ३ चेति, तत्र प्रथमं पिण्डादिप्रतिबद्धोपाश्रयनिवास-निषेधसूत्रमाह-'**उवस्सयस्स**' इत्यादि ।

सूत्रम्—उवस्सयस्स अंतो वगडाए पिंडए वा लोयए वा खीरे वा दहिं वा णवणीए वा सप्पि वा तेल्ले वा फाणिए वा पूवे वा सक्कुली वा सिहरिणी वा उक्खि-त्ताणि वा विक्खित्ताणि वा विइक्किण्णाणि वा विप्पइण्णाणि वा नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अहालंदमवि वत्थए ॥ सू० ८ ॥

छाया—उपाश्रयस्य अन्तर्वगडायां पिण्डको वा लोचकं वा क्षीरं वा दधि वा नवनीतं वा सर्पिर्वा तैलं वा फाणितं वा अपूपो वा शष्कुली वा शिखरिणी वा उत्क्षि-प्तानि वा विक्षिप्तानि वा व्यतिकीर्णानि वा विप्रकीर्णानि वा नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा यथालन्दमपि वस्तुम् ॥ सू० ८ ॥

चूर्णी—'**उवस्सयस्स**' इति । उपाश्रयस्य अन्तर्वगडायां पिण्डको वा पिण्डस्तावत् विशिष्ट-स्वादुरससंपादितः गोलाकारो मोदकादिपदार्थः, अथवा गुडघृतशर्करादिवस्तुना पिण्डितो हस्ते ग्रहण-योग्यः पदार्थः पिण्ड उच्यते, स पिण्डकः, लोचकं दुग्धादिविकृतिनिष्पन्नं भोज्यवस्तुजातम्, अथवा 'मावा' इति प्रसिद्धं खाद्यवस्तुजातं लोचकं कथ्यते, यस्य ग्रहणे हस्तौ खरण्टचेते तत्, क्षीरं वा दुग्धम्, दधि वा, नवनीतं म्रक्षणं '**मक्खन**' इति प्रसिद्धम् सर्पिः—घृतं वा, तैलं वा, फाणितं द्रवितगुडरूपं गुडस्य-पूर्वरूपं वा, पूप.—अपूपः 'मालपूआ'-पदवाच्यो वा, शष्कुली 'पुडी' इति प्रसिद्धा शिखरिणी शर्करायुक्त-दधिविकृतिरूपा शिखण्डपदवाच्या वा, एतानि आर्द्रशुष्करूपाणि भक्ष्याणि यदि उत्क्षिप्तानि विक्षिप्तानि व्यतिकीर्णानि विप्रकीर्णानि इतस्ततः प्रसृतानीत्यर्थः, एषां प्रत्येकपदानां पृथक् पृथग् व्याख्या शालिबी-जसूत्रे गता तत्रतोऽवसेया, तदा निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा ऋतुबद्धकाले वा चातुर्मासे वा कस्मिंश्चि-दपि काले यथालन्दमपि क्षणमात्रमपि आर्द्रहस्तरेखाशोषणकालमात्रमपि तत्र वस्तुं न कल्पते । तत्र वासे गमनागमनेन वस्तुविनाशसंभवस्तेन तदधिपतेर्मनसि साधुं प्रति दुर्भावो जायते, लोके साधोस्तद्गत-पदार्थलोलुपता लक्ष्यते बालग्लानसाधूनां तद्भक्षणाकाङ्क्षाऽपि संभवेत्, इत्यादिदोषसंभवात्-निर्ग्रन्थनिर्ग्रन्थीभिः क्षणमात्रमपि न तिष्ठेदिति भावः ॥ सू० ८ ॥

अथ तत्रापि ऋतुबद्धकालयोग्योपाश्रयवासविधिप्रतिपादकं द्वितीयं सूत्रमाह—'**अह पुण**' इत्यादि ।

सूत्रम्—अह पुण एवं जाणेज्जा—(उवस्सयस्स अंतो वगडाए पिंडए वा०) नो उक्खित्ताइं वा, नो विक्खित्ताइं वा नो विइकिण्णाइं वा नो विप्पकिण्णाइं वा (किन्तु) रासि-

कडाणि वा पुंजकडाणि वा भित्तिकडाणि वा कुलियाकडाणि वा लंछियाणि वा मुद्दियाणि वा पिहियाणि वा कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा हेमंतगिम्हासु वत्थए ।। सू०९ ।।

छाया—अथ पुनरेवं जानीयात् (उपाश्रयस्य अन्तर्वगडायां पिण्डको वा०) नो उत्क्षिप्तानि वा नो विक्षिप्तानि वा नो व्यतिकीर्णानि वा नो विप्रकीर्णानि वा (किन्तु) राशीकृतानि वा पुञ्जीकृतानि वा भित्तिकृतानि वा कुलिकाकृतानि वा लाञ्छितानि वा मुद्रितानि वा पिहितानि वा कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा हेमन्तग्रीष्मेषु वस्तुम् ।।

चूर्णी—'अह पुण' इति । अथ पूर्वप्रदर्शिताद् अन्यथा पुनः साधुर्जानीयात् उपाश्रयान्तर्वगडायां पिण्डकादीनि खाद्यवस्तूनि नो उत्क्षिप्तानि, इत्यादिपदानां व्याख्या पूर्ववत्, एवंप्रकारेण पूर्वोक्तपिण्डकादिवस्तूनि स्थापितानि भवेयुस्तदा हेमन्तग्रीष्मेषु अष्टमासात्मकेषु यथाकल्पकालं यावत् निर्ग्रन्थनिर्ग्रन्थीनां तत्र वस्तुं कल्पते तत्र पूर्वोक्तदोषासभवात् ।। सू०९ ।।

अथ तत्रापि चातुर्मासनिवासयोग्योपाश्रयनिवासविधिप्रतिपाऽदकं तृतीयसूत्रमाह—'अह पुण' इत्यादि ।

सूत्रम्—अह पुण एवं जाणेज्जा (उवस्सयस्स अंतो वगडाए पिंडए वा०) नो रासिकडाणि वा नो पुंजकडाणि वा नो भित्तिकडाणि वा नो कुलियाकडाणि वा कोट्ठाउत्ताणि वा पल्लाउत्ताणि वा मंचाउत्ताणि वा मालाउत्ताणि वा ओलित्ताणि वा विलित्ताणि वा लंछियाणि वा मुद्दियाणि वा पिहियाणि वा, कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा वासावासं वत्थए ।। सू० १० ।।

छाया—अथ पुनरेवं जानीयात् (उपाश्रयस्य अन्तर्वगडायां पिण्डको वा०) नो राशीकृतानि वा नो पुञ्जीकृतानि वा नो भित्तिकृतानि वा नो कुलिकाकृतानि वा कोष्ठागुप्तानि वा पल्यागुप्तानि वा मञ्चागुप्तानि वा मालागुप्तानि वा अवलिप्तानि वा विलिप्तानि वा लाञ्छितानि वा मुद्रितानि वा पिहितानि वा कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा वर्षावासं वस्तुम् ।। सू १० ।।

चूर्णी—'अह पुण' इति । अथ तत्र चातुर्मासं वस्तुकामो मुनिर्यदि एवं वक्ष्यमाणप्रकारेण जानीयात्, किं जानीयादित्याह—पिण्डकादारम्य शिखरिणीपर्यन्तानि भक्ष्यद्रव्याणि 'नो राशीकृतानि इत्यादीनि पिहितानि वा' इति पर्यन्तानि पदानि शालिबीजप्रकरणगततृतीयसूत्रवद् व्याख्येयानि, एवंविधो यदि उपाश्रयो भवेत् तदा तत्र निर्ग्रन्थनिर्ग्रन्थीनां वर्षावासे चातुर्मासं वस्तुं कल्पते, पूर्वोक्तप्रकारेण रक्षितानां पिण्डकादिभक्ष्यपदार्थानां भूयो भूयो निष्कासनस्थापनाद्यभावेन दोषाभावादिति ।। सू० १० ।।

पूर्वं निर्ग्रन्थनिर्ग्रन्थीनां सामान्यतः सदोषा उपाश्रयाः प्रतिपादिताः, साम्प्रतं केवलं निर्ग्रन्थीनां शेषकालवासे सदोषस्थानानि निषेधयितुमाह —'**नो कप्पइ० अहे आगमणगिहंसि**' इत्यादि ॥

सूत्रम्—नो कप्पइ निग्गंथीणं अहे आगमणगिहंसि वा वियडगिहंसि वा वंसीमूलंसि वा रुक्खमूलंसि वा अब्भावगासियंसि वा वत्थए ॥ सू० ११ ॥

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थीनां अधः आगमनगृहे वा विवृतगृहे वा, वंशीमूले वा वृक्षमूले वा अभ्रावकाशिके वा वस्तुम् ॥ सू० ११ ॥

चूर्णी—'**नो कप्पइ**' इति । निर्ग्रन्थीनां, 'अध' शब्दोऽत्र मध्यार्थक. 'अध.' इत्यर्थकोऽपि वा, तेन 'अधआगमनगृहे' इति आगमनगृहमध्ये इत्यर्थः, अधः—शब्दस्य सर्वत्र सम्बन्धः कार्यः, तत्र आगमनगृहे पथिकादीनां ग्रामाद् ग्रामान्तरे गमनागमनं कुर्वतां निवासार्थं यद् गृहं तस्मिन् पथिकनिवासस्थाने इत्यर्थः, अधोविवृतगृहे वा विवृतम् चतुर्दिक्षु आवरणवर्जितम् उपर्याच्छादितं यद् गृहं तद् विवृतगृहं, तस्मिन् तन्मध्ये अधोवंशीमूले वा वंशीमूलं तावद् गृहाद्बहिर्वंशदलनिर्मितं गृहम् तस्मिन्, गृहाद्बहिः, प्राघूर्णकादिसर्वसाधारणजनोपवेशनस्थानमध्ये इत्यर्थः, अधोवृक्षमूले वा वटपिप्पलादिवृक्षतले, अभ्रावकाशिके—अभ्रस्य आकाशस्य अवकाशः प्रचुरतया यत्र तत् अभ्रावकाशिकं, तस्मिन् अल्पाच्छादिताधिकानाच्छादितगृहमध्ये आकाशबहुलस्थानमध्ये इत्यर्थ, एतादृशे गृहे साध्वीनां वस्तुं नो कल्पते, तस्य सागारिकनिश्राराहित्यात् सर्वसाधारणजनानां गमनागमनेनोच्चारप्रस्रवणादिपरिष्ठापने आहारादिकरणे च लोकानां दृष्टिपातादिभावात्, स्त्रीशरीरत्वेन ब्रह्मव्रते उपसर्गसंभवाच्चेति ॥ सू० ११ ॥

पूर्वं निर्ग्रन्थीनामागमनगृहादिषु वासो निषिद्धः, साम्प्रतं निर्ग्रन्थानामत्र कल्पते इति तद्विषये निर्ग्रन्थसूत्रमाह—'**कप्पइ**' इत्यादि ॥

सूत्रम्—कप्पइ निग्गंथाणं अहे आगमणगिहंसि वा वियडगिहंसि वा वंसीमूलंसि वा रुक्खमूलंसि वा अब्भावगासियंसि वा वत्थए ॥ सू० १२ ॥

छाया —कल्पते निर्ग्रन्थानां अधः आगमनगृहे वा विवृतगृहे वा वंशीमूले वा वृक्षमूले वा अभ्रावकाशिके वा वस्तुम् ॥ सू० १२ ॥

चूर्णी—'**कप्पइ**' इति । पूर्वोक्तेषु आगमनगृहादिषु निर्ग्रन्थानां कल्पते, इति सूत्रार्थः । पुरुषशरीरत्वेन साधूनां तद्दोषानापातात् । आपवादिकमिदं सूत्रम्-यत् अन्योपाश्रयाभावेऽल्पकालार्थं कल्पते, नतु शेषकाले मासकल्पं यावत् चातुर्मासं यावद्वेति भावः ॥ सू० १२ ॥

पूर्वं निर्ग्रन्थानामागमनगृहादिषु वासो विहितः, स च शय्यातरमाश्रित्य भवतीति तत्प्रसङ्गात् शय्यातरवक्तव्यतां प्रस्तौति, तत्र प्रथमम् अनेकशय्यातरेषु एकं शय्यातरं कुर्यादिति प्रतिपादयितुमाह—'**एगे**' इत्यादि ।

सूत्रम्—एगे सागारिए पारिहारिए, दो तिन्नि चत्तारि पंच सागारिया पारिहारिया, एगं तत्थ कप्पागं ठवित्ता अवसेसे निव्विसेज्जा ॥ सू०१३ ॥

छाया—एकः सागारिकः पारिहारिकः द्वौ त्रयः चत्वारः पंच सागारिकाः, एकं तत्र कल्पकं कृत्वा शेषान् निर्विशेत् ॥ सू० १३ ॥

चूर्णी—'एगे' इति । सागारिकः अगारेण गृहेण सहितः सागारः, स एव सागारिकः गृहस्वामी शय्यातर इत्यर्थः । शय्यातर. इति कोऽर्थः ? शय्यां साधुभ्यो वसतिं दत्त्वा तरति संसारसागरं पारयति यः स शय्यातरः, अथवा शय्यायाः—वसतेर्दानेन भवपरंपरारूपं ससारप्रवाहं तरति योऽसौ शय्यातरः कथ्यते । अत्र शिष्यप्रश्नः—स एकः सागारिकः पारिहारिकः परिहारं परित्यागं अर्हतीति पारिहारिकः भिक्षादिग्रहणपरिहारयोग्यो भवति, तथैव द्वौ त्रयः चत्वारः पञ्च वाऽपि पारिहारिका भिक्षादिपरिहरणयोग्या भवन्ति किम् ? आचार्यस्तत्र विधिमाह—य उपाश्रयो दायादभागमिश्रो भवेत्, अथवा बहुजनसाधारणं देवकुलादिकं वा भवेत्, एवं यस्य स्थानस्य द्व्यादयः स्वामिनो भवेयुस्तत्र तेषु मध्ये एकं स्वामिनं कल्पकं शय्यातरकल्पयोग्यं शय्यातरत्वेन स्थापयित्वा तेष्वेकं शय्यातरं कृत्वा अवशेषान् अवशिष्टान् तदितरान् **निव्विसेज्जा**—निर्विशेत् विसर्जयेत्, शय्यातरत्वेन न गणयेत् । अथवा अवशेषान् शेषाणां गृहेषु इत्यर्थः **'निव्विसेज्जा'** निर्विशेत् प्रविशेत् अहारायर्थं तेषां गृहेषु अनुप्रविशेदिति भावः ॥ सू० १३ ॥

पूर्वसूत्रे एकः शय्यातरः कर्त्तव्य, इति प्रोक्तम्, साम्प्रतमत्रत आरभ्य शय्यातरपिण्डस्य निर्ग्रन्थनिर्ग्रन्थीसमुच्चयेन ग्रहणविषये विधिं प्रतिपादयितुमाह—**'नोकप्पइ० सागारियपिंडं'** इत्यादि ।

सूत्रम्—नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा सागारियपिंडं वहिया अनीहडं असंसट्ठं वा संसट्ठं वा पडिग्गाहित्तए ॥ सू०१४ ॥

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा सागारिकपिण्डं बहिः अनिर्हृतं असंसृष्टं वा संसृष्टं वा प्रतिग्रहीतुम् ॥ सू० १४ ॥

चूर्णी—'नो कप्पइ' इति । निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा द्वयानामपि सागारिकपिण्ड सागारिकस्य—यो गृहस्थ शय्यातरत्वेन स्थापितस्तस्य पिण्डम्—अशनादिक, यः, पिण्डः बहिः शय्यातरगृहाद बहि अनिर्हृत अनिस्सृत. अन्यगृहे न नीत. शय्यातरगृहे एव स्थितः सः असंसृष्टोवा शय्यातरेतरपिण्डेन अमिलितो वा, अथवा ससृष्टो वा मिलितो वा भवेत् तं तादृशं शय्यातरपिण्डं नो कल्पते प्रतिग्रहीतुम्, शय्यातरपिण्डग्रहणस्य शास्त्रे सर्वत्र निषिद्धत्वात् ॥ सू०१४ ॥

अथ शय्यातरपिण्डस्यान्यनिषेधविधिमाह—**'नो कप्पइ'** इत्यादि ।

सूत्रम्—नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा सागारियपिंडं वहिया नीहडं असंसट्ठं पडिगाहित्तए । कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा सागारियपिंडं वहिया नीहडं संसट्ठं पडिगाहित्तए ॥ सू०१५ ॥

छाया---नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा सागारिकपिण्डं बहिर्निर्हृतं असंसृष्टं प्रतिग्रहीतुम् । कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा सागारिकपिण्डं बहिर्निर्हृतं संसृष्टं प्रतिग्रहीतुम् ॥ सू० १५ ॥

चूर्णी—'नो कप्पइ' इति । शय्यातपिण्डः शय्यातरगृहाद् बहिस्तु निर्हृतः—निस्सृतः अन्यगृहे नीतो भवेत् किन्तु स तत्र असंसृष्टः अन्यदीयपिण्डेन असंमिलितः अन्यागृहीतत्वेन अन्यदीयपिण्डत्वं न प्राप्तः शय्यातरस्वत्वसहित एव भवेत्, तं पिण्डं प्रतिग्रहीतुं निर्ग्रन्थनिर्ग्रन्थीनां नो कल्पते शय्यातरस्वत्वेन अनिर्मुक्तत्वात् । तर्हि कथं कल्पते? इति कल्पविधिं दर्शयति—बहिर्निर्हृतः यदि शय्यातरगृहादन्यगृहे नीतः सन् स शय्यातरपिण्डः संसृष्टः अन्यदीयपिण्डेन संमिलितः अन्यदीयपिण्डत्वं प्राप्तः शय्यातरस्वत्वविनिर्मुक्तो भवेत् तदा तं तादृशं शय्यातरपिण्डं प्रतिग्रहीतुं निर्ग्रन्थनिर्ग्रन्थीनां कल्पते तस्य शय्यातरस्वत्वविनिर्मुक्तत्वात् ॥ सू० १५॥

अथ शय्यातरगृहविनिर्गतासंसृष्टपिण्डस्य संसृष्टकरणे प्रायश्चित्तं प्रदर्शयति -'जो खलु' इत्यादि ।

सूत्रम्--जो खलु निग्गंथो वा निग्गंथी वा सागारियपिंडं बहियानीहडं असंसट्ठं संसट्ठं करेइ, करेंतं वा साइज्जइ से दुहओ वीइक्कममाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ॥ सू० १६ ॥

छाया—यः खलु निर्ग्रन्थो वा निर्ग्रन्थी वा सागारिकपिण्डं बहिर्निर्हृतं असंसृष्टं संसृष्टं करोति, कुर्वन्तं वा स्वदते स द्विधातो व्यतिक्रामन् आपद्यते चातुर्मासिकं परिहारस्थानम् अनुद्घातिकम् ॥ सू० १६ ॥

चूर्णी—'जो खलु' इति । यः खलु कोऽपि रसनलोलुपी निर्ग्रन्थो वा तथा तादृशी निर्ग्रन्थी वा यदि सागारिकपिण्डं बहिर्निर्हृतम्—अन्यगृहे संप्राप्तम् किन्तु असंसृष्टम् अन्याशनादिना न मिलितम् । यस्य गृहे स पिण्डो नीतस्तेनास्वीकृतः शय्यातरस्वत्वसहित एव तं संसृष्टं अन्यगृहस्थस्वत्वसहितं शय्यातरस्वत्वविनिर्मुक्तं स्वहस्तेन तत्रागतं शय्यातरपिण्डं गृहीत्वा तद्गृहे स्थापयति । तेनाऽगृह्यमाणमपि गृहीतमनेनेति करोति, एवं कुर्वन्तं वा स्वदते अनुमोदते स एतादृशो निर्ग्रन्थः निर्ग्रन्थी वा द्विधातः—लौकिकलोकोत्तरेति द्विप्रकारतः लौकिकमर्यादां जिनशासनमर्यादां च व्यतिक्रामन् उल्लङ्घयन् आपद्यते प्राप्नोति चातुर्मासिकं चतुर्माससम्बन्धिकं परिहारस्थानं प्रायश्चित्तस्थानम् अनुद्घातिकम् चतुरो गुरुमासान् प्रायश्चित्तं प्राप्नोतीति भावः ॥ सू० १६ ॥

पुनरपि सागारिकपिण्डविषये आहृतिकामध्यादीयमानाहारादेर्ग्रहणाग्रहणविधिमाह—'सागारियस्स आहडिया' इत्यादि, ।

सूत्रम्—सागारियस्स आहडिया सागारिएण पडिग्गहिया तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥सू०१७॥ सागारियस्स आहडिया सागारिएण अप्पडिग्गहिया तम्हा दावए एवं से कप्पइ पडिग्गाहित्तए ॥ सू०१८ ॥

छाया—सागारिकस्य आहृतिका सागारिकेण प्रतिगृहीता, तस्याः दद्यात् नो तस्य कल्पते प्रतिग्रहीतुम् ॥सू० १७॥ सागारिकस्य आहृतिका सागारिकेण अप्रतिगृहीता तस्याः दद्यात् एवं तस्य कल्पते प्रतिग्रहीतुम् ॥ सू० १८ ॥

चूर्णी—'सागारियस्स' इति । सागारिकस्य–शय्यातरस्य आहृतिका आह्रियते–दातुमानीयते या सा आहृतिका अन्यगृहादागता प्रहेणकरूपा उपायनप्राभृतादिपदवाच्या 'परोसा' इति भाषाप्रसिद्धा, या अन्यस्मात् स्वजनादिगृहात् समर्पयितुं शय्यातरगृहे समागता भवेत् सा यदि सागारिकेण प्रतिगृहीता–स्वीकृता तस्याः तद्गताशनादिमध्यात् अशनादिकं साधवे दद्यात् शय्यातरोऽन्यो वा कोऽपि तदशनादिकं तदा 'से' तस्य भिक्षार्थमागतस्य साधोः प्रतिग्रहीतुं नो कल्पते, तस्मिन् संजातशय्यातरस्वत्वत्वात् ॥सू० १७॥ अथ तद्वैपरीत्ये कल्पते इति तद्विधिं प्रदर्शयति–'सागारियस्स आहडिया' इत्यादि । सागारिकस्य गृहे समानीता आहृतिका यदि तेन सागारिकेण अप्रतिगृहीता–अस्वीकृता भवेत् तदा तस्याः–तद्गताशनादितोऽन्यः शय्यातरादितर आहृतिकावाहकोऽन्यो वा दद्यात् 'एवं' अनेन विधिना दीयमानमशनादि 'से' तस्य भिक्षार्थं समुपस्थितस्य साधोः प्रतिग्रहीतुं कल्पते, तस्मिन् असजातशय्यातरस्वत्वत्वादिति ॥ सू० १८ ॥

पूर्वं सागारिकगृहागगताऽऽहृतिकाया अशनादेर्ग्रहणाग्रहणविधिः प्रोक्तः, साम्प्रतं सागारिकगृहादन्यत्रगतनिर्हृतिकाया अशनादेर्ग्रहणाग्रहणविधिमाह–'सागारियस्स नीहडिया' इत्यादि ।

सूत्रम्—सागारियस्स नीहडिया परेण अपडिग्गहिया तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिग्गाहित्तए । सागारियस्स नीहडिया परेण पडिग्गहिया तम्हा दावए एवं से कप्पइ पडिग्गाहित्तए ॥ सू० १९ ॥

छाया—सागारिकस्य निर्हृतिका परेण अपरिगृहीता तस्याः दद्यात् नो तस्य कल्पते प्रतिग्रहीतुम् ॥ सागारिकस्य निर्हृतिका परेण परिगृहीता तस्या· दद्यात् एवं तस्य कल्पते प्रतिग्रहीतुम् ॥ सू० १९ ॥

चूर्णी—'सागारियस्स' इति । सागारिकस्य शय्यातरस्य निर्हृतिका निर्ह्रियते–दातुमन्यत्र नीयते सा निर्हृतिका सागारिकगृहाद् अन्यस्मै स्वजनादिकाय दातुं बहिर्नीता स्वजनादिगृहे प्राप्ता तत्र परेण तेन स्वजनादिना अपरिगृहीता–अस्वीकृता शय्यातरसत्कैव स्थिता तस्या तन्मध्यात् कोऽपि शय्यातरोऽन्योऽपि कश्चित् अशनादि तत्र तत्क्षणसमागताय साधवे दद्यात् तदशनादि 'से' तस्य साधोः प्रतिग्रहीतुं नो कल्पते, तस्मिन् शय्यातरस्वत्वस्यानिर्मुक्तत्वात् । अथ तद्वैपरीत्ये ग्रहणविधिमाह–'सागारियस्स नीहडिया' इत्यादि । सागारिकस्य निर्हृतिका सागारिकगृहाद्बहिर्निर्गता स्वजनादिगृहे संप्राप्ता सा निर्हृतिका यदि परेण स्वजनादिना प्रतिगृहीता–स्वीकृता

भवेत् तस्याः तन्मध्यात् अशनादि शय्यातरेतरः तत्स्वीकर्त्ता स्वजनादिः दद्यात् तदा तदशनादि 'से' तस्य भिक्षार्थं तत्रोपस्थितस्य साधोः प्रतिग्रहीतुं कल्पते, तादृशाशनादेः शय्यातरस्वत्व-विनिर्मुक्त्वादिति ॥ सू० १९ ॥

पूर्वं सागारिकस्य निर्हृताया ग्रहणाग्रहणविधिः प्रोक्तः, साम्प्रतं सागारिकपिण्डांशमिश्रित-स्याशनादेर्ग्रहणाग्रहणविधिमाह—'सागारियस्स अंसियाओ' इत्यादि ।

सूत्रम्—सागारियस्स अंसियाओ अविभत्ताओ अव्वोच्छिन्नाओ अव्वोगडाओ अणिज्जूढाओ तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिग्गाहित्तए ॥ सागारियस्स अंसियाओ विभत्ताओ वोच्छिन्नाओ वोगडाओ णिज्जूढाओ तम्हा दावए एवं से कप्पइ पडिग्गा-हित्तए ॥ सू० २० ॥

छाया—सागारिकस्य अंशिकाः अविभक्ता अव्यवच्छिन्ना अव्याकृता अनिर्यूढा ताभ्यः दद्यात् नो तस्य कल्पते प्रतिग्रहीतुम् ॥ सागारिकस्य अंशिका विभक्ता व्यव-च्छिन्ना व्याकृता, निर्यूढा ताभ्यः दद्यात् एवं तस्य कल्पते प्रतिग्रहीतुम् ॥ सू० २० ॥

चूर्णी—'सागारियस्स' इति । अत्र अंशिकाः इति बहुवचनम् बहूनां मित्रस्वजनादीनाम् अंशा नानाभक्ष्यमया येषु अशनादिषु एकत्रिताः स्युस्ता अंशिका इत्युच्यन्ते बहुजनानामंशमिश्रिता-शनादिरूपाः, तासु अंशिकासु यदि सागारिकस्य अंशिकाः अविभक्ताः विभागपृथक्करणरहिताः सागारिकस्य विभागो यासु विद्यते तादृश्य इत्यर्थः, अव्यवच्छिन्नाः व्यवच्छेदरहिताः संबद्धा इत्यर्थः, अव्याकृता व्याकरणरहिताः भागस्पष्टीकरणवर्जिताः 'अयं तवांशः, अयं ममांशः' इत्येवं सागारिकभागस्य नामनिर्देशपूर्वकमनिर्दिष्टाः, अनिर्यूढाः अनिष्कासिताः कृतविभागा अपि तत्रैव स्थिताः सागारिकेण न नीताः, एतादृश्यः अंशिकाः यत्र गृहस्थगृहे स्युः **'तम्हा'** ताभ्यो यदि शय्यातरादितरोऽपि जनः साधवे दद्यात् तदा नो नैव **'से'** तस्य भिक्षार्थमुपस्थितस्य साधोः प्रतिग्रहीतुं कल्पते, सागारिकांशिकामिश्रितत्वात् । ग्रहणविधिमाह—यदि पूर्वोक्तस्वरूपाभ्यो-ऽशिकाभ्यः सागारिकस्य अंशिकाः विभक्ताः विभागेन पृथक्कृताः व्यवच्छिन्ना व्यवच्छेदसहिता असंबद्धा इत्यर्थः, व्याकृता नाम निर्देशपूर्वकं भागस्पष्टीकरणेन निर्दिष्टाः 'इमाः सागारिकस्यां-शिकाः इमा न' इतिभागस्पष्टीकरणयुक्ता इत्यर्थः, निर्यूढाः निष्कासिताः कृतविभागत्वेन तत्रतो-ऽन्यत्र स्थापिताः 'तम्हा' ताभ्यो यदि शय्यातरादितरः कोऽपि साधवे दद्यात्, एवं स्थिताः 'से' तस्य भिक्षार्थमुपागतस्य साधोः प्रतिग्रहीतुं कल्पते, तत्र सागारिकांशिकाया विनिर्मुक्तत्वात् । अयं भावार्थः—यत्र बहुजनविभागयुक्तमशनादिकं भवेत् तत्रान्येषां विभागेभ्यः सागारिकस्य विभागः पूर्वोक्तप्रकारेण विभज्य पृथग् न कृतो भवेत् तदशनादिकं सागारिकविभागस्य त्याज्यत्वेन साधोर्न कल्पते, अन्यथा अन्येषां विभागेभ्यः सागारिकस्य विभागः पूर्वोक्तविधिना तत्रतः पृथक्कृतो भवेत् तदा तदशनादिकं सागारिकविभागरहितत्वेन साधोः कल्पते इति ॥ सू० २० ॥

पूर्वसूत्रे शय्यातरस्यांशिकायुक्तांशिकारहिताशनादेर्ग्रहणाग्रहणविधिः, प्रदर्शितः, सांप्रतं सागारिकस्य कलाचार्यादिपूज्यजनोद्देशेन तद्दानार्थं निष्पादितभक्तस्य ग्रहणनिषेधं ग्रहणविधिं च प्रदर्शयितुकामः सूत्रकारस्तद्विषये सूत्रचतुष्टयीमाह, तत्र प्रथमं निषेधसूत्रमाह–'**सागारियस्स पूयाभत्ते**' इत्यादि।

सूत्रम्—सागारियस्स पूयाभत्ते उद्देसिए चेइए पाहुडियाए, सागारियस्स उवगरणजाए निट्ठिए निसिट्ठे पाडिहारिए, तं सागारिओ देज्जा सागारियस्स परिजणो वा देज्जा तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिग्गाहित्तए ॥ सू० २१ ॥

छाया – **सागारिकस्य पूज्यभक्तम् औद्देशिकं चेतितं प्राभृतिकायाम् सागारिकस्य उपकरणजाते निष्ठितं निसृष्टं प्रातिहारिकं, तत् सागारिको दद्यात् सागारिकस्य परिजनो वा दद्यात् तस्मात् दद्यात् नो तस्य कल्पते प्रतिग्रहीतुम् ॥ सू० २१ ॥**

चूर्णी—'**सागारियस्स**' इति। सागारिकस्य पूज्यभक्तम्–पूज्यानां कलाचार्यादिसंमान्यपुरुषाणां पूज्यत्वेन मान्यानां प्राघुणकानां च कृते निष्पादितं भक्तम् ओदनादिकं पूज्यभक्तं कथ्यते, तच्च औद्देशिकम् कमप्युद्दिश्य निष्पादितम् औद्देशिकं, भण्यते अत्र कलाचार्यप्राघुणकादिपूज्यजनानामुद्देशेन संपादितमशनादिकमौद्देशिकशब्देन गृह्यते, तद् औद्देशिकमशनादि प्राभृतिकायाम् उपायन(भेट)रूपायां चेतितम्–उपढौकितं तेभ्य उपनीतं समर्पितमित्यर्थः, कीदृशं तत् पूज्यभक्तमित्याह–'**सागारियस्स**' इत्यादि, तत् पूज्यभक्तं सागारिकस्य उपकरणजाते स्थाल्यादिपाकपात्रे निष्ठितं निष्पादित, निसृष्टं तत्पात्रान्निष्कासितं, तथा तत् प्रातिहारिकं पुनः प्रत्यर्पणप्रतिज्ञया गृह्यमाणं प्रातिहारिकं भवति यथा–'भुक्तोद्वरितं पुनरस्मभ्यं प्रत्यर्पणीयम्' इति प्रतिज्ञायुक्तम्, तदशनादि सागारिको वा सागारिकपरिजनकुटुम्बजनो वा दद्यात् तस्माद् तादृशाद् अशनादेर्मध्यात् साधवे भिक्षार्थमुपस्थिताय दद्यात् तदा तदशनादि–"से' तस्य भिक्षार्थमुपस्थितस्य साधोः प्रतिग्रहीतु स्वीकर्त्तुं नो कल्पते, तदशनादेः सर्वथा शय्यातरदोषदूषितत्वात् ॥ सू० २१ ॥

अथ पूज्यभक्तविषयकं द्वितीयं सूत्रमाह–**सागारियस्स पूयाभत्ते**' इत्यादि।

सूत्रम्—सागारियस्स पूयाभत्ते उद्देसिए चेइए पाहुडियाए सागारियस्स उवगरणजाए निट्ठिए निसिट्ठे पाडिहारिए तं नो सागारिओ देज्जा नो सागारियस्स परिजणो वा देज्जा सागारियस्स पूया देज्जा तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिग्गाहित्तए ॥ सू०२२ ॥

छाया—**सागारिकस्य पूज्यभक्तम् औद्देशिकं चेतितं प्राभृतिकायाम् सागारिकस्य उपकरणजाए निष्ठितं निसृष्टं प्रातिहारिकं, तत् नो सागारिको दद्यात् नो सागारिकस्य परिजनो वा दद्यात्, (किन्तु) सागारिकस्य पूज्यो दद्यात् तस्मात् दद्यात् नो तस्य कल्पते प्रतिग्रहीतुम् ॥ सू० २२ ॥**

चूर्णी—'**सागारियस्स**' इति। एतत्सूत्रगतपदानां व्याख्या पूर्वसूत्रवदेव कर्त्तव्या, नवरम्–अत्र तादृशमशनादि न सागारिको दद्यात् न वा सागारिकस्य परिजनो दद्यात् किन्तु पूज्यः स्वहस्तेन

दद्यात् तथापि तदशनादि 'से' तस्य साधोः प्रतिग्रहीतुं न कल्पते, तदशनादेः सागारिकस्व-त्ववत्त्वात् ॥ सू० २२ ॥

साम्प्रतं पूज्यभक्तविषयकं तृतीयं सूत्रमाह—'सागारियस्स' इत्यादि ।

सूत्रम्—सागारियस्स पूयाभत्ते उद्देसिए चेइए पाहुडियाए सागारियस्स उवगरणजाए निट्ठिए निसिट्ठे अपाडिहारिए तं सागारिओ देइ सागारियपरिजणो वा देइ तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥ सू० २३ ॥

छाया—सागारिकस्य पूज्यभक्तम् औद्देशिकम् चेतितं प्राभृतिकायाम् सागारिकस्योपकरणजाते निष्ठितं निसृष्टम् अप्रातिहारिकम् तत् सागारिको ददाति सागारिकपरिजनो वा ददाति तस्मात् दद्यात् नो तस्य कल्पते प्रतिग्रहीतुम् ॥ सू० २३ ॥

चूर्णी—'सागारियस्स' इति । एतदपि सूत्रं पूर्ववदेव व्याख्येयम्, नवरं विशेषस्त्वयम्—यत् पूर्वसूत्रद्वये पूज्यभक्तं 'प्रातिहारिकम्' इति भुक्तोद्वरितस्य पुनर्ग्रहणयोग्यम्—इति कथितम्, अस्मिन् सूत्रे अप्रातिहारिकं 'भुक्तोद्वरितं पुनरस्मभ्यं प्रत्यर्पणीय' मितिप्रतिज्ञावार्जितं 'भवता सर्वं तत्रैव स्थाप्यं नास्मभ्यं दातव्यम् वयं नो प्रतिग्रहीष्यामः' इत्येवं प्रतिज्ञया प्रदत्तं भवेत् तथापि सागारिकेण सागारिकपरिजनेन वा दीयमानं तदशनादि साधोर्न कल्पते तस्य सागारिकतत्परिजनहस्तस्पर्शदोषसद्भावात्, तदाहारे प्रकृतिभद्रकसागारिकेण निर्दोषवस्तुनि भक्तिवशात् स्वकीयाऽन्यवस्तुप्रक्षेपणसंभवाच्चेति ॥ सू० २३ ॥

अथ पूज्यभक्तविषये तदाहारग्रहणप्रकारप्रतिपादकं चतुर्थं सूत्रमाह—'सागारियस्स' इत्यादि ।

सूत्रम्—सागारियस्स पूयाभत्ते उद्देसिए चेइए पाहुडियाए सागारियस्स उवगरणजाए निट्ठिए निसिट्ठे अपडिहारिए तं नो सागारिओ देइ नो सागरियस्स परिजणो वा देइ सागारियस्स पूया देइ तम्हा दावए एवं से कप्पइ पडिग्गाहित्तए ॥ सू० २४ ॥

छाया—सागारिकस्य पूज्यभक्तम् औद्देशिकं चेतितं प्राभृतिकायाम्, सागारिकस्य उपकरणजाते निष्ठितं निसृष्टम् अप्रातिहारिकं तद् नो सागारिको ददाति नो सागारिकस्य परिजनो वा ददाति, सागारिकस्य पूज्यो ददाति तस्मात् दद्यात् एवं तस्य कल्पते प्रतिग्रहीतुम् ॥ सू० २४ ॥

चूर्णी—'सागारियस्स' इति । सागारिकस्य पूज्यभक्तं पूर्वप्रदर्शितप्रकारकं तत् अप्रातिहारिकं पुनः प्रत्यर्पणप्रतिज्ञारहितं भवेत् तत्पुनः नो सागारिको ददाति नो वा सागारिकपरिजनो ददाति किन्तु तदाहारजातम् अप्रातिहारिकत्वेन गृहीतं शय्यातरस्व-त्वविनिर्मुक्तं सागारिकस्य पूज्यः स्वहस्तेन ददाति तस्मात् तादृशादाहारजातमध्यात् दद्यात् एवं सति तस्य भिक्षार्थमुपागतस्य साधोः प्रतिग्रहीतुम् उपादातुं कल्पते, अस्याऽप्रातिहारिकत्वेन शय्यातरस्वत्वराहित्यात्, शय्यातरस्य तत्परिजनस्य च हस्तस्पर्शवर्जितत्वाच्च ॥ सू० २४ ॥

अथ शय्यातरपिण्डविषयान् संगृह्याह भाष्यकारः—'अनीहडं' इत्यादि ।

भाष्यम्—अनीहडं नीहडं वा, आहडिया तहेव य ।
नीहडिया अंसिया वा, पूयाभत्तं चउव्विहं ॥ २ ॥
सागारियस्स संबंधो, जत्थ जारिसतारिसो ।
साहूणं कप्पए नो तं, कप्पे संबंधवज्जियं ॥ ३ ॥

छाया—अनिहृतं निहृत वा, आहृतिका तथैव च ।
निर्हृतिका अंशिका वा, पूज्यभक्तं चतुर्विधम् ॥ २ ॥
सागारिकस्य संबन्धो, यत्र यादृशतादृश ।
साधूनां कल्पते नो तत्, कल्पेत सम्बन्धवर्जितम् ॥ ३ ॥

अवचूरी—'अनीहडं' इति । अनिर्हृतम् यद् अन्यस्मै वितरणाय अन्यदीयगृहे न नीतं शय्यातरगृह एव स्थितं तत् १, निर्हृतं यत् शय्यातरगृहादन्यदीयगृहे प्राप्तम् २, आहृतिका—अन्यस्माद् गृहात् शय्यातरगृहे समागता 'परोसा' इतिलोकप्रसिद्धा प्राभृतिकारूपा ३, निर्हृतिका—शय्यातरगृहादन्यदीयगृहे प्रेषिता प्राभृतिका ४, अंशिका शय्यातरसहितद्वित्रिचतुःपञ्चजनानां विभागैः संमिश्रा ५, चतुर्विधं पूज्यभक्तम्, तत्र प्रथमं कआचार्यादिपूज्यजनमुदिश्य सपादितं प्रातिहारिकत्वेन तस्मै प्रदत्तं सागारिकेण दीयमानम् १, द्वितीयं—पूर्वोक्तप्रकारमशनादि सागारिकस्य पूज्येन दीयमानम् २, तृतीयं तादृशमशनादि अप्रातिहारिकत्वेन पूज्याय प्रदत्तं किन्तु तत् सागारिकेण दीयमानम् ३, एतत्त्रयमप्यकल्प्यम् । चथुर्थं तादृशमशनादि अप्रातिहारिकत्वेन पूज्याय प्रदत्तं सागारिकं वर्जयित्वा पूज्यहस्तेन दीयमानम् ४, एतत्कल्प्यम् । एषु नवविधेषु अशनादिषु मध्ये यत्र यस्मिन् कस्मिंश्चिदशनादौ सागारिकस्य यादृशतादृशो यः कोऽपि सम्बन्धः स्वत्वविषयो हस्तदानविषयो विभागविषयो वा एतादृशोऽन्यो वा कोऽपि सम्बन्धो भवेत् तदशनादि साधूनां नो कल्पते, किन्तु यत् सम्बन्धवर्जितं—स्वत्वसम्बन्धहस्तदानसम्बन्धविभागसम्बन्धवर्जितं भवेत् तत् साधूनां कल्पेत ॥ २-३॥

पूर्वमाहारसूत्रं प्रोक्तम्, आहारानन्तरं वस्त्रप्रसङ्ग इति वस्त्रग्रहणसूत्रमाह—'कप्पइ. पंच वत्थाइं' इत्यादि ।

सूत्रम्—कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा इमाइं पंच वत्थाइं धारित्तए वा परिहरित्तए वा तं जहा-जंगिए भंगिए साणए पोत्तए तिरीडपट्टे नामं पंचमे ॥ सू० २५ ॥

छाया—कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा इमानि पञ्च वस्त्राणि धारयितुं वा परिहर्तुं वा, तद्यथा-जाङ्गमिकम्, भाङ्गिकम्, शाणकम् पोतकम् तिरीटपट्टकं नाम पञ्चमम् ॥ सू० २५ ॥

चूर्णी—'कप्पइ' इति । निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा इमानि वक्ष्यमाणानि पञ्च पञ्चप्रकारकाणि वस्त्राणि धारयितुं वा स्वनिश्रायां स्थापयितुं, तथा परिहर्तुं वा उपभोक्तुं कल्पते, तान्येव

दर्शयति–तंजहा' इत्यादि । 'तंजहा' तद्यथा तानि यथा–जाङ्गमिकम्–जङ्गमानां गमनशीलानां मेषादीनामिदं जाङ्गमिकम् मेषादिरोमनिष्पन्नम् और्णिकमित्यर्थः १, भाङ्गिकम्–भङ्गैः अतस्यादित्वग्भिर्निष्पन्नं भाङ्गिकम् २, शाणकम्–शणः स्वनामख्यातस्तृणविशेषः, तेन निष्पन्नं शाणकं शणसूत्रवस्त्रम् ३, पोतकम्–पोतः कर्पासस्तेन निष्पन्नं पोतकं कार्पासवस्त्रम् ४, तिरीटपट्टकम्–तिरीटो वृक्षविशेषस्तस्य त्वग्भिर्निष्पादितं तिरीटपट्टकम् एतन्नामकं पञ्चमं वस्त्रम् ५। एतानि उपर्युक्तानि पञ्चविधानि वस्त्राणि निर्ग्रन्थनिर्ग्रन्थीनां कल्पते, न तु तद्भिन्नानि क्षौमदुकूलचीनांशुकादिवस्त्राणि कल्पते। अत्र जङ्गमशब्देन त्रसप्राणिनो गृह्यन्ते तत्कथं त्रसप्राण्यङ्गसमुद्भूतंवस्त्रं कल्पते इति प्रोक्तम्? तत्राह–जङ्गमा द्विविधाः विकलेन्द्रियाः पञ्चेन्द्रियाश्च, तत्र विकलेन्द्रियप्राण्यङ्गभूतसूत्रनिर्मितानि क्षौमादिवस्त्राणि न कल्पन्ते प्राणिवधप्रसङ्गात्, अत्र जङ्गमशब्देन पञ्चेन्द्रिया गृह्यन्ते तेषां रोमभिर्निष्पन्नं वस्त्रं कल्पते, तेषां परिवर्द्धितरोमकर्त्तनेन न किमपि दुःखं भवति प्रत्युत तेषां सुखानुभवो भवति ततो जाङ्गमिकशब्देन ऊर्णावस्त्रं वोध्यम्, अत्र प्राणिपीडालेशासंभवात् ॥ सू० २५ ॥

पूर्वं वस्त्रग्रहणसूत्रं प्रोक्तम् ,तत्प्रसङ्गात् रजोहरणग्रहणसूत्रमाह–'कप्पइ' इत्यादि ।

सूत्रम्––कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा इमाइं पंच रयहरणाइं धारित्तए वा परिहरित्तए वा, तंजहा––उण्णिए, उट्टिए, साणए, वच्चाचिप्पए, मुंजचिप्पए नाम पंचमे ॥ सू० २६ ॥

छाया––कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा इमानि पञ्च रजोहरणानि धारयितुं वा परिहर्तुं वा, तद्यथा-और्णिकम्, औष्ट्रिकम्, शाणकम्, वच्चाचिप्पकम्, मुंजचिप्पकं नाम पञ्चमम् ॥ सू० २६ ॥

चूर्णी––'कप्पइ' इति। निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा इमानि अग्रे वक्ष्यमाणानि पञ्च–पञ्चप्रकारकाणि रजोहरणानि–रजो द्विविधं द्रव्यतो भावतश्च, तत्र द्रव्यरजो धूल्यादिकम्, भावरजः–अष्टविधकर्म, ततो द्विविधमपि रजो हरतीति रजोहरणम् । तत्र द्रव्यरजोहरणेन आदाननिक्षेपपरिष्ठापनादिकार्ये भूमिगतकुन्थुपिपीलिकादिलघुजन्तूनां निवारणं भवति ततः संयमयोगाः संपन्ना भवन्ति । भावरजोहरणेन कर्ममलशोधिर्जायते, तानि पञ्चप्रकारकाणि कल्पन्ते, तदेव दर्शयति–तद्यथा तानीमानि– और्णिकं मेषाद्यूर्णानिष्पन्नम् १, औष्ट्रिकम्–उष्ट्ररोमनिष्पन्नम् २, शाणकम्–शणसूत्रनिष्पन्नम् ३, **वच्चाचिप्पकम्**––वच्चा–दर्भाकारतृणविशेषस्तस्य वल्कलः, तस्य चिप्पकेन कुट्टितेन कुट्टितत्वविशेषेण निष्पन्नं वच्चाचिप्पकम् ४, **मुंजचिप्पकं**–मुञ्जस्य शरस्तम्बस्य चिप्पकेन कुट्टितेन कुट्टितमुञ्जेन निष्पादितं नाम पञ्चमं रजोहरणम् ५, एतानि पञ्चविधानि रजोहरणानि साधुसाध्वीनां कल्पते नान्यानि कार्पासिकादिसूत्रनिष्पन्नानि, तैः कुन्थुपिपीलिकादीनां सम्यग् रक्षणासंभवात् । अत्र वच्चाचिप्पकं मुञ्जचिप्पकं नाम कस्मिंश्चिद्देशविशेषे चिप्पकनामको दर्भाकारस्तृणविशेषो भवति, तं च प्रथमं चिप्पित्वा कुट्टयित्वा तदीयं क्षोदं रुतरूपं कृत्वा कर्त्तयति ततः सूत्राणि

जायन्ते, तैर्वच्चासूत्रैश्च प्रावरणास्तरणादीनि निष्पादयन्ति, तत्सूत्रैर्निष्पन्नं रजोहरणं वच्चाचिप्पक-मुच्यते। एवं देशविशेषे मुञ्जाभिधस्तृणविशेषः, तमपि कुट्टयित्वा पूर्ववदेव सूत्राणि कर्त्यन्ते,तैः सूत्रै-र्निष्पन्नं रजोहरणं मुञ्जचिप्पकं प्रोच्यते। वस्त्रप्रकरणोक्तरीत्यैव सूत्रोक्तानां पञ्चविधानां रजोहरणानां ग्रहणं श्रमणैः कर्त्तव्यम्। तत्रापि क्रमेण पूर्वपूर्वस्याभावे उत्तरोत्तररजोहरणं ग्राह्यत्वेन बोध्यम्। उत्सर्गेण तु सूत्रे प्रथमतया प्रोक्तम् औणिकमेव रजोहरणं ग्राह्यं, सूत्रे तस्य भगवता प्रथमतया गृहीतत्वादिति ॥ सू० २६ ॥

इति श्री–विश्वविख्यात–जगद्वल्लभ-प्रसिद्धवाचक–पञ्चदशभाषाकलितललितकलापालापक–
प्रविशुद्धगद्यपद्यनैकग्रन्थनिर्मापक–वादिमानमर्दक–श्रीशाहूछत्रपतिकोल्हापुरराजप्रदत्त-
"जैनाचार्य"–पदभूषित–कोल्हापुरराजगुरु–बालब्रह्मचारि-जैनाचार्य–जैन-
धर्म-दिवाकर–पूज्यश्री–**घासीलालव्रति**विरचितायां**"बृहत्कल्पसूत्रस्य"**
चूर्णि-भाष्या-ऽवचूरीरूपायां व्याख्यायां
द्वितीयोद्देशकः समाप्तः ॥२॥

। अथ तृतीयोद्देशकः ।

व्याख्यातो द्वितीयोद्देशकः, साम्प्रतं तृतीयोद्देशकः प्रस्तूयते, अत्र द्वितीयोद्देशकान्तिम-सूत्रेणास्य तृतीयोद्देशकस्यादिसूत्रेण सह कः सम्बन्धः ? इति भाष्यकारः सम्बन्धं प्रदर्शयति—'वत्थरओहरणाणं' इत्यादि ।

भाष्यम्—वत्थरओहरणाणं, पुव्वं वुत्तो विही समासेण ।
तेसिं निग्गंथीणं, दाणविही एत्थ नायव्वो ॥१॥
गच्छइ तासिं वसहिं, गणचिंताकारगो पयाएउं ।
तस्स विही इह कत्थइ, संबंधो एत्थ एसेव ॥२॥

छाया—वस्त्ररजोहरणानां पूर्वमुक्तो विधिः समासेन ।
तेषां निर्ग्रन्थीभ्यो, दानविधिरत्र ज्ञातव्यः ॥१॥
गच्छति तासां वसतिं, गणचिन्ताकारकः प्रदातुम् ।
तस्य विधिरिह कथ्यते, सम्बन्धोऽत्र एष एव ॥२॥

अवचूरी—'वत्थ' इति । पूर्वं द्वितीयोद्देशस्यान्तिमे सूत्रद्वये वस्त्ररजोहरणानां विधिः—वस्त्रस्य पञ्चविधत्वं रजोहरणस्य पञ्चविधत्वं चेति तद्रूपो विधिः समासेन संक्षेपेण उक्तः कथितः । अत्र अस्मिन् तृतीयोद्देशकस्य प्रथमसूत्रे तेषां पूर्वोक्तप्रकाराणां वस्त्राणां रजोहरणानां च निर्ग्रन्थीभ्यो दानविधिः दानविषयो विधिः ज्ञातव्यः ॥१॥

ततः गणचिन्ताकारकः गणव्यवस्थाकारको गणधरः वस्त्ररजोहरणानि निर्ग्रन्थीप्रायोग्याणि प्रदातुं यथाकल्पं वितरीतुं तासां निर्ग्रन्थीनां वसतिं गच्छति, तस्य साध्वीवसतिगमनशीलस्य साधोः विधिः—तत्र गमनागमनस्थानादिरूपः निषेधविधानात्मकः साधुकल्प इह अस्मिन् वक्ष्यमाणे तृतीयो-द्देशकस्यादिसूत्रे कथ्यते प्रतिपाद्यते । अत्रास्मिन् प्रकरणे पूर्वापरसूत्रयोः एष एव सम्बन्धोऽस्तीति ॥ २ ॥

इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य तृतीयोद्देशकस्येदं निर्ग्रन्थ्युपाश्रयगमनस्थानादिप्रतिपादक-मादिसूत्रम्—'नो कप्पइ निग्गंथाणं' इत्यादि ॥

सूत्रम्—नो कप्पइ निग्गंथाणं, निग्गंथीणं उवस्सयंसि चिट्ठित्तए वा निसीइत्तए वा तुयट्टित्तए वा निद्दाइत्तए वा पयलाइत्तए वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आहारं आहरित्तए, उच्चारं वा पासवणं वा खेलं वा सिंघाणं वा परिट्ठवित्तए सज्झायं वा करित्तए, झाणं वा झाइत्तए, काउस्सग्गं वा करित्तए, ठाणं वा ठाइत्तए ॥ सू० १ ॥

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थानां, निर्ग्रन्थीनामुपाश्रये स्थातुं वा निषत्तुं वा त्वग्वर्त्त-यितुं वा निद्रायितुं वा प्रचलायितुं वा, अशनं वा पानं वा खाद्यं वा स्वाद्यं वा आहारमाहर्तुम्, उच्चारं वा प्रस्रवणं वा खेलं वा सिङ्घाणं वा परिष्ठापयितुम्, स्वध्यायं वा कर्त्तुम्, ध्यानं वा ध्यातुम्, कायोत्सर्गं वा कर्त्तुम्, स्थानं वा स्थातुम् ॥ सू०१ ॥

चूर्णी—'नो कप्पइ निग्गंथाणं' इति । निर्ग्रन्थीनामुपाश्रये वस्त्रदानादिकार्यवशात्तत्र गतानां निर्ग्रन्थानाम् अग्रेऽनुपदं वक्ष्यमाणानि स्थानादीनि कर्तुं न कल्पते । तान्येव दर्शयति—निर्ग्रन्थी-

नामुपाश्रये निर्ग्रन्थानां न कल्पते स्थातुं वा ऊर्ध्वस्थितिरूपेण, निषत्तुं वा उपवेष्टुं वा पर्यङ्कासनादिना, त्वग्वर्त्तयितुं वा पार्श्वपरिवर्तनं कर्त्तुम्, निद्रातु वा निद्रां ग्रहीतुम्, प्रचलायितुं वा उपविष्टः स्थितो वा निद्रां ग्रहीतुम्, अशनं वा४ अशनादि चतुर्विधमाहारमाहर्तु वा, उच्चारं वा संज्ञारूपम्, प्रस्रवणं वा कायिकीरूपम्, खेलं वा श्लेष्माणम, सिङ्घाणं वा नासिकामलम्, एतानि शरीरेन्द्रियमलानि तत्र परिष्ठापयितुं न कल्पते । तथा स्वाध्यायं वा सूत्रार्थरूपं कर्त्तुम्, ध्यानं वा अन्तर्मुहूर्त्तकालप्रमाणात्मचिन्तनरूपं ध्यातुं-कर्त्तुम्, कार्योत्सर्गं वा कायिकव्यापारनिवृत्तिपूर्वकं लोगस्सगुणनरूपं कर्त्तुम्, स्थानं वा ऊर्ध्वीभूय कायिकचेष्टावर्जित लोगस्सगुणनरूपं द्वादशभिक्षुप्रतिमामर्यादारूपं स्थातुम् आचरितुम् निर्ग्रन्थीनामुपाश्रये निर्ग्रन्थानामेतानि कार्याणि कर्त्तुम् नोकल्पते, एवंकरणे निर्ग्रन्थीभिरपमानितत्वादिसंभवात्, अधिकपरिचये स्वपरतदुभयानां ब्रह्मव्रते शङ्कासद्भावाच्चेति । यस्मादेवं तस्मात् निर्ग्रन्थीनामुपाश्रये निर्ग्रन्थस्याकारणे गमनं निषिद्धमेव, कारणेऽपि गमने द्वितीयेन साधुना सहितः सन् गच्छेत् कारणं संपाद्य चाल्पकालेनैव ततोऽपसरेत् एकाकी न गच्छेदिति भावः ॥ सू० १ ॥

अत्राह भाष्यकारः---'निग्गंथीवसहीए' इत्यादि ।

भाष्यम्--निग्गंथीवसहीए, निग्गंथाणं न कप्पए ठाउं ।
चइयव्वा दस ठाणा, वयभंगुप्पायगा जम्हा ॥ ३ ॥
कारणओ जइ गच्छइ, किच्चा कज्जं पुणो निवत्तेज्जा ।
अहियं तत्थ न चिट्ठे, अहिगरणाईण संभवओ ॥ ४ ॥
कारणजाए गच्छइ, विहिणा एत्थं भवे चउभंगी ।
असहिण्हु सहिण्हू इय, एत्थं पुण होइ चउभंगी ॥ ५ ॥

छाया—निर्ग्रन्थीवसतौ निर्ग्रन्थानां न कल्पते स्थातुम् ।
त्यक्तव्यानि दश स्थानानि, व्रतभङ्गोत्पादकानि यस्मात् ॥ ३ ॥
कारणतो यदि गच्छति, कृत्वा कार्यं पुनर्निवर्त्तेत ।
अधिकं तत्र न तिष्ठेत्, अधिकरणादीनां संभवतः ॥ ४ ॥
कारणजाते गच्छति विधिना, अत्र भवेत् चतुर्भङ्गी ।
असहिष्णुः सहिष्णुरिति, अत्र पुनर्भवति चतुर्भङ्गी ॥ ५ ॥

अवचूरी—'निग्गंथीवसहीए' इति व्याख्या सुगमा । अयं भावः—एतानि वक्ष्यमाणानि दश स्थानानि साधूनां सर्वथा त्याज्यानि, तानि यथा—प्रथमं निर्ग्रन्थीनामुपाश्रये निष्कारणं गमनम् १, तत्र गत्वा दूरतस्तासामवलोकनम् २, कतमाः कतमाः पुनरेता इति जिज्ञासाकरणम् ३, 'अमुकी अमुकी वा एषा' इत्येवं निश्चयकरणम् ४, ताभिः सह वार्त्तालापकरणम् ५, तासामङ्गोपाङ्गादिषु दृष्टिपातकरणम् ६, तासु काञ्चिदेकां दृष्ट्वा 'एतादृशी ममाप्यासीत्'इति भूतपूर्वस्वस्त्रीसाम्यचिन्तनम् ७, तासु कयाचित् सह गुप्ताभिभाषणम् ८, तन्निमित्तं तस्या अग्रे कस्यापि

वस्तुनो निश्चयकरणम् ९, ततश्चान्ते शनैः शनैरेवंकरणपूर्वकं तया सह संपर्कसाधनम् इति दशमं स्थानम् १०, एतानि दशापि स्थानानि निर्ग्रन्थैः परिहरणीयानि नानाविधदोषसंघातसंभवादिति ॥ १ ॥ कारणे गमनेऽपि कार्यं कृत्वा शीघ्रं पुनः प्रत्यावर्तेत, अधिकस्थितौ अधिकरणसंभवात् ॥ २ ॥ कारणवशादपि साध्वीनामुपाश्रये विधिना गन्तव्यम् न त्वविधिना, विधिश्च यथा—गणचिन्ताकारको गणधरो यदि वस्त्रादिदानादिनिमित्तं ग्लानायाः शाताप्रच्छनार्थं वा गच्छेत्तदा त्रिषु स्थानेषु नैषेधिकीं कुर्यात्-अग्रद्वारे १, मध्यभागे २, आसन्नभागे च ३। नैषेधिकीत्रयं कृत्वा तत्र प्रविशेत् तेन उपाश्रयस्थिताः साध्व्यः वस्त्रावरणादिना सावधाना भवेयुः। अत्र कारणं विधिं चाश्रित्य चत्वारो भङ्गा भवन्ति,तथाहि—अकारणे अविधिना १, अकारणे विधिना २, कारणे अविधिना ३, कारणे विधिना ४। अत्र चतुर्थो भङ्गः शुद्धः समाचरणीयो लभ्यते। पुनरपि सहिष्ण्वसहिष्णुश्रमणश्रमणीशब्दानाश्रित्य चत्वारो भङ्गा भवन्ति तथाहि—श्रमणी असहिष्णुः श्रमणोऽपि असहिष्णुः १, श्रमणी—असहिष्णुः श्रमणः सहिष्णुः २, श्रमणी सहिष्णुः श्रमणः असहिष्णुः ३, श्रमणी सहिष्णुः श्रमणोऽपि सहिष्णुः ४। एष्वपि चतुर्थो भङ्गः कारणे ग्राह्यः ॥ निर्ग्रन्थस्य साध्वीनामुपाश्रये गमनस्यान्यान्यपि कारणानि भवन्ति,तेषूपस्थितेषु निर्ग्रन्थस्य तत्र पूर्वोक्तशुद्धभङ्गानुसारेण गमनं कल्पते, तानि यथा—उपाश्रयस्य संस्तारकस्योपधेर्वा वितरणार्थम् १, संयमे सीदन्तीनां परिषहत्रस्तानां स्थिरीकरणार्थम् २, प्रतिश्रये अस्वाध्यायिके सति श्रुतस्योद्देशमनुज्ञां वा विधातुम् ३, तासां परस्परसंजाताधिकरणस्य व्युपशमनार्थम् ४, प्रवर्त्तिन्यां कालधर्मप्राप्तायां सत्यां गणचिन्तार्थम् शेषसाध्वीनां संसारस्वरूपप्रदर्शनपूर्वकं धर्मोपदेशेनाश्वासनार्थं वा ५, ग्लानाया औषधभैषज्यादिप्रदानार्थम् ६, उपाश्रयेऽग्निना दग्धे जलपूरेण प्लाविते वा तद्व्यवस्थाकरणार्थम् ७, साध्वीनां देवमानुषतैरश्चोपसर्गशमनार्थम् ८, भक्तप्रत्याख्यानाद्यनशनप्रतिपन्नायाः परिकर्मजिज्ञासार्थं चेति ९। एतादृशेष्वन्येष्वपि कारणेषूत्पन्नेषु श्रमणीनामुपाश्रये श्रमणानां गन्तुं कल्पते, तत्र भगवदाज्ञातिक्रमणदोषाभावात् ॥ ३ ॥

पूर्वं निर्ग्रन्थीनामुपाश्रये निर्ग्रन्थानां स्थानादिकरणं निषिद्धम्, साम्प्रतं तद्वैपरीत्येन निर्ग्रन्थीनां निर्ग्रन्थोपाश्रये तान्येव स्थानादीनि निषेधयितुमाह—'नो कप्पइ निग्गंथीणं' इत्यादि।

सूत्रम्—नो कप्पइ निग्गंथीणं निग्गंथउवस्सयंसि चिट्ठित्तए वा जाव काउस्सग्गं करेत्तए ठाणं वा ठाइत्तए ॥ सू० २ ॥

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थीनां निर्ग्रन्थोपाश्रये स्थातुं वा यावत् कार्योत्सर्गं कर्त्तुम् स्थानं वा स्थातुम् ॥ सू० २ ॥

चूर्णी—'नो कप्पइ' इति। यथा पूर्वं निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थ्युपाश्रयेऽवस्थानादि निषिद्धं तथैवात्र निर्ग्रन्थीनां निर्ग्रन्थोपाश्रयेऽवस्थानादि कर्तुं न कल्पते' इति प्रतिपादितम्। यदि ग्लानसाधुशरीरसमाधिजिज्ञासार्थं गणचिन्ताकारकगणधरादुपध्यादिमार्गणार्थं वा निर्ग्रन्थी साधूपाश्रये गच्छेत्तदा कारणविधिभङ्गप्रदर्शितशुद्धभङ्गमपेक्ष्य नैषेधिकीत्रयपूर्वकं गच्छेत्। एवं असहिष्णु—सहिष्णु-भङ्गे-

ष्वपि शुद्धभङ्गमपेक्ष्य गच्छेत् । अत्रायं विशेषः—ग्लानादिजिज्ञासावाचनाप्रच्छनादिकारणजाते पुरुषसाक्षिपूर्वकं गृहस्थस्त्रीसाक्षिपूर्वकं च द्वितीयया तृतीयया वा साध्व्या सहिता भूत्वा पूर्वोक्तविधिना यतनया गच्छेदिति भावः । शेषं सर्वं पूर्वसूत्रोक्तवदेव विज्ञेयम् ॥ सू० २ ॥

पूर्वं ब्रह्मव्रतरक्षणार्थं निर्ग्रन्था निर्ग्रन्थ्यश्च परस्परं स्वान्यतरोपाश्रये न गच्छेयुरिति प्रतिपादितम्, एवं ब्रह्मव्रतरक्षणायैव निर्ग्रन्थीभिस्तादृशमुपकरणमपि न प्रतिग्रहीतव्यं येन ब्रह्मव्रते बाधा स्यादिति विभाव्य साध्वीनां सलोमचर्मग्रहणनिषेधं प्रतिपादयन्नाह—'नो कप्पइ० सलोमाइं' इत्यादि,

सूत्रम्—नो कप्पइ निग्गंथीणं सलोमाइं चम्माइं अहिट्ठित्तए ॥ सू० ३ ॥

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थीनां सलोमानि चर्माणि अधिष्ठातुम् ॥ सू० ३ ॥

चूर्णी—'नो कप्पइ' इति । निर्ग्रन्थीनां सलोमानि लोमसहितानि चर्माणि मृगादिचर्माणि अधिष्ठातुं तदुपरि उपवेष्टुम् उपवेशनार्थं सरोमचर्माणि उपभोक्तुं नो कल्पते । सलोमचर्मोपरि साध्वीभिर्नोपवेष्टव्यमिति भावः । अनेनायातं निर्लोमचर्माणि साध्वीनां कल्पते इति न, सलोम-निर्लोमचर्मणोर्द्वयोरपि ग्रहणे जीववधतदनुमोदनक्रिया समापद्येत । सलोमचर्मोपरि समुपवेशनेन संयमात्मविराधना भवति यथा—सुकुमाललोमस्पर्शेण मनोविकारादिदुर्भावसंभवात्, लोममध्ये स्थितानां कुन्थुपिपीलिकादीनां दुष्प्रतिलेख्यत्वाच्च संयमविराधना, लोमशुषिरभागे कण्टकवृश्चिकादिनाऽऽत्मविराधना च भवति ॥ सू० ३ ॥

पूर्वं निर्ग्रन्थीनां सलोमचर्मोपरि समुपवेशनं निषिद्धम्, संप्रति निर्ग्रन्थानां तानि कल्पते इति तद्विधिं प्रदर्शयति—'कप्पइ' इत्यादि ।

सूत्रम्—कप्पइ निग्गंथाणं सलोमाइं चम्माइं अहिट्ठित्तए, सेवि य परिभुत्ते नो चेव णं अपरिभुत्ते, सेवि य पडिहारिए नो चेव णं अपडिहारिए, सेवि य एगराइए नो चेव णं अणेगराइए ॥ सू० ४ ॥

छाया—कल्पते निर्ग्रन्थानां सलोमानि चर्माणि अधिष्ठातुम्, तदपि च परिभुक्तं नो चैव खलु अपरिभुक्तम्, तदपि च प्रातिहारिकम् नो चैव खलु अप्रातिहारिकम्, तदपि च एकरात्रिकं नो चैव खलु अनेकरात्रिकम् ॥ सू० ४ ॥

चूर्णी—'कप्पइ' इति । कल्पते निर्ग्रन्थानां सलोमानि—लोमसहितानि चर्माणि अधिष्ठातुम्—परिभोक्तुम् किन्तु तदपि च सलोमचर्म परिभुक्तं लोहकारादिभिरुपवेशनादिना परिभोगविषयीकृतं कल्पते इति सम्बन्धः, एवमग्रेऽपि बोध्यम् । किन्तु नो चैव खलु अपरिभुक्तं गृहस्थैः पूर्वं न परिभुक्तं चेत्—तन्न कल्पते । तत् परिभुक्तमपि सलोमचर्म प्रातिहारिकं कार्यानन्तरं पुनः प्रत्यावर्त्तनीयं, 'कार्यानन्तरं पुनः प्रत्यर्पयिष्यामी'-त्युक्त्वा यदानीयते तत् प्रातिहारिकं कथ्यते 'पडिहारी' इति मुनिभाषाप्रसिद्धं, तत्प्रकारकं प्रातिहारिकं कल्पते किन्तु न चैव खलु अप्रातिहारिकं पुनर्न प्रत्य-

र्पणं भवेत् तद् 'आगेरी' इति मुनिभाषाप्रसिद्धं तथाविधं परिभुक्तमपि न कल्पते । तदपि च सलोमचर्म परिभुक्तं प्रातिहारिकं च एकरात्रिकं एकाहोरात्रपर्यन्तमेव कल्पते किन्तु नो चैव खलु अनेकरात्रिकं द्वित्रिचतुराद्यहोरात्रपर्यन्तं कल्पते अर्शोभगंदर-रोगादिकारणजाते साधुना सलोमचर्म परिभुक्तं प्रातिहारिकमेकरात्रिकम् एकाहोरात्रमर्यादितं ग्राह्यं, न तदधिकाहोरात्रपर्यन्तमिति भावः ।

अत्र शङ्कते कश्चित्-यत् निर्ग्रन्थानां सलोमचर्मानुज्ञातं निर्ग्रन्थीनां च तन्निषिद्धं तत् किमत्र कारणम् महाव्रतानां समानत्वात् ? तत्राह-साध्व्यः स्वभावतः कोमलास्ततस्तासां कोमलस्पर्शतः पूर्वभुक्तभोगानां स्मृतिकौतुकादिना ब्रह्मव्रते शङ्कोत्पत्तिसंभवात् । निर्ग्रन्थानां तदभावादिति । वस्तुतस्तु इदं कारणिकं सूत्रम् , उत्सर्गतस्तु साधूनामपि तन्न कल्पते हिंसानुमोदन-दुष्प्रतिलेख्यत्वादिदोषसद्भावादिति ॥ सू० ४ ॥

पूर्वं सलोमचर्म साध्वीनां निषिद्धं, साधूनां च तस्य विधिना ग्रहणमनुज्ञातम्, साम्प्रतं चर्मप्रसङ्गात्कृत्स्नचर्मनिषेधप्रतिपादकं साधुसाध्वीनां समुच्चयसूत्रमाह-**नो कप्पइ० कसिणाइं चम्माइं'** इत्यादि ।

सूत्रम्—नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा कसिणाइ चम्माइं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥ सू० ५ ॥

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा कृत्स्नानि चर्माणि धर्त्तुं वा परिहर्त्तुं वा ॥ सू० ५ ॥

चूर्णी—'नो कप्पइ' इति । निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां द्वयानामपि कृत्स्नानि परिपूर्णानि अखण्डानि वर्णप्रमाणादिभिः प्रतिपूर्णानि चर्माणि धर्त्तुं पार्श्वे स्थापयितुं परिहर्त्तुं परिभोक्तुं वा नो कल्पते, अनेनेदमायातम्-यत् खण्डितानि खण्डशः कृतानि वर्णप्रमाणादिभिरपरिपूर्णानि तु निर्ग्रन्थनिर्ग्रन्थीनां कल्पते, इति, अनेन ज्ञायते यथासंभवं साधूनां चर्मण आवश्यकता भवेत् 'प्राप्तौ सत्यां निषेध' इतिवचनात्, सत्यम् यथासंभवमावश्यकता भवेदपि-सन्धिवातादिकारणे कदाचित् जान्वादौ बन्धयितुं वैद्यादेशो भवेत् तदा तच्चर्म खण्डितमेव ग्राह्यं, नतु परिपूर्णम् । अन्यच्च परिपूर्णचर्म अन्यतीर्थिकसाधव उपकरणत्वेन गृह्णन्ति ततस्तादृशे परिपूर्णे चर्मणि गृहीते प्रवचनस्योड्डाहो भवेत् यत् परपाषण्डिवदेतेऽपि मृगव्याघ्रादिचर्म गृह्णन्तीति तस्मात् कृत्स्नचर्म निर्ग्रन्थनिर्ग्रन्थीनां निषिद्धं भगवतेति बोध्यम् ॥ सू० ५ ॥

पूर्वं कृत्स्नचर्मग्रहणं साधुसाध्वीनां निषिद्धं किन्तु वातरोगादिकारणे अकृत्स्नचर्मणो यथासंभवमावश्यकता जायते इति चर्मसम्बन्धिकारणिकसूत्रमाह-**'कप्पइ० अकसिणाणि चम्माइं'** इत्यादि ।

सूत्रम्—कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अकसिणाइं चम्माइं धारित्तए वा परिहरित्तएवा ॥ सू० ६ ॥

छाया—कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा अकृत्स्नानि चर्माणि धर्त्तुं वा परिहर्त्तुं वा ॥ सू० ६ ॥

चूर्णी—'कप्पइ' इति । निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां वा अकृत्स्नानि अपरिपूर्णानि खण्डरूपाणि चर्माणि धर्त्तुं परिहर्त्तुं वा कल्पते । पूर्वोक्तसन्धिवातादिकारणे वैद्यादेशेन जान्वादौ बन्धयितुमावश्यकता भवेत्तदा चर्मखण्डं ग्रहीतुं कल्पते नतु कृत्स्नमिति कारणिकसूत्रमिदं बोध्यम् ।

ननु पूर्वसूत्रे कृत्स्नचर्म निषिद्धं तेनैवाऽऽयातं यत् अकृत्स्नं कल्पते इति तेनास्य सूत्रस्य नैरर्थक्यमुपजायते, अत्राह—साधुसमुदाये नानादेशीयाः प्रकृतिभद्रका विनेया भवन्ति ते जानन्ति यत् भगवता कृत्स्नचर्म निषिद्धं तेन चर्ममात्रं न ग्राह्यम्, एवं सति वातादिकारणे वैद्यादेशो निष्फलो भवेत् वातादिनिवारणं न भवेत् तेन संयमाराधन दुःशक्यं जायतेऽतो भगवता तेषां स्पष्टबोधार्थमिदं सूत्रमत्रोपन्यस्तं ततो नास्य सूत्रस्य नैरर्थक्यमित्यग्रेऽपि बोध्यम् ॥ सू० ६ ॥

पूर्वसूत्रद्वये कृत्स्नाऽकृत्स्नचर्मग्रहणे विधिनिषेधौ प्रतिपादितौ, साम्प्रतं वस्त्रविषयकं सूत्रमाह—'नो कप्पइ० कसिणाइं वत्थाइं' इत्यादि ।

सूत्रम्—नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा कसिणाइं वत्थाइं धारित्तए वा परिहरित्तए वा । कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अकसिणाइं वत्थाइं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥ सू० ७ ॥

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा कृत्स्नानि वस्त्राणि धर्त्तुं वा परिहर्त्तुं वा, कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा अकृत्स्नानि वस्त्राणि धर्त्तुं वा परिहर्त्तुं वा ॥ सू० ७॥

चूर्णी—'नो कप्पइ' इति। निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां कृत्स्नानि परिपूर्णानि अखण्डानि यथाप्रकाराणि उत्पादनस्थानादागतानि तथाप्रकाराण्येव वस्त्राणि धर्त्तुं परिहर्त्तुं वा नो कल्पते, कृत्स्नं चतुर्विधं द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात्, तत्र द्रव्यकृत्स्नं द्विविध भवति सकलकृत्स्नं प्रमाणकृत्स्नं चेति । तत्र द्रव्यतः सकलकृत्स्नं वस्त्रपर्यन्तगततन्तुसहितं परिपूर्णकोमलस्पर्शयुक्तम् अनुपहतम् अञ्जनखञ्जनादिदोषवर्जितं सदशाकं 'दशा' किनारी,इति प्रसिद्धं तत्सहितं तादृशं वस्त्रं द्रव्यतः सकलकृत्स्नं प्रोच्यते, तदपि जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदेन त्रिविधम्, तत्र जघन्यं मुखवस्त्रिकादिकम्, मध्यमं चोलपट्टादि,उत्कृष्टं प्रावरणादि, इदं त्रैविध्यमग्रेपि सर्वप्रकारवस्त्रेषु बोध्यम् १, यत्—दैर्घ्यविस्ताराभ्यां यथोक्तप्रमाणतोऽतिरिक्तं तत् द्रव्यतः प्रमाणकृत्स्नम् २, क्षेत्रकृत्स्नं यत् यस्मिन् देशे दुर्लभं वा भवेत् एकदेशनिष्पन्नं वस्त्रमन्यस्मिन् देशे बहुमूल्यं भवति, बहुमूल्यं यथा पूर्वदेशनिष्पन्नं वस्त्रं लाटदेशं प्राप्य बहुमूल्यं भवति २, कालकृत्स्नं—यस्मिन् काले यद् वस्त्रं बहुमूल्यं भवति यथा—ग्रीष्मे सूक्ष्मवस्त्रं, शिशिरे कम्बलादि, वर्षासु कुङ्कुमखचितादि ३, भावकृत्स्नं द्विविधम्—वर्णयुतं मूल्ययुतं च, तत्र वर्णयुतं पञ्चविधं कृष्णादिवर्णभेदात्, मूल्ययुतं त्रिविधम्—जघन्य-

मध्यमोत्कृष्टभेदात् मूल्ययुक्तकृत्स्नस्य जघन्यमध्यमोत्कृष्टत्वं देशानुसारेण, यद् वस्त्रं यत्र जघन्य-मूल्यकं तदपि अन्यत्र मध्यमोत्कृष्टमूल्यकं जायते इति यथासंभवं स्वयमूहनीयम् ४ ॥ सू० ७ ॥

पूर्वसूत्रे तावत् श्रमणश्रमणीनामकृत्स्नं वस्त्रमनुज्ञातम्, संप्रति तस्याकृत्स्नस्य वस्त्रस्य भिन्नत्वम-भिन्नत्वं च भवतीति प्रथममभिन्नानि वस्त्राणि प्रतिषेधितुमाह—'**नो कप्पइ० अभिन्नाइं**' इत्यादि ।

सूत्रम्—नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अभिन्नाइं वत्थाइं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥ सू० ८ ॥

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा अभिन्नानि वस्त्राणि धर्त्तुं वा परिहर्त्तुं वा ॥ सू० ८ ॥

चूर्णी—'**नो कप्पइ**' इति । निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां वा अभिन्नानि अच्छिन्नानि अस्फा-टितानि पूर्वं गृहस्थैः स्वनिमित्तं न खण्डीकृतानि वस्त्रोत्पादनस्थानाद् यथा आगतानि तथैव स्थितानि तादृशानि वस्त्राणि धर्त्तुं—स्वनिश्रया स्थापयितुम्, परिहर्त्तुं परिभोक्तुं नो कल्पते । स्वह-स्तेन छिद्यमाने वायुकायादिविराधना संभवति । ननु कृत्स्नाभिन्नयोः समानार्थकत्वात्पूर्वसूत्रालाप-क एवात्रापि प्रतिपादित इति पिष्टपेषणवद् भवति, ततः पुनरुक्तत्वात् सूत्रमिदं निरर्थकं प्रति-भाति इति न, कारणसापेक्षत्वादस्य सूत्रस्य । किं पुनस्तत्कारणम्? इति चेदुच्यते—अनेन सूत्रेण वस्त्राणां गणनालक्षणं प्रमाणलक्षणं चेति द्विविधं प्रमाणं नियम्यते, तथाहि—कियन्ति किं प्रमाणानि वा तानि वस्त्राणि श्रमणैर्ग्रहीतव्यानि? इत्येवमत्र निरूप्यते इति नास्य नैरर्थक्यमिति । अत्र कश्चित् शङ्कते—यस्मादभिन्नस्य वस्त्रस्य धारणे श्रमणानां पूर्वसूत्रोक्ता दोषा भवन्ति तर्हि भिन्न-मपि वस्त्रं गृह्यते तदपि यदि चोलपट्टादिप्रमाणेनाऽतिरिक्तमधिकं लम्बं भवेत्तदा तस्यापि पुनर्भे-दनमावश्यकमेव तर्हि ते दोषा अत्रापि संभवन्त्येव, तथा हि—वस्त्रे विद्यमाने 'चिरं' इत्यादिशब्द-संमूर्छनं भवति, सूक्ष्मपक्ष्मावयवाश्चोड्डीयन्ते, तैश्च लोकान्तपर्यन्तं गच्छद्भिर्बहूनां त्रसप्राणिप्रभृतीनां सूक्ष्मजन्तूनां विराधनाऽवश्यम्भाविनी । अथवा वस्त्रछेदनजन्यैः शब्दपक्ष्मवातादिपुद्गलैर्लोकान्तं यावद्गच्छद्भिस्तैश्चालिताः सन्तोऽन्ये तत्पुद्गला लोकान्तपर्यन्तं गच्छन्ति, एवं रीत्याऽन्यान्यपुद्गलप्रे-रिताः पुद्गलाः प्रसरन्तः क्षणेन ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् चतसृष्वपि दिक्षु सकलमपि लोकमापूरयन्ति तस्मा-त्सकललोकपूरणात्मकमारम्भं सूक्ष्मजीवविराधनया सदोषं बुद्ध्वा यथालब्धं लघु दीर्घं लम्बं विस्तृतं वा भवेत् तत्तादृशमेव श्रमणैर्धारयितव्यं, न पुनस्तस्य छेदनादिकं कर्त्तव्यमिति, अत्राह—नोचिता तवैषा शङ्का, यतो यद्येवं तर्हि भिक्षादिनिमित्तमपि चेष्टादिकं न कर्त्तव्यं भवेत्, भिक्षासंज्ञा-भूम्यादिगमनभोजनशयनादिरूपाभिरीर्याभिर्विना तु शरीरस्य पौद्गलिकत्वात्तन्निर्वाहोऽपि न स्यात्, शरीरमन्तरा च संयमस्यापि व्यवच्छेदः समापतेत्, तस्माद् भिक्षादिनिमित्तमीर्यादिचेष्टाया अनि-

वार्यत्वात्सा कर्तुमुचितैव । एवं यथोक्तप्रमाणचोलपट्टादिवस्त्रधारणस्य भगवता समुपदिष्टत्त्वात्तत्प्रमाणार्थं यतनया वस्त्रच्छेदने कोऽपि न दोषः शास्त्रे साधोः सकलक्रियाया यतनयैव करणीयत्वेन प्रतिपादनात्, उक्तं च–दशवै० ४ अ०—

जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए ।
जयं भुंजंतो भासंतो, पावकम्मं न बंधइ ॥

तस्मात् भिन्नवस्त्रधारणस्य भगवतानुज्ञातत्वाद् निर्ग्रन्थनिर्ग्रन्थीभिरभिन्नवस्त्रं न धारयितव्यं न परिभोक्तव्यम्, भगवदाज्ञापालने न कोऽपि दोषः 'आणाए मामगं धम्मं' इत्याचाराङ्गवचनप्रामाण्यादिति ॥ सू० ८ ॥

श्रमणैर्वस्त्राणि कियन्ति किंप्रमाणानि चोपकरणत्वेन ग्रहीतव्यानि तत्राह भाष्यकारः— 'भिन्नाइं' इत्यादि ।

भाष्यम्—भिन्नाइं वत्थाइं, उवगरणे कइ य धारणिज्जाइं ।
थविरे कप्पे चउदस, साडगमाईणि णेयाइं ॥ ६ ॥

छाया—भिन्नानि वस्त्राणि उपकरणे कति च धारणीयानि ।
स्थविरे कल्पे चतुर्दश, शाटकादीनि ज्ञातव्यानि ॥ ६ ॥

अवचूरी—'भिन्नाइं' इति । अभिन्नानि वस्त्राणि श्रमणैर्न ग्रहीतव्यानि नैव च धारणीयानीति भगवता प्रतिषिद्धं, तेनायाति–भिन्नानि धारणीयानि, तानि श्रमणानामुपकरणे उपकरणनिश्रायां कति–कतिसंख्यकानि धारणीयानि ? इति प्रश्ने प्राह–अत्रास्मिन् स्थविरे कल्पे साधूनां चतुर्दश वस्त्राणि शाटकादीनि उपकरणे ज्ञातव्यानि, तानीमानि–शाटकत्रयम् ३, चोलपट्टकः ४, आसनम् ५, मुखवस्त्रिका ६, प्रमार्जिका ७, पात्राणामञ्चलत्रयम् १०, भिक्षाधानी ११, माण्डलकवस्त्रम् १२, रजोहरणदण्डाऽऽवरकवस्त्रं 'निषद्या' इति समयभाषाप्रसिद्धम् १३, चतुर्दशं च धावनजलादिगालनवस्त्रम् १४, इति । एतानि चतुर्दश उपकरणानि स्थविरकल्पिकानां कल्पन्ते । गृहस्थैः स्वनिमित्तं भिन्नं वस्त्रं समादाय तन्मध्याद् यथोक्तप्रकारेण चतुर्दशोपकरणानि यतनया विभिद्य करणीयानि स्वस्वप्रमाणेन उपकरणविधायनस्य भगवताऽनुज्ञातत्वादिति ॥ ६ ॥

पूर्वमभिन्नवस्त्रधारणे निषेधः प्रतिपादितः, साम्प्रतं स्पष्टप्रतिपत्त्यर्थं तद्विपरीतं भिन्नवस्त्रधारणसूत्रमाह–'कप्पइ० भिन्नाइं' इत्यादि ।

सूत्रम्—कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा भिन्नाइं वत्थाइं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥ सू० ९ ॥

छाया—कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा भिन्नानि वस्त्राणि धर्तुं वा परिहर्तुं वा ॥ सू० ९ ॥

चूर्णी—'कप्पइ' इति । कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा भिन्नानि छेदितानि गृहस्थैः स्वनिमित्तं स्फाटितानि वस्त्राणि धर्तुं परिहर्तुं वा । अन्यत्सर्वं पूर्वसूत्रवदेव विज्ञेयम् ॥ सू० ९ ॥

पूर्वं निर्ग्रन्थनिर्ग्रन्थीनां सामान्येन भिन्नाभिन्नवस्त्रधारणे विधिर्निषेधश्च प्रतिपादितः, साम्प्रतं निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां च स्वस्वकल्पानुसारेण पृथक् पृथग् वस्त्रधारणे निषेधं विधिं च प्रतिपादयितुकामः प्रथमं निर्ग्रन्थसूत्रमाह–'नो कप्पइ० उग्गहणंतगं' इत्यादि ।

सूत्रम्—नो कप्पइ निग्गंथाणं उग्गहणंतगं वा उग्गहपट्टगं वा धारित्तए वा परिहरित्तएवा ॥ सू० १० ॥

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थानाम् अवग्रहानन्तकं वा अवग्रहपट्टकं वा धर्तुं वा परिहर्तुंवा ॥ सू० १० ॥

चूर्णी—'नो कप्पइ' इति । निर्ग्रन्थानाम् अवग्रहानन्तकम्–समयभाषया गुह्यस्थानाच्छादनवस्त्रं 'लंगोट, कौपीन'इतिप्रसिद्धम्, अवग्रहपट्टकं तस्याप्युपरि तदाच्छादनार्थं यद् धार्यते तत् धर्त्तुं स्वनिश्रायां स्थापयितुं परिहर्त्तुं परिभोक्तुं वा नो कल्पते, अनयोस्तापसादीनामुपकरणत्वेन जैनमुनीनामकल्प्यत्वादिति ॥ सू० १० ॥

पूर्वोक्तं वस्त्रद्वयं निर्ग्रन्थीनां कल्प्यत्वेन तद्विधिसूत्रमाह–'कप्पइ० उग्गहणंतगं' इत्यादि ।

सूत्रम्—कप्पइ निग्गंथीणं उग्गहणंतगं वा उग्गहपट्टगं वा धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥ सू० ११ ॥

छाया—कल्पते निर्ग्रन्थीनाम् अवग्रहानन्तकं वा अवग्रहपट्टकं वा धर्तुं वा परिहर्तुं वा ॥ सू० ११ ॥

चूर्णी—'कप्पइ' इति । व्याख्या सुगमा नवरं पूर्वोक्तं वस्त्रद्वयं यद् निर्ग्रन्थानां प्रतिषिद्धं तद् निर्ग्रन्थीनां कल्पते, निर्ग्रन्थीनां स्त्रीत्वेन रजोदर्शनसंजातरुधिरस्रावप्रतिरोधने आवश्यकत्वादिति ॥ सू० ११ ॥

पूर्वसूत्रे निर्ग्रन्थीनां वस्त्रद्वयधारणे विधिः प्रोक्तः, साम्प्रतं वस्त्रप्रसङ्गाद् निर्ग्रन्थीवस्त्रग्रहणे विधिमाह–'निग्गंथीए य' इत्यादि ।

सूत्रम्—निग्गंथीए य गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुपविट्ठाए चेलट्ठे समुप्पज्जेज्जा, नो से कप्पइ अप्पणो नीसाए चेलं पडिग्गाहित्तए, कप्पइ से पवत्तिणीणीसाए चेलं पडिग्गाहित्तए । नो य से पवित्तिणी सामाणा सिया जे से तत्थ सामाणे आयरिए वा उवज्झाए वा पवत्तए वा थेरे वा गणी वा गणहरे वा गणावच्छेयए वा जं चऽन्नं पुरओ कट्टु विहरइ कप्पइ से तन्नीसाए चेलं पडिग्गाहित्तए ॥ सू० १२ ॥

छाया—निर्ग्रन्थ्याश्च गाथापतिकुलं पिण्डपातप्रतिज्ञया अनुप्रविष्टायाश्चेलार्थं समुत्पद्येत, नो तस्याः कल्पते आत्मनो निश्रया चेलं प्रतिग्रहीतुम्, कल्पते तस्याः प्रवर्त्तिनीनिश्रया चेलं प्रतिग्रहीतुम्, नो चेद् अथ तत्र प्रवर्त्तिनी सामाना स्यात् यः स तत्र सामानः आचार्यो वा उपाध्यायो वा प्रवर्त्तको वा स्थविरो वा गणी वा गणधरो वा गणावच्छे-

दको वा यं चान्यं पुरतः कृत्वा विहरति कल्पते तस्यास्तन्निश्रया चेलं प्रतिग्रहीतुम् ॥ सू०१२ ॥

चूर्णी–'निग्गंथीए य' इति । निर्ग्रन्थ्याश्च, कीदृश्या इत्याह–गाथापतिकुलं गृहस्थगृहं पिण्डपातप्रतिज्ञया–आहारग्रहणेच्छया अनुप्रविष्टाया यदि चेलार्थः चेलस्य अर्थः प्रयोजनं अल्पवस्त्रत्वेन वस्त्रग्रहणप्रयोजन समुत्पद्येत तदा तस्या निर्ग्रन्थ्या आत्मनः निश्रया आत्मीयत्वेन 'इदं वस्त्रं मम भविष्यती'–त्येवंरूपया निश्रया चेलं वस्त्र प्रतिग्रहीतुं गृहस्थादादातुं नो कल्पते । तर्हि कथं कल्पते ? इति तद्विधिं प्रदर्शयति–तस्याः प्रवर्त्तिनीनिश्रया–'इदं वस्त्रं गृह्णामि मम प्रवर्त्तिनीनिश्रया, सा यस्याः कस्या मम अन्यस्या वा दास्यति सा ग्रहीष्यति' इत्येवंरूपया गृहस्थं प्रत्येवं वाचा प्रकटय्येत्यर्थः चेलं वस्त्रं प्रतिग्रहीतुं कल्पते । यदि नो चाथ प्रवर्त्तिनी सामाना सन्निहिता तत्र ग्रामे उपाश्रये वा न स्यात् नो भवेत्तदा तत्र ग्रामे यः सः यः कोऽपि सामानः संनिहितः स्यात्, कः ? इत्याह–आचार्यो वा, आचार्यः-यः पञ्चाचारान् स्वयं पालति परान् पालयति सः, तथा योऽर्थं वाचयति, गच्छस्य मेवीभूतः शरीराद्यष्टमपदायुक्तो भवेत्स आचार्यः संनिहितो भवेत्, तदभावे उपाध्यायः–उप–समीपम् एत्य अधीयते प्रवचनं शिष्यैः यस्मात् स वा भवेत्, तदभावे प्रवर्त्तकः–प्रवर्त्तयति आचार्योपदिष्टेषु कार्येषु तपःसंयमयोगवैयावृत्यसेवाशुश्रूषाऽध्ययनाध्यापनसूत्रार्थादिषु यथायोग्यं बलाबलं विचार्य नियोजयति यः स प्रवर्त्तको भवेत्, तदभावे स्थविरो वा–सयमयोगेषु सीदतः साधून् ऐहिकामुष्मिकापायप्रदर्शनपूर्वकं ज्ञानादिषु स्थिरीकरोति यः स स्थविरो वा भवेत्, तदभावे गणी वा–गण· कतिपयसाधुसमुदायः स्वस्वामिसम्बन्धेन यस्यास्ति स·, यः साधुसमुदायेन सह विचरणशीलः स गणी वा भवेत्. तदभावे गणधरो वा यः गणचिन्ताकारको गणस्य योगक्षेमविधायकः, तत्र अप्राप्तस्य प्राप्तिर्योगः, प्राप्तस्य रक्षणं क्षेमस्तद्विधायको गणधरो वा भवेत्, तदभावे गणावच्छेदको वा गणस्य साधुसमुदायस्यावच्छेदं विभागं करोति यः गणव्यवस्थाकारकः स गणावच्छेदको वा भवेत्, तदभावे यं चान्यं कमपि गीतार्थं पुरतः कृत्वा साध्वी तदाज्ञया विहरति सो वा तत्र संनिहितो भवेत्, एतेषु आचार्यादिषु यः कोऽपि तदा संनिहितो भवेत् तन्निश्रया तन्निश्रामधिकृत्य तस्या निर्ग्रन्थ्याः चेलं–वस्त्रं प्रतिग्रहीतुं कल्पत्ते, भिक्षार्थं गृहस्थगृहे गतया निर्ग्रन्थ्या वस्त्रावश्यकतायां स्वनिश्रया कदापि वस्त्रं न ग्रहीतव्यमिति भावः ॥ सू० १२ ॥

पूर्वसूत्रे निर्ग्रन्थ्या वस्त्रग्रहणविधिः प्रोक्तः, साम्प्रतं प्रथमतया प्रव्रजितुकामस्य पूर्वोपस्थितस्य च वस्त्रग्रहणविधिमाह–'निग्गंथस्स' इत्यादि ।

सूत्रम्—निग्गंथस्स णं तप्पढमयाए संपव्वयमाणस्स कप्पइ रयहरणगोच्छगपडिग्गहमायाए तिहिं कसिणेहिं वत्थेहिं आयाए संपव्वइत्तए, से य पुव्वोवट्ठिए सिया एवं से

नो कप्पइ रयहरणगोच्छगपडिग्गमायाए तिहिं कसिणेहिं वत्थेहिं आयाए संपव्वइत्तए, कप्पइ से अहापडिग्गहियाइं वत्थाइं गहाय आयाए संपव्वइत्तए ॥ सू० १३ ॥

छाया—निर्ग्रन्थस्य खलु तत्प्रथमतया संप्रव्रजतः कल्पते रजोहरणगोच्छक—प्रतिग्रहमादाय त्रिभिः कृत्स्नैर्वस्त्रैः आत्मना संप्रव्रजितुम् । स च पूर्वोपस्थितः स्यात् एवं तस्य नो कल्पते रजोहरणगोच्छकप्रतिग्रहमादाय त्रिभिः कृत्स्नैर्वस्त्रैः आत्मना संप्रव्रजितुम् कल्पते तस्य यथाप्रतिगृहीतानि वस्त्राणि गृहीत्वा आत्मना संप्रव्रजितुम् ॥ सू०१३॥

चूर्णी—'निग्गंथस्स'इति । निर्ग्रन्थस्य तत्प्रथमतया तत्-तेन साधुत्वेन प्रथमः तत्प्रथम', तस्य भावस्तत्ता, तया पूर्वमदीक्षितस्य प्रथममेव दीक्षितुमुपस्थिततया सप्रव्रजतः प्रव्रज्यां गृहतः कल्पते रजोहरण—गोच्छक प्रतिग्रहम्, तत्र रजोहरणं प्रसिद्धं, गोच्छकं प्रमार्जनिका, प्रतिग्रहः पात्रम्, रजोहरणं च गोच्छकं च प्रतिग्रहश्चेति समाहारद्वन्द्वे रजोहरणगोच्छकप्रतिग्रहम्, तत् नूतनम् आदाय गृहीत्वा तदन्यैर्नूतनैस्त्रिभिः कृत्स्नै, तत्र-चतुर्विंशतिहस्तपरिमितमायामतः, एकहस्तपरिमितं च विष्कम्भतः, एतावत्प्रमाणकं वस्त्र कृत्स्नमुच्यते, तैः परिपूर्णैः अखण्डितैः वस्त्रैः 'थान' 'ताका' इति प्राचीनसमये प्रसिद्धैः, एकं कृत्स्नं वस्त्रं चतुर्विंशतिहस्तप्रमितमभूत् तादृशैस्त्रिभिः कृत्स्नैर्वस्त्रैः साधूनां द्वासप्ततिहस्तप्रमितवस्त्रग्रहणस्य कल्पत्वात्, तैः सह तानि त्रीणि गृहीत्वेत्यर्थः आत्मना स्वयं सप्रव्रजितुं कल्पते। एष विधिरगारितोऽनगारताग्रहणकालविषयो बोध्यः । अथ पूर्वप्रव्रजितस्य सामायिकचारित्रवतश्छेदोपस्थापनीयचारित्रग्रहणसमयस्य विधिं प्रदर्शयति—'से य पुव्वोवट्ठिए' इत्यादि, 'से य' स च प्रव्रज्यां प्रतिपत्तुकामो यदि पूर्वोपस्थितः पूर्वगृहीतसामायिक-चारित्रः सन् छेदोपस्थापनीयचारित्रं ग्रहीतुकामः स्यात्, यद्वा अतिचारादिमूलगुणदो-षापत्त्या पुनर्दीक्षार्थमुपस्थित स्यात् तदा 'एवं' एवं सति 'से' तस्य पूर्वोपस्थितस्य रजोहरणगोच्छकप्रतिग्रहं नूतनम् 'आयाए' आदाय गृहीत्वा एवं त्रिभिश्च कृत्स्नैः वस्त्रैः सह आत्मना स्वयं संप्रव्रजितु नो कल्पते । तर्हि तस्य कया रीत्या कल्पते ? इति तद्विधि-माह—'कप्पइ' इत्यादि, कल्पते तस्य तादृशस्य पूर्वोपस्थितस्य छेदोपस्थापनीयचारित्रग्रहण-कामस्य यथाप्रतिगृहीतानि—यथा येन विधिना प्रतिगृहीतानि यानि पूर्वं स्वीकृतानि वस्त्राणि तान्येव गृहीत्वा आत्मना स्वयं संप्रव्रजितुम् छेदोपस्थापनीयचारित्रं ग्रहीतु कल्पते इति पूर्वेण सम्बन्ध । अयं भाव.—यः पूर्वं गृहस्थः स प्रथमतया प्रव्रज्यां गृह्णाति तस्य नूतनं रजोहरणादिक त्रीणि कृत्स्नानि वस्त्राणि च गृहीत्वा प्रव्रजितुं कल्पते । यः पुनः पूर्वोपस्थितः पूर्वं गृहीतसामायिकचारित्रः, यद्वा चारित्रदोषवशात् पुनर्महाव्रतोपस्थापनं स्वीकर्तुकामो भवेत् तस्य नूतनरजोहरणादिकं त्रीणि कृत्स्नानि वस्त्राणि च गृहीत्वा प्रव्रजितुं न कल्पते, किन्तु तस्य पूर्वप्रतिगृहीतान्येव वस्त्राणि गृहीत्वा कल्पते इति भावः। ननु यस्तत्प्रथमतया दीक्षां ग्रहीष्यति,

अतः संप्रति स गृहस्थ एव तर्हि सूत्रे **'निग्गंथस्स'** इति कथं प्रोक्तम्, स निर्ग्रन्थपदेन कथमुपलक्षीकृतः ? अत्राह—सत्यम्, किन्तु अत्र जिनशासने निर्ग्रन्थो द्विविधः प्रोक्तः, द्रव्यनिर्ग्रन्थो भावनिर्ग्रन्थश्चेति, अत्रायं भावनिर्ग्रन्थो वर्तते ततः सूत्रकारेण निर्ग्रन्थपदेन उपलक्षीकृतः । अत्र द्रव्यभावमाश्रित्य चतुर्भङ्गी भवति, तथाहि—एको द्रव्यतो निर्ग्रन्थो भवति नतु भावतः १, एको भावतो निर्ग्रन्थो भवति नतु द्रव्यत २, एको द्रव्यतो भावत इत्युभयतोऽपि निर्ग्रन्थः३, एको न द्रव्यतो न भावतो निर्ग्रन्थ ४। तत्र यो द्रव्यतो वेषेण निर्ग्रन्थः किन्तु भावतः साध्वाचारतो न निर्ग्रन्थ· साधुक्रियायाः शैथिल्यात् इति प्रथमभङ्गस्य भावः १, एकः कश्चित् भावतो निर्ग्रन्थः सन्नपि मनोवचोवृत्त्या साधुवत्क्रियाकारकः किन्तु द्रव्यत· साधुवेषतो न निर्ग्रन्थ इति द्वितीयभङ्गभाव· २, एको द्रव्यतो मुनिवेषतोऽपि भावतो यथोक्तसाध्वाचारपालनतोऽपि च निर्ग्रन्थ इति तृतीयभङ्गभावः ३, एको न द्रव्यतः साधुवेषत·, नापि च भावतः—विरतिपरिणामरहितो गृहस्थ इति चतुर्थभङ्गभावः ४ । अत्र स द्वितीयभङ्गवर्तित्वाद्-निर्ग्रन्थशब्देन प्रोक्त इति समीचीनमेवेति ॥ सू०१३ ॥

अथ पूर्वोक्तमेव विषयमधिकृत्य निर्ग्रन्थीसूत्रमाह—**'निग्गंथीए णं'** इत्यादि ।

सूत्रम्—निग्गंथीए णं तप्पढमयाए संपव्वयमाणीए कप्पइ रयहरणगोच्छग-पडिग्गहमायाए चउहिं कसिणेहिं वत्थेहिं आयाए संपव्वइत्तए । सा य पुव्वोवट्ठिया सिया एवं से नो कप्पइ रयहरणगोच्छगपडिग्गहमायाए चउहिं कसिणेहिं आयाए संपव्व-इत्तए, कप्पइ से अहापडिग्गहियाइं वत्थाइं गहाय आयाए संपव्वइत्तए ॥ सू० १४ ॥

छाया—निर्ग्रन्थ्याः खलु तत्प्रथमतया संप्रव्रजन्त्याः कल्पते रजोहरणगोच्छक-प्रतिग्रहमादाय चतुर्भिः कृत्स्नै वस्त्रै आत्मना संप्रव्रजितुम् । सा च पूर्वोपस्थिता स्यात् एवं तस्या नो कल्पते रजोहरणगोच्छकप्रतिग्रहमादाय चतुर्भिः कृत्स्नैः वस्त्रैः आत्मना संप्रव्र-जितुम्, कल्पते तस्या यथाप्रतिगृहीतानि वस्त्राणि गृहीत्वा आत्मना संप्रव्रजितुम् ॥ सू०१४॥

चूर्णी—'निग्गंथीए णं' इति । अस्य निर्ग्रन्थीसूत्रस्य सर्वाऽपि व्याख्या निर्ग्रन्थसूत्रस्येव परि-भावनीया, विशेषोऽत्राऽयं बोध्य·—तत्र निर्ग्रन्थसूत्रे पुंलिङ्गनिर्देशेन व्याख्या कृता अत्र तु स्त्रीलिङ्गनिर्देशेन व्याख्या कर्त्तव्या, अन्यसूत्रगतो विशेषोऽत्रायम्—निर्ग्रन्थसूत्रे **'तिहिं कसिणेहिं वत्थेहिं'** त्रिभिः कृत्स्नैर्वस्त्रैः इत्युक्तम्, अत्र निर्ग्रन्थीसूत्रे च **'चउहिं कसिणेहिं वत्थेहिं'** चतुर्भिः कृत्स्नैः वस्त्रैः इति प्रोक्तम्, निर्ग्रन्थीना स्त्रीत्वेन भगवता षण्णवतिहस्तपरिमितवस्त्रप्रमाणस्यानुज्ञातत्वादिति ॥सू०१४॥

पूर्वं निर्ग्रन्थस्य निर्ग्रन्थ्याश्च दीक्षाकालिकवस्त्रग्रहणविधिः प्रदर्शितः, साम्प्रतं वस्त्रप्रसङ्गात् निग्रन्थनिर्ग्रन्थीनामन्यकालिकवस्त्रग्रहणविधिमाह—**'नो कप्पइ० पढम०'** इत्यादि ।

सूत्रम्—नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पढमसमोसरणुद्देसपत्ताइं चेलाइं पडिगाहित्तए । कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा दोच्चसमोसरणुद्देशपत्ताइं चेलाइ पडिगाहित्तए ॥ सू०१५ ॥

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा प्रथमसमवसरणोद्देशप्राप्तानि चेलानि प्रतिग्रहीतुम्। कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा द्वितीयसमवसरणोद्देशप्राप्तानि चेलानि प्रतिग्रहीतुम् ॥ सू०१५॥

चूर्णी—'नोकप्पइ' इति। निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा प्रथमसमवसरणोद्देशप्राप्तानि प्रथमे समवसरणे, एकस्मिन् वर्षे द्वे समवसरणे भवतः—एकं वर्षाकालिकं द्वितीयम् ऋतुबद्धकालिकम्, तयोर्मध्ये प्रथमे वर्षाकालिकरूपे समवसरणे वर्षाकाले इत्यर्थः उद्देशः क्षेत्रकालविभागरूपः, तं प्राप्तानि प्रथमसमवसरणोद्देशप्राप्तानि वर्षाकालमध्यवर्तिक्षेत्रकालोपस्थितानि चेलानि—वस्त्राणि प्रतिग्रहीतुं नो कल्पते। तर्हि कीदृक्क्षेत्रकालप्राप्तानि वस्त्राणि प्रतिग्रहीतव्यानि? तत्राह—'कप्पइ' इत्यादि, निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां च द्वितीयसमवसरणोद्देशप्राप्तानि—तत्र द्वितीयसमवसरणे ऋतुबद्धकाले हेमन्तग्रीष्मकाल-सम्बन्धिषु अष्टसु मासेषु उद्देशः क्षेत्रकालविभागरूपस्तं प्राप्तानि—हेमन्तग्रीष्मकालमध्यवर्तिक्षेत्रकालो-पस्थितानि चेलानि वस्त्राणि उपधिप्रायोग्यानि पात्राणि च प्रतिग्रहीतुं कल्पते। समाप्ते चातुर्मासे कार्तिकपूर्णिमात आरभ्य यावत् अषाढपूर्णिमा नायाति तावत्कालपर्यन्तं निर्ग्रन्थनिर्ग्रन्थीनां वस्त्राणि पात्राणि च एषणाप्राप्तानि क्षेत्रकालतो निर्दोषाणि कल्पते इति भावः ॥ सू० १५ ॥

पूर्वं द्वितीयसमवसरणे निर्ग्रन्थनिर्ग्रन्थीनां वस्त्रग्रहणमनुज्ञातम्, साम्प्रतं गृहीतानां तेषां वस्त्राणां यथारात्निकं विभागविधिं प्रतिपादयति—'कप्पइ० अहारायणियाए' इत्यादि।

सूत्रम्—कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अहारायणियाए चेलाइं पडिग्गा-हित्तए ॥ सू० १६ ॥

छाया—कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा यथारात्निकतया चेलानि प्रतिग्रही-तुम् ॥ सू० १६ ॥

चूर्णी—'कप्पइ' इति। निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां वा चेलानि वस्त्राणि यथारात्निकतया यथारत्नाधिकतया, रत्नं चारित्रपर्यायः तद् यथा यथा श्रमणश्रमणीनामधिककालिकः पर्यायो भवेत् तथा तथा पर्यायज्येष्ठक्रमेण मनसि निधाय प्रतिग्रहीतुं स्वीकर्तुं कल्पते, एवमेव विभागेन दातुं कल्पते, अन्यथा दाने अविनयाशातनाऽधिकरणादिदोषसंभवात् ॥ सू० १६ ॥

पूर्वसूत्रे श्रमणश्रमणीनां यथारात्निकक्रमेण वस्त्रग्रहणं प्रतिपादितम्, साम्प्रत शय्या-संस्तारकग्रहणविधिमाह—'कप्पइ' इत्यादि।

सूत्रम्—कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अहारायणियाए सेज्जासंथारए पडिग्गाहित्तए ॥ सू० १७ ॥

छाया—कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा यथारात्निकतया शय्यासंस्तारकान् प्रतिग्रहीतुम् ॥ सू० १७ ॥

चूर्णी--'कप्पइ' इति । निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां वा पूर्वसूत्रोक्तवस्त्रवदेव शय्यासंस्तारकान्, तत्र शय्या वसतिः, तस्या यः संस्तारकः शयनयोग्यावकाशलक्षणं स्थानं स शय्यासंस्तारकः, तान् यथारात्निकतया पर्यायज्येष्ठतया प्रतिग्रहीतुं समादातुं कल्पते । तस्य चोपाश्रयप्राप्तैः श्रमणैः पूर्वाह्नवेलायामेव ग्रहणं कर्त्तव्यम् ततो यथारात्निकं विभक्तव्यम्, यद्वा शय्या-शरीरप्रमाणा, संस्तारकः-सार्द्धद्विहस्तः, तयोः समाहारे शय्यासंस्तारकम्, तानि, पीठफलकादीनि वा यथारात्निकतया पर्यायज्येष्ठत्वक्रमेण आचार्यस्थविरबालग्लानादीनां यथायोग्यक्रमेण च ग्रहीतुं कल्पते ॥ सू० १७ ॥

अत्राह गाथाद्वयं भाष्यकारः—'सयणट्ठाणं' इत्यादि ।

भाष्यम्--सयणट्ठाणं तिविहं, निव्वायसवायमिस्सभेयाओ ।
समविसममिस्सभेया, पुणोवि तिविहं सयणठाणं ॥ ७ ॥
एसु य जं सुहठाणं, रायणियाणं गिलाणमाईणं ।
आमंतिय तं देज्जा, एसा जिणसासणे मेरा ॥ ८ ॥

छाया--शयनस्थानं त्रिविधं-निर्वात-सवात-मिश्रभेदतः ।
सम-विषम-मिश्रभेदात्, पुनरपि त्रिविधं शयनस्थानम् ॥ ७ ॥
एषु च यत् सुखस्थानं, रात्निकानां ग्लानादीनाम् ।
आमन्त्र्य तद् दद्यात्, एषा जिनशासने मर्यादा ॥ ८ ॥

अवचूरी--'सयणट्ठाणं' इत्यादि । सूत्रे शय्यासंस्तारकशब्देन वसतिगतशयनयोग्यं स्थानं गृहीतम् । तच्च शयनस्थानं-निर्वातं, सवातं, निर्वातसवातं चेति भेदात् त्रिविधं भवति, पुनरपि समं, विषमं, समविषममिति भेदात् त्रिविधम् । तत्र शयनस्थानमाचार्येण यद् यस्मै साधवे दीयते तत्तेन मायामदविप्रमुक्तेन ऋजुभावेन ग्रहीतव्यम्, किन्तु एषु पूर्वोक्तेषु षट्सु स्थानेषु यत् सुखस्थानं भवेत् तत्-आचार्य-स्थविर-ग्लानादीनाम् आमन्त्र्य 'यदि भवतां न समीचीनं शयनस्थानं तर्हि ममेदं गृहाण' इत्यादिसंमानवाक्येन उपनिमन्त्र्य तत् स्वस्य समीचीनं शयनस्थानं यत्तेषां रोचते तद् दद्यात् यतो जिनशासने एषा श्रमणानां मर्यादा वर्तते, भगवता समुपदिष्टत्वात् । अथवा शय्या शरीरप्रमाणा, संस्तारकः सार्द्धद्विहस्तप्रमाणः । अत्रापि कर्कशमृदुकठोरश्लक्ष्णादिभेदमधिकृत्य पूर्वोक्तो विधिर्बोध्यः ॥ ७-८ ॥

पूर्वं शय्यासंस्तारकस्य यथारात्निकतया ग्रहणविषयकं सूत्रं प्रोक्तम्, साम्प्रतं शय्यासंस्तारकग्रहणानन्तरं सन्ध्यासमये पूर्णायां पौरुष्यां गुरुप्रदत्तशय्यासंस्तारं प्रस्तीर्य तदुपरि समारूढस्य एवं प्रातरुत्थितस्य च कृतिकर्म करणीयं भवेत्, तदपि यथारात्निकतया कर्त्तव्यमिति तद्विधिप्रतिपादकं सूत्रमाह-'कप्पइ० किइकम्मं' इत्यादि ॥

सूत्रम्-कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अहारायणियाए किइकम्मं करित्तए ॥ सू० १८ ॥

छाया—कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा यथारात्निकतया कृतिकर्म कर्त्तुम् ॥१८॥

चूर्णी—'कप्पइ' इति । निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां यथारात्निकतया पर्यायज्येष्ठत्वक्रमेण कृतिकर्म–शास्त्रभाषया शिष्यादिकृतो वन्दनाभ्युत्थानादिसत्कारः, तत् कर्त्तुं कल्पते, नान्यथा ज्येष्ठत्वकनिष्ठत्वमर्यादामतिक्रम्येति भावः । कृतिकर्म द्विविधं वन्दनाभ्युत्थानभेदात्, तत्र वन्दनम् आचार्यादियथारात्निकानां प्रातः सायं तेषां दृष्टिपाते कार्यपृच्छादिसमये च यथाविधि वन्दनकं कर्तव्यम्, वन्दन कृत्वैव कार्यादिपृच्छा कर्त्तव्या, एवं सूत्रार्थतदुभयग्रहणेऽपि वन्दनं कर्त्तव्यमेवेति । अभ्युत्थानम्–गुरोः समीपागमने, चंक्रमणे, उच्चारादिभूमौ गमनकाले, आसनादुत्थानकाले, इत्याद्यवसरे शिष्येणाभ्युत्थानं कर्त्तव्यम्, अन्यथा गुरोराशातना, आज्ञाभङ्गादिदोषाश्च समापद्यन्ते, धर्मस्य विनयमूलत्वेन भगवता प्रतिपादितत्वात्, उक्तञ्च—

"धम्मस्स मूलं विणयं वयंति, धम्मो य मूलं खलु सोग्गईए ।
सा सोग्गई जत्थ अवाहया उ, तम्हा निसेव्वो विणओ तयट्ठा" ॥ १ ॥

अयं भावः–धर्मस्य जिनोक्तस्य श्रुतचारित्रलक्षणस्य मूलं तीर्थकरगणधरादयो विनयं वदन्ति 'धर्मस्य मूलं विनयः' इति, 'मूलं नास्ति कुतः शाखा' इति वचनाद् विनयमन्तरेण तपःसंयमाराधनाऽपि कथं भवेत् । धर्मो हि सुगत्या मूलम्, सा सुगतिः कथ्यते यत्र अवाधता क्षुत्पिपासारोगशोकादिशारीरमानसानां वाधानामभावः सिद्धिरित्यर्थः स्यात् तस्मात् कारणात् मुनिना प्रथमं विनयो निसेव्यः विनयः समादरणीयः । स च गुरूणां वन्दनाभ्युत्थानसेवाशुश्रूषादिना जायते ।

अत्रायं भावः–इह निर्ग्रन्थस्य कार्यं तावदव्याबाधसुखलक्षणो मोक्षः, तस्य च कारणं सर्वज्ञभाषितः श्रुतचारित्रलक्षणो धर्मः, स च गुरोरभ्युत्थानवन्दनादिरूपविनयलक्षणमुपायमन्तरेण साधयितुं न शक्यते, धर्मस्य विनयमूलत्वात्, अतो विनयेन धर्माराधनं, धर्माराधनेन मोक्ष इति परम्परया विनयो मोक्षकारणमेवेति मत्वा तदर्थं विनय आसेवितव्य इति ॥ सू० १८ ॥

अत्र विनयमोक्षयोः कार्यकारणभावप्रदर्शनपूर्वकमाह भाष्यकारः—'कज्जं' इत्यादि ।

भाष्यम्—कज्जं च मोक्खो, विणओ य हेऊ,
निक्कारणा नत्थिह कज्जसिद्धी ।
तम्हा उवायं तह कारणं च,
ओलंबिउं पावइ कज्जसिद्धिं ॥ ९ ॥

छाया—कार्यं च मोक्षो विनयश्च हेतुः ।
निष्कारणात् नास्तीह कार्यसिद्धिः ॥
तस्माद् उपायं तथा कारणं च, ।
अवलम्ब्य प्राप्नोति कार्यसिद्धिम् ॥ ९ ॥

अवचूरी—'कज्जं च' इति । इह श्रमणधर्मे निर्ग्रन्थस्य कार्यं मोक्षः, तस्य हेतुरिति कारणं च विनयः, इति तयोः कार्यकारणभावः, तस्मात् निष्कारणात कारणमन्तरेण उपायमन्तरेण च इह लोके कार्यसिद्धिर्नास्ति न भवति, तस्मात् कारणात् उपायं तथा कारण चावलम्ब्यैव कार्य-सिद्धिः जीवः प्राप्नोति । तथाहि—यस्य कार्यस्य यद् उपादानं कारणं तेन विना तत्कार्यं न सिध्यति यथा मृत्पिण्डमन्तरेण घट इति', उपादानकारणसद्भावेऽपि उपायरूपनिमित्त-कारणाभावे कार्यं न सिध्यति यथा मृत्पिण्डसद्भावेऽपि चक्रचीवरोदकादिनिमित्तकारण-मन्तरेण घटो न निष्पाद्यते अतो यः पुनरुपायरूपनिमित्तकारणवान् प्रयत्नशीलश्च भवति स उपादानकारणम् उपायरूपनिमित्तकारणं चावलम्ब्यैव कार्यं साधयति, तथैवात्र मोक्षकार्यस्यो-पादानकारणं सर्वविरतिमान् आत्मैव, विनयादिनिमित्तकारणैर्विना नोपादानकारणं मोक्षत्वेन परिणमति—यथा मृत्पिण्डश्चक्रचीवरोदकाद्यभावे घटत्वेन नो परिणमति, अतो निर्ग्रन्थेन विनयः समासेवनीय इति ॥ ९ ॥

पूर्वं कृतिकर्मविधौ विनयः सविस्तरं प्रदर्शितः, विनयवांश्च तादृशमविनयजनकं किमपि कार्यं न करोति, गृहान्तराले स्थानादिकारणे च गृहस्थस्याविनयो भवतीति गृहान्तराले स्था-नादिकरणस्य निषेधसूत्रमाह—'नो कप्पइ० अन्तरागिहंसि' इत्यादि ।

सूत्रम्—नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अन्तरागिहंसि चिट्ठित्तए वा निसी-इत्तए वा तुयट्टित्तए वा निदाइत्तए वा पयलाइत्तए वा, असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आहारं आहरित्तए वा, उच्चारं वा पासवणं वा खेलं, वा सिंघाणं वा परिट्ठवित्तए, सज्झायं वा करित्तए झाणं वा झाइत्तए काउस्सग्गं वा करित्तए ठाणं वा ठाइत्तए । अह पुण एवं जाणेज्जा वाहिए जराजुण्णे. तवस्सी दुब्बले किलंते मुच्छिज्ज वा पवडिज्ज वा एवं से कप्पइ अन्तरागिहंसि चिट्ठित्तए वा जाव ठाणं वा ठाइत्तए ॥ सू० १९ ॥

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा अन्तरगृहे स्थातु वा निषत्तुं वा त्वग्वर्त्तयितुं वा निद्रायितुं वा प्रचलायितुं वा अशनं वा, पानं वा खाद्यं वा स्वाद्यं वा आहा-रम् आहर्त्तुम्, उच्चारं वा प्रस्रवणं वा खेलं वा शिङ्घाणं वा परिष्ठापयितुम्, स्वाध्यायं वा कर्तुम्, ध्यानं वा ध्यातुम्, कायोत्सर्गं वा कर्तुम्, स्थानं वा स्थातुम् । अथ पुनरेवं जानीयात् व्याधितः जराजीर्णः तपस्वी दुर्बलः क्लान्तः मूर्च्छेत् वा प्रपतेत् वा एवं तस्य कल्पते अन्तरगृहे स्थातुं वा यावत् स्थानं वा स्थातुम् ॥ सू० १९ ॥

चूर्णी--'नो कल्पते' इति । निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा अन्तरगृहे गृहयोः गृहस्थ-निवासस्थानयोः अन्तरम् अन्तरालम्–अन्तरगृहम् गृहद्वयस्यान्तरालम् अन्तरगृहम् तस्मिन् यत्र गृहस्था गृहाद् गृहान्तरप्रवेशार्थं गमनागमनं कुर्वन्ति तत्र, अत्र अन्तरशब्दस्य पूर्वनिपात आर्प-त्वात् । यद्वा 'अतोगिहंसि' इति पाठे गृहस्थगृहस्य अन्तः मध्ये भिक्षाचर्यं गृहस्थगृहे प्रविष्टानां निर्ग्रन्थनिर्ग्रन्थीनां स्थातुमुपवेष्टुं निद्रायितुं प्रचलायितुम् इत्यारम्य स्थानं वा स्थातुम् इति पर्यन्तानि स्थानानि तत्र समाचरितुं नो कल्पते, इत्युत्सर्गवचनम्, एपां पदानां व्याख्या पूर्वं गता । कारणे कर्तुं कल्पते इति कारणं प्रदर्श्यते–'अह पुण' इत्यादि, अथ–इति प्रकर-णान्तरद्योतक, अथ पुनः-पूर्वोक्तानि पदानि अन्तरगृहे कर्तुं साधूनां न कल्पते किन्तु यदि एवं जानीयात् एवं संभवेत् तत्र गतो मुनिर्व्याधितः पूर्वतो व्याधिग्रस्तः तत्कालं वा व्याधितो भवेत्, जराजीर्णोवा वार्द्धक्यग्रस्त स्थविरोः वा भवेत्, तपस्वी तप.कर्म वहमानो वा भवेत्, दुर्बलः रोगादिना तत्कालमुक्तत्वेन वलहीनो दुर्बलशरीरो वा भवेत्, क्लान्तः- अध्वगमनादिना परिश्रान्तो वा भवेत्, एतादृशः स साधुः कदाचित् मूर्छेद् मूर्छां प्राप्नुयाद् वा तेन कारणेन प्रपतेत्–भूमौ प्रस्खलेत्, एवम् एभिः कारणैः 'से' तस्य व्याधितादिविशेषणविशिष्टस्य पूर्वोक्तानि सर्वाणि स्थानानि यथायोग्यमन्तरगृहे कर्त्तुं कल्पते इति सूत्रार्थः ॥ सू० १९ ॥

पूर्वं व्याधितादिविशेषणविशिष्टानामन्तरगृहे स्थानादिकरणमनुज्ञातम्, तेन अन्तरगृहे स्थितः सन् कश्चित् श्रमणो धर्मकथामपि कर्त्तुमारभते इति तन्निषेधमाह–'नो कप्पइ० चउग्गाहं वा' इत्यादि ॥

सूत्रम्—नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गथीण वा अंतरगिहंसि जाव चउग्गाहं वा पंचगा-हं वा आइक्खित्तए वा विभावित्तए वा किट्टित्तए वा पवेइत्तए वा, नन्नत्थ एगणाएण वा एगवागरणेण वा एगगाहाए वा एगसिलोएण वा, सेवि य ठिच्चा नो चेव णं अट्ठिच्चा ॥ सू० २० ॥

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा अन्तरगृहे यावत् चतुर्गाथं वा पञ्चगाथं वा आख्यातुं वा विभावयितुं वा कीर्त्तयितुं वा प्रवेदयितुं वा नान्यत्र एकज्ञा-तेन वा एकव्याकरणेन वा एकगाथया वा एकश्लोकेन वा तदपि च स्थित्वा, नो चैव खलु अस्थित्वा ॥ सू० २० ॥

चूर्णी— 'नो कप्पइ' इति । निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां वा अन्तरगृहे द्वयोर्गृहयोरन्तराले गृहस्थ-गृहाभ्यन्तरे वा यावत् चतुर्गाथम् चतसृणां गाथानां समाहारश्चतुर्गाथम्–एकत आरभ्य गाथा चतुष्टयपर्यन्तम्, पञ्चगाथं वा गाथापञ्चकपर्यन्तं वा, आख्यातुं वा मूलरूपेण कथयितुं वा, विभावयितुं वा चिन्तयितुं वा, कीर्त्तयितुं वा गीतवद् उच्चारयितुं वा, प्रवेदयितुं वा विज्ञापयितुं वा नो कल्पते। तत्र स्थितानां श्रमणश्रमणीनां कारणे कियत् कल्पते ? तत्राह–यदि तत्र केषाञ्चित् जिनवचने शङ्का जायते, धार्मिको विवादो वा भवेत्, इत्यादिकारणे कोऽपि समागत्य तत्रस्थितं साधुं पृच्छेत्

तदा गाथानामाख्यानादिकं कर्त्तुं कल्पते, अन्यथा पृच्छकस्य साधोर्विषये शास्त्रज्ञानाऽबोधरूपा शङ्का भवेत्, विवादनिर्णयो वा न भवेत्। तदा तादृशेऽवसरेऽपि 'नन्नत्थ' इति नान्यत्र–एकज्ञातेन एक-दृष्टान्तेन अन्यत्र–विना 'ने'-ति न कल्पते, 'नान्यत्र' इति सर्वत्र संबध्यते, एकदृष्टान्तादधिकं कथयितुं न कल्पते इति भावः, एवम्–एकव्याकरणेन–एकप्रश्नस्योत्तररूपेण विना एकव्याकरणं मुक्त्वाऽधिकं न कल्पते, यथा यदि कोऽपि पृच्छेत् किंलक्षणो धर्मः ? 'अहिंसालक्खणो धम्मो' अहिंसालक्षणो धर्म इति गाथांशेन निर्वचनं प्रवदेत् , नाधिकमिति। तथा एकगाथया वा नान्यत्र, गाथा आर्यावृ-त्तरूपा, एकश्लोकेन वा नान्यत्र, श्लोकः–अनुष्टुभादिरूपः। एकज्ञातात् एकव्याकरणात्, एकगाथातः, एकश्लोकाद् अधिकम् आख्यातुं विभावयितुं कीर्त्तयितुं प्रवेदयितुं वा किमपि वा कर्त्तुं निर्ग्रन्थनिर्ग्रन्थीनामन्तरगृहे न कल्पते इति भावः। तदपि कथं कल्पते ? इति विधिमाह–'सेवि य' इत्यादि, तदपि च ज्ञातादीनामाख्यानादिकं कल्पते स्थित्वा ऊर्ध्वीभूतगात्रयष्टया स्थितिं कृत्वा कल्पते किन्तु नो चैव खलु अस्थित्वा पूर्वोक्तव्यतिरेकेण आसनादौ समुपविश्येत्यर्थः न कल्पते इति भावः ॥ सू०२०॥

अथ पूर्वोक्तप्रकारेण भावनासहितपञ्चमहाव्रतानामपि आख्यानादेः प्रतिषेधमाह–'नो कप्पइ० इमाइं' इत्यादि।

सूत्रम्—नो कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गंथीणं वा अंतरगिहंसि इमाइं पंचमहव्वयाइं सभावणाइं आइक्खित्तए वा, विभावित्तए वा किट्टित्तए वा पवेइत्तए वा, नन्नत्थ एग-नाएण वा जाव एगसिलोएण वा, सेवि य ठिच्चा नो चेव णं अट्ठिच्चा ॥ सू०२१ ॥

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा अन्तरगृहे इमानि पञ्चमहा-व्रतानि सभावनानि आख्यातुं वा विभावयितुं वा कीर्त्तयितुं वा प्रवेदयितुं वा, नान्यत्र एकज्ञातेन वा यावत् एकश्लोकेन वा, तदपि च स्थित्वा, नो चैव खलु अस्थित्वा ॥ सू० २१ ॥

चूर्णी—'नो कप्पइ' इति। निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनाम् अन्तरगृहे इमानि शास्त्रप्रसिद्धानि पञ्चमहाव्रतानि अहिंसा–सत्या–ऽस्तेय–ब्रह्मचर्या–ऽपरिग्रहरूपाणि सभावनानि भावनासहितानि, प्रत्येकमहाव्रतस्य पञ्च पञ्च भावनाः "इरियासमिए सया जए" इत्यादिगाथोक्तस्वरूपाः भवन्तीति-पञ्चविंशतिभावनायुक्तानि आख्यातुम् , इत्यादिपदानां व्याख्या पूर्वसूत्रे गता, न कल्पते, नान्यत्र, इत्यादिपदानामपि व्याख्या पूर्वसूत्रे गता। तत्र आख्यानं यथा–इमानि पञ्च महाव्रतानि षट्कायरक्षणपराणि, षट्कायाश्च पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसरूपाः, इत्यादि। विभावनं यथा–एतानि पञ्च महाव्रतानि प्राणातिपातविरमणादीनि भावनापूर्वकं निरतिचारं मनोवचःकाययोग-माश्रित्य कृतकारितानुमोदनसहितानि समाचरणीयानि भवन्तीत्यादि। कीर्त्तनम्–एषु पञ्चसु महाव्रतेषु

प्रथमं प्राणातिपातविरमणाख्यं व्रतं सदेवमनुष्यासुरस्य लोकस्य पूजनीयं द्वीपस्त्राणं शरणं गतिः प्रतिष्ठा, इत्यादिरूपेण सर्वेषामपि प्रश्नव्याकरणाङ्गगतसंवराध्ययनपञ्चकोक्तानाम् (अध्य० १–५) गुणानां प्रतिपादनम्, प्रवेदनम्–पञ्चमहाव्रतानुपालनात् मोक्षो देवलोको वा भवति, इत्येवं तत्फल-कथनमिति। एतत्सर्वमन्तरगृहे कर्तुं साधूनां न कल्पते, व्याधितादिकारणे तु कल्पते, तच्च सूत्रोक्तप्रमाणं न तु तदधिकमिति ॥ सू० २१ ॥

पूर्वं निर्ग्रन्थनिर्ग्रन्थीनामन्तरगृहे स्थानधर्मकथादिकरणं निषिद्धम्, साम्प्रतं तत्रगतो मुनिः शय्यासंस्तारकं गृह्णीयात् तद् अपरावर्त्य न गच्छेदिति प्रतिपादयितुमाह–**'नो कप्पइ० पाडिहा-रियं'** इत्यादि।

सूत्रम्—नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पाडिहारियं सागारियसंतयं सेज्जासंथारयं आयाए अपडिहट्टु संपव्वइत्तए ॥ सू० २२ ॥

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा प्रातिहारिकं सागारिकसत्कं शय्यासंस्तारकम् आदाय अप्रतिहृत्य संप्रव्रजितुम् ॥ सू० २२ ॥

चूर्णी—'नो कप्पइ' इति। निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां वा प्रातिहारिकं–प्रतिहरणं प्रत्य-र्पणं, तद् अर्हतीति प्रातिहारिकं प्रत्यर्पणप्रतिज्ञयाऽऽनीतं वस्तु प्रातिहारिकं कथ्यते, तादृशं सागारिकसत्कं गृहस्थसम्बन्धिकं शय्यासंस्तारकं, शय्या–शरीरप्रमाणा, संस्तारकः–सार्द्धद्वयहस्त-प्रमाणः पीठफलकादिकं वा तद् आदाय आनीय अपरिहृत्य पुनरदत्त्वा संप्रव्रजितुं ग्रामान्तरं विहर्तुं न कल्पते, साधोरप्रतीतिजनकत्वात् ॥ सू० २२ ॥

पूर्वं साधोः प्रातिहारिकं शय्यासंस्तारकमदत्त्वा गमनं निषिद्धम्, तच्च सागारिकसम्बन्धि भवेदिति तस्य प्रत्यर्पणविधिमाह–**'नो कप्पइ० सागारियसंतयं'** इत्यादि।

सूत्रम्—नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पाडिहारियं सागारियसंतयं सिज्जासंथारयं आयाए अविकरणं कट्टु संपव्वइत्तए ॥ सू० २३ ॥

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा सागारिकसत्कं प्रातिहारिकं शय्यासंस्तारकमादाय अविकरणं कृत्वा संप्रव्रजितुम् ॥ सू० २३ ॥

चूर्णी—'नो कप्पइ' इति। निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां वा प्रातिहारिकं सागारिकसत्कं, सागा-रिको गृहस्थः तत्सम्बन्धि गृहस्थसत्ताकमित्यर्थः, शय्यासंस्तारकं पीठफलकादिकं वा आदाय गृहस्थसकाशादानीय स्वकार्यसमाप्तौ तस्य अविकरणं–विकरणं नाम यथारूपेण यत्स्थानाद्वा आनीतं तथारूपेण तत्रैव स्थाने स्थापनम्, तस्य न करणम्–अविकरणम्, तत् कृत्वा सस्तरणार्थमानीतं तृणादिकं यथानीतरूपेण पुनस्तत्रैव स्थापनमकृत्वा प्रव्रजितुं विहारं कर्तुं नो कल्पते ॥ सू० २३ ॥

तर्हि कथं कल्पते? इत्याह **'कप्पइ'** इत्यादि।

सूत्रम्—कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पाडिहारियं सागारियसंतयं सेज्जासंथारयं आयाए विकरणं कट्टु संपव्वइत्तए ॥ सू० २४ ॥

छाया—कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा प्रातिहारिकं सागारिकसत्कं शय्यासंस्तारकम् आदाय विकरणं कृत्वा संप्रव्रजितुम् ॥ सू० २४ ॥

चूर्णी—'कप्पइ' इति। निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां वा प्रातिहारिकं सागारिकसत्कं शय्यासंस्तारकमादाय आनीय विकरणं यथारूपेण आनीतं तथारूपेणैव तत्रैव स्थापनं कृत्वा प्रव्रजितुं विहारं कर्तुं कल्पते। अयं भावः—यानि तृणानि संस्तरणार्थं यस्मात् स्थानात् प्रस्तृततृणपुञ्जात् राशीकृततृणपुञ्जाद्वा आनीतानि तानि कार्यसमाप्तौ गमनसमये प्रस्तृततृणपुञ्जादानीतानि प्रस्तृततृणपुञ्जे, राशीकृततृणंपुञ्जादानीतानि राशीकृततृणपुञ्जे एव पूर्वं यथास्थितानि तादृशान्येव प्रत्यर्पणसमयेऽपि कृत्वा स्थापनीयानि। एवं पीठफलकमपि यथाऽऽनीतं—यदाऽऽनयनसमये तदूर्ध्वं स्थापितं भवेत्तत् प्रत्यर्पणसमयेऽप्यूर्ध्वमेव स्थापनीयम्, तिर्यक्स्थापितं भवेत्तदा तिर्यगेव स्थापनीयम्, भित्तिपार्श्वादानीतं भवेत्तदा प्रत्यर्पणसमयेऽपि भित्तिपार्श्वे एव स्थापनीयम्, यं पृष्ट्वा चानीतं तमेव पुन संसूच्य स्थापनीयम्, येन गृहस्थस्याऽप्रतीतिकं न भवेत्। एव कृत्वैव साधोर्ग्रामान्तरं गन्तुं कल्पते, प्रातिहारिकवस्तुप्रत्यर्पणस्य एतादृशविधिकत्वात्। एवं करणे श्रमण आज्ञाभङ्गादिदोषभाग् न भवति, न वा प्रायश्चित्तभाग् भवतीति भावः॥ सू० २४॥

पूर्वं सागारिकसत्कशय्यासस्तारकादेः प्रत्यर्पणविधिः प्रोक्तः, यदि तत् शय्यासंस्तारकादि चोरादिना चोरितं भवेत्तदा किं कर्त्तव्यम्? इति तद्विधिं प्रदर्शयति—'इह खलु' इत्यादि।

सूत्रम्—इह खलु निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पाडिहारिए सागारियसंतए सेज्जासंथारए विप्पणसिज्जा से य अणुगवेसियव्वे सिया, से य अणुगवेस्समाणे लभेज्जा तस्सेव पडिदायव्वे सिया, से य अणुगवेस्समाणे नो लभेज्जा एवं से कप्पइ दोच्चंपि उग्गहं अणुन्नवित्ता परिहारं परिहरित्तए ॥ सू० २५ ॥

छाया—इह खलु निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा प्रातिहारिकं वा सागारिकसत्कं शय्यासंस्तारकं विप्रणश्येत् तच्च अनुगवेषयितव्यं स्यात्, तच्च अनुगवेष्यमाणं लभेत (तदा) तस्यैव प्रतिदातव्यं स्यात्, तच्च अनुगवेष्यमाणं नो लभेत एव तस्य कल्पते द्वितीयमपि अवग्रहम् अनुज्ञाप्य परिहारं परिहर्त्तुम् ॥ सू० २५ ॥

चूर्णी—'इह खलु' इति। इह—जिनशासने खलु निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां वा यत् प्रातिहारिकं-प्रत्यर्पणवचसा समानीतं सागारिकसत्कं गृहस्थसत्ताकं शयासंस्तारकं पीठफलकादिकं वा किमपि वस्तु विप्रणश्येत् चोरादिना अपह्रियेत तदा तत् शय्यासंस्तारकम् अनुगवेषयितव्यं स्यात् झटिति श्रमणेन तस्य गवेषणम् इतस्ततः पृच्छादिना शोधनं कर्त्तव्यं स्यात्। यदि गवेष्यमाणं तत् लभेत तदा तस्यैव गृहस्थस्य यत्सकाशादानीतं भवेत्तस्यैव प्रतिदातव्यं स्यात् प्रत्यर्पणीयं भवेत् तस्मै प्रत्यर्पयितव्यमिति भावः। यदि तच्च शय्यासंस्तारकमनुगवेष्यमाणमपि न लभेत न प्राप्नुयात् एवम् एतादृशेऽवसरे 'से' तस्येति सूत्रे जातावेकवचनं तेन

तेषां निर्ग्रन्थनिर्ग्रन्थीनां कल्पते द्वितीयमपि वारम् अवग्रहम् अनुज्ञाप्य, प्रथमवारं तावद् अवग्रहो यदा शय्यासंस्तारकं गृहीतं तदा अनुज्ञापितः, तदनन्तरं यदा विप्रणष्टं सत् अनुगवेष्यमाणमपि नोपलब्धं तदा तत्स्वामिने निवेदने कृते सति यद्यसौ गृहस्थः अन्यत् शय्यासंस्तारकं साधवे प्रयच्छति तदा, अथवा तदेव यद् विप्रणष्टं शय्यासंस्तारकं तत्स्वामिना लब्धं तदा च तद्विषयकमवग्रहं द्वितीयवारमपि अनुज्ञाप्य परिहारं परिभोगलक्षणं शय्यासंस्तारकं गृहीत्वा परिहर्त्तुं परिभोक्तुं कल्पते इति पूर्वेण सम्बन्धः। वसतौ शून्यायां कृतायां शय्यासंस्तारकं नङ्क्ष्यतीति मत्वा श्रमणेन प्रथमत एव वसतिः शून्या न कर्त्तव्या सदा सावधानेन भाव्यम्, वसतिशून्यत्वकरणे श्रमणस्य प्रमादः सिध्यतीत्यतः श्रमणेन नित्यमप्रमत्तेन भवितव्यमिति भावः ॥ सू० २५ ॥

पूर्वं सागारिकसत्कं शय्यासंस्तारकं प्रत्यर्प्य श्रमणैर्विहारः कर्त्तव्यः इति प्रोक्तम्, तथा यदि चौरैः शय्यासंस्तारकं चोरितं तदा द्वितीयवारमवग्रहं गृहीत्वा शय्यासंस्तारकमानेतव्यमिति च प्रोक्तम्, साम्प्रतं पूर्वस्थिताः साधवस्तत् शय्यासंस्तारकं विप्रजहति तदवसरेऽन्ये श्रमणा आगच्छन्ति तदा तद्विषयकमवग्रहकालं प्रतिपादयन्नाह–'जद्दिवसं' इत्यादि।

सूत्रम्—जद्दिवसं समणा निग्गंथा सेज्जासंथारयं विप्पजहंति तद्दिवसं अवरे समणा निग्गंथा हव्वमागच्छेज्जा सच्चेव उग्गहस्स पुव्वाणुण्णवणा चिट्ठइ अहालंदमवि उग्गहे ॥ सू० २६ ॥

छाया—यं दिवसं श्रमणा निर्ग्रन्थाः शय्यासंस्तारकं विप्रजहति तं दिवसम् अपरे श्रमणा निर्ग्रन्था हव्यमागच्छेयुः सैव अवग्रहस्य पूर्वानुज्ञापना तिष्ठति यथालन्दमपि अवग्रहः ॥ सू० २६ ॥

चूर्णी—'जद्दिवसं' इति। यं दिवसमधिकृत्य यस्मिन् दिवसे इत्यर्थः, श्रमणा निर्ग्रन्था ये पूर्वं तत्रोपाश्रये स्थितास्ते मासकल्पसमाप्त्यनन्तरं चातुर्माससमाप्त्यनन्तरं वा शय्यासंस्तारकं स्वावग्रहेणानीतं पीठफलकादिकं तद् विप्रजहति त्यजन्ति तं दिवसमधिकृत्य तस्मिन् दिवसे इत्यर्थः अपरे अन्ये साधर्मिकाः श्रमणा निर्ग्रन्था हव्यं–शीघ्रं तत्कालमेव आगच्छेयुः उपाश्रये प्रविशेयुस्तदा सा एव या पूर्वस्थितैः श्रमणैर्गृहीता अवग्रहस्य निवसनाधिकारस्य पूर्वानुज्ञापना पूर्वं याऽनुज्ञापना गृहीता भवेत् सा एव तदुपाश्रयविषया तिष्ठति, ये एव पूर्वस्थिताः श्रमणा यस्मात् उपाश्रयाद् निर्गतास्तेषामेवाधिकारे स उपाश्रयस्तिष्ठतीति भावः। कियन्तं कालं यावदवग्रहस्य पूर्वानुज्ञापना तिष्ठति? तत्राह—यथालन्दमपि अवग्रहस्तिष्ठति। अत्र मध्यमोऽष्टपौरुषीप्रमाणो यथालन्दकालो गृह्यते इति अष्टपौरुषीकालं यावत् पूर्वस्थितश्रमणानामेवावग्रहे स उपाश्रयस्तिष्ठति तत एतावत्कालपर्यन्तमपरे समागता निर्ग्रन्थाः उपाश्रयस्वामिनोऽवग्रहमयाचित्वाऽपि तत्र स्थातुं पीठफलकादिकमुपभोक्तुं वाऽर्हन्ति, तदनन्तरं तैरपरोऽवग्रहो याचितव्यो भवेदिति भावः ॥

अथ स उपाश्रय एवावग्रहस्य पूर्वानुज्ञापनायां तिष्ठति किमन्यदपि तत्रस्थितं सागारिकसत्कं वस्तु पूर्वानुज्ञापनायां तिष्ठति ? इति जिज्ञासायां तद्विषयकं सूत्रमाह—'अत्थि या इत्थ' इत्यादि।

सूत्रम्—अत्थि या इत्थ केइ उवस्सयपरियावन्नए अचित्ते परिहरणारिहे सच्चेव उग्गहस्स पुव्वाणुण्णवणा चिट्ठइ अहालंदमवि उग्गहो ॥ सू० २७ ॥

छाया—अस्ति चात्र किञ्चिद् उपाश्रयपर्यापन्नम् अचित्तं परिहरणार्हं सैव अवग्रहस्य पूर्वानुज्ञापना तिष्ठति, यथालन्दमपि अवग्रहः ॥ सू० २७ ॥

चूर्णी—'अत्थि या इत्थ' इति। अस्ति चात्र पूर्वस्थितश्रमणपरित्यक्तोपाश्रये किञ्चित्—वस्त्रादिकम् उपाश्रयपर्यापन्नम्—उपाश्रये पर्यापन्न पूर्वस्थितश्रमणैर्विहारसमये विस्मृतं परित्यक्तं वा सागारिकसत्कं वा किमपि वस्तु स्थितम् उपाश्रयपर्यापन्नम्, अचित्तं वस्त्रादिकं पात्रादिकं वा तद् यदि परिहरणार्हं प्रासुकत्वेन साधूनां परिभोगयोग्यं भवेत् तद्विषयेऽपि सा एव अवग्रहस्य अनुज्ञापना तिष्ठति, तत्परिभोगः पूर्वानुज्ञापनयैव कर्त्तव्य, न तत्परिभोगेऽन्यानुज्ञापना ग्रहीतव्या, तत्परिभोगेन साधूनामदत्तादानादिदोषासद्भावादिति भाव। कियन्तं कालमित्याह—यथालन्दमपि मध्यम यथालन्दकालमष्टपौरुषीपर्यन्तम् अवग्रहस्तिष्ठति यथालन्दकालं यावत्तदुपभोगो नूतनसमागतश्रमणानां कल्पते इति भावः ॥ सू० २७ ॥

पुनरप्यवग्रहानुज्ञापनाविषये प्राह—'से वत्थुसु' इत्यादि।

सूत्रम्—से वत्थुसु अव्वावडेसु अव्वोगडेसु अपरपरिग्गहिएसु अमरपरिग्गहिएसु सच्चेव उग्गहस्स पुव्वाणुण्णवणा चिट्ठइ अहालंदमवि उग्गहो ॥ सू० २८ ॥

छाया—तस्य वास्तुषु अव्यापृतेषु अव्याकृतेषु अपरपरिगृहीतेषु अमरपरिगृहीतेषु सैव अवग्रहस्य पूर्वानुज्ञापना तिष्ठति यथालन्दमपि अवग्रहः ॥ सू० २८ ॥

चूर्णी—तस्य अन्यग्रामाद् विहृत्यागच्छतः वास्तुषु वसतिगृहेषु, कीदृशेषु ? तत्राह—अव्यापृतेषु शटितपतिततया निवासव्यापारवर्जितेषु, अव्याकृतेषु अविभक्तेषु येषां दायादादिभिर्विभागो न कृतस्तादृशेषु अनेकजनसत्तावत्सु, यद्वा अतीतकाले केनाऽप्यनुज्ञातानि इमानि वास्तूनि इत्यज्ञातेषु, अपरपरिगृहीतेषु—परैरन्यैः परिगृहीतानि स्वपरिग्रहे कृतानि परपरिगृहीतानि, न तथा अपरपरिगृहीतानि अन्यैरनधिष्ठितानि तेषु, अमरपरिगृहीतेषु अमरैः व्यन्तरादिदेवैः परिगृहीतेषु स्वाधीनीकृतेषु यथा व्यन्तराधिष्ठितभूमिभागे व्यन्तरादिदेवान् अवमान्य निर्मापितत्वेन ते तत्र गृहनिर्मापकं न वासयन्ति विघ्नं कुर्वन्ति न तथा श्रमणानाम् तानि गृहाणि अमरपरिगृहीतानि प्रोच्यन्ते तेषु एतेषु वास्तुषु सैव पूर्वस्थितश्रमणविषयैव अवग्रहस्य पूर्वानुज्ञापना यथालन्दकालं तिष्ठति, यथालन्दकालं यावद् आगन्तुकश्रमणैः भूयोऽवग्रहो नानुज्ञापनीय इति भाव ॥ सू० २८ ॥

तदेव विशदयति भाष्यकारः—'अव्वावड०' इत्यादि।

भाष्यम्—अव्वावड–अव्वोगड–अपरा–ऽमरपरिग्गहियवत्थूणि।
नाणाविहभेयाणि य, नायव्वाणीह जहजोग्गं ॥ १० ॥
छाया—अव्यापृताऽव्याकृताऽपरामरपरिगृहीतवास्तूनि।
नानाविधभेदानि, ज्ञातव्यानीह यथायोग्यं ॥ १० ॥

अवचूरी—'अव्वावड०' इति। अव्यापृतानि अव्याकृतानि, अपरपरिगृहीतानि अमरपरिगृहीतानि चेति चत्वारि वास्तूनि नानाविधभेदानि अनेकभेदयुक्तानि इह शास्त्रे यथायोग्यं ज्ञातव्यानि। तथाहि–अव्यापृतानि शटितपतितादिना न तत्र केनापि वासो विहितस्तादृशानि, अव्याकृतानि बहुजनस्वामिकत्वेन तेषु न केनाप्येकेन स्वायत्तीकृतानि, अपरपरिगृहीतानि नान्यैः कैश्चिदधिष्ठितानि अस्वामिकानीव स्थितानि, अमरपरिगृहीतानि कृतव्यन्तरादिदेवनिवासानीति। तत्र अव्यापृतं वास्तु यथा कश्चित् कौटुम्बिको गृहं निर्मापितवान् तत्र वस्तुमारब्धवान् तस्य कुमुहूर्तादिसंयोगे निर्मापितत्वेन स तत्र न सुखं वस्तुं शक्नोति, तत्र वासानन्तरं प्रतिदिनं द्रव्यहानिः प्रारब्धा ततः स तं मुक्तवान् न तत्र कोऽपि वसति तद् वास्तु अव्यापृतं प्रोच्यते १। अव्याकृतं यथा-केनापि आढ्येन श्रेष्ठिना गृहं निर्मापितम्, तस्य बहवः सुता आसन्, मृते च तस्मिन् तद् गृहं दायादगणगोष्ठीसत्ताकं जातं, नैकस्य, कियत्कालानन्तरं क्षीणधनत्वेन तद् गृहमेको ग्रहीतुं न शक्नोति, राजकरश्च तस्य दातव्यः स्यादिति तद् गृहं श्रमणनिवासार्थं धार्मिकस्थानत्वेन तैः समर्पितम्, ते चान्यत्र स्वकुटीरं निर्माय स्थातुमारब्धवन्तः, तादृशं गृहमव्याकृतं प्रोच्यते २। अपरपरिगृहीतं यथा–अन्यैः कैश्चिदपि स्वपरिग्रहे न कृतं तद्रक्षार्थं तत्र कोऽपि प्रेक्षकः स्थापित इति तद् गृहमपरपरिगहीतं कथ्यते ३। अमरपरिगृहीतं यथा–कश्चित् श्रेष्ठी गृहं व्यन्तराधिष्ठितभूमिभागे निर्मापितवान् वस्तुं प्रारब्धवांश्च, तस्मिन् समये स व्यन्तरो देवः स्वप्ने निवेदितवान्–'यत्त्वया मदधिष्ठितभूमौ गृहं निर्मापितमतोहमत्र निवसिष्यामि, यदि त्वं वसिष्यसि तदा त्वां सकुटुम्बं विनाशयिष्यामि श्रमणा वसन्तु' इति तद्भयात्तेन तद् गृहं परित्यक्तम्, तादृशं वास्तु अमरपरिगृहीतमुच्यते ४। एतादृशेषु वास्तुषु ये श्रमणाः पूर्वस्थितास्तेषु मासकल्पे चातुर्मासे वा समाप्ते सति तत्समये येऽन्ये श्रमणाः समागतास्तेषामवग्रहस्य पूर्वानुज्ञापनैव तेन यथालन्दकालं स्थातुं कल्पते न तु तैः निवासार्थं पुनरनुज्ञा ग्रहीतव्येति ॥ १० ॥

अथाव्यापृतादिविपरीतव्यापृतादिवास्तुविषयामवग्रहानुज्ञापनां प्रदर्शयति—**'से वत्थुसु वावडेसु'** इत्यादि।

सूत्रम्—से वत्थुसु वावडेसु वोगडेसु परपरिग्गहिएसु भिक्खुभावस्स अट्ठाए दोच्चंपि उग्गहे अणुण्णवेयव्वे सिया अहालंदमवि उग्गहे ॥ सू० २९ ॥

छाया—तस्य वास्तुषु व्यापृतेषु व्याकृतेषु परपरिगृहीतेषु भिक्षुभावस्यार्थाय द्वितीयमपि अवग्रहः अनुज्ञापयितव्यः स्याद् यथालन्दमपि अवग्रहः ॥ सू० २९ ॥

चूर्णी—'से वत्थुसु वावडेसु' इति । तस्य पूर्वोक्तस्य श्रमणस्य वास्तुषु व्यापृतेषु निवासव्यापारविशिष्टेषु, व्याकृतेषु दायादादिभिर्विभज्य एकेन स्वायत्तीकृतेषु परपरिगहीतेषु अन्यैरधिष्ठितेषु, 'भिक्खुभावस्स अट्ठाए'—भिक्षुभावो ज्ञानदर्शनचारित्ररूपः तृतीयव्रतादिरूपो वा यथाऽयं भिक्षुभावो परिपूर्णो भवेदित्येवंरूपः, तस्यार्थाय प्रयोजनाय सम्यक्तया भिक्षुभावपालननिमित्तं पूर्वस्थित-श्रमणविहारसमये यः समागच्छति तस्य दोच्चंपि द्वितीयमपि वारं प्रथम तैरवग्रहानुज्ञापना गृहीताऽतो द्वितीयवारमिति कथितम्, अवग्रहोऽनुज्ञापयितव्य. निवासार्थं गृहस्वामिन आज्ञा ग्रहीतव्या स्यात् तेन पुनरप्याज्ञा ग्रहीतव्येति भावः । कियत्कालमित्याह—यथालन्दमपि जघन्ययथालन्दकालं यावदपि यथालन्दकालार्थमपि अवग्रहोऽनुज्ञापयितव्य इति । तत्रावग्रहः पञ्चविधः—शक्रेन्द्रावग्रहः १, राजावग्रहः २, गाथापत्यवग्रहः ३ सागारिकावग्रहः ४, साधर्मिकावग्रहश्चेति ५। एषु पञ्चविधेषु अवग्रहेषु यस्य यत्रावग्रह उचितो ज्ञायते तस्य तस्यावग्रहेण गृहीतेषु उपाश्रयादिषु श्रमणैर्वस्तव्यम् । यदि कुत्रापि वृक्षतलादिशून्यस्थाने यस्य कोऽपि स्वामी न भवेत्तत्र यदि वस्तव्यं स्यात्तदा शक्रेन्द्रस्यावग्रहोऽनुज्ञापयितव्यः । अत्र कश्चित् शङ्कते—किं शक्रेन्द्रोऽनुज्ञां ददाति येन तस्यावग्रहोऽनुज्ञाप्यते ? शृणु, यद् भगवतोवग्रहप्रतिपादकं वचनं श्रुत्वा शक्रेन्द्रस्तीर्थकरं वन्दित्वा यद् यद् अस्वामिकम् आत्मीयेऽवग्रहे साधुप्रायोग्यं सचित्तं शिष्यादि, अचित्तं मिश्रं वा किमपि वस्तुजातं भवेत्तत्तदानीं सर्वमपि भगवद्वचनाराधकत्वेन प्रसन्नमनसा साधुभ्योऽनुजानातीत्यत एव शक्रेन्द्रस्यावग्रहः शास्त्रे प्रतिपादित इति ॥ सू० २९ ॥

अथावग्रहप्रसङ्गादत्र सागारिकावग्रहस्य राजावग्रहस्य चावग्रहपरिमाणं प्रतिपादयितुमाह—'से अणुकुड्डेसु' इत्यादि ।

सूत्रम्—से अणुकुड्डेसु वा अणुभित्तिसु वा अणुचरियासु वा अणुफलिहासु वा अणुपंथेसु वा अणुमेरासु वा सच्चेव उग्गहस्स पुव्वाणुण्णवणा अहालंदमवि उग्गहे ॥ सू० ३० ॥

छाया—तस्य अनुकुडचेषु वा अनुभित्तिषु वा अनुचरिकासु वा अनुपरिखासु वा अनुपथेषुवा अनुमर्यादासु वा सैव अवग्रहस्य पूर्वानुज्ञापना यथालन्दमपि अवग्रहः ॥ सू० ३० ॥

चूर्णी—'से अणुकुड्डेसु वा' इति । 'से' तस्य पूर्वोक्तस्य श्रमणस्य अनुकुडचेषु वा मृत्तिकानिर्मितभित्तिनिकटवर्तिषु स्थानेषु, अनुभित्तिषु वा इष्टकाप्रस्तरादिनिर्मितभित्तिनिकटवर्त्तिषु प्रदेशेषु, अनुचरिकासु वा—नगरप्राकारयोरपान्तरालवर्त्तिषु अष्टहस्तप्रमाणमार्गेषु, अनुपरिखासु वा नगरचतुर्दिक्स्थितखातिकासमीपवर्त्तिषु प्रदेशेषु, अनुपथेषु वा मार्गसमीपवर्त्तिषु स्थानेषु, अनुमर्यादासु वा—नगरसीमासमीपवर्त्तिषु स्थानेषु, एतेषु स्थानेषु सा एव राजाऽनुज्ञा एव यत्र न कोऽपि गृहादि करोति जनसाधारणार्थमेव यानि स्थानानि नगरग्रामादिषु राज्ञा स्थापितानि भवन्ति तेषु स्थानेषु राजाज्ञा पूर्वमेवानुज्ञापिता भवति अतः सा एवावग्रहस्य पूर्वानुज्ञापना तिष्ठति

वर्त्तते तत्र यथालन्दमपि जघन्यमध्यमयथालन्दकालं यथावसरम् अवग्रहो भवति न तत्र कोऽपि अनुज्ञापयितव्यः, एषां स्थानानां पूर्वमेव सागारिकराजादिनाऽनुज्ञापितत्वादेव, अत्र सागारिक-राजावग्रहौ बोध्यौ। अत्रायं विवेकः—पूर्वोक्तेषु स्थानेषु यथायोग्यमवग्रहो भवति यथा—अनु-चरिकायामष्टौ हस्ता अवग्रहे, परिखायां चत्वारो रत्नयः, वृतिस्वामिनो वृते. परमपि हस्तमा-त्रमवग्रहो बोध्यः। शेषः पुनः सर्वोऽपि नृपतेरवग्रहो मन्तव्यः। एतदवग्रहपरिमाणं बोध्यम्। अत्र उच्चारादीनि स्थाननिषदनादीनि वा कुर्वन् श्रमणो यदि कुड्यादीनां हस्ताभ्यन्तरे करोति तदा तेन गृहपत्यवग्रहो मनसि भावनीयः, हस्तात्पुनरधिकं बहिश्चरिकाप्राकारपरिखादिषु च राजावग्रहो बोध्यः, अटव्यामपि यद्यसौ राजा भवति तदा तस्यैवावग्रहं श्रमणः स्मरेत्, यदि चासौ राजा तत्राटव्यां न प्रभुस्तदा शक्रेन्द्रस्यावग्रहं मनसि चिन्तयेदिति ॥ सू० ३० ॥

॥ इत्यवग्रहप्रकरणम् ॥

पूर्वं श्रमणस्य निवासविषयोऽवग्रहः प्रतिपादितः तत्र, राजावग्रहोऽप्यन्तर्भूत इति साम्प्रतं विरुद्धराजसैन्यातिक्रमणे निर्ग्रन्थनिर्ग्रन्थीनां भिक्षाचर्यानिवासादिविधिं प्रतिपादयति— **'से गामस्स वा'** इत्यादि।

सूत्रम्—से गामस्स वा जाव रायहाणीए वा बहिया सेण्णं सनिविट्ठं पेहाए कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा तद्दिवसं भिक्खायरियाए गंतुं पडिनियत्तए। नो से कप्पइ तं रयणिं तत्थेव उवाइणावित्तए, जो खलु निग्गंथो वा निग्गंथी वा तं रयणिं तत्थेव उवाइणावेइ, उवाइणावंतं वा साइज्जइ, से दुहओवि अइक्कममाणे आवज्जइ चाउ-म्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं॥ सू० ३१ ॥

छाया—अथ ग्रामस्य वा यावद् राजधान्या वा बहिः सैन्यं संनिविष्टं प्रेक्ष्य कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा तं दिवसं भिक्षाचर्यायै गत्वा प्रतिनिवर्त्तितुम्। नो तस्य कल्पते तां रजनीं तत्रैव अतिक्रामयितुम्। यः खलु निर्ग्रन्थो वा निर्ग्रन्थी वा तां रजनीं तत्रैव अतिक्रामयति अतिक्रामयन्तं वा स्वदते स द्विघातोऽपि अतिक्रामन् आपद्यते चातुर्मासिकं परिहारस्थानमनुद्घातिकम् ॥ सू० ३१ ॥

चूर्णी—'से गामस्स वा' इत्यादि। **'से'**अथ—अवग्रहप्रकरणानन्तरं सम्प्रति ग्रामस्य वा आसन्नग्रामस्य **'जाव'** इति यावत्, यावत्पदेनात्र नगरादिपदाना संग्रहपाठोऽस्यैव प्रथमोद्देशके षष्ठसूत्रोक्तो ग्रामादारभ्य राजधानीपर्यन्तः सर्वोऽपि वाच्यः, अत्रोक्तपदानामर्थोऽपि तत्रैवाऽवलोकनीयः। राजधान्या वा बहिः—बहिर्भागे सैन्यम् अन्यनृपतेः सैन्यदलं ग्रामादिविजयार्थं संनिविष्टम् आगत्य स्थितं प्रेक्ष्य दृष्ट्वा कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा तत्तद्ग्रामादिस्थितानां तद्दिवसमभिव्याप्य तस्मिन् दिवसे इत्यर्थः भिक्षाचर्यायै भिक्षाचर्यार्थं तत्र आसन्नग्रामादौ गत्वा प्रतिनिवर्त्तितुं प्रत्यागन्तुं कल्पते किन्तु **'से'** तस्य भिक्षाचर्यागतस्य निर्ग्रन्थस्य निर्ग्रन्थ्या वा नो कल्पते न

युज्यते तां रजनीं रात्रीं तत्रैव सैन्यपरिवेष्टिते ग्रामादौ अतिक्रामयितुम् उल्लङ्घयितुं यापयितुं तत्र स्थातुमित्यर्थः नो कल्पते इति पूर्वेण सम्बन्धः । यः खलु निर्ग्रन्थो वा निर्ग्रन्थी वा तां रजनीं तत्रैव अतिक्रामयति अतिक्रामयन्तं वाऽन्य स्वदते अनुमोदते सः 'दुहओवि' इति द्विधातोऽपि तीर्थकरतो नृपतो वा उभयतोऽपि अतिक्रामन् आज्ञामुल्लङ्घयन् तीर्थकराज्ञां नृपाज्ञां च विलोपयन् आपद्यते–प्राप्नोति चातुर्मासिकं चतुर्माससम्बन्धिकं परिहारस्थानं प्रायश्चित्तस्थानम् अनुद्घातिकं चतुर्गुरुरूपं प्राप्नोतीति पूर्वेण सम्बन्धः ॥सू० ३१॥

अत्राह भाष्यकारः–'पढमं' इत्यादि ।

भाष्यम्––पढमं जइ जाणिज्जा, निमित्तविज्जावलेण उप्पायं ।
सोच्चा वा जइ जाणइ, तत्तो पुव्वं नियत्तेज्जा ॥ ७ ॥

छाया––प्रथमं यदि जानीयात् निमित्तविद्यावलेन उत्पातम् ।
श्रुत्वा वा जानीयात् ततः पूर्वं निवर्त्तेत ॥ ७ ॥

अवचूरी––'पढमं' इति । प्रथमं विरुद्धराज्यातिक्रमणादितः पूर्वं निर्ग्रन्थो यदि निमित्तशास्त्रस्य विद्यायाश्च बलेन उपलक्षणादवधिज्ञानाद्यतिशयेन वा उत्पातं भविष्यमाणमुपद्रवं जानीयात्, वा–अथवा श्रुत्वा–अन्यजनसकाशात् अतिशयज्ञानिसकाशात् कस्यचिद्देवस्य कथनाद्वा श्रवणगोचरीकृत्य अनागतकालिकमुपद्रवम्–यथा जनाः परस्पर वार्त्तालापसमये किञ्चिद्विरोधादिकारणमुपलक्ष्य वदन्ति यदत्र परराजातिक्रमणं भविष्यतीति, तथा किञ्चित्प्रकारकं दुर्निमित्तमशुभं चन्द्रसूर्यपरिवेषादिकं दृष्ट्वाऽनुमानेन उत्पातसंभव कथयन्ति, इति तेभ्य श्रुत्वा वा उत्पातं जानीयात् तदा श्रमणः ततः तस्माद् ग्रामादितः पूर्वं पूर्वमेव उत्पातात्प्रागेव निवर्त्तेत ततो निर्गच्छेत् न तत्र वासं–मासकल्परूप चातुर्मासरूपं वा कुर्यादिति भावः । यदि च पूर्वोक्तप्रकारेण नावगतं स्यात् सहसैव तद् ग्रामादिकं परसैन्येन अवरुद्ध भवेत्, मार्गाश्च व्यवच्छिन्नास्तदा निर्गमनं श्रमणैर्न कर्तव्यम्, अथवा केचित् साधवो ग्लाना ज्वरादिपीडिताः तपोदुर्वला वा भवेयुस्तदापि तत्रतो न निर्गन्तव्यं, तत्रैव यतनया संयमरक्षणपूर्वकं स्थातव्यम् । यदि परचक्रपीडिता जना एकत्रीभूय पर्वतदुर्गादिषु गत्वा तिष्ठन्ति तदा श्रमणैरपि तैः सार्द्धं गत्वा तत्रैव भक्तपानादौ गमनागमनादौ च तथा यतना कर्त्तव्या यथा संयमयोगो न परिभ्रश्येतेति भावः ॥७॥

अथ ग्रामादिषु अवग्रहमर्यादां प्रतिपादयति–'से गामंसि वा' इत्यादि

सूत्रम्––से गामंसि वा जाव संनिवेसंसि वा कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा सव्वओ समंता सकोसं जोयणं उग्गहं ओगिण्हित्ता णं चिट्ठित्तए ॥ सू० ३२॥

छाया—अथ ग्रामे वा यावत् संनिवेशे वा कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा सर्वतः समन्तात्सक्रोशं योजनम् अवग्रहम् अवगृह्य स्थातुम् ॥ सू० ३२ ॥

तइओ उद्देसो समत्तो ॥३॥

चूर्णी—'से गामंसि वा' इति । अथ—सैन्यप्रकरणानन्तरम् ग्रामे वा यावत् संनिवेशे वा यावत्पदेन—ग्रामाकरनगरखेटकर्वटद्रोणमुखपत्तनाश्रमसंनिवेशेषु इत्यर्थो बोध्यः, एतेषु स्थानेषु यदा मासकल्पं चातुर्मासं वा यावत् स्थितिं कुर्वतां निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां वा सर्वतः समन्तात् ग्रामादेः पूर्वपश्चिमदक्षिणोत्तरदिक्षु विदिक्षु वा प्रत्येकं सक्रोशं योजनम् पञ्चक्रोशान् यावत् सार्द्ध-द्विक्रोशं गमनस्य सार्द्धद्विक्रोशमेवागमनस्य एवं पञ्चक्रोशान् यावत् प्रत्येकं दिशि क्रोशद्वय-माहाराद्यर्थं, तत्स्थानात्क्रोशार्द्धं विचारभूमिनिमित्तमिति, अनेन प्रकारेण गमनागमनस्य पञ्चक्रोश-परिमितक्षेत्रविषयमवग्रहम् अवगृह्य—अनुज्ञाप्य तत्र स्थातुं मासकल्पं चातुर्मासं वाऽवस्थातुं कल्पते ॥ सू० ३२ ॥

इति श्री—विश्वविख्यात—जगद्वल्लभ—प्रसिद्धवाचक—पञ्चदशभाषाकलितललितकलापालापक—
प्रविशुद्धगद्यपद्यनैकग्रन्थनिर्मापक—वादिमानमर्दक—श्रीशाहूछत्रपतिकोल्हापुरराजप्रदत्त-
"जैनाचार्य"—पदभूषित—कोल्हापुरराजगुरु—बालब्रह्मचारि—जैनाचार्य—जैन-
धर्म-दिवाकर—पूज्यश्री—घासीलालव्रतिविरचितायां "बृहत्कल्पसूत्रस्य"
चूर्णि-भाष्या-ऽवचूरीरूपायां व्याख्यायां
तृतीयोद्देशकः समाप्तः ॥३॥

। अथ चतुर्थोद्देशकः ।

व्याख्यातस्तृतीयोद्देशकः, साम्प्रतं चतुर्थोद्देशको व्याख्यायते । अत्र तृतीयोद्देशकस्यान्तिमसूत्रेणास्यादिसूत्रस्य, कः सम्बन्धः ? इति तत्सम्बन्धं प्रतिपादयति भाष्यकारः–'**गामाइ०**' इत्यादि ।

भाष्यम्—गामाइवासवसणं, पुव्वं वुत्तं च समणसमणीणं ।

तत्थ य निवसंताणं, दुद्धाइयविगइसेवणओ ॥१॥

मोहुब्भवो हि जायइ, तेणं सेवेज्ज दोससंघायं ।

तस्स य पायच्छित्तं, वुच्चइ इह एस संबंधो ॥२॥

छाया—ग्रामादिवासवसनं, पूर्वमुक्तं च श्रमणश्रमणीनाम् ।

तत्र च निवसतां दुग्धादिकविकृतिसेवनतः ॥ १ ॥

मोहोद्भवो हि जायते, तेन सेवेयुर्दोषसंघातम् ।

तस्य च प्रायश्चित्तम्, उच्यते इह एष सम्बन्धः ॥ २ ॥

अवचूरी—'गामाइ०' इति । पूर्वं तृतीयोद्देशकस्यान्तिमसूत्रे श्रमणश्रमणीनां ग्रामादिवासवसनम् उक्तं–प्रतिपादितम्, तत्र च निवसतां मासकल्पवासं वा चातुर्मासवासं वा कुर्वतां तेषां तत्र गोमहिष्यादिप्राचुर्येण दुग्धादिदाने लोकाः सुलभा भवेयुः, ते च संयतादीन् प्रचुरदुग्धादिना प्रतिलम्भेयुस्ततो दुग्धादिकविकृतिसेवनतः प्रणीतरसभोजनतस्तेषां हि निश्चयेन मोहोद्भवो जायते, तेन कारणेन ते दोषसंघातं हस्तकर्मादिदोषसमूहं कदाचित् सेवेयुः, तस्य च दोषसंघातस्य प्रायश्चित्तम् इह–अस्मिन् चतुर्थोद्देशकस्यादिसूत्रे उच्यते प्रतिपाद्यते, एष उक्तस्वरूपस्तृतीयचतुर्थोद्देशकयोः सम्बन्धो वर्त्तते ॥ १–२– ॥

इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य चतुर्थोद्देशकस्येदमादिमं सूत्रम्–'**तओ अणुग्घाइया**' इत्यादि ।

सूत्रम्—तओ अणुग्घाइया पण्णत्ता तंजहा–हत्थकम्मं करेमाणे १, मेहुणं पडिसेवमाणे २, राइभोयणं भुंजमाणे ३ ॥ सू० १ ॥

छाया—त्रयः अनुद्घातिकाः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—हस्तकर्म कुर्वाणः १,

मैथुनं प्रतिसेवमानः २, रात्रिभोजनं भुञ्जानः ॥ सू० १ ॥

चूर्णी—'तओ' इति । अनुद्घातिकाः–उद्घातयितुमशक्या अनुद्घातिकाः, अनुद्घातिकप्रायश्चित्तयोग्याः, एते द्रव्यक्षेत्रकालभावभिन्ना अपि प्रकृते गुरुमासिकप्रायश्चित्तभाजोऽत्र ग्राह्याः, ते त्रयः त्रिसंख्यकाः प्रज्ञप्ताः भगवद्भिरुक्ताः । के ते ? इत्याह–**तंजहा**–तद्यथा ते यथा–'**हत्थकम्मं करेमाणे**' हस्तकर्म कुर्वाणः, तत्र हस्तकर्म–हन्ति हसति वा मुखमावृत्य अनेनेति हस्तः आदाननिक्षेपादिकरणस्वभावः करः, तेन करणभूतेन यत् कर्म निषिद्धाचरणादिकं क्रियते तत् हस्तकर्म, शुभाशुभं सर्वमपि कर्म हस्तेनैव क्रियते किन्त्वत्र निषिद्धाचरणस्य प्रस्तावात्कर्मणो निषिद्धाचरणमित्यर्थः कृत इति, तत् कुर्वाणः आचरन् प्रथमोऽनुद्घातिको भवति १ । द्वितीयमाह–

'मेहुणं पडिसेवमाणे' मैथुनं प्रतिसेवमानः, तत्र मैथुनं मिथुनं स्त्रीपुंसयुग्मलक्षणं, तस्य भावः कर्म वा मैथुनम्—अब्रह्म तत् प्रतिसेवमानो द्वितीयोऽनुद्घातिकः २। तृतीयमाह—'राइभोयणं भुंजमाणे' रात्रिभोजनं भुञ्जानः—पूर्वं सैन्यप्रकरणे सैन्यरुद्धे स्थाने भिक्षाचर्यार्थं गतः साधुः कदाचित् तां रजनीं तत्रैव वाहयेत् तत्र तेन एकाकित्वेन रात्रिभोजनं कृतं स्यात् तेन स रात्रिभोजनस्वभावो भवेत् ततः रात्रिभोजनं रात्रौ अशनाद्याहरणं भुञ्जानः कुर्वाणस्तृतीयोऽनुद्घातिको भवति। एषां त्रयाणामपि अनुद्घातिकं गुरुमासिकं प्रायश्चित्तं समापद्येतेति॥ सू० १॥

एतदेव विशदयति भाष्यकारः—'उग्घाय०' इत्यादि।

भाष्यम्—उग्घायअणुग्घाया, दव्वे खेत्ते य काल भावे य।
दव्वे हलिद्दरागो, किमिरागो होज्जऽणुक्कमसो। ३॥
खेत्ते य किण्ह-पत्थर-भूमी काले य संतरं इयरं।
भावे य अट्ठपगडी, भव्वस्स य तह अभव्वस्स॥ ४॥

छाया—उद्घातानुद्घातौ, द्रव्ये क्षेत्रे च काले भावे च।
द्रव्ये हरिद्रारागः, कृमिरागो भवेदनुक्रमशः॥ ३॥
क्षेत्रे च कृष्ण-प्रस्तर-भूमिः, काले च सान्तरमितरम्।
भावे चाष्ट प्रकृतयः, भव्यस्य च तथा अभव्यस्य॥ ४॥

अवचूरी—'उग्घाय०' इति। अत्र ह्रस्वत्वाद् दीर्घत्ववद् उद्घातिकाद् अनुद्घातिकस्य प्रसिद्धिरिति कृत्वा द्वयोरपि उद्घातिकानुद्घातिकयोर्द्रव्यादिभेदतः प्रत्येकं चतुर्विधत्वं प्रतिपाद्यते—'उग्घाइय०' इत्यादि। उद्घातानुद्घातौ उद्घातिकम् अनुद्घाति कंचेति द्वे अपि प्रत्येकं चतुर्विधे भवतः, तथाहि—द्रव्ये क्षेत्रे काले भावे च द्वे अपि भवतः, तत्र द्रव्य इति द्रव्यत उद्घातिको हरिद्रारागः, तस्य सुखेनापनेतुं शक्यत्वात्, अनुद्घातिकं कृमिराग. अपनेतुमशक्यत्वात् १। क्षेत्रे इति क्षेत्रतः कृष्णप्रस्तरभूमिः, क्रमशः उद्घातिकं, कृष्णभूमिः हलकुलिकादिभिः सुखेन क्षोदयितुं शक्यत्वात्, अनुद्घातिकं प्रस्तरभूमि. हलादिना क्षोदयितुमशक्यत्वात् २। काले इति कालतः उद्घातिकं यत्र सान्तरम्—अन्तरन्तः समयव्यवधानेन प्रायश्चित्तदानं भवति, अनुद्घातिकम् इतरमिति निरन्तरं यत्र समयसातत्येन प्रायश्चित्तदानं भवति ३। भावे इति भावतः—उद्घातिकं यथा भव्यस्याष्टौ प्रकृतयः या उद्घातयितुं, शक्या भवन्ति, अनुद्घातिकं यथा अभव्यस्याष्टौ प्रकृतयः या उद्घातयितुमशक्या भवन्ति यतो यथा भव्यो येन शुभाध्यवसायेन ज्ञानावरणादिकर्मणां क्षपणं करिष्यति तादृशो भावोऽभव्यस्य कदाचिदपि नोत्पद्यते इत्यतस्तस्य भावोऽनुद्घातः, कर्मोद्घातकरणस्यासामर्थ्यात्, अनेनैव कारणेन तस्य कर्माणि अनुद्घातिकानि कथ्यन्ते। अत्र च प्रायश्चित्तानुद्घातिकस्याधिकार इति हस्तकर्मादीनां त्रयाणां विरुद्धाचरणानां सेवनत एते त्रयोऽपि अनुद्घातिकाः अनुद्घातिकप्रायश्चित्तयोग्या भगवता प्रदर्शिताः, एषां मूलगुणानामेव भङ्गसद्भावादिति॥ ३-४॥

पूर्वसूत्रे अनुद्धाताख्यगुरुकारोपणा प्रोक्ता, सम्प्रतमपि गुरुकाया एवं पाराञ्चिकाख्यारोपणां प्रतिपादयितुमाह, अथवा पूर्वसूत्रे तपोऽर्हा शोधिः प्रोक्ता, इदानीं छेदार्हा शोधिः प्रतिपाद्यते-'तओ' इत्यादि ।

सूत्रम्—तओ पारंचिया पण्णत्ता, तं जहा-दुट्ठे पारंचिए १, पमते पारंचिए २, अन्नमन्नं करेमाणे पारंचिए ३ ॥ सू० २ ॥

छाया—त्रयः पाराञ्चिकाः प्रज्ञप्ता, तद्यथा-दुष्टः पाराञ्चिकः १, प्रमत्तः पाराञ्चिकः २, अन्योन्यं कुर्वाणः पाराञ्चिकः ॥ सू० २ ॥

चूर्णी—'तओ' इति। त्रयः त्रिसंख्यकाः पाराञ्चिकाः पाराञ्चिकप्रायश्चित्तयोग्याः प्रज्ञप्ताः तीर्थकरादिभिः प्ररूपिताः। पाराञ्चिक इति कोऽर्थस्तत्राह-येन प्रायश्चित्तेन परिशोधितेन श्रमणः पारं-संसारसमुद्रस्य तीरम् मोक्षरूपम् अञ्चति-गच्छति तत् पाराञ्चिकम्, अस्य प्रायश्चित्तस्य शुद्धभावतः परिशोधनेन श्रमणो मोक्षमाप्नुयादिति भावः। एतत्प्रायश्चित्तापन्नत्वेन उपचारात् श्रमणोऽपि पाराञ्चिकः कथ्यते। अथवा शोधिरूपस्य प्रायश्चित्तस्य पारं पर्यन्तमञ्चति गच्छति यत्तत् पाराञ्चिकं अपश्चिममनुत्तरं वा प्रायश्चित्तं पाराञ्चिकं व्यपदिश्यते। के ते त्रयः पाराञ्चिकाः ? इत्याह-'तंजहा, इत्यादि, तद्यथा-ते यथा-दुष्टः पाराञ्चिकः प्रथमः १, प्रमत्तः पाराञ्चिको द्वितीयः २, अन्योन्यं कुर्वाणः पाराञ्चिकस्तृतीयः ३। तत्र दुष्टो-द्विविधः कषायदुष्टो विषयदुष्टश्च, एकः कषायमाश्रित्य दुष्टो भवेत्, द्वितीयो विषयमिन्द्रियविषयमाश्रित्य दुष्टो भवेत्, स द्विविधोऽपि दुष्टः पाराञ्चिकप्रायश्चित्तयोग्यो भवति १। द्वितीयः प्रमत्तः पाराञ्चिकः प्रमादमाश्रित्य पाराञ्चिकप्रायश्चित्तयोग्यो भवति, अयं स्त्यानर्द्धिनिद्रावशात् मांससेवी, पञ्चेन्द्रियवधकारी, मद्यसेवी च भवतीति प्रमत्तः पाराञ्चिकः कथ्यते २। तृतीयः अन्योन्यं कुर्वाणः अन्योन्यमिति परस्परं साधुः साधुना सह मैथुनचेष्टां कुर्वाण. निर्ग्रन्थी निर्ग्रन्थ्या सह मैथुनचेष्टां कुर्वाणा च। एते पूर्वोक्तास्त्रयोऽपि पाराञ्चिकप्रायश्चित्तभागिनो भवन्तीति। अत्रेयं छेदार्हा शोधिरभिहिता, छेदस्तावत् द्विविधः-देशतः सर्वतश्च, तत्र पञ्चरात्रिन्दिवादिकः षण्मासान्तश्छेदो देशतश्छेद उच्यते सर्वच्छेदस्त्रिविधः-मूलाऽनवस्थाप्यपाराञ्चिकभेदात्, अत्र पाराञ्चिकच्छेदस्याधिकारः, स च द्वादशवार्षिकं तपोऽनुष्ठानं कारयित्वा गृहस्थवेषं दत्त्वा पुनर्नूतनदीक्षाप्रदानरूपो भवति। पाराञ्चिको द्विविधो भवति-आशातनापाराञ्चिकः प्रतिसेवनापाराञ्चिकश्च, तत्र-आशातनापाराञ्चिकः-तीर्थकर-प्रवचन-श्रुता चार्यगणधरमहर्द्धिकादीनामत्याशातकः, तत्र तीर्थकराशातना यथा—तीर्थकरो हि यद् देवरचितसमवसरणाष्टमहाप्रातिहार्यादिलक्षणां प्राभृतिकामनुमन्यते तन्न वरम्, यः केवलालोकेन भवस्वरूपं जानन्नपि किमिति विपाकदारुणामेतादृशीं भोगसामग्रीं भुङ्क्ते ? इति। तथा मल्लिनाथस्य स्त्रीशरीरस्यापि यत्तीर्थमुच्यते तदप्यतीवायुक्तम्, स्त्रीतीर्थं न भवतीति शास्त्रे श्रूयते इति। तथा सर्वोपायकुशला अपि तीर्थकरा ग्रामनगरादौ विहृत्य विहृत्यातीव दुश्चरां देशनां

कृतवन्तस्तदपि न समीचीनम् । इत्यादिरूपमवर्णं तीर्थकृतां यो भाषते स पाराञ्चिकप्रायश्चित्त-स्थानमापद्यते । एवं प्रवचनश्रुताचार्यादिविषयाऽऽशातनाप्रकाराः स्वयमूहनीयाः, एष आशातना-पाराञ्चिको बोध्यः । द्वितीयः प्रतिसेवनापाराञ्चिकः । पाराञ्चिका अस्मिन्नेव सूत्रे प्रतिपादितास्त्र-यो भवन्तीति, ॥ सू० २ ॥ पाराञ्चिकानेवविशदयति भाष्यकारः—'दुविहो' इत्यादि ।

भाष्यम्—दुविहो दुट्ठो वुत्तो, पंचविहो होइ जो पमत्तो उ ।
अन्नोन्नं कुव्वा, णेगविहो एस णायव्वो ॥ गा० ५ ॥
छाया—द्विविधो दुष्ट उक्तः पञ्चविधो भवति य. प्रमत्तस्तु ।
अन्योन्यं कुर्वाणः अनेकविध एष ज्ञातव्यः ॥ ५ ॥

अवचूरी—'दुविहो' इति । अत्र प्रथमो दुष्ट' पाराञ्चिको द्विविधः प्रोक्तः तथाहि—कषाय-दुष्टः विषयदुष्टश्चेति । तत्र कषायदुष्टो द्विविधो भवति—स्वपक्षदुष्टः परपक्षदुष्टश्च, अत्र चतुर्भङ्गी भवति तथाहि—स्वपक्षः स्वपक्षे, स्वपक्षः परपक्षे २, परपक्षः स्वपक्षे ३, परपक्षः परपक्षे ४ । तत्र स्वपक्षः स्वपक्षे एकः साधुरन्यसाधूपरि कषायं करोति, अत्र दृष्टान्तः सर्षपपत्रशाकभोक्तृमृतगुरुदन्त-भञ्जकः शिष्य', तथाहि—शिष्येण भिक्षायां सर्षपशाकः प्राप्तः, तेन निमन्त्रितो गुरुः सर्वं शाक-माहृतवान् तेन तस्य मनसि कोपः समुद्भूतः, यदनेन मद्गुरुणा सर्वोऽपि शाको भुक्तः, गुरुणा क्षामितोऽपि नोपशान्तः सन् गुरुदन्तभञ्जनप्रतिज्ञां कृतवान् तद् ज्ञात्वा गुरुर्भक्तप्रत्याख्यानेन कालधर्मं प्राप्तः, ततश्च स मृतगुरुमुखाद्दन्तान् त्रोटितवान् कथितवांश्च—एत एव तव दन्ता सर्वं सर्षपशाकं भुक्तवन्त इति प्रथमो दृष्टान्तः १ । एवमेव द्वितीय उज्ज्वलसदोरकमुखवस्त्रिकार्थं गुरो-र्गलग्रहणं कृत्वा गुरुं मारितवान् २। एवमन्येऽप्येवं प्रकारा दृष्टान्ता विज्ञेयाः । इति प्रथमो भङ्गः।१। द्वितीयः स्वपक्षः परपक्षे यथा कस्यचित् साधोर्गृहस्थावस्थायां केनापि सह वादो जातस्तत्र स परा-जितो भूत्वा प्रव्रजितः । ततोऽवसरं प्राप्य स कयाचिद् युक्त्या पूर्वकषायोदयेन तं मारितवान् । इति द्वितीयो भङ्ग. २ । तृतीयः—परपक्षः स्वपक्षे यथा—गृहस्थावस्थायां केनापि वादे पराजितः एकः, यस्तं पराजितवान् स प्रव्रजित', ततः स पूर्वं पराजितो गृहस्थः प्रव्रजितं तं जयिनं साधुं केनचिदुपायेन मारितवान् एष तृतीयोभङ्गः ३ । चतुर्थः—परपक्ष' परपक्षे—गृहस्थो गृहस्थं मारयति, इति चतुर्थो भङ्गः ४ । एष भङ्गः साधौ न घटते । उक्त. कषायदुष्टः, सम्प्रति विषयदुष्टं विवृणोति—अत्रापि स्वपक्षपरपक्षमाश्रित्य पूर्ववदेव चत्वारो भङ्गा भवन्ति—यथा—स्वपक्षः स्वपक्षे विषयदुष्टः, इति प्रथमो भङ्गः १ । एवं चत्वारोऽपि भङ्गाः पूर्ववदेव कर्त्तव्याः ४ । तत्र—श्रमणः श्रमण्यामध्युपपन्नः स्वपक्षः स्वपक्षे विषयदुष्टः १, श्रमणो गृहस्थस्त्रियामध्युपपन्नः स्वपक्षः परपक्षे विषयदुष्टः २ । गृहस्थः श्रमण्यामध्युपपन्नः परपक्षः स्वपक्षे विषयदुष्टः ३ । गृहस्थो गृहस्थस्त्रियामध्युपपन्नः परपक्षः परपक्षे विषयदुष्टः, ४ । एष भङ्गः श्रमणपक्षे न घटते,इति चतुर्थो भङ्गः । एष द्विविधो दुष्टपारा-

ञ्चिकस्तत्र: प्रथमः प्रतिपादितः । १ । द्वितीयं प्रमत्तपाराञ्चिकं विवृणोति–'पंचविहो' इत्यादि यः प्रमत्तपाराञ्चिकः, स तु पञ्चविधोभवति प्रमादस्य पञ्चविधत्वात् तथाहि–मद्यप्रमत्तः १, विषयप्रमत्तः २, कषायप्रमत्तः ३, विकथाप्रमत्तः ४, निद्राप्रमत्तश्चेति ५ । तत्र मद्यप्रमत्तः मद्यपानोद्भूतप्रमादवान् १, विषयप्रमत्तः–श्रोत्रादिविषयलोलुपत्वेन प्रमादवान् २, कषायप्रमत्तः–कषायाः क्रोधमानमायालोभाश्चत्वारः, तेष्वन्यतमकषायवशेन प्रमादवान् ३, विकथाप्रमत्तः–विकथाश्चतस्रः–स्त्रीकथा१, देशकथा २, भक्तकथा ३, राजकथा ४, तासु आसक्तत्वेन प्रमादवान् ४, निद्राप्रमत्तः, तत्र निद्रा पञ्चविधा–निद्रा १, निद्रानिद्रा २, प्रचला ३, प्रचलाप्रचला ४, स्त्यानर्द्धिश्चेति ५ । निद्राचतुष्टयस्य लक्षणं यथा–

"सुहपडिबोहो निद्दा १, दुहपडिबोहो य निद्दनिद्दा य २ ।
पयला होइ ठियस्स ३, पयलापयला उ चंकमओ ४ इति ॥ १ ॥
सुखप्रतिबोधो निद्रा १, दुःखप्रतिबोधश्च निद्रानिद्रा २ ।
प्रचला भवति स्थितस्य ३, प्रचलाप्रचला तु चंक्रमतः ॥ २ ॥ इति प्रच्छाया ॥

आसां चतसृणां निद्राणां लक्षणं प्रोक्तम्, अत्र पाराञ्चिकस्य प्रस्तुतत्वात्स्त्यानर्द्धिनिद्रयाऽधिकाइति स्त्यानर्द्धिर्भण्यते–स्त्यानर्द्धिस्तावत् दर्शनावरणीयप्रबलकर्मोदयात् स्त्याना कठिनीभूता आच्छन्ना ऋद्धिः चैतन्यशक्तिर्यस्यां सा स्त्यानर्द्धिः, यथा घृते जले च स्त्याने कठिनीभूते सति न तत्र द्रवत्वं किञ्चिदुपलभ्यते तथा चैतन्यऋद्धयामपि स्त्यानायां सत्यां न किञ्चिदुपलभ्यते । अस्यां निद्रायां प्राप्तायां मनुष्यो तदवस्थायामेव नानाविधानि महान्ति बलसाध्यानि दुश्चरणानि समाचर्य पुनरागत्य स्वपिति, स्त्यानर्द्धिमतो हि वासुदेवबलादर्धबलं भवति तीर्थकृदादयः प्रज्ञापयन्ति तत्त प्रथमसंहननिनमपेक्ष्य प्रोक्तम्, सम्प्रति तु सामान्यजनापेक्षया द्विगुणं त्रिगुणं चतुर्गुणं वा बल स्त्यानर्द्धिमतो भवतीति बोध्यम् ।

एवं पिशित१–मोदक२–कुम्भकार३–दन्त४–वटशाखा–भञ्जनादि ५–कार्यैः, स्त्यानर्द्धिनिद्रावानयमिति परिज्ञाय प्रमत्तपाराञ्चिकं निर्णयेत् । तत्र प्रथमं पिशितदृष्टान्तो यथा–कश्चित् श्रमणः पूर्वं गृहस्थावस्थायां पिशिताशी आसीत् तेन च पश्चात् प्रव्रज्या गृहीता, एष कदाचित् क्वचित् हृष्टपुष्टं महिषं दृष्ट्वा सजाततन्मांसभक्षणाभिलाषः सन् एकदा रात्रौ स्त्यानर्द्धिनिद्रायां तस्मिन् महिषमण्डले गत्वा अन्यं महिषं व्यापाद्य भुक्तवान्, शेषं तन्मांसमुपाश्रये आनीय तेन स्थापितम्, आचार्येण सर्वं ज्ञात्वा निर्णीतं यदयं स्त्यानर्द्धिनिद्रावानिति । एषा स्त्यानर्द्धिनिद्रा । १ । मोदकदृष्टान्तो यथा–कश्चित् श्रमणः भिक्षार्थं पर्यटन् कस्यचिद् गृहस्थस्य गृहे मोदकं भक्तं दृष्ट्वा तद्ग्रहणार्थं याचनायां कृतायामपि स मोदकं न लब्धवान्, ततश्च तदलाभे तदध्यवसायपरिणत एव सुप्तवान् । रात्रौ तद्गृहे गत्वा गृहस्य कपाटौ त्रोटयित्वा मोद-

कान् यथारुचि भुक्त्वा अवशिष्टैर्मोदकैः पात्रं पूरयित्वा उपाश्रये समागतः । प्राभातिके चावश्यके--'एवंविधः स्वप्नो मया दृष्टः' इति प्रकटितवान्, ततश्च प्रभाते मोदकपरिपूर्णं पात्रं दृष्ट्वा आचार्यैर्ज्ञातं यदयं स्त्यानर्द्धिनिद्रावानिति २ । कुम्भकारदृष्टान्तो यथा—कश्चित् कुम्भकारः क्वापि गच्छे प्रव्रजितः, तस्य कदाचिद् रात्रौ स्त्यानर्द्धिर्निद्रा संजाता, स च पूर्वाचरितमृत्तिकापिण्डच्छेदनाभ्यासादुपाश्रयान्निर्गत्य मृत्तिकाखनौ गत्वा तत्रतो मृत्तिकापिण्डा आनीय उपाश्रये स्थापिताः, प्रभाते तान् दृष्ट्वाऽऽचार्येण ज्ञातं यदयं स्त्यानर्द्धिनिद्रावानिति ३ । दन्तदृष्टन्तो यथा—कश्चित् श्रमणः गहस्थावस्थायामभिमुखमापतता हस्तिना आक्रान्तः पलायमानः कथञ्चिदुन्मुक्तः स उदीर्णस्त्यानर्द्धिरुत्थाय गजशालायां गत्वा हस्तिदन्तौ उत्पाटच उपाश्रयस्य बहिः प्रदेशे संस्थाप्य पुनरपि सुप्तः । प्रभाते स्वप्नमालोचितवान् यदहं स्वप्ने हस्तिदन्तौ उत्पाटितवान् प्रकटितवांश्च स्वप्नम्, तत आचार्य उपाश्रयबहिःप्रदेशे हस्तिदन्ता विलोक्य निर्णीतवान् यदयं स्त्यानर्द्धिनिद्रावानिति ४ । वटशाखाभञ्जनदृष्टान्तो-यथा —कश्चित् श्रमणो भिक्षार्थं पर्यटन् कुत्रचित् मध्यमार्गवर्त्तिन एकस्य वटस्य शाखया शिरसि आघट्टितः सन् अत्यन्तं परितप्तान्तःकरणो वटवृक्षोपरि प्रद्वेषमुपगतस्तदध्यवसायपरिणतश्च प्रसुप्तवान् । ततः उदीर्णस्त्यानर्द्धिश्चोत्थाय तत्र गत्वा वटवृक्षमुन्मूल्य तदीयशाखामानीयोपाश्रयोपरि स्थापितवान्, प्रभाते चावश्यककायोत्सर्गत्रिके कृते सति पूर्वोक्तरीत्या आचार्यान् प्रति स्वप्नमालोचितवान् । तत आचार्याः प्रभाते दिगवलोकनं कुर्वन्तोऽन्यत आनीय संस्थापितां वटवृक्षशाखां दृष्ट्वा निर्णीतवन्तः यदयं स्त्यानर्द्धिनिद्रावानिति ५ । एतादृशं स्त्यानर्द्धिमन्तं श्रमणमेवं प्रज्ञापयेत्—सौम्य ! साधुलिङ्गं त्यज, तव चारित्रं नास्तीति सानुनयमाचार्येण तस्य लिङ्गं त्याजयेदिति ।

व्याख्यातः प्रमत्तपाराञ्चिकः, सम्प्रति अन्योन्यंकुर्वाणो व्याख्यायते—अन्योन्यं कुर्वाणः पाराञ्चिक इति, अन्योन्यं परस्परं यत् करणं मुखपायुप्रभृतिप्रयोगेणऽब्रह्मसेवनं तत्कुर्वाणः, साधुः साधुना सह मुखपायुप्रयोगेण मैथुनचेष्टां कुर्वाणः पाराञ्चिकः, साध्वी साध्व्या सह हस्तपादाङ्गुलिकर्मादिप्रयोगेण मैथुनचेष्टां कुर्वती पाराञ्चिका भवतीति विज्ञेयम् । यदि केनाऽपि साधुना बुद्धिवैपरीत्यवशाद् एतदाचरितं भवेत्, ततः शुभपरिणामोदयेन पश्चात्तापसंतप्तान्तःकरणो विशिष्टगुणवान् यदि 'पुनरेतादृशमपराधं न करिष्यामि' इति सद्भावनया पुनरकरणाय कृतनिश्चयो भवेत्तदा स तपःपाराञ्चिकः कथ्यते इति भावः । भा० गा० ५ ॥ सू० २ ॥

पूर्वसूत्रे पाराञ्चिकप्रायश्चित प्रतिपादितम्, सम्प्रति अनवस्थाप्यप्रायश्चितं प्ररूपयितुमाह—'तओ अणवट्ठप्पा' इत्यादि ।

सूत्रम्—तओ अणवट्ठप्पा पण्णत्ता, तंजहा—साहम्मियाणं० तेण्णं करेमाणे, अन्नधम्मियाणं तेण्णं करेमाणे, हत्थादालं दलमाणे ॥ सू० ३ ॥

छाया—त्रयः अनवस्थाप्याः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—साधर्मिकाणां स्तैन्यं कुर्वाणः, अन्यधार्मिकाणां स्तैन्यं कुर्वाणः, हस्ताताल॑ ददत् ॥ सू० ३ ॥

चूर्णी—'तओ' इति । त्रयः अग्रे वक्ष्यमाणस्वरूपाः तावत् अनवस्थाप्याः अपराधविशेषसमाचरणेन तत्क्षणादेव पुनर्व्रतेषु अवस्थापयितुम् अयोग्याः प्रज्ञप्ताः, कथिताः तीर्थंकरगणधरादिभिराख्याताः, के ते ? इत्याह—'**तंजहा**' इत्यादि, तद्यथा ते यथा—साधर्मिकाणां समानो धर्मो येषां ते सधर्माणः, त एव साधर्मिकाः समानो धर्मो वाऽस्ति येषामिति साधर्मिकाः श्रमणाः श्रमण्यो वा तेषां '**तेण्णं**' स्तैन्यं स्तेनस्य भावः कर्म वा स्तैन्यं चौर्यम्—तत्सत्कस्य उत्कृष्टोपधेः शिष्यादेर्वा अपहरणं '**करेमाणे**' कुर्वाणः स्वयं कुर्वन् उपलक्षणात् अन्यद्वारा कारयन्, कुर्वन्तमन्यं वाऽनुमोदमानः साधुः अनवस्थाप्यो भवतीति भावः १। '**अन्नधम्मियाणं**' अन्यधार्मिकाणाम् अन्यो जिनोक्तातिरिक्तो धर्मो येषां ते अन्यधर्माणः, यद्वा अन्यश्चासौ धर्मश्च अन्यधर्मः, सोऽस्ति येषामिति अन्यधर्माणः, मत्वर्थे इकण्प्रत्यये अन्यधार्मिका'—दण्डिशाक्यादयो गृहस्था वा तेषां सत्कस्य तदधीनस्य उपध्यादेः स्तैन्यं कुर्वाणः साधुरनवस्थाप्यो भवति २ । तृतीयः '**हत्थादाणं दलमाणे**' हस्ताताल॑ ददत्, हस्तातालम् हस्तेन हस्तस्य अन्यवस्तुनो वा आताडनं हस्तातालः तं ददत्-कुर्वन् उपलक्षणात् यष्टिमुष्टिलकुटादिभिरात्मानं परं प्रहरन् किञ्चिद्वस्तुजातं वा ताडयन् साधुरनवस्थाप्यो भवति, स अनवस्थाप्यप्रायश्चित्तभागी भवति, तत्प्रायश्चित्तस्यानवस्थाप्याभिधानात् ॥ सू० ३ ॥

पूर्वमनवस्थाप्यः प्रोक्तः, स च सद्योऽनाचरिततपोविशेषो भावलिङ्गरूपेषु महाव्रतेषु न स्थाप्यतेऽतोऽसौ अनवस्थाप्यः प्रोच्यते, अयं पूर्वसूत्रे वर्णित' । तत्प्रसङ्गात् पण्डकादिर्द्विविधेऽपि द्रव्यभावलिङ्गे स्थापयितुं न योग्यो भवतीत्यत्र पण्डकादिः प्रतिपाद्यते—'तओ नो कप्पंति' इत्यादि ।

सूत्रम्—तओ नो कप्पंति पव्वावित्तए तंजहा-पंडए १, वाइए २, कीवे ३, ॥सू० ४॥ एवं मुंडावित्तए ॥ सू० ५॥ सिक्खावित्तए ॥ सू० ६॥ उवट्ठावित्तए ॥ सूत्र ७॥ संभुंजित्तए ॥ सू० ८॥ संवासित्तए ॥ सू० ९॥

छाया—त्रयो नो कल्पन्ते प्रव्राजयितुम्, तद्यथा—पण्डक १ वातिकः २, क्लीवः ३ ॥ सू० ४॥ एवं मुण्डापयितुम् ॥ सू० ५॥ शिक्षापयितुम् ॥ सू० ६॥ उपस्थापयितुम् ॥ सू०७॥ संभोक्तुम् ॥सू० ८॥ संवासयितुम् ॥ सू० ९॥

चूर्णी—'तओ' इति । त्रयो वक्ष्यमाणाः पुरुषास्तावत् नो कल्पन्ते, किमित्याह—'**पव्वावित्तए**' प्रव्राजयितु प्रव्रज्यां ग्राहयितुं दातुं न योग्या इत्यर्थ', के ते ? इत्याह—'**तंजहा**' तद्यथा—ते यथा—पण्डक' जन्मनपुंसकः १, वातिकः वातूजः वातरोगी—वेदोदयसहनाऽक्षमः २, क्लीबः असमर्थः कातर इत्यर्थः, क्लीबस्तावत् दृष्टि-शब्दा—ऽऽदिग्ध—निमन्त्रणक्लीबभेदाच्चतुर्विधः,

तत्र दृष्टिक्लीवः—यस्यानुरागतो विवस्त्राद्यवस्थास्थितां स्त्रियं दृष्ट्वा मेहनं गलति सः १, शब्दक्लीव.—यस्य सुरतादिशब्दश्रवणेन मेहनं गलति सः २, आदिग्धक्लीवः—यस्य चित्तविक्षेपेणोपगूढस्य मेहनं गलति सः ३, निमन्त्रणक्लीवः—यः कयाचित् स्त्रिया निमन्त्रिते व्रतं रक्षितुं न शक्नोति सः ४ । एष चतुर्विधोऽपि क्लीबोऽप्रतिसेवमानोऽपि वेदनिरोधेन वेदोदयवशात् नपुंसकतया परिणमति। एते त्रयः प्रव्राजयितुं न योग्या इति भावः । यद्यनाभोगलोभाद्यभिभूततया पण्डकादयः प्रव्राजिता भवेयुस्तदा प्रवचनोड्डाहप्रवचनप्रवादादयोऽनेके दोषाः समापतेयुस्ततो नैते प्रव्राजनीया इति । यद्यपि वालवृद्धादिभेदाद् विंशतिसंख्यकाः प्रव्राजयितुमयोग्याः ते च उपलक्षणाद् ग्राह्याः । प्रकृते गुरुतरदोषदुष्टत्वात् त्रयः पण्डकादयोऽत्र प्रव्राजयितुमयोग्या अधिकृता अवसेयाः । ते विंशतिविधा यथा—

"वाले १, वुड्ढे २, नपुंसे य, जड्डे ४ कीवे ५ य वाहिए ६ ।
तेणे ७, रायावगारी ८ य, उम्मते ९ य अदंसणे १० ॥१॥
दासे ११ दुट्ठे १२ य मूढे १३ य, अणत्ते १४ जुंगिए १५, इय ।
अवोदए १६, य भयए १७, सेहनिप्फेडिए १८ इय ॥२॥
गुव्विणी १९, वालवच्छा २०, य, पव्वावेउं न कप्पई ॥"

छाया—वालो १, वृद्धो २, नपुंसकश्च ३, जड्डः ४, क्लीवश्च ५, व्याधितः ६ ।
स्तेनः ७, राजापकारी ८, च, उन्मत्तश्च ९, अदर्शनः १० ॥ १ ॥
दासः ११, दुष्टश्च १२, मूढश्च १३, अनर्त्त १४, जुङ्गिक १५, इति ।
अवोधकश्च १६, भयक १७, शैक्षनिष्फेटित १८ इति ॥ २ ॥
गुर्विणी १९, वालवत्सा २०, च प्रव्राजयितुं न कल्पते ॥

तत्र—अदर्शनः—अन्धः। 'अणत्तो' अनर्त्तः—ऋणपीडित.। जुङ्गिकः—जात्यङ्गहीनः। अवोधकः—वुद्धिहीनः। शैक्षनिष्फेटितः केनाप्यपहृत इति। एतेषामत्र नाधिकार इति सूत्रकारेण न गृहीता इति ॥ सू० ४ ॥

'एव' इति । एवम् अनेनैव प्रव्राजनप्रकारेणैव एते पूर्वोक्तास्त्रयः मुण्डापयितुम्—शिरोलोचेन लुञ्चितुं श्रमणानां न कल्पन्ते ॥ सू० ५ ॥ तथा शिक्षापयितुम्—ग्रहणासेवनशिक्षया श्रुताध्यापनप्रत्युपेक्षणादिसमाचारीं ग्राहयितुं न कल्पन्ते । तथा श्रुताध्यापनरूपा ग्रहणशिक्षा, प्रत्युपेक्षणादिरूपा—आसेवन शिक्षा वोध्या, एतद् द्वयमपि पण्डकादित्रयाय दातु न कल्पन्ते इति भाव. ॥ सू० ६ ॥ एवम् उपस्थापयितुम् एते त्रयो महाव्रतेपु पञ्चसु, छेदोपस्थापनीयेषु व्यवस्थापयितुं श्रमणानां न कल्पन्ते ॥ सू० ७॥ एवम् एते त्रय संभोक्तुम्—एकमण्डल्यां भोजनादिकं कर्तुम्, तैः सह श्रमणानां न कल्पते इति भावः ॥ सू० ८ ॥

एवमेव एते त्रयः—सवासयितुम्—स्वसमीपे निवासयितुम् उपवेशयितुमपि श्रमणानां न कल्पन्ते। एवं च पण्डकादयः कदाचिद् अनाभोगादिना प्रव्राजिता भवेयुः, पश्चाद् विज्ञाताश्चेद् भवेयुस्तदापि तेषामेतत्सूत्रोक्तस्य शेषपञ्चकस्य—मुण्डापन—शिक्षापणो—पस्थापन—संभोजन—संवासन-लक्षणस्य समाचरणं न कर्तव्यमिति भावः। एवं प्रव्राजनवत् पण्डकादित्रयस्य मुण्डापनादिपञ्चकं समाचरति श्रमणस्तदा प्रव्राजनरूपे पूर्वोक्तपदे प्रोक्ताः प्रवचनोड्डाहानिन्दादयो दोषा अत्रापि अवगन्तव्या इति ॥ सू० ९ ॥

पूर्वं पण्डकादित्रयस्य प्रव्राजनादिषट्कं निषिद्धम्, साम्प्रतमविनीतादित्रयस्य वाचनादानं प्रतिषेधितुमाह—'तओ नो कप्पंति' इत्यादि।

सूत्रम्—तओ नो कप्पंति वाइत्तए, तंजहा—अविणीए विगइपडिबद्धे अविओसवियपाहुडे ॥ सू० १० ॥

छाया—त्रयो नो कल्पन्ते वाचयितुम्, तद्यथा—अविनीतः, विकृतिप्रतिबद्धः, अव्यवशमितप्राभृतः ॥ सू० १० ॥

चूर्णी—'तओ' इति। त्रयस्तावत् वक्ष्यमाणाः नो कल्पन्ते श्रमणानां 'वाइत्तए' इति वाचयितुम् सूत्रवाचनां दातुम् अर्थं वा बोधयितुम् तदुभयं वा, तद्यथा—'अविणीए' इत्यादि, अविनीत आचार्यादेः पर्यायज्येष्ठस्य वा अभ्युत्थानसत्कारसंमानादिविनयवर्जितः १, विकृतिप्रतिबद्धः विकृतिः—दधिदुग्धघृतादिरसरूपा, तत्र प्रतिबद्धः—लोलुपः २, अव्यवशमितप्राभृतः—अव्यवशमितम्—अनुपशान्त प्राभृतमिव प्राभृतं नरकपातनकुशलं तीव्रक्रोधलक्षणं येन स तथा, यः परुषभाषणाद्यपराधेऽपि परमं क्रोधमावहति क्षमितमप्यपराधं यो वारं वारमुदीरयति स अव्यवशमितप्राभृतः प्रोच्यते तीव्रक्रोधी इत्यर्थः ३। एते त्रयः पुरुषाः सूत्रार्थतदुभयवाचनां दातुं श्रमणानां नो कल्पन्ते इति सूत्रार्थः। एतेषां वाचनादाने इमे दोषाः सम्भवन्ति—यः खलु अविनीतः श्रुतज्ञानरहितोऽपि अहंकारी भवति तदा किं पुनस्तस्य श्रुतलाभे १। स्वयंनष्टस्य तस्य अन्यानपि नाशयिष्यतः श्रुतग्राहणं क्षते क्षारावसेकन्यायेन ऊषरभूमिबीजवपनन्यायेन च इहपरलोकाहितकरं भवति ततस्तादृशाय अविनीताय श्रुतग्राहणं नोचितमेव यथा भुजङ्गस्य पयःपानं विषवर्द्धकमेव भवति तथैव दुर्विनीतस्य श्रुतप्रदानमपि अधिकतरदुर्विनीततामेव वर्द्धयति, अतितप्ततैलादौ जलावसेकः ज्वलत्यग्नौ घृतदानं च अग्निज्वालावर्द्धकमेव भवति अतो भगवता दुर्विनीताय श्रुतदानं निषिद्धमिति १। विकृतिप्रतिबद्धस्य वाचनादाने दोषा प्रदर्श्यन्ते—यः कश्चित् शरीरेण दृढोऽपि रसलोलुपतया विकृतावेव लोलुपत्वेन तत्र प्रतिबद्धमनस्कतया न सुचारुरूपेण वाचनां गृह्णाति, मनसो विकृतौ प्रतिबद्धत्वेन स श्रुतग्रहणे मनोयोगं दातुं न शक्नोति, मनोयोगं विना श्रुतग्रहणं न फलति। न स तपश्चरणं करोति, न तपो विना गृह्यमाणं श्रुतं मनोऽनुकूलं फलं प्रयच्छति प्रत्युत प्रभूतमनर्थं प्रसूते तस्मात् विकृतिप्रतिबद्धं शिष्यं सूत्रार्थतदुभयं न वाचयेदिति

भावः २। साम्प्रतमव्यवशमितप्राभृतं व्याचष्टे—यः स्वल्पेऽपि परुषभाषणादौ अपराधेऽत्यन्त-क्रोधसमुद्घातं याति, एवं क्षामितो न प्रशाम्यति प्रत्युत क्षामितमप्यपराधजातं पुनः पुनः समुदीरयति स खलु अव्यवशमितप्राभृतो व्यपदिश्यते, तस्य वाचनादाने ऐहलौकिकस्नेह-सत्कारादिपरित्यागः, पारलौकिकवैरानुबन्धकर्मबन्धसंभवश्चेति द्विधाप्यहितकरं तद्वाचनादानं संपद्यते इति न तादृशाय वाचना दातव्येति भावः ॥ सू० १० ॥

पूर्वसूत्रे अविनीतादित्रितयस्य श्रुतार्थवाचनादानं प्रतिषिद्धम्, सम्प्रति तद्वैपरीत्येन विनीता-दित्रितयस्य तद्वाचनादानमनुज्ञापयति—'तओ कप्पंति वाइत्तए' इत्यादि।

सूत्रम्—तओ कप्पंति वाइत्तए, तंजहा—विणीए, नोविगइपडिबद्धे, विओस-वियपाहुडे ॥ सू० ११ ॥

छाया—त्रयः कल्पन्ते वाचयितुम्, तद्यथा—विनीतः, नोविकृतिप्रतिबद्धः, व्यव-शमितप्राभृतः ॥ सू० ११ ॥

चूर्णी—'तओ' इति। त्रयः पुनर्वक्ष्यमाणस्वरूपाः शिष्याः वाचयितुं—सूत्रार्थौ ग्राहयितुं श्रमणानां कल्पन्ते। तद्यथा—विनीतः आचार्यादेर्वन्दनादिविनययुक्तः, नोविकृतिप्रतिबद्धः घृतादि-रसलोलुपतावर्जितः, व्यवशमितप्राभृतः—व्यवशमितम्—क्षमापनादिना उपशमितं प्राभृतं नरक-पातनोपायनमिव प्राभृतं तीव्रक्रोधलक्षणं यस्य स व्यवशमितप्राभृतः स्वापराधक्षमापन—परापराध-क्षमनसमर्थः उपशान्तक्रोध इत्यर्थः। एते त्रयः विनीत—विकृत्यप्रतिबद्ध—व्यपशमितप्राभृताः पुरुषाः श्रुतार्थौ वाचयितुं श्रमणानां कल्पन्ते इति सूत्राशयः। विनयेन अभ्यस्तीकृता विद्या लोकद्वये फलवती भवति, तत्रास्मिन् लोके साधुजनसमाजराजसभादौ विनयगृहीतविद्यया समादृतः पूजितश्च भवति, यशःकीर्ति—ख्याति—सम्मान—प्रतिष्ठादिकं च लभते, परलोके च विनयप्राप्तविद्यया सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्रलक्षणरत्नत्रयविभूषितो लब्धिसंपन्नो भगवदाज्ञाराधकः सन् निःश्रेयसं प्राप्नोति। विकृत्यप्रतिबद्धो हि घृतादिरसलोलुपतारहितत्वेन एकाग्रमनसा श्रुतार्थौ गृह्णाति, तेन तत् श्रुतार्थग्रहणं हृदये सुचारुतया परिणमति, ततः सः सम्यक्तया ज्ञानदर्शनचारित्राराधको भवति, तस्य श्रुतार्थवाचने वाचनादातुस्तीर्थकराज्ञाभङ्गादयो दोषा न भवन्तीति। एवं व्यवशमित-प्राभृतस्यापि उपशान्ततीव्रक्रोधत्वेन शान्तमनोभावस्य प्रदत्ता वाचना सम्यक्तया परिणमति तेन सा सुगतिबोधिलाभादिकमामुष्मिकं फलं प्रापयतीति सूत्रोक्तानां त्रयाणां सूत्रार्थतदुभयवाचना दानं श्रमणानां कल्पते, यथा उर्वराभूमौ उप्तानि बीजानि फलितानि भवन्ति तथैवैतेषां श्रुतार्थदानं सफलं भवतीति भावः ॥

ननु पूर्वसूत्रे अविनीतादित्रयाणां वाचनादानस्य प्रतिषिद्धतया तेनैव कथनेन अर्थापत्तिन्या-यात् तद्विपरीतानां विनीतादीनां वाचनादानं स्वयं सिद्धमेव, विपक्षार्थस्यानुक्तस्यापि सिद्धिलाभा-

दितीदं सूत्रं व्यर्थमेव प्रतिभाति, तत्राह—नैवम्, शास्त्रशैली एषैव यत् प्रकृतसूत्रविवक्षितार्थस्यार्थापत्त्या लब्धत्वेऽपि विपक्षः साक्षादुच्यते, तथा लब्धोप्यर्थः प्रपञ्चितज्ञविनेयजनानुग्रहाय साक्षादभिधीयते, यथा—उत्तराध्ययनस्य प्रथमाध्ययने द्वितीयगाथायां "आणानिद्देसकरे" इत्यादिना विनीतस्वरूपप्रतिपादनादर्थापत्तिलब्धमप्यविनीतस्वरूपमत्रैव तृतीयगाथायाम्—"आणाअणिद्देसकरे" इत्यादिना पुनः साक्षादभिहितम् ।

पुनश्च विनेया नानादेशीया विभिन्नमतयो वक्रजडादयो भवन्ति ते चाविनीतादीनां वाचनादाननिषेधसूत्रेण एतावन्तमेवार्थं गृह्णन्ति यत् भगवता अविनीतादीनां वाचनादानं निषिद्धं किन्तु विनीतादीनां वाचनादानं कुत्र प्रतिपादितम् ? तेन न कस्यापि वाचना प्रदातव्या "आणा धम्मो" इतिवचनात् । इत्यादिकारणाद् विपक्षस्य साक्षात्कथनमुचितमेव, 'न तीर्थकरा व्यर्थं भाषन्ते' इति वचनात् ॥ सू० ११ ॥

पूर्वमविनीतादीनां त्रयाणां श्रुतदान प्रतिषिद्धम्, तद्वैपरीत्येन विनीतादीनां च श्रुतदानमनुज्ञापितम् । सम्प्रति दुष्टादीनां त्रयाणां श्रुतदानं प्रतिषेधयितुमाह—'तओ दुस्सन्नप्पा' इत्यादि ।

सूत्रम्—तओ दुस्सन्नप्पा पण्णत्ता, तंजहा-दुट्ठे, मूढे, वुग्गहिए ॥ सू० १२ ॥

छाया—त्रयो दुःसंज्ञाप्याः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा-दुष्टः, मूढः, व्युद्ग्राहितः ॥ सू० १२ ॥

चूर्णी—'तओ दुस्सन्नप्पा' इति । त्रयस्तावत् वक्ष्यमाणाः पुरुषाः दुःसंज्ञाप्याः दुः—दुःखेन कष्टेन संज्ञाप्यन्ते प्रतिबोध्यन्ते इति दुःसंज्ञाप्याः दुष्प्रतिवोध्याः प्रज्ञप्ताः कथितास्तीर्थकृदादिभिः, एते वक्ष्यमाणास्त्रयो बोध्यमाना अपि बोधरहिता एव भवन्ति, तानेव त्रीनाह—'तं जहा' तद्यथा—दुष्टः—प्रज्ञापकं प्रतिपाद्यतत्त्वं वा प्रति द्वेषयुक्तो भवति, स च न प्रज्ञापनीयः श्रमणैः, तस्य द्वेषबुद्ध्या उपदेशाप्रतिपत्तेः । स च पूर्वं पाराञ्चिकसूत्रे यथा वर्णितस्तथाऽत्रापि ज्ञातव्यः । एवं मूढः गुणदोषज्ञानविवेकविकलः तस्य गुणाद्यनभिज्ञतया तत्त्वाप्रतिपत्तेः, एतादृशस्य प्रज्ञापनमनर्थकमेवेति भावः । एवमेव व्युद्ग्राहितः वि—विपरीतक्रमेण उद्ग्राहः—ग्रहणप्रकारो यस्य स व्युद्ग्राहितः दृढीभूतविपरीतावबोधः मिथ्याशास्त्रश्रुतिप्रतिबद्धत्वेन विपरीतावबोधयुक्त इत्यर्थः ३ । एते त्रयो दु.संज्ञाप्यत्वात् श्रुतार्थवाचनादानायोग्या इति ते श्रमणैर्न प्रज्ञापनीयाः ॥ सू० १२ ॥

पूर्वं दुष्टादित्रयाणां श्रुतसंज्ञापना प्रतिषिद्धा, सम्प्रति दुष्टादित्रयवैपरीत्येन अदुष्टादित्रयाणां श्रुतसंज्ञापनां प्रतिपादयति—तओ सुसण्णप्पा' इत्यादि ।

सूत्रम्—तओ सुसण्णप्पा पण्णत्ता, तंजहा—अदुट्ठे, अमूढे, अव्वुग्गाहिए ॥ सूत्र १३ ॥

छाया—त्रयः सुसंज्ञाप्याः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा-अदुष्टः, अमूढः अव्युद्ग्राहितः ॥ सू०१३ ॥

चूर्णी—'तओ सुसण्णप्पा' इति । यतस्तावत् वक्ष्यमाणाः पुरुषाः सुसंज्ञाप्याः सु—सुखेन संज्ञाप्यन्ते प्रतिबोध्यन्ते ये ते सुसंज्ञाप्याः अनायासेनैव श्रुतं प्रतिबोधयितुं शक्याः

सुखेन सूत्रार्थग्राहणयोग्याः प्रज्ञप्ताः आख्याता । तानेवाह—'तंजहा' तद्यथा—अदुष्टः—तत्त्वं प्रज्ञापकं वा प्रति द्वेषवर्जितः, स चावश्यं श्रुतं संज्ञापनीयः द्वेषराहित्येन शुद्धमनोवृत्तित्वात्तस्य श्रद्धयोपदेशप्रतिपत्तेः । अमूढः गुणदोषविवेकशाली, सोऽपि सूत्रार्थौ संज्ञापनीयः, तस्य गुणदोषाभिज्ञत्वेन सत्यश्रद्धत्वात् । तृतीयमाह—अव्युद्ग्राहितः दृढीकृतसम्यग्बोधवान्, प्रदत्तसूत्रार्थयोरविपरीतत्वेन ग्राहकत्वात् । एवमेते त्रयः पुरुषाः सुसंज्ञाप्याः ॥ सू० १३ ॥

पूर्वं दुष्टतादिदोषदूषितभावस्य प्रव्राजनादिकं प्रतिषिद्धम्, सम्प्रति ग्लानप्रकरणे परिष्वजनानुमोदनस्वरूपस्याशुभभावस्य निवारणं कर्त्तुं प्रथमं निर्ग्रन्थीसूत्रमाह—'निग्गंथिं च णं' इत्यादि ।

सूत्रम्—निग्गंथिं च णं गिलायमाणिं पिया वा भाया वा पुत्तो वा पलिस्सएज्जा तं च निग्गंथी साइज्जेज्जा, मेहुणपडिसेवणपत्ता, आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ॥ सू० १४ ॥

छाया—निर्ग्रन्थीं च खलु ग्लायन्तीं पिता वा भ्राता वा पुत्रो वा परिष्वजेत् तं च निर्ग्रन्थी स्वादयेत् मैथुनप्रतिसेवनप्राप्ता, आपद्यते चातुर्मासिकं परिहारस्थानम् अनुद्घातिकम् ॥ सू० १४ ॥

चूर्णी—'निग्गंथिं च णं' इति । निर्ग्रन्थी च खलु साध्वीम् ग्लायन्तीम्—शरीरस्य क्षीणतया ग्लानिं हर्षक्षयरूपां शारीरमानसक्लिष्टतामनुभवन्तीं तस्याः पिता वा सांसारिकपिता, निर्ग्रन्थतां प्राप्तो वा पिता, भ्राता वा सांसारिकभ्राता निर्ग्रन्थतां प्राप्तो वा भ्राता, पुत्रः सांसारिकपुत्रो वा निर्ग्रन्थतां प्राप्तो वा पुत्रः, 'पलिस्सएज्जा' इति परिष्वजेत-दौर्बल्येन भूमौ पतन्तीं धारयन् उपवेशयन् उत्थापयन् वा शरीरे स्पर्शं कुर्यात्, तं च पुरुषस्पर्शं सा निर्ग्रन्थी मैथुनप्रतिसेवनप्राप्ता मैथुनसेवनेच्छां प्रतिपन्ना सती स्वादयेत् स्पर्शसमुद्भूतमैथुनसेवनभावनया अनुमोदेत 'सुखदोऽयं पुरुषस्पर्शः' इति कृत्वा मनसि हर्षं विदध्यात् तदा सा साध्वी चातुर्मासिकं परिहारस्थानम् अनुद्घातिकं गुरुकं प्रायश्चित्तम् आपद्यते प्राप्नोति गुरुकप्रायश्चित्तभागिनी भवतीत्यर्थः । ननु 'पुरिसपहाणो धम्मो' पुरुषप्रधानो धर्मः इति शास्त्रेऽनुमतं ततः प्रकृतसूत्रे प्रथमं निर्ग्रन्थसूत्रमभिधातव्यं भवेत् किन्तु प्रकृते पुनर्निर्ग्रन्थीसूत्रमेव प्रथममभिहितमिति किमत्र तत्त्वम् ? इति चेत् सत्यम्, पुरुषप्रधान एव धर्मो भवति किन्तु स्त्रियाश्चञ्चलस्वभावत्वात्, धृतिबलविकलत्वाच्च निर्ग्रन्थ्या एव प्रथमं प्ररूपणं कृतमिति ॥ सू० १४ ॥

पूर्वसूत्रे ग्लानायाः निर्ग्रन्थ्याः पित्रादिना उत्थापने पुरुषस्पर्शनेन विकारो जायते, तस्यानुमोदनलक्षणस्याशुभभावस्य प्रतिषेधः प्रतिपादितः, सम्प्रति ग्लानस्य निर्ग्रन्थस्य तथाविधाशुभावस्य प्रतिषेधं प्रतिपादयितुमाह—'निग्गंथं च णं' इत्यादि ।

सूत्रम्—निग्गंथं च णं गिलायमाणं माया वा भगिणी वा धूया वा पलिस्सएज्जा, तं च निग्गंथे साइज्जेज्जा मेहुणपडिसेवणपत्ते आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ॥ सू० १५ ॥

छाया—निर्ग्रन्थं च खलु ग्लायन्तं माता वा भगिनी वा दुहिता वा परिष्वजेत् तं च निर्ग्रन्थः स्वादयेत्, मैथुनप्रतिसेवनप्राप्तः आपद्यते चातुर्मासिकं परिहारस्थानम् अनुद्घातिकम् ॥ सू० १५ ॥

चूर्णी—'निग्गंथं च णं' इति । निर्ग्रन्थं साधुं च खलु ग्लायन्तं रोगादिना शरीरक्षीणत्वेन ग्लानिमनुभवन्तं माता वा तस्य सांसारिकमाता निर्ग्रन्थीभूता वा माता, भगिनी वा सांसारिकभगिनी निर्ग्रन्थीभूता वा भगिनी, दुहिता वा—सांसारिकपुत्री निर्ग्रन्थीभूता पुत्री वा परिष्वजेत् भूमौ पतन्तं धारयन्ती उपवेशयन्ती उत्थापयन्ती वा साधुशरीरे स्पृशेत् शरीरस्पर्शं कुर्यात्, तं च स्पर्शं निर्ग्रन्थः मैथुनप्रतिसेवनप्राप्त. मैथुनसेवनेच्छां प्रतिपन्न. सन् स्वादयेत् मैथुनसेवनभावनया अनुमोदेत 'सुखदोऽयं स्त्रीस्पर्श' इति कृत्वा मनसि हर्षं कुर्यात् तदा स निर्ग्रन्थः चातुर्मासिकं परिहारस्थानम् अनुद्घातिकं गुरुकं प्रायश्चित्तम् आपद्यते प्राप्नोति गुरुकप्रायश्चित्तभागी भवतीति भावः ॥ सू० १५ ॥

पूर्वं ब्रह्मचर्यपरिणामरूपस्य भावस्यातिचारवारणाय श्रमण्याः पुरुषस्पर्शप्रतिषेधः, श्रमणस्य स्त्रीस्पर्शप्रतिषेधश्च प्रतिपादित', सम्प्रति—अशनादेः कालातिक्रमस्यातिचारं प्रतिषेधितुमाह—'नो कप्पइ' इत्यादि ।

सूत्रम्—नो कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गंथीणं वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पढमाए पोरिसीए पडिग्गाहित्ता पच्छिमं पोरिसिं उवाइणावित्तए, से य आहच्च उवाइणाविए सिया तं नो अप्पणा भुंजिज्जा, नो अन्नेसिं अणुप्पएज्जा, एगंते बहुफासुए थंडिले पडिलेहित्ता पमज्जित्ता परिट्ठवेयव्वे सिया, तं अप्पणा भुंजमाणे अन्नेसिं वा दलमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं उग्घाइयं ॥ सू० १६ ॥

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा अशनं वा पानं वा खाद्यं वा स्वाद्यं वा प्रथमायां पौरुष्यां प्रतिगृह्य पश्चिमां पौरुषीम् उपानेतुम्, तच्च आहत्य उपानायितं स्यात् तद् नो आत्मना भुञ्जीत, न अन्येभ्यः अनुप्रदद्यात् एकान्ते बहुप्रासुके स्थण्डिले प्रत्युपेक्ष्य प्रमृज्य परिष्ठापयितव्य स्यात्, तद् आत्मना भुञ्जानः अन्यस्मै वा ददानः आपद्येत चातुर्मासिकं परिहारस्थानम् उद्घातिकम् ॥ सू० १६ ॥

चूर्णी—'नो कप्पइ' इति । नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा श्रमणश्रमणीनां 'असणं वा' इत्यादि अशनादिकं चतुर्विधमाहार प्रथमायां पौरुष्यां प्रतिगृह्य गृहीत्वा प्रथमपौरुष्यामानीतमशनादिकं पश्चिमां चतुर्थीं पौरुषीम् 'उवाइणावित्तए' उपानाययितुम् उल्लङ्घयितुम् न कल्पते इति पूर्वेण सम्बन्धः प्रथमपौरुष्या गृहीतमशनादिकं पौरुषीत्रयमुल्लङ्घ्य अन्तिमायां चतुर्थ्यां पौरुष्यां न भोक्तव्यमित्याशयः । यद्येवं भवेत्तदा किं कर्त्तव्यमित्याह—'से य आहच्च'

इत्यादि । तच्चाशनादिकम् आहत्य कदाचिदनाभोगादिकारणेन यदि 'उवाइणाविए' उपानायितं प्रथमपौरुष्यां गृहीत्वा चरमपौरुष्यां प्रापितं स्यात् पौरुषीत्रयमुल्लङ्घ्य चतुर्थी पौरुषी प्राप्ता भवेत् तदा प्रथमपौरुष्यानीतं तदशनादिकं नो नैव आत्मना स्वयं भुञ्जीत न स्वयं तस्योपभोगं कुर्यात्, नो नैव च अन्येभ्यः श्रमाणादिभ्यः अनुप्रदद्यात् । तर्हि किं कर्त्तव्यम् ? इत्याह—'एगंते' इत्यादि, तत् प्रथमपौरुषीगृहीतमशनादिकं एकान्ते विजने गमनागमनरहिते बहुप्रासुके जीवरहिते अचित्ते स्थण्डिले भूमिप्रदेशे यत्र तदाहारप्रसङ्गेन द्वीन्द्रियादिजीवोत्पत्तिर्न भवेत् तत्प्रकारेण प्रतिलेख्य स्थण्डिलस्य चक्षुषा सम्यग् निरीक्षणं कृत्वा तथा प्रमृज्य तस्य स्थानस्य रजोहरणेन सम्यक्तया प्रमार्जनं कृत्वा परिष्ठापयितव्य स्यात्, एकान्ते बहुप्रासुके भूमिप्रदेशे प्रतिलेखनप्रमार्जनपूर्वकं निक्षेप्तव्यम् । किमर्थं परिष्ठापनीयमित्याह—तदशनादिकम् आत्मना स्वयं भुञ्जानः अन्यस्मै वा ददानः स आपद्यते प्रप्नोति चातुर्मासिकं परिहारस्थानम् उद्घातिकं चतुर्लघुकं प्रायश्चित्तमिति सूत्राशयः ॥ सू० १६ ॥

पूर्वमशनादिविषये कालातिक्रमः प्ररूपितः, सम्प्रति क्षेत्रातिक्रमसूत्रमाह—'नो कप्पइ' इत्यादि ।

सूत्रम्—नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा परं अद्धजोयणमेराए उवाइणावित्तए, से य आहच्च उवाइणाविए सिया तं नो अप्पणा भुंजिज्जा, नो अन्नेसिं अणुप्पएज्जा, एगंते बहुफासुए थंडिले पडिलेहित्ता पमज्जित्ता परिट्ठवेयव्वे सिया, तं अप्पणा भुंजमाणे अन्नेसिं वा दलमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं उग्घाइयं ॥ सू० १७ ॥

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा अशनं वा पानं वा खाद्यं वा स्वाद्यं वा परम् अर्द्धयोजनमर्यादायाः उपानाययितुम्, तच्च आहत्य उपानायितं स्यात् तद् नो आत्मना भुञ्जीत नो अन्येभ्यः अनुप्रदद्यात्, एकान्ते बहुप्रासुके स्थण्डिले प्रत्युपेक्ष्य प्रमार्ज्य परिष्ठापयितव्यं स्यात्, तद् आत्मना भुञ्जानः अन्येभ्यो वा ददानः आपद्यते चातुर्मासिकं परिहारस्थानम् उद्घातिकम् ॥ सू० १७ ॥

चूर्णी—'नो कप्पइ' इति । नो कल्पते निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां 'असणं वा ४' अशनादिकं चतुर्विधमाहारम् अर्द्धयोजनमर्यादायाः क्रोशद्वयरूपाया मर्यादायाः सीमायाः परम्—अनन्तरम् क्षेत्रम् उपानाययितुम्—क्रोशद्वयलक्षणसीमानमतिक्रामयितुं नो कल्पते इति पूर्वेण सम्बन्धः, गृहीतमशनादिकं तत्क्षेत्रात् क्रोशद्वयाभ्यन्तरक्षेत्रे एव भोक्तुं कल्पते न तु क्रोशद्वयानन्तरक्षेत्रे इति भावः । तच्चाशनादिकम् आहत्य कदाचित् यदि अनाभोगादिकारणवशाद् उपानायितम् गृहीताशनादि क्षेत्रात् क्रोशद्वयात् परक्षेत्रे प्रापितं स्यात् तदा तदशनादिकं न स्वयं भुञ्जीत, नान्येभ्यः श्रमणादिभ्यः प्रदद्यात् अपितु तदशनादिकं बहुप्रासुके स्थण्डिले प्रतिलेख्य प्रमृज्य तत्राचित्तभूप्रदेशे परिष्ठापयितव्यं स्यात् । यदि तदशनादिकस्य स्वयं भोक्ता अन्येभ्यः प्रदाता वा भवेत्

तदा स चातुर्मासिकं परिहारस्थानमुद्घातिकम् आपद्यते—प्राप्नोति स चतुर्लघुकप्रायश्चित्तभागी भवतीत्यर्थः ॥ सू० १७॥

पूर्वसूत्रे श्रमणैः कालक्षेत्रमर्यादामनतिक्रम्यैव आहारः कर्त्तव्य इति प्रतिपादितम्, सम्प्रति आहारप्रसङ्गात् कदाचिदनाभोगेनानेषणीयमचित्तमशनादि गृहीत स्यात्तदा किं कर्त्तव्यमिति तद्विधिं प्रतिपादयितुमाह— 'निग्गंथेण य' इत्यादि ।

सूत्रम्—निग्गंथेण य गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुप्पविट्ठेणं अन्नयपरे अचित्ते अणेसणिज्जे पाणभोयणे पडिग्गाहिए सिया, अत्थि या इत्थ केइ सेहतराए अणुवट्ठाविथए कप्पइ से तस्य दाउं वा अणुप्पदाउं वा, नत्थि या इत्थ केइ सेहतराए अणुवट्ठाविथए तं नो अप्पणा भुंजिज्जा नो अन्नेसिं दावए, एगंते वहुफासुए थंडिले पडिलेहित्ता पमज्जित्ता परिट्ठवेयव्वे सिया ॥ सू० ॥ १८ ॥

छाया—निर्ग्रन्थेन च गाथापतिकुलं पिण्डपातप्रतिज्ञया अनुप्रविष्टेन अन्यतरद् अचित्तम् अनेषणीयं पानभोजनं प्रतिगृहीतं स्यात्, अस्ति चात्र कश्चित् शैक्षतरकः अनुपस्थापितकः कल्पते तस्य तस्मै दातुं वा अनुप्रदातुं वा, नास्ति चात्र कश्चित् शैक्षतरकः अनुपस्थापितक तद् नो आत्मना भुञ्जीत, नो अन्येभ्यः दद्यात् एकान्ते वहुप्रासुके स्थण्डिले प्रतिलेख्य प्रमृज्य परिष्ठापयितव्यं स्यात् ।सू० ॥ १८॥

चूर्णी—**'निग्गंथेण य'** इति । निर्ग्रन्थेन च गाथापतिकुल—गृहस्थगृहम् पिण्डपात-प्रतिज्ञया—आहारग्रहणवाञ्छया अनुप्रविष्टेन तत्र अन्यतरत् चतुर्विधाशनादिमध्याद् एकम् तद् अचित्तं प्रासुकं किन्तु अनेषणीयम्-एषणादोषदुष्टम् पानभोजनम्—पान वा भोजनं वा उभय वा प्रतिगृहीतम् कदाचिदनाभोगेन पात्रे गृहीतं स्यात्, तदा अस्ति चात्र साधुमण्डल्यां कश्चित् शैक्षतरकः नवदीक्षितो वालदीक्षितो वा, सोऽपि अनुपस्थापितक अनारोपितमहाव्रतकः, यावत्कालं छेदोपस्थापनीयचारित्रं न दीयते तावत्कालं स अनुपस्थापितकः प्रोच्यते, छेदो-पस्थापनीयचारित्रस्य समयः जघन्यतः सप्त दिनानि, मध्यमतश्चतुरो मासान्, उत्कृष्टतः षण्मासान् यावदिति । यदि षण्मासपर्यन्तमपि प्रतिक्रमणं तेन न शिक्षित भवेत् तदा तदनन्तरमपि प्रति-क्रमणशिक्षणपर्यन्त छेदोपस्थापनीयचारित्रं न दीयते, एतादृशो यदि तत्र भवेत्तदा कल्पते तस्यानेषणीयाहारग्रहीतुः साधोः तस्मै अनुपस्थापितकाय तत् पान वा भोजनं वा दातुं वा प्रथमतो वितरीतुम् अनुप्रदातु वा वारं वारम् अन्यस्मिन् एषणीयपानभोजनदानात् पश्चाद्वा कल्पते इति पूर्वेण सम्बन्ध । यदि च नास्ति तत्र कश्चित् शैक्षतरक अनुपस्थापितकस्तदा तदनेषणीय पानभोजनं नैव आत्मना स्वयं भुञ्जीत, नो वा अन्येभ्यः श्रमणादिभ्यः दद्यात् । तदा किं कुर्यादित्याह—तत् पानभोजनम् एकान्ते निर्जने वहुप्रासुके अचित्ते स्थण्डिले भूमिप्रदेशे प्रति-

लेख्य तं भूप्रदेशं चक्षुषा सम्यङ् निरीक्ष्य प्रमृज्य रजोहरणेन सम्यक्तया तत्स्थानस्य प्रमार्जनं कृत्वा परिष्ठापयितव्यम् ॥ सू० १८ ॥

पूर्वसूत्रेऽनाभोगेन गृहीतमचित्तमनेषणीयं पानभोजनमनवस्थापितकाय प्रदातव्यं, न स्वयं भोक्तव्यं नान्येभ्यः प्रदातव्यमिति प्रतिपादितम्, सम्प्रति 'किमर्थमनेषणीयमिदं पानभोजनं मह्यं दीयते' इत्येवं कलुषितपरिणामस्य शैक्षस्य प्रज्ञापनार्थमिदं सूत्रं प्रारभ्यते, अथवा 'कथं तावत् शैक्षस्यानेषणीयं पानभोजनं कल्पते ?' इति शङ्कायां तत्समाधाननिमित्तमिदं सूत्र प्रारभ्यते—'जे कडे' इत्यादि ।

सूत्रम्—जे कडे कप्पट्ठियाणं कप्पइ से अकप्पट्ठियाणं, नो से कप्पइ कप्पट्ठियाणं, जे कडे अकप्पट्ठियाणं णो से कप्पइ कप्पट्ठियाणं कप्पइ से अकप्पट्ठियाणं कप्पे ठिया कप्पट्ठिया, अकप्पे ठिया अकप्पट्ठिया ॥ सू० १९॥

छाया—यत् कृतं कल्पस्थितानां कल्पते तत् अकल्पस्थितानाम् नो तत् कल्पते कल्पस्थितानाम्, यत् कृतम् अकल्पस्थितानां नो तत् कल्पते कल्पस्थितानाम्, कल्पते तद् अकल्पस्थितानाम्, कल्पे स्थिता कल्पस्थिताः अकल्पे स्थिता अकल्पस्थिताः ॥ सू० १९॥

चूर्णी—'जे कडे' इति । यद् भक्तपानादिकं कृतं आधाकर्मत्वेन निष्पन्नं कल्पस्थितानाम् आचेलक्यादिदशविधस्थितकल्पे स्थितानाम् । कल्पो द्विविधः स्थितकल्पः अस्थितकल्पश्च । तत्र आचेलक्यादिदशविधः स्थितकल्पः, असौ आदिमान्तिमतीर्थकरयोः साधूनां पञ्चयामधर्मप्रतिपन्नानां भवति ततस्ते कल्पस्थिताः कथ्यन्ते, दशविधकल्पो यथा—आचेलक्यम् १ कृतिकर्म २, महाव्रतम् ३, पर्यायज्येष्ठत्वम् ४, प्रतिक्रमणम् ५, मासनिवासः ६, पर्युषणा ७, औद्देशिकम् ८, शय्यातरपिण्डः ९, राजपिण्डः १० । एतेषु दशसु कल्पेषु आदितः सप्तविध कल्पाः ग्राह्या इत्यर्थः, औद्देशिकादिकास्त्रयो निषेधकल्पाः अग्राह्या इत्यर्थः, एषु कल्पेषु स्थिताः कल्पस्थिताः, तेषां कृते यद् भक्तपानादिकं निष्पन्नं तद् भक्तपानादिकं कल्पते अकल्पस्थितानाम्—आचेलक्यादिसम्पूर्णदशविधकल्परहितानाम् मध्यमद्वाविंशतितीर्थकरसाधूनां चातुर्यामधर्मप्रतिपन्नानां कल्पते इति पूर्वेण सम्बन्धः, किन्तु **'नो से'** इति तद् भक्तपानादिकं कल्पस्थितानां आदिमान्तिमतीर्थकरसाधूनां पञ्चयामधर्मप्रतिपन्नानां नो कल्पते, कल्पस्थितानुद्दिश्य निष्पादितं भक्तपानादिकमकल्पस्थितानां कल्पते किन्तु कल्पस्थितानां तत् नो कल्पते इत्याशयः ।

अथ च **'जे कडे'** इति । यद् भक्तपानादिकम् अकल्पस्थितानां कृते कृतं निष्पादितं भवेत् तद् नो कल्पते कल्पस्थितानाम् किन्तु तद् अकल्पस्थितानां कल्पते । यत् चातुर्यामधर्मप्रतिपन्नानुद्दिश्य संपादितं भक्तपानादिकं पञ्चयामधर्मप्रतिपन्नानां नो कल्पते तत्तु चातुर्यामधर्मप्रतिपन्नानामेव कल्पते इति भावः । कथं कल्पस्थिता अकल्पस्थिता इति कथ्यन्ते ? तत्राह—**'कप्पे ठिया'** इत्यादि, ये कल्पे

[अ]चेलक्यादिदशविधस्थितकल्पे स्थितास्ते कल्पस्थिताः कथ्यन्ते, ये च अकल्पे-अस्थितकल्पे [य]थासंभवपालनरूपे स्थितास्ते अकल्पस्थिताः कथ्यन्ते ।

कल्पस्थितानां पूर्वपश्चिमतीर्थकरसाधूनां पञ्चमहाव्रतरूपा स्थितिर्भवति । मध्यमद्वाविंशति-[ती]र्थकरसाधूनां महाविदेहक्षेत्रस्थितसाधूनां च चातुर्यामरूपा कल्पस्थितिर्भवति । एषां चत्वारि [म]हाव्रतानि भवन्ति 'न अपरिगृहीता स्त्री भुज्यते' इति नियमात् चतुर्थं ब्रह्मचर्यव्रतं तेषां परिग्रहविर-[म]णव्रते एवान्तर्भवतीति ॥ सू० १९ ॥

पूर्वं कल्पस्थिता अकल्पस्थिता वर्णिताः, तत्प्रसङ्गाद् अत्र कल्पस्थितस्याऽकल्पस्थितगणे [अ]कल्पस्थितस्य कल्पस्थितगणे कारणवशात् सङ्क्रमणं भवेत्तस्यान्यगणसंक्रमणे विधिः प्रतिपाद्यते— 'भिक्खू य' इत्यादि ।

सूत्रम्—भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म इच्छेज्जा अण्णं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा उवज्झायं वा पवत्तयं वा थेरं वा [ग]णिं वा गणहरं वा गणावच्छेयगं वा अन्नं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं वा उवज्झायं वा पवत्तयं वा थेरं वा गणिं वा गणहरं वा गणावच्छेयगं वा अन्नं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, ते य से वियरेज्जा एवं से कप्पइ अन्नं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, ते य से नो वियरेज्जा एवं से नो कप्पइ अण्णं गणं उपसंपज्जित्ता णं विहरित्तए ॥ सू० २० ॥

छाया—भिक्षुश्च गणाद् अवक्रम्य इच्छेत् अन्यं गणं उपसंपद्य विहर्त्तुम् नो तस्य [क]ल्पते अनापृच्छ्य आचार्यं वा उपाध्यायं वा प्रवर्त्तकं वा स्थविरं वा गणिनं वा गणधरं [व]ा गणावच्छेदकं वा अन्यं गणम् उपसम्पद्य विहर्त्तुम्, कल्पते तस्य आपृच्छ्य आचार्यं वा [उ]पाध्यायं वा प्रवर्त्तकं वा स्थविरं वा गणिनं वा गणधरं वा गणावच्छेदकं वा अन्यं गणम् [उ]पसंपद्य विहर्त्तुम्, ते च तस्य वितरेयुः एवं तस्य कल्पते अन्यं गणम् उपसंपद्य विहर्त्तुम्, [त]े च तस्य नो वितरेयुः एवं तस्य नो कल्पते अन्यं गणम् उपसंपद्य विहर्त्तुम् ॥ सू० २० ॥

चूर्णी—'भिक्खू य' इति । भिक्षुश्च निर्ग्रन्थो यदि गणात् स्वगणाद् अपक्रम्य—निस्सृत्य-ज्ञानदर्शनादिप्राप्त्यर्थं स्वगणाद् निर्गत्य इच्छेत् अन्यं स्वगणभिन्नं गणम् उपसंपद्य स्वीकृत्य विहर्त्तुम् तत्रा-वस्थातुम् तदा तस्य भिक्षोर्नो कल्पते, कदा ? इत्याह—अनापृच्छ्य पृच्छामकृत्वा, कम् ? इत्याह—अचार्यं वा उपाध्यायं वा प्रवर्त्तकं वा स्थविरं वा गणिनं वा गणधरं वा गणावच्छेदकं वा, तत्र-आचार्यः यः पञ्चाचारान् स्वयं पालति परांश्च पालयति सः, तथा योऽर्थं वाचयति गणस्य मेधीभूतः आचारद्यष्टविधसपदायुक्तः ताश्च यथा—आचारसंपद् १ श्रुतसंपद् २ शरीरसंपद् ३ वचनसंपद् ४ वाचनासंपद् ५ मतिसंपद् ६ उपयोगसपद् ७ संग्रहसंपद् ८ इति, एवं योऽष्टविधसंपदा युक्तो भवेत् स आचार्यः । तथा उपाध्यायः—यस्य उप—समीपे एत्य अधीयते प्रवचनं शिष्यैर्यस्मात् स उपाध्यायः । प्रवर्तकः—प्रवर्त्तयति आचार्योपदिष्टेषु कार्येषु तपःसयम-

योगवैयावृत्त्यसेवाशुश्रूषासूत्रार्थाऽध्ययनाध्यापनादिपु यथायोग्यं बलाबलं विचार्य यथायोगं नियोजयति यः स प्रवर्त्तकः। स्थविरः—संयमयोगेषु सीदतः साधून् ऐहिकामुष्मिकापायप्रदर्शनपूर्वकं ज्ञानादिषु स्थिरीकरोति यः स स्थविरः। गणी—गणः साधुसमुदायः स्वस्वामिसम्बन्धेन यस्यास्ति स गणी कतिपयसाधुसमुदायेन सह विचरणशीलो यः स गणी। गणधरः—यो गणचिन्ताकारकः गणस्य योगक्षेमविधायकः स गणधरः। गणावच्छेदकः—गणस्य साधुसमुदायस्य अवच्छेदं विभागं करोति यः स गणावच्छेदकः। एतान् आचार्यादीन् अनापृच्छ्य गणाद् गणान्तरमुपसंक्रम्य भिक्षोर्विहर्त्तुं न कल्पते इति भावः। तर्हि कथं कल्पते ? इत्याह—पूर्वोक्तान् आचार्यादीन् आपृच्छ्य तस्य भिक्षोर्गणान्तरमुपसंपद्य विहर्तुं कल्पते। ते च यदि तस्य वितरेयुः गणाद् गणान्तरं संक्रमितु-माज्ञां दद्युः एवम्—अनेन विधिना तस्य भिक्षोः कल्पते अन्य गणं गणाद् गणान्तरम् उपसंक्रम्य विहर्त्तुम्। यदि ते च तस्य गणान्तरसंक्रमणेच्छुकस्य नो वितरेयुः आज्ञां न दद्युः एवम्—अनेन प्रकारेण आज्ञामन्तरेण नो कल्पते तस्य भिक्षोरन्यं गणमुपसंपद्य विहर्त्तुमिति। एवं भिक्षुविषय आलापो निर्ग्रन्थ्या अपि गणान्तरगमनविषयेऽवगन्तव्यः किन्तु एतदपेक्षया विशेषस्तु—निर्ग्रन्थी नियमत एव ससहाया गणान्तरं गच्छति न तु कथमपि असहाया एकाकिनीति॥ सू० २०॥

पूर्वसूत्रे सामान्यश्रमणस्य गणान्तरसक्रमणविधिरुक्तः, एष एव गणावच्छेदकाचार्योपाध्या-यानामपि विधिर्भवतीति भाष्यकारोऽतिदिशति—'जइ भिक्खुस्स' इत्यादि।

भाष्यम्—जह भिक्खुस्स य कहिओ, गणावछेए तहेव आयरिए।
एसेव उवज्झाए, विही य ते हुंति वत्ता उ॥ १॥
छाया—यथा भिक्षोश्च कथितः गणावच्छेदे तथैव आचार्ये।
एष एव उपाध्याये विधिश्च ते भवन्ति व्यक्तास्तु॥ १॥

अवचूरी—'जइ भिक्खुस्स' इति यथा—येन प्रकारेण भिक्षोश्च सामान्यश्रमणस्य गणान्तर-संक्रमणविषये सूत्रे विधिः कथितः तथैव तेनैव प्रकारेण गणावच्छेदे—गणावच्छेदविषये, आचार्ये—आचार्यविषये, उपाध्याये उपाध्यायविषये एष एव विधिः पृच्छादिरूपो विज्ञेयः, नवरं नानात्वं केवलमेतावदेव यत्—भिक्षोः केवलं पृच्छापूर्वकं गमनं प्रतिपादितम्, गणावच्छेदका-दीनां तु स्वपदत्यागपुरस्सरमाचार्यादिकं पृष्ट्वा गन्तव्यम्, यत एते गणावच्छेदकादयो नियमात् 'वत्ता उ' इति व्यक्ता वयसा श्रुतेन च व्यक्ता एव भवन्ति नाव्यक्ताः ततो योऽव्यक्तस्य विधिरुक्त. सोऽत्र न भवतीति भावः॥ १॥

पूर्वं सामान्यश्रमणस्य ज्ञानाद्यर्थं गणान्तरगमनविधिः प्रतिपादितः, सम्प्रति विशेषमाश्रित्य गणावच्छेदकाचार्योपाध्यायानां गणान्तरगमनविधिं सूत्रकारः साक्षात् प्रतिपादयन् प्रथमं गणा-वच्छेदकस्य विधिमाह—'गणावच्छेयए य' इत्यादि।

सूत्रम्—गणावच्छेयए य गणाओ अवक्कम्म इच्छेज्जा अण्णं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए नो से कप्पइ गणावच्छेयगस्स गणावच्छेयगत्तं अणिक्खिवित्ता अन्नं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, कप्पइ गणावच्छेयगस्स गणावच्छेयगत्तं णिक्खिवित्ता अण्णं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरितए, णो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा उवज्झायं वा पवत्तयं वा थेरं वा गणिं वा गणहरं वा गणावच्छेयगं वा अन्नं गणं उ वसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेयगं वा अण्णं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, ते य से वियरेज्जा एवं से कप्पइ अण्णं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, ते य से णो वियरेज्जा एवं से णो कप्पइ अण्णं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए ॥ सू० २१ ॥

छाया—गणावच्छेदकश्च गणाद् अपक्रम्य इच्छेत् अन्यं गणम् उपसंपद्य विहर्त्तुम् नो तस्य कल्पते गणावच्छेदकस्य गणावच्छेदकत्वम् अनिक्षिप्य अन्यं गणम् उपसंपद्य विहर्त्तुम्, कल्पते तस्य गणावच्छेदकस्य गणावच्छेदकत्वं निक्षिप्य अन्यं गणम्उपसंपद्य विहर्त्तुम् । नो तस्य कल्पते अनापृच्छ्य आचार्यं वा उपाध्यायं वा प्रवर्त्तकं वा स्थविरं वा गणिनं वा गणावच्छेदकं वा अन्यं गणम् उपसंपद्य विहर्त्तुम्, कल्पते तस्य आपृच्छ्य आचार्यं वा यावत् गणावच्छेदक वा अन्यं गणम् उपसंपद्य विहर्त्तुम्, ते च तस्य वितरेयुः एवं तस्य कल्पते अन्यं गणम् उपसंपद्य विहर्त्तुम्, ते च तस्य नो वितरेयुः एवं तस्य नो कल्पते अन्यं गणम् उपसंपद्य विहर्त्तुम् ॥ सू० २१ ॥

चूर्णी—'गणावच्छेयए य' इति । गणावच्छेदको यदि गणादपक्रम्य विशेषज्ञानादि-प्राप्त्यर्थम् अन्यं गणमुपसपद्य विहर्त्तुम् अवस्थातुम् इच्छेत् तदा तस्य गणावच्छेदकस्य गणावच्छेदकत्वं स्वपदवीरूपम् अनिक्षिप्य—आचार्यादिषु असमारोप्य न समर्प्य, स्वपदवीमन्यस्मै अदत्त्वेत्यर्थः अन्यं गणम् उपसपद्य विहर्तुं नो कल्पते ।

तर्हि कथं कल्पते ? इत्याह—कल्पते तस्य गणावच्छेदकस्य गणावच्छेदकत्वं स्वदपदवीरूपं निक्षिप्य अन्यस्मै दत्त्वा अन्यं गणमुपसपद्य विहर्त्तुमिति । पृच्छाविधिर्भिक्षुसूत्रवदेव व्याख्येयः । अयं भावः—आचार्यादिकमनापृच्छ्य गणान्तरसंक्रमणं तस्य न कल्पते, किन्तु आचार्यादिकमापृच्छ्यैव गणान्तरगमनं कल्पते । तत्रापि यदि ते गणान्तरगमनाज्ञां वितरेयुः तदा कल्पते, यदि न वितरेयुस्तदा नो कल्पते इति सूत्रार्थः ॥ सू० २१ ॥

पूर्वं गणावच्छेदकस्य गणान्तरसक्रमणविधिरुक्तः, सम्प्रति आचार्यस्य उपाध्यायस्य च ज्ञानार्थं गणान्तरगमने विधिमाह—'आयरियउवज्झाए य' इत्यादि ।

सूत्रम्—आयरियउवज्झाए य गणाओ अवक्कम्म इच्छेज्जा अण्णं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए नो से कप्पइ आयरियउवज्झायस्य आयरियउवज्झायत्तं अणिक्खिवित्ता अण्णं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, कप्पइ से आयरियउवज्झायस्स आयरियउवज्झायत्तं णिक्खिवित्ता अण्णं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा जाव

गणावच्छेययं वा अण्णं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेययं वा अण्णं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, ते य से वियरेज्जा एवं से कप्पइ अण्णं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, ते य से नो वियरेज्जा एवं से नो कप्पइ अण्णं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए ॥ सू० २२ ॥

छाया—आचार्योपाध्यायश्च गणाद् अपक्रम्य इच्छेत् अन्यं गणम् उपसंपद्य विहर्त्तुम्-नो तस्य कल्पते आचार्योपाध्यायस्य आचार्योपाध्यायत्वम् अनिक्षिप्य अन्यं गणम् उपसंपद्य विहर्त्तुम्, कल्पते तस्य आचार्योपाध्यायस्य आचार्योपाध्यायत्वं निक्षिप्य अन्यं गणम् उपसंपद्य विहर्त्तुम्, नो तस्य कल्पते अनापृच्छ्य आचार्यं वा यावत् गणावच्छेदकं वा अन्यं गणम् उपसंपद्य विहर्त्तुम्, कल्पते तस्य आपृच्छ्य आचार्यं यावत् गणावच्छेदकं वा अन्यं गणम् उपसंपद्य विहर्त्तुम्, ते च तस्य वितरेयुः एवं तस्य कल्पते अन्यं गणम् उपसंपद्य विहर्त्तुम्, ते च तस्य नो वितरेयुः एवं नो कल्पते अन्यं गणं उपसंपद्य विहर्त्तुम् ॥ सू० २२ ॥

चूर्णी—'आयरियउवज्झाए य' इति । इदम् आचार्योपाध्यायसूत्रं गणावच्छेदकसूत्रवदेव सर्वं व्याख्येयम्, विशेष एतावानेव यत्तत्र गणावच्छेदकपदेन व्याख्या कृता अत्र तु आचार्योपाध्यायपदेन व्याख्या विधेया, इति । आचार्येण सहित उपाध्याय- आचार्योपाध्यायः, शाकपार्थिवादित्वात् मध्यमपदलोपी समासः तेन 'आचार्योपाध्यायौ' इत्यर्थो बोध्यः । आचार्योपाध्याययो समानविधिकत्वादेकस्मिन्नेव सूत्रे उभयोर्विधिः प्रतिपादित इति ॥ सू० २२ ॥

पूर्वं भिक्षुप्रभृतीनां ज्ञानार्थं गणान्तरगमनविधिः प्रतिपादितः, सम्प्रति तेषां संभोगार्थं गणान्तरगमनविधिमाह–'भिक्खू य' इत्यादि ।

सूत्रम्—भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म इच्छेज्जा अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेययं वा अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेययं वा अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, ते य से वियरेज्जा एवं से कप्पइ अण्णं गणं संभोगपडियाए उपसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, ते य से नो वियरेज्जा एवं से नो कप्पइ अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, जत्थुत्तरियं धम्मविणयं लभेज्जा, एवं से कप्पइ अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, जत्थुत्तरियं धम्मविणयं नोलभेज्जा एवं से नो कप्पइ अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए ॥ सू०२३॥

छाया—भिक्षुश्च गणाद् अपक्रम्य इच्छेत् अन्यं गणं संभोगप्रत्ययेन उपसंपद्य विहर्त्तुम् नो तस्य कल्पते अनापृच्छ्य आचार्यं वा यावत् गणावच्छेदकं वा अन्यं गणं संभोगप्रत्ययेनम् उपसंपद्य विहर्त्तुं, कल्पते तस्य आपृच्छ्य आचार्यं वा यावत् गणावच्छेदकं वा

अन्यं गणं संभोगप्रत्ययेन उपसंपद्य विहर्त्तुम्, ते च तस्य वितरेयुः एवं तस्य कल्पते अन्यं गणं संभोगप्रत्ययेन उपसंपद्य विहर्त्तुम्, ते च तस्य नो वितरेयुः एवं तस्य नो कल्पते अन्यं गणं संभोगप्रत्ययेन उपसंपद्य विहर्त्तुम्, यत्रौत्तरिकं धर्मविनयं लभेत एवं तस्य कल्पते अन्यं गणं संभोगप्रत्ययेन उपसंपद्य विहर्त्तुम्, यत्रौत्तरिकं धर्मविनयं नो लभेत एवं तस्य नो कल्पते अन्यं गणं संभोगप्रत्ययेन उपसंपद्य विहर्त्तुम् ॥ सू० ॥ २३॥

चूर्णी—'भिक्खू य' इति। भिक्षुश्च गणात् स्वगणात् अपक्रम्य निस्सृत्य संभोगप्रत्ययेन—संभोगः—एकमण्डल्यां भोजनादिरूपः, अथवा समवायाङ्गोक्तो द्वादशविधः संभोगस्तत्प्रत्ययेन तन्निमित्तेन तदर्थमित्यर्थः अन्य गणमुपसंपद्य विहर्त्तुम्—अवस्थातुम् इच्छेत् तदा तस्य पूर्ववदेव-आचार्यादिकमनापृच्छ्य नो कल्पते, आपृच्छ्य कल्पते। यदि ते गणान्तरगमनस्याज्ञां वितरेयुः एवम्—अनेनाज्ञाग्रहणविधिना तस्य गणान्तरगमनं कल्पते, यदि ते गणान्तरगमने आज्ञां नो वितरेयुस्तदा नो कल्पते गणान्तरगमनम्, इति सूत्राशयः। भिक्षोः गणान्तरगमने कारणमाह—'जत्थुत्तारियं' इत्यादि, 'जत्थ' इति यत्र यस्मिन् गणे गन्तुमिच्छति तत्र यदि स औत्तरिकम्—उच्चतरं प्रधानं धर्मविनयं लभेत प्राप्नुयात् एतादृशो गणो यदि भवेत् तदा तस्य तमन्यं गणं संभोगप्रत्ययेन उपसंपद्य विहर्त्तुम्—अवस्थातुं कल्पते, यत्रौत्तरिकं धर्मविनयं नो लभेत तदा तस्य अन्य गणं संभोगप्रत्ययेन उपसंपद्य विहर्त्तुं नो कल्पते ॥ सू० २३॥

अथ भाष्यकारो गणान्तरगमने विवेकं प्रदर्शयति—'नाणट्ठ'० इत्यादि।

भाष्यम्—नाणट्ठदंसणट्ठा, चारित्तट्ठा भवे य संभोगो।
संकमणे चउभंगी, आयरियं गच्छमासज्ज ॥ २ ॥

छाया—ज्ञानार्थं दर्शनार्थं चारित्रार्थं भवेच्च संभोगः।
संक्रमणे चतुर्भङ्गी, आचार्यं गच्छमासाद्य ॥ २ ॥

अवचूरी—'नाणट्ठ०' इति। ज्ञानार्थं दर्शनार्थं चारित्रार्थं च संभोगो भवेदिति त्रिविधः संभोग, तदर्थं गणान्तरसंक्रमणं भवति, तत्र आचार्यं गच्छं च आसाद्य—आश्रित्य चतुर्भङ्गी भवतीति भाष्यगाथार्थः। विस्तरार्थश्चायम्—स्वगच्छे सूत्रार्थदानादौ विषीदति सति गच्छान्तर-संक्रमणे पूर्वोक्तरीत्यैव गमनविधिरत्रापि प्रतिपत्तव्यः, परन्तु चारित्रार्थं गच्छान्तरसंक्रमणे तु यस्य गच्छस्य प्रथममुपसंपन्नो भवति तस्मिन् गच्छे चरणकरणक्रियायां विषीदति सति चतुर्भङ्गी भवति, तथाहि—गच्छो विषीदति नाचार्यः १, आचार्यो विषीदति न गच्छः २, गच्छोऽपि आचार्योऽपि च विषीदति ३, न गच्छो विषीदति न वा आचार्यः ४ इति। तत्र प्रकृते 'गच्छो विषीदति नाचार्य.' इत्येवंरूपः प्रथमो भङ्गोऽवगन्तव्यः, तत्र स्वयं विषीदतो गच्छस्य आचार्येण प्रेरणा कर्त्तव्या, तत्र गच्छस्य विषादकारणं यथा—प्रथमं तावत् गच्छश्रमणाः यथा-कालं प्रत्युपेक्षणां न कुर्वन्ति न्यूनातिरिक्तादिदोषैर्विपर्यासेन वा प्रत्युपेक्षणां कुर्वन्ति, गुरुग्ला-

नादीन् वा न प्रत्युपेक्षन्ते, निष्कारणं च दिवा त्वग्वर्त्तयन्ति, भाण्डोपकरणं निक्षिपन्त आददाना वा तं न प्रत्युपेक्ष्य निक्षिपन्ति आददति च, यथायोगं विनयमपि न प्रयुञ्जते, सूत्रार्थपौरुषीं, सूत्रार्थचिन्तनां वा न कुर्वन्ति, अस्वाध्यायकाले सूत्रस्वाध्यायं कुर्वन्ति काले च न कुर्वन्ति, पाक्षिकादौ चालोचनां न ददति, संखडीं वा पश्यन्ति, मण्डल्यां भक्तपानादिसमुद्देशनं न कुर्वन्ति, सावद्यभाषां भाषन्ते, पटलकेषु 'थैली' इति भाषाप्रसिद्धेषु समानीतं भक्तपानादिकं भुञ्जते, शय्यातरपिण्डं वा भुञ्जते, उद्गमोत्पादनादिदोषदुष्टमाहारं गृह्णन्ति । इत्यादिषु विषीदने त्रयो भङ्गा सन्ति तत्र विधिमाह–'गच्छो विषीदति नाचार्यः' इति प्रथमभङ्गे सामाचार्यां विषीदन्त गच्छमाचार्यः स्वयं वा प्रेरयति १। 'आचार्यो विषीदति न गच्छः' एवंरूपे द्वितीयभङ्गे विषीदन्तमाचार्यं गच्छः स्वयं वा प्रेरयति २। 'गच्छोऽपि विषीदति आचार्योऽपि विषीदति' इत्येवं रूपे तृतीयभङ्गे गच्छाचार्यौ विषीदन्तौ कोऽपि मुनिः स्वयं प्रेरयति, अथवा तत्र ये न विषीदन्ति तैस्तान् प्रेरयति, किं बहुना स्थानं प्राप्य अनुलोमविलोमादिवचनैः प्रेरयति। एव चाचार्योपाध्यायादिकं भिक्षुक्षुल्लकादिकं वा पुरुषवस्तु ज्ञात्वा यस्य यादृशी अनुलोमा विलोमा वा नोदना योग्या भवेत्तया प्रेरयति, यो वा खरसाध्यो मृदुसाध्यः क्रूरोऽक्रूरो वा यथा नोदनां गृह्णाति तं तथा प्रेरयेत् गच्छमाचार्यं तदुभयं वा विषीदन्तं स्वयं ब्रुवन् अन्यैर्वा प्रेरयन् तिष्ठेत् । साध्वाचारविशोधनार्थं नानाविधिप्रेरणायां कृतायामपि यदि ते शिथिलाचारत्वं न मुञ्चन्ति तदा भिक्षुः आचार्यादीन् पृष्ट्वा तदाज्ञां गृहीत्वा गणान्तरसंक्रमणं कुर्यात् इति जिनाज्ञा बोध्या। पूर्वावस्थायां तत्र स्थितिमानमिदम्– एते उच्यमाना अपि नोद्यमं करिष्यन्तीति ज्ञात्वा तत्रोत्कृष्टेन पञ्चदश दिवसान् तिष्ठेत् । आचार्यं वा विषीदन्तं जानन्नपि लज्जया तद्गौरवेण वा त्रीणि पञ्च वा दिनानि अनोदयन्नपि शुद्ध एव, न दोषभाग् भवति । यदि च नोद्यमानोऽपि गच्छ आचार्यस्तदुभयं वा ब्रूयात्–'विषीदत्सु अस्मत्सु तव किं दुःखम् ? यदि वयं विषीदामस्तर्हि वयमेव दुर्गतिं गमिष्यामः, त्वां न किमपि कथयिष्यामः, त्व स्वकीयमात्मानं प्रेरय, किमन्यैस्तव प्रयोजनम् ?' इत्येवंविधे भावे परिणते तेषां त्यागं कृत्वा यत्रौत्तरिको धर्मविनयो लभ्येत तत्र गच्छे गच्छेदिति भाष्यगाथाविस्तरः ॥२॥

पूर्वं भिक्षोः संभोगप्रत्ययेन गच्छान्तरगमनं प्ररूपितम्, सम्प्रति गणावच्छेदकस्य संभोग–प्रत्ययेन गच्छान्तरगमनं प्रतिपादयितुमाह–इत्यादि **'गणावगच्छेयए यं'**

सूत्रम्––गणावच्छेयए य गणाओ अवक्कम्म इच्छेज्जा अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए णो से कप्पइ गणावच्छेयत्तं अणिक्खिवित्ता अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, कप्पइ से गणावच्छेयत्तं णिक्खिवित्ता

अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेयगं वा अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेयगं वा अण्ण गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, ते य से वियरेज्जा एवं से कप्पइ अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, ते य से नो वियरेज्जा एवं से नो कप्पइ अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरितए, जत्थुत्तरियं धम्मविणयं लभेज्जाएवं से कप्पइ अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, जत्थुत्तरियं धम्मविणयं नो लभेज्जा एवं से नो कप्पइ अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए ॥ सू० २४ ॥

छाया—गणावच्छेदकश्च गणाद् अपक्रम्य इच्छेत् अन्यं गणं संभोगप्रत्ययेन उपसंपद्य विहर्त्तुम् नो तस्य कल्पते गणावच्छेदकत्वम् अनिक्षिप्य अन्यं गणं संभोगप्रत्ययेन उपसंपद्य विहर्त्तुम्, कल्पते तस्य गणावच्छेदकत्वं निक्षिप्य अन्यं गणं संभोगप्रत्ययेन उपसंपद्य विहर्त्तुम् नो तस्य कल्पते अनापृच्छ्य आचार्यं वा यावत् गणावच्छेदकं वा अन्यं गणं संभोगप्रत्ययेन उपसंपद्य विहर्त्तुम्, कल्पते तस्य आपृच्छ्य आचार्यं वा यावत् गणावच्छेदकं वा अन्यं गणं संभोगप्रत्ययेन उपसंपद्य विहर्त्तुम्, ते च तस्य वितरेयुः एवं तस्य कल्पते अन्यं गणं संभोगप्रत्ययेन उपसंपद्य विहर्त्तुम्, ते च तस्य नो वितरेयुः एवं तस्य नो कल्पते अन्यं गणं संभोगप्रत्ययेन उपसंपद्य विहर्त्तुम्, यत्रौत्तरिकं धर्मविनयं लभेत एवं तस्य कल्पते अन्यं गणं संभोगप्रत्ययेन उपसंपद्य विहर्त्तुम्, यत्रौत्तरिकं धर्मविनयं नो लभेत एवं तस्य नो कल्पते अन्यं गणं संभोगप्रत्ययेन उपसंपद्य विहर्त्तुम् ॥ सू० ॥ २४ ॥

चूर्णी— 'गणावच्छेयए य' इति। गणावच्छेदकश्च गणात् स्वगणात् अपक्रम्य निर्गत्य इच्छेत् अन्यं गणं संभोगप्रत्ययेन संभोगो द्वादशविधस्तन्निमित्तम् उपसपद्य विहर्त्तुं तदा तस्य गणावच्छेदकत्वं स्वपदवीरूपम् अनिक्षिप्य आचार्याद्युपरि अनारोप्य अन्यं गणं संभोगप्रत्ययेन उपसंपद्य विहर्त्तुं नो कल्पते। कथं कल्पते ? इत्याह—स्वस्य गणावच्छेदकत्वं निक्षिप्य अन्यस्मै दत्त्वा अन्यं गणं संभोगप्रत्ययेन उपसंपद्य विहर्त्तुं कल्पते। पुनश्च आचार्यादिकमनापृच्छ्य अन्यं गणं संभोग प्रत्ययेन उपसंपद्य विहर्त्तुं नो कल्पते किन्तु आचार्यादिकमापृच्छ्य अन्यं गणं संभोगप्रत्ययेन उपसंपद्य विहर्त्तुं कल्पते। तत्र च यदि ते आचार्यादयः अन्यगणसंक्रमणस्याज्ञां वितरेयुः—दद्युस्तदा तस्य अन्यं गणं सभोगप्रत्ययेन उपसंपद्य विहर्त्तुं कल्पते, यदि ते अन्यगणगमनाज्ञां न वितरेयुस्तदा तस्य नो कल्पते अन्यं गणं संभोगप्रत्ययेन उपसपद्य विह_ुम्। तत्रापि यदि यत्र औत्तरिकं स्वगणापेक्षया प्रधानं धर्मविनयं स्मारणावारणादिरूपं लभेत एवम्—अनेन—कारणेन

कल्पते तस्य अन्यं गणं संभोगप्रत्ययेन उपसंपद्य विहर्त्तुम्, यदि यत्र औत्तरिकं प्रधानं धर्मविनयं न लभेत एव धर्मविनयस्याऽलाभे अन्यं गणं संभोगप्रत्ययेन उपसंपद्य विहर्त्तुं नो कल्पते इति सूत्राशयः ॥ सू० २४ ॥

पूर्वं गणावच्छेदकस्य संभोगनिमित्तं गणान्तरगमने विधिः प्रतिपादितः, साम्प्रतम् आचार्योपाध्यायस्य तद्विधिमाह—'आयरियउवज्झाए य' इत्यादि ।

सूत्रम्—आयरियउवज्झाए य गणाओ अवक्कम्म इच्छेज्जा अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए णो से कप्पइ आयरियउवज्झायत्तं अणिक्खिवित्ता अण्णं गणं संभोगपडियाए, उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, कप्पइ से आयरियउवज्झायत्तं णिक्खिवित्ता अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेयगं वा अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेयगं वा अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, ते य से वियरेज्जा एवं से कप्पइ अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, ते य से नो वियरेज्जा एवं से नो कप्पइ अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, जत्थुत्तरियं धम्मविणयं लभेज्जा एवं से कप्पइ अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, जत्थुत्तरियं धम्मविणयं नो लभेज्जा एवं से नो कप्पइ अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए ॥ सू० २५ ॥

छाया—आचार्योपाध्यायश्च गणाद् अपक्रम्य इच्छेत् अन्यं गणं संभोगप्रत्ययेन उपसंपद्य विहर्त्तुं नो तस्य कल्पते आचार्योपाध्यायत्वम् अनिक्षिप्य अन्यं गणं संभोगप्रत्ययेन उपसंपद्य विहर्त्तुम्, कल्पते तस्य आचार्योपाध्यायत्वं निक्षिप्य अन्यं गणं संभोगप्रत्ययेन उपसंपद्य विहर्त्तुम्, नो तस्य कल्पते अनापृच्छ्य आचार्यं वा यावत् गणावच्छेदकं वा अन्यं गणं संभोगप्रत्ययेन उपसंपद्य विहर्त्तुम्, कल्पते तस्य आपृच्छ्य आचार्यं वा यावत् गणावच्छेदकं वा अन्यं गणं संभोगप्रत्ययेन उपसंपद्य विहर्त्तुम् ते च तस्य वितरेयुः एवं तस्य कल्पते अन्यं गणं संभोगप्रत्ययेन उपसंपद्य विहर्त्तुम्, ते च तस्य नो वितरेयुः एवं तस्य नो कल्पते अन्यं गणं संभोगप्रत्येन उपसंपद्य विहर्त्तुम्, यत्रौत्तरिकं धर्मविनयं लभेत एवं तस्य कल्पते अन्यं गणं संभोगप्रत्ययेन उपसंपद्य विहर्त्तुम्, यत्रौत्तरिकं धर्मविनयं नो लभेत एवं तस्य नो कल्पते अन्यं गणं संभोगप्रत्ययेन उपसंपद्य विहर्त्तुम् ॥ सू० २५ ॥

चूर्णी—'आयरियउवज्झाए य' इति । इदमाचार्योपाध्यायसूत्रं संभोगप्रत्ययमधिकृत्य गणावच्छेदकसूत्रवदेव सर्वं व्याख्येयम्, नवरं गणावच्छेदपदस्थानेऽस्मिन् सूत्रे आचार्योपाध्यपदमुच्चारणीयम्, शेषं सर्वं पूर्वसूत्रवदेवेति भावः ॥ सू० २५ ॥

पूर्वं भिक्षुप्रभृतीनां सभोगनिमित्तं गणान्तरगमनं प्ररूपितम्, सम्प्रति भिक्षोरेव अन्यमाचार्योपाध्यायं कर्त्तुमिच्छुकस्य विधिमाह—'भिक्खू य 'इत्यादि ।

मूलम्—भिक्खू य इच्छेज्जा अन्नं आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए, णो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेयगं वा अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए, कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेयगं वा अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए, ते य से वियरेज्जा एवं से कप्पइ अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए, ते य से नो वियरेज्जा एवं से नो कप्पइ अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए, नो से कप्पइ तेसिं कारणं अदीवित्ता अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए, कप्पइ से तेसिं कारणं दीवित्ता अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए ॥ सू० २६ ॥

छाया—भिक्षुश्च इच्छेत् अन्यम् आचार्योपाध्यायम् उद्देशयितुं नो तस्य कल्पते अनापृच्छ्य आचार्यं वा यावत् गणावच्छेदकं वा अन्यम् आचार्योपाध्यायं उद्देशयितुम्, कल्पते तस्य आपृच्छ्य आचार्यं वा यावत् गणावच्छेदकं वा अन्यम् आचार्योपाध्यायम् उद्देशयितुम्, ते च तस्य वितरेयुः एव तस्य कल्पते अन्यम् आचार्योपाध्यायम् उद्देशयितुम्, ते च तस्य नो वितरेयुः एवं तस्य नो कल्पते अन्यम् आचर्योपाध्यायम् उद्देशयितुम्, नो तस्य कल्पते तेषां कारणम् अदीपयित्वा अन्यम् आचार्योपाध्यायम् उद्देशयितुम्, कल्पते तस्य तेषां कारणं दीपयित्वा अन्यम् आचार्योपाध्यायम् उद्देशयितुम् ॥ सू०२६॥

चूर्णी—'भिक्खू य' इति। भिक्षुश्च इच्छेत् अन्यम् स्वकीयाचार्योपाध्यायात् परं गच्छान्तरवर्त्तिनम् आचार्योपाध्याय ज्ञानदर्शनचारित्रवृद्धयर्थम् उद्देशयितुम् आत्मनो गुरुत्वेन व्यवस्थापयितुं यदि इच्छेत् तदा नो तस्य कल्पते अनापृच्छ्य अपृष्ट्वा, कम्? इत्याह—आचार्यं यावत् गणावच्छेदकम् अन्यमाचार्योपाध्यायम् उद्देशयितुम् । कथं कल्पते? इत्याह—कल्पते तस्य आचार्यादिकमापृच्छ्य अन्यमाचार्योपाध्यायम् उद्देशयितुम् । तत्रापि यदि ते आचार्यादयो वितरेयुः अन्याचार्योपाध्यायस्वीकरणाज्ञा दद्युः एवं तदाज्ञाप्राप्तौ सत्यां तस्य कल्पते अन्यमाचार्योपाध्यायम् उद्देशयितुम्, यदि ते नो वितरेयुः अज्ञां न दद्युः तदा नो कल्पते अन्यमाचार्योपाध्यायमुद्देशयितम् । पुनश्चाज्ञाप्राप्तावपि नो तस्य कल्पते कारणम्—अन्याचार्योपाध्यायस्यात्मनो गुरुत्वेन व्यवस्थापने हेतुम् अदीपयित्वा—अप्रकाश्य कारणमनिवेद्य अन्यमाचार्योपाध्यायम् उद्देशयितुम् । अपि तु कल्पते तस्य भिक्षोः तेषाम् स्वकीयाचार्यादीनां कारणम् अन्याचार्योपाध्यायस्वीकरणे कमपि हेतुं दीपयित्वा-प्रकटीकृत्य अन्यमाचार्योपाध्यायस्वीकरणे कमपि हेतुं प्रदर्श्य अन्यमाचार्योपाध्यायम् उद्देशयितुम्—आत्मनो गुरुत्वेन व्यवस्थापयितुं कल्पते इति पूर्वेण सम्बन्धः ।

अत्रायं भावः—स्वकीयमाचार्योपाध्यायं त्यक्त्वा अन्यमाचार्योपाध्यायमुद्दिशेत् तत्र ज्ञानस्य दर्शनस्य चारित्रस्य च प्रधानकारणेन भवितव्यम्, अन्यथा मनोमालिन्यादिक्षुद्रकारणमाश्रित्य यदि-

अन्यमाचार्योपाध्यायमुद्दिशेत् तदा आज्ञाभङ्गादयो दोषा भवन्ति । तत्र ज्ञाने तावत् केषाञ्चिदाचार्याणां गच्छे कुले संघे वा उत्कृष्ट आचारो विद्यते, ते चाचार्योपाध्यायाः संघसंस्थितिं कृतवन्तः यत्–'ये अस्माकं शिष्यतयोपगता भवेयुस्तेभ्य एव महाकल्पश्रुतं दास्यामो नान्येभ्यः' इति, तत्रान्यत्र लाभसंभवे उत्सर्गतो नोपसंपत्तव्यम्, किन्तु अन्यत्र यदि महाकल्पश्रुदायको नोपलभ्यते, एतादृश्यां परिस्थितौ उत्कृष्टाचारप्रतिपादकमहाकल्पश्रुतग्रहणार्थं तस्याचार्योपाध्यायस्योद्देशनमनिवार्यं भवेत्ततस्तमाचार्योपाध्यायं स्वगुरुत्वेन व्यवस्थापयेत्। तमाचार्योपाध्यायं गुरुत्वेन उद्दिश्य तत्सकाशात् महाकल्पश्रुतमधीयीत, अधीते च महाकल्पश्रुते पुनः पूर्वाचार्योपाध्याययोरन्तिके समागच्छेत् किन्तु न तत्रैव स्थितिं कुर्यात् । 'स्वशिष्यत्वेनोपगतायैव महाकल्पश्रुतम् अध्यापयितव्यम् नान्यस्मै' इत्येषा तेषां स्वेच्छाऽवगन्तव्या न तु जिनाज्ञा यत् शिष्यतयोपगतायैव उत्कृष्टाचारप्रतिपादकं महाकल्पश्रुतम् अध्यापनीयमिति । एवं दर्शनार्थं, तथा विद्यामन्त्रनिमित्तम् हेतुशास्त्रनिमित्तं वाऽन्याचार्योपाध्यायस्यात्मनोगुरुत्वेन व्यवस्थापनं भवेत् । चारित्रार्थं तु उत्कृष्टक्रियाशिक्षणनिमित्तं पूर्वोक्तरीत्यैव अन्याचार्योपाध्यायस्यात्मना गुरुत्वेन निर्धारणमवगन्तव्यमिति ।

तस्मात् एषु त्रिष्वपि ज्ञानदर्शनचारित्रेषु उपार्जनीयेषु अन्याचार्योपाध्यायं गुरुत्वेन व्यवस्थापयन्तः श्रमणाः पूर्वोक्तरीत्या निवेदितस्वप्रयोजनाः आचार्यादिभिर्विसर्जिताः सन्तोऽन्याचार्योपाध्याययोर्गुरुत्वेन व्यवस्थापने दोषभाजो न भवेयुः । तत्र गमिष्यमाणे गच्छे यदि अवसन्नतादिकारणं न भवेत्तदा तत्रोपसंपत्तव्यं नान्ययेति फलितम् ॥ सू० २६॥

पूर्वं भिक्षोर्ज्ञानाद्यर्थमन्याचार्योपाध्यायस्यात्मनो गुरुत्वेन व्यवस्थापने विधिरुक्तः, सम्प्रति गणावच्छेदकस्य विधिमाह–**'गणावच्छेयए य'** इत्यादि ।

सूत्रम्—गणावच्छेयए य इच्छेज्जा अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए नो से कप्पइ गणावच्छेयगत्तं अणिक्खिवित्ता अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए, कप्पइ से गणावच्छेयगत्तं णिक्खिवित्ता अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए, नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेयगं वा अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए, कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेयगं वा अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए, ते य से वियरेज्जा एवं से कप्पइ अण्ण आयरियउवज्झासं उद्दिसावित्तए, ते य से नो वियरेज्जा एवं से नो कप्पइ अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए, नो से कप्पइ तेसिं कारणं अदीवित्ता अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए, कप्पइ से तेसिं कारणं दीवित्ता अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए ॥ सू० २७ ॥

छाया—गणावच्छेदकश्च इच्छेत् अन्यम् आचार्योपाध्यायम् उद्देशयितुम् नो तस्य कल्पते गणावच्छेदकत्वम् अनिक्षिप्य अन्यम् आचार्योपाध्यायम् उद्देशयितुम्, कल्पते तस्य गणावच्छेदकत्वं निक्षिप्य अन्यम् आचार्योपाध्यायम् उद्देशयितुम्, नो तस्य कल्पते अनापृच्छ्य आचार्यं वा यावत् गणावच्छेदकं वा अन्यम् आचार्योपाध्यायम् उद्देशयितुम्, कल्पते तस्य आपृच्छ्य आचार्यं वा यावत् गणावच्छेदकं वा अन्यम् आचार्योपाध्यायम् उद्देशयितुम्, ते च तस्य वितरेयुः एवं तस्य कल्पते अन्यम् आचार्योपाध्यायम् उद्देशयितुम्, ते च तस्य नो वितरेयुः एवं तस्य नो कल्पते अन्यम् आचार्योपाध्यायम् उद्देशयितुम्, नो तस्य कल्पते तेषां कारणं अदीपयित्वा अन्यम् आचार्योपाध्यायम् उद्देशयितुम्, कल्पते तस्य तेषां कारणं दीपयित्वा अन्यम् आचार्योपाध्यायम् उद्देशयितुम् ॥सू० २७॥

चूर्णी–'**गणावच्छेयए य**' इति। गणावच्छेदकश्च यदि इच्छेत् अभिलषेत्, किमित्याह–अन्यम् अन्यगच्छवर्तिनम् आचार्योपाध्यायम् उद्देशयितुम् स्वस्य गुरुत्वेन व्यवस्थापयितुं तदा तस्य नो कल्पते गणावच्छेदकत्वं स्वकीयगणावच्छेदपदवीम् अनिक्षिप्य कस्मैचिद् असमर्प्य अन्यमाचार्योपाध्यायम् उद्देशयितुम्, कल्पते तस्य गणावच्छेदकत्वं स्वपदवीरूपं गणावच्छेदकत्वप्रयुक्तकार्यभारं निक्षिप्य स्वसंघे कस्मैचित् समर्प्य अन्यमाचार्योपाध्यायमुद्देशयितुं कल्पते इति पूर्वेण सम्बन्धः। शेषम् सर्वं सूत्रं भिक्षुसूत्रवदेव व्याख्येयम्। एवं च गणावच्छेदकस्य गणविभागकारकत्वेन ज्ञानादिनिमित्तमन्यगणगमनादिकर्त्तुस्तस्य स्वगणनिक्षेपणं संविग्नाचार्येषु कर्त्तव्यं युज्यते, यदि तु संविग्नाचार्या विषीदन्तो भवेयुस्तदा स्वगणं गृहीत्वा गच्छान्तरगमनादिकं कुर्यात्, न तु तेषां विषीदतां संविग्नाचार्याणामन्तिके स्वगणं निक्षिपेत्, अन्यथा—गणस्य तेषु निक्षेपणे चारित्रस्खलनादिकं भवेदिति विवेकः॥ सू० २७॥

पूर्वं गणावच्छेदकस्य ज्ञानादिवृद्ध्यर्थं गच्छान्तरस्थमाचार्योपाध्यायमात्मन आचार्योपाध्यायत्वेन व्यवस्थापनविधिः प्रदर्शितः, सम्प्रति आचार्योपाध्ययस्य तद्विधिं प्रदर्शयति–'**आयरियउवज्झाए य**' इत्यादि।

सूत्रम्—आयरिय–उवज्झाए य इच्छिज्जा अन्नं आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए नो से कप्पइ आयरियउवज्झायत्तं अणिक्खिवित्ता अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए, कप्पइ से आयरियउवज्झायत्तं णिक्खिवित्ता अण्णंआयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए, णो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेयगं वा अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए, कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेयगं वा अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए, ते य से नो वियरेज्जा एवं से नो कप्पइ अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए, ते य से वियरेज्जा एवं से कप्पइ अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए, नो से कप्प तेसिं कारणं अदीवित्ता अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए, कप्पइ से तेसिं कारणं दीवित्ता अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए ॥ सू० २८॥

छाया—आचार्योपाध्यायश्च इच्छेत् अन्यम् आचार्योपाध्यायम् उद्देशयितुम् नो तस्य कल्पते आचार्योपाध्यायत्वम् अनिक्षिप्य अन्यम् आचार्योपाध्यायम् उद्देशयितुम्, कल्पते तस्य आचार्योपाध्यायत्वं निक्षिप्य अन्यम् आचार्योपाध्यायम् उद्देशयितुम्, नो तस्य कल्पते अनापृच्छ्य आचार्यं वा यावत् गणावच्छेदकं वा अन्यम् आचार्योपाध्यायम् उद्देशयितुम्, कल्पते तस्य आपृच्छ्य आचार्यं वा यावत् गणावच्छेदकं वा अन्यम् आचार्योपाध्यायम् उद्देशयितुम् । ते च तस्य वितरेयुः एवं तस्य कल्पते अन्यम् आचार्योपाध्यायम् उद्देशयितुम्, ते च तस्य नो वितरेयुः एवं तस्य नो कल्पते अन्यम् आचार्योपाध्यायम् उद्देशयितुम्, नो तस्य कल्पते तेषां कारणम् अदीपयित्वा अन्यम् आचार्योपाध्यायम् उद्देशयितुम्, कल्पते तस्य तेषां कारणं दीपयित्वा अन्यम् आचार्योपाध्यायम् उद्देशयितुम् ॥ सू० २८ ॥

चूर्णी—'आयरियउवज्झाए य' इति । इदं सर्वं सूत्रम् गणावच्छेदकपदस्थाने आचार्योपाध्यायपदं संनिवेश्य गणावच्छेदकसूत्रवदेव व्याख्येयम् ॥ सू० २८ ॥

पूर्वमन्याचार्योपाध्योद्देशनविधिरुक्तः, सम्प्रति कालगतभिक्षोः परिष्ठापनविधिमाह—'भिक्खू य राओ वा' इत्यादि ।

सूत्रम्—भिक्खू य राओ वा वियाले वा आहच्च वीसुंभिज्जा, तं च सरीरगं केइ वियावच्चकरे भिक्खू इच्छिज्जा एगंते वहुफासुए थंडिले परिट्ठवित्तए, अत्थि य इत्थ केइ सागारियसंतिए उवगरणजाए अचित्ते परिहरणारिहे कप्पइ से सागारियकडं गहाय तं सरीरगं एगंते वहुफासुए थंडिले परिट्ठवित्ता तत्थेव उवनिक्खियव्वे सिया॥सू०२९॥

छाया—भिक्षुश्च रात्रौ वा विकाले वा आहत्य विष्वग्भवेत् तच्च शरीरकं कश्चिद् वैयावृत्त्यकरो भिक्षुः इच्छेत् एकान्ते वहुप्रासुके स्थण्डिले परिष्ठापयितुम्, अस्ति चात्र किञ्चित् सागारिकसत्कम् उपकरणजातम् अचित्तम् परिहरणार्हम्, कल्पते तस्य सागारिककृतं गृहीत्वा तत् शरीरकम् एकान्ते वहुप्रासुके स्थण्डिले परिष्ठाप्य तत्रैव उपनिक्षेप्तव्यं भवेत् ॥ सू० २९ ॥

चूर्णी—'भिक्खू य' इति । भिक्षुश्च सामान्यश्रमणः, चकाराद् आचार्योपाध्यायादिश्च रात्रौ वा सन्ध्याकालातिरिक्तरजन्याम् विकाले वा संध्यासमये सायंकाले आहत्य–कदाचित् 'वीसुंभिज्जा' इति विष्वग्भवेत् शरीराद् आत्मा पृथग् भवेत् कालधर्मं प्राप्नुयात् म्रियेतेत्यर्थः तच्च शरीरकं मृतदेहं कश्चित् समीपस्थो वैयावृत्त्यकरः तस्य सेवाशुश्रूषावर्त्ती भिक्षुः इच्छेत्–वाञ्छेत्, किमित्याह–तं मृतदेहम् एकान्ते निर्जने वहुप्रासुके अवश्यायोत्तिङ्ग-पनक-दक-मृत्तिका-मर्कटसन्तान-वर्जिते—तत्र–अवश्यायः-मेघमन्तरेण रात्रौ पतितः सूक्ष्मतुषाररूपः (ओस) इति भाषाप्रसिद्धः । उत्तिङ्गाः–भूमौ वर्त्तुलविवरकारिणो गर्दभमुखाकृतयः कीटविशेषाः कीटिकानगरादयो वा । पनकः-अङ्कुरितोऽनङ्कुरितो वा पञ्चवर्णोनन्तकायविशेषः जलसम्बन्धेन जायमानः पिच्छिलाकारः–(काई) इति लोकप्रसिद्धः । दकम्=उदकमप्कायः, मृत्तिका–सचित्तपृथ्वीकायः, मर्कटकसन्तानः–लूता-

जालम्, एतैर्वर्जिते अचित्ते स्थण्डिले भूप्रदेशे परिष्ठापयितुम् इच्छेदिति पूर्वेण सम्बन्धः, तदा अस्ति च अत्र अस्मिन् निवासस्थाने किञ्चित् किमपि सागारिकसत्कम् गृहस्थसम्बन्धि अचित्तम् उपकरणजातं वहनकाष्ठं तदपि परिहरणार्ह–परिभोगयोग्यं मृतदेहवहनसाधनरूपं भवेत्तदा कल्पते तस्य भिक्षोः सागारिककृतं 'सागारिसत्कमेवेदं काष्ठं नास्मत्सत्कम्' इत्येवं बुद्ध्या प्रातिहारिकं तत् काष्ठं गृहीत्वा तत् शरीरकं भिक्षोर्मृतदेहम् एकान्ते विजने बहुप्रासुके पूर्वोक्तस्वरूपे एकेन्द्रियद्वीन्द्रियादिजीवरहिते स्थण्डिले भूप्रदेशे परिष्ठाप्य विसृज्य तत् वहनकाष्ठं तत्रैव यस्मात् स्थानात् येन प्रकारेण ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्रूपेण गृहीतं भवेत् तस्मिन् स्थाने तेनैव रूपेण स्थापयितव्यं भवेत् यत्रतो यथा गृहीत तत्र तथैव स्थापयेदिति भावः ॥ सू० २९ ॥

पूर्वं कालधर्मप्राप्तस्य भिक्षोः परिष्ठापनविधिरुक्तः, सम्प्रति–कालधर्मश्च प्राणिमात्रस्यावश्यम्भावीति विचार्य मुनिना परलोकाहितकरमधिकरणं केनाऽपि सह न विधातव्यमित्यधिकरणसूत्रमाह–'भिक्खू य अहिगरणं कट्टु' इत्यादि ।

सूत्रम्—भिक्खू य अहिगरणं कट्टु तं अहिगरणं अविओसवित्ता नो से कप्पइ गाहावइकुलं भत्ताए वा पाणाए वा णिक्खमित्तए वा पविसित्तए वा, बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा णिक्खमित्तए वा पविसित्तए वा, गामाणुगामं वा दूइज्जित्तए, गणाओ गणं संकमित्तए, वासावासं वा वत्थए, जत्थेव अप्पणो आयरियं उवज्झायं पासेज्जा, बहुस्सुयं वब्भागमं तस्संतिए आलोइज्जा पडिक्कमिज्जा निंदिज्जा गरहिज्जा विउट्टेज्जा विसोहेज्जा अकरणाए अब्भुट्ठिज्जा अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जेज्जा, से य सुएण पट्टविए आइयव्वे सिया, से य सुएण नो पट्टविए नो आइयव्वे सिया, से य सुएण पट्टविज्जमाणं नो आइयइ से निज्जूहियव्वे सिया ॥ सू० ३० ॥

छाया---भिक्षुश्च अधिकरणं कृत्वा तद् अधिकरणम् अव्यवशमय्य नो तस्य कल्पते गाथापतिकुलं भक्ताय वा पानाय वा निष्क्रमितुं वा प्रवेष्टुं वा, बहिर्विचारभूमिं वा विहारभूमिं वा निष्क्रमितुं वा प्रवेष्टुं वा, ग्रामानुग्रामं द्रोतुम्, गणाद् गणं संक्रमितुम्, वर्षावासं वस्तुम्, यत्रैव आत्मन आचार्यं वा उपाध्यायं वा पश्येत् बहुश्रुतं बह्वागमं तस्यान्तिके आलोचयेत् प्रतिक्रामेत् निन्द्यात् गर्हेत व्यावर्तेत विशोधयेत् अकरणतया अभ्युत्तिष्ठेत् यथार्हं तपःकर्म प्रायश्चित्त प्रतिपद्येत, तच्च श्रुतेन प्रस्थापितम् आदातव्यं स्यात् तच्च श्रुतेन नो प्रस्थापित नो आदातव्य स्यात्, स च श्रुतेन प्रस्थाप्यमानं नो आददाति स हितव्यः स्यात् ॥ सू० ३० ॥

चूर्णी—'भिक्खू य अहिगरणं कट्टु' इति । भिक्षुश्च साधुः चकाराद् उपाध्यायादिश्च अधिकरणं कलहं कृत्वा तत्–केनापि कारणेन यत् सजातं तद् अधिकरणं–कलहम् अव्यवशमय्य–उपशान्तमकृत्वा परस्परमक्षामयित्वा नो–नैव तस्य कल्पते गाथापतिकुलं–गृहस्थगृह भक्ताय वा

अशननिमित्तं पानाय वा पानीयनिमित्तं भक्तपानार्थमित्यर्थः निष्क्रमितुं निर्गन्तुम् उपाश्रयाद् बहिर्निस्सर्त्तुं वा गृहस्थगृहान्तः प्रवेशं कर्त्तुं नो कल्पते इति पूर्वेण सम्बन्धः। एवम् बहिः उपाश्रयाद् बहिःप्रदेशे विचारभूमिं संज्ञाभूमिं वा विहारभूमिं–स्वाध्यायभूमिं वा निष्क्रमितुम् उपाश्रयाद् बहिः संज्ञार्थं गन्तुम्, प्रवेष्टुं वा उपाश्रयान्तः प्रवेशं कर्त्तुम्, तथा ग्रामानुग्रामं द्रोतुं विहर्त्तुम्, एवं गणात् स्वगच्छात् गणम् अन्यं गच्छं संक्रमितुं संक्रमणं कर्त्तुं नो कल्पते इति पूर्वेण सम्बन्धः। तथा वर्षावासं चातुर्मासार्थं वस्तुं नो कल्पते। तर्हि किं कर्त्तव्यमित्याह–'जत्थेव' इत्यादि यत्रैव यस्मिन् स्थाने आत्मनः स्वस्य आचार्यम् उपाध्यायम्, कीदृशमित्याह–बहुश्रुतं–छेदशास्त्रनिपुणम्, बह्वागमम् अर्थतोऽनेकागमाभिज्ञं पश्येत् तस्य अन्तिके समीपे आलोचयेत् स्वापराधं वचसा प्रकाशयेत् प्रतिक्रामेत्, स्वापराधविषये मिथ्यादुष्कृतं दद्यात्, निन्द्यात्, आत्मसाक्षिकतया स्वापराधस्य निन्दां कुर्यात्, गर्हेत गुरुसाक्षिकतया जुगुप्सेत्। निन्दनं गर्हणं च वास्तविकं तदा भवेद् यदा तस्य पुनः करणतो निवर्त्तेत, अत आह–'विउट्टेज्जा' इति व्यावर्त्तेत–तादृशापराधान्निवृत्तो भवेत्। निवृत्तावपि कृतपापात्तदा मुच्येत यदा आत्मनो विशोधिर्भवेत् अत आह–'विसोहिज्जा' इति विशोधयेत् आत्मानं पापमलप्रक्षालनेन निर्मलं कुर्यात्। विशुद्धिश्च पुनरकरणतया संभवति अत आह–'अकरणयाए अब्भुट्ठेज्जा' इति, अकरणतया पुनरकरणप्रतिज्ञया अभ्युत्तिष्ठेत् अभ्युत्थितो भवेत् समुद्यतः स्यात्, पुनरकरणतया अभ्युत्थानेऽपि विशुद्धिस्तु प्रायश्चित्ताभ्युपगमेनैव भवतीत्यतः आह–'अहारिहं' इति यथार्हं यथायोग्यम् अपराधानुसारं तपःकर्म अनशनादिरूपं प्रायश्चित्तं–छेदादिक प्रतिपद्यते–स्वीकुर्यात्। 'से य' इति तदपि च प्रायश्चित्तं श्रुतेन श्रुतमधिकृत्य श्रुतानुसारेण यदि प्रस्थापितं समारोपितं दत्तं भवेत्तदा आदातव्यं ग्रहीतव्यं स्यात ग्राह्यं भवेदित्यर्थः, 'से य' तच्च यदि श्रुतेन श्रुतानुसारेण नो प्रस्थापितं न दत्तं भवेत्तदा नो आदातव्यं स्यात ग्राह्यं न भवेत्। 'से य' इति–अथ च स आलोचको यदि श्रुतेन श्रुतानुसारेण प्रस्थाप्यमानं दीयमानमपि तत् तपःकर्म प्रायश्चितं नो आददाति–न स्वीकरोति न प्रतिपद्यते तदा स आलोचकः साधुः निर्यूहितव्यः 'अन्यत्र गत्वा शोधिं कुरुष्व' इति कथयित्वा स प्रतिषेधनीयः स्वसमीपात् पृथक् करणीयः स्यात् भवेदिति ॥ सू० ३० ॥

पूर्वमधिकरणकर्त्तः प्रायश्चित्तप्रकारः प्रदर्शितः, तच्च प्रायश्चितं समर्थस्य प्रथमसंहननादि गुणयुक्तस्य परिहारतपोरूपमेव प्रायश्चित्तं दातव्यं, न तु शुद्धतपोरूपमिति परिहारतपोवहमानस्य का मर्यादा ? का च सामाचारी ? इति जिज्ञासायां परिहारतपोवाहकस्य विधिमाह–'परिहारकप्पट्ठियस्स णं' इत्यादि ।

सूत्रम्—**परिहारकप्पट्ठियस्स णं भिक्खुस्स कप्पइ आयरिय–उवज्झाएणं तद्दिवसं एगगिहंसि पिंडवायं दवावित्तए, तेण परं णो से कप्पइ असणं वा पाणं वा**

खाइमं वा साइमं वा दाउं वा अणुप्पदाउं वा, कप्पइ से अन्नयरं वेयावडियं करित्तए, तं जहा—उट्ठावणं वा निसीयावणं वा तुयट्टावणं वा उच्चार–पासवण–खेल–सिंघाण–विगिंचणं वा विसोहणं वा करित्तए, अह पुण एवं जाणिज्जा–छिन्नावाएसु पंथेसु आउरे झिंझिए पिवासिए तवस्सी दुब्बले किलंते मुच्छिज्ज वा पवडिज्ज वा, एवं से कप्पइ असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा दाउं वा अणुप्पदाउं वा ॥ सू० ३१ ॥

छाया— परिहारकल्पस्थितस्य खलु भिक्षोः कल्पते आचार्योपाध्यायेन तद्दिवसम् एकगृहे पिण्डपातं दापयितुम्, तेन परं नो तस्य कल्पते अशनं वा पानं वा खाद्यं वा स्वाद्यं वा दातुं वा अनुप्रदातुं वा, कल्पते तस्य अन्यतरद् वैयावृत्यं कर्त्तुम्, तद्यथा–उत्थापनं वा निषादन वा त्वग्वर्त्तनं वा उच्चार–प्रस्रवण–खेल–सिङ्घाण–विवेचनं वा विशोधनं वा कर्त्तुम्, अथ पुनरेवं जानीयात्–छिन्नापातेषु पथिषु आतुरो झिञ्झितः पिपासितः तपस्वी दुर्वलः क्लान्तो मूर्छेद् वा प्रपतेद् वा, एवं तस्य कल्पते अशनं वा पानं वा खाद्यं वा स्वाद्यं वा दातुं वा अनुप्रदातुं वा । सू० ३१ ॥

चूर्णी—'परिहारकप्पट्ठिस्स णं' इति । परिहारकल्पस्थितस्य परिहारतपो वहतः खलु भिक्षोः कल्पते आचार्योपाध्यायेन आचार्येण उपाध्यायेन च तद्दिवसम् यस्मिन् दिवसे तपो गृहीतं तस्मिन् दिवसे तपसः प्रारम्भदिवसे इत्यर्थः एकगृहे एकस्मिन् गृहस्थगृहे पिण्डपातं—विपुलभक्तपानादि-लाभं दापयितुं कल्पते इति पूर्वेण सम्बन्धः तेन परं—ततः परं तद्दिवसानन्तरं नो कल्पते तस्य भिक्षोः परिहारकल्पस्थितस्य श्रमणस्य अशनं वा पानं वा खाद्यं वा स्वाद्यं वा दातुं वा एकवारं दापयितुम् अनुप्रदातुं वा वारं वारं दापयितुम् । अथ कल्पते तस्य भिक्षोः परिहारकल्पस्थितस्य अन्यतरत्—एकतरद् वैयावृत्यं परिचर्यारूपं (सेवारूप) कर्तुं विधातुमाचार्योपाध्याययोः कल्पते, परिहारकल्पस्थितस्य साधोरेव तस्मिन्काले सेवा-ऽऽचार्योपाध्यायाभ्यां कर्त्तव्येति भावः । तदेवाह—'तंजहा' इति तद्यथा—उत्थापनम् उत्थातुमशक्तस्य उत्थापन वा निषादनं वा उपवेष्टु-मशक्तस्योपवेशनम्, त्वग्वर्त्तनं पार्श्वपरिवर्त्तनम् , पुनश्च उच्चार—प्रस्रवण—खेल—सिङ्घाण—विवेचनम्, तत्र उच्चारः मलत्यागः, प्रस्रवणं—मूत्रम्, खेलं—श्लेष्म, सिङ्घाणं—नासिकामलम् , तत्प्रभृतीनां विवेचनं—परिष्ठापनं विशोधनम्—उच्चारादिदूषितस्य वस्त्राद्युपकरणजातस्य शरीरस्य वा प्रक्षालनादिकं कर्तुमाचार्योपाध्याययोः कल्पते । अथ यदि पुनस्तावद् एवं जानीयात् यत्—छिन्नापातेषु गमना-गमनरहितेषु पथिषु मार्गेषु आतुरः ग्लानः संजातः, झिञ्झितः क्षुधार्त्तः बुभुक्षया पीडितः, पिपासितः तृषितः पिपासया बाधितः, एतादृशः सन् विवक्षित ग्रामं प्राप्तुमशक्तः, यद्वा ग्रामादावपि तिष्ठन् स तपस्वी षष्ठाष्टमादिपरिहारतपः कुर्वन् दुर्बलः क्षीणशरीरो जातस्ततश्च भिक्षाचर्यया क्लान्तः—खिन्नः सन् मूर्च्छेद् वा मूर्च्छामाप्नुयात् तेन प्रपतेद् वा भूमौ प्रस्खलेद् वा, एवम्—एतादृश्यामवस्थायां च

कल्पते तस्य भिक्षोर्निमित्तमाचार्योपाध्यायस्य अशनं वा पानं वा खाद्यं वा स्वाद्यं वा दातुं वा एकवारं वितरीतुम्, अनुप्रदातुं वा पुनः पुनर्वितरीतुं कल्पते इति पूर्वेण सम्बन्धः ॥ सू० ३१ ॥

ननु स श्रमणः 'प्रमादो न कर्त्तव्यः' इति भगवदुपदेशेन संयममार्गे विचरन्नपि कथं परिहारकत्वं प्राप्तः ? इत्यत्राह भाष्यकारः—'जह' इत्यादि ।

भाष्यम्— जह कंटगाइकिण्णे, खलणं तह संजमे जयंतस्स ।
छलणालोयणमवसं, ठवणं जुत्ते य वोसग्गो ॥ ३ ॥

**छाया — यथा कण्टकाकीर्णे स्खलनं तथा संयमे यतमानस्य ।
छलनाऽऽलोचनमवश्यं स्थापनं युक्ते च व्युत्सर्गः ॥ ३ ॥**

अवचूरी—'जह कंटगाइकिण्णे' इति । यथा कण्टकाद्याकीर्णे मार्गे गच्छत उपयुक्तस्यापि कण्टको लगति, आदिशब्दात् विषमे वा पथि यथा गच्छन्नुपयुक्तोऽपि कदाचित् प्रस्खलति कृतपरिश्रमोऽपि यथा नदीप्रवाहवेगेन देशान्तरं प्राप्यते, सुशिक्षितोऽपि यथा कदाचित् खड्गेन लाञ्छितो भवति तथा कण्टकादिस्थानीये संयमेऽतिगहनोत्पादनैषणारूपे ज्ञानादिरूपे वा यतमानस्यापि कस्यचित् श्रमणस्य **'अवसं'** अवशम् अवश्यं वा यथास्यात्तथा छलना भवत्येव, छलितश्च श्रमणोऽवश्यमालोचनां कुर्यात् । ततश्च संहननागमादिगुणैर्युक्ताय श्रमणाय स्थापनं परिहारतपःप्रायश्चित्तदानं कर्त्तव्यम्, तत्र च युक्ते उचिते प्रशस्ते द्रव्यक्षेत्रकालभावे तस्य श्रमणस्य निर्विघ्नतप.कर्मपरिपूर्त्तये व्युत्सर्गः कर्त्तव्यः, तन्निमित्तमाचार्यादयः कायोत्सर्गं कुर्युः, कायोत्सर्गे आचार्यादय एव वदेयुः—**"एयस्स साहुस्स निरुवसग्गनिमित्तं ठामि काउस्सग्गं जाववोसिरामि"** इति। एतस्य साधोर्निरुपसर्गनिमित्तं तिष्ठामि (करोमि) कायोत्सर्गं यावत् व्युत्सृजामि, इति च्छाया, तदनन्तरं चतुर्विंशतिस्तवमनुप्रेक्ष्य मनसि चतुर्वारमनुचिन्त्य—**'नमो अरिहंताणं'** इति प्रकटं पठित्वा चतुर्विंशतिस्तवं मुखेनोच्चार्य वदति यत्—अयं तावत् श्रमण आत्मविशुद्धिकारकः परिहारतपः प्रतिपद्यते तस्माद् अद्यप्रभृति अयं न किञ्चिद् युष्मान् वक्ष्यति यथा—परिहारकः साधुभिः सह सूत्रार्थयोः शरीरवृत्तान्तस्य वा प्रतिप्रच्छनं परिपृच्छादिकं संभाषणरूपमालपनं वन्दनकं च न करिष्यतीति, भवन्तोऽपि एनं मा ब्रुवन्तु, श्रमणा अनेन परिहारकेण सह संभाषणं न कुर्युः । एवमन्येष्वपि कार्येषु विज्ञेयम्, यथा—पूर्वाधीतश्रुतपरिवर्त्तनं, कालग्रहणनिमित्तमुत्थापनम्, रात्रौ शयनादुत्थाय वन्दनकम्, श्लेष्म–कायिकी–संज्ञाभूमि–मात्रकाणां समर्पणं, वस्त्रादेरुपकरणस्य प्रत्युपेक्षणम्, भिक्षार्थं विचारादौ च गमनं कुर्वतः संघाटकरूपसाधुद्वयेन सह मिलनम्, भक्तस्य पानस्य वा दानम्, एकमण्डल्यां वा संभूय भोजनं चेत्यादि तस्य परिहारकस्य भवद्भिर्न कर्त्तव्यम् । इत्थं तावदात्मार्थं चिन्तयतोऽस्य ध्यानस्य परिहारतपसश्च व्याघातो भवद्भिर्न विधातव्य इति ॥ ३ ॥

पूर्वं 'छिन्नावाएसु पंथेसु' इति वचनेन मार्गस्य प्रस्तुतत्वात् सम्प्रति मार्गे नदी भवति तद्विषये विधिं प्रदर्शयति—'नो कप्पइ' इत्यादि ।

सूत्रम्—नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा इमाओ पंच महानईओ उद्दिट्ठाओ गणियाओ वंजियाओ अंतो मासस्स दुक्खुत्तो वा तिक्खुत्तो वा उत्तरित्तए वा संतरित्तए वा, तंजहा-गंगा १, जउणा २, सरऊ ३, कोसिया ४, मही ५ ॥ सू० ३२ ॥

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा इमाः पञ्च महानद्यः उद्दिष्टाः गणिताः व्यञ्जिताः अन्तो मासस्य द्विःकृत्वो वा त्रिःकृत्वो वा उत्तरीतुं वा संतरीतुं वा, तद्यथा-गङ्गा १, यमुना २, सरयूः ३, कोशिका ५, मही ५ ॥ सू० ३२ ॥

चूर्णी—'नो कप्पइ' इति । नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा इमा वक्ष्यमाणाः प्रत्यक्षासन्नाः प्रसिद्धाः पञ्च—पञ्चसङ्ख्यकाः महानद्यः विशालप्रवाहवत्त्वात् सततजलसम्भृतत्वाच्च महानद्यः उद्दिष्टाः महानदीत्वेन सामान्यतोऽभिहिताः, गणिताः विशालप्रवाहवत्त्वेन शेषनदीषु गणनाविषयीभूताः, व्यञ्जिताः स्वस्वप्रसिद्धनाम्ना व्यक्तीभूताः, एता महानद्यः अन्तो मासस्य एकमासस्य मध्ये द्विःकृत्वो वा द्विवारम्, त्रिःकृत्वो वा उत्कृष्टेन वारत्रयम् उत्तरीतुं वा पादाभ्यां तरीत्वा पारं गन्तुं वा संतरीतुं वा नावादिना पारं गन्तुं वा न कल्पते निर्ग्रन्थनिर्ग्रन्थीनामिति । कास्ता महानद्यः ? इति तासां नामान्याह—'तं जहा' तद्यथा—गङ्गा १, यमुना २, सरयूः ३, कोशिका ४, मही ५ इत्येताः पञ्च नदीः उत्तरीतुं वा संतरीतुं वा निर्ग्रन्थनिर्ग्रन्थीनां द्वित्रिवार न कल्पते, अनेनायातम् कारणे मासमध्ये एकवारं तरीतुं कल्पते इति भावः । उपलक्षणात् सिन्धुब्रह्मपुत्राद्यानामन्यासामपि महानदीनां ग्रहणं भवति तेन ता अपि द्वित्रिवारम् उत्तरीतुं वा संतरीतुं वा न कल्पते इत्यवसेयम् । ननु अन्यास्वपि महानदीषु विद्यमानासु सूत्रे गङ्गादीनां पञ्चानामेव नदीनां नामग्रहणं कथं कृतम् ? इति चेदुच्यते—येषु देशेषु गङ्गादयो महानद्यः प्रवहन्ति तेषु देशेषु मगधविहारादिषु पुराकाले विहारं कुर्वन्त आसन् ताश्च कदाचिदपि न शुष्यन्ति तस्माद् नित्य विहारमार्गस्थितानां गङ्गादिपञ्चनदीनामेव सूत्रे ग्रहणं कृतमिति । नदीनामुत्तरणे संतरणे श्रमणानामात्मसंयमविराधनाऽवश्यम्भाविनी । तत्र आत्मविराधना पादादिनामुत्तरणे जलस्थितकण्टकप्रस्तरादिना पादौ विध्यतः, अगाधजले ब्रुडनं वा स्यात्, प्रवाहवेगेन देशान्तरं वा प्राप्यते, इत्यादि । संयमविराधना नावादिना संतरणे षट्कायविराधनाऽवश्यंभाविनी, तीर्थकृतामाज्ञाभङ्गादयो दोषा भवेयुः, अनेके वा प्रत्यपाया नावमारूढानां श्रमणानां भवन्ति, तथाहि—संतरणार्थिनं श्रमणं ज्ञात्वा नाविकोऽनुकम्पया तदर्थं नावं स्थलादुदके, उदकात्तीरस्थले प्रक्षिपेत्, नावाभ्यन्तरस्थं जलं बहिः प्रक्षिपेत्, पूर्वं वा ये नावमारूढास्तान् उदके पूर्वतटे वा अवतार्य श्रमणान् नाव-

मारोहयेत् तेनावतारिता जनाः प्रद्वेषं कुर्युः, श्रमणा उत्तरिष्यन्तीति कृत्वा संप्रस्थितां नावं पुनरावर्त्तयेत्, श्रमणान् वाऽवलोक्य परतटाद् नावमानयेत्, तत्र ये जनास्तावद् नावमारूढा अपि जलमध्ये पूर्वतटे वा अवतारितास्ते नाविकं प्रति श्रमणान् प्रति वा प्रद्वेषमावहन्तोऽधिकरणं वा कुर्युः, जले तटे वा तिष्ठन्तस्ते अप्कायहरितकायादीनां विराधनां कुर्वन्ति, इत्यादयोऽनेके दोषाः श्रमणानां संपद्यन्ते, तस्माद् भगवता कारणं विना नद्युत्तरणं श्रमणानां निषिद्धमिति ॥ सू० ३२ ॥

पूर्वसूत्रे गङ्गादिपञ्चनदीनां मासमध्ये द्वित्रिवारं सन्तरणं निषिद्धम्, सम्प्रति नदीविशेषोत्तरणेऽपवादसूत्रमाह—'अह पुण' इत्यादि ।

सूत्रम्—अह पुण एवं जाणिज्जा एरवई कुणालाए जत्थ चक्किया एगं पायं जले किच्चा एगं पायं थले किच्चा एवं से कप्पइ अंतो मासस्स दुक्खुत्तो वा तिक्खुत्तो वा उत्तरित्तए वा संतरित्तए वा, एवं नो चक्किया एवं णं नो कप्पइ अंतो मासस्स दुक्खुत्तो वा तिक्खुत्तो वा उत्तरित्तए वा संतरित्तए वा ॥ सू० ३३ ॥

छाया—अथ पुनरेवं जानीयात् -ऐरावती कुणालायाः यत्र शक्नुयात् एकं पादं जले कृत्वा एकं पादं स्थले कृत्वा एवं खलु कल्पते अन्तो मासस्य द्विःकृत्वो वा त्रिःकृत्वो वा उत्तरीतुं वा संतरीतुं वा, एवं नो शक्नुयात् एवं खलु नो कल्पते अन्तो मासस्य द्विःकृत्वो वा त्रिःकृत्वो वा उत्तरीतुं वा संतरीतुं वा ॥ सू० ३३ ॥

चूर्णी—'अह पुण' इति । अथ—यदि पुनरेवं वक्ष्यमाणरीत्या जानीयात् ऐरावती नाम नदी या कुणालाया नगर्याः समीपे जङ्घार्द्धप्रमाणेन उद्वेधेन प्रवहति तस्याम् एतादृश्यामन्यस्यां वा नद्याम् कस्यामित्याह—'जत्थ' इति यत्र 'चक्किया' इति शक्नुयात् एकं पादं जले कृत्वा जले स्थापयित्वा एकं पादं स्थले—जलोपरि कृत्वा **एवं णं**—एवं खलु यत्रोत्तरीतुं शक्नुयात् तत्र तादृश्यां नद्यां कल्पते निर्ग्रन्थनिर्ग्रन्थीनां अन्तो मासस्य मासमध्ये द्विः कृत्वो वा द्विवारम् त्रिःकृत्वो वा त्रिवारम् उत्तरीतुं वा उल्लङ्घयितुं पारं गन्तुमित्यर्थः, संतरीतुं वा पुनः प्रत्यागन्तुं वा कल्पते इति सम्बन्धः, किन्तु यत्र तावद् एवम् उक्तरीत्या एकं पादं जले कृत्वा एक पादं स्थले कृत्वा उत्तरीतुं **'नो चक्किया'** इति नो शक्नुयात् एवम् एतादृश्यां परिस्थितौ पूर्वोक्तरीत्या उत्तरणानुपाये खलु नो कल्पते श्रमणश्रमणीनाम् अन्तो मासस्य मासाभ्यन्तरे द्विःकृत्वो वा त्रि.कृत्वो वा उत्तरीतुं वा संतरीतुं वेति । अत्रेदं बोध्यम्-ऐरावती खलु सा नदी या कुणालानगर्याः समीपेऽर्द्धयोजनविस्तीर्णा वहति, सा चोद्वेधेन जङ्घार्द्धप्रमाणा वहति, तस्यां जलस्थलयोः पादकरणेन उत्तरीतुं शक्यते, स्थलपदेनात्र जलोपरिभागस्य ग्रहणं भवति यस्मात् एकं पादं जलबहिर्भागे उपरि आकाशप्रदेशे कर्तुं शक्यते इति, या वा इदृशी अन्यापि नदी भवेत्तस्यामप्येवंरीत्या उत्तरीतुं कल्पते । यत् पूर्वोक्तासु महानदीषु उद्वेधाधिक्येन एवं विधिना उत्तरीतुं

न शक्यतेऽतस्तत्रोत्तरीतुं निषिद्धम्। तत्र ऋतुबद्धे काले मासकल्पे अपूर्णे वैयावृत्त्यादि-कारणे सति यतनया मासमध्ये द्वित्रिकृत्वो गन्तुमागन्तुं कल्पते किन्तु स पूर्वोक्त उदकलेपो वर्षमध्ये नववारं न भवेदिति विवेकः कर्त्तव्यः यतो वर्षमध्ये नववारोदकलेपकरणेन निर्ग्रन्थः शवलदोषभाग् भवतीति बोध्यम् ॥ सू० ३३ ॥

पूर्वं श्रमणानामध्वनि विधिः प्रतिपादितः, सम्प्रति वसतिविषयविधि प्रतिपादयितु-माह-'से तणेसु वा' इत्यादि ।

सूत्रम्—से तणेसु वा तणपुंजेसु वा पलालेसु वा पलालपुंजेसु वा अप्पंडेसु अप्पपाणेसु अप्पवीएसु अप्पहरिएसु अप्पुस्सेसु अप्पुत्तिंग-पणग-दगमट्टिय-मक्कडग-संताणगेसु अहे सवणमायाए नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा तहप्पगारे उव-स्सए हेमंतगिम्हासु वत्थए ॥ सू० ३४ ॥

छाया—अथ तृणेषु वा तृणपुञ्जेषु वा पलालेषु वा पलालपुञ्जेषु वा अल्पाण्डेषु अल्पप्राणेषु अल्पवीजेसु अल्पहरितेषु अल्पावश्यायेषु अल्पोत्तिङ्ग-पनक-दकमृत्तिका-मर्कट-सन्तानकेषु अधः श्रवणमात्रया नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा तथाप्रकारे उपाश्रये हेमन्तग्रीष्मेषु वस्तुम् ॥ सू० ३४ ॥

चूर्णी—'से तणेसु वा' इति । 'से' इति अथ-तृणेषु वा शुष्कघासादिषु, तृणपुञ्जेषु वा शुष्कघासादिसमुदायेषु, पलालेषु वा-शाल्यादिपलालेषु, पलालपुञ्जेषु वा शाल्यादिपलालसमूहेषु, कीदृशेषु तेषु² इत्याह-अल्पाण्डेषु अल्पशब्दस्यात्राभावार्थकतया पिपीलिकादीनामण्डकादिरहि-तेषु, अल्पप्राणेषु-द्वीन्द्रियादिप्राणिवर्जितेषु, अल्पबीजेषु-अनङ्कुरितशाल्यादिबीजरहितेषु, अल्प-हरितेषु-अङ्कुरितोद्भिन्नवीजरूपहरितकायवर्जितेषु, अल्पावश्यायेषु-अवश्यायो हिमकणस्तद्रहि-तेषु, अल्पोत्तिङ्ग-पनक-दकमृत्तिका-मर्कटसन्तानकेषु, तत्र उत्तिङ्गः-कीटिकानगरम्, पनकः-पञ्चवर्णः साङ्कुरोऽनङ्कुरो वाऽनन्तवनस्पतिकायविशेषलक्षणः-'लीलण-फूलण' इति भाषाप्रसिद्धः, दकमृत्तिका-सचित्तो मिश्रो वा कर्दमः, मर्कटः कोलिकलक्षणः 'मकडी' इति भाषाप्रसिद्धः, तेषां सन्तानकम् जालकम् तद्रहितेषु अपि तृणादिषु इति पूर्वेण सम्बन्धः, अधः श्रवणमात्रया सूत्रे आर्षत्वात्पञ्चम्यर्थे तृतीया तेन श्रवणमात्रात् कर्णद्वयप्रमाणादधस्ताद् वर्त्तमानेषु तृणादिषु सत्सु कर्णप्रमाणादधो यत्र छादनतृणादीनि भवन्तीत्यर्थः, तथाप्रकारे तथाविधे उपाश्रये नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा हेमन्तग्रीष्मेषु-हेमन्तादिग्रीष्मपर्यन्तेषु ऋतुबद्धेषु अष्टसु मासेषु वस्तुम्-अवस्थातुं न कल्पते इति पूर्वेण सम्बन्धः, तथा च अण्ड-प्राण-बीज-हरित-काया-वश्यायोत्तिङ्गादिसचित्तवस्तुवर्जितत्वात् शुद्धेऽपि उपाश्रये यदि मस्तकादधस्तात् आच्छा-दनतृणादीनि भवेयुस्तदा तस्मिन्नुपाश्रये ऋतुबद्धकालेषु निर्ग्रन्थनिर्ग्रन्थीनां वस्तुं न कल्पते इति भावः ॥ सू० ३४ ॥

पूर्वं श्रवणादधश्छादनतृणादियुक्ते उपाश्रये निर्ग्रन्थनिर्ग्रन्थीनां वासो निषिद्धः, सम्प्रति तद्वैपरीत्येन श्रवणापरिच्छादनतृणादियुक्ते उपाश्रये वासविधिं प्रतिपादयितुमाह–**'से तणेसु वा'** इत्यादि ।

सूत्रम्—से तणेसु वा जाव–संताणएसु उप्पिं सवणमायाए कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा तहप्पगारे उवस्सए हेमंतगिम्हासु वत्थए ॥ सू० ३५ ॥

छाया—अथ तृणेषु वा यावत् सन्तानकेषु उपरि श्रवणमात्रया कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा तथाप्रकारे उपाश्रये हेमन्तग्रीष्मेषु वस्तुम् ॥ सू० ३५ ॥

चूर्णी—'से तणेसु वा' इति । **'से'** अथ–तृणेषु वा इति–तृण–तृणपुञ्ज–पलाल–पलालपुञ्जेषु अण्ड–प्राण–बीज–हरिता–ऽवश्यायो–त्तिङ्ग–पनक–दकमृत्तिका–मर्कटसन्तानवर्जितेषु यदि **'उप्पिं सवणमायाए'** उपरि श्रवणमात्रया–कर्णद्वयोपरि छादनतृणादीनि भवेयुस्तदा कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा तथाप्रकारे–तथाविधे उपाश्रये हेमन्तग्रीष्मेषु–ऋतुबद्धकालेषु हेमन्तादिग्रीष्मपर्यन्तेषु अष्टसु मासेषु वस्तुं कल्पते ॥ सू० ३५ ॥

पूर्वं श्रमणानाम् ऋतुबद्धकालेषु उपाश्रयविशेषे वासस्य विधि–निषेधौ प्रतिपादितौ, सम्प्रति तेषामेव वर्षावासे उपाश्रयविशेषे विधि–निषेधौ प्रतिपादयितुं प्रथमं निषेधसूत्रमाह–**'से तणेसु वा'** इत्यादि ।

सूत्रम्—से तणेसु वा जाव संताणएसु अहे रयणिमुक्कमउडेसु नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा तहप्पगारे उवस्सए वासावासं वत्थए ॥ सू० ३६ ॥

छाया—अथ तृणेषु वा यावत् सन्तानकेषु अधो रत्निमुक्तमुकुटेषु नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा तथाप्रकारे उपाश्रये वर्षावासे वस्तुम् ॥ सू० ३६ ॥

चूर्णी—'से तणेसु वा' इति । पूर्वोक्तेषु तृणादिषु अण्डादिवर्जितेषु सत्स्वपि **'अहे-रयणिमुक्कमउडेसु'** अधोरत्निमुक्तमुकुटेषु,–सूत्रे पञ्चम्यर्थे सप्तमी, तेन–अधोरत्निमुक्तमुकुटात् रत्निभ्या हस्ताभ्यां मुक्ताभ्याम् विष्कम्भतया उच्छ्रिताभ्यां निर्मितः मुकुटः अञ्जलिमुकुलितो-च्छ्रितबाहुद्वयरूपः स रत्निमुक्तमुकुटः, मुकुट इति कोऽर्थः ? उक्तञ्च—

"मउडो पुण दोरयणी–पमाणओ होइ हु मुणेयव्वो"

मुकुटः पुनर्द्विरत्निप्रमाणकः संयोजितरत्निद्वयप्रमाणवान् भवति । मस्तकोपरि संयोजित-रत्निद्वयस्थापनं मुकुटाकारत्वेन मुकुट इति कथितम् । तस्मात् एतावत्प्रमाणात् अधः नीचम् आच्छादनतृणादि भवति, तत्रस्थितस्य साधोर्वन्दनादिसमये ऊर्ध्वप्रसारितबाहुद्वयमुकुलिताऽञ्जलिना आच्छादनतृणादिकं स्पृष्टं भवेत् तेन न सम्यग् वन्दनादिकं संपद्यते आछादनतृणादेर्मस्तकस्य चान्तराले एतावत्प्रमाणमन्तरमावश्यकं येन वन्दनादि सम्यक् संपद्यते, एतावत्प्रमाणादधोवर्त्या-

च्छादनतृणादि भवेत् तादृशेषु तृणादिषु सत्सु नो कल्पते निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां तथाप्रकारे उपाश्रये वर्षावासे चातुर्मास्यरूपे काले वस्तुं न कल्पते इति पूर्वेण सम्बन्धः ॥ सू० ३६ ॥

पूर्वम् उपाश्रयविशेषे वर्षावासे वासनिषेधः प्रतिपादितः, सम्प्रति तद्वैपरीत्येन उपाश्रयविशेषे वर्षावासे वासविधिमाह–'से तणेसु वा' इत्यादि ।

सूत्रम्—से तणेसु वा जाव संताणएसु वा उप्पिं रयणिमुक्कमउडेसु कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा तहप्पगारे उवस्सए वासावासं वत्थए ॥ सू० ३७ ॥

॥ कप्पस्स चउत्थो उद्देसो समत्तो ॥ ४ ॥

छाया—अथ तृणेषु वा यावत् सन्तानकेषु उपरि रत्निमुक्तमुकुटेषु कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा तथाप्रकारे उपाश्रये वर्षावासे वस्तुम् ॥ सू० ॥ ३७ ॥

कल्पस्य चतुर्थ उद्देशः समाप्तः ॥४॥

चूर्णी—'से तणेसु वा' इति । अथ पूर्वोक्तस्वरूपेषु तृणादिषु अण्डादि वर्जितेषु सत्सु पुनः '**उप्पिरयणिमुक्कमउडेसु**' उपरि रत्निमुक्तमुकुटेषु, अत्रापि पञ्चम्यर्थे सप्तमी बोध्या तेन रत्निमुक्तमुकुटात् पूर्वोक्तस्वरूपाद् उपरि आच्छादनतृणादि भवेत् कल्पते तथाविधे उपाश्रये निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा वर्षावासे वस्तुमिति ॥ सू० ३७ ॥

इति श्री–विश्वविख्यात–जगद्वल्लभ–प्रसिद्धवाचक–पञ्चदशभाषाकलितललितकलापालापक–प्रविशुद्धगद्यपद्यनैकग्रन्थनिर्मापक–वादिमानमर्दक–श्रीशाहूछत्रपतिकोल्हापुरराजप्रदत्त-"**जैनाचार्य**"–पदभूषित–कोल्हापुरराजगुरु–बालब्रह्मचारि जैनाचार्य–जैन-धर्म-दिवाकर–पूज्यश्री–**घासीलालव्रति**विरचितायां"**बृहत्कल्पसूत्रस्य**" चूर्णि-भाष्या-ऽवचूरीरूपायां व्याख्यायां चतुर्थोद्देशकः समाप्तः ॥४॥

पञ्चमोद्देशकः प्रारभ्यते—

व्याख्यातश्चतुर्थोद्देशकः, सम्प्रति पञ्चमः प्रारभ्यते, तत्र चतुर्थोद्देशकान्तिमसूत्रेण पञ्चमोद्देशकादिसूत्रेण कः सम्बन्धः ? इत्यत्राह भाष्यकारः—'तणमाइ०' इत्यादि ।

भाष्यम्—तणमाइवसहिवासे, विही निसेहो य अंतिये वुत्तो ।
होइ जइ तत्थ देवो, देवहियारोऽत्थ भणियव्वो ॥ १ ॥

छाया—तृणादिवसतिवासे, विधिर्निषेधश्च अन्तिमे प्रोक्तः ।
भवति यदि तत्र देवः, देवाधिकारोऽत्र भणितव्यः ॥ १ ॥

अवचूरी—'तणमाइ' इति । अन्तिमे चतुर्थोद्देशकस्यान्तिमे भागे सूत्रचतुष्टये तृणादिवसतिवासे तृणादिमयोपाश्रयवासे विधिर्निषेधश्च प्रोक्तः । तत्र तादृश्यां वसतौ यदि देवः गुह्यकादिदेवो देवी वा भवति—वसति अतः अत्र पञ्चमोद्देशकस्यादिमे सूत्रचतुष्टये देवाधिकारो भणितव्यः—कथयितव्यो भवतीति ॥ १ ॥

अनेन सम्बन्धेन सम्प्रति तृणादिमयवसतिवासे कदाचित्—देवदेवीनिवासप्रसङ्गात् निर्ग्रन्थमधिकृत्य देवकृतोपसर्गविषयकमिदमादिमं सूत्रमाह—'देवे य इत्थिरूवं' इत्यादि ।

सूत्रम्—देवे य इत्थिरूवं विउव्वित्ता निग्गंथं परिग्गाहिज्जा, तं च निग्गंथे साइज्जेज्जा, मेहुणपडिसेवणपत्ते आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ॥ सू० १ ॥

छाया—देवश्च स्त्रीरूपं विकुर्व्य निर्ग्रन्थं प्रतिगृह्णीयात्, तच्च निर्ग्रन्थः स्वादयेत् मैथुनप्रतिसेवनप्राप्त आपद्यते चातुर्मासिकं परिहारस्थानम् अनुद्घातिकम् ॥ सू० १ ॥

चूर्णी—'देवे य' इति । तृणादिमयोपाश्रये वर्त्तमानः कश्चित् देवः—व्यन्तरादिः स्त्रीरूपं—रमणीयस्त्रीरूपं विकुर्व्य स्वस्य विकुर्वणाशक्त्या निष्पाद्य यदि निर्ग्रन्थं—तत्रस्थितं साधुं प्रतिगृह्णीयात् स्वशरीरभुजादिभिरालिङ्गेत् तच्च प्रतिग्रहणम्—स्त्र्यालिङ्गनं यदि निर्ग्रन्थः श्रमणः अनुमोदयेत् 'सुन्दरमिदं ललनालिङ्गनम्' इत्येवम् अनुमोदयेत् तदा स निर्ग्रन्थः मैथुनप्रतिसेवनप्राप्तः अनासेवितमैथुनोऽपि मैथुनसेवनदोषापन्नः सन् आपद्यते—प्राप्नोति, किमित्याह—चातुर्मासिकं परिहारस्थानम् अनुद्घातिकं चतुर्गुरुकं प्रायश्चित्तम् ॥ सू० १ ॥

पूर्वं निर्ग्रन्थमाश्रित्य स्त्रीरूपेण देवकृतोपसर्गः प्रतिपादितः, सम्प्रति निर्ग्रन्थीमाश्रित्य पुरुषरूपेण देवकृतोपसर्गं प्रतिपादयितुमाह—'देवे य पुरिसरूवं' इत्यादि ।

सूत्रम्—देवे य पुरिसरूवं विउव्वित्ता निग्गंथिं पडिग्गाहिज्जा, तं च निग्गंथी साइज्जेज्जा मेहुणपडिसेवणपत्ता आवज्जइ चाउम्मासियं अणुग्घाइयं ॥ सू० २ ॥

छाया—देवश्च पुरुषरूपं विकुर्व्य निर्ग्रन्थीं प्रतिगृह्णीयात्, तच्च निर्ग्रन्थी स्वादयेत् मैथुनप्रतिसेवनप्राप्ता आपद्यते चातुर्मासिकं अनुद्घातिकम् ॥ सू० २ ॥

चूर्णी—'**देवे य पुरिसरूवं**' इति। देवश्च तृणादिमयोपाश्रये निवसन् कश्चिद्देवो व्यन्तरादिः पुरुषरूपं-रमणीयपुरुषाकृतिं विकुर्व्य स्वविकुर्वणाशक्त्या निष्पाद्य निर्ग्रन्थीं तत्रोपाश्रये वसन्तीं साध्वीं प्रतिगृह्णीयात् स्वशरीरबाह्वादिना समालिङ्गेत् तच्च प्रतिग्रहणम्- पुरुषालिङ्गनं यदि निर्ग्रन्थी स्वादयेत्-'सुखदोऽयं पुरुषशरीरस्पर्शः' इत्येवमनुमोदयेत् तदा सा निर्ग्रन्थी मैथुनप्रतिसेवनप्राप्ता अनासेवितमैथुनाऽपि समापन्नमैथुनसेवनदोषा सती आपद्यते-प्राप्नोति चातुर्मासिकं अनुद्घातिकम् चतुर्गुरुकरूपं प्रायश्चित्तम् निर्ग्रन्थीनां परिहारतपो न भवतीति कृत्वा '**परिहारट्ठाणं**' इतिपदं निर्ग्रन्थीसूत्रे न प्रोक्तमिति ॥ सू० २ ॥

पूर्वं निर्ग्रन्थीमाश्रित्य पुरुषरूपेण देवकृतोपसर्गो वर्णितः, सम्प्रति निर्ग्रन्थमाश्रित्य स्त्रीरूपेण देवीकृतोपसर्गं प्रतिपादयितुमाह-'**देवी य इत्थिरूवं**' इत्यादि ।

सूत्रम्—**देवी य इत्थिरूवं विउव्वित्ता निग्गंथं पडिग्गाहिज्जा, तं च निग्गंथे साइज्जेज्जा, मेहुणपडिसेवणपत्ते आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ॥ सू० ॥ ३ ॥**

छाया—**देवी च स्त्रीरूपं विकुर्व्य निर्ग्रन्थं प्रतिगृह्णीयात्, तच्च निर्ग्रन्थः स्वादयेत्, मैथुनप्रतिसेवनप्राप्तः आपद्यते चातुर्मासिकं परिहारस्थानम् अनुद्घातिकम् ॥सू० ३॥**

चूर्णी—'**देवी य इत्थिरूवं**' इति । देवी च स्त्रीरूपं-ललितस्त्रीरूपं विकुर्व्य स्ववैक्रियशक्त्या संपाद्य निर्ग्रन्थं प्रतिगृह्णीयात् स्वशरीरबाह्वादिना आलिङ्गेत्, तच्च प्रतिग्रहणं स्त्रीशरीरालिङ्गनं स्वादयेत्-'मनोमोदजनकोऽयं स्त्रीस्पर्शः' इत्येवमनुमोदयेत् तदा स निर्ग्रन्थः मैथुनप्रतिसेवनप्राप्तः-अनासेवितमैथुनोऽपि मैथुनसेवनजन्यदोषसपन्नः सन् आपद्यते-प्राप्नोति चातुर्मासिकं परिहारस्थानम् अनुद्घातिकम्-चतुर्गुरुरूपं प्रायश्चित्तम् ॥ सू० ॥ ३ ॥

पूर्वं निर्ग्रन्थमाश्रित्य स्त्रीरूपेण देवीकृतोपसर्गो वर्णितः, सम्प्रति निर्ग्रन्थीमाश्रित्य पुरुषरूपेण देवीकृतोपसर्गं प्रतिपादयितुमाह-'**देवी य पुरिसरूवं**' इत्यादि ।

सूत्रम्—**देवी य पुरिसरूवं विउव्वित्ता निग्गंथिं पडिग्गाहिज्जा, तं च निग्गंथी साइज्जेज्जा, मेहुणपडिसेवणपत्ता आवज्जइ चाउम्मासियं अणुग्घाइयं ॥ सू० ४॥**

छाया—**देवी च पुरुषरूपं विकुर्व्य निर्ग्रन्थीं प्रतिगृह्णीयात् तच्च निर्ग्रन्थी स्वादयेत्, मैथुनप्रतिसेवनप्राप्ता आपद्यते चातुर्मासिकं अनुद्घातिकम् ॥ सू० ४ ॥**

चूर्णी—**देवी य पुरिसरूवं**' इति । देवी च पुरुषरूपं पुरुषाकृतिं विकुर्व्य स्ववैक्रियशक्त्या नवयौवनसंपन्नां संपाद्य निर्ग्रन्थीं तत्रोपाश्रयस्थितां साध्वीं प्रतिगृह्णीयात्-स्वशरीरभुजादिना समालिङ्गेत्, तच्च प्रतिग्रहणं समालिङ्गनं निग्रन्थी साध्वी स्वादयेत्-'सुखजनकोऽयं पुरुषस्पर्शः' इत्येवमनुमोदयेत् तदा सा मैथुनप्रतिसेवनप्राप्ता-अनासेवितमैथुनाऽपि मैथुनसेवनजन्यदोषसंपन्ना सती आपद्यते-प्राप्नोति चातुर्मासिकम् अनुद्घातिकं चतुर्गुरुकरूपं प्रायश्चित्तम् ॥ सू० ४ ॥

पूर्वं मैथुनप्रतिसेवनप्राप्तस्य प्रायश्चित्तं प्रोक्तम्, तत्प्रायश्चित्ते न्यूनाधिकाऽऽरोपणायां दीयमानायां निर्ग्रन्थोऽधिकरणं कृत्वाऽन्यं गणं प्रविशेत्तदा तैरन्यगणस्थविरैः किं कर्त्तव्यमिति तद्विधिमाह—'भिक्खू य' इत्यादि ।

सूत्रम्—भिक्खू य अहिगरणं कट्टु तं अहिगरणं अविओसवित्ता इच्छिज्जा अन्नं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, कप्पइ तस्स पंचराइंदियं छेयं कट्टु परिनिव्वविय परिनिव्वविय दोच्चंपि तमेव गणं पडिणिज्जाएयव्वे सिया जहा वा तस्स गणस्स पत्तियं सिया ॥ सू० ५ ॥

छाया—भिक्षुश्च अधिकरणं कृत्वा तदधिकरणम् अव्यवशमय्य इच्छेद् अन्यं गणम् उपसंपद्य विहर्त्तुम्, कल्पते तस्य पञ्चरात्रिन्दिवं छेदं कृत्वा परिनिर्वाप्य परिनिर्वाप्य द्वितीयमपि तमेव गणं पडिनिर्यातव्यः स्यात् यथा वा तस्य गणस्य प्रीतिकं (प्रत्ययिकं) स्यात् ॥ सू० ५ ॥

चूर्णी—'भिक्खू य' इति । भिक्षुश्च श्रमणः अधिकरणम्—प्रायश्चित्तदाने न्यूनाधिकतायां कलहं कृत्वा, तद् अधिकरणम् अव्यवशमय्य क्षमापनादिना शान्तं चाकृत्वा इच्छेत् अन्यं गणं गणान्तरम् उपसंपद्य—स्वीकृत्य विहर्त्तुम् वाञ्छेत् अन्यं गणं प्रविशेदिति भावः, एवं स्थितौ कल्पते अन्यगणस्थविराणां तस्य गच्छान्तरादागतस्य भिक्षोः पञ्चरात्रिन्दिवम्—पञ्चाहोरात्रकं छेदं कृत्वा—छेदनामकम् प्रायश्चित्तं दत्वा परिनिर्वाप्य परिनिर्वाप्य क्रोधादिकषायानलसंतप्तं तं मृदुमधुरोपदेशवचनसलिलसेचनेन तत्कषायानलं भूयो—भूयो विध्यापयित्वा तं सर्वथा शीतलं संपाद्य द्वितीयमपि द्वितीयवारमपि पुनरपि तमेव गणं यस्माद् गणाद् आगतस्तमेव तदीयगणं प्रति स श्रमणः परिनिर्यातव्यः प्रापयितव्यः नेतव्यः स्यात् । किमर्थमित्याह—यथा वा—येन कारणेन तस्य यस्माद् गच्छाद् निर्गतस्तस्य तदीयगच्छस्य 'पत्तियं' प्रीतिकं प्रसन्नता, प्रत्ययिकं वा प्रत्ययो विश्वासः तदेव प्रत्ययिकं वैश्वासिकं वस्तु स्यात् तथा विधेयमिति भावः ॥ सू० ५ ॥

पूर्वसूत्रे अधिकरणस्य प्ररूपितत्वेन तदधिकरणं कृत्वाऽनुपशमं प्राप्त· श्रमणो गच्छान्तरं गच्छन् कथञ्चिदुपशमित· पुनस्तमेव गच्छं प्रत्यागच्छन् मार्गे संस्तरणेऽसंस्तरणे वा कदाचिद् आहारं गृह्णीयादतो रात्रिभोजननिषेधकं सूत्रचतुष्टयं व्याख्यातुं तावत् प्रथमं सूत्रं व्याचष्टे—'भिक्खू य' इत्यादि ।

सूत्रम्—भिक्खू य उग्गयवित्तिए अणत्थमियसंकप्पे संथडिए णिव्वितिगिच्छे असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहित्ता आहारं आहारेमाणे अह पच्छा जाणिज्जा—अणुग्गए सूरिए, अत्थमिए वा जं च आसयंसि जं च पाणिंसि जं च पडिग्गहे तं विगिंचमाणे वा विसोहेमाणे वा नो अइक्कमइ, तं अप्पणा

जभुंमाणे अण्णेसिं वा दलमाणे राइभोयणपडिसेवणपत्ते आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ॥ सू० ६-१ ॥

छाया—भिक्षुश्च उद्गतवृत्तिकः अनस्तमितसंकल्पः संस्तृतो निर्विचिकित्सः अशनं वा पानं वा खाद्यं वा स्वाद्यं वा प्रतिगृह्य आहारम् आहरन् अथ पश्चादेवं जानीयात्-अनुद्गतः सूर्योऽस्तमितो वा, स यच्च आस्ये, यच्च पाणौ, यच्च प्रतिग्रहे तद् विविञ्चन् वा विशोधयन् वा नो अतिक्रामति, तद् आत्मना भुञ्जान अन्येभ्यो वा ददानो रात्रिभोजनप्रतिसेवनप्राप्तः आपद्यते चातुर्मासिकं परिहारस्थानम् अनुद्घातिकम् ॥ सू० ६ ॥

चूर्णी—'भिक्खू य' इति। भिक्षुश्च, कीदृशः स? उद्गतवृत्तिकः, उद्गते उदयं प्राप्ते सूर्ये वृत्तिः संयमयात्रानिर्वाहकभिक्षाकरणादिव्यवहारो यस्य स उद्गतवृत्तिकः, सूर्योद्गमनान्तरमेव आहारादिक्रियाकारक', पुनश्च अनस्तमितसंकल्पः अनस्तमिते-अस्तमप्राप्ते सूर्ये सूर्यास्तमनात् प्रागेव संकल्पः आहारादिग्रहणनियमो यस्य स अनस्तमितसंकल्पः सूर्योदयानन्तरं सूर्यास्तगमनात्प्रागेव सूर्योपस्थितिकाले एव आहारादिग्रहणनियमवान् इत्यर्थः, अत एव संस्तृतः समर्थः दिवसभोजननियमवान्, एतादृशो भिक्षुः-श्रमणः निर्विचिकित्सः निर्गता अपगता विचिकित्सा-संयमात्मकचित्तवृत्तिविशेपरूपा यस्मात् स निर्विचिकित्सः अन्यदीपादिज्योतिःप्रकाशादिकारणवशात् सूर्य-उदयं प्राप्तः, नास्तं गतो वा सूर्य', इत्येवं निश्चयमापन्नः सन् अशनं वा ४ अशनादिचतुर्विधमाहारम् प्रतिगृह्य-आदाय आहारमाहरन् भुञ्जानः भोक्तुमारब्धः, अथ यदि पश्चात् तदनन्तरं भोजनप्रारम्भानन्तरं जानीयात् अनुद्गतः सूर्यः नोदयं प्राप्तः सूर्यः, वा-अथवा अस्तमितो वा अस्तं प्राप्तो वा सूर्य., इत्येवं निश्चिनुयात्-जानीयात् तदा तादृश्यां परिस्थितौ स श्रमणः यच्च अशनादि आस्ये-मुखे कवलीकृत्य क्षिप्तं भवेत् यच्च अशनादिकं पाणौ-हस्ते मुखे प्रक्षेप्तुं गृहीतम्, यच्च अशनादि प्रतिग्रहे पात्रे स्थितं वर्तते तत् विविञ्चन् परिष्ठापयन् विशोधयन् पात्रं निर्लेपं कुर्वन् नो अतिक्रमति तीर्थकृदाज्ञां नोल्लङ्घयति, सर्वथैव तथाविधाशनादि परिष्ठापयन् पात्रं च निर्लेपं कुर्वन् स श्रमण आराधको भवति न विराधक इति। यदि पुनः तद् अशनादिकम् आत्मना स्वयं भुञ्जानः आहरन्, तथा अन्येभ्यो वा श्रमणादिभ्यो ददानो भवेत् तदा अभुक्ततदाहारोऽपि रात्रिभोजनप्रतिसेवनप्राप्त. रात्रिभोजनदोषापन्नः सन् आपद्यते चातुर्मासिकं परिहारस्थानम् अनुद्घातिकम् चतुर्गुरुकरूपं प्रायश्चित्तं प्राप्नोतीति ॥ सू० ६-१ ॥

पूर्वं संस्तृतस्य सूर्योदय-सूर्यानस्तमितविषये निर्विचिकित्सितस्य-निःशङ्कस्याहारविधिरुक्तः, सम्प्रति पुनः संस्तृतस्यैव सूर्यानुद्गतास्तमितविषये विचिकित्सासमापन्नस्य-सशयापन्नस्य अशनादिविषये प्रायश्चित्तमाह—'भिक्खू य' इत्यादि ।

सूत्रम्—भिक्खू य उग्गयवित्तिए अणत्थमियसंकप्पे संथडिए वितिगिच्छासमावन्ने असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहित्ता आहारं आहारे-

माणे जाव अन्नेसिं वा दलमाणे राइभोयणपडिसेवणपत्ते आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ॥ सू० ७-२ ॥

छाया--भिक्षुश्च उद्गतवृत्तिकः अनस्तमितसंकल्पः संस्तृतः विचिकित्सासमापन्नः अशनं वा पानं वा खाद्यं वा स्वाद्यं वा प्रतिगृह्य आहारम् आहरन् यावत् अन्येभ्यो वा ददानः रात्रिभोजनप्रतिसेवनप्राप्तः आपद्यते चातुर्मासिकं परिहारस्थानम् अनुद्घातिकम् ॥ सू० ७-२ ॥

चूर्णी--'भिक्खू य' इति । भिक्षुश्च उद्गतवृत्तिकः अनस्तमितसंकल्पः पूर्वोक्तस्वरूपः, संस्तृतः-समर्थः न तु ग्लानादिः स विचिकित्सासम्पन्नः 'किमुदितोऽनुदितो वा सूर्यः?, यद्वा किमस्तं गतः सूर्योऽनस्तं गतो वा' इत्येवं संशयमारूढः सन् अशनं वा ४-अशनादिचतुर्विधमाहारं प्रतिगृह्य-गृहस्थगृहादानीय आहारम्-तदानीतमाहारम् आहरन् भुञ्जानः 'जाव' इति यावत्, यावत्पदेन पूर्वोक्तः पाठोऽत्र संग्राह्यः, तथाहि-'अह पुच्छा' इत्यादि, अथ पश्चात् जानीयात् अनुद्गतः सूर्यः अस्तमितो वा, तदा स यच्च आस्ये-मुखे, यच्च पाणौ-हस्ते, यच्च, प्रतिग्रहे पात्रे वर्तते तद् विविञ्चन्-परिष्ठापयन् वा विशोधयन् मुखहस्तपात्रादिकं निर्लेपं कुर्वन् वा स नो अतिक्रामति भगवदाज्ञां नोल्लङ्घयति, यदि पुनः तद् अशनादि आत्मना-स्वयं भुञ्जानः, इत्येतत्पर्यन्तः पाठः यावत्पदग्राह्यः, 'अन्नेसिं वा' इत्यादि, अन्येभ्यो वा ददानः स रात्रिभोजनप्रतिसेवनप्राप्तः रात्रिभोजनदोषापन्नः सन् आपद्यते चातुर्मासिकं परिहारस्थानम् अनुद्घातिकम् चतुर्गुरुकरूपं प्रायश्चित्तम् ॥ सू० ७-२ ॥

पूर्वं संस्तृतस्य विचिकित्सासमापन्नस्य प्रायश्चित्तं प्रोक्तम्, सम्प्रति असंस्तृतस्य निर्विचिकित्सितस्य प्रायश्चित्तमाह-'भिक्खू य' इत्यादि ।

सूत्रम्--'भिक्खू य उग्गयवित्तिए अणत्थमियसंकप्पे असंथडिए निव्वितिगिच्छे असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहित्ता आहारं आहारेमाणे जाव अन्नेसिं वा दलमाणे राइभोयणपडिसेवणप्पत्ते आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ॥ सू० ८-३ ॥

छाया--भिक्षुश्च उद्गतवृत्तिकः अनस्तमितसंकल्पः असंस्तृतः निर्विचिकित्सः अशनं वा पानं वा खाद्यं वा स्वाद्यं वा प्रतिगृह्य आहारम् आहरन् यावत् अन्येभ्यो वा ददानः रात्रिभोजनप्रतिसेवनप्राप्तः आपद्यते चातुर्मासिकं परिहारस्थानम् अनुद्घातिकम् ॥ सू० ८-३ ॥

चूर्णी--भिक्खू य' इति । भिक्षुश्च उद्गतवृत्तिकः अनस्तमितसंकल्पः दिवसमात्रभोजीत्यर्थः स असंस्तृतः--असमर्थः ग्लानत्वादियुक्तः अध्वविहारखिन्नः, क्षपकः मासक्षमणादितपोयुक्तो वा निर्विचिकित्सः विचिकित्सारहितः-- सूर्योदय-सूर्यानस्तमितरूपसंशयवर्जितः सूर्य उद्गतः

नास्तं गतो वा इत्येवं निश्चयवान् सन् अशनं वा ४ अशनादिचतुर्विधमाहारं प्रतिगृह्य तमाहारमाहरन्, इत्यादि शेषं सर्वं पूर्वसूत्रवदेव व्याख्येयम् । सू० ८–३ ॥

पूर्वं असंस्तृतस्य निर्विचिकित्सितस्य प्रायश्चित्तमुक्तम् , सम्प्रति असंस्तृतस्यैव विचिकित्सासंपन्नस्य प्रायश्चित्तमाह- **'भिक्खू य'** इत्यादि ।

सूत्रम्--भिक्खू य उग्गयवित्तिए अणत्थमियसंकप्पे असंथडिए वितिगिच्छासमावन्ने असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहित्ता आहारं आहारेमाणे जाव अन्नेसिं वा दलमाणे राइभोयणपडिसेवणपत्ते आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ॥ सू० ९–४ ॥

छाया—भिक्षुश्च उद्गतवृत्तिकः अनस्तमितसंकल्पः असंस्तृतो विचिकित्सासमापन्नः अशनं वा पानं खाद्यं वा स्वाद्यं वा प्रतिगृह्य आहारं आहरन् यावत् अन्येभ्यो वा ददानः रात्रिभोजनप्रतिसेवनप्राप्तः आपद्यते चातुर्मासिकं परिहारस्थानम् अनुद्घातिकम् ॥ सू० ९–४ ॥

चूर्णी---'भिक्खू य' इति । भिक्षुश्च उद्गतवृत्तिकः अनस्तमितसंकल्पः असंस्तृतः असमर्थः—ग्लानो मासक्षपकः अध्वखिन्नो वा विचिकित्सासमापन्नः—सूर्यस्य उदयाऽस्तमितविषयकशङ्कासम्पन्नः अशनं वा ४ अशनादिचतुर्विधमाहारं प्रतिगृह्य तमाहारम् आहरन् , इत्यादि शेषं सर्वम् असंस्तृतस्य निर्विचिकित्सासूत्रवद् व्याख्येयमिति ।

अत्रेदमवधेयम्—प्रथमं सूत्रम्—निर्विचिकित्स—संशयरहित संस्तृतं—समर्थं श्रमणमधिकृत्य प्रतिपादितम् १ । द्वितीयं सूत्रम्—विचिकित्सासमापन्नं—संशययुक्तं संस्तृतं—समर्थं श्रमणमधिकृत्य प्रोक्तम् २ । तृतीयं सूत्रम्—असंस्तृतम्—असमर्थं निर्विचिकित्सं—संशयरहितं श्रमणमधिकृत्य प्ररूपितम् ३ । चतुर्थं सूत्रम्--असंस्तृतम्--असमर्थं विचिकित्सासमापन्न—संशयापन्नं श्रमणमधिकृत्याभिहितम् ४ । इति चत्वारि सूत्राणि व्याख्यातानि ॥ सू० ९—४ ॥

पूर्वं श्रमणानां रात्रिभोजनप्रतिसेवनप्राप्तौ प्रायश्चित्तं प्रतिपादितम् , सम्प्रति, रात्रिभोजनप्रस्तावादेव रात्रौ समागतोद्गालस्य गिलने प्रायश्चित्तं प्रतिपादयति—**'इह खलु'** इत्यादि ।

सूत्रम्—इह खलु निग्गंथस्स वा निग्गंथीए वा राओ वा वियाले वा सपाणे सभोयणे उग्गाले आगच्छेज्जा, तं विगिंचमाणे वा विसोहेमाणे वा नो अइक्कमइ, तं उग्गिलित्ता पच्चोगिलमाणे राइभोयणपडिसेवणपत्ते आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ॥ सू० १० ॥

छाया—इह खलु निर्ग्रन्थस्य वा निर्ग्रन्थ्या वा रात्रौ वा विकाले वा सपानः सभोजनः उद्गालः आगच्छेत् तं विविञ्चन् वा विशोधयन् वा नो अतिक्रामति, तम् उद्गीर्य प्रत्यवगिलन् रात्रिभोजनप्रतिसेवनप्राप्त आपद्यते चातुर्मासिकं परिहारस्थानम् अनुद्घातिकम् ॥ सू० १० ॥

चूर्णी--'इह खलु' इति। इह खलु जिनप्रवचने ग्रामादौ वा वर्त्तमानस्य निर्ग्रन्थस्य वा निर्ग्रन्थ्या वा रात्रौ वा विकाले सन्ध्याकाले रात्र्यन्ते वा यदि सपानः-पानकद्रव्यसहितः, सभोजनः भुक्तभोजनद्रव्यसहितः उद्गालः उत् ऊर्ध्वं मुखाभिमुखं गलति वातादिप्रकोपेन मुखे समागच्छतीति उद्गालः जलमिश्रितरसीभूतपानभोजनद्रव्ययुक्त उद्गारः आगच्छेत्, तथा च यदि कदाचित् सिक्थवर्जितं केवलं किञ्चित् पानीयमुद्गारेण सह मुखे आगच्छेत्, कदाचित् केवलं कूरादिसिक्थं वा आगच्छेत्, कदाचित् तदुभयं वा आगच्छेत् तदा तम् उद्गालं विविञ्चन् वहिः परिष्ठापयन् विशोधयन् वस्त्रादिना मुखशुद्धिं कुर्वन् स भिक्षु. नो-नैव अतिक्रामति तीर्थकराज्ञां नोल्लङ्घयति, एवं कुर्वन् भिक्षुराराधक एव नो विराधक इति भावः। किन्तु तं-पानभोजनसहितमुद्गालम् उद्गीर्य तस्य उद्गीर्णं कृत्वा मुखे समाकृष्येत्यर्थ प्रत्यवगिलन् पुनः कण्ठादध उत्तारयन् स रात्रिभोजनप्रतिसेवनप्राप्त. अकृतरात्रिभोजनोऽपि रात्रिभोजनदोषापन्नः सन् आपद्यते चातुर्मासिकं परिहारस्थानम् अनुद्घातिकं चतुर्गुरुकरूपं प्रायश्चित्तमिति ॥ सू० १० ॥

पूर्वं श्रमणस्य रात्रौ समागतसपानसभोजनोद्गालस्य प्रत्यवगिलने प्रायश्चित्तमुक्तम्, सम्प्रति समागतस्य प्राणवीजादियुक्ताहारस्य किं कर्तव्यमिति तद्विधिमाह-'निग्गंथस्स वा' इत्यादि।

सूत्रम्—निग्गंथस्स वा गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुप्पविट्ठस्स अंतो पडिग्गहंसि पाणाणि वा बीयाणि वा रए वा परियावज्जेज्जा तं च संचाएइ विगिंचित्तए वा विसोहित्तए वा तं पुव्वामेव लाइय विसोहिय विसोहिय तओ संजयामेव भुंजेज्ज वा पिवेज्ज वा तं च नो संचाएइ विगिंचित्तए वा विसोहित्तए वा तं नो अप्पणा भुंजिज्जा नो अन्नेसिं दावए, एगंते वहुफासुए थंडिले पडिलेहित्ता पमज्जित्ता परिट्ठवेयव्वे सिया ॥ सू० ११ ॥

छाया—निर्ग्रन्थस्य च गाथापतिकुलं पिण्डपातप्रत्ययेन अनुप्रविष्टस्य अन्तः प्रतिग्रहे प्राणा वा बीजानि वा रजो वा पर्यापतेत्, तच्च शक्नोति विवेक्तुं वा विशोधयितुं वा, तत् पूर्वमेव लात्वा विशोध्य विशोध्य ततः संयत एव भुञ्जीत वा पिबेद् वा, तच्च नो शक्नोति विवेक्तुं वा विशोधयितुं वा, तद् नो आत्मना भुञ्जीत, नो अन्येभ्यो दद्यात् एकान्ते वहुप्रासुके स्थण्डिले प्रत्युपेक्ष्य प्रमृज्य परिष्ठापयितव्यं स्यात्।

चूर्णी—'निग्गंथस्स' इति। निर्ग्रन्थस्य श्रमणस्य गाथापतिकुलं—गृहस्थगृहं पिण्डपातप्रत्ययेन भिक्षाग्रहणनिमित्तेन अनुप्रविष्टस्य गतस्य तत्र अन्तः प्रतिग्रहे पात्राभ्यन्तरे यदि प्राणा वा द्वीन्द्रियादय., बीजानि वा वनस्पतिकायविशेषरूपाणि, रजो वा सचित्तधूली सचित्तपृथिवीकायविशेष, अग्निकणः तेजस्कायो वा पर्यापतेत् आगच्छेत् तदा तच्च प्राणादिजातं यदि 'संचाएइ' इति शक्नोति विवेक्तुम्-पृथक्कर्त्तुम्, विशोधयितुम्-सर्वथापृथक्कर्त्तुम्, तथा तत् द्वीन्द्रिया-

दिजीवं पूर्वमेव प्रथममेव ज्ञात्वा हस्तादिना गृहीत्वा प्रतिलेख्य प्रतिलेख्य सर्वथैव अपनीयापनीय पात्रमध्याद् निस्सार्य २, ततः तदनन्तरं संयत एव यतनया भुञ्जीत वा पिबेद् वा। यदि पुनः तच्च प्राणादि-द्वीन्द्रियादिजीवं **'नो संचाएइ'** इति नो शक्नोति विवेक्तुं निस्सारयितुम् वा पृथक्कर्तुम्, विशोधयितुं वा विशेषतो दूरीकर्तुं यदि न शक्नोति तदा तत् द्वीन्द्रियादि-युक्तं भक्तपानं नो आत्मना स्वयं भुञ्जीत नो वा अन्येभ्यः श्रमणादिभ्यो दद्यात्, तर्हि किं कुर्यात्? इत्याह-तद् भक्तपानम् एकान्ते विजने बहुप्रासुके अत्यन्तप्रासुके अवश्यायोत्तिङ्गादि-रहिते स्थाने प्रत्युपेक्ष्य चक्षुषा सम्यग् निरीक्ष्य, प्रमृज्य रजोहरणेन प्रमार्जनं कृत्वा परिष्ठाप-यितव्यं स्यात्, तस्य प्राणादिमिश्रितभक्तपानस्य परिष्ठापनं कर्त्तव्यं न तु स्वयं भोक्तव्यं नाप्यन्येभ्यो वा दातव्यमिति भावः॥ सू० ११॥

पूर्वमाहारसूत्रे प्राणपदेन त्रसानां, बीजपदेन वनस्पतिकायानां, रजोग्रहणेन पृथिव्यग्निकायानां, वायोः सर्वत्रान्तर्गतत्वेन वायुकायानां च ग्रहणं कृतमिति कायपञ्चकमुक्तम्, सम्प्रति अत्र सूत्रे षष्ठमप्कायमधिकृत्य भोजनविधिं प्रतिपादयति-**'निग्गंथस्स य'** इत्यादि।

सूत्रम्—निग्गंथस्स य गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुप्पविट्ठस्स अंतो पडिग्गहंसि दगे वा दगरए वा दगफुसिए वा परियावज्जेज्जा, से य उसिणे भोयणजाए भोत्तव्वे सिया, से य सीए भोयणजाए तं नो अप्पणा भुंजिज्जा नो अन्नेसिं दावए, एगंते बहुफासुए थंडिले परिट्ठवेयव्वे सिया॥ सू० १२॥

छाया—निर्ग्रन्थस्य च गाथापतिकुलं पिण्डपातप्रत्ययेन अनुप्रविष्टस्य अन्तः प्रतिग्रहे दकं वा दकरजो वा दकपृषद् वा पर्यापतेत् तच्च उष्ण भोजनजातं भोक्तव्यं स्यात्, अथ च शीतं भोजनजातं तत् नो आत्मना भुञ्जीत, नो अन्येभ्यो दद्यात् एकान्ते बहुप्रासुके स्थण्डिले परिष्ठापयितव्यं स्यात्॥ सू० १२॥

चूर्णी—'निग्गंथस्स य' इति। निर्ग्रन्थस्य च गाथापतिकुलं पिण्डपातप्रत्ययेन अनु-प्रविष्टस्य अन्तः प्रतिग्रहे पात्राभ्यन्तरे दकं वा अप्कायसमूहरूपम्, दकरजो वा उदकबिन्दुर्वा-दकपृषत्-उदकशीकरो जलकणो वा पर्यापतेत्, तच्च पात्रस्थितं भोजनजातं यदि उष्णं भवेत् तदा तद् भोजनजातं श्रमणस्य भोक्तव्य भोजनयोग्य स्यात्, श्रमणेन तद् भोक्तव्यम्, उष्णपतितदकादेः शस्त्रपरिणतत्वेनाचित्तत्वसद्भावात्। तदपि भोजनजातं यदि शीतं भवेत् तदा तद् भोजनजातं पतितदकादेः शस्त्राऽपरिणतत्वेन सचित्तत्वसद्भावात् नो आत्मना स्वयं भुञ्जीत नापि च तद् अन्येभ्यो दद्यात् अपितु तद् भोजनजातम् एकान्ते बहुप्रासुके स्थण्डिले परिष्ठापयि-तव्यं स्यादिति। अत्र दक-दकरजःप्रभृतीनां परिमाणकृतो भेदो बोध्यः, तथाहि-दकपदेन प्रभूताप्कायरूपमुदकं गृह्यते, दकरजःपदेन उदकबिन्दुरुच्यते, दकपृषत्पदेन पुन. पानीये-ऽन्यत्र प्रक्षिप्यमाणे वायुप्रेरितास्तत्रागत्य प्रपतन्तो जलकणाः प्रतिगृह्यन्ते इति विवेकः॥ सू० १२॥

पूर्वं प्राणातिपातादिरक्षणवक्तव्यता प्रतिपादिता, सम्प्रति ब्रह्मचर्यव्रतरक्षणार्थमिन्द्रियविषये श्रोतोविषये च क्रमशः सूत्रद्वयं प्रतिपादयन् प्रथममिन्द्रियविषयं निर्ग्रन्थीसूत्रमाह—'निग्गंथीए इत्यादि ।

सूत्रम्—निग्गंथीए राओ वा वियाले वा उच्चारं वा पासवणं वा विगिंचमाणीए वा विसोहेमाणीए वा अन्नयरे पसुजाइए वा पक्खिजाइए वा अन्नयरं इंदियजायं परामुसेज्जा, तं च निग्गंथी साइज्जेज्जा, हत्थकम्मपडिसेवणपत्ता आवज्जइ चाउम्मासियं अणुग्घाइयं ॥ सू० १३ ॥

छाया—निर्ग्रन्थ्याः रात्रौ वा विकाले वा उच्चारं वा प्रस्रवणं वा विविञ्चत्या वा विशोधयन्त्या वा अन्यतरः पशुजातीयो वा पक्षिजातीयो वा अन्यतरद् इन्द्रियजातं परामृशेत्, तं च निर्ग्रन्थी स्वादयेत् हस्तकर्मप्रतिसेवनप्राप्ता आपद्यते चातुर्मासिकम् अनुद्घातिकम् ॥सू०१३॥

चूर्णी—'निग्गंथीए' इति । निर्ग्रन्थ्याः—श्रमण्याः रात्रौ वा रजनीसमये, विकाले वा पूर्वापरसन्ध्यासमये उच्चारं वा संज्ञाम्, प्रस्रवणं वा कायिकीलक्षणम्, विविञ्चत्या वा परिष्ठापयन्त्याः, विशोधयन्त्या वा शुद्धिं कुर्वन्त्याः तत्समये अन्यतरः कश्चिद् एकतरः पशुजातीयो वा वानरादिः, पक्षिजातीयो वा मयूरादिः यदि अन्यतरत्—किमपि एकतरत् इन्द्रियजातम्—स्तनकपोलमुखनयनपाणिपादादिकम् अङ्गविशेषं परामृशेत्-स्पृशेत्, अथ तं च वानरादिस्पर्शं निर्ग्रन्थी स्वादयेत् 'सुखदोऽयं स्पर्शः' इत्येवमनुमोदयेत्, तदा हस्तकर्मप्रतिसेवनप्राप्ता अकृतहस्तकर्माऽपि हस्तकर्मप्रयुक्तदोषापन्ना सती आपद्यते चातुर्मासिकम् अनुद्घातिकं—चतुर्गुरुकरूपं प्रायश्चित्तं प्राप्नोति ॥ सू० १३ ॥

पूर्वमिन्द्रियविषयकं प्रथमं सूत्रं प्रतिपादितम्, सम्प्रति श्रोतोविषयं द्वितीयं निर्ग्रन्थीसूत्रमाह—'निग्गंथीए' इत्यादि ।

सूत्रम्—निग्गंथीए राओ वा वियाले वा उच्चारं वा पासवणं वा विगिंचमाणीए वा विसोहेमाणीए वा अन्नयरे पसुजाइए वा पक्खिजाइए वा अन्नयरंसि सोयंसि ओगाहिज्जा, तं च निग्गंथी साइज्जेज्जा, मेहुणपडिसेवणपत्ता आवज्जइ चाउम्मासियं अणुग्घाइयं ॥ सू० १४ ॥

छाया— निर्ग्रन्थ्या रात्रौ वा विकाले वा उच्चारं वा प्रस्रवणं वा विविञ्चत्या वा विशोधयन्त्या वा अन्यतरः पशुजातीयो वा पक्षिजातीयो वा अन्यतरस्मिन् श्रोतसि अवगाहेत, तच्च निर्ग्रन्थी स्वादयेत् मैथुनप्रतिसेवनप्राप्ता आपद्यते चातुर्मासिकम् अनुद्घातिकम् ॥ सू० १४॥

चूर्णी—'निग्गंथीए' इति । निर्ग्रन्थ्या रात्रौ विकाले वा उच्चारप्रस्रवणं परिष्ठापयन्त्या वा शुद्धिं कुर्वन्त्या वा तत्समये अन्यतरः कश्चिदेकः पशुजातीयो वा प्राणी वानरादिः

पक्षिजातीयो वा प्राणी-हंसमयूरादिः यदि अन्यतरस्मिन् कस्मिंश्चित् श्रोतसि-योनिकक्षा-जघनादिसन्धिरूपे विवरे अवगाहेत स्वीयं किमपि अङ्गं प्रवेशयेत्, तच्च योन्यादौ वानरा-दीनामङ्गावगाहनं स्वादयेत् 'कीदृशमिदं सुखदमवगाहनम्' इत्येवमनुमोदयेत्-तदवगाहनेन मनसि सुखमनुभवेत् तदा सा निर्ग्रन्थी मैथुनप्रतिसेवनप्राप्ता-अनासेवितमैथुनाऽपि मैथुनसेवनजन्यदोषा-पन्ना सती आपद्यते चातुर्मासिकमनुद्घातिकं प्रायश्चित्तम् ॥ सू० १४ ॥

पूर्वं ब्रह्मचर्यव्रतविषया दोषाः प्रतिपादिताः, ते च दोषाः प्राय एकाकिन्याः संभवन्तीति सम्प्रति निर्ग्रन्थ्या एकाकिन्याः स्थित्यादिनिषेधविषयकं सूत्रचतुष्टयं प्रतिपादयति-**'नो कप्पइ निग्गंथीए'** इत्यादि ।

सूत्रम्—नो कप्पइ निग्गंथीए एगाणियाए होत्तए ॥ सू० १५ ॥

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थ्या एकाकिन्या भवितुम् ॥ सू० १५ ॥

चूर्णी 'नो कप्पइ' इति। नो कल्पते निर्ग्रन्थ्या एकाकिन्या असहायया भवितुम्, निर्ग्रन्थ्या एकाकिन्या कदापि न भवितव्यम् स्त्रीशरीरस्य पुरुषस्पृहणीयत्वेन दृढसंहननधृतिबलादिरा-हित्येन च बलात्कारादिसद्भावे ब्रह्मचर्यव्रतभङ्गदोषप्रसङ्गात् ॥ सू० १५ ॥

सूत्रम्—नो कप्पइ निग्गंथीए एगाणियाए गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा ॥ सू० १६ ॥

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थ्या एकाकिन्या गाथापतिकुलं पिण्डपातप्रत्ययेन निष्क्र-मितुं वा प्रवेष्टुं वा ॥ सू० १६ ॥

चूर्णी—एवम् एकाकिन्या गाथापतिकुलं-गृहस्थगृहं पिण्डपातप्रत्ययेन आहारादिग्रहणनिमित्तं निष्क्रमितुम् उपाश्रयाद् गृहस्थगृहे भक्तपानाद्यर्थं निस्सर्तुम्, तथा प्रवेष्टु गृहस्थगृहे प्रवेशं कर्तुम् न कल्पते ॥ सू० १६ ॥

सूत्रम्—नो कप्पइ निग्गंथीए एगाणियाए बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा ॥ सू० १७ ॥

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थ्या एकाकिन्या बहिर्विचारभूमिं वा विहारभूमिं वा निष्क्रमितुं वा प्रवेष्टुं वा ॥ सू० १७ ॥

चूर्णी—एवम् एकाकिन्या बहिः उपाश्रयाद्बहिः विचारभूमिं संज्ञाभूमिम् निष्क्रमितुं वा उपाश्रयात्, प्रवेष्टुं वा सञ्ज्ञाभूमौ न कल्पते, तथा विहारभूमिं स्वाध्यायादिभूमौ वा निष्क्रमितुम् उपाश्रयात्, प्रवेष्टुम्-स्वाध्यायभूमौ एकाकिन्या न कल्पते ॥ सू० १७ ॥

सूत्रम्—नो कप्पइ निग्गंथीए एगाणियाए गामाणुगामं दूइज्जित्तए वा वासा-वासं वा वत्थए ॥ सू० १८ ॥

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थ्या एकाकिन्या ग्रामानुग्रामं द्रोतुं वा वर्षावासं वा वस्तुम् ॥ सू० १८ ॥

चूर्णी—एवमेव एकाकिन्या निर्ग्रन्थ्या ग्रामानुग्रामम् एकस्माद् ग्रामाद् ग्रामान्तरं द्रोतुम् विहर्त्तुम्, तथा वर्षावास चातुर्मास्यनिमित्तं वस्तुं न कल्पते ॥ सू० १८ ॥

पूर्वं निर्ग्रन्थ्या एकाकिनीत्वं निषिद्धम्, सम्प्रति श्रमणानामचेलकत्वस्य भगवता प्रतिपादितत्वेन काचित् श्रमणी चापि अचेलकत्वं कर्त्तुमिच्छेदतस्तासामचेलकत्वं प्रतिपेधयन्नाह—'नो कप्पइ' इत्यादि ।

सूत्रम्—नो कप्पइ निग्गंथीए अचेलियाए होत्तए ॥ सू० १९ ॥

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थ्या अचेलिकया भवितुम् ॥ सू० १९ ॥

चूर्णी—'नो कप्पइ' इति । नो कल्पते निर्ग्रन्थ्याः श्रमण्या अचेलिकया—चेलः वस्त्रं, न चेलो वस्त्रं यस्याः सा अचेला, अचेला एव अचेलिका वस्त्रवर्जिता, तया वस्त्ररहितया भवितुम्—अवस्थातुं न कल्पते इति पूर्वेण सम्बन्धः, साध्व्या वस्त्ररहितया न भवितव्यम्—साध्वी वस्त्ररहिता न भवेदिति भावः । अनेन साध्वीनां जिनकल्पो निषिद्ध इत्यवगन्तव्यम्, तासां तादृशसंहननाभावात् । तरुणस्तेनकादिकृतोपसर्गजन्ये भये उपस्थिते तन्निवारणसामर्थ्याऽभावात्साध्वी वस्त्रवर्जिता भवितुं न शक्नोतीति तस्या अचेलकत्वं भगवता निषिद्धम् । वस्त्ररहितां साध्वीं दृष्ट्वा स्त्रीशरीरस्य पुरुषमोहकस्वभावात् तरुणादिश्चतुर्थसेवनादिकं कर्त्तुं साहसं कुर्यात्, एवं यदा कुलटाऽपि तावद् व्यभिचारिणी अपि वस्त्ररहिता भवितुं नेच्छति तदा किमुत वक्तव्यं कुलीनानां साध्वीनां विषये, यत् न ताः कदापि वस्त्ररहिता भवितुं वाञ्छन्तीति तात्पर्यम् । पुनश्च अचेलकतां प्रतिपन्नानां श्रमणीनां लोकापवादनिन्दितानां तीर्थोच्छेदो भवति, वृत्तिश्च तासां दुर्लभा भवति । एवं विवस्त्रां श्रमणीमवलोक्य लोको वदति—"स्त्रीणां लज्जा विभूषणम्" इति वचनात् कुत्र गता आसां लज्जा ? इति प्रव्रज्यां ग्रहीतुम् अभिमुखीभूतानामपि प्रव्रज्याग्रहणतः परावर्त्तनं स्यात् । अन्यो वा कश्चित् प्रव्रज्याग्रहणतस्ता निवारयेत । लोकास्तत्कुटुम्बिजनान् एव कथयन्ति यत्—युष्मदीया दुहितरः स्नुषा वा याः पूर्वं चन्द्रसूर्यकिरणैरस्पृष्टगात्रा आसन् ताः सम्प्रति प्रव्रजितावस्थायां सर्वजनदृष्टिस्पृष्टगात्राः सर्वलोकपुरतो विवस्त्रा हिण्डन्ते, कीदृशी चैषा प्रव्रज्या ?, लोकैरेवमुक्ते तत्कुटुम्बिनो भूयस्ताः स्वगृहमानयन्ति । अनेन प्रवचनोड्डाहोऽवश्यम्भवी । इत्याद्यनेकदोषसंभवात् साध्वीभिरचेलाभिर्न भवितव्यमिति भावः ॥ सू० १९ ॥

पूर्वं निर्ग्रन्थीनामचेलकत्वं निषिद्धम्, सम्प्रति तासां पात्ररहितत्वं प्रतिषेधयितुमाह—'नो कप्पइ' इत्यादि ।

सूत्रम्—नो कप्पइ निग्गंथीए अपाइयाए होत्तए ॥ सू० २० ॥

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थ्या अपात्रिकया भवितुम् ॥ सू० २० ॥

चूर्णी—'नो कप्पइ' इति। नो कल्पते निर्ग्रन्थ्या अपात्रिकया पात्ररहितया भवितुम् अवस्थातुम्, पात्रराहित्ये आहारशौचादिक्रियाया अप्यसंभवेन लोकनिन्दासद्भावात्।

पात्रं विना यत्र तत्रैव साध्वीभिर्भोक्तव्यं स्यात्। लोको वदेत्—साध्वीभ्यः कोऽपि पात्रं न ददाति तेन इमा गोश्वानादिवत् यत्र कुत्रापि निर्लज्जा सती लब्धमाहारं भोक्तुमारभन्ते कीदृश आसां धर्मः? इति लोकापवादोऽवश्यम्भावीत्यतो निर्ग्रन्थ्या अपात्रिकया न भवितव्य-मिति भावः ॥ सू० २० ॥

पूर्वसूत्रे निर्ग्रन्थ्याः पात्रं विनाऽवस्थातुं न कल्पते इत्युक्तम्, सम्प्रति तस्या विवस्त्र-शरीरेण कायोत्सर्गनिषेधमाह—'नो कप्पइ' इत्यादि।

सूत्रम्—नो कप्पइ निग्गंथीए वोसट्ठकाइयाए होत्तए ॥ सू० २१ ॥

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थ्या व्युत्सृष्टकायिकया भवितुम् ॥ सू० २१ ॥

चूर्णी—'नो कप्पइ' इति। नो कल्पते निर्ग्रन्थ्या व्युत्सृष्टकायिकया—व्युत्सृष्टः शरीरवस्त्रादिममत्वत्यागेन परित्यक्तः कायो देहो यया सा व्युत्सृष्टकाया, सा एव व्युत्सृष्ट-कायिका, तया 'मया दिव्याद्युपसर्गाः सोढव्याः' इत्यभिग्रहं गृहीत्वा शरीराद् वस्त्रं पृथक् कृत्य समयप्रसिद्धेन योगविषयकाभिनवकायोत्सर्गेण स्थितया भवितुम्—अवस्थातुं न कल्पते, निर्ग्रन्थ्या उद्घाटितशरीरेण कायोत्सर्गं कर्तुं न कल्पते इति भावः। यतस्तथास्थितताया उदीर्ण-मोहप्रेरणया तरुणग्रहणादय उपसर्गाः पूर्वोक्ता एव भवन्ति, तेन ब्रह्मचर्यव्रतभङ्गप्रसङ्ग आप-तेत्, तस्मात् निर्ग्रन्थ्या विवस्त्रशरीरया कायोत्सर्गो न कर्त्तव्य इति भावः ॥ सू० २१ ॥

पूर्वं निर्ग्रन्थ्या विवस्त्रशरीरेण कायोत्सर्गः प्रतिषिद्धः, सम्प्रति निर्ग्रन्थ्या ग्रामादितो बहि-रातापनाग्रहणनिषेधं प्रतिपादयितुमाह—'नो कप्पइ' इत्यादि।

सूत्रम्—नो कप्पइ निग्गंथीए बहिया गामस्स वा णगरस्स वा खेडस्स वा कब्बडस्स वा पट्टणस्स वा मडंबस्स वा आगरस्स वा दोणमुहस्स वा आसमस्स वा सण्णिवेसस्स वा उड्ढं बाहाओ पगिज्झिय पगिज्झिय सूराभिमुहीए एगपाइयाए ठिच्चा आयावणाए आयावित्तए, कप्पइ से उवस्सयस्स अंतो वगडाए संघाडिपडिबद्धाए पलंबियबाहियाए समतलपाइयाए ठिच्चा आयावणाए आयावित्तए ॥ सू० २२ ॥

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थ्याः बहिः ग्रामस्य वा नगरस्य वा खेटस्य वा कर्व-टस्य वा पत्तनस्य वा मडम्बस्य वा आकरस्य वा द्रोणमुखस्य वा आश्रमस्य वा संनि-वेशस्य वा उर्ध्वं बाहू प्रगृह्य प्रगृह्य सूर्याभिमुख्याः एकपादिकायाः स्थित्वा आतापनया

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थ्या एकाकिन्या ग्रामानुग्रामं द्रोतुं वा वर्षावासं वा वस्तुम् ॥ सू० १८॥

चूर्णी—एवमेव एकाकिन्या निर्ग्रन्थ्या ग्रामानुग्रामम् एकस्माद् ग्रामाद् ग्रामान्तरं द्रोतुम् विहर्तुम्, तथा वर्षावासं चातुर्मास्यनिमित्तं वस्तुं न कल्पते ॥ सू० १८॥

पूर्वं निर्ग्रन्थ्या एकाकिनीत्वं निषिद्धम्, सम्प्रति श्रमणानामचेलकत्वस्य भगवता प्रतिपादितत्वेन काचित् श्रमणी चापि अचेलकत्वं कर्तुमिच्छेदतस्तासामचेलकत्वं प्रतिषेधयन्नाह—'नो कप्पइ' इत्यादि ।

सूत्रम्—नो कप्पइ निग्गंथीए अचेलियाए होत्तए ॥ सू० १९ ॥

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थ्या अचेलिकया भवितुम् ॥ सू० १९ ॥

चूर्णी—'नो कप्पइ' इति । नो कल्पते निर्ग्रन्थ्याः श्रमण्या अचेलिकया—चेलः वस्त्रं, न चेलो वस्त्रं यस्याः सा अचेला, अचेला एव अचेलिका वस्त्रवर्जिता, तया वस्त्ररहितया भवितुम्—अवस्थातुं न कल्पते इति पूर्वेण सम्बन्धः, साध्व्या वस्त्ररहितया न भवितव्यम्—साध्वी वस्त्ररहिता न भवेदिति भावः । अनेन साध्वीनां जिनकल्पो निषिद्ध इत्यवगन्तव्यम्, तासां तादृशसंहननाभावात् । तरुणस्तेनकादिकृतोपसर्गजन्ये भये उपस्थिते तन्निवारणसामर्थ्याऽभावात्साध्वी वस्त्रवर्जिता भवितु न शक्नोतीति तस्या अचेलकत्वं भगवता निषिद्धम् । वस्त्ररहितां साध्वीं दृष्ट्वा स्त्रीशरीरस्य पुरुषमोहकस्वभावात् तरुणादिश्चतुर्थसेवनादिकं कर्तुं साहसं कुर्यात्, एवं यदा कुलटाऽपि तावद् व्यभिचारिणी अपि वस्त्ररहिता भवितुं नेच्छति तदा किमुत वक्तव्यं कुलीनानां साध्वीनां विषये, यत् न ताः कदापि वस्त्ररहिता भवितुं वाञ्छन्तीति तात्पर्यम् । पुनश्च अचेलकतां प्रतिपन्नानां श्रमणीनां लोकापवादनिन्दितानां तीर्थोच्छेदो भवति, वृत्तिश्च तासां दुर्लभा भवति । एवं विवस्त्रां श्रमणीमवलोक्य लोको वदति—"स्त्रीणां लज्जा विभूषणम्" इति वचनात् कुत्र गता आसां लज्जा ? इति प्रव्रज्यां ग्रहीतुम् अभिमुखीभूतानामपि प्रव्रज्याग्रहणतः परावर्त्तनं स्यात् । अन्यो वा कश्चित् प्रव्रज्याग्रहणतस्ता निवारयेत् । लोकास्तत्कुटुम्बिजनान् एव कथयन्ति यत्—युष्मदीया दुहितरः स्नुषा वा याः पूर्वं चन्द्रसूर्यकिरणैरस्पृष्टगात्रा आसन् ताः सम्प्रति प्रव्रजितावस्थायां सर्वजनदृष्टिस्पृष्टगात्राः सर्वलोकपुरतो विवस्त्रा हिण्डन्ते, कीदृशी चैषा प्रव्रज्या ?, लोकैरेवमुक्ते तत्कुटुम्बिनो भूयस्ताः स्वगृहमानयन्ति । अनेन प्रवचनोड्डाहोऽवश्यम्भवी । इत्याद्यनेकदोषसंभवात् साध्वीभिरचेलाभिर्न भवितव्यमिति भावः ॥ सू० १९॥

पूर्वं निर्ग्रन्थीनामचेलकत्वं निषिद्धम्, सम्प्रति तासां पात्ररहितत्वं प्रतिषेधयितुमाह—'नो कप्पइ' इत्यादि ।

सूत्रम्—नो कप्पइ निग्गंथीए अपाइयाए होत्तए ॥ सू० २० ॥

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थ्या अपात्रिकया भवितुम् ॥ सू० २० ॥

चूर्णी—'नो कप्पइ' इति। नो कल्पते निर्ग्रन्थ्या अपात्रिकया पात्ररहितया भवितुम् अवस्थातुम्, पात्राराहित्ये आहारशौचादिक्रियाया अप्यसंभवेन लोकनिन्दासद्भावात्।

पात्रं विना यत्र तत्रैव साध्वीभिर्भोक्तव्यं स्यात्। लोको वदेत्—साध्वीभ्यः कोऽपि पात्रं न ददाति तेन इमा गोश्वानादिवत् यत्र कुत्रापि निर्लज्जा सती लब्धमाहारं भोक्तुमारभन्ते कीदृश आसां धर्मः? इति लोकापवादोऽवश्यम्भावीत्यतो निर्ग्रन्थ्या अपात्रिकया न भवितव्य-मिति भावः ॥ सू० २० ॥

पूर्वसूत्रे निर्ग्रन्थ्याः पात्रं विनाऽवस्थातुं न कल्पते इत्युक्तम्, संप्रति तस्या विवस्त्र-शरीरेण कायोत्सर्गनिषेधमाह—'नो कप्पइ' इत्यादि।

सूत्रम्—नो कप्पइ निग्गंथीए वोसट्ठकाइयाए होत्तए ॥ सू० २१ ॥

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थ्या व्युत्सृष्टकायिकया भवितुम् ॥ सू० २१ ॥

चूर्णी—'नो कप्पइ' इति। नो कल्पते निर्ग्रन्थ्या व्युत्सृष्टकायिकया—व्युत्सृष्टः शरीरवस्त्रादिममत्वत्यागेन परित्यक्तः कायो देहो यया सा व्युत्सृष्टकाया, सा एव व्युत्सृष्ट-कायिका, तया 'मया दिव्याद्युपसर्गाः सोढव्याः' इत्यभिग्रहं गृहीत्वा शरीराद् वस्त्रं पृथक् कृत्य समयप्रसिद्धेन योगविषयकाभिनवकायोत्सर्गेण स्थितया भवितुम्—अवस्थातुं न कल्पते, निर्ग्रन्थ्या उद्घाटितशरीरेण कायोत्सर्गं कर्तुं न कल्पते इति भावः। यतस्तथास्थिताया उदीर्ण-मोहप्रेरणया तरुणग्रहणादय उपसर्गाः पूर्वोक्ता एव भवन्ति, तेन ब्रह्मचर्यव्रतभङ्गप्रसङ्ग आप-तेत्, तस्मात् निर्ग्रन्थ्या विवस्त्रशरीरया कायोत्सर्गो न कर्त्तव्य इति भावः ॥ सू० २१ ॥

पूर्वं निर्ग्रन्थ्या विवस्त्रशरीरेण कायोत्सर्गः प्रतिषिद्धः, सम्प्रति निर्ग्रन्थ्या ग्रामादितो बहि-रातापनाग्रहणनिषेधं प्रतिपादयितुमाह—'नो कप्पइ' इत्यादि।

सूत्रम्—नो कप्पइ निग्गंथीए बहिया गामस्स वा णगरस्स वा खेडस्स वा कब्बडस्स वा पट्टणस्स वा मडंवस्स वा आगरस्स वा दोणमुहस्स वा आसमस्स वा सण्णिवेसस्स वा उड्ढं बाहाओ पगिज्झिय पगिज्झिय सूराभिमुहीए एगपाइयाए ठिच्चा आयावणाए आयावित्तए, कप्पइ से उव्वस्सयस्स अंतो वगडाए संघाडिपडिवद्धाए पलंवियवाहियाए समतलपाइयाए ठिच्चा आयावणाए आयावित्तए ॥ सू० २२ ॥

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थ्याः बहिः ग्रामस्य वा नगरस्य वा खेटस्य वा कर्बटस्य वा पत्तनस्य वा मडम्बस्य वा आकरस्य वा द्रोणमुखस्य वा आश्रमस्य वा संनिवेशस्य वा उर्ध्वं बाहू प्रगृह्य प्रगृह्य सूर्याभिमुख्याः एकपादिकायाः स्थित्वा आतापनया

आतापयितुम्, कल्पते तस्या उपाश्रयस्य अन्तर्वगडायां संघाटीप्रतिबद्धायाः प्रलम्बित-बाहायाः समतलपादिकायाः स्थित्वा आतापनया आतापयितुम् ॥ सू० २२ ॥

चूर्णी—'नो कप्पइ' इति । नो कल्पते निर्ग्रन्थ्याः किमित्याह–ग्रामादेर्बहिः प्रदेशे बाहू ऊर्ध्वीकृत्य सूर्याभिमुखीभूत्वा एकपादेन ऊर्ध्वीभूताया आतापनामातापयितुं न कल्पते इति निषेधसूत्रस्य संक्षेपार्थः । कथं कल्पते ? इति विधिसूत्रसंक्षेपार्थो यथा–ग्रामादेर्मध्ये उपाश्रय-भूमेरभ्यन्तरे संघाटयादिना समुचितावृतशरीरायाः बाहू अधोभागे प्रलम्ब्य समतलभूमिस्थितपाद-द्वयेन ऊर्ध्वस्थानेन स्थितायाः आतापनामातापयितुं कल्पते, इति निषेधविधिगर्भितस्य सूत्रस्य संक्षेपार्थः। विस्तरार्थो यथा–नो कल्पते न युज्यते निर्ग्रन्थ्याः श्रमण्याः ग्रामस्य वा बहिरि-त्यनेनान्वयः । एवं नगरस्य वा खेटस्य वा कर्वटस्य वा पत्तनस्य वा मडम्बस्य वा आकरस्य वा द्रोणमुखस्य वा आश्रमस्य वा संनिवेशस्य वा, तत्र–ग्रामः वृतिवेष्टितजननिवासरूपः, तस्य, आकरः–सुवर्णरत्नाद्युत्पत्तिस्थानम् तस्य, नगरम्–अष्टादशकरवर्जितम् तस्य, खेटं–धूलिप्राकारपरिक्षिप्तम् तस्य, कर्वटं–कुत्सितनगरम् तस्य, मडम्बं–सार्धक्रोशद्वयान्तर्ग्रामान्तररहितम् तस्य, द्रोणमुखं–जलस्थलपथोपेतो जननिवासः तस्य, पत्तनं समस्तवस्तुप्राप्तिस्थानम् तस्य, तद् द्विविधं भवति–जलपत्तन स्थलपत्तनं चेति, नौभिर्यत्र गम्यते तज्जलपत्तनं, यत्र च शकटादिभिर्गम्यते तत्स्थलपत्तनम् । यद्वा शकटादिभिर्नौभिर्वा यद् गम्यं तत् पत्तनं, यत् केवलं नौभिरेव गम्यं तत् पट्टनम् इति बोध्यम् । एषां ग्रामादीनां बहिः ऊर्ध्वम् उपरिभागे आकाशे बाहू–भुजौ प्रगृह्य–प्रगृह्य प्रकर्षेण कृत्वा सूराभिमुख्याः सूर्याभिमुखं स्थितायाः एकपादिकायाः ऊर्ध्वोत्थापितैकचरणायाः, एकं पादमाकुञ्चितं कृत्वा उत्थाप्य द्वितीयं पादं भूमौ संस्थाप्य एतादृशरूपेण स्थित्वा ऊर्ध्व-स्थानेन ऊर्ध्वोत्थापितशरीरेण स्थित्वा आतापनया आतापनरूपतपोविशेषेण आतापयितुम्–आता-पनां ग्रहीतुं न कल्पते इति पूर्वेण सम्बन्धः । तर्हि कथं कल्पते? इति तद्विधिं प्रदर्शयति–'कप्पइ से' इत्यादि, 'से' तस्या निर्ग्रन्थ्याः कल्पते उपाश्रयस्य अन्तर्वगडायां–प्राकाराभ्यन्तरे भित्त्याद्याच्छा-दितप्रदेशे 'वगडा'–शब्दोऽत्र गृहप्राकाररूपार्थवाचको देशीयो वर्त्तते, तस्या, अभ्यन्तरे, तत्रापि कीदृश्याः ? तत्राह–संघाटीप्रतिबद्धायाः संघाटीग्रहणेन अवग्रहानन्तकादीनां निर्ग्रन्थीप्रायोग्यानां समुचितोपकरणानां ग्रहणं भवति, तैः प्रतिबद्धायाः सुप्रावृतशरीरायाः, पुनः कीदृश्याः ? इत्याह–'पलंबियबाहाए' इति प्रलम्बितबाहायाः प्रलम्बिते अधोलम्बमाने बाहे–बाहू यस्याः सा प्रलम्बितबाहा अधोलम्बमानभुजा, तस्याः प्रलम्बीकृतभुजायाः समतलपादिकायाः समतलौ च तौ पादौ चेति समतलपादौ, तौ अस्याः स्त इति समतलपादिका तस्याः, पादद्वयं भूमौ समतया संस्थाप्य स्थितायाः स्थित्वा–पूर्वोक्तप्रकारेण स्थितिं कृत्वा आतापनया–आतापनाभिधतपो-विशेषेण आतापयितुम् आतापनां कर्तुं कल्पते । साधोर्वैपरीत्येन साध्वीनामातापनाग्रहणं कल्पते, स्त्रीशरीरस्य गोप्यत्वेन तथाविधातापनाग्रहणस्य भगवता प्ररूपितत्वादिति ॥सू० २२॥

पूर्वं निर्ग्रन्थीनां ग्रामादेर्बहिरातापनाग्रहणं निषिद्धम्, सम्प्रति तासामेव आसनाभिग्रह-विशेषाणां निषेधं प्रतिपादयितुमेकादशसूत्रीमाह–'नो कप्पइ' इत्यादि ।

सूत्रम्—नो कप्पइ निग्गंथीए ठाणायइयाए होत्तए ॥ सू०२३ ॥ नो कप्पइ निग्गंथीए पडिमट्ठाइयाए होत्तए ॥ सू०२४ ॥ नो कप्पइ निग्गंथीए णिसज्जियाए होत्तए ॥ सू०२५ ॥ नो कप्पइ निग्गंथीए उक्कुडुगासणियाए (ठाणुक्कुडियाए) होत्तए ॥ सू०२६ ॥ नो कप्पइ निग्गंथीए वीरासणियाए होत्तए ॥ सू०२७ ॥ नो कप्पइ निग्गंथीए दंडासणियाए होत्तए ॥ सू०२८ ॥ नो कप्पइ निग्गंथीए लगंडासणियाए होत्तए ॥ सू०२९ ॥ नो कप्पइ निग्गंथीए एगपासियाए होत्तए ॥ सू०३० ॥ नो कप्पइ निग्गंथीए उत्ताणासणियाए होत्तए ॥ सू०३१ ॥ नो कप्पइ निग्गंथीए ओमंथियाए होत्तए ॥ सू०३२ ॥ नो कप्पइ निग्गंथीए अंबखुज्जियाए होत्तए ॥ सू० ३३ ॥

छाया – नो कल्पते निर्ग्रन्थ्याः स्थानायतिकाया भवितुम् ॥ सू०२३ ॥ नो कल्पते निर्ग्रन्थ्याः प्रतिमास्थायिन्या भवितुम् ॥ सू०२१ ॥ नो कल्पने निर्ग्रन्थ्या नैषधिकाया भवितुम् ॥ सू०१५ ॥ नो कल्पते निर्ग्रन्थ्याः उत्कुट्ठकासनिकायाः (स्थानोत्कुट्ठकिकायाः) भवितुम् ॥ सू० १६ ॥ नो कल्पते निर्ग्रन्थ्या वीरासनिकाया भवितुम् ॥ सू० १७ ॥ नो कल्पते निर्ग्रन्थ्या दण्डासनिकाया भवितुम् ॥ सू०१८ ॥ नो कल्पते निर्ग्रन्थ्या लकुटास-भवितुम् ॥सू०१९॥ नो कल्पते निर्ग्रन्थ्या एकपार्श्विकाया भवितुम् ॥सू०२०॥ नो कल्पते निर्ग्रन्थ्या उत्तानासनिकाया भवितुम् ॥ सू०२१ ॥ नो कल्पते निर्ग्रन्थ्या अवाङ्मुख्या भवितुम् ॥ सू०२१ ॥ नो कल्पते निर्ग्रन्थ्या आम्रकुब्जिकाया भवितुम् ॥ सू० ३२ ॥

चूर्णी—'नो कप्पइ'इति । नो कल्पते निर्ग्रन्थ्याः स्थानायतिकायाः ऊर्ध्वस्थानेन आयता स्थानायता सैव स्थानायतिका तस्याः एतादृश्या भवितुम् अवस्थातुम् । 'अमुकसमयपर्यन्तम् कायोत्सर्गं करिष्यामि' इति बुध्या, पूर्वोक्ताकृत्या कायोत्सर्गं कर्त्तुम् न कल्पते इति भावः ॥ सू०२३ ॥ सम्प्रति प्रतिमाविषयकं सूत्रमाह–**'नो कप्पइ'** इत्यादि । एवं नो कल्पते निर्ग्रन्थ्याः प्रतिमा एकमासिक्यादिरूपा द्वादश, तासु तिष्ठतीति प्रतिमास्थायिनी द्वादशप्रतिमारूपाभिग्रहधारीणी, तस्या भवितुं न कल्पते । मासिक्यादिप्रतिमावहनं निर्ग्रन्थीनां नोचितम्, तासां धृतिबलादिराहित्येन संयमयात्रानिर्वाहाऽसद्भावात् ॥ सू० २४ ॥ एवं नैषधिकायाः निषद्या उपवेशनरूपा उपवेशन-प्रकारः, सा विद्यते यस्याः सा नैषधी, सैव नैषधिका, तस्याः निषद्यारूपं स्थानमाश्रित्य स्थिताया भवितुं निर्ग्रन्थ्या नो कल्पते । निषद्या च पञ्चविधा भवति, तथाहि–समपादपुता १, गोनिषधिका २, हस्तिशुण्डिका ३, पर्यङ्का ४, अर्द्धपर्यङ्का ५, चेति । तत्र समपादपुता यत्रोपविष्टायाः समौ पादौ पुतौ च स्पृशतः समपादपुता १, यस्यां गौरिवोपवेशनं भवति सा गोनिषधिका २, यस्यां पुताभ्यामुपविश्य एकं पादं हस्तिशुण्डमिवोत्थाप्य उपविश्यते

सा हस्तिशुण्डिका ३, पर्यङ्का-यत्र पर्यङ्काकृत्या उपविश्यते सा पर्यङ्का निषद्या ४, अर्द्धपर्यङ्का यस्यामेकं जानुं समुत्थाप्य उपविश्यते सा अर्द्धपल्यङ्का निषद्या प्रोच्यते ५ ।

एवंविधया पञ्चप्रकारया निषद्यया चरतीति नैषधिकी तस्याः, एतादृशनिषदनस्थानमाश्रित्य उपवेशनं साध्वीनां नोचितमिति ॥सू० २५॥ एवम् उत्कुटुकासनिकायाः उत्कुटुकं–भूमिस्थापितचरणतलद्वयरूपं 'उकडु' इति भाषाप्रसिद्धमासनम् उत्कुटुकासनं, तद् विद्यते यस्याः सा उत्कुटुकासनिका, तस्या उत्कुटुकासनेन समुपविष्टाया निर्ग्रन्थ्या भवितुं नो कल्पते, उत्कुटुकासनेन निर्ग्रन्थ्या नोपवेष्टव्यम् ॥ सू० २६ ॥ एवं वीरासनिकाया भवितुं नो कल्पते, वीरासनेन उपवेशनं साध्वीनां नोचितम् । वीरासनं नाम सिंहासने उपविष्टो भूमौ न्यस्तपादस्तिष्ठति, तदवस्थायां तत् सिंहासनं तदधोभागात् निस्सार्यते तदापि तदाकारेणैव अवस्थानं यत्र भवति तदासनं वीरासनं प्रोच्यते, तद् यस्या अस्तीति वीरासनिका, तस्या वीरासनिकाया भवितुं निर्ग्रन्थ्या नो कल्पते ॥ सू० २७ ॥ एव दण्डासनिकाया निर्ग्रन्थ्या भवितुं नो कल्पते । दण्डः यष्टिः, तद्वद् दीर्घमायतं पादप्रसारणेन भवति तद् आसनं दण्डासनं, तद् यस्या अस्ति सा दण्डासनिका तस्या दण्डासनिकाया भवितुम् अवस्थातुं निर्ग्रन्थ्या न कल्पते, ॥ सू० २८ ॥ एवं लकुटासनिकायाः, लकुटं कुब्जकाष्ठं तद्वत् कुब्जतया मस्तकपार्ष्णिकानां भुवि लगनेन पृष्ठस्य चालगनेन शयनम्, अथवा कुब्जीभूय शयनम्, एतादृशमासन यस्याः सा लकुटासनिका, तस्या लकुटासनिकाया निर्ग्रन्थ्या भवितुं नो कल्पते ॥ सू० २९ ॥ एवं **'ओमंथियाए** इति अवाङ्मुख्याः अवाङ् अधो मुखं यस्याः सा अवाङ्मुखी तस्या अधोमुखीभूताया भवितुम् अवस्थातुं निर्ग्रन्थ्या नो कल्पते ॥ सू० ३० ॥ एवम् एकपार्श्विकायाः–एकपार्श्वेन शायिन्याः तथाविधाभिग्रहविशेषेण शयितायाः साध्व्या भवितुं नो कल्पते ॥ सू० ३१ ॥ एवम् उत्तानासनिकायाः, उत्तानम् ऊर्ध्वमुखीभूय शयनम्, एतादृशमासनं यस्या सा उत्तानासनिका, तस्या उत्तानासनिकाया भवितुं साध्व्या नो कल्पते ॥ सू० ३२ ॥ एवम् आम्रकुब्जिकायाः–आम्राकारेण कुब्जीभूय स्थिताया निर्ग्रन्थ्या भवितुं नो कल्पते, यत्र मस्तकपादद्वयेन भूमिं स्पृशति मध्यशरीरमूर्ध्वं क्रियते तदासनम् आम्रकुब्जासनं प्रोच्यते, तदासनेन स्थातुं साध्व्या नोचितमिति भावः, प्रागुक्तयुक्तेः । एते एकादशसूत्रोक्ताः सर्वेऽपि अभिग्रहविशेषा निर्ग्रन्थीनां प्रतिषिद्धाः ॥ सू० ३३ ॥

पूर्वं निर्ग्रन्थीनां ब्रह्मचर्यव्रतरक्षणार्थमकल्प्या अभिग्रहविशेषाः प्रतिपादिताः, सम्प्रति तद्रक्षणार्थमेव निर्ग्रन्थीनाम् आकुञ्चनपट्टादयो दारुकदण्डकान्ता न कल्पन्ते, इति प्रतिपादयितुं प्रथमं तासाम् आकुञ्चनपट्टकं प्रतिषेधितुमाह–**'नो कप्पइ'** इत्यादि ।

सूत्रम्—नो कप्पइ निग्गंथीणं आकुंचणपट्टगं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥ सू० ३४ ॥

छाया--नो कल्पते निर्ग्रन्थीनाम् आकुञ्चनपट्टकं धारयितुं वा परिहर्त्तुं वा ॥सू०३४॥

चूर्णी—'**नो कप्पइ**' इति। नो कल्पते निर्ग्रन्थीनाम् आकुञ्चनपट्टकं, आकुञ्चनं-संकोचनम् अधःशरीरस्य संकोचनं तन्निमित्तं यत् पट्टकं वस्त्रम् पर्यस्तिकापट्टकमित्यर्थः, पर्यस्तिकाकरणनिमित्तं यत् पट्टकं वस्त्रं तत् निर्ग्रन्थीनां धारयितुं पार्श्वे स्थापयितुम्, परिहर्त्तुम्-परिभोक्तुं न कल्पते। पर्यस्तिकां कुर्वाणां साध्वीं दृष्ट्वा लोको वदति-अहो कीदृशोऽस्या गर्वः या पर्यस्तिकां बद्ध्वा समुपविशति। पर्यस्तिकां कुर्वाणा अपावृताऽपि भवेत् तेन ब्रह्मचर्यव्रतभङ्ग-संभवः लोकापवादो वा भवेत्। आकुञ्चनपट्टकं तासाम् अनुपधिः, य उपकारे वर्त्तते स उपधिरुच्यते, अन्यः अनुपधिः, तच्च तासामुपकारे नायातीति कृत्वा अनुपधिः। अनुपधिभूतस्योपकरणस्य धारणे तीर्थकृदाज्ञाभङ्गः। तत्प्रत्युपेक्षणादौ सूत्रार्थस्वाध्यायहानिर्भवेत् तस्मात् आकुञ्चनपट्टकं साध्वीनां नानुज्ञातम् ॥ सू० ३४ ॥

पूर्वं निर्ग्रन्थीनामाकुञ्चनपट्टकं निषिद्धम्, तत् निर्ग्रन्थानां कल्पते इति निर्ग्रन्थसूत्रमाह-"**कप्पइ**' इत्यादि।

सूत्रम्—कप्पइ निग्गंथाणं आकुंचणपट्टगं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥सू०३५॥

छाया— कल्पते निर्ग्रन्थानाम् आकुञ्चनपट्टकं धारयितुं वा परिहर्त्तुं वा ।सू०३५।

चूर्णी—'**कप्पइ**' इति। कल्पते निर्ग्रन्थानां श्रमणानाम् आकुञ्चनपट्टकं पर्यस्तिका-पट्टकं पर्यस्तिकाकरणार्थं वस्त्रं धारयितुं-संग्रहीतुं परिहर्त्तुं परिभोक्तुं कल्पते, श्रमणानां पूर्वोक्त-दोषानापत्तेः, किन्तु पर्यायज्येष्ठपुरत आकुञ्चनपट्टासनेन स्थातुम् न कल्पते ॥ सू० ३५ ॥

पूर्वं निर्ग्रन्थीनां निर्ग्रन्थानां पर्यस्तिकापट्टधारणे निषेधो विधिश्च प्रदर्शितः, सम्प्रति उभयेषां सावष्टम्भासने उपवेशनस्य निषेधं विधिं च प्रदर्शयितुमाह-'**नो कप्पइ**' '**कप्पइ**' इत्यादि।

सूत्रम्—नो कप्पइ निग्गंथीणं सावस्सयंसि आसणंसि चिट्ठित्तए वा निसीइत्तए वा ॥ सू० ३६ ॥ कप्पइ निग्गंथाणं सावस्सयंसि आसणंसि चिट्ठित्तए वा निसीइत्तए वा ॥ सू० ३७ ॥

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थीनां सावश्रये आसने स्थातुं वा निषत्तुं वा ॥ सू० ३६॥
कल्पते निर्ग्रन्थानां सावश्रये आसने स्थातुं वा निषत्तुं वा ॥ सू० ॥ ३७॥

चूर्णी—'**नो कप्पइ**' इति। नो कल्पते निर्ग्रन्थीनां सावश्रये-सावश्रयं नाम यस्यासनस्य पृष्ठतोऽवष्टम्भो भवति तादृशे सावष्टम्भे आसने स्थातुम् ऊर्ध्वस्थानेन स्थितिं कर्त्तुम्, निषत्तुं-तदुपरि उपवेष्टुं न कल्पते इति सम्बन्धः, एतादृशासने उपविष्टानां श्रमणीनां पूर्वोक्तो गर्वः सिद्धयति, स्त्रीशरीरत्वेन तरुणानां मोहजनकत्वं वा भवति तस्मात् निर्ग्रन्थीनां सावष्टम्भासने

स्थातुं निषत्तुं वा नोचितमिति ॥ सू० ३६ ॥ सम्प्रति निर्ग्रन्थविषये विधिसूत्रमाह–'कप्पइ' इति । कल्पते निर्ग्रन्थानां सावश्रये सावष्टम्भे आसने स्थातुं निषत्तुं वा, यतो ग्लानत्वादिकारणान्निरालम्बमुपवेष्टुमशक्तानां निर्ग्रन्थानां सावष्टम्भमासनं कल्पते, निर्ग्रन्थीनां सर्वथा न कल्पते इति भावः ॥ सू० ३७ ॥

पूर्वं सावष्टम्भासनविषये निर्ग्रन्थीनां निषेधसूत्रं, निर्ग्रन्थानां च विधिसूत्रमुक्तम्, सम्प्रति सविषाणपीठफलकविषये तदेवाह–'नो कप्पइ' 'कप्पइ' इत्यादि ।

सूत्रम्—नो कप्पइ निग्गंथीणं सविसाणंसि पीढंसि वा फलगंसि वा चिट्ठित्तए वा निसीइत्तए वा ॥ सू० ३८ ॥ कप्पइ निग्गंथाणं सविसाणंसि पीढंसि वा फलगंसि वा चिट्ठित्तए वा निसीइत्तए वा ॥ सू० ३९ ॥

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थीनां सविषाणे पीठे वा फलके वा स्थातुं वा निषत्तुं वा ॥ सू० ॥ ३८ ॥ कल्पते निर्ग्रन्थानां सविषाणे पीठे वा फलके वा स्थातुं वा निषत्तुं वा ॥ सू० ॥ ३९ ॥

चूर्णी—'नो कप्पइ' इति । नो कल्पते निर्ग्रन्थीनां सविषाणे–विषाणं शृङ्गम्, विषाणमिव विषाणं शृङ्गाकार उपर्युत्थितः काष्ठविशेषः, तेन सहितं सविषाणम्–तस्मिन् सविषाणे सशृङ्गे पीठे काष्ठनिर्मितासनविशेषे, फलके वा शयनपट्टके स्थातुम् ऊर्ध्वस्थानेन निषत्तुम्–उपवेष्टुं न कल्पते इति सम्बन्धः । यस्य पीठस्य फलकस्य वा उपरि शोभार्थं शृङ्गाकारम् ऊर्ध्वलम्बकाष्ठं निर्मितं भवेत् तादृशे पीठे फलके वा स्थाननिषीदनकरणे ऊर्ध्वकाष्ठरूपतदाकारावलोकनेन उदीर्णमोहत्वेन भुक्तभोगिनीनां निर्ग्रन्थीनां पादकर्मस्मृतिकरणादिदोषसंभवात्, अभुक्तभोगिनीनां च कौतुकसंभवात् निर्ग्रन्थीनां सविषाणपीठफलकादौ स्थानादि कर्तुं नोचितमिति भावः ॥ सू० ३८ ॥ विधिमाश्रित्य निर्ग्रन्थसूत्रमाह–'कप्पइ' इति । पूर्वोक्ते सविषाणे पीठे वा फलके वा स्थातुं निषत्तुं वा निर्ग्रन्थानां कल्पते, श्रमणानां पूर्वोक्तदोषानापत्तेः ॥ सू० ३९ ॥

पूर्वं सविषाणपीठफलकविषये निर्ग्रन्थीनां निषेधसूत्रम्, निर्ग्रन्थानां च विधिसूत्रं प्रतिपादितम्, सम्प्रति सवृन्तकालाबुविषये तदेव सूत्रद्वयमाह–'नो कप्पइ' 'कप्पइ' इत्यादि ।

सूत्रम्—नो कप्पइ निग्गंथीणं सवेंटगं लाउयं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥ सू० ४० ॥ कप्पइ निग्गंथाणं सवेंटगं लाउयं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥ सू० ४१ ॥

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थीनां सवृन्तकम् अलाबु धारयितुं वा परिहर्तुं वा ॥ सू० ४० ॥ कल्पते निर्ग्रन्थानां सवृन्तकम् अलाबु धारयितुं वा परिहर्तुं वा ॥ सू० ४१ ॥

चूर्णी—'नो कप्पइ' इति। नो कल्पते निर्ग्रन्थीनाम् सवृन्तकम्–वृन्तसहितं नाल–युक्तम् अलाबु–तुम्बिकाफलपात्रम् धारयितुम् संग्रहीतुम्, परिहर्तुम् पानादौ उपभोक्तुम्। सविषाणपीठफलकवदत्रापि बहिर्निस्सृतोर्ध्वाकारावलोकनेन भुक्तभोगिनीनामभुक्तभोगिनीनां निर्ग्रन्थीनां पूर्वोक्तस्मृतिकरणकौतुकादिदोषसंभवात्॥सू० ४०॥ निर्ग्रन्थविषयकं विधिसूत्रमाह–'कप्पइ' इति। कल्पते निर्ग्रन्थानां तदेव सवृन्तकं तुम्बीपात्रं धारयितुं वा परिहर्तुं वा, निर्ग्रन्थानां पूर्वोक्तदोषासंभवात्॥सू० ४१॥

पूर्वं सवृन्तकाऽलाबुपात्रधारणे निषेधसूत्रं विधिसूत्रं च निर्ग्रन्थीनिर्ग्रन्थानां क्रमेण प्रतिपादितम्, सम्प्रति निर्ग्रन्थीनिर्ग्रन्थद्वयमाश्रित्य तदेव सूत्रद्वयमाह–'नो कप्पइ' 'कप्पइ' इत्यादि।

सूत्रम्—नो कप्पइ निग्गंथीणं सवेंटियं पायकेसरियं धारित्तए वा परिहरित्तए वा॥ सू० ४२॥ कप्पइ निग्गंथाणं सवेंटियं पायकेसरियं धारित्तए वा परिहरित्तए वा॥ सू० ४३॥

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थीनां सवृन्तिकां पात्रकेसरिकां धारयितुं वा परिहर्तुं वा॥ सू० ४२॥ कल्पते निर्ग्रन्थानां सवृन्तिकां पात्रकेसरिकां धारयितुं वा परिहर्तुं वा॥ सू०॥ ४३॥

चूर्णी—'नो कप्पइ' इति। नो कल्पते निर्ग्रन्थीनां सवृन्तिकां वृन्तसहितां लम्बाकारेण वृन्तवद् वृन्तम् उपरिलम्बदण्डिकारूपं, तेन सहितां सवृन्तिकाम् पात्रकेसरिकाम्–पात्रप्रोञ्छनार्थं प्रमार्जनिकां लम्बदण्डिकाप्रतिबद्धदशिकामयीं प्रमार्जनिकां धारयितुम् उपकरणबुद्ध्या पार्श्वे स्थापयितुम्, परिहर्तुम्–परिभोक्तुं न कल्पते॥ सू० ४२॥ निर्ग्रन्थानधिकृत्य विधिसूत्रमाह–'कप्पइ' इति, कल्पते निर्ग्रन्थानां सवृन्तिकां पात्रकेसरिकां पात्रप्रोञ्छनप्रमार्जनिकां धारयितुं वा परिहर्तुं वा कल्पते॥ सू० ४३॥

पूर्वं पात्रकेसरिकाविषयं सूत्रद्वयं प्रतिपादितम्, सम्प्रति दारुदण्डकपादप्रोञ्छनविषयं तदेव सूत्रद्वयमाह–'नो कप्पइ' 'कप्पइ' इत्यादि।

सूत्रम्—नो कप्पइ निग्गंथीणं दारुदंडयं पायपुंछणं धारित्तए वा परिहरित्तए वा॥ सू० ४४॥ कप्पइ निग्गंथाणं दारुदंडयं पायपुंछणं धारित्तए वा परिहरित्तए वा॥ सू० ४५॥

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थीनां दारुदण्डकं पादप्रोञ्छनकं धारयितुं वा परिहर्तुं॥ सू० ४४॥ कल्पते निर्ग्रन्थानां दारुदण्डकं पादप्रोञ्छनकं धारयितुं वा परिहर्तुं वा॥ सू० ४५॥

चूर्णी—'नो कप्पइ' इति। नो कल्पते निर्ग्रन्थीनां दारुदण्डक दारुमयदण्डिकायुक्तं पादप्रोञ्छनकं दारुमयदण्डिकाया अग्रभागे ओर्णिका दशिका बध्यन्ते तादृशं पादप्रोञ्छनार्थं

प्रमार्जनिकारूपम् न कल्पते इति भावः ॥ सू० ४४ ॥ निर्ग्रन्थविषये विधिसूत्रमाह–'कप्पइ' इति । कल्पते निर्ग्रन्थानां दारुदण्डकं काष्ठमयदण्डिकायुक्तं पादप्रोञ्छनकम् दण्डोपरिभागवद्धदशिकासमूहं पादप्रोञ्छनार्थं प्रमार्जनिकारूप धारयितुं परिभोक्तुं वा कल्पते ॥ सू०४५॥

पूर्वं ब्रह्मचर्यव्रतरक्षणार्थं विशेषतः श्रमणीमधिकृत्य एकाकिनी विहारादिदारुदण्डकपादप्रोञ्छनधारणपर्यन्तवक्तव्यता प्रतिपादिता, सम्प्रति तस्यैव व्रतस्य रक्षणार्थं निर्ग्रन्थनिर्ग्रन्थीद्वयमधिकृत्य मोकसूत्रमाह–'नो कप्पइ' इत्यादि ।

सूत्रम्—नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अन्नमन्नस्स मोयं आपिवित्तए वा आयमित्तए वा नन्नत्थ गाढागाढेहिं रोगायंकेहिं ॥ सू० ४६ ॥

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा अन्योन्यस्य मोकम् आपातुं वा आचमितुं वा नान्यत्र गाढागाढेभ्यो रोगातङ्केभ्यः ॥ सू० ४६ ॥

चूर्णी—'नो कप्पइ' इति । नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा श्रमणश्रमणीनां अन्योन्यस्य–परस्परस्य–साधोः–साध्व्याः साध्व्याश्च साधोः, इत्येवम् एकद्वितीययोः मोकम्–प्रस्रवणम् आपातुं आचमितुं वा न कल्पते, परस्परमोकग्रहणे वशीकरणादिदोषसंभवात् । किं सर्वथा न कल्पते ? इत्याह–'नन्नत्थ' इति नान्यत्र, अन्यत्र न, कुत्र न ? इत्याह–'गाढागाढेहिं' इति । गाढागाढेभ्यः रोगातङ्केभ्योऽन्यत्र न, गाढागाढा इत्यत्यन्तगाढाः कष्टसाध्या रोगातङ्काः–रोगाः–व्याधयः, ते च ते आतङ्काश्च कृच्छ्रजीवितकारित्वात् रोगातङ्काः कष्टसाध्या व्याधयः सर्पमण्डूकादिदशनरूपाः, अथवा रोगाः–रक्तविकारपामादिरूपाः, आतङ्काः–सद्योघातिनः सर्पादिविषयोनिहृदयशूलादय', रोगाश्च आतङ्काश्चेति रोगातङ्काः, तेभ्योऽन्यत्र निर्ग्रन्थनिर्ग्रन्थीनां मोकं परस्परमापातुम् , आचमितुं वा न कल्पते, अनेनायातम्–गाढागाढरोगातङ्ककारणे कल्पते, तदेवम्–सर्पादिविषं पामादिरक्तविकाररोगश्च नरमूत्रेण शाम्यति, तदुक्तं भावप्रकाशे—

"नरमूत्र गरं हन्ति, सेवितं तद् रसायनम् ।
रक्तपामाहरं तीक्ष्णं, सक्षारलवणं स्मृतम् ॥
गोऽजाऽविमहिषीणां तु, स्त्रीणां मूत्रं प्रशस्यते ।
खरोष्ट्रेभनराश्वानां, पुंसां मूत्रं हितं स्मृतम् ॥ सू० ४६ ॥"

पूर्वं मोकसूत्रं प्ररूपितम्, पानप्रसङ्गात् पर्युषिताहारविषयं सूत्रमाह—'नो कप्पइ' इति ।

सूत्रम्—नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा परियासियं भोयणजायं जाव तयप्पमाणमेत्तं वा भूइप्पमाणमेत्तं वा तोयबिंदुप्पमाणमेत्तं वा आहारं आहरित्तए नन्नत्थ गाढागाढेहिं रोगायंकेहिं ॥ सू० ४७ ॥

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा परिवासितं भोजनजातं यावत् त्वचाप्रमाणमात्रमपि भूतिप्रमाणमात्रमपि तोयविन्दुप्रमाणमात्रमपि आहारम् आहर्तुम्, नान्यत्र गाढागाढेभ्यः रोगातङ्केभ्यः ॥ सू० ४७ ॥

चूर्णी—'नो कप्पइ' इति। नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा परिवासितम् संगृहीतं प्रथमप्रहरे आनीतं चतुर्थप्रहरप्राप्तं भोजनजातम् अशनादिचतुर्विधं यावत्—न्यूनान्यूनम्, तत् कियदित्याह—'तयप्पमाणमेत्तं वा' इति, त्वक्प्रमाणमात्रमपि तिलतुषत्रिभागमात्रमपि, एतच्चाशनस्य घटते। भूतिप्रमाणमात्रमपि, भूतिः—भस्म भूतिशब्देन भस्मचप्पुटिका गृह्यते तेन भूतिचप्पुटिकामात्रमपि इत्यर्थो बोध्यः संयोजिताङ्गुष्ठतर्जनीभ्यां गृहीतं द्रव्यं भूतिप्रमाणमात्रं कथ्यते, तच्च सक्तुकादीनां शुष्कचूर्णद्रव्यादीनां च घटते। तोयबिन्दुप्रमाणमात्रमपि पानकद्रव्यस्य बिन्दुप्रमितमपि परिवासितं प्रथमप्रहरस्थापितस्य चतुर्थप्रहरः प्राप्तः, तादृशम् आहारम्—किमपि भोज्यपेयपदार्थजातम् आहर्तुम् - भोक्तुं न कल्पते इति। यद्वा परिवासितं रजन्यां स्थापितं पूर्वोक्तप्रमाणमात्रमपि आहारं भोक्तुं न कल्पते। रजन्यां स्थापितवस्तुमात्रस्य मुनीनां परिभोगो न कल्पते, तस्य सन्निधिसंचयदोषापत्तेः, सन्निधिसंचये साधुत्वमपि नश्यति, उक्तञ्च-दशवैकालिकसूत्रे षष्ठाध्ययने—

"लोहस्सेसणुप्फासे, मन्ने अन्नयरामवि।
जे सिया संनिहिकामे, गिही पव्वइए न से ॥ गा० १९ ॥"

लोभस्य एष अनुस्पर्शः, मन्ये अन्यतरोऽपि।
यः स्यात् संनिधिकामः गृही प्रव्रजितो न सः ॥ गा० १९ ॥ इतिच्छाया ॥

संक्षेपार्थः—'मन्ये' इति भगवद्वाक्यम्, मन्ये अहं निश्चिनोमि अन्यतरोऽपि बहूनां मध्ये एकः एषः लोभस्य अनुस्पर्शः प्रभावः, लोभस्य बहूनां प्रभावाणां मध्ये एष पूर्वोक्तः संनिधिरूप एकः प्रभावोऽस्ति, एवमहं मन्ये, अतः यः संनिधिकामः—संनिधिवाञ्छकः स्यात् सः गृही—गृहस्थ एव मन्तव्यः न तु सः प्रव्रजितः—साधुरिति। इत्येवं भगवद्वचनात् परिवासितमाहारजातं निर्ग्रन्थनिर्ग्रन्थीनां भोक्तुं न कल्पते इति भावः। किं सर्वथा न कल्पते? इत्यपवादमाह—'नन्नत्थ' इत्यादि, नान्यत्र—अन्यत्र न, केभ्यः? इत्याह—गाढागाढेभ्यो रोगातङ्केभ्यः गाढागाढरोगातङ्कान् विहाय, अन्यत्र न कल्पते इत्यर्थः ॥ सू० ४७॥

पूर्वं परिवासिताहारनिषेधसूत्रं प्रोक्तम्, सम्प्रति परिवासितालेपननिषेधसूत्रं प्रतिपादयति—'नो कप्पइ' इत्यादि।

सूत्रम्—नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा परिवासिएणं आलेवणजाएणं आलिंपित्तए वा विलिंपित्तए वा, नन्नत्थ गाढागाढेहिं रोगायंकेहिं ॥ सू० ४८ ॥

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा परिवासितेन आलेपनजातेन आलेपयितु वा विलेपयितुं वा, नान्यत्र गाढागाढेभ्यः रोगातङ्केभ्यः ॥ सू० ४८ ॥

चूर्णी—'नो कप्पइ' इति। नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीना वा परिवासितेन—प्रथमप्रहरगृहीतचतुर्थप्रहरप्राप्तेन आलेपनजातेन केनापि लोध्रादिनिर्मितालेपनेन आलेपयितुं

व्रणादिषु किञ्चिद् एकवारम् आलेपनं कर्त्तुं विलेपयितुं–विशेषेण लेपयितुं अनेकवारम् न कल्पते इति सम्बन्धः । किं सर्वथैव न कल्पते ? इत्याह—'नन्नत्थ' इत्यादि, नान्यत्र गाढागाढेभ्यो रोगातङ्केभ्यः गाढागाढेभ्यः अत्यन्तप्रगाढेभ्यः भयङ्करेभ्यः रोगातङ्केभ्यः सर्पादि-विषव्रणसद्योघातिक्षुद्रव्रणप्रभृतिप्राणघातकरोगरूपातङ्केभ्यः अन्यत्र न कल्पते, पूर्वोक्तकारणे कल्पते इति भाव. ॥ सू० ४८ ॥

पूर्वं परिवासितालेपनेनाऽऽलेपननिषेधः प्रतिपादितः, तत्प्रसङ्गात् सम्प्रति परिवासित-तैलादिना गात्राभ्यङ्गनम्रक्षणनिषेधं प्रतिपादयितुमाह— नो कप्पइ' इति ।

सूत्रम्—नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा परिवासिएणं तेल्लेण वा घएण वा णवणीएण वा वसाए वा गायाइं अब्भंगित्तए वा मक्खित्तए वा नन्नत्थ गाढागाढेहिं रोगायंकेहिं ॥ सू० ४९ ॥

छाया – नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा परिवासितेन तैलेन वा घृतेन वा नवनीतेन वा वसया वा गात्राणि अभ्यङ्क्तुं वा म्रक्षितुं वा, नान्यत्र गाढागाढेभ्यः रोगातङ्केभ्यः ॥ सू० ४९ ॥

चूर्णी—'नो कप्पइ' इति । नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा परिवासितेन—प्रथमप्रहरानीतचतुर्थप्रहरप्राप्तेन तैलेन वा—तिलसर्षपादिजन्यस्निग्धद्रवपदार्थजातेन, घृतेन वा प्रसिद्धेन, नवनीतेन वा—म्रक्षणेन 'मक्खन' इति भाषाप्रसिद्धेन, वसया वा स्निग्धरसविशेषेण वा गात्राणि हस्तपादमुखाद्यङ्गानि अभ्यङ्क्तुं वा— प्रचुरतैलादिना उद्वर्त्तयितुम्, म्रक्षितु वा स्वल्पेन तैलादिना म्रक्षण कर्त्तुं वा न कल्पते इति पूर्वेण सम्बन्ध. । यद्येवं परिवासितेन तैलादिना गात्राणा-मभ्यङ्गनं म्रक्षण च न कल्पते तर्हि अपरिवासितेन तत्तत्प्रहरानीतेन तत्तत्प्रहरेऽभ्यङ्गनं म्रक्षणं च निर्ग्रन्थनिर्ग्रन्थीनां कल्पते, इत्यायातम् तत्राह—परिवासितेन अपरिवासितेन वा तैलादिना मुनीनां गात्राभ्यङ्गनं न कल्पते, तस्य शरीरविभूषासूचकत्वात्, शरीरविभूषाया भगवता निषिद्धत्वाच्च, उक्तं च".... ...किं विभूसाए कारणं" इति दशवैकालिसूत्रोक्तभगवद्वचनात् निर्ग्रन्थनिर्ग्रन्थीनां तैलाद्यभ्यङ्गनं न कल्पते । अथ च तैलाद्यभ्यङ्गने संयमविराधना आत्मविराधना चापि संभवेत्, तत्र संयमविराधना अभ्यङ्क्तिम्रक्षिते गात्रे सचित्तरजो लगति, तद्गन्धेन च पिपीलिकादित्रसप्राणिनो लगन्ति तेषां विराधनेन संयमविराधना भवेत्, पुनश्च तैलादिना चीवराणि मलिनीभवन्ति, तेषां धावनेऽधावने वा द्विधापि दोषाः समापतन्ति, यथा—यदि धाव्यन्ते तदा प्राणिनामुत्प्लावना भवेत् उपकरणशरीरयोर्बकुशत्वं भवति । यदि न धाव्यन्ते तदा निशिभक्तदोषापत्तिर्भवेत् । अभ्यङ्क्तिम्रक्षिते शरीर 'पादयोर्धूलिर्मा लगतु' इति बुद्धया पादौ वस्त्रादिना पिनह्यति तेन

गर्वनिर्मार्दवतादयो दोषा भवन्ति। पुनश्च यावत्कालं गात्रस्याभ्यङ्गादि करोति तावत्कालं सूत्रार्थपरिमन्थो भवेत्, मुनिना च सर्वसामयिकत्वात् क्षणमपि निरर्थकं न नेतव्यमिति भगवदाज्ञाभङ्गदोषोऽवश्यम्भावीति। आत्मविराधना-तैलादिनाऽभ्यङ्गिते गात्रे तद्गन्धेन समापतिताः पिपीलिकादिप्राणिनः क्षतं करोति, स्नैग्ध्येन पादं वा प्रस्खलतीत्यादिनाऽऽत्मविराधनासंभवः, तस्मात् परिवासितेनापरिवासितेन वा तैलाद्यभ्यङ्गनं निर्ग्रन्थनिर्ग्रन्थीनां न कल्पते इति भावः। किं सर्वथा न कल्पते? तत्राह-'**नन्नत्थ**' इत्यादि, नान्यत्र- अन्यत्र न, केभ्यः? इत्याह-गाढागाढेभ्य.-गाढदुःखजनकेभ्यः रोगातङ्केभ्यः, गाढागाढरोगातङ्कान् विहायान्यत्र न कल्पते, तथाविधे कारणे कल्पते, कारणं यथा-अध्वगमनेनातीव श्रान्तत्वम्, वातरोगेण कटिबन्धनम्, कच्छुपामादिपीडितत्वं च भवेत्, इत्यादिकारणे तैलाद्यभ्यङ्गनं यतनया कर्त्तव्यमिति भावः॥ सू० ४९॥

पूर्वसूत्रे गात्राणामभ्यङ्गन म्रक्षणं च निषिद्धम्, सम्प्रति--उपलेपनम् उद्वर्त्तनं च निषेधयितुमाह—'**नो कप्पइ**' इत्यादि।

सूत्रम्--नो कप्पइ निग्गथाण वा निग्गंथीण वा परिवासिएण कक्केण वा लोद्धेण वा पधूवणेण वा अन्नयरेण वा आलेवणजाएण गायाइं उवलित्तए वा उव्वट्टित्तए वा, नन्नत्थ गाढागाढेहिं रोगायंकेहिं॥ सू० ५०॥

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा परिवासितेन कल्केन वा लोध्रेण वा प्रधूपनेन वा अन्यतरेण वा-आलेपनजातेन गात्राणि उपलेपयितुं वा उद्वर्त्तयितुं वा, नान्यत्र गाढागाढेभ्यो रोगातङ्केभ्यः॥ सू० ५०॥

चूर्णी—'**नो कप्पइ**' इति। नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा परिवासितेन पर्युषितेन प्रथमप्रहरानीतचतुर्थप्रहरप्राप्तेन कल्केन वा उत्कालितसुगन्धिद्रव्यविशेषेण, लोध्रेण वा स्निग्धचूर्णरूपसुगन्धिद्रव्यविशेषेण, प्रधूपनेन वा अगुरुचन्दनप्रभृतिसुगन्धिधूपनद्रव्येण, एवम् अन्यतरेण वा एतादृशेन केनापि अनेकविधसुगन्धिद्रव्यमध्यादेकेन सुगन्धिद्रव्यरूपेण आलेपनजातेन आलेपनयोग्यद्रव्यविशेषेण गात्राणि—अङ्गानि मुखहस्तपादादीनि उपलेपयितुं वा सामान्येन लेपितानि कर्त्तुं वा, तथा उद्वर्त्तयितुम् उपमर्दयितुं वा न कल्पते इति सम्बन्धः। किं सर्वथा न कल्पते? इत्याह—'**नन्नत्थ**' इत्यादि, नान्यत्र गाढागाढेभ्यः रोगातङ्केभ्यः, गाढागाढेभ्यः अत्यन्तमरणादिभयजनकेभ्य' रोगातङ्केभ्यः, रोगरूपातङ्केभ्यः—कुक्षिशूलहृदयशूलमस्तकशूलरक्तविकारादिजनितविषमग्रन्थिप्रभृतिरूपेभ्यः, मरणादिभयजनकरोगातङ्कान् विहाय

निष्कारणं शरीरसौन्दर्याद्यर्थं सुगन्धिद्रव्यजातेन गात्राणामुपलेपनमुद्वर्त्तनं च मुनीनां न कल्पते, तादृशावस्थायां कारणे सति यतनया कल्पते इति भावः ॥ सू० ५० ॥

पूर्वं निर्ग्रन्थनिर्ग्रन्थीनां निष्कारणं गात्राभ्यङ्गनादि निषिद्धम्, सम्प्रति निष्कारणं गात्राभ्यङ्गनादिकारी कारणे चायतनया करणशीलः परिहारतपःप्रायश्चित्तभागी भवतीति परिहारकल्पसूत्रमाह—'परिहारकप्पट्ठिए' इत्यादि ।

सूत्रम्—परिहारकप्पट्ठिए भिक्खू बहिया थेराण वेयावडियाए गच्छेज्जा, से य आहच्च अइक्कमिज्जा, तं च थेरा जाणिज्जा अप्पणो आगमेणं अन्नेसिं वा अंतिए सुच्चा, तओ पच्छा तस्य अहालहुस्सए नामं ववहारे पट्ठवेयव्वे सिया ॥ सू०५१ ॥

छाया—परिहारकल्पस्थितो भिक्षुः बहिः स्थविराणां वैयावृत्त्याय गच्छेत्, स च आहत्य अतिक्रामेत्, तच्च स्थविराः जानीयु आत्मन आगमेन, अन्येषां वा अन्तिके श्रुत्वा, ततः पश्चात् तस्य यथालघुस्वको नाम व्यवहारः प्रस्थापयितव्यः स्यात् ॥ सू० ५१।

चूर्णी—'परिहारकप्पट्ठिए' इति । परिहारकल्पस्थितः परिहारतपो वहमानः भिक्षुः श्रमणः बहिः—स्थितस्थानादन्यत्र ग्रामनगरादौ, तत्रैव वा उपाश्रयान्तरे स्थितानां स्थविराणां वैयावृत्त्याय-वैयावृत्त्यनिमित्तम् उपलक्षणाद् नास्तिकादिवादिजयार्थं वा तादृशकार्यक्षमान्यश्रमणाभावे आचार्योपदिष्टो गच्छेत्, सच तत्र आहत्य—कदाचिद् अनिवार्यकारणवशाद् अज्ञानाद्वा अतिक्रामेत्—प्रतिज्ञाततपोविशेषम् उल्लङ्घयेत् तच्च तस्यातिक्रमणं दोषसेवनरूपम् स्थविराः येषां वैयावृत्त्यार्थमागतस्ते प्रधानाचार्याः आत्मनः स्वस्य आगमेन—आगमोक्तावध्यादिज्ञानेन, वा—अथवा अन्येषाम्—तत्पार्श्वस्थान्यमुनीनां गृहस्थानां वा अन्तिके समीपे श्रुत्वा जानीयु, तस्यातिक्रमणं स्वस्य ज्ञानविषयीकृतं स्यात् तदा ततः पश्चात् तज्ज्ञानानन्तरं तस्य वैयावृत्त्यार्थमागतस्य परिहारकल्पस्थितस्य श्रमणस्य 'अहालहुस्सए नामं' इति यथालघुस्वकनामकः यथालघुस्वकः यथासंभवं स्तोकप्रायश्चित्तरूपः व्यवहारः प्रस्थापयितव्यः दातव्यः स्यात् । तस्मै यथाशक्यलघुप्रायश्चित्तं दातव्यमिति भावः ॥ सू० ५१ ॥

पूर्वं परिहारकल्पसूत्रं कथितम्, सम्प्रति भक्तप्रसङ्गात् निर्ग्रन्थीनां पुलाकभक्तसेवनविधिमाह—'निग्गंथीए य' इत्यादि ।

सूत्रम्—निग्गंथीए य गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुप्पविट्ठाए अन्नयरे पुलागभत्ते पडिग्गाहिए सिया, सा य संथरिज्जा कप्पइ से तद्दिवसं तेणेव भत्तट्ठेणं पज्जोसवित्तए, नो से कप्पइ दुच्चंपि गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए पविसित्तए वा, सा य नो संथरिज्जा एवं से कप्पइ दुच्चं पि गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए पविसित्तए ॥सू०५२॥

॥ पंचमोद्देसो समत्तो ॥५॥

छाया—निर्ग्रन्थ्या च गाथापतिकुलं पिण्डपातप्रत्ययेन अनुप्रविष्टया अन्यतरत् पुलाकभक्तं प्रतिगृहीतं स्यात्, सा च संस्तरेत् कल्पते तस्याः तद्दिवसं तेनैव भक्तार्थेन पर्युषितुम्, नो तस्याः कल्पते द्वितीयमपि गाथापतिकुलं पिण्डपातप्रत्ययेन प्रवेष्टुम्, सा च नो संस्तरेत् एवं तस्याः कल्पते द्वितीयमपि गाथापतिकुलं पिण्डपातप्रत्ययेन प्रवेष्टुम् ॥ सू० ५२ ॥

॥ पञ्चमोद्देशः समाप्तः ॥ ५ ॥

चूर्णी—'निग्गंथीए य' इति। निर्ग्रन्थ्याश्च साध्व्याः गाथापतिकुलं गृहस्थगृहं पिण्डपातप्रत्ययेन भिक्षाग्रहणनिमित्तेन अनुप्रविष्टया—प्रवेशं कृतवत्या यदि अन्यतरत्—बहूनां मध्यादेकम्, पुलाकं त्रिविधं भवति—धान्यपुलाकम्, गन्धपुलाकम्, रसपुलाकं चेति, तत्र धान्यपुलाकं वल्लादि, गन्धपुलाकम्—एलालवङ्गजातिफलादीनि यानि उत्कटगन्धानि द्रव्याणि, तद्बहुलं भक्तम्, रसपुलाकम् क्षीर—द्राक्षा—खर्जूरादिरसरूपम्, एषां त्रयाणां पुलाकानां मध्याद् एकतरत् पुलाकभक्तम्, पुलाकम् असारमुच्यते यत आहारितानि एतानि त्रीण्यपि पुलाकानि निर्ग्रन्थीं संयमसाररहितां कुर्वन्ति प्रवचनं वा निस्सारं कुर्वन्ति ततस्तानि पुलाकानि प्रोच्यन्ते, एषां मदजनकस्वभावत्वात्। एतानि पुलाकानि निर्ग्रन्थीं मदविह्वलां कुर्वन्ति तेन सा संयमसाररहिता भवति। तेषां कदाचिद् ग्रहणे तद्विधिं प्रदर्शयति—तत् पूर्वोक्तं पुलाकभक्तं कदाचित्—अनाभोगादिकारणात् प्रतिगृहीतं स्वीकृतं स्यात् तदा यदि सा च निर्ग्रन्थी संस्तरेत् तेन प्रतिगृहीतेन पुलाकभक्तेन निर्वाहं कुर्यात् निर्वोढुं समर्था भवेत् तदा कल्पते तस्याः तं दिवसं तेनैव पूर्वानीतेनैव भक्तार्थेन पुलाकभक्तेन पर्युषितुम्—तं दिवस व्यत्येतुं कल्पते किन्तु नो—नैव तस्याः कल्पते द्वितीयमपि जिह्वालौल्येन द्वितीयवारमपि गाथापतिकुलं पिण्डपातप्रत्ययेन तद्ग्रहणवाञ्छया प्रवेष्टुम्। अथ सा च निर्ग्रन्थी कदाचित् तपश्चरणग्लानत्वादिना बुभुक्षाप्राचुर्यप्रसङ्गात् पूर्वानीतेन पुलाकभक्तेन भुक्तेन नो संस्तरेत् क्षुधापरीषहसहनसामर्थ्याभावात् तं दिवसं व्यत्ये समर्था न भवेत् तदवस्थायां तस्या निर्ग्रन्थ्याः कल्पते द्वितीयमपि वारं गाथापतिकुलं—गृहस्थगृहं पिण्डपातप्रत्ययेन भिक्षाग्रहणनिमित्तेन प्रवेष्टुं गृहस्थगृहे प्रवेशं कर्त्तुं कल्पते, तद्दिवसनिर्वाहसामर्थ्ये सति द्वितीयवारं भिक्षार्थं न गच्छेदिति भावः। एकवारगृहीतपुलाकभोजनेन यथाशक्यनिर्वाहसामर्थ्ये सति जिह्वालोलुपतया पुनरपि द्वितीयवारं भिक्षार्थं गृहस्थगृहे गच्छेत् तदा निर्ग्रन्थ्या आज्ञाभङ्गादयो दोषा भवन्ति, सयमात्मविराधना च भवेत्, तत्र स्त्रियाः सुकुमालप्रकृतित्वेन धान्यपुलाके भुक्ते उदरे वातप्रकोपः संजायते, गन्धपुलाके भुक्ते

निर्ग्रन्थी मदविह्वला भवति, रसपुलाके भुक्तेऽजीर्णादिरोगसंभवः, ततः सूत्रार्थस्वाध्यायादिपरिमन्थस्तेन संयमविराधना, वातप्रकोपादिना आत्मविराधना च स्पष्टैवेति भुक्तपुलाकभक्ता द्वितीयवारं गृहस्थगृहे भिक्षार्थं न प्रविशेदिति सूत्राशयः ॥ सू० ५२ ॥

इति श्री-विश्वविख्यात-जगद्वल्लभ-प्रसिद्धवाचक-पञ्चदशभाषाकलितललितकलापालापक-
प्रविशुद्धगद्यपद्यनैकग्रन्थनिर्मापक-वादिमानमर्दक-श्रीशाहूछत्रपतिकोल्हापुरराजप्रदत्त-
"जैनाचार्य"-पदभूषित-कोल्हापुरराजगुरु-बालब्रह्मचारि-जैनाचार्य-जैन-
धर्म-दिवाकर-पूज्यश्री-घासीलालव्रतिविरचितायां "बृहत्कल्पसूत्रस्य"
चूर्णि-भाष्या-ऽवचूरीरूपायां व्याख्यायां
पञ्चमोद्देशकः समाप्तः ॥५॥

अथ षष्ठोद्देशकः

व्याख्यातः पञ्चमोद्देशकः, साम्प्रतं षष्ठोद्देशको व्याख्यायते, तत्र पूर्वगतपञ्चमोद्देशकस्यान्तिमसूत्रेण सहास्य षष्ठोद्देशकप्रथमसूत्रस्य कः सम्बन्धः ? इत्यत्राह भाष्यकारः– **'भत्तग्गहण'** इत्यादि ।

भाष्यम्—भत्तग्गहणं पुव्वं, कहियं तस्स य अलाभसमयम्मि ।
तत्थावयणं भासइ, तस्स णिसेहोऽत्थ संबंधो ॥१॥

छाया—भक्तग्रहणं पूर्वं कथितं, तस्य चालाभसमये ।
तत्राऽवचनं भाषते, तस्य निषेधोऽत्र सम्बन्धः ॥१॥

अवचूरी— 'भत्तग्गहणं' इति । पूर्वं पञ्चमोद्देशकस्यान्तिमसूत्रे भक्तग्रहणं कथितम्, तस्य भक्तस्य च अलाभसमये साधुस्तत्र कदाचिद् अवचनं भाषते इति तस्यावचनस्यात्र षष्ठोद्देशकस्य प्रथमसूत्रे निषेधः प्रतिपादितः, एष एवात्र अस्मिन् षष्ठोद्देशके सम्बन्धः ॥१॥ इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य षष्ठोद्देशकस्येदमादिमं सूत्रम् – **नो कप्पइ** इत्यादि ।

सूत्रम्—नो कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा इमाइं छ अवयणाइं वदित्तए, तं जहा–अलियवयणे, हीलियवयणे, खिंसियवयणे, फरुसवयणे, गारत्थियवयणे, विउसवियं वा पुणो उदीरित्तए ॥ सू० १ ॥

छाया—नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा इमानि षट् अवचनानि वदितुम्, तद्यथा–अलीकवचम्, हीलितवचनम्, खिंसितवचनम्, परुषवचनम्, गार्हस्थ्यवचनम्, व्युपशमितं वा पुनरुदीरितुम् ॥ सू०१ ॥

चूर्णी—'नो कप्पइ' इति । नो कल्पते–न युज्यते **णिग्गंथाण वा** निर्ग्रन्थानां वा **णिग्गंथीण वा** निर्ग्रन्थीनां श्रमणीनां वा **इमाइं** इमानि–वक्ष्यमाणानि छ षट्–षट्संख्यकानि **अवयणाइं** अवचनानि, तत्र वक्तुं योग्यं वचनम् सद्वचनमित्यर्थः न वचनमित्यवचनं वदितुमयोग्यमसद्वचनादिकम् । कानि तान्यवचनानि ? तानि दर्शयितुमाह–'तंजहा' तद्यथा–**अलियवयणे** अलीकवचनं असत्यभाषणं तथाहि– असत्यवचनोच्चारण साधुभिः साध्वीभिर्वा न कर्तव्यमिति प्रथमम् १ । **हीलियवयणे** हीलितवचनम्, यस्मिन् वचने उच्चारिते साधूनां गृहस्थानां वा अवहेलनं भवति, तथाहि साधुविषये हीलितवचनं यथा–साधुः सन्नपि त्वं न सम्यक्तया चारित्रं पालयसि, यद्वा कस्त्व गणिनामाऽसि–गणी भवन्नपि न त्वं किमपि जानासि, केन त्वं गणिपदे स्थापितः ? इत्यादिकथनम्, तथा गृहस्थविषये हीलितवचनं जन्मजात्याद्युद्घाटनपूर्वकमपमाननं, यथा–त्वं जन्मकुलजात्यादिहीनोऽसि इत्यादि कथनम् २ । **खिंसियवयणे** खिंसितवचनम्–जन्मकर्माद्युद्घाटनपूर्वकं सरोषवचनम्, अथवा रे मूर्ख ! रे दास ! इत्यादि श्रुतिकटुवचनम् ३ । **फरुसवयणे** परुषवचनम्–कर्कशवचनम् रूक्षवचनमित्यर्थः, रे नीच ! रे अधम ! इत्यादि ४ । **गारत्थियवयणे** गार्हस्थ्यवचनम्–गृहस्थस्य भावो गार्हस्थ्यं तत्सम्बन्धि तद्वचनसदृश वचन गार्हस्थ्यवचनम्, हे तात ! हे पुत्र ! हे मातुल ! हे भागिनेय ! इत्यादि भाषणम्,

व्यापाराद्यारम्भसमारम्भवचनं वा ५ । **विउसवियं वा पुणो उदीरित्तए** व्युपशमितम्—उपशमित-क्लेशादिकं पुनरुदीरयितुं यद् वचनं तद्, यथा—स एव त्वं यः पूर्वं मामपमानितवान्, इत्यादि कथनम् ६ । एतानि षडलीकादिवचनानि न वक्तव्यानीति ॥ सू० १ ॥

प्रथमसूत्रे शोधिः कथिता, द्वितीयसूत्रे तु शोधेः प्रायश्चित्तविधिमाह—कप्पस्स इत्यादि ।

सूत्रम्—कप्पस्स छ पत्थारा पन्नत्ता, तं जहा—पाणाइवायस्स वायं वयमाणे, मुसावायस्स वायं वयमाणे, अदिन्नादाणस्स वायं वयमाणे, अविरइयावायं वयमाणे, अपुरिसवायं वयमाणे, दासवायं वयमाणे, इच्चेते छ कप्पस्स पत्थारे पत्थारेत्ता सम्मं अपडिपूरेमाणे तट्ठाणपत्ते सिया ॥ सू० २ ॥

छाया—कल्पस्य षट् प्रस्ताराः प्रज्ञप्ताः तद्यथा—प्राणातिपातस्य वादं वदन्, मृषावादस्य वादं वदन्, अदत्तादानस्य वादं वदन्, अविरतिकावादं वदन्, अपुरुषवादं वदन्, दासवादं वदन्, इत्येतान् षट् कल्पस्य प्रस्तारान् प्रस्तीर्य अप्रतिपूरयन् तत्स्थानप्राप्तः स्यात् ॥ सू० २ ॥

चूर्णी—'कप्पस्स' इति । कल्पस्य, तत्र कल्पो नाम साधूनामाचारः, तस्य तत्सम्बन्धिनां विशुद्धिकारणत्वात् **छ पत्थारा पन्नत्ता** षट्—षट्संख्यकाः प्रस्ताराः प्रायश्चितप्रकाराधिकारिणः प्रज्ञप्ता कथिताः, तानेव षड् भेदान् दर्शयितुमाह—**तंजहे**-त्यादि, **तंजहा**, तद्यथा **पाणाइवायस्स वायं वयमाणे** प्राणातिपातस्य जीवविराधनलक्षणस्य वादमाक्षेपवचनं वदन् षड्जीवनिकायविराधनवाचं वदन् साधुः प्रायश्चित्तस्य प्रस्तारोऽधिकारी कथ्यते इति प्रथमः १ । **मुसावायस्स वायं वयमाणे** मृषावादस्य वादं वदन् द्वितीयो भेदः २ । **अदिन्नादाणस्स वयं वयमाणे** अदत्तादानस्य वादं वदन् तृतीयः ३ । **अविरइयावयं वयमाणे** अविरतिकावादं वदन्, तत्र न विद्यते विरतिर्यस्याः सा अविरतिका—कुलटा स्त्री, तस्या वादं वाचं वा वदन् मैथुनाऽऽक्षेपं कुर्वन्नित्यर्थः, इति चतुर्थः ४ । **अपुरिसवायं वयमाणे** अपुरुषवादं वदन्, तत्र न पुरुषः अपुरुषः नपुंसकस्तस्य वादम् 'अयं नपुंसकः' इति वाचं वदन् पञ्चमः ५ । **दासवायं वयमाणे** दासवादं वदन्, यो न दासस्तम् 'अयं दासः' इति वदन् षष्ठो भेदः ६ । **इच्चेते छ कप्पस्स** इत्येतान् षट् कल्पस्य इति एवं प्रकारान् एतान् पूर्वोक्तान् षट्संख्यकान् प्राणातिपाताद्याक्षेपलक्षणान् कल्पस्य साध्वाचारस्य **पत्थारे पत्थारेत्ता** प्रस्तारान् प्रायश्चित्तस्य प्रकारान् प्रस्तीर्य **सम्मं अपडिपूरेमाणे** सम्यग् अप्रतिपूरयन्—अप्रमाणयन् अभ्याख्यानकारकः साधुः सम्यक् अप्रतिपूरयन् आक्षेपार्थस्यासद्भूततया अभ्याख्यानस्य समर्थनं कर्तुमशक्तः सन् **तट्ठाणपत्ते सिया** तत्स्थानप्राप्तः प्रायश्चित्तस्थानप्राप्तः प्रायश्चित्तभागी स्यात् ।

अत्र दर्दुर—शुनक—सर्प—मूषक—दृष्टान्ताः सन्ति । तत्र दर्दुरदृष्टान्तो यथा—कस्यचित् रत्नाधिकस्य साधोर्भिक्षाटनसमये मृतमण्डूककलेवरोपरि अकस्मात्पादः पतितः, सहागतेनाऽन्येन

साधुना गुरवे कथितं यदमुकेन साधुना मण्डूको मारितः, तदा आचार्यस्तं साधुं पृच्छेत् भोस्त्वया मण्डूको मारितः किम् ?, स यदि वदति न मारितः, अविराधने तेन सम्यक् प्रमाणमुपस्थापनीयम् अन्यथा स प्रायश्चित्तभागी भवत्येव। अथवा येनाक्षेपः कृतः स यदि प्रमाणेन स्वकीयमारोपणं न प्रमाणयितुं शक्नोति तदा स एव तत्स्थानप्राप्तो भवति, प्राणातिपाते यत् प्रायश्चित्तं तस्य प्रायश्चित्तस्य भागी स एवाभ्याख्यानकारको भवति । यः कोपि यस्य कस्याप्युपरि आरोपणं करोति प्राणातिपातादेः स यदि प्रमाणेन स्वकीयमभ्याख्यानं सिद्धं करोति तदा यस्योपरि आरोपणं कृतं स प्रायश्चित्तभागी भवति। यदि कदाचित् स स्वकृतमारोपणं प्रमाणयितुं न शक्तो भवति तदा अभ्याख्यानकारकस्यैव तादृशं प्रायश्चित्तं भवतीति प्राणातिपातवादविषयः प्रथमः प्रायश्चित्तप्रस्तारः। एवं शुनक–सर्प–मूषक–दृष्टान्ता भावनीयाः १ ।

मृषावादप्रस्तारो यथा–कस्मिंश्चिद् गृहस्थगृहेऽवमरात्निको रत्नाधिकेन सह भिक्षार्थं गतः सन् भोजनकालाभावेन प्रतिषिद्धः प्रत्यावृत्तः। पश्चान्मुहूर्त्तान्तरे रत्नाधिकेन कथितम्–इदानीं भोजनकालः संभाव्यतेऽतो व्रजामो भिक्षार्थम्, अवमेन कथितम्–प्रतिषिद्धोऽहं न व्रजामि । ततो रत्नाधिकेन गत्वा भिक्षा समानीता । सोऽवमः आचार्यायेदमालोचयति यथा–भदन्त ! अयं दीनकरुणवचनैर्याचते प्रतिषिद्धोऽपि गृहस्थगृहं प्रविशति, प्रविष्टश्च मुखप्रियाणि योगचिकित्सानिमित्तानि गृहस्थेभ्यो जल्पति, इत्येवमभ्याख्यानदानं मृषावादरूपो द्वितीयः प्रायश्चित्तप्रस्तारः २ ।

अदत्तादानप्रस्तारो यथा–एकत्र गृहेऽवमरात्निकेन यावद् भिक्षा गृहीता तावद् एको रत्नाधिकः कुत्रतो मोदकान् लब्ध्वाऽन्यस्मै अवमाय दत्तवान्, तदितरोऽवमस्तान् मोदकान् दृष्ट्वा प्रत्यावृत्त्य गुरुसमक्षं भणति–आलोचय त्वया रत्नाधिकेनादत्ता मोदका गृहीताः, इत्यभ्याख्यानदानमदत्तादानरूपस्तृतीयः प्रायश्चित्तप्रस्तारः ३ ।

अविरतिकावादप्रस्तारो यथा–कश्चिद् अवमरात्निको दशविध च समाचार्यां स्खलितो रत्नाधिकेन 'हे दुष्ट शिष्य ! स्खलितोऽसि' इत्यादिवाक्यतस्तर्जित आलोचयति–अय 'रत्नाधिकोऽह'–मिति गर्वेण मामस्खलितमपि तर्जयति कषायोदयतो मां प्रेरयतीत्यवसरं लब्ध्वा तथा करोमि येनायं लघुको भवतीति। ततोऽन्यदा द्वावपि भिक्षार्थं गतौ, भिक्षामानीय प्रत्यावृत्तौ मार्गे उष्णकालादिकारणवशाद् बुभुक्षितौ तृषितौ तत्रैवं चिन्तितवन्तौ–अत्र परिव्राजिकादेवकुले कुटङ्गे लतावृक्षाच्छादितस्थाने प्रथमालिकां–पूर्वं किञ्चिद् भोजन–कृत्वा पानीयं पास्यावः, इति चिन्तयित्वा सुखं स्थितौ, अत्रान्तरेऽवमरात्निकेन एका परिव्राजिका तदभिमुखमागच्छन्ती दृष्टा, लब्धोऽवसर इदानीमिति चिन्तयित्वा वदति–कुरुत भदन्ताः ? भवन्तः भोजनपानम्, अहं तु उच्चारार्थं गमिष्यामीति। एवमुक्त्वा शीघ्रमाचार्यसमीपे समागत्य मैथुनेऽभ्याख्यातुं भणति–भदन्त ! ज्येष्ठाऽऽर्येणाद्य सद्य इदानीं परिव्राजिकागृहे प्रतिसेवितमकार्यं

मैथुनलक्षणमित्यभ्याख्यानदानमविरतिकावादलक्षणश्चतुर्थः प्रायश्चित्तप्रस्तारः ४ ।

अपुरुषवादप्रस्तारो यथा-कोऽपि साधू रत्नाधिकेन दुष्प्रत्युपेक्षणादिस्खलने तर्जित-श्छिद्रान्वेषी भिक्षातो निवृत्त्य रत्नाधिकमुद्दिश्याचार्यं भणति—नूनमेष रत्नाधिकोऽपुरुषो नपुंसको वर्त्तते, आचार्येण प्रोक्तम् त्वया कथं ज्ञातम् ? तेनोक्तम्—ममैतस्य निजकैः कथितं यदयं नपुंसकः प्रव्राजितो भवतेति । ततो मयाऽपि ज्ञातम्—हसितस्थितचङ्क्रमितशरीरभाषादि-लक्षणैः 'अयं नपुंसकः' इति । एवमभ्याख्यानदानं पञ्चमोऽपुरुषवादरूपः प्रायश्चित्तप्रस्तारः ५ ।

दासवादप्रस्तारो यथा—पूर्ववदेव कोऽपि साधू रत्नाधिकमुद्दिश्याचार्यं प्रति भणति—अयं रत्नाधिको दासोऽस्ति । आचार्यैरुक्तम्-कथं जानासि ?, स प्राह—निजकैर्मम कथितं मयाऽपि ज्ञातं च यदसौ शीघ्रकोपशीलः उचितानुचितविवेकविकलां भाषां भाषते, इत्यादिलक्षणैः शरीरसंस्थानादिनाऽपि चास्य दासत्वमनुमीयते, इत्याद्यभ्याख्यानदानं दासवादरूपः षष्ठः प्रायश्चित्तप्रस्तारः ६ । एते षट् कल्पस्य प्रस्ताराः प्रायश्चित्तरचनाविशेषाः प्रतिपादिता इति ६ ।

अथ सूत्रव्याख्या—'इच्चेते' इत्यादि, इच्चेते इत्येतान् पूर्वोक्तान् छ **कप्पस्स पत्थारे** षट् कल्पस्य प्रस्तारान् **पत्थारेत्ता** प्रस्तीर्य यदि स प्रस्तारकोऽभ्याख्यानदायकः साधुः स्वदत्त-मभ्याख्यानम् **सम्मं अपडिपूरेमाणे** सम्यक् यथार्थतया अप्रतिपूरयन् **तट्ठाणपत्ते सिया** तत्स्थाप्राप्तः स्यात्, तत् प्राणातिपातादिकर्त्तुर्यत्स्थानं तत्स्थानं प्रायश्चित्तस्थानं प्राप्तो भवति । अयं भावः—यत् प्राणातिपातादिरूपेणाभ्याख्यानमन्योपरि येन दत्तं स तस्यासद्-भूततया स्वारोपिताभ्याख्यानस्य सत्यतया समर्थनं कर्तुं न शक्नोति तदा तस्यैव अभ्याख्यान दायकस्यैव प्राणातिपातादिकर्त्तुरिव प्रायश्चित्तस्थानं प्राप्तं भवति, आचार्येण तस्याऽभ्याख्यान-दायकस्यैव प्राणातिपातादिपापप्रायश्चित्तं दातव्यमिति । यदि अभ्याख्यानदायकोऽभ्याख्या-नदानविषये विवदमानो भवेत्तदा तस्य प्रतिविवादमुत्तरोत्तरं प्रायश्चित्तवृद्धिः कर्त्तव्या, तथाहि—प्रथमं मार्गे रत्नाधिकं—'भवता दर्दुरो मारितः' इति कथयित्वा ततो निवृत्त्याचार्यसमीप तत्कथनार्थं व्रजति तदा अभ्याख्यानदातृत्वेन तस्याभ्याख्यानदायकस्य मासलघुप्रायश्चित्तं भवति, ततः परं भणने मासगुरु । तस्य भणने यदि आचार्यो यस्योपर्यभ्याख्यानं प्राप्तं तं साधुमाहूय पृच्छति—किं त्वया दर्दुरो मारित. ? स कथयति—न मारितः, एवं तेन कथिते तस्याभ्याख्यानदायकस्य चतुर्लघुप्रायश्चित्तं भवति । तेन भूय. प्रच्छने प्रेरित आचार्यस्तं पुनः पृच्छति तदाऽपि पूर्व-वदेव 'न मारितः' इति कथने तस्याभ्याख्यानदातुश्चतुर्गुरु । पुनरवमो भणति यदि न विश्वासस्तदा तत्रोपस्थिता गृहस्थाः प्रष्टव्या., साधवो गृहस्थान् प्रष्टुं गच्छन्ति, पृष्टे सति षड्लघु, पृष्टा गृहस्था भणन्ति—नास्माभिरयं दर्दुरमारणं कुर्वन् दृष्टः, इति तै· कथने षड्गुरु, साधवः समा-गताः कथयन्ति नापद्रावितोऽनेन दर्दुर इति तदा छेदः ।

अथाभ्याख्यानदायको भणति—यन्नाम गृहस्था असंयता अलीकं सत्यं वा ब्रुवते नैतेषां वचनप्रत्ययः, एवं भणतो मूलम्। यदि स भणति गृहस्थाश्च यूयमेकत्र मिलिताः, अहं पुनरेकः कोऽन्यो मम पक्षे ? इति कथनेऽनवस्थाप्यम्। पुनर्गृहस्थान् भणति—सर्वेऽपि यूयं प्रवचनस्य बाह्याः, इति भणतस्तस्याभ्याख्यानदायकस्य पाराञ्चिकं प्रायश्चितं समापतति। एवमुत्तरोत्तरं विवदतः पाराञ्चिकं यावत् प्रायश्चित्तप्रस्तारो भवतीति। एवमेव यदि रात्निकेन सत्यमेव दर्दुरो व्यपरोपितः पृष्टे च भूयो विवादपूर्वकं निह्नुते तदाऽभ्याख्यानदायकस्येव तस्याप्युत्तरोत्तरं प्रायश्चित्तवृद्धिः कर्त्तव्या। तत्राभ्याख्यानदायकस्यैक एव मृषावादलक्षणो दोषः किन्तु द्वितीयस्याभ्याख्यातस्य रात्निकस्य तु दर्दुरवधं कृत्वा निह्नुते इति द्वौ दोषौ भवतः, एकः प्राणातिपातजनितो दोषः, द्वितीयो मृषावादजनितश्चेति। यदि चाभ्याख्यानदायकोऽवमरात्निकः तथाऽभ्याख्यातो रात्निकश्च अभ्याख्याने दत्तेऽपि प्राणातिपाते कृतेऽपि च स्वकथनसिद्धयर्थं न विवदति यथार्थं यथायोगं प्रायश्चित्तं गृह्णाति तदा न तयोः प्रायश्चित्तवृद्धिः कर्त्तव्येति। एवमन्ये मृषावादादिप्रस्तारा अपि स्वयं भावनीया इति ॥ सू० २ ॥

अथ निर्ग्रन्थनिर्ग्रन्थीनां 'परस्परं' कण्टकाद्युद्धरणप्रभृतिविषये विधिमाह-**'निगंथस्स य'** इत्यादि।

सूत्रम्—णिग्गंथस्स य अहे पायंसि खाणू वा कंटए वा हीरए वा सक्करे वा परियावज्जेज्जा तं च णिग्गंथे नो संचाएइ नीहरित्तए वा विसोहित्तए वा तं णिग्गंथी णीहरमाणी वा विसोहेमाणी वा णाइक्कमइ ॥ सू० ३ ॥

छाया—निर्ग्रन्थस्य चाधः पादे स्थाणुर्वा कंटको वा हीरकं वा शर्करं वा पर्यापद्येत तच्च निर्ग्रन्थो नो शक्नुयात् निर्हर्त्तुं वा विशोधितुं वा तं निर्ग्रन्थी निर्हरन्ती वा विशोधयन्ती वा नातिक्रामति ॥ सू० ३॥

चूर्णी—'णिग्गंथस्स य' इति निर्ग्रन्थस्य गच्छतः प्रमादादिकारणवशात् **अहे पायंसि** अधः पादे पादयोः पादस्य वा अधः प्रदेशे पादतले इत्यर्थः **खाणू वा** स्थाणुर्वा, तत्र स्थाणुर्नाम छिन्नगोधूमादेः क्षेत्रसंलग्नमूलस्थितोऽवयवविशेषः **कंटए वा** कंटको वा कण्टकिवृक्षस्य बर्बुरादेरवयवविशेषः **हीरए वा** हीरक वा, तत्र हीरकं नाम सूचीवत् तीक्ष्णकाष्ठखण्डो वा **सक्करे वा** शर्करं वा शर्करं नाम पाषणखण्डः, तच्च स्थाण्वादि भिक्षाद्यानेतुं गच्छतः श्रमणस्य पादतले **परियावज्जेज्जा** पर्यापद्येत प्राप्नुयात् पादे संलग्नं भवेत् चरणः कंटकादिना विद्धो भवेदित्यर्थः **तं च णिग्गंथे** तच्चपादसंलग्नकण्टकादिकम् निर्ग्रन्थ श्रमणः स्वयमन्यो वा साधुः **नो संचाइए** नो शक्नुयात् **नीहरित्तए वा विसोहित्तए वा** निर्हर्तुं वा विशोधितुं वा कश्चित् श्रमणः कारणवशात् पादतलसंलग्नकण्टकादिकम् निष्कासयितुमुद्धर्त्तुं वा न शक्नुयात् न समर्थो भवेदित्यर्थः, अथ यदा स्वयमन्यो वा श्रमणस्तान् कण्टकादीन् समुद्धर्त्तुं नो शक्नुयात् तदा **तं णिग्गंथी णीहरमाणी वा** श्रमणचरणात् संलग्नकण्टकादिकं निर्हरन्ती निष्कासयन्ती

'विसोहेमाणी वा' विशोधयन्ती समुद्धरन्ती णाइक्कमइ नातिक्राम्यति तीर्थकराज्ञाम्, सा तीर्थकराज्ञाया उल्लङ्घनं न करोति, जिनाज्ञाविराधिका न भवतीत्यर्थः ॥ सू० ३ ॥

सूत्रम्—णिग्गंथस्स य अच्छिसि पाणे वा वीए वा रए वा परियावज्जेज्जा तं च णिग्गंथे नो संचाएइ णीहरीत्तए वा विसोहित्तए वा तं णिग्गंथी णीहरमाणी वा विसोहेमाणी वा, णाइक्कमइ ॥ सू० ४ ॥

छाया—निर्ग्रन्थस्य चाक्षिणि प्राणो वा, बीज वा, रजो वा, पर्यापद्येत तच्च निर्ग्रन्थो नो शक्नुयात् निर्हर्त्तुम् वा, विशोधितुं वा, तं निर्ग्रन्थी निर्हरन्ती वा विशोधयन्ती वा नातिक्रामति ॥ सू० ४ ॥

चूर्णी—**णिग्गंथस्स य** इति निर्ग्रन्थस्य श्रमणस्य **अच्छिसि** अक्षिणि नेत्रे **पाणे वा** प्राणो वा—क्षुद्रजीवो मशकादिर्वा **वीएवा** बीजं वा शालिगोधूमादिर्बीजं, 'रए वा' रजो वा—धूलिकणो वा **पारियावज्जेज्जा** पर्यापद्येत परिपतेत्, नेत्रे यदि क्षुद्रजन्तुप्रभृतिकं वस्तु नेत्रकष्टकारकं पतितं भवेदित्यर्थः, **तं च निगंथे नो संचाइए णीहरित्तए वा—विसोहित्तए वा** तच्च निर्ग्रन्थोऽन्यः कोऽपि श्रमणः न शक्नुयात् निर्हर्त्तुं वा विशोधयितुं वा तद् नेत्रपतितं क्षुद्रजीवादिकम् निर्ग्रन्थोऽन्यः श्रमणः साधुः नेत्रपतितं क्षुद्रजीवादिकं साधुनेत्रात् निर्हर्त्तुं निष्कासयितुं विशोधयितुं वा न शक्नुयात् समर्थो न भवेत् तदा **तं णिग्गंथी णीहरमाणी वा विसोहेमाणी वा णाइक्कमइ** तच्च श्रमणनेत्रपतितक्षुद्रजीवादिकं श्रमणस्याऽशक्तौ सत्यां निर्ग्रन्थी श्रमणी निर्हरन्ती साधुनेत्रात् क्षुद्रजीवादिकं नि सारयन्ती विशोधयन्ती अपनयनं कुर्वन्ती नातिक्रामति तीर्थकराज्ञां नोल्लङ्घयति ॥ सू० ४ ॥

सूत्रम्—निग्गंथीए य अहे पायंसि खाणू वा कंटए वा हीरए वा सक्करए वा परियावज्जेज्जा, तं च णिग्गंथी णो संचाएइ णीहरित्तए वा विसोहित्तए वा तं च णिग्गंथे नीहरमाणे वा विसोहेमाणे वा णाइक्कमइ ॥ सू० ५ ॥

छाया—निर्ग्रन्थ्याश्चाधः पादे स्थाणुर्वा कण्टको वा हीरकं वा शर्करं वा पर्यापद्येत तंच निर्ग्रन्थी नो शक्नुयात् निर्हर्त्तुं वा विशोधयितुं वा तं च निर्ग्रन्थो निर्हरन् वा विशोधयन् वा नातिक्रामति ॥ सू० ५॥

चूर्णी—'**णिग्गंथीए य**' इति निर्ग्रन्थ्याः **अहे पायंसि** अधः पादे चरणस्याधोभागे पादतले इत्यर्थः **खाणू वा** स्थाणुर्वा पूर्वोक्तस्थाणुकण्टकहीरकशर्करादिकं **परियावज्जेज्जा** पर्यापद्येत संलगेत् स्थाणुप्रभृतिना पादो विद्ध इत्यर्थ. **तं च निग्गंथी नो संचाइए णीहरित्तए वा विसोहित्तए वा** तच्च निर्ग्रन्थी नो शक्नुयात् निर्हर्त्तुं वा, विशोधयितुं वा, तत्र तत् श्रमणीपदसंलग्नकण्टकादिकं श्रमणी स्वयं यस्याः पादे स्थाण्वादि लग्न तद्व्यतिरिक्ता वा साध्वी नो शक्नुयात् न

समर्था भवेत् निर्हर्त्तुम् निष्कासयितुं विशोधयितुं पादादुद्धर्तुम् तदा 'तं णिग्गंथे नीहरमाणे वा विसोहमाणे वा णाइक्कमइ तच्च निर्ग्रन्थो निर्हरन् वा विशोधयन् वा नातिक्रामति तीर्थकराज्ञां नोलङ्घयति ॥ सू० ५ ॥

सूत्रम्—णिग्गंथीए अच्छिसि पाणे वा बीए वा रए वा परियावज्जेज्जा तं च णिग्गंथी णो संचाएइ णीहरित्तए वा विसोहित्तए वा तं च णिग्गंथे णीहरमाणे वा विसोहेमाणे वा णाइक्कमइ ॥ सू० ६ ॥

छाया—निर्ग्रन्थ्या अक्षिणि प्राणो वा बीजं वा रजो वा पर्यापद्येत तच्च निर्ग्रन्थी नो शक्नोति निर्हर्त्तुं वा विशोधयितुं वा तच्च निर्ग्रन्थो निर्हरन् वा विशोधयन् वा नातिक्रामति ॥ सू० ६ ॥

चूर्णी—'णिग्गंथीए' इति। निर्ग्रन्थ्याः 'अच्छिसि' अक्षिणि—नयने पाणे वा प्राणो वा—प्राणः क्षुद्रजन्तुर्मशकादिः बीए वा बीजं वा लघुतमं फलादेर्बीजम् 'रए वा रजो वा—धूलिकणो वा कारणवशात् श्रमण्या नेत्रे 'परियावज्जेज्जा' पर्यापद्येत परिपतेत् नेत्रे समापतितं भवेत् 'तं च णिग्गंथी णो संचाएइ णीहरित्तए वा विसोहित्तए वा' तच्च निर्ग्रन्थी नो शक्नोति निर्हर्त्तुं वा विशोधयितुं वा तत्र तं श्रमण्यक्षिपतितं क्षुद्रजीवमशकादिकम् यदि निर्ग्रन्थी श्रमणी निर्हर्त्तुं निष्कासयितुं विशोधयितुमपाकर्त्तुं न शक्नुयात् तदा "तं च निग्गंथे णीहरमाणे वा विसोहेमाणे वा नाइक्कमइ" तं च निर्ग्रन्थो निर्हरन् वा विशोधयन् वा नातिक्रामति ॥ सू० ६ ॥

सूत्रम्—णिग्गंथे णिग्गंथिं दुग्गंसि वा विसमंसि वा पव्वयंसि वा पक्खलमाणिं वा पवडमाणिं वा गिण्हमाणे वा अवलंबमाणे वा णाइक्कमइ ॥ सू० ७ ॥

छाया—निर्ग्रन्थो निर्ग्रन्थीं दुर्गे वा विषमे वा पर्वते वा प्रस्खलन्तीं वा प्रपतन्तीं वा गृह्णन् वा अवलम्बमानो वा नातिक्रामति ॥ सू० ७ ॥

चूर्णी—'णिग्गंथे णिग्गंथिं' इति। निर्ग्रन्थः निर्ग्रन्थीं कदाचित् दुग्गंसि वा दुर्गे वा पर्वतादिविकटभूमौ विसमंसि वा विषमे उच्चनीचप्रदेशे पिच्छलप्रदेशे वा 'पव्वयंसि वा पर्वते वा पक्खलमाणिं वा' प्रस्खलन्तीं चरणादिसंकोचेन पतन्तीमिव भवन्तीं वा पवडमाणिं वा प्रपतन्तीं वा पतितुमारब्धां गिण्हमाणे वा गृह्णन् हस्तादिना तस्या ग्रहणं कुर्वन् अवलंबमाणे वा अवलम्बमानो वा पतन्त्याः देहयष्टयाद्याश्रयेण साहाय्यं कुर्वन् इत्यर्थः णाइक्कमइ नातिक्रामति ॥ सू० ७ ॥

सूत्रम्—णिग्गंथे णिग्गंथिं सेयंसि वा पंकंसि वा पणगंसि वा उदगंसि वा ओकसमाणिं वा ओबुज्झमाणिं वा गिण्हमाणे वा अवलंबमाणे वा णाइक्कमइ ॥ सू० ८ ॥

छाया—निर्ग्रन्थो निर्ग्रन्थीं सेके वा पङ्के वा पनके वा उदके वा अवकर्षन्तीं वा अवब्रुडन्तीं वा गृह्णन् वा अवलम्बमानो वा नातिक्रामति ॥ सू० ८ ॥

चूर्णी—'णिग्गंथे णिग्गंथीं वा' इति। निर्ग्रन्थः निर्ग्रन्थीं सेयंसि वा सेके वा, तत्र सेको जलसहितकर्दमार्थबोधकः तथा च सेके जलसहितकर्दमे वा पंकंसि व' पंके वा शुष्कप्राये कर्दमे पणगंसि वा पनके सततजलसम्पर्कात्पाषाणादौ संलग्नो हरितवर्णो वनस्पतिविशेषः 'लीलण--फूलण' इति प्रसिद्धं तस्मिन् उदगंसि वा उदके जले वा ओकसमाणिं वा अवकर्षन्तीं वा जलस्रोतसा नीयमानां 'ओवुड्डमाणिं वा' अवबुडन्तीं जलसहितकर्दमे पंके जले वा निमज्जन्तीं श्रमणीं श्रमणः 'गिण्हमाणे' गृह्णन् उद्धरणेच्छया तथा 'अवलंबमाणे वा' अवलम्बमानो वा धारयन् वा 'नाइक्कमइ' नातिक्रामति तीर्थकृतामाज्ञां नोल्लङ्घयतीति ॥ सू० ८ ॥

सूत्रम्—णिग्गंथे णिग्गंथिं णावं आरोहमाणिं वा ओरोहमाणिं वा गिण्हमाणे वा अवलंबमाणे वा णाइक्कमइ ॥ सू० ९ ॥

छाया—निर्ग्रन्थो निर्ग्रन्थीं नावम् आरोहन्तीं वा अवरोहन्ती वा गृह्णन् वा अवलम्बमानो वा नातिक्रामति ॥ सू० ९ ॥

चूर्णी—'निग्गंथे' इति। निर्ग्रन्थ. 'णिग्गंथिं' णिर्ग्रन्थीं 'णावं' नावं नौकां 'आरोहमाणिं वा' आरोहन्तीं–समारोहन्तीम् 'ओरोहमाणिं वा' अवरोहन्तीम् अवतरन्तीम् 'गिण्हमाणे वा' गृह्णन् अवलंबमाणे वा अवलम्बमानो वा श्रमणः णाइक्कमइ नातिक्रमति तीर्थकराज्ञां नोल्लङ्घयति न विराधयतीति भावः ॥ सूत्र ९ ॥

सूत्रम्—खित्तचित्तं निग्गंथिं निग्गंथे गिण्हमाणे वा अवलंबमाणे वा णाइक्कमइ ॥ सू० १० ॥

छाया—क्षिप्तचित्तां निर्ग्रन्थीं निर्ग्रन्थो गृह्णन् वा अवलम्बमानो वा नातिक्रामति ॥ सू० १० ॥

चूर्णी—'खित्तचित्तं' इति। क्षिप्तचित्ताम्, तत्र क्षिप्तं विक्षिप्तम् उद्विग्नं मनोग्लान्यादिना चित्तमन्तःकरणं यस्याः श्रमण्याः सा क्षिप्तचित्ता, तादृशीम् निर्ग्रन्थीं निर्ग्रन्थः श्रमणः 'गिण्हमाणे वा' गृह्णन् वा अवलम्बमाणे वा अवलम्बमानो वा धारयन् वा 'णाइक्कमइ' नातिक्रामति तीर्थकराज्ञां नोल्लङ्घयति ॥ सू० १० ॥

सूत्रम्—एवं दित्तचित्तं० ॥ सू० ११॥ जक्खाइट्ठं० ॥ सू० १२ ॥ उम्मायपत्तं० ॥सू० १३॥ उवसग्गपत्तं णिग्गंथिं णिग्गंथे गिण्हमाणे वा अवलंबमाणे वा नाइक्कमइ ॥ सू० १४ ॥

छाया—एवं दीप्तचित्तां यक्षाविष्टामुन्मादप्राप्तामुपसर्गप्राप्तां निर्ग्रन्थीं निर्ग्रन्थो गृह्णन् वा अवलम्बमानो वा नातिक्रामति ॥ सू० ११—१४ ॥

चूर्णी—'एवं दित्तचित्तं' एवं दशमसूत्रोक्तप्रकारेण दीप्तचित्ताम्, तत्र दीप्तं लौकिकलोकोत्तरिकवस्तुविषयकहर्षोद्रेकेण भ्रान्तं चित्तमन्तःकरणं यस्याः सा दीप्तचित्ता, ताम्। यद्वा जक्खा-

इट्ठं यक्षाविष्टाम् व्यन्तरदेवपरिगृहीताम्, यद्वा उम्मायपत्तं उन्मादप्राप्ताम्, तत्रोन्मादो नाम-रोगादिना चित्तानवस्थता तद्युक्ताम्, उवसग्गपत्तं उपसर्गप्राप्ताम्-देवमनुष्यतिर्यगादिकृतोपसर्गविशिष्टाम् णिग्गंथिं निर्ग्रन्थीं श्रमणीम् निग्गंथे निर्ग्रन्थः श्रमणः गिण्हमाणे गृह्णन् क्वचित्पतनादितः क्वचिदौषधादिपानार्थं वा अवलम्बमाणे वा अवलम्बमानो वा धारयन् वा णाइक्कमइ नातिक्रामति तीर्थकराज्ञां नोल्लङ्घयति ॥ सू० ११-१४ ॥

सूत्रम्—साहिगरणं ॥ सू० १५ ॥ सपायच्छित्तं ॥ सू० १६ ॥ भत्तपाणपडियाइक्खियं ॥ सू० १७ ॥ अट्ठजायं निग्गंथिं णिग्गंथे गिण्हमाणे वा अवलंबमाणे वा णाइक्कमइ ॥ सू० १८ ॥

छाया—साधिकरणाम् ॥ सू० १५ ॥ सप्रायश्चित्ताम् ॥ सू० १६ ॥ भक्तपानप्रत्याख्याताम् ॥ सू० १७ ॥ अर्थजातां निर्ग्रन्थीं निर्ग्रन्थो गृह्णन् वा अवलम्बमानो वा नातिक्रामति ॥ सू० १८ ॥

चूर्णी— 'साहिगरणं' इति। साधिकरणां, तत्राधिकरणं कलहः तेन युक्तामिति साधिकरणाम्-कलहासक्तमानसाम्, तथा सपायच्छित्तं सप्रायश्चित्तां प्रायश्चित्तेन युक्तामिति सप्रायश्चित्ताम् प्रायश्चित्तप्राप्तां-प्रायश्चित्तेन चलचित्तामित्यर्थः भत्तपाणपडियाइक्खियं भक्तपानप्रत्याख्याताम्, तत्र भक्तमोदनादिकं, पानं जलम्, ते प्रत्याख्याते यया सा भक्तपानप्रत्याख्याता-ताम् गृहीतानशनव्रतामित्यर्थः, अट्ठजायं अर्थजाताम्-अर्थलुब्धाम् भूमिपतितं सुवर्णादिकं दृष्ट्वा तद् ग्रहीतुं नम्रीभूताम्, कुत्राप्यर्थराशिं दृष्ट्वा सञ्जातविकारेण चलचित्ताम्, यद्वा-अर्थाकुलं पतिपुत्रादिकं ज्ञात्वा तत्सहायनिमित्तं द्रव्योपार्जनाय संयमाच्चलितचित्ताम्, यद्वा शिष्यानिमित्तं द्रव्यलाभार्थं गन्तुकामाम्, एतादृशीम् णिग्गंथिं निर्ग्रथीं-श्रमणीम् गिण्हमाणे गृह्णन् उपदेशेन शरीरेण वा स्पृष्ट्वा निवारयन् अवलम्बमाणे वा अवलम्बमानो वा णिग्गंथे निर्ग्रन्थः-श्रमणः णाइक्कमइ नातिक्रामति-तीर्थकरस्याज्ञां नोल्लङ्घयतीति भावः ॥ सू० १५-१८ ॥

श्रमणीनां सामाचारीलक्षणं कल्पं दर्शयित्वा सम्प्रति कल्पस्य प्रतिबन्धकान् दर्शयितुमाह-'छ कप्पस्स' इत्यादि।

सूत्रम्—छ कप्पस्स पलिमंथू पन्नत्ता, तंजहा-कोकुइए संजमस्स पलिमंथू १, मोहरिए सच्चवयणस्स पलिमंथू २, तिंतिणिए एसणागोयरस्स पलिमंथू ३, चक्खुलोलए

इरियावहियाए पलिमंथू ४, इच्छालोलुए मुत्तिमग्गस्स पलिमंथू ५, भिज्जाणियाणकरणं सिद्धिमग्गस्स पलिमंथू, सव्वत्थ भगवया अणियाणया पसत्था ६ ॥ सू० १९ ॥

छाया—षट् कल्पस्य परिमन्थवः प्रज्ञप्ताः, तद्यथा—कौकुचिकं संयमस्य परिमन्थुः १, मौखर्यं सत्यवचनस्य परिमन्थुः २, तिंतिणिकम् एषणागोचरस्य परिमन्थुः ३, चक्षुर्लौल्यम् ऐर्यापथिकस्य परिमंथुः ४, इच्छालौलुप्यं मुक्तिमार्गस्य परिमन्थुः ५, भिध्यानिदानकरणं सिद्धिमार्गस्य परिमन्थुः, सर्वत्र भगवता अनिदानता प्रशस्ता ६ ॥ सू० १९ ॥

चूर्णी—'**छ कप्पस्स पलिमथू पन्नत्ता**' इति। षट्—षट्संख्यकाः कल्पस्य साधुसामाचारीलक्षणस्य परिमन्थवः—परिमथ्नन्तीति परिमन्थवः घातका इत्यर्थः प्रज्ञप्ताः कथिताः। तानेव षड् भेदान् दर्शयितुमाह—**तं जहा** इत्यादि, **तं जहा** तद्यथा—**कोकुइए संजमस्स पलिमंथू** कौकुचिक संयमस्य परिमन्थु', तत्र—कौकुचिकम्—कुचेष्टा भाण्डचेष्टा वा, विकृतं मुखं कृत्वा लोकानामग्रतः प्रदर्शनम्, एतादृशं कौकुचिकं संयमस्य चारित्रस्य परिमन्थुः, कौकुचिकस्य कन्दर्पोद्दीपकतया संयमस्य सुतरामेव विघातकसंभवादिति, इति प्रथमोभेदः १।

मोहरिए सच्चवयणस्स पलिमंथू मौखर्यं मुखरता सत्यवचनस्य परिमन्थुः, तत्र मुखरता वाचालता निरर्थकमधिकजल्पनम् सत्यवचनस्य परिमन्थुः, वाचालतायाः सत्यप्रतिबन्धकत्वादिति द्वितीयो भेदः २।

तिंतिणिए एसणागोयरस्स पलिमन्थू तिंतिणिकमेषणागोचरस्य परिमन्थुः, तत्र तिंतिणिकं सर्वदा भिक्षाया अलाभे गृहस्वामिनं प्रति—'**कृपणोऽयम्**' इत्यादिरूपेण तण—तण (बड़बड) शब्दकरणं तत्, एषणा—विशुद्धभक्तपानादिगवेषणरूपा, तत्प्रधानो यो गोचरः गोचरचर्या, तस्य परिमन्थुरिति तृतीयो भेदः ३।

चक्खुलोलए इरियावहियाए पलिमन्थू चक्षुर्लौल्यम् ऐर्यापथिकस्य परिमन्थुः तत्र चक्षुर्लौल्यं नेत्रयोश्चाञ्चल्यम् ईर्यासमितेर्घातकम् चक्षुषश्चाञ्चल्येन मार्गे गमनसमये सम्यगवलोकनाभावे संयमात्मविराधनसंभवात् ईर्यासमितेः स्वयमेव विघातादिति चतुर्थो भेदः ४।

इच्छालोलुए मुत्तिमग्गस्स पलिमन्थू इच्छालोलुप्यं मुक्तिमार्गस्य परिमन्थु', इच्छालौलुप्यम् आहारादिवाञ्छायां गृद्धिभावः, इति पञ्चमो भेदः ५।

भिज्जाणियाणकरणं सिद्धिमग्गस्स पलिमन्थू भिध्यानिदानकरणं सिद्धिमार्गस्य परिमन्थुः, भिध्या—लोभो गृद्धिरित्यर्थ', तद्वशात् निदानकरणम्, तच्च सिद्धिमार्गस्य परिमन्थुः,

इति षष्ठो भेदः६। यतः **सव्वत्थ भगवया अणियाणया पसत्था** सर्वत्र भगवता अनिदानता प्रशस्ता प्रशंसितेति ॥ सू० १९ ॥

सम्प्रति कल्पस्थितेर्भेदान् दर्शयितुमाह—'छव्विहा' इत्यादि ।

सूत्रम्—छव्विहा कप्पट्ठिई पण्णत्ता तं जहा-सामाइयसंजयकप्पट्ठिई १, छेओवट्ठावणियसंजयकप्पट्ठिई २, णिव्विसमाणकप्पट्ठिई ३, णिव्विट्ठकाइयकप्पट्ठिई ४, जिणकप्पट्ठिई ५, थेरकप्पट्ठिई ६। त्ति बेमि ॥ सू० २० ॥

कप्पस्स छट्ठो उद्देसो समत्तो

छाया—षड्विधा कल्पस्थितिः प्रज्ञप्ता तद्यथा—सामायिकसंयतकल्पस्थितिः १, छेदोपस्थापनीयसंयतकल्पस्थितिः २, निर्विशमानकल्पस्थितिः ३, निर्विष्टकायिककल्पस्थितिः ४, जिनकल्पस्थितिः ५, स्थविरकल्पस्थितिः ६। इति ब्रवीमि । सू० २०॥

कल्पस्य षष्ठ उद्देशकः समाप्तः ॥६॥

चूर्णी—'छव्विहा' इति। षड्विधा षट्प्रकारा **कप्पट्ठिई पण्णत्ता** कल्पस्थितिः प्रज्ञप्ता कथिता, तत्र कल्पे संयताचारे स्थितिरवस्थानमिति कल्पस्थितिः, अथवा कल्पस्य साधुसामाचारीलक्षणस्य स्थितिर्मर्यादा इति कल्पस्थितिः, सा षड्विधा प्रज्ञप्ता—निरूपिता । तानेव षड्भेदान् दर्शयितुमाह—**तं जहा** इत्यादि, **तं जहा** तद्यथा-**सामाइयसंजयकप्पट्ठिई** सामायिकसंयतकल्पस्थितिः, तत्र समो रागद्वेषरहितभावः—ज्ञानदर्शनचारित्रलक्षणभावः, तस्याऽऽयः प्राप्तिः, अथवा समय एव सामायिकं सर्वसावद्यकर्मणां विरतिलक्षणम्, तत्प्रधानाः संयताः साधवः, तादृशसाधूनां स्थितिः सा सामायिकसंयतकल्पस्थितिः प्रथमा १, **छेदोवट्ठावणियसंजयकप्पट्ठिई** छेदोपस्थापनीयसंयतकल्पस्थितिः, तत्र छेदनम्—पूर्वपर्यायोच्छेदनम्, उपस्थापनीयमारोपणीयं यत् तत् छेदोपस्थापनीयम् व्यक्तितो महाव्रतेषु आरोपणमित्यर्थः, ततश्च छेदोपस्थापनीयप्रधाना ये संयताः ते छेदोपस्थापनीयसंयताः साधवस्तेषां या कल्पस्थितिः सा छेदोपस्थापनीयसंयतकल्पस्थितिर्द्वितीया २, **निव्विसमाणकप्पट्ठिई** निर्विशमानकल्पस्थितिः, तत्र निर्विशमानाः परिहारविशुद्धिकल्पं वहमानाः, तेषां कल्पस्तस्य स्थितिर्निर्विशमानकल्पस्थितिस्तृतीयो भेदः ३, **निव्विट्ठकाइकप्पट्ठिई** निर्विष्टकायिककल्पस्थितिः, तत्र निर्विष्टकायिको नाम येन परिहारविशुद्धिकं नाम तपो व्यूढम्, निर्विष्ट आसेवितः विवक्षितचारित्रस्वरूपः कायो—देहो यैस्ते निर्विष्टकायिका इति व्युत्पत्तेः, तेषां निर्विष्टकायिकानां कल्पस्थितिरिति निर्विष्टकायिककल्पस्थितिश्चतुर्थी ४। **जिणकप्पट्ठिई** जिनकल्पस्थितिः, तत्र जिनाः गच्छविनिर्गताः साधुविशेषास्तेषां जिनानां कल्पस्थितिरिति जिनकल्पस्थितिः पञ्चमी ५, **थेरकप्पट्ठिई** स्थविरकल्पस्थितिः, तत्र स्थविरा आचार्योपाध्यायादयः गच्छसापेक्षाः साधुवि-

शेषास्तेषां कल्पस्थितिरिति स्थविरकल्पस्थितिरिति षष्ठी ६ ।। त्ति बेमि इति ब्रवीमि—सुधर्मा स्वामी जम्बूस्वामिनं प्रति कथयति—हे जम्बु ! यदहं तीर्थंकरमुखात् कल्पस्थितिविषये श्रुतवान् तदेव तुभ्यं कथयामि नतु स्वमनीषया प्रकल्प्य कथयामीति ।। सू० २० ।।

इति श्री–विश्वविख्यात–जगद्वल्लभ–प्रसिद्धवाचक–पञ्चदशभाषाकलितललितकलापालापक–प्रविशुद्धगद्यपद्यनैकग्रन्थनिर्मापक–वादिमानमर्दक–श्रीशाहूछत्रपतिकोल्हापुरराजप्रदत्त-"जैनाचार्य"–पदभूषित–कोल्हापुरराजगुरु–बालब्रह्मचारि–जैनाचार्य–जैन-धर्म-दिवाकर–पूज्यश्री–घासीलालव्रतिविरचितायां "बृहत्कल्पसूत्रस्य" चूर्णि-भाष्या-ऽवचूरीरूपायां व्याख्यायां

षष्ठ उद्देशकः समाप्तः ।।६।।

समाप्तं सचूर्णिभाष्यावचूरीकं बृहत्कल्पसूत्रम् ।

॥ श्रीबृहत्कल्पसूत्रस्य ॥

मूलपाठः

सूत्रम्—नो कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गंथीणं वा आमे तालपलंबे अभिन्ने पडिगाहित्तए ॥१॥

कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गंथीणं वा आमे तालपलंबे भिन्ने पडिगाहित्तए ॥२॥

कप्पइ निग्गंथाणं पक्के तालपलंबे भिण्णे वा अभिण्णे वा पडिगाहित्तए ॥३॥

नो कप्पइ निग्गंथीणं पक्के तालपलंबे अभिन्ने पडिगाहित्तए ॥४॥

कप्पइ निग्गंथीणं पक्के तालपलंबे भिन्ने पडिगाहित्तए, सेवि य विहिभिण्णे नो चेव णं अविहिभिण्णे ॥५॥

से गामंसि वा णगरंसि वा खेडंसि वा कब्बडंसि वा मडंबंसि वा पट्टणंसि वा आगरंसि वा दोणमुहंसि वा निगमंसि वा आसमंसि वा संनिवेसंसि वा संवाहंसि वा घोसंसि वा अंसियंसि वा पुडभेयणंसि वा रायहाणिंसि वा सपरिक्खेवंसि अबाहिरियंसि कप्पइ निग्गंथाणं हेमंतगिम्हासु एगं मासं वत्थए ॥६॥

से गामंसि वा जाव रायहाणिंसि वा सपरिक्खेवंसि सबाहिरियंसि कप्पइ निग्गंथाणं हेमंतगिम्हासु दो मासे वत्थए, अंतो इक्कं मासं, बाहिं इक्कं मासं, अंतो वसमाणाणं अंतो भिक्खायरिया, बाहिं वसमाणाणं बाहिं भिक्खायरिया ॥७॥

से गामंसि वा जाव रायहाणिंसि वा सपरिक्खेवंसि अबाहिरियंसि कप्पइ निग्गंथीणं हेमंतगिम्हासु दो मासे वत्थए ॥८॥

से गामंसि वा जाव रायहाणिंसि वा सपरिक्खेवंसि सबाहिरियंसि कप्पइ निग्गंथीणं हेमंतगिम्हासु चत्तारि मासे वत्थए, अंतो दो मासे, बाहिं दो मासे, अंतो वसमाणीणं अंतो भिक्खायरिया, बाहिं वसमाणीणं बाहिं भिक्खायरिया ॥९॥

से गामंसि वा जाव रायहाणिंसि वा एगवगडाए एगदुवाराए एगनिक्खमणपवेसाए नो कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गंथीणं वा एगयओ वत्थए ॥१०॥

गामंसि वा जाव रायहाणिंसि वा अभिणिव्वगडाए अभिनिदुवाराए अभिणिक्खमणपवेसाए कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गंथीणं वा एगयओ वत्थए ॥११॥

नो कप्पइ निग्गंथीणं आवणगिहंसि वा रत्थामुहंसि वा, सिंघाडगंसि वा चउक्कंसि वा चच्चरंसि वा अंतरावणंसि वा वत्थए ॥१२॥

कप्पइ निग्गंथाणं आवणगिहंसि वा जाव अंतरावणंसि वा वत्थए ॥१३॥

नो कप्पइ निग्गंथीणं अवंगुयदुवारिए उवस्सए वत्थए । एगं पत्थारं अंतो किच्चा एगं पत्थारं बाहिं किच्चा ओहाडियचिलिमिलियागंसि एवं णं कप्पइ वत्थए ॥१४॥

कप्पइ निग्गंथाणं अवंगुयदुवारिए उवस्सए वत्थए ॥१५॥

कप्पइ निग्गंथीणं अंतोलित्तं घडिमत्तयं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥१६॥

नो कप्पइ निग्गंथाणं अंतोलित्तं घडिमत्तयं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥१७॥

कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गंथीणं वा चेलचिलिमिलियं धारित्तए वा, परिहरिए वा ।

नो कप्पइ निग्गंथाण निग्गंथीण वा दगतीरंसि चिट्ठित्तए वा निसीइत्तए वा, तुयट्टित्तए वा निद्दाइत्तए वा, पयलाइत्तए वा, असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अहरित्तए, उच्चारं वा पासवणं वा खेलं वा सिंघाणं वा परिट्ठवित्तए, सज्झायं वा करित्तए, धम्मजागरियं वा जागरित्तए, काउस्सग्गं वा करित्तए, ठाणं वा ठाइत्तए॥१९॥

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा सचित्तकम्मे उवस्सए वत्थए ॥२०॥

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अचित्तकम्मे उवस्सए वत्थए ॥२१॥

नो कप्पइ निग्गंथीणं सागारियअणिस्साए वत्थए ॥२२॥

कप्पइ निग्गंथीणं सागारियणिस्साए वत्थए ॥२३॥

कप्पइ निग्गंथाणं सागारियस्स णिस्साए वा अणिस्साए वा वत्थए ॥२४॥

नो कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गंथीणं वा सागारियउवस्सए वत्थए ॥२५॥

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अप्पसागारिए उवस्सए वत्थए ॥२६॥

नो कप्पइ निग्गंथाणं इत्थीसागारिए उवस्सए वत्थए ॥२७॥

कप्पइ निग्गंथाणं पुरिससागारिए उवस्सए वत्थए ॥२८॥

नो कप्पइ निग्गंथीणं पुरिससागारिए उवस्सए वत्थए ॥२९॥

कप्पइ निग्गंथीणं इत्थीसागारिए उवस्सए वत्थए ॥३०॥

नो कप्पइ निग्गंथाणं पडिवद्धसिज्जाए वत्थए ॥३१॥

कप्पइ निग्गंथीणं पडिबद्धसिज्जाए वत्थए ॥३२॥

नो कप्पइ निग्गंथाणं गाहावइकुलस्स मज्झंमज्झेणं गंतुं वत्थए ॥३३॥

कप्पइ निग्गंथीणं गाहावइकुलस्स मज्झंमज्झेण गंतुं वत्थए ॥३४॥

भिक्खू य अहिगरणं कट्टु तं अहिगरणं विओसवित्ता विओसवियपाहुडे, इच्छाए परो आढाइज्जा इच्छाए परो नो आढाइज्जा, इच्छाए परो अब्भुट्ठिज्जा, इच्छाए परो नो अब्भुट्ठिज्जा, इच्छाए परो वंदिज्जा इच्छाए परो नो वंदिज्जा, इच्छाए परो संभुंजिज्जा, इच्छाए परो नो संभुंजिज्जा, इच्छाए परो संवसिज्जा, इच्छाए परो नो संवसिज्जा, इच्छाए परो उवसमिज्जा, इच्छाए परो नो उवसमिज्जा, जो उवसमइ तस्स अत्थि आराहणा, जो न उवसमइ तस्स नत्थि आराहणा, तम्हा अप्पणा चेव उवसमियव्वं। से किमाहु भंते ! ? उवसमसारं सामण्णं ॥ ३५॥

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा वासावासेसु चरित्तए ॥३६॥

कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गंथीणं वा हेमंतगिम्हासु चरित्तए ॥३७॥

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा वेरज्जविरुद्धरज्जंसि सज्जं गमणं सज्जं आगमणं सज्जं गमणागमणं करित्तए। जो खलु निग्गंथो वा निग्गंथी वा वेरज्जविरुद्धरज्जंसि सज्जं गमणं सज्जं आगमणं सज्जं गमणागमणं करेइ करेंतं वा साइज्जइ से दुहओवि वीइक्कममाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ॥३८॥

निग्गंथं च णं गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुप्पविट्ठं केइ वत्थेण वा पडिग्गहेण वा कंवलेण वा पायपुंछणेण वा उवनिमंतेज्जा, कप्पइ से सागारकडं गहाय आयरियपायमूले ठवित्ता दोच्चंपि उग्गहं अणुण्णवित्ता परिहारं परिहरित्तए ॥३९॥

निग्गंथं च णं वहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खंतं समाणं केइ वत्थेण वा पडिग्गहेण वा कंवलेण वा पायपुंछणेण वा उवनिमंतेज्जा, कप्पइ से सागारकडं गहाय आयरियपायमूले ठवित्ता दोच्चंपि उग्गहं अणुण्णवित्ता परिहारं परिहरित्तए ॥४०॥

निग्गंथिं च णं गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुप्पविट्ठं केइ वत्थेण वा पडिग्गहेण वा कंवलेण वा पायपुंछणेण वा उवनिमंतेज्जा, कप्पइ से सागारकडं गहाय पवत्तिणीपायमूले ठवित्ता दोच्चंपि उग्गहं अणुण्णवित्ता परिहारं परिहरित्तए ॥४१॥

निग्गंथिं च णं वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खंतं समाणं केइ वत्थेण वा पडिग्गहेण वा कंवलेण वा पायपुंछणेण वा उवनिमंतेज्जा कप्पइ से सागारकडं गहाय पवत्तिणीपायमूले ठवित्ता दोच्चंपि उग्गहं अणुण्णवित्ता परिहारं परिहरित्तए ॥४२॥

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा राओ वा वियाले वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहित्तए, नन्नत्थ एगेणं पुव्वपडिलेहिएणं सेज्जासंथारएणं ॥४३॥

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा राओ वा वियाले वा वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा पडिग्गाहित्तए, नन्नत्थ एगाए हरियाहडियाए, सावि य परि-भुत्ता वा धोया वा रत्ता वा घट्ठा वा मट्ठा वा संपधूमिया वा ॥४४॥

नो कप्पइ निग्गंथाण वा, निग्गंथीण वा राओ वा, वियाले वा, अद्धाणगमणं एत्तए ॥४५॥

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा संखडिं वा संखडिपडियाए अद्धाण-गमणं एत्तए ॥४६॥

नो कप्पइ निग्गंथस्स एगाणियस्स राओ वा वियाले वा वहिया वियारभूमिं वा, विहारभूमिं वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा। कप्पइ से अप्पविइयस्स वा अप्पतइयस्स वा, राओ वा, वियाले वा वहिया वियारभूमिं वा, विहारभूमिं वा निक्खमित्तए वा पवि-सित्तए वा ॥४७॥

नो कप्पइ निग्गंथीए एगाणियाए राओ वा वियाले वा वहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा। कप्पइ से अप्पविइयाए वा अप्पतइयाए वा अप्पचउत्थीए वा राओ वा वियाले वा वहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्ख-मित्तए वा पविसित्तए वा ॥४८॥

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पुरत्थिमेणं जाव अंगमगहाओ एत्तए, दक्खि-णेणं जाव कोसंवीओ, पच्चत्थिमेणं जाव थूणाविसयाओ, उत्तरेणं जाव कुणालाविसयाओ एत्तए, एतावताव कप्पइ, एतावताव आरिए खेत्ते, णो से कप्पइ एत्तो वाहिं। तेण परं जत्थ नाणदंसणचरित्ताइं उस्सप्पंति–त्ति वेमि ॥४९॥

पढमो उद्देसो समत्तो ॥१॥

॥ बीओ उद्देसो ॥

उवस्सयस्स अंतो वगडाए सालीणि वा वीहीणि वा मुग्गाणि वा मासाणि वा तिलाणि वा कुलत्थाणि वा गोहूमाणि वा जवाणि वा जवजवाणि वा उक्खित्ताणि वा विक्खित्ताणि वा विइकिण्णाणि वा विप्पकिण्णाणि वा नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अहालंदमवि वत्थए ॥१॥

अह पुण एवं जाणिज्जा–(उवस्सयस्स अंतो वगडाए सालीणि वा०) नो उक्खित्ताइं नो विक्खित्ताइं नो विइकिण्णाइं नो विप्पकिण्णाइं (किन्तु) रासिकडाणि वा पुंजकडाणि वा भित्तिकडाणि वा कुलियाकडाणि वा लंछियाणि वा मुद्दियाणि वा पिहियाणि वा कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा हेमंतगिम्हासु वत्थए ॥२॥

अह पुण एवं जाणिज्जा (उवस्सयस्स अंतो वगडाए सालीणि वा०) नो रासिकडाइं, नो पुंजकडाइं, नो भित्तिकडाइं, नो कुलियाकडाइं, (किन्तु) कोट्ठाउत्ताणि वा, पल्लाउत्ताणि वा, मंचाउत्ताणि वा, मालाउत्ताणि वा ओलित्ताणि वा लित्ताणि वा, पिहियाणि वा लंछियाणि वा, मुद्दियाणि वा कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा वासावासं वत्थए ॥३॥

उवस्सयस्स अंतो वगडाए सुरावियडकुंभे वा, सोवीरवियडकुंभे वा उवनिक्खित्ते सिया. नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अहालंदमवि वत्थए। हुरत्था य उवस्सयं पडिलेहमाणे नो लभेज्जा एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए, जे तत्थ एगरायाओ वा दुरायाओ वा परं वसइ से संतरा छेए वा परिहारे वा ॥४॥

उवस्सयस्स अंतो वगडाए सीओदगवियडकुंभे वा उसिणोदगवियडकुंभे वा उवनिक्खित्ते सिया, नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अहालंदमपि वत्थए। हुरत्था य उवस्सयं पडिलेहमाणे नो लभेज्जा एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए, जे तत्थ एगरायाओ वा दुरायाओ वा परं वसइ से संतरा छेए वा परिहारे वा ॥५॥

उवस्सयस्स अंतो वगडाए सव्वराईए जोई झियाएज्जा नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अहालंदमवि वत्थए, हुरत्था य उवस्सयं पडिलेहमाणे नो लभेज्जा एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए, जे तत्थ एगरायाओ वा दुरायाओ वा परं वसइ से संतरा छेए वा परिहारे वा ॥६॥

उवस्सयस्स अंतो वगडाए सव्वराईए पईवे पईवेज्जा नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अहालंदममि वत्थए। हुरत्था य उवस्सयं पडिलेहमाणे नो

लभेज्जा एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए, जे तत्थ एगरायाओ वा दुरा-याओ वा-परं वसइ से संतरा छेए वा परिहारे वा ॥७॥

उवस्सयस्स अंतो वगडाए पिंडए वा लोयए वा खीरे वा दहिं वा णवणीए वा सप्पिं वा तेल्ले वा फाणिए वा पूवे वा सक्कुली वा सिहरिणी वा उक्खि-त्ताणि वा विक्खित्ताणि वा विइकिण्णाणि वा विप्पइण्णाणि वा नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अहालंदमवि वत्थए ॥८॥

अह पुण एवं जाणेज्जा–(उवस्सयस्स अंतो वगडाए पिंडए वा०) नो उक्खि-त्ताइं वा, नो विक्खित्ताइं वा नो विइकिण्णाइं वा नो विप्पकिण्णाइं वा (किन्तु) रासिकडाणि वा पुंजकडाणि वा भित्तिकडाणि वा कुलियाकडाणि वा लंछियाणि वा मुद्दियाणि वा पिहियाणि वा कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गथीण वा हेमंतगिम्हासु वत्थए ॥९॥

अह पुण एवं जाणेज्जा (उवस्सयस्स अंतो वगडाए पिंडए वा०) नो रासि-कडाणि वा नो पुंजकडाणि वा नो भित्तिकडाणि वा नो कुलियाकडाणि वा (किन्तु)कोट्ठा-उत्ताणि वा पल्लाउत्ताणि वा मंचाउत्ताणि वा मालाउत्ताणि वा ओलित्ताणि वा विलि-त्ताणि वा लंछियाणि वा मुद्दियाणि वा पिहियाणि वा, कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गं-थीण वा वासवासं वत्थए ॥१०॥

नो कप्पइ निग्गंथीणं अहे आगमणगिहंसि वा वियडगिहंसि वा वंसीमूलंसि वा रुक्खमूलंसि वा अब्भावगासियंसि वा वत्थए ॥११॥

कप्पइ निग्गंथाणं अहे आगमणगिहंसि वा वियडगिहंसि वा वंसीमूलंसि वा रुक्खमूलंसि वा अब्भावगासियंसि वा वत्थए ॥१२॥

एगे सागारिए पारिहारिए, दो तिन्नि चत्तारि पंच सागारिया पारिहारिया, एगं तत्थ कप्पागं ठवित्ता अवसेसे निव्विसेज्जा ॥१३॥

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा सागारियपिंडं बहिया अनीहडं असं-सट्ठं वा पडिग्गाहित्तए ॥१४॥

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा सागारियपिंडं बहिया नीहडं असं-सट्ठं पडिगाहित्तए । कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा सागारियपिंडं बहिया नीहडं संसट्ठं पडिगाहित्तए ॥१५॥

जो खलु निग्गंथो वा निग्गंथी वा सागारियपिंडं बहिया नीहडं असंसट्ठं संसट्ठं करेइ, करेंतं वा साइज्जइ से दुहओ वीइक्कममाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ॥१६॥

सागारियस्स आहडिया सागारिएण पडिग्गहिया तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिग्गाहित्तए ॥१७॥ सागारियस्स आहडिया सागारिएण अप्पडिग्गहिया तम्हा दावए एवं से कप्पइ पडिग्गाहित्तए ॥१८॥

सागारियस्स नीहडिया परेण अप्पडिग्गहिया तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिग्गाहित्तए । सागारियस्स नीहडिया परेण पडिग्गहिया तम्हा दावए एवं से कप्पइ पडिग्गाहित्तए ॥१९॥

सागारियस्स अंसियाओ अविभत्ताओ अव्वोच्छिन्नाओ अव्वोगडाओ अणिज्जूढाओ तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिग्गाहित्तए ॥ सागारियस्स अंसियाओ विभत्ताओ वोच्छिन्नाओ वोगडाओ णिज्जूढाओ तम्हा दावए एवं से कप्पइ पडिग्गाहित्तए ॥२०॥

सागारियस्स पूयाभत्ते उद्देसिए चेइए पाहुडियाए, सागारियस्स उवगरणजाए निट्ठिए निसिट्ठे पाडिहारिए, तं सागारिओ देज्जा, सागारियस्स परिजणो वा देज्जा तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिग्गाहित्तए ॥२१॥

सागारियस्स पूयाभत्ते उद्देसिए चेइए पाहुडियाए सागारियस्स उवगरणजाए निट्ठिए निसिट्ठे पाडिहारिए तं नो सागारिओ देज्जा, नो सागारियस्स परिजणो वा देज्जा सागारियस्स पूया देज्जा तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिग्गाहित्तए ॥२२॥

सागारियस्स पूयाभत्ते उद्देसिए चेइए पाहुडियाए सागारियस्स उवगरणजाए निट्ठिए निसिट्ठे अपाडिहारिए तं सागारिओ देइ सागारियपरिजणो वा देइ तम्हा दावए नो से कप्पइ पडिग्गाहित्तए ॥२३॥

सागारियस्स पूयाभत्ते उद्देसिए चेइए पाहुडियाए सागारियस्स उवगणजाए निट्ठिए निसिट्ठे अपाडिहारिए तं नो सागारिओ देइ, नो सागारियस्स परिजणो वा देइ, सागारियस्स पूया देइ तम्हा दावए एवं से कप्पइ पडिग्गाहित्तए ॥२४॥

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा इमाइं पंच वत्थाइं धारित्तए वा परिहरित्तए वा, तं जहा—जंगिए भंगिए साणए पोत्तए तिरीडपट्टे नामं पंचमे ॥२५॥

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा इमाइं पंच रयहरणाइं धारित्तए वा परिहरित्तए वा, तंजहा—उण्णिए, उट्टिए, साणए, वच्चाचिप्पए, मुंजचिप्पए नामं पंचमे ॥२६॥

॥ बीओ उद्देसो समत्तो ॥२॥

॥ तइओ उद्देसो ॥

नो कप्पइ निग्गथाणं निग्गंथीणं उवस्सयंसि चिट्ठित्तए वा निसीइत्तए वा तुयट्टित्तए वा निद्दाइत्तए वा पयलाइत्तए वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आहारं आहरित्तए, वा उच्चारं वा पासवणं वा खेलं वा सिंघाणं वा परिट्ठवित्तए, सज्झायं वा करित्तए, झाणं वा झाइत्तए काउस्सग्गं वा करित्तए, ठाणं वा ठाइत्तए ॥१॥

नो कप्पइ निग्गंथीणं निग्गंथउवस्सयंसि चिट्ठित्तए वा जाव काउस्सग्गं वा करित्तए ठाणं वा ठाइत्तए ॥२॥

नो कप्पइ निग्गंथीणं सलोमाइं चम्माइं अहिट्ठित्तए ॥३॥

कप्पइ निग्गंथाणं सलोमाइं चम्माइं अहिट्ठित्तए, सेवि य परिभुत्ते नो चेव णं अपरिभुत्ते, सेवि य पाडिहारिए नो चेव णं अपाडिहारिए, सेवि य एगराइए नो चेव णं अणेगराइए ॥४॥

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा कसिणाइं चम्माइं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥५॥

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अकसिणाइं चम्माइं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥६॥

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा कसिणाइं वत्थाइं धारित्तए वा परिहरित्तए वा। कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अकसिणाइं वत्थाइं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥७॥

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अभिन्नाइं वत्थाइं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥८॥

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा भिन्नाइं वत्थाइं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥

नो कप्पइ निग्गंथाणं उग्गहणंतगं वा उग्गहपट्टगं वा धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥

कप्पइ निग्गंथीणं उग्गहणंतगं वा उग्गहपट्टगं वा धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥११॥

निग्गंथीए य गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुपविट्ठाए चेलट्ठे समुप्पज्जेज्जा, नो से कप्पइ अप्पणो नीसाए चेलं पडिग्गाहित्तए, कप्पइ से पवत्तिणीनीसाए चेलं पडिग्गाहित्तए। नो य से पवित्तिणी सामाणा सिया जे से तत्थ सामाणे आयरिए

वा उवज्झाए वा पवत्तए वा थेरे वा गणी वा गणहरे वा गणावच्छेयए वा जं चऽन्नं पुरओ कट्टु विहरइ कप्पइ से तन्नीसाए चेलं पडिग्गाहित्तए ॥१२॥

निग्गंथस्स णं तप्पढमयाए संपव्वयमाणस्स कप्पइ रयहरणगोच्छगपडिग्गहमायाए तिहिं कसिणेहिं वत्थेहिं आयाए संपव्वइत्तए, से य पुव्वोवट्ठिए सिया एवं से नो कप्पइ रयहरणगोच्छगपडिग्गहमायाए तिहिं कसिणेहिं वत्थेहिं आयाए संपव्वइत्तए, कप्पइ से अहापडिग्गहियाइं वत्थाइं गहाय आयाए संपव्वइत्तए ॥१३॥

निग्गंथीए णं तप्पढमयाए संपव्वयमाणीए कप्पइ रयहरणगोच्छगपडिग्गहमायाए चउहिं कसिणेहिं वत्थेहिं आयाए संपव्वइत्तए । सा य पुव्वोवट्ठिया सिया एवं से नो कप्पइ रयहरणगोच्छगपडिग्गहमायाए चउहिं कसिणेहिं वत्थेहिं आयाए संपव्वइत्तए, कप्पइ से अहापडिग्गहियाइं वत्थाइं गहाय आयाए संपव्वइत्तए ॥१४॥

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पढमसमोसरणुद्देसपत्ताइं चेलाइं पडिग्गाहित्तए । कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा दोच्चसमोसरणुद्देशपत्ताइं चेलाइं पडिग्गाहित्तए ॥१५॥

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अहारायणियाए चेलाइं पडिग्गाहित्तए ॥१६॥

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अहारायणियाए सेज्जासंथारए पडिग्गाहित्तए ॥१७॥

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अहारायणियाए किइकम्मं करित्तए ॥१८॥

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अंतरागिहंसि चिट्ठित्तए वा निसीइत्तए वा तुयट्टित्तए वा निद्दाइत्तए व पयलाइत्तए वा, असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आहारं आहरित्तए, उच्चारं वा पासवणं वा खेलं वा सिंघाणं वा परिट्ठवित्तए, सज्झायं वा करित्तए, झाणं वा झाइत्तए, काउस्सग्गं वा करित्तए, ठाणं वा ठाइत्तए । अह पुण एवं जाणेज्जा वाहिए जराजुण्णे तवस्सी दुब्बले किलंते मुच्छिज्ज वा पवडिज्ज वा एवं से कप्पइ अंतरागिहंसि चिट्ठित्तए वा जाव ठाणं वा ठाइत्तए ॥१९॥

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अंतरागिहंसि जाव चउग्गाहं वा पंचगाहं वा आइक्खित्तए वा विभावित्तए वा किट्टित्तए वा पवेइत्तए वा नन्नत्थ एगणाएण वा एगवागरणेण वा एगगाहाए वा एगसिलोएण वा, सेवि य ठिच्चा नो चेव णं अट्ठिच्चा ॥२०॥

नो कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गंथीणं वा अंतरागिहंसि इमाइं पंच महव्वयाइं सभावणाइं आइक्खित्तए वा, विभावित्तए वा किट्टित्तए वा पवेइत्तए वा, नन्नत्थ एगनाएण वा जाव एगसिलोएण वा, सेवि य ठिच्चा नो चेव णं अट्ठिच्चा ॥२१॥

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पाडिहारियं सागारियसंतयं सेज्जासंथारयं आयाए अपडिहट्टु संपव्वइत्तए ॥२२॥

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पाडिहारियं सागारियसंतयं सिज्जासंथारयं आयाए अविकरणं कट्टु संपव्वइत्तए ॥२३॥

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पाडिहारियं सागारियसंतयं सेज्जासंथारयं आयाए विकरणं कट्टु संपव्वइत्तए ॥२४॥

इह खलु निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पाडिहारिए सागारियसंतए सेज्जासंथारए विप्पणसिज्जा से य अणुगवेसियव्वे सिया, से य अणुगवेस्समाणे लभेज्जा तस्सेव पडिदायव्वे सिया, से य अणुगवेस्समाणे नो लभेज्जा एवं से कप्पइ दोच्चंपि उग्गहं अणुन्नवित्ता परिहारं परिहरित्तए ॥२५॥

जद्दिवसं समणा निग्गंथा सेज्जासंथारयं विप्पजहंति तद्दिवसं अवरे समणा निग्गंथा हव्वमागच्छेज्जा सच्चेव उग्गहस्स पुव्वाणुण्णवणा चिट्ठइ अहालंदमवि उग्गहे ॥

अत्थि या इत्थ केइ उवस्सयपरियावन्नए अचित्ते परिहरणारिहे सच्चेव उग्गहस्स पुव्वाणुण्णवणा चिट्ठइ अहालंदमवि उग्गहे ॥२७॥

से वत्थुसु अव्वावडेसु अव्वोगडेसु अपरपरिग्गहिएसु अमरपरिग्गहिएसु सच्चेव उग्गहस्स पुव्वाणुण्णवणा चिट्ठइ अहालंदमवि उग्गहे ॥२८॥

से वत्थुसु वावडेसु वोगडेसु परपरिग्गहिएसु भिक्खुभावस्स अट्ठाए दोच्चंपि उग्गहे अणुण्णवेयव्वे सिया अहालंदमवि उग्गहे ॥२९॥

से अणुकुड्डेसु वा अणुभित्तिसु वा अणुचरियासु वा अणुफलिहासु वा अणुपंथेसु वा अणुमेरासु वा सच्चेव उग्गहस्स पुव्वाणुण्णवणा अहालंदमवि उग्गहे ॥ ३०॥

से गामस्स वा जाव रायहाणीए वा वहिया सेण्णं संनिविट्ठं पेहाए कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा तद्दिवसं भिक्खायरियाए गंतुं पडिनियत्तए । नो से कप्पइ तं रयणिं तत्थेव उवाइणावित्तए, जो खलु निग्गंथो वा निग्गंथी वा तं रयणिं तत्थेव उवाइणावेइ, उवाइणावंतं वा साइज्जइ, से दुहओवि अइक्कममाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ॥३१॥

से गामंसि वा जाव रायहाणिंसि वा कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा सव्वओ समंता सकोसं जोयणं उग्गहं ओगिण्हित्ता णं चिट्ठित्तए ॥३२॥

॥ तइओ उद्देसो समत्तो ॥३॥

। चउत्थो उद्देसो ।

तओ अणुग्घाइया पण्णत्ता तंजहा—हत्थकम्मं करेमाणे १, मेहुणं पडिसेवमाणे २, राइभोयणं भुंजमाणे ३ ॥१॥

तओ पारंचिया पण्णत्ता, तंजहा—दुट्ठे पारंचिए १, पमत्ते पारंचिए २, अन्नमन्नं करेमाणे पारंचिए ३ ॥२॥

तओ अणवट्ठप्पा पण्णत्ता, तंजहा—साहम्मियाणं तेण्णं करेमाणे १, अन्नधम्मियाणं तेण्णं करेमाणे २, हत्थादालं दलमाणे ३ ॥३॥

तओ नो कप्पंति पव्वावित्तए तंजहा—पंडए १, वाइए २, कीबे ३ ॥ सू० ४ ॥ एवं मुंडावित्तए ॥ सू० ५ ॥ सिक्खावित्तए ॥ सू० ६ ॥ उवट्ठावित्तए ॥ सू० ७ ॥ संभुंजित्तए ॥ सू० ८ ॥ संवासित्तए ॥ सू० ९ ॥

तओ नो कप्पंति वाइत्तए, तंजहा—अविणीए, विगइपडिवद्धे, अविओसवियपाहुडे ॥

तओ कप्पंति वाइत्तए, तंजहा—विणीए, नोविगइपडिवद्धे, विओसवियपाहुडे ।११।

तओ दुस्सन्नप्पा पण्णत्ता, तंजहा—दुट्ठे, मूढे, वुग्गहिए ॥ १२ ॥

तओ सुसण्णप्पा पण्णत्ता, तंजहा—अदुट्ठे, अमूढे, अव्वुग्गहिए ॥१३॥

निग्गंथिं च णं गिलायमाणिं पिया वा भाया वा पुत्तो वा पलिस्सएज्जा तं च निग्गंथी साइज्जेज्जा, मेहुणपडिसेवणपत्ता, आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ॥१४॥

निग्गंथं च णं गिलायमाणं माया वा भगिणी वा धूया वा पलिस्सएज्जा, तं च निग्गंथे साइज्जेज्जा मेहुणपडिसेवणपत्ते आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ॥

नो कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गंथीणं वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पढमाए पोरिसीए पडिग्गाहित्ता पच्छिमं पोरिसिं उवाइणावित्तए, से य आहच्च उवाइणाविए सिया तं नो अप्पणा भुंजिज्जा, नो अन्नेसिं अणुप्पएज्जा, एगंते बहुफासुए थंडिले पडिलेहित्ता पमज्जित्ता परिट्ठवेयव्वे सिया, तं अप्पणा भुंजमाणे अन्नेसिं वा दलमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं उग्घाइयं ॥१६॥

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा परं अद्धजोयणमेराए उवाइणावित्तए, से य आहच्च उवाइणाविए सिया तं नो अप्पणा भुंजिज्जा, नो अन्नेसिं अणुप्पएज्जा, एगंते बहुफासुए थंडिले पडिलेहित्ता पमज्जित्ता परिट्ठवेयव्वे सिया, तं अप्पणा भुंजमाणे अन्नेसिं वा दलमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं उग्घाइयं ॥१७॥

निग्गंथेण य गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुप्पविट्ठेणं अन्नयरे अचित्ते अणेसणिज्जे पाणभोयणे पडिग्गाहिए सिया, अत्थि या इत्थ केइ सेहतराए अणुवट्ठावियए कप्पइ से तस्स दाउं वा अणुप्पदाउं वा, नत्थि या इत्थ केइ सेहतराए अणुवट्ठावियए तं नो अप्पणा भुंजिज्जा नो अन्नेसिं दावए, एगंते बहुफासुए थंडिले पडिलेहित्ता पमज्जित्ता परिट्ठवेयव्वे सिया ॥१८॥

जे कडे कप्पट्ठियाणं कप्पइ से अकप्पट्ठियाणं, नो से कप्पइ कप्पट्ठियाणं, जे कडे अकप्पट्ठियाणं णो से कप्पइ कप्पट्ठियाणं कप्पइ से अकप्पट्ठियाणं, कप्पे ठिया कप्पट्ठिया, अकप्पे ठिया अकप्पट्ठिया ॥१९॥

भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म इच्छेज्जा अण्णं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा उवज्झायं वा पवत्तयं वा थेरं वा गणिं वा गणहरं वा गणावच्छेयगं वा अन्नं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं वा उवज्झायं वा पवत्तयं वा थेरं वा गणिं वा गणहरं वा गणावच्छेयगं वा अन्नं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, ते य से वियरेज्जा एवं से कप्पइ अन्नं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, ते य से नो वियरेज्जा एवं से नो कप्पइ अण्णं गणं उपसंपज्जित्ता णं विहरित्तए ॥२०॥

गणावच्छेयए य गणाओ अवक्कम्म इच्छेज्जा अण्णं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, नो से कप्पइ गणावच्छेयगस्स गणावच्छेयगत्तं अणिक्खिवित्ता अन्नं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, कप्पइ गणावच्छेयगस्स गणावच्छेयगत्तं णिक्खिवित्ता अण्णं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, णो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा उवज्झायं वा पवत्तयं वा थेरं वा गणिं वा गणहरं वा गणावच्छेयगं वा अन्नं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेयगं वा अण्णं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, ते य से वियरेज्जा एवं से कप्पइ अण्णं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, ते य से णो वियरेज्जा एवं से णो कप्पइ अण्णं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए ॥२१॥

आयरियउवज्झाए य गणाओ अवक्कम्म इच्छेज्जा अण्णं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए नो से कप्पइ आयरियउवज्झायस्स आयरियउवज्झायत्तं अणिक्खिवित्ता अण्णं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, कप्पइ से आयरियउवज्झायस्स आयरियउवज्झायत्तं णिक्खिवित्ता अण्णं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेयगं वा अण्णं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, कप्पइ से आपुच्छित्ता

आयरियं वा जाव गणावच्छेयगं वा अण्णं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, ते य से विय-रेज्जा एवं से कप्पइ अण्णं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, ते य से नो वियरेज्जा एवं से नो कप्पइ अण्णं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए ॥२२॥

भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म इच्छेज्जा अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावछेयगं वा अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेयगं वा अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, ते य से विय-रेज्जा एवं से कप्पइ अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, ते य से नो वियरेज्जा एवं से नो कप्पइ अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, जत्थुत्तरियं धम्मविणयं लभेज्जा, एवं से कप्पइ अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, जत्थुत्तरियं धम्मविणयं नो लभेज्जा एवं से नो कप्पइ अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए ॥२३॥

गणावच्छेयए य गणाओ अवक्कम्म इच्छेज्जा अण्णं गणं संभोगपडियाए उव-संपज्जित्ता णं विहरित्तए णो से कप्पइ गणावच्छेयत्तं अणिक्खिवित्ता अण्णं गणं संभोगप-डियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, कप्पइ से गणावच्छेयत्तं णिक्खिवित्ता अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेयगं वा अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेयगं वा अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, ते य से वियरेज्जा एवं से कप्पइ अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, ते य से नो वियरेज्जा एवं से नो कप्पइ अण्णं गणं संभो-गपडियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, जत्थुत्तरियं धम्मविणयं लभेज्जा एवं से कप्पइ अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, जत्थुत्तरियं धम्मविणयं नो लभेज्जा एवं से नो कप्पइ अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए।२४।

आयरियउवज्झाए य गणाओ अवक्कम्म इच्छेज्जा अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए णो से कप्पइ आयरियउवज्झायत्तं अणिक्खिवित्ता अण्णं गणं संभोगपडियाए, उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, कप्पइ से आयरियउवज्झायत्तं णिक्खिवित्ता अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आय-रियं वा जाव गणावच्छेयगं वा अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेयगं वा अण्णं गणं संभोगपडियाए

उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, ते य से वियरेज्जा एवं से कप्पइ अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, ते य से नो वियरेज्जा एवं से नो कप्पइ अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, जत्थुत्तरियं धम्मविणयं लभेज्जा एवं से कप्पइ अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, जत्थुत्तरियं धम्मविणयं नो लभेज्जा एवं से नो कप्पइ अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए ॥२५॥

भिक्खू य इच्छेज्जा अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए, णो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेयगं वा अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए, कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेयगं वा अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए, ते य से वियरेज्जा एवं से कप्पइ अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए, ते य से नो वियरेज्जा एवं से नो कप्पइ अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए, नो से कप्पइ तेसिं कारणं अदीवित्ता अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए, कप्पइ से तेसिं कारणं दीवित्ता अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए ॥२६॥

गणावच्छेयए य इच्छेज्जा अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए नो से कप्पइ गणावच्छेयगत्तं अणिक्खिवित्ता अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए, कप्पइ से गणावच्छेयगत्तं णिक्खिवित्ता अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए, नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेयगं वा अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए, कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेयगं वा अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए ते य से वियरेज्जा एवं से कप्पइ अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए, ते य से नो वियरेज्जा एवं से नो कप्पइ अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए, नो से कप्पइ तेसिं कारणं अदीवित्ता अण्णं आयरियउवज्झाय उद्दिसावित्तए, कप्पइ से तेसिं कारणं दीवित्ता अण्ण आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए ॥२७॥

आयरिय-उवज्झाए य इच्छिज्जा अन्नं आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए नो से कप्पइ आयरियउवज्झायत्तं अणिक्खिवित्ता अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावितए, कप्पइ से आयरियउवज्झायत्तं णिक्खिवित्ता अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए, णो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेयगं वा अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए, कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेयगं वा अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए, ते य से वियरेज्जा एवं से कप्पइ अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए, ते य से नो वियरेज्जा एवं से नो कप्पइ अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए, नो से कप्पइ

तेसिं कारणं अदीवित्ता अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए, कप्पइ से तेसिं कारणं दीवित्ता अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावित्तए ॥२८॥

भिक्खू य राओ वा वियाले वा आहच्च वीसुंभिज्जा, तं च सरीरगं केइ वेयावच्च-करे भिक्खू इच्छिज्जा एगंते बहुफासुए थंडिले परिट्ठवित्तए, अत्थि य इत्थ केइ सागा-रियसंतए उवगरणजाए अचित्ते परिहरणारिहे कप्पइ से सागारियकडं गहाय तं सरीरगं एगंते बहुफासुए थंडिले परिट्ठवित्ता तत्थेव उवनिक्खियव्वे सिया ॥२९॥

भिक्खू य अहिगरणं कट्टु तं अहिगरणं अविओसवित्ता नो से कप्पइ गाहावइकुलं भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा, बहिया वियारभूमिं वा विहार-भूमिं वा णिक्खमित्तए वा पविसित्तए वा, गामाणुगामं वा दूइज्जित्तए, गणाओ गणं संकमित्तए, वासावासं वा वत्थए, जत्थेव अप्पणो आयरियं उवज्झायं पासेज्जा, बहुस्सुयं बब्भागमं तस्संतिए आलोइज्जा पडिक्कमिज्जा निंदिज्जा गरहिज्जा विउट्टेज्जा विसोहेज्जा अकरणाए अब्भुट्ठिज्जा अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जेज्जा, से य सुएण पट्ठविए आइयव्वे सिया, से य सुएण नो पट्ठविए नो आइयव्वे सिया, से य सुएण पट्ठविज्जमाणं नो आइयइ से निज्जूहियव्वे सिया ॥३०॥

परिहारकप्पट्ठियस्स णं भिक्खुस्स कप्पइ आयरिय-उवज्झाएणं तद्दिवसं एगगिहंसि पिंडवायं दवावित्तए, तेण परं णो से कप्पइ असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा दाउं वा अणुप्पदाउं वा, कप्पइ से अन्नयरं वेयावडियं करित्तए, तं जहा-उट्ठावणं वा निसीयावणं वा तुयट्टावणं वा उच्चार-पासवण-खेल-सिंघाणविगिंचणं वा विसोहणं वा करित्तए, अह पुण एवं जाणिज्जा-छिन्नावाएसु पंथेसु आउरे झिंझिए पिवासिए तवस्सी दुब्बले किलंते मुच्छिज्ज वा पवडिज्ज वा, एवं से कप्पइ असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा दाउं वा अणुप्पदाउं वा ॥ ३१॥

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा इमाओ पंच महानईओ उद्दिट्ठाओ गणि-याओ वंजियाओ अंतो मासस्स दुक्खुत्तो वा तिक्खुत्तो वा उत्तरित्तए वा संतरित्तए वा, तंजहा-गंगा १, जउणा २, सरऊ ३, कोसिया ४, मही ५ ॥३२॥

अह पुण एवं जाणिज्जा एरवई कुणालाए जत्थ चक्किया एगं पायं जले किच्चा एगं पायं थले किच्चा एवं से कप्पइ अंतो मासस्स दुक्खुत्तो वा तिक्खुत्तो वा उत्तरित्तए वा संतरित्तए वा, एवं नो चक्किया एवं णं नो कप्पइ अंतो मासस्स दुक्खुत्तो वा तिक्खुत्तो वा उत्तरित्तए वा संतरित्तए वा ॥३३॥

से तणेसु वा तणपुंजेसु वा पलालेसु वा पलालपुंजेसु वा अप्पंडेसु अप्पपाणेसु अप्पबीएसु अप्पहरिएसु अप्पुस्सेसु अप्पुत्तिंग–पणग–दगमट्टिय–मक्कडगसंताणगेसु अहे सवणमायाए नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा तहप्पगारे उवस्सए हेमंतगिम्हासु वत्थए ॥३४॥

से तणेसु वा जाव–संताणएसु उप्पिं सवणमायाए कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा तहप्पगारे उवस्सए हेमंतगिम्हासु वत्थए ॥३५॥

से तणेसु वा जाव संताणएसु अहे रयणिमुक्कमउडेसु नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा तहप्पगारे उवस्सए वासावासं वत्थए ॥३६॥

से तणेसु वा जाव संताणएसु वा उप्पिं रयणिमुक्कमउडेसु कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा तहप्पगारे उवस्सए वासावासं वत्थए ॥३७॥

॥ चउत्थो उद्देसो समत्तो ॥४॥

। पञ्चमोद्देशः ।

देवे य इत्थिरूवं विउव्वित्ता निग्गंथं पडिग्गाहिज्जा, तं च निग्गंथे साइज्जेज्जा, मेहुणपडिसेवणपत्ते आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ॥१॥

देवे य पुरिसरूवं विउव्वित्ता निग्गंथिं पडिग्गाहिज्जा, तं च निग्गंथी साइज्जेज्जा मेहुणपडिसेवणपत्ता आवज्जइ चाउम्मासियं अणुग्घाइयं ॥२॥

देवी य इत्थिरूवं विउव्वित्ता निग्गंथं पडिग्गाहिज्जा, तं च निग्गंथे साइज्जेज्जा, मेहुणपडिसेवणपत्ते आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ॥३॥

देवी य पुरिसरूवं विउव्वित्ता निग्गंथिं पडिग्गाहिज्जा, तं च निग्गंथी साइज्जेज्जा, मेहुणपडिसेवणपत्ता आवज्जइ चाउम्मासियं अणुग्घाइयं ॥४॥

भिक्खू य अहिगरणं कट्टु तं अहिगरणं अविओसवित्ता इच्छिज्जा अन्नं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, कप्पइ तस्स पंचराइंदियं छेयं कट्टु परिनिव्वविय परिनिव्वविय दोच्चंपि तमेव गणं पडिणिज्जाएयव्वे सिया जहा वा तस्स गणस्स पत्तियं सिया ॥५॥

भिक्खू य उग्गयवित्तिए अणत्थमियसंकप्पे संथडिए णिव्वितिगिच्छे असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहित्ता आहारं आहारेमाणे अह पच्छा जाणिज्जा— अणुग्गए सूरिए, अत्थमिए वा, जं च आसयंसि जं च पाणिंसि जं च पडिग्गहे तं विगिंचमाणे वा विसोहेमाणे वा नो अइक्कमइ, तं अप्पणा भुंजमाणे अण्णेसिं वा दलमाणे राइभोयणपडिसेवणपत्ते आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ॥६-१॥

भिक्खू य उग्गयवित्तिए अणत्थमियसंकप्पे संथडिए वितिगिच्छासमावन्ने असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहित्ता आहारं आहारेमाणे जाव अन्नेसिं वा दलमाणे राइभोयणपडिसेवणपत्ते आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ॥७-२॥

भिक्खू य उग्गयवित्तिए अणत्थमियसंकप्पे असंथडिए निव्वितिगिच्छे असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहित्ता आहारं आहारेमाणे जाव अन्नेसिं वा दलमाणे राइभोयणपडिसेवणपत्ते आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ।८-३।

भिक्खू य उग्गयवित्तिए अणत्थमियसंकप्पे असंथडिए वितिगिच्छासमावन्ने असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहित्ता आहारं आहारेमाणे जाव अन्नेसिं वा दलमाणे राइभोयणपडिसेवणपत्ते आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ॥९-४॥

इह खलु निग्गंथस्स वा निग्गंथीए वा राओ वा वियाले वा सपाणे सभोयणे उग्गाले आगच्छेज्जा, तं विगिंचमाणे वा विसोहेमाणे वा नो अइक्कमइ, तं उग्गिलित्ता पच्चोगिल-माणे राइभोयणपडिसेवणपत्ते आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ॥१०॥

निग्गंथस्स वा गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुप्पविट्ठस्स अंतो पडिग्गहंसि पाणाणि वा बीयाणि वा रए वा परियावज्जेज्जा तं च संचाएइ विगिंचित्तए वा विसो-हित्तए वा तं पुव्वामेव लाइय विसोहिय विसोहिय तओ संजयामेव भुंजेज्ज वा पिबेज्ज वा, तं च नो संचाएइ विगिंचित्तए वा विसोहित्तए वा तं नो अप्पणा भुंजिज्जा नो अन्नेसिं दावए, एगंते बहुफासुए थंडिले पडिलेहित्ता पमज्जित्ता परिट्ठवेयव्वे सिया ॥११॥

निग्गंथस्स य गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुप्पविट्ठस्स अंतो पडिग्गहंसि दगे वा दगरए वा दगफुसिए वा परियावज्जेज्जा, से य उसिणे भोयणजाए भोत्तव्वे सिया, से य सीए भोयणजाए तं नो अप्पणा भुंजिज्जा नो अन्नेसिं दावए, एगंते बहुफासुए थंडिले परिट्ठवेयव्वे सिया ॥१२॥

निग्गंथीए राओ वा वियाले वा उच्चारं वा पासवणं वा विगिंचमाणीए वा विसोहेमाणीए वा अन्नयरे पसुजाइए वा पक्खिजाइए वा अन्नयरं इंदियजायं परा-मुसेज्जा, तं च निग्गंथी साइज्जेज्जा, हत्थकम्मपडिसेवणपत्ता आवज्जइ चाउम्मासियं अणुग्घाइयं ॥१३॥

निग्गंथीए राओ वा वियाले वा उच्चारं वा पासवणं वा विगिंचमाणीए वा विसोहे-माणीए वा अन्नयरे पसुजाइए वा पक्खिजाइए वा अन्नयरंसि सोयंसि ओगाहिज्जा, तं च निग्गंथी साइज्जेज्जा, मेहुणपडिसेवणपत्ता आवज्जइ चाउम्मासियं अणुग्घाइयं ॥१४॥

नो कप्पइ निग्गंथीए एगाणियाए होत्तए ॥१५॥

नो कप्पइ निग्गंथीए एगाणियाए गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा ॥१६॥

नो कप्पइ निग्गंथीए एगाणियाए वहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा ॥१७॥

नो कप्पइ निग्गंथीए एगाणियाए गामाणुगामं दूइज्जित्तए वा वासावासं वा वत्थए ॥१८॥

नो कप्पइ निग्गंथीए अचेलियाए होत्तए ॥१९॥

नो कप्पइ निग्गंथीए अपाइयाए होत्तए ॥२०॥

नो कप्पइ निग्गंथीए वोसट्ठकाइयाए होत्तए ॥२१॥

नो कप्पइ निग्गंथीए वहिया गामस्स वा णगरस्स वा खेडस्स वा कव्वडस्स वा पट्टणस्स वा मडंवस्स वा आगरस्स वा दोणमुहस्स वा आसमस्स वा सण्णिवेसस्स वा उड्ढं वाहाओ पगिज्झिय पगिज्झिय सूराभिमुहीए एगपाइयाए ठिच्चा आयावणाए आयावित्तए, कप्पइ से उवस्सयस्स अंतो वगडाए संघाडिपडिबद्धाए पलंबियबाहियाए समतलपाइयाए ठिच्चा आयावणाए आयावित्तए ॥२२॥

नो कप्पइ निग्गंथीए ठाणायइयाए होत्तए ॥२३॥ नो कप्पइ निग्गंथीए पडिमट्ठाइयाए होत्तए ॥ सू० २४ ॥ नो कप्पइ निग्गंथीए णिसज्जियाए होत्तए ॥ सू० २५ ॥ नो कप्पइ निग्गंथीए उक्कुडुगासणियाए (ठाणुक्कुडियाए) होत्तए ॥ सू० २६ ॥ नो कप्पइ निग्गंथीए वीरासणियाए होत्तए ॥ सू० २७ ॥ नो कप्पइ निग्गंथीए दंडासणियाए होत्तए ॥ सू० २८ ॥ नो कप्पइ निग्गंथीए लगंडासणियाए होत्तए ॥ सू० २९ ॥ नो कप्पइ निग्गंथीए एगपासियाए होत्तए ॥ सू० ३० ॥ नो कप्पइ निग्गंथीए उत्ताणासणियाए होत्तए ॥ सू० ३१ ॥ नो कप्पइ निग्गंथीए ओमंथियाए होत्तए ॥सू० ३२॥ नो कप्पइ निग्गंथीए अंबखुज्जियाए होत्तए ॥ सू० ३३ ॥

नो कप्पइ निग्गंथीणं आकुंचणपट्टगं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥ ३४ ॥

कप्पइ निग्गंथाणं आकुंचणपट्टगं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥ ३५ ॥

नो कप्पइ निग्गंथीणं सावस्सयंसि आसणंसि चिट्ठित्तए वा निसीइत्तए वा ॥३६॥

कप्पइ निग्गंथाणं सावस्सयंसि आसणंसि चिट्ठित्तए वा निसीइत्तए वा ॥ ३७ ॥

नो कप्पइ निग्गंथीणं सविसाणंसि पीढंसि वा फलगंसि वा चिट्ठित्तए वा निसी-इत्तए वा ॥ ३८ ॥ कप्पइ निग्गंथाणं सविसाणंसि पीढंसि वा फलगंसि वा चिट्ठित्तए वा निसीइत्तए वा ॥ ३९ ॥

नो कप्पइ निग्गंथीणं सवेंटगं लाउयं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥ ४० ॥
कप्पइ निग्गंथाणं सवेंटगं लाउयं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥ ४१॥

नो कप्पइ निग्गंथीणं सवेंटियं पायकेसरियं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥४२॥

कप्पइ निग्गंथाणं सवेंटियं पायकेसरियं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥४३॥

नो कप्पइ निग्गंथीणं दारुदंडयं पायपुंछणं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥४४॥
कप्पइ निग्गंथाणं दारुदंडयं पायपुंछणं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥ ४५ ॥

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अन्नमन्नस्स मोयं आपिवित्तए वा आय-मित्तए वा, नन्नत्थ गाढागाढेहिं रोगायंकेहिं ॥ ४६ ॥

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा परियासियं भोयणजायं जाव तयप्प-माणमेत्तं वा भूइप्पमाणमेत्तं वा तोयविंदुप्पमाणमेत्तं वा आहारं आहरित्तए, नन्नत्थ गाढा-गाढेहिं रोगायंकेहि ॥ ४७ ॥

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा परिवासिएणं आलेवणजाएणं आलिं-पित्तए वा विलिंपित्तए वा, नन्नत्थ गाढागाढेहिं रोगायंकेहिं ॥ ४८ ॥

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा परिवासिएण तेल्लेण वा घएण वा णवणीएण वा वसाए वा गायाइं अब्भंगित्तए वा मक्खित्तए वा, नन्नत्थ गाढागाढेहिं रोगायंकेहिं ॥ ४९ ॥

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा परिवासिएण कक्केण वा लोद्धेण वा पधूवणेण वा अन्नयरेण वा आलेवणजाएण गायाइं उव्वलित्तए वा उव्वट्टित्तए वा, नन्नत्थ गाढागाढेहिं रोगायंकेहिं ॥ ५० ॥

परिहारकप्पट्ठिए भिक्खू बहिया थेराण वेयावडियाए गच्छेज्जा, से य आहच्च अइक्कमिज्जा, तं च थेरा जाणिज्जा अप्पणो आगमेणं अन्नेसिं वा अंतिए सुच्चा, तओ पच्छा तस्य अहालहुस्सए नामं ववहारे पट्ठवेयव्वे सिया ॥५१॥

निग्गंथीए य गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुप्पविट्ठाए अन्नयरे पुलागभत्ते पडिग्गाहिए सिया, सा य संथरिज्जा कप्पइ से तद्दिवसं तेणेव भत्तट्ठेणं पज्जोसवित्तए, नो से कप्पइ दुच्चंपि गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए पविसित्तए, सा य नो संथरिज्जा एवं से कप्पइ दुच्चंपि गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए पविसित्तए ॥ ५२ ॥

॥ पंचमो उद्देसो समत्तो ॥५॥

॥ षष्ठोद्देशकः ॥

नो कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा इमाइं छ अवयणाइं वदित्तए, तं जहा—अलियवयणे, हीलियवयणे, खिंसियवयणे, फरुसवयणे, गारत्थियवयणे, विउसवियं वा पुणो उदीरित्तए ॥१॥

कप्पस्स छ पत्थारा पन्नत्ता, तंजहा—पाणाइवायस्स वायं वयमाणे, मुसावायस्स वायं वयमाणे, अदिन्नादाणस्स वायं वयमाणे, अविरइयावायं वयमाणे, अपुरिसवायं वयमाणे, दासवायं वयमाणे, इच्चेते छ कप्पस्स पत्थारे पत्थारेत्ता सम्मं अपडिपूरेमाणे तट्ठाणपत्ते सिया ॥२॥

णिग्गंथस्स य अहे पायंसि खाणू वा कंटए वा हीरए वा सक्करे वा परियावज्जेज्जा तं च णिग्गंथे नो संचाएइ नीहरित्तए वा विसोहित्तए वा तं णिग्गंथी णीहरमणी वा विसोहेमाणी वा णाइक्कमइ ॥३॥

णिग्गंथस्स य अच्छिंसि पाणे वा बीए वा रए वा परियावज्जेज्जा तं च णिग्गंथे नो संचाएइ णीहरित्तए वा विसोहित्तए वा तं णिग्गंथी णीहरमाणी वा विसोहेमाणी वा णाइक्कमइ ॥४॥

निग्गंथीए य अहे पायंसि खाणू वा कंटए वा हीरए वा सक्करए वा परियावज्जेज्जा, तं च णिग्गंथी णो संचाएइ णीहरित्तए वा विसोहित्तए वा तं च णिग्गंथे नीहरमाणे वा विसोहेमाणे वा णाइक्कमइ ॥५॥

णिग्गंथीए अच्छिंसि पाणे वा बीए वा रए वा परियावज्जेज्जा तं च णिग्गंथी णो संचाएइ णीहरित्तए वा विसोहित्तए वा तं च णिग्गंथे णीहरमाणे वा विसोहेमाणे वा णाइक्कमइ ॥६॥

णिग्गंथे णिग्गंथिं दुग्गंसि वा विसमंसि वा पव्वयंसि वा पक्खलमाणिं वा पवडमाणिं वा गिण्हमाणे वा अवलंबमाणे वा णाइक्कमइ ॥७॥

णिग्गंथे णिग्गंथिं सेयंसि वा पंकंसि वा पणगंसि वा उदगंसि वा ओकसमाणिं वा ओवुड्डमाणिं वा गिण्हमाणे वा अवलंबमाणे वा णाइक्कमइ ॥८॥

णिग्गंथे णिग्गंथिं णावं आरोहमाणिं वा ओरोहमाणिं वा गिण्हमाणे वा अवलंबमाणे वा णाइक्कमइ ॥९॥

खित्तचित्तं निग्गंथिं निग्गंथे निण्हमाणे वा अवलंवमाणे वा णाइक्कमइ ॥१०॥

एवं दित्तचित्तं० ॥११॥ जक्खाइट्ठं० ॥१२॥ उम्मायपत्तं० ॥१३॥ उवसग्गपत्तं णिग्गंथिं थिग्गंथे गिण्हमाणे वा अवलंबमाणे वा नाइक्कमइ ॥१४॥

साहिगरणं ॥१५॥ सपायच्छित्तं ॥१६॥ भत्तपाणपडियाइक्खियं ॥१७॥ अट्ठ-जायं निग्गंथिं णिग्गंथे निण्हमाणे वा अवलंवमाणे वा णाइक्कमइ ॥१८॥

छ कप्पस्स पलिमंथू पन्नत्ता, तं जहा–कोकुइए संजमस्स पलिमंथू १, मोहरिए सच्चवयणस्स पलिमंथू २, तिंतिणिए एसणागोयरस्स पलिमंथू ३, चक्खुलोलए इरिया-वहियाए पलिमंथू ४, इच्छालोलुए मुत्तिमग्गस्स पलिमंथू ५, भिज्जाणियाणकरणं सिद्धि-मग्गस्स पथिमंथू, सव्वत्थ भगवया अणियाणया पसत्था ६ ॥१९॥

छव्विहा कप्पट्ठिई पण्णत्ता तंजहा–सामाइयसंजयकप्पट्ठिई १, छेओवट्ठावणिय-संजयकप्पट्ठिई २, णिव्विसमाणकप्पट्ठिई ३, णिव्विट्ठकाइयकप्पट्ठिई ४, जिणकप्पट्ठिई ५, थेरकप्पट्ठिई ६, त्ति बेमि ॥२०॥

॥ कप्पस्स छट्ठो उद्देसो समत्तो ॥६॥

॥ इति श्री–वृहत्कल्पसूत्रस्य
मूलपाठः
समाप्तः ॥